दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय-जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शकर।
हर हर शकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

(सस्करण २,३०,०००)

वेद-तत्त्वके ज्ञाता अमरता प्राप्त करते हैं

तद् वेदगुह्योपनिपत्सु गूढ
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋपयश्च तद्विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवु ॥
(श्वेताश्वतर० ५।६)

वे परब्रह्म परमात्मा वेदोकी रहस्यविद्या-रूप उपनिपदोमे छिपे हुए हैं, वेद निकले भी उन्हीं परब्रह्मसे है। वेदोके प्राकट्य-स्थान उन परमात्माको ब्रह्माजी जानते हैं। उनके सिवा और भी जिन पूर्ववर्ती देवताओ और ऋषियोने उनको जाना था, वे सब-के-सब उन्हींमे तन्मय होकर आनन्दस्वरूप हो गये। अत मनुष्यको चाहिये कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके अधीश्वर वेदपुरुप परमात्म-प्रभुको जानने और पानेके लिये तत्पर हो जाय।

आवश्यक सूचना

फरवरी मासका अङ्क (परिशिष्टाङ्क) विशेषाङ्कके साथ सलग्न है।

इस अङ्कका मूल्य ९० रु० (सजिल्द १०० रु०)

वार्षिक शुल्क (भारतमें) डाक व्ययसहित ९० रु० (सजिल्द १०० रु०)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

वार्षिक शुल्क (विदेशमें) समुद्री डाकसे US$11 हवाई डाकसे US$22

सस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

॥ श्रीहरि ॥

'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहको और प्रेमी पाठकोसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण'के ७३व वर्ष सन् १९९९ का यह विशेषाङ्क 'वेद-कथाङ्क' आप लोगाकी सेवाम प्रस्तुत है। इसम ४७२ पृष्ठ पाठ्य-सामग्री ओर ८ पृष्ठाम विषय-सूची आदि है। कई बहुरगे चित्र भी दिये गये है। इस विशेषाङ्कम फरवरी माहका अङ्क भी सलग्न किया गया है।

२-जिन ग्राहकास शुल्क-राशि अग्रिम मनीआर्डरद्वारा प्राप्त हो चुकी है, उन्ह विशषाङ्क तथा फरवरी एव मार्च मासका अङ्क रजिस्ट्रीद्वारा भेजा जा रहा है और जिनस शुल्क-राशि यथासमय प्राप्त नही होगी, उन्ह उपर्युक्त अङ्क ग्राहक-सख्याके क्रमानुसार वी० पी० पी० द्वारा भेजा जायगा। रजिस्ट्रीकी अपक्षा वी० पी० पी० के द्वारा विशेषाङ्क भेजनेम डाकखर्च आदि अधिक लगता है, अत वार्षिक शुल्क-राशि मनीआर्डरद्वारा भेजनी चाहिये। 'कल्याण' का वर्तमान वार्षिक शुल्क डाकखर्चसहित ९० ०० (नव्वे रुपये) मात्र है, जो केवल विशषाङ्कका ही मूल्य है। सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १० ०० (दस रुपय) अतिरिक्त दय होगा।

३-ग्राहक सज्जन मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-सख्या अवश्य लिख। ग्राहक-सख्या या पुराना ग्राहक न लिखनस आपका नाम नय ग्राहकामे लिखा जा सकता है, जिससे आपकी सेवामे 'वेद-कथाङ्क' नयी ग्राहक-सख्याके क्रमसे रजिस्ट्रीद्वारा पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-सख्याके क्रमसे इसकी वी० पी० पी० भी जा सकती है। वी० पी० पी० भेजनेकी प्रक्रिया प्रारम्भ होनेक बाद जिन ग्राहकाका मनीआर्डर प्राप्त हागा, उनका समयसे समायोजन न हो सकनेके कारण हमार न चाहत हुए भी विशषाङ्क उन्ह वी० पी० पी० द्वारा जा सकता है। ऐसी परिस्थितिम आप वी० पी० पी० छुड़ाकर किमी अन्य सज्जनका 'कल्याण' का नया ग्राहक बनानेकी कृपा कर। ऐसा करनेसे आप 'कल्याण'को आर्थिक हानिसे बचानके साथ 'कल्याण'के पावन प्रचार-कार्यम सहयागी हाग। ऐसे ग्राहकासे मनीआर्डरद्वारा प्राप्त राशि अन्य निर्देश न मिलनेतक अगले वर्षके वार्षिक शुल्कक निमित्त जमा कर ली जाती है। जिन्हाने वी० पी० पी० छुड़ाकर दूसरे सज्जनको ग्राहक बना दिया है, व हमे तत्काल नये ग्राहकका नाम और पता, वी० पी० पी० छुड़ानेकी सूचना तथा अपन मनीआर्डर भेजनका विवरण लिखनकी कृपा कर, जिसस उनक आय मनीआर्डरकी जाँच करवाकर रजिस्ट्रीद्वारा उनका अङ्क तथा नये ग्राहकका अङ्क नियमितरूपस भजा जा सके।

४-इस अङ्कक लिफाफ (कवर)-पर आपकी ग्राहक-सख्या एव पता छपा हुआ है, उस कृपया जाँच ले तथा अपनी ग्राहक-सख्या सावधानीसे नाट कर ल। रजिस्ट्री अथवा वी० पी० पी० का नम्बर भी नाट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारम ग्राहक-सख्याका उल्लख नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसक बिना आपके पत्रपर हम समयसे कार्यवाही नहीं कर पाते है। डाकद्वारा अङ्काके सुरक्षित वितरणम सही पिन-कोड-नम्बर आवश्यक है। अत अपन लिफाफेपर छपा पता जाँच लेना चाहिये।

५-'कल्याण' एव 'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'की व्यवस्था अलग-अलग है। अत पत्र तथा मनीआर्डर आदि सम्बन्धित विभागको पृथक्-पृथक् भेजने चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर) (उ० प्र०)

अब उपलब्ध

श्रीरामचरितमानसका विश्वकोश

[सर्वसिद्धान्तसमन्वित तिलक—'मानस-पीयूष' सातो खण्ड—कोड-न० 86]

सम्पादक—महात्मा अञ्जनीनन्दनशरणजी

सत-शिरामणि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजकी अमर कृति श्रीरामचरितमानसपर अबतकक उत्कृष्ट मानस-मर्मज्ञा, सत-महात्माआ, विचारका, साहित्य-अन्वेषकोके विचारोका अद्भुत सग्रह। यह अद्भुत ग्रन्थ श्रीरामचरितमानसके प्रमियोक लिये स्वाध्यायका विषय तो है ही, शोध-छात्राके लिय भी विशष उपयोगी है। ऑफसेटकी सुन्दर छपाई, मजबूत जिल्द एव लमिनटेड आवरण-पृष्ठसहित (सातो खण्ड) मूल्य रु० ७०० मात्र। (प्रत्यक खण्ड अलग-अलग भी उपलब्ध)

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गारखपुर

श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)

'गीताप्रेस, गोरखपुर' (प्रधान कार्यालय—श्रीगोविन्दभवन कलकत्ता)-द्वारा संचालित राजस्थानके चूरू नगर-स्थित इस आश्रमम बालकोंके लिये प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं वैदिक परम्परानुरूप शिक्षा-दीक्षा और आवासकी उचित व्यवस्था है। इस आश्रमकी स्थापना ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा आजसे लगभग ७५ वर्ष पूर्व इस विशेष उद्देश्यसे की गयी थी कि इसमें पढ़नेवाले बालक अपनी संस्कृतिके अनुरूप विशुद्ध संस्कार तथा तदनुरूप शिक्षा प्राप्तकर सच्चरित्र, आध्यात्मिक दृष्टिसे सम्पन्न आदर्श भावी नागरिक बन सकें—एतदर्थ भारतीय संस्कृतिके अमूल्य स्रोत—वेद तथा श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रों एवं प्राचीन आचार विचारोंकी दीक्षाका यहाँ विशेष प्रबन्ध है। संस्कृतके मुख्य अध्ययनके साथ अन्य महत्त्वपूर्ण उपयोगी विषयोंकी शिक्षा भी यहाँ दी जाती है। विस्तृत जानकारीके लिये मन्त्री, श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम चूरू (राजस्थान)-के पतेपर सम्पर्क करना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस गोरखपुर—२७३००५

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दोनों विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थ-रत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य *लोक-परलोक दोनोंमें अपना कल्याण-साधन कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण-आश्रम जाति, अवस्था आदि कोई भी बाधक नहीं* है। आजके इस कुसमयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है। अतः धर्मपरायण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघकी स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग ३० हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्यप्रति इष्टदेवके नामका जप ध्यान और मूर्तिकी पूजा करनेवाले *सदस्योंकी श्रेणी भी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन तथा उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है।* सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन 'परिचय-पुस्तिका' निःशुल्क मँगवाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याणमय पथ प्रशस्त करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पत्रालय—स्वर्गाश्रम, पिन—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्म-विकासपर ही अवलम्बित है। आत्म-विकासके लिये जीवनमें सत्यता सरलता निष्कपटता, सदाचार भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोंका ग्रहण और असत्य क्रोध लोभ मोह द्वेष हिंसा आदि आसुरी गुणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ और सरल उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ५१ वर्ष पूर्व 'साधक-संघ'-*की स्थापना की गयी थी। इसका सदस्यता-शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको* इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम बने हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको 'साधक-दैनन्दिनी' का वर्तमान मूल्य रु० २.०० तथा डाकखर्च रु० १.००—कुल रु० ३.०० मात्र डाक टिकट या मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर उन्हें मँगवा लेना चाहिये। साधक सदस्य इस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन साधन-सम्बन्धी अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया नियमावली निःशुल्क मँगवाइये।

पता—संयोजक साधक-संघ पत्रालय—गीताप्रेस गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दोनों मङ्गलमय एवं दिव्यतम ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है तथा जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक परिष्कृत करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग दस हजार परीक्षार्थियोंके लिये २०० परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता रामायण परीक्षा समिति पत्रालय—स्वर्गाश्रम पिन—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश) जनपद— पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

ॐ

पुस्तकालय एवं वाचनालय

॥ श्रीहरि ॥

'वेद-कथाङ्क' की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

वैदिक ऋचाओंमें भगवत्तत्त्व-दर्शन—

वेद-वाङ्मयका परिचय—

मङ्गलाचरण

श्रीगणपति-स्तवन

नि पु सीद गणपत गणेपु त्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियत कि चनारे महामर्क मघवञ्चित्रमर्च॥

(ऋग्वेद १०। ११२। ९)

हे गणपति! आप अपने भक्तजनोके मध्य प्रतिष्ठित हा। त्रिकालदर्शी ऋषिरूप कवियाम श्रेष्ठ! आप सत्कर्मोके पूरक हैं। आपकी आराधनाके बिना दूर या समीपम स्थित किसी भी कार्यका शुभारम्भ नहीं होता। हे सम्पत्ति एव ऐश्वर्यके अधिपति! आप मेरी इस श्रद्धायुक्त पूजा-अर्चनाको, अभीष्ट फलका देनेवाले यज्ञके रूपम सम्पन्न होने-हेतु वर प्रदान कर।

ॐ गणाना त्वा गणपति हवामहे कवि कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराज ब्रह्मणा ब्रह्मणस्पत आ न शृण्वन्नूतिभि सीद सादनम्॥

(ऋग्वेद २। २३। १)

वसु, रुद्र, आदित्य आदि गणदेवाके स्वामी, ऋषिरूप कवियाम वन्दनीय, दिव्य अन्न-सम्पत्तिके अधिपति समस्त देवोमे अग्रगण्य तथा मन्त्र-सिद्धिके प्रदाता हे गणपति! यज्ञ, जप तथा दान आदि अनुष्ठानाके माध्यमसे हम आपका आह्वान करते हैं। आप हम अभय-वर प्रदान कर।

गणाना त्वा गणपतिः हवामहे प्रियाणा त्वा प्रियपति* हवामह निधीना त्वा निधिपति* हवामहे वसो मम।
आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥

(शुक्लयजुर्वेद २३। १९)

गणदेवोके सेनानी, धन पुत्र कलत्र आदि प्रिय पदार्थोंमे अत्यन्त प्रेमास्पद (दिव्य सुख-शान्तिके प्रदाता) तथा अणिमा, गरिमा आदि नव निधियाके अधिष्ठाता हे परमदेव! हम आपका आह्वान करते हैं। आराध्य-आराधकके मध्य 'ददाति प्रतिगृह्णाति' की उदात्त भावनाके अन्तर्गत आपके मूल शक्ति-स्रातकी ऊर्जाको हम धारण करनेम समर्थ हा।

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो
नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नम ॥

(शुक्लयजुर्वेद १६। २५)

(हे जगन्नियन्ता परमदव!) इस सृष्टिम देव-पितर-गन्धर्व-असुर-मनुष्यरूप प्रधान गणविभाग और उनके गणपतिया चेतन-अचेतनरूप पदार्थोंके अनेक उपसघा तथा सघपतिया तत्तद् विषयगत कलानिधिया एव उनके प्रमुख प्रवर्तको तथा सामान्य एव असामान्यरूप समस्त जीवाकृतियाके रूपम मूर्तिमान् आपको कोटिश नमन है।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमह। उप प्र यन्तु मरुत सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥

(ऋग्वेद १। ४०। १)

हे मन्त्र-सिद्धिके प्रदाता परमदेव! सत्य-सकल्पसे आपकी ओर अभिमुख हम आपका अनुग्रह प्राप्त हो। शोभनदानसे युक्त वायुमण्डल हमारे अनुकूल हो। हे सुख-धनके अधिष्ठाता! भक्ति-भावस समर्पित भोग-रागको आप अपनी कृपा-दृष्टिसे अमृतमय बना दे।

प्रैतु ब्रह्मणस्पति प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीर नर्यं पङ्क्तिराधस देवा यज्ञ नयन्तु न ॥

(ऋग्वेद १। ४०। ३)

मन्त्र-सिद्धि-प्रदाता परमदवकी कृपा-दृष्टिक हम भागी हा। प्रिय एव सत्यनिष्ठ वाणीकी अधिष्ठात्री देवीकी सत्प्रेरणास हम अभिसिंचित हा। समस्त देवगण दिव्य ऊजायुक्त जावमात्रके लिय कल्याणकारी एव भक्तिभावस समृद्ध यज्ञ (सत्कर्म)-हेतु हमें प्रतिष्ठित कर।

स्वस्ति-वाचन

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥
तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥
तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः ।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥
तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः ।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
(ऋक्० १।८९।१—१०)

कल्याणकारक, न दबनेवाले, पराभूत न होनेवाले, उच्चताको पहुँचानेवाले शुभ कर्म चारों ओरसे हमारे पास आयें। प्रगतिको न रोकनेवाले, प्रतिदिन सुरक्षा करनेवाले देव हमारा सदा संवर्धन करनेवाले हों। सरल मार्गसे जानेवाले देवोंकी कल्याणकारक सुबुद्धि तथा देवोंकी उदारता हमें प्राप्त होती रहे। हम देवोंकी मित्रता प्राप्त करें, देव हमें दीर्घ आयु हमारे दीर्घ जीवनके लिये दें। उन देवोंको प्राचीन मन्त्रोंसे हम बुलाते हैं। भग, मित्र, अदिति, दक्ष, विश्वासयोग्य मरुतोंके गण, अर्यमा, वरुण, सोम, अश्विनीकुमार, भाग्ययुक्त सरस्वती हमें सुख दें। वायु उस सुखदायी औषधको हमारे पास बहाये। माता भूमि तथा पिता द्युलोक उस औषधको हमें दें। सोमरस निकालनेवाले सुखकारी पत्थर वह औषध हमें दें, हे बुद्धिमान् अश्विदेवो! तुम वह हमारा भाषण सुनो। स्थावर और जंगमके अधिपति बुद्धिको प्रेरणा देनेवाले उस ईश्वरको हम अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं। इससे वह पोषणकर्ता देव हमारे ऐश्वर्यकी समृद्धि करनेवाला तथा सुरक्षा करनेवाला हो, वह अपराजित देव हमारा कल्याण करे और संरक्षक हो। बहुत यशस्वी इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ पूषा हमारा कल्याण करे। जिसका रथचक्र अप्रतिहत चलता है, वह तार्क्ष्य हमारा कल्याण करे, बृहस्पति हमारा कल्याण करे। धब्बोंवाले घोड़ोंसे युक्त, भूमिको माता माननेवाले, शुभ कर्म करनेके लिये जानेवाले, युद्धोंमें पहुँचनेवाले, अग्निके समान तेजस्वी जिह्वावाले, मननशील, सूर्यके समान तेजस्वी मरुत्‌रूपी सब देव हमारे यहाँ अपनी सुरक्षाकी शक्तिके साथ आयें। हे देवो! कानोंसे हम कल्याणकारक भाषण सुनें। हे यज्ञके योग्य देवो! आँखोंसे हम कल्याणकारक वस्तु देखें। स्थिर सुदृढ़ अवयवोंसे युक्त शरीरोंसे हम तुम्हारी स्तुति करते हुए, जितनी हमारी आयु है, वहाँतक हम देवोंका हित ही करें। हे देवो! सौ वर्षतक ही हमारे आयुष्यकी मर्यादा है, उसमें भी हमारे शरीरोंका बुढ़ापा तुमने किया है तथा आज जो पुत्र हैं, वे ही आगे पिता होनेवाले हैं, इसलिये हमारी आयु बीचमें ही न टूट जाय ऐसा करो। अदिति ही द्युलोक है, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सब देव, पञ्चजन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद), जो बन चुका है और जो बननेवाला है, वह सब अदिति ही है। (अर्थात् यही शाश्वत सत्य है, जिसके तत्त्वदर्शनसे परम कल्याण होता है।)
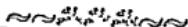
कल्याण-सूक्त

[तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु]

यज्जाग्रतो दूरमुदेति दव तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गम ज्योतिषा ज्योतिरेक तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा ।
यदपूर्व यक्षमन्त प्रजाना तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यत्प्रज्ञानमुत चेता धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृत प्रजासु।
यस्मान्न ऋते कि चन कर्म क्रियते तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
येनेद भूत भुवन भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायत सप्तहोता तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यस्मिन्नृच साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोत प्रजाना तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठ यदजिर जविष्ठ तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४। १—६)

जो जागते हुए पुरुषका [मन] दूर चला जाता है और सोते हुए पुरुषका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान साधन है जो भूत, भविष्य, वर्तमान, सनिकृष्ट एव व्यवहित पदार्थोका एकमात्र ज्ञाता है तथा जा विषयोका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्र आदि इन्द्रियोका एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। कमनिष्ठ एव धीर विद्वान् जिसके द्वारा यज्ञिय पदार्थोका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञम कर्मोका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियाका पूर्वज अथवा आत्मस्वरूप है जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयम निवास करता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पस युक्त हो। जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण हे जो धैर्यरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयम रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोको प्रकाशित करता हे, जो स्थूल शरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है आर जिसके बिना कोई भी कर्म नही किया जा सकता, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत्सम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं तथा जिसके द्वारा सात होतावाला अग्निष्टोम यज्ञ सम्पन्न होता है मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। जिस मनम रथचक्रकी नाभिमे अराके समान ऋग्वेद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं तथा जिसम यजुर्वेद प्रतिष्ठित है जिसम प्रजाका सब पदार्थोंस सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओतप्रोत है मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। श्रेष्ठ सारथि जैसे घोडोका सचालन और रासके द्वारा घोडाका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियाका सचालन तथा नियन्त्रण करनेवाला है जो हृदयम रहता है जो कभी बूढा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो।

मङ्गल-चतुष्टय

(१) [ऋग्वेदका आद्य माङ्गलिक सदेश]—

अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतार रत्नधातमम्॥

स्वय आगे बढकर लोगाका हित करनेवाले, यज्ञके प्रकाशक, ऋतुके अनुसार यज्ञ करने तथा दवाको बुलानेवाले और रत्नाको धारण करनेवाले अग्निकी मैं स्तुति करता हूँ।

(२) [यजुर्वेदका आद्य माङ्गलिक सदेश]—

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भाग प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघश* सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि॥

(हे मानव!) सबको उत्पन्न करनेवाला देव—सविता-देव तुझे अन्न-प्राप्तिके लिये प्रेरित करे। सबको उत्पन्न करनेवाला देव तुझे बल-प्राप्तिके लिये प्ररित करे। हे मनुष्यो! तुम प्राण हो। सबका सृजन करनवाला देव तुम सबको श्रेष्ठतम कर्मके लिये प्ररित करे। हे मनुष्यो! बढते जाओ। तुम सभी प्रजा वध करनेके लिये अयोग्य हो। तुम इन्द्रके लिये अपना भाग बढाकर दो। तुम सतानयुक्त, रोगमुक्त और क्षयरोगरहित होआ। चोर तुम्हारा प्रभु न बने, पापी तुम्हारा स्वामी न बने, इस भूपतिके निकट स्थिर रहो। अधिक सख्यामे प्रजासम्पन्न होओ, यज्ञकर्ताके पशुआकी रक्षा करो।

(३) [सामवेदका आद्य माङ्गलिक सदेश]—

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥

ह अग्ने! हवि-भक्षण करनेके लिये तू आ, देवाको हवि देनेक लिये जिसकी स्तुति की जाती ह, एसा तू यज्ञमे ऋत्विज् होता हुआ आसनपर बैठ।

(४) [अथर्ववेदका आद्य माङ्गलिक सदेश]—

श नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। श योरभि स्त्रवन्तु न ॥

दिव्य जल हमे सुख दे और इष्ट-प्राप्तिके लिये एव पीनेके लिये हो तथा हमपर शान्तिका स्रोत बहावे।
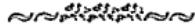
परम पुरुष (श्रीविष्णु)-स्तवन

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।
स भूमिः सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

उन परम पुरुषके सहस्रा (अनन्त) मस्तक, सहस्रा नत्र और सहस्रा चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान)-को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त याजन) ऊपर स्थित हे। अर्थात् वे ब्रह्माण्डमे व्यापक हाते हुए उससे परे भी है।

पुरुष एवेदः सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

यह जा इस समय वर्तमान (जगत्) है, जा बीत गया और जो आगे होनेवाला है, यह सब व परम पुरुष ही हे। इसक अतिरिक्त वे देवताआके तथा जो अन्नस (भाजनद्वारा) जीवित रहत है, उन सबके भी ईश्वर (अधीश्वर-शासक) है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुष ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि॥

यह भूत, भविष्य, वर्तमानसे सम्बद्ध समस्त जगत् इन परम पुरुषका वैभव है। वे अपने इस विभूति-विस्तारसे भी महान् हैं। उन परमेश्वरकी एकपाद्विभूति (चतुर्थांश)-म ही यह पञ्चभूतात्मक विश्व है। उनकी शप त्रिपाद्विभूतिमे शाश्वत दिव्यलोक (वैकुण्ठ, गालाक साकेत, शिवलोक आदि) हैं।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत् पुन ।
तता विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

वे परम पुरुष स्वरूपत इस मायिक जगत्से परे त्रिपाद्विभूतिम प्रकाशमान हे (वहाँ मायाका प्रवेश न हानेसे उनका स्वरूप नित्य प्रकाशमान हे) इस विश्वके रूपम उनका एक पाद ही प्रकट हुआ हे, अर्थात् एक पादसे व ही विश्वरूप भी हैं। इसलिये व ही सम्पूर्ण जड एव चेतनमय—उभयात्मक जगत्का परिव्याप्त किय हुए हैं।

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुष ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुर ॥

उन्हीं आदिपुरुषसे विराट् (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ। वे परम पुरुष ही विराट्के अधिपुरुष-अधिदेवता (हिरण्यगर्भ)-रूपसे उत्पन्न होकर अत्यन्त प्रकाशित हुए। पीछे उन्होंने भूमि (लोकादि) तथा शरीर (देव, मानव, तिर्यक् आदि) उत्पन्न किये।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत सम्भृत पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥

जिसमे सब कुछ हवन किया गया है, उस यज्ञपुरुषसे उसीने दही, घी आदि उत्पन्न किये और वायुमे, वनम एव ग्राममे रहने योग्य पशु उत्पन्न किये।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

उसी सर्वहुत यज्ञपुरुषसे ऋग्वेद एव सामवेदके मन्त्र उत्पन्न हुए, उसीसे यजुर्वेदके मन्त्र उत्पन्न हुए और उसीसे सभी छन्द भी उत्पन्न हुए।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय॥

उसीसे घोडे उत्पन्न हुए, उसीसे गाये उत्पन्न हुईं और उसीसे भेड-बकरियाँ उत्पन्न हुईं। वे दोना ओर दाँतोवाले हैं।

त यज्ञ बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुष जातमग्रत।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

देवताओ, साध्यो तथा ऋषियाने सर्वप्रथम उत्पन्न हुए उस यज्ञ-पुरुषको कुशापर अभिषिक्त किया और उसीसे उसका यजन किया।

यत्पुरुष व्यदधु कतिधा व्यकल्पयन्।
मुख किमस्यासीत् कि बाहू किमूरू पादा उच्येते॥

पुरुषका जब विभाजन हुआ तो उसमें कितनी विकल्पनाएँ की गयीं? उसका मुख क्या था? उसके बाहु क्या थे? उसके जघे क्या थे? और उसके पैर क्या कहे जाते हैं।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत॥

ब्राह्मण इसका मुख था (मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए)। क्षत्रिय दोनों भुजाएँ बने (दोनों भुजाओंसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए)। इस पुरुषकी जो दोनो जघाएँ थीं, वे ही वैश्य हुईं अर्थात् उनसे वैश्य उत्पन्न हुए और पैरासे शूद्र वर्ण प्रकट हुआ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥

इस परम पुरुषके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए, नेत्रोसे सूर्य प्रकट हुए, कानोसे वायु और प्राण तथा मुखसे अग्निकी उत्पत्ति हुई।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत।
पद्भ्या भूमिर्दिश श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥

उन्हीं परम पुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्षलोक उत्पन्न हुआ, मस्तकसे स्वर्ग प्रकट हुआ, पैरासे पृथिवी, कानासे दिशाएँ प्रकट हुईं। इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुषमे ही कल्पित हुए।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्य ग्रीष्म इध्म शरद्धवि॥

जिस पुरुषरूप हविष्यसे देवोने यज्ञका विस्तार किया, वसन्त उसका घी था, ग्रीष्म काष्ठ एव शरद् हवि थी।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रि सप्त समिध कृता।
देवा यद्यज्ञ तन्वाना अबध्नन् पुरुष पशुम्॥

देवताओने जब यज्ञ करते समय (सकल्पसे) पुरुषरूप पशुका बन्धन किया तब सात समुद्र इसकी परिधि (मेखलाएँ) थे। इक्कीस प्रकारके छन्दाकी (गायत्री अति-जगती और कृतिमेसे प्रत्येकके सात-सात प्रकारसे) समिधाएँ बनीं।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा॥

देवताओने (पूर्वोक्त रूपसे) यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप परम पुरुषका यजन (आराधन) किया। इस यज्ञसे सर्वप्रथम धर्म उत्पन्न हुए। उन धर्मोके आचरणसे वे देवता महान् महिमावाले होकर उस स्वर्गलोकका सेवन करते हैं जहाँ प्राचीन साध्य-देवता निवास करते हैं। [अत हम सभी सर्वव्यापी जड-चेतनात्मकरूप विराट् पुरुषकी करबद्ध स्तुति करते हैं।](यजुर्वेद ३१। १—१६)

वैदिक शुभाशंसा

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता स गमेमहि॥

(ऋग्वेद ५। ५१। १५)

हम अविनाशी एव कल्याणप्रद मार्गपर चल। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा चिरकालसे नि सदेह होकर बिना किसीका आश्रय लिये राक्षसादि दुष्टासे रहित पथका अनुसरण कर अभिमत मार्गपर चल रहे हैं, उसी प्रकार हम भी परस्पर स्नेहके साथ शास्त्रोपदिष्ट अभिमत मार्गपर चल।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥

(ऋग्वेद १। १६४। ४१)

उच्चरित की जानेवाली शब्दब्रह्मात्मिका वाणी शब्दका रूप धारण कर रही है। अव्याकृत आत्मभावसे सुप्रतिष्ठित यह वाणी समस्त प्राणियोके लिये उनके वाचक शब्दाको सार्थक बनाती हुई सुबन्त और तिङन्त-भेदासे पादद्वयवती, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-भेदासे चतुष्पदी, आमन्त्रण आदि आठ भेदासे अष्टपदी और अव्यय-पदसहित नवपदी अथवा नाभिसहित उर , कण्ठ, तालु आदि भेदासे नवपदी बनकर उत्कृष्ट हृदयाकाशमे सहस्राक्षरा-रूपसे व्याप्त होकर अनेक ध्वनि-प्रकाराको धारण करती हुई अन्तरिक्षमे व्याप्त यह दैवी वाणी गौरीस्वरूपा है।

अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासा युयोतना नो अहस ॥

(ऋग्वेद ८। १८। १०)

'हे अखण्ड नियमाके पालनेवाले देवगणो (आदित्यास)! हमारे रोगाको दूर करा, हमारी दुर्मतिका दमन करो तथा पापोको दूर हटा दो।' सूर्यकी आराधना और प्राकृतिक नियमाके पालन करनेसे रोग दूर होते है, स्वास्थ्य स्थिर रहता है। स्थिर स्वास्थ्यसे सुमति होती है और सुमति पापको दूर हटाती है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्या विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय॰ स्याम पतयो रयीणाम्॥

(शुक्लयजुर्वेद २३। ६५)

हे प्रजापते! तुमसे भिन्न दूसरा कोई इस पृथिव्यादि भूता तथा सब पदार्थों एव रूपासे अधिक बलवान् नहीं हुआ है, अर्थात् तुम्हीं सर्वोपरि बलवान् हो। अतएव हम जिन कामनाआसे तुम्हारा यजन करते हैं, वह हमे प्राप्त हो। जिससे हम सब धनोके स्वामी बन।

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

(सामवेद १। ३। १२)

हे स्तोताओ! यज्ञमे सत्यधर्मा क्रान्तदर्शी, मेधावी, तेजस्वी और रोगाका शमन करनेवाले शत्रुघातक अग्निकी स्तुति करो।

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्ता पावमानी द्विजानाम्।
आयु प्राण प्रजा पशु कीर्तिं द्रविण ब्रह्मवर्चसम्। मह्य दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

(अथर्ववेद १९। ७१। १)

पापाका शोधन करनेवाली वेदमाता हम द्विजाको प्रेरणा द। मनारथाको परिपूर्ण करनवाली वेदमाताकी आज हमने स्तुति की है। मनोऽभिलषित वरप्रदात्री यह माता हम दीर्घायु, प्राणवान्, प्रजावान्, पशुमान्, धनवान्, तेजस्वी तथा कीर्तिशाली होनेका आशीर्वाद देकर ही ब्रह्मलोकको पधार।

वैदिकपन्थानमनुचरेम

(१)

आदर्श वैदिक शिक्षा

ऋग्वेदकी शिक्षाएँ—

१ एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। (१। १६४। ४६)
उस एक प्रभुको विद्वान् लोग अनेक नामासे पुकारते हैं।

२ एको विश्वस्य भुवनस्य राजा॥ (६। ३६। ४)
वह सब लोकाका एकमात्र स्वामी है।

३ यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति॥ (१। १६४। ३९)
जो उस ब्रह्मको नहीं जानता, वह वेदस क्या करेगा?

४ स गच्छध्व स वदध्वम्। (१०। १९१। २)
मिलकर चलो और मिलकर बोलो।

५ शुद्धा पूता भवत यज्ञियास ॥ (१०। १८। २)
शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो।

६ स्वस्ति पन्थामनु चरेम। (५। ५१। १५)
हम कल्याण-मार्गके पथिक हो।

७ देवाना सख्यमुप सदिमा वयम्॥ (१। ८९। २)
हम देवा (विद्वाना)-की मैत्री कर।

८ उप सर्प मातर भूमिम्। (१०। १८। १०)
मातृभूमिकी सेवा करो।

९ भद्रभद्र क्रतुमस्मासु धेहि। (१। १२३। १३)
हे प्रभो! हम लागाम सुख और कल्याणमय उत्तम सकल्प, ज्ञान और कर्मको धारण कराओ।

यजुर्वेदकी शिक्षाएँ—

१ भद्र कर्णेभि शृणुयाम। (२५। २१)
हम कानोसे भद्र—मङ्गलकारी वचन ही सुनें।

२ स ओत प्रोतश्च विभू प्रजासु॥ (३२। ८)
वह व्यापक प्रभु सब प्रजाओम ओतप्रोत है।

३ मा गृध कस्य स्विद् धनम्॥ (४०। १)
किसीके धनपर न ललचाओ।

४ मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (३६। १८)
हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखे।

५ तमेव विदित्वाति मृत्युमेति॥ (३१। १८)
उस ब्रह्म (प्रभु)-को जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है।

६ ऋतस्य पथा प्रेत। (७। ४५)
सत्यके मार्गपर चलो।

७ तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥ (३४। १)
मेरा मन उत्तम सकल्पावाला हो।

सामवेदकी शिक्षाएँ—

१ अध्वरे सत्यधर्माण कवि अग्निं उप स्तुहि। (३२)
हिसारहित यज्ञमे सत्यधर्मका प्रचार करनेवाले अग्निकी स्तुति करो।

२ ऋचा वरेण्य अव यामि॥ (४८)
वेदमन्त्रासे मैं श्रेष्ठ सरक्षण माँगता हूँ।

३ मन्त्रश्रुत्य चरामसि॥ (१७६)
वेदमन्त्रामे जो कहा है, वही हम करते हैं।

४ ऋषीणा सप्त वाणी अभि अनूषत्॥ (५७७)
ऋषियाकी सात छन्दावाली वाणी कहो—वेदमन्त्र बोलो।

५ अमृताय आप्यायमान दिवि उत्तमानि श्रवासि धिष्व॥ (६०३)
मोक्षप्राप्तिके लिये तू अपनी उन्नति करते हुए द्युलोकमे उत्तम यश प्राप्त कर।

६ यज्ञस्य ज्योति प्रिय मधु पवते। (१०३१)
यज्ञकी ज्योति प्रिय और मधुर भाव उत्पन्न करती है।

अथर्ववेदकी शिक्षाएँ—

१ तस्य ते भक्तिवास स्याम॥ (६। ७९। ३)
हे प्रभो! हम तेरे भक्त हो।

२ एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्य । (२। २। १)
एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाओमे स्तुत्य है।

३ स नो मुञ्चत्वहस ॥ (४। २३। १)
वह ईश्वर हमे पापसे मुक्त करे।

४ य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशु ॥ (९। १०। १)
जो उस ब्रह्मको जान लेते हैं, वे मोक्षपद पाते हैं।

५ स श्रुतेन गमेमहि॥ (१। १। ४)
हम वेदोपदेशसे युक्त हो।

६ यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभि ॥ (९। १०। १४)
यज्ञ ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको बाँधनेवाला नाभिस्थान है।

७ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। (११। ५। १९)
ब्रह्मचर्यरूपी तपोबलसे ही विद्वान् लागाने मृत्युको जीता है।

८ मधुमतीं वाचमुदेयम्॥ (१६। २। २)
मैं मीठा वाणी बोलूँ।

९ परैतु मृत्युरमृत न ऐतु। (१८। ३। ६२)
मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमें प्राप्त हो।

१० सर्वमेव शमस्तु न ॥ (१९। ९। १४)
हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो।

(२)

वेदोक्त मानव-प्रार्थना

मानवको अपने जीवनमे ससारयात्रार्थ जिन-जिन वस्तुओकी आवश्यकता होती है, उन सभी वस्तुओंका वेदोमे अगाध भडार है।

जो मनुष्य परमेश्वरको अपना परम प्रिय, परम ध्येय और परम इष्ट मानकर भगवत्प्रार्थना करता है, वही भगवान्का परम प्रिय और भक्त बन सकता है। प्रभुका भक्त बननेपर ही परमात्मा अपने भक्तके सर्वविध योगक्षेमका भार स्वय वहन करते हैं। परमात्मामे विश्वास और उनके प्रति स्वार्पण करनवाले मानव भक्तको कभी किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती। भक्तके इच्छानुसार भगवान् उसे सब कुछ प्रदान करते हैं। प्रभुभक्त सर्वदा निर्विकार, निष्काम और निश्चिन्त रहता है। अत प्रभुभक्तकी परमात्मासे अपने लिये प्रथम तो कभी किसी वस्तुकी माँग ही नहीं होती यदि कभी होती भी है तो वह अपने लिये नहीं, किंतु दूसराके लिये हाती है। प्रभुभक्त मानवकी इस प्रकारकी विश्वकल्याणमयी 'माँग'को 'प्रार्थना' शब्दसे अभिहित किया गया है। वेदोंम मानवतासम्पन्न भगवद्भक्त मानवद्वारा की गयी विश्वकल्याणार्थ प्रार्थनाके सम्बन्धमे अनेकानेक वैदिक सूक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनके स्वाध्याय और मननसे विश्वकल्याणकामी मानवके उच्च जीवन उच्च विचार और उच्च मानवताका सुन्दर परिचय मिलता है। अब हम चारा वदाकी कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

ऋग्वेदकी सूक्तियाँ

यच्छा न शर्म सप्रथ ॥ (१ । २२ । १५)

'हे भगवन्! आप हमे अनन्त अखण्डैकरसपरिपूर्ण सुखाको प्रदान कर।'

पुनर्ददताघ्नता जानता स गमेमहि ॥ (५ । ५१ । १५)

'हम दानशील पुरुषस, विश्वासघातादि न करनेवालेसे और विवक-विचार-ज्ञानवान्से सत्सग करते रह।'

भद्र नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। (१० । २५ । १)

'ह परमश्वर! आप हम सबका कल्याणकारक मन कल्याणकारक बल और कल्याणकारक कर्म प्रदान कर।'

यजुर्वेदकी सूक्तियाँ

वय॰ स्याम सुमतौ। (११ । २१)

'हम सद्बुद्धि प्रदान करा।'

विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ (१६ । ४८)

'इस ग्रामम सभी प्राणी रोगरहित और हृष्ट-पुष्ट हा।'

मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (१८ । ४८)

'ह अग्निदव! आप मुझ अपने तजसे तजस्वी बनायं।'

पुनन्तु मा दवजना । (१९ । ३९)

'दवानुगामी मानव मुझ पवित्र कर।'

म कामान्समर्धयन्तु॥ (२० । १२)

'दवगण मरा कामनाआका समृद्ध (पूर्ण) कर।'

वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। (२० । २३)

'मैं परमात्मा महिमामयी ज्योतिको प्राप्त करूँ।'

स्याना पृथिवि न । (३५ । २१)

'हे पृथिवी! तुम हमारे लिय सुख देनेवाली हो।'

सामवेदकी सूक्तियाँ

भद्रा उत प्रशस्तय । (१११)

'हमे कल्याणकारिणी स्तुतियाँ प्राप्त हो।'

जीवा ज्योतिरशीमहि॥ (२५९)

'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करे।'

अस्मभ्य चित्र वृषण॰रयि दा ॥ (३१७)

'हम अनेक प्रकारके मनोरथाको पूर्ण करनेवाला धन दो।'

मदेम शतहिमा सुवीरा ॥ (४५४)

'हम सुन्दर पुत्रोंके सहित सैकडों हेमन्त-ऋतुपर्यन्त प्रसन्न रह।'

कृधी नो यशसो जने। (४७९)

'हमे अपने देशमे यशस्वी बनाओ।'

न सन्तु सनिषन्तु नो धिय ॥ (५५५)

'हमारी देवविषयक स्तुतियाँ देवताओको प्राप्त हो।'

विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञम्। (६१०)

'सम्पूर्ण देवगण मेरे मान करने योग्य पूजनको स्वीकार करें।'

अह प्रवदिता स्याम्॥ (६११)

'मैं सर्वत्र प्रगल्भतासे बोलनेवाला बनूँ।'

अथर्ववेदकी सूक्तियाँ

शिवा न सन्तु वार्षिकी ॥ (१ । ६ । ४)

'वर्षाद्वारा प्राप्त जल हमारे लिये कल्याणकारी हो।'

पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्॥ (२ । १३ । १)

'हे भगवन्! जिस प्रकार पिता अपने अपराधी पुत्रकी रक्षा करता है उसी प्रकार आप भी इस (हमारे) बालककी रक्षा कर।'

विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान्॥ (२ । ३५ । ४)

'हे विश्वकर्मन्! तुमको नमस्कार है तुम हमारी रक्षा करो।'

तस्य ते भक्तिवास स्याम॥ (६ । ७९ । ३)

'हे प्रभो! हम तुम्हारे भक्त बन।'

कामानस्माक पूरय॥ (३ । १० । १३)

'हे दवगण! आप अभिलषित वस्तुआसे हम परिपूर्ण करे।'

शत जीवेम शरद सर्ववीरा ॥ (३ । १२ । ६)

'हम स्वाभिलषित पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण होकर सौ वर्षतक जीवित रह।'

मा नो द्विक्षत कश्चन॥ (१२ । १ । २४)

'हमसे कोई भी कभा शत्रुता करनेवाला न हो।'

निर्दुर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्॥ (१६ । २ । १)

'हमारी शक्तिशालिना माठी वाणा कभी भी दुष्ट स्वभाववाली न हा।'

शं म अस्त्वभय म अस्तु॥ (१९ । ९ । १३)

मुझे कल्याणकी प्राप्ति हा और कभी किसी प्रकारका भय मुझ न हा।'

(३)

वेदसे कामना-साधन

धर्मके आधारस्तम्भ वेदको समस्त जागतिक विद्वानोने सकल ससारका पुरातन ग्रन्थ स्वीकार किया है। प्राचीन महर्षि वेदके द्वारा ही लोकोत्तर अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त कर पाये थे, इसीलिये तो— वेदाभ्यास और वैदिक उपासनाओके अतिरिक्त ब्राह्मणके लिये धन कमानेकी काई आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहा गया है। '<u>नान्यद् ब्राह्मणस्य कदाचिद्धनार्जनक्रिया</u>।'

मनु-सहितामे ऋषियाद्वारा प्रश्न हुआ है कि 'भगवन्! अपने धर्मपालनमे तत्पर मनसा, वाचा कर्मणा हिसारहित वृत्तिवाले ब्राह्मणोपर काल अपना हाथ चलानेमे कैसे समर्थ होता है'? इस प्रश्नका उत्तर क्या ही सुन्दर दिया गया है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघासति॥

(मनु० ५। ४)

मनुभगवान्ने मृत्युके आनेका सर्वप्रथम कारण वेदोके अनभ्यासको बताया है। पाठकाके मनम बडा आश्चर्य होग कि वेदमे ऐसी कौन-सी करामात है, जिससे काल भी उसव अभ्यास करनेवालेका कुछ नहीं कर पाता। पाठकाको विश्व रखना चाहिये कि वेद ऐसी-ऐसी करामातोका खजान जिनका किसी औरके द्वारा मिलना दुर्लभ है। यद्यपि मुख्य प्रयोजन अक्षय्य स्वर्ग (मोक्ष)-की प्राप्ति है, उसमें सासारिक जनोके मनोरथ पूर्ण करनेके भी साधन बताये गये हैं, जिनसे ऐहिक तथा पार उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

प्रसिद्ध नीलसूक्तके कतिपय मन्त्रोके पाठकाके दिग्दर्शनार्थ यहाँ प्रस्तुत किये गये

भूतादिनिवारण

नीचे लिखे मन्त्रसे सरसोके दाने अभिमान्त्र आविष्ट पुरुपपर डालें तो ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादिस मुक्ति हो जाती है—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराची परा सुव॥

(शु० य० १६। ५)

निर्विघ्नगमन

।कहीं जाता हुआ मनुष्य भी यदि उपर्युक्त (अध्यवोचदधिवक्ता०) मन्त्रको जपे तो वह (यथेष्ट स्थानपर) कुशलपूर्वक चला जाता है।

बालशान्ति

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भक मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्। मा नो वधी पितर मोत मातर मा न प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिष ॥ (शु० य० १६। १५)

—इस मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति देनसे बालक नीरोग रहता है तथा परिवारमे शान्ति रहती है।

रोगनाशन

नम सिकत्याय च प्रवाह्याय च नम किꣳशिलाय च क्षयणाय च नम कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च॥ (शु०य० १६। ४३)

—इस मन्त्रसे ८०० बार कलशस्थित जलको अभिमन्त्रित कर उससे रोगीका अभिपेक करे तो वह रोगमुक्त हो जाता है।

द्रव्यप्राप्ति

'नमो व किरिकेभ्यो०' (शु०य० १६। ४६) मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति दे तो धन मिलता है।

जलवृष्टि

'असौ योऽवसर्पति' (शु० य० १६। ...ोर जलका ही सेवन ... समिधाआको भिगोकर ...न् पानी बरसाते हैं।

... प्रयाग बताये गय हैं। क ...दीक्षासे दीक्षित होकर ...के अतिरिक्त मन्त्राक ऋषि, ...कार जानना भी अत्यावश्यक ...हा है—

...ऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते ... भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वाऽऽपद्यते ...षा पापीयान् भवति।

...-'जो ऋषि-छन्द-देवतादिके ज्ञानके हुए बिना प०... ...ाता है जपता है, हवन करता-कराता है, उसका वेद निर्बल और निस्तत्त्व हो जाता है। वह पुरुप नरकम जाता है या सूखा पड हाता है—अकाल अथवा मृत्युसे मरता ह।'

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्।

जा इन्ह जानकर कर्म करता है वह (अभीष्ट) फलका प्राप्त करता है। अत साधकजनाके लिय वैदिक गुरूपदिष्ट मार्गस साधन करना विशप लाभदायक है।

(२)

वेदोक्त मानव-प्रार्थना

मानवको अपने जीवनमे ससारयात्रार्थ जिन-जिन वस्तुओकी आवश्यकता होती है, उन सभी वस्तुओका वेदोंमें अगाध भडार है।

जो मनुष्य परमेश्वरको अपना परम प्रिय परम ध्येय और परम इष्ट मानकर भगवत्प्रार्थना करता है, वही भगवान्का परम प्रिय और भक्त बन सकता है। प्रभुका भक्त बननेपर ही परमात्मा अपने भक्तके सर्वविध योगक्षेमका भार स्वय वहन करत हैं। परमात्मामें विश्वास और उनके प्रति स्वार्पण करनेवाले मानव भक्तको कभी किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती। भक्तके इच्छानुसार भगवान् उसे सब कुछ प्रदान करते हैं। प्रभुभक्त सर्वदा निर्विकार निष्काम और निश्चिन्त रहता है। अत प्रभुभक्तकी परमात्मासे अपने लिये प्रथम तो कभी किसी वस्तुकी माँग ही नहीं होती, यदि कभी होती भी है तो वह अपने लिये नहीं किंतु दूसराके लिये होती है। प्रभुभक्त मानवकी इस प्रकारकी विश्वकल्याणमया 'माँग'को 'प्रार्थना' शब्दसे अभिहित किया गया है। वेदामे मानवतासम्पन्न भगवद्भक्त मानवद्वारा की गयी विश्वकल्याणार्थ प्रार्थनाके सम्बन्धमे अनेकानेक वैदिक सूक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनके स्वाध्याय और मननसे विश्वकल्याणकामा मानवके उच्च जीवन उच्च विचार और उच्च मानवताका सुन्दर परिचय मिलता है। अब हम चारा वेदाकी कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

ऋग्वेदकी सूक्तियाँ

यच्छा न शर्म सप्रथ ॥ (१।२२।१५)

'हे भगवन्! आप हमे अनन्त अखण्डैकरसपरिपूर्ण सुखोको प्रदान करे।'

पुनर्ददताघ्नता जानता स गममहि॥ (५।५१।१५)

'हम दानशील पुरुपस विश्वासघातादि न करनेवालेसे और विवक-विचार-ज्ञानवान्से सत्सग करते रह।'

भद्र ना अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। (१०।२५।१)

'ह परमेश्वर! आप हम सबको कल्याणकारक मन कल्याणकारक बल और कल्याणकारक कर्म प्रदान करे।'

यजुर्वेदकी सूक्तियाँ

वय॰ स्याम सुमतौ। (११।२१)

'हम सद्बुद्धि प्रदान करो।'

विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ (१६।४८)

'इस ग्राममे सभी प्राणी रोगरहित और हृष्ट-पुष्ट हो।'

मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (१८।४८)

'हे अग्निदेव! आप मुझे अपने तेजसे तेजस्वी बनायें।'

पुनन्तु मा दवजना । (१९।३९)

'देवानुगामी मानव मुझ पवित्र कर।'

मे कामान्त्समर्धयन्तु॥ (२०।१२)

'दवगण मरा कामनाओंको समृद्ध (पूर्ण) कर।'

वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। (२०।२३)

'मैं परमात्माकी महिमामयी ज्योतिको प्राप्त करूँ।'

स्योना पृथिवि न । (३५।२१)

'हे पृथिवी! तुम हमारे लिये सुख देनेवाली हो।'

सामवेदकी सूक्तियाँ

भद्रा उत प्रशस्तय । (१११)

'हमे कल्याणकारिणी स्तुतियाँ प्राप्त हो।'

जीवा ज्योतिरशीमहि॥ (२५९)

'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त कर।'

अस्मभ्य चित्र वृषण॰रयि दा ॥ (३१७)

'हम अनेक प्रकारके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला धन दो।'

मदेम शतहिमा सुवीरा ॥ (४५४)

'हम सुन्दर पुत्रोंके सहित सैकडो हेमन्त-ऋतुपर्यन्त प्रसन्न रह

कृधी नो यशसो जने। (४७९)

'हमे अपने देशमे यशस्वी बनाओ।'

न सन्तु सनिषन्तु नो धिय ॥ (५५५)

'हमारी देवविषयक स्तुतियाँ देवताओंको प्राप्त हो।'

विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञम्। (६१०)

'सम्पूर्ण देवगण मेरे मान करने योग्य पूजनको स्वीकार करें।'

अह प्रवदिता स्याम्॥ (६११)

'मैं सर्वत्र प्रगल्भतासे बोलनेवाला बनूँ।'

अथर्ववेदकी सूक्तियाँ

शिवा न सन्तु वार्षिकी ॥ (१।६।४)

'वर्षाद्वारा प्राप्त जल हमारे लिये कल्याणकारी हो।'

पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्॥ (२।१३।१)

'हे भगवन्! जिस प्रकार पिता अपने अपराधी पुत्रक रक्षा करता है उसी प्रकार आप भी इस (हमारे) बालकक रक्षा करे।'

विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान्॥ (२।३५।४)

'हे विश्वकर्मन्! तुमको नमस्कार है, तुम हमारी रक्षा करो।'

तस्य ते भक्तिवाम स्याम॥ (६।७९।३)

'हे प्रभो! हम तुम्हारे भक्त बने।'

कामानस्माक पूरय॥ (३।१०।१३)

'हे देवगण! आप अभिलपित वस्तुओसे हम परिपूर्ण करे।'

शत जीवेम शरद सर्ववीरा ॥ (३।१२।६)

'हम स्वाभिलपित पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण होकर सौ वर्षतक जीवित रहे।'

मा नो द्विक्षत कश्चन॥ (१२।१।२४)

'हमसे कोई भी कभी शत्रुता करनेवाला न हो।'

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्॥ (१६।२।१)

'हमारी शक्तिशालिनी माधुर्यमयी वाणी कभी भी दुष्ट स्वभाववाली न हो।'

श मे अस्त्वभय मे अस्तु॥ (१९।९।१३)

'मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और कभी किसी प्रकारका भय मुझ न हो।'

(३)
वेदसे कामना-साधन

धर्मके आधारस्तम्भ वेदको समस्त जागतिक विद्वानाने सकल ससारका पुरातन ग्रन्थ स्वीकार किया है। प्राचीन महर्षि वेदके द्वारा ही लाकोत्तर अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त कर पाये थे, इसीलिये तो— वेदाभ्यास और वैदिक उपासनाओके अतिरिक्त ब्राह्मणके लिये धन कमानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहा गया है। 'नान्यद् ब्राह्मणस्य कदाचिद्धनार्जनक्रिया।'

मनु-सहितामे ऋषियोद्वारा प्रश्न हुआ है कि 'भगवन्। अपने धर्मपालनमे तत्पर मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसारहित वृत्तिवाले ब्राह्मणोपर काल अपना हाथ चलानेमे कैसे समर्थ होता है'? इस प्रश्नका उत्तर क्या ही सुन्दर दिया गया है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥
(मनु० ५। ४)

मनुभगवान्ने मृत्युके आनेका सर्वप्रथम कारण वेदाके अनभ्यासको बताया है। पाठकाके मनम बडा आश्चर्य होगा कि वेदमे ऐसी कौन-सी करामात है, जिससे काल भी उसका अभ्यास करनेवालेका कुछ नहीं कर पाता। पाठकाको विश्वास रखना चाहिये कि वेद ऐसी-एसी करामाताका खजाना है, जिनका किसी औरके द्वारा मिलना दुर्लभ है। यद्यपि वदका मुख्य प्रयोजन अक्षय्य स्वर्ग (माक्ष)-की प्राप्ति है, तथापि उसमें सासारिक जनाके मनारथ पूर्ण करनेक भी बहुत-से साधन बताये गये हैं, जिनसे ऐहिक तथा पारमार्थिक— उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

प्रसिद्ध नीलसूक्तके कतिपय मन्त्रोके कुछ साधन पाठकोके दिग्दर्शनार्थ यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं—

भूतादिनिवारण

नीचे लिखे मन्त्रसे सरसाके दाने अभिमन्त्रित करके आविष्ट पुरुषपर डालें तो ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादिसे मुक्ति हो जाती है—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराची परा सुव॥
(शु० य० १६। ५)

निर्विघ्नगमन

।कहीं जाता हुआ मनुष्य भी यदि उपर्युक्त (अध्यवोचदधिवक्ता०) मन्त्रको जपे तो वह (यथेष्ट स्थानपर) कुशलपूर्वक चला जाता है।

बालशान्ति

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भक मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्। मा नो वधी पितर मोत मातर मा न प्रियाम्तन्वो रुद्र रीरिष ॥ (शु० य० १६। १५)

—इस मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति देनसे बालक नीरोग रहता है तथा परिवारमे शान्ति रहती है।

रोगनाशन

नम सिकत्याय च प्रवाह्याय च नम कि॰शिलाय च क्षयणाय च नम कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च॥ (शु०य० १६। ४३)

—इस मन्त्रसे ८०० बार कलशस्थित जलको अभिमन्त्रित कर उसस रोगीका अभिषेक करे ता वह रोगमुक्त हो जाता है।

द्रव्यप्राप्ति

'नमो व किरिकेभ्यो०' (शु०य० १६। ४६) मन्त्रसे तिलकी १० ००० आहुति दे तो धन मिलता है।

जलवृष्टि

'असौ यस्ताम्रो' तथा 'असौ योऽवसर्पति' (शु० य० १६। ६-७)—इन दाना मन्त्रासे सत्तू आर जलका ही सेवन करता हुआ, गुड तथा दूधम वेतस्की समिधाओको भिगोकर हवन करे तो श्रीसूर्यनारायण-भगवान् पानी बरसाते है।

पाठकाक दिग्दर्शनार्थ कुछ प्रयाग बताये गये है। प्रयोगाकी सिद्धि गुरुद्वारा वैदिक दीक्षासे दीक्षित होकर साधन करनेसे होती है। दीक्षाके अतिरिक्त मन्त्रोके ऋषि, छन्द, देवता एव उच्चारण-प्रकार जानना भी अत्यावश्यक है। भगवान् कात्यायनने कहा है—

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयाम भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वाऽऽपद्यते स्थाणु वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

भाव यह है कि—'जो ऋषि-छन्द-देवतादिक ज्ञानके हुए बिना पढता है, पढाता है, जपता है, हवन करता-कराता है, उसका वेद निर्बल और निस्तत्त्व हा जाता है। वह पुरुष नरकम जाता है या सूखा पेड होता है—अकाल अथवा मृत्युसे मरता है।'

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्।

जो इन्हे जानकर कर्म करता है वह (अभीष्ट) फलको प्राप्त करता है। अत साधकजनाक लिय वैदिक गुरूपदिष्ट मार्गस साधन करना विशेष लाभदायक है।

(४)

वेदोमे भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ प्रार्थना

भक्ति-शास्त्रोके अनुसार भगवत्कृपाके बिना मनुष्य सुख-शान्ति या सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, अत भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये समस्त प्राणियामे स्थित रहनवाले भगवान्‌को सर्वव्यापी एव सर्वान्तर्यामी जानकर जो मनुष्य सर्वत्र और सबमे देखता है, वही पूर्ण भगवत्कृपाका अनुभव कर सकता है। वह एहलौकिक पारलौकिक—सभी प्रकारके सुख-साधनोको प्राप्त कर अभ्युदय तथा नि श्रेयसरूपा पूर्णताको प्राप्त कर सकता है।

भगवत्कृपा और भगवान्‌मे कोई भेद नहीं है, अत दोनोको अभिन्न मानकर भगवदाराधन करना चाहिये। जो मनुष्य श्रद्धा एव विश्वासके साथ सर्वव्यापी भगवान्‌की आराधना करता है, वह अवश्य भगवान्‌का कृपापात्र बन जाता है। भगवान्‌के सम्मुख होनेके कारण वह सद्धर्म, सत्कर्म और सदाचार आदिके पालनमे तत्पर हो अहर्निश भगवदाराधनमे सलग्न रहता है। पश्चात् वह शुद्ध-बुद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है। अत भगवत्कृपाको विशेष-रूपमे प्राप्त (अनुभव) करनेके लिये भगवदाराधना आवश्यक है।

वेदोमे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोद्वारा अनेक स्थलोपर भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये प्रार्थनाएँ की गयी हैं। ये प्रार्थनाएँ बडी ही उदात्त और सत्सकल्पित हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि सदा भगवदनुग्रहके प्रार्थी रहे हैं परतु वे साधारण वस्तुओंके लिये भगवदनुग्रहका आह्वान नहीं करते प्रत्युत अपने तथा मानवमात्रके सर्वाङ्गीण योगक्षेमके लिये प्रभुकृपाके प्रार्थी हैं।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियोद्वारा वेदोमे आत्म-कल्याण और लोक-कल्याणके निमित्त भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ जो प्रार्थनाएँ की गयी हैं उनमसे कुछ वेद-मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

माध्वीर्गावो भवन्तु न ॥ (ऋक्० १। ९०। ८)

'हे प्रभो! हमारी गौएँ (इन्द्रियाँ) मधुरतापूर्ण अर्थात् सयम-सदाचारादिक माधुर्यसे युक्त हों।'

अप न शोशुचदघम्॥ (ऋक्० १। ९७। १)

'भगवन्! आपकी कृपासे हमारे समस्त पाप नष्ट हो जायँ।'

भद्रभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि। (ऋक्० १। १२३। १३)

'हे प्रभो! हमे सुखमय तथा मङ्गलमय और श्रेष्ठ सकल्प ज्ञान एव सत्कर्म धारण कराइये।'

स ज्योतिषाभूम॥ (शुक्लयजुर्वेद २। २५)

'हे देव! हम आध्यात्मिक प्रकाशसे सयुक्त हों।'

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायत समस्मात्॥ (शुक्लयजुर्वेद ३। २६)

'हे प्रभो! आप हमे सत्-ज्ञान दीजिये, हमारी प्रार्थनाको सुनिये और हमे पापी मनुष्यो (-के पापाचरण)-से बचाइये।'

अगन्म ज्योतिरमृता अभूम। (शुक्लयजुर्वेद ८। ५२)

'हे देव! हम आपकी ज्योतिको प्राप्त होकर अमरत्वको प्राप्त करें।'

देव सस्फान सहस्रापोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवास स्याम॥ (अथर्ववेद ६। ७९। ३)

'हे देव! आप आध्यात्मिक तथा आधिदैविक एव आधिभौतिक आदि असख्य शाश्वती पुष्टियोके स्वामी हैं, इसलिये आप हमे उन पुष्टियोको प्रदान करें और उन्हे हममे स्थापित करें, जिसमे हम आपकी भक्तिसे युक्त हो।'

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुत मे चक्षुरयुत मे श्रोत्रमयुतो म प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽह सर्व ॥ (अथर्ववेद १९। ५१। १)

'हे परमेश्वर! मैं अनिन्द्य (प्रशसित) बनूँ, मेरा आत्मा अनिन्द्य बने और मेरे चक्षु, श्रोत्र प्राण, अपान तथा व्यान भी अनिन्द्य बनें।'

अभय मित्रादभयममित्रादभय ज्ञातादभय पुरो य।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥ (अथर्ववेद १९। १५। ६)

'हे प्रभो! हमे मित्रसे भय न हो, शत्रुसे भी भय न हो परिचित व्यक्तियो एव सभी वस्तुओसे निर्भयता प्राप्त हो। परोक्षमे भी हमे कभी कुछ भय न हो। दिनमे, रातमें और सभी समय हम निर्भय रहें। किसी भी देशमे हमारे लिये कोई भयका कारण न रहे। सर्वत्र हमारे मित्र-ही-मित्र हो।'

वस्तुत भगवत्कृपाका अनुभव सर्वभावसे भगवान्‌की शरणमे जानेसे तथा विनम्र होकर भगवत्प्रार्थना करनेसे ही होता है।

राष्ट्र-कल्याणका माङ्गलिक संदेश

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशु सप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे न पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधय पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम्॥

(यजु० स० २२। २२)

(अनुवाद)

भारतवर्ष हमारा प्यारा, अखिल विश्वसे न्यारा,
सब साधनसे रहे समुन्नत, भगवन्! देश हमारा।

हो ब्राह्मण विद्वान् राष्ट्रमे ब्रह्मतेज-व्रत-धारी,
महारथी हो शूर धनुर्धर क्षत्रिय लक्ष्य-प्रहारी।
गौएँ भी अति मधुर दुग्धकी रहे बहाती धारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ १॥

भारतमे बलवान् वृषभ हो, बोझ उठाय भारी,
अश्व आशुगामी हो, दुर्गम पथमे विचरणकारी।
जिनकी गति अवलोक लजाकर हो समीर भी हारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ २॥

महिलाएँ हो सती सुन्दरी सद्गुणवती सयानी,
रथारूढ भारत-वीराकी करे विजय-अगवानी।
जिनकी गुण-गाथासे गुंजित दिग्-दिगन्त हो सारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ३॥

यज्ञ-निरत भारतके सुत हो, शूर सुकृत-अवतारी,
युवक यहाँके सभ्य सुशिक्षित सौम्य सरल सुविचारी,
जो होगे इस धन्य राष्ट्रका भावी सुदृढ सहारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ४॥

समय-समयपर आवश्यकतावश रस घन बरसाये,
अन्नौषधमे लग प्रचुर फल और स्वय पक जाय।
योग हमारा, क्षेम हमारा स्वत सिद्ध हो सारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ५॥

श्री जुबली नागरी भण्डार
पुस्तकालय एवं वाचनालय
स्टेशन रोड बीकानेर

वेद-कथाका वैशिष्ट्य—एक परिचय

'देवपितृमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्'—वेदको देव, पितर एवं मनुष्योंका सनातन चक्षु कहा गया है। मनु महाराजके अनुसार तीनों कालमें इनका उपयोग है और सब वेदसे प्राप्त होता है—

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद ब्रह्मविद्याके ग्रन्थभाग नहीं स्वयं ब्रह्म हैं—शब्द ब्रह्म हैं। ब्रह्मानुभूतिके बिना वेद-ब्रह्मका ज्ञान सम्भव ही नहीं है, अर्थात् जिसने वेद-ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है, वे ही वेदकी स्तुति (अर्थात् व्याख्या)-के अधिकारी होते हैं—'अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति' (निरुक्त ७। १। २)। कहते हैं कि वैदिक वाङ्मयमें सम्पूर्ण देवता समाये हुए हैं, जो उन्हें जान लेता है वह उनमें समाहित हो जाता है। तात्पर्य है कि जिन्हें आर्ष-दृष्टि प्राप्त है, वे ही वेद-ब्रह्मके सत्यका दर्शन कर सकते हैं और वैदिक प्रतीकों एवं संकेतोंको तथा वैदिक भाषाके रहस्यको समझ सकते हैं। इसीलिये वेदकी मूल चार संहिताओं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके साथ ब्राह्मण-भाग भी संलग्न रहता है, जो इन संहिताओं (मन्त्रों)-की व्याख्या करता है। इस ब्राह्मण-भागके बिना इन वेदोंके मूल मन्त्रार्थ स्पष्ट नहीं हो पाते। ब्राह्मणके ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—ये तीन विभाग हैं, जो प्रत्येक संहिताओंके अलग-अलग हैं। मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनोंको वेद ही कहा गया है—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

इनमें ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक समस्त पक्षोंका प्रतिपादन है। वस्तुतः वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंका प्रतिपादन करते हैं। जिनकी व्याख्या वेदाङ्गोंके द्वारा स्पष्ट होती हैं, अतः इन वेदाङ्गोंका भी अतिशय महत्त्व है। ये वेदाङ्ग छः प्रकारके हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इसके साथ ही चारों वेदोंके चार उपवेद भी हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और स्थापत्यवेद।

सर्वसाधारणके लिये वेदके अर्थ एवं भावोंको अत्यधिक स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे ऋषि-महर्षियोंद्वारा इतिहास एवं पुराणोंकी रचना की गयी—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'॥ वेदोंका उपबृंहण इतिहास और पुराणोंद्वारा ही हुआ है अर्थात् वेदार्थका विस्तार इतिहास-पुराणोंद्वारा किया गया है। अतः इतिहास-पुराणको पाँचवाँ वेद माना गया है—'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छान्दोग्य०)। इतिहासके अन्तर्गत रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थ आते हैं तथा पुराणोंमें भगवान् वेदव्यासद्वारा रचित अठारह महापुराण एवं सभी उपपुराण समन्वित हैं।

वेदोंका प्रादुर्भाव

वेदके प्रादुर्भावके सम्बन्धमें यद्यपि कुछ पाश्चात्य विद्वानों तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणसे प्रभावित यहाँके भी कुछ विद्वानोंने वेदोंका समय-निर्धारण करनेका असफल प्रयास किया है, परंतु वास्तवमें प्राचीन कालसे हमारे ऋषि-महर्षि, आचार्य तथा भारतीय संस्कृति एवं भारतकी परम्परामें आस्था रखनेवाले विद्वानोंने वेदको सनातन, नित्य और अपौरुषेय माना है। उनकी यह मान्यता है कि वेदका प्रादुर्भाव ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें हुआ है। जिस प्रकार ईश्वर अनादि, अनन्त और अविनश्वर है, उसी प्रकार वेद भी अनादि, अनन्त और अविनश्वर हैं। इसीलिये उपनिषदोंमें वेदोंको परमात्माका निःश्वास कहा गया है। वेदोंके महान् भाष्यकार श्रीसायणाचार्यजीने अपने वेदभाष्यमें लिखा है—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

सारांश यह कि वेद ईश्वरका निःश्वास है, अतः उन्हीं परमेश्वरद्वारा निर्मित है। वेदसे ही समस्त जगत्का निर्माण हुआ है, इसीलिये वेदोंको अपौरुषेय कहा गया है। उपनिषदोंमें यह बात आती है कि सृष्टिके आदिमें परमात्म-प्रभुने ब्रह्माको प्रकट किया तथा उन्हें समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त कराया—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
(श्वेताश्वतर० ६। १८)

ब्रह्माजी ऋषि संतानोंने आगे चलकर तपस्याद्वारा इसी

शब्दराशिका साक्षात्कार किया और पठन-पाठनकी प्रणालीसे इसका सरक्षण किया। इसीलिये महर्षियोने तथा अन्य भारतीय विद्वानोंने ऋषि-महर्षियोंको मन्त्रद्रष्टा माना है—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार '। वेदका ईश्वरीय ज्ञानके रूपमे ऋषि-महर्षियोने अपनी अन्तर्दृष्टिसे प्रत्यक्ष दर्शन किया, तदनन्तर इसे सर्वसाधारणके कल्याणार्थ प्रकट किया।

सहिताके प्रत्यक सूक्तके ऋषि, देवता, छन्द एव विनियोग होते हैं। वेदार्थ जाननेके लिये इन चारोका ज्ञान रखना आवश्यक है। शौनककी अनुक्रमणी (११)-मे लिखा है कि 'जो ऋषि, देवता, छन्द एव विनियोगका ज्ञान प्राप्त किये बिना वेदका अध्ययन-अध्यापन, हवन एव यजन-याजन आदि करते हैं, उनका सब कुछ निष्फल हो जाता है और जो ऋष्यादिको जानकर अध्ययनादि करते हैं, उनका सब कुछ फलप्रद होता है। ऋष्यादिके ज्ञानके साथ ही जो वेदार्थ भी जानत हैं, उनको अतिशय फल प्राप्त होता है।' याज्ञवल्क्य और व्यासने भी अपनी स्मृतियोम ऐसा ही लिखा है। ऋषियाने वेदोका मनन किया, अत वे मन्त्र कहलाये, छन्दाम आच्छादित होनेसे छन्द कहलाये—'मन्त्रा मननात्, छन्दासि छादनात्' (निरुक्त ७। ३। १२)। जो मनुष्योको प्रसन्न करे और यज्ञादिकी रक्षा करे, उसे छन्द कहते हैं (निरुक्त दैवत १। १२)। जिस उद्देश्यके लिये मन्त्रका प्रयोग होता है उसे विनियोग कहा जाता है। मन्त्रम अर्थान्तर या विपयान्तर होनेपर भी विनियोगके द्वारा अन्य कार्यमें उस मन्त्रको विनियुक्त किया जा सकता है—पूर्वाचार्योंने एसा माना है। इससे ज्ञात होता है कि शब्दार्थसे भी अधिक आधिपत्य मन्त्रोपर विनियोगका है। ब्राह्मण-ग्रन्थो एव कल्पसूत्र आदिके द्वारा ऋषि, देवता आदिका ज्ञान होता है।

निरुक्तकारने लिखा है—'देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा' (निरुक्त ७। ४। १५)—लोकोमे भ्रमण करनेवाले, प्रकाशित होनेवाले या भोज्य आदि सारे पदार्थ देनेवालेको देवता कहा जाता है।

वेदोमे मुख्यरूपसे तीन प्रकारके देवोका वर्णन मिलता है, जिनमें—(१) पृथ्वीस्थानीय देवता अग्नि (२) अन्तरिक्षस्थानीय देवता वायु या इन्द्र और (३) द्युस्थानीय देवता सूर्य हैं। इन्हींकी अनेक नामोसे स्तुतियाँ की गयी हैं। जिस सूक्त या मन्त्रके साथ जिस देवताका उल्लेख रहता है, उस सूक्त या मन्त्रके वे ही प्रतिपादनीय और स्तवनीय हैं। इसके साथ ही वे सभी जड-चेतन पदार्थोंके अधिष्ठातृ देवता भी होते हैं। जिस मन्त्रम जिस देवताका वर्णन है, उसमे उसीकी दिव्य शक्ति अनादि कालसे निहित है। मन्त्रम ही देवत्वशक्ति मानी जाती है। देवताका रहस्य बृहद्‌वतामे प्रतिपादित है। उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोको (६१—६५)-स पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डके मूलमे एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह **'एकमेवाद्वितीयम्'** है। उस एक ब्रह्मकी नाना रूपामे—विविध शक्तियाकी अधिष्ठातृ-रूपाम स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है, इसी मूल सत्ताक विकास सारे देव हैं। इसीलिये जिस प्रकार एक ही धागेमे मालाकी सारी मणियाँ ओतप्रोत रहती हैं और उसे केवल माला ही कहा जाता है। इसी तरह सूर्य, विष्णु, गणेश, वाग्देवी, अदिति या जितने देवता हैं, सबको परमात्मरूप ही माना जाता है।

भारतीय सस्कृतिकी यह मान्यता है कि वेदसे ही धर्म निकला है—**'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ'**। एक प्रश्न उठता है कि वेदकी नित्यताको प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान प्रमाणसे प्रमाणित किया जा सकता है क्या? परतु इस सम्बन्धमे अपने यहाँ शकराचार्य आदि महानुभावाने प्रत्यक्ष एव अनुमान-प्रमाणका खण्डन कर शब्द-प्रमाणको ही स्थापित किया है (शारीरकभाष्य २। ३। १)। मानव-बुद्धि सीमित है। क्षुद्रतम मानव-मस्तिष्क 'अज्ञेय' कालके तत्त्वोंका कैसे प्रत्यक्ष कर सकता है और अनन्त समयकी वाताका अनुमान ही कैसे लगा पायेगा? इसीलिये भगवान्‌ने स्वय गीताम कहा—**'तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'**। कार्य एव अकार्यकी व्यवस्थिति अर्थात् कर्तव्य एव अकर्तव्यका निर्णय करनेमे शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। आर्योके सभी शास्त्र वेदको नित्य, शाश्वत और अपौरुपय मानते हे, अर्थात् वेदाको किसी पुरुपके द्वारा निर्मित नहीं मानते। इसीलिये वेदके शब्दाको हमारे धर्म-कर्म तथा जीवनके मार्गदर्शनका प्रमाण माना गया है।

वेदोंको सार्वदेशिक कहा जाता है, क्योंकि वे किसी देशविशेषकी भाषामें नहीं। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण और सार्वदेशिक हैं, वैसे ही उनके वेद भी सार्वदेशिक भाषामें ही हैं, जबकि अन्यान्य धर्मग्रन्थ भिन्न-भिन्न देशोंकी भाषाओंमें हैं। यह कहा जा सकता है कि वेद भी आर्योंकी संस्कृत भाषामें ही हैं, फिर वे सार्वदेशिक कैसे हैं? परंतु यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि संस्कृत भाषा वास्तवमें देवभाषा है और वेद इस भाषामें भी नहीं हैं। कारण, शब्दोंके लौकिक तथा वैदिक दो प्रकारके संस्कार होते हैं। वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दोंसे नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक वाक्योंका स्वरूप और अर्थ निरुक्त तथा प्रातिशाख्यसे ही नियमित है, संस्कृत वैसी नहीं है। अतः वेदभाषा संस्कृत भाषासे भी विलक्षण है, इसीलिये वेदमें किसीके प्रति पक्षपात नहीं है। जैसे भगवान् सर्वत्र समान हैं, वैसे ही उनका वैदिक धर्म भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्रका परम उपकारी है।

अनन्त वेद

तैत्तिरीय आरण्यकमें एक आख्यायिका आती है—भरद्वाजने तीन आयुपर्यन्त अर्थात् बाल्य, यौवन और वार्धक्यमें ब्रह्मचर्यका ही अनुष्ठान किया। जब वे जीर्ण हो गये, तब इन्द्रने उनके पास आकर कहा—'भरद्वाज, चौथी आयु तुम्हें दूँ तो तुम उस आयुमें क्या करोगे?' उन्होंने उत्तर दिया—'मैं वेदोंका अन्त देख लेना चाहता हूँ, अतः जितना भी जीवन मुझे दिया जायगा, मैं उससे ब्रह्मचर्यका ही अनुष्ठान करता रहूँगा और वेदका अध्ययन करूँगा।' इन्द्रने भरद्वाजको तीन महान् पर्वत दिखलाये, जिनका कहीं ओर-छोर नहीं था। इन्द्रने कहा—'ये ही तीन वेद हैं, इनका अन्त तुम कैसे प्राप्त कर सकते हो?' आगे इन्द्रने तीनोंमेंसे एक-एक मुट्ठी भरद्वाजको देकर कहा—'मानव-समाजके लिये इतना ही पर्याप्त है, वेद तो अनन्त हैं'—'अनन्ता वै वेदाः।'

कहते हैं कि इन्द्रके द्वारा प्रदत्त यह तीन मुट्ठी ही वेदत्रयी (ऋक्, यजुः, साम)-के रूपमें प्रकट हुई। द्वापरयुगकी समाप्तिके पूर्व इन तीनों शब्द-शैलियोंकी संग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनीय शब्दराशि ही वेद कहलाती थी। उस समय भी वेदका पढ़ना और अभ्यास करना सरल कार्य नहीं था। कलियुगमें मनुष्योंकी शक्तिहीनता और कम आयु होनेकी बात ध्यानमें रखकर वेदपुरुष भगवान् नारायणके अवतार कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासजीने यज्ञानुष्ठान आदिके उपयोगको दृष्टिगत रखकर एक वेदके चार विभाग कर दिये। ये ही विभाग आजकल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके नामसे प्रसिद्ध हैं।

प्रत्येक वेदकी अनेक शाखाएँ बतायी गयी हैं। यथा—ऋग्वेदकी २१ शाखा, यजुर्वेदकी १०१ शाखा, सामवेदकी १००१ शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखा। इस प्रकार कुल ११३१ शाखाएँ हैं। इन ११३१ शाखाओंमेंसे केवल १२ शाखाएँ ही मूलग्रन्थमें उपलब्ध हैं, जिनमें ऋग्वेदकी २, यजुर्वेदकी ६, सामवेदकी २ तथा अथर्ववेदकी २ शाखाओंके ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। परंतु इन १२ शाखाओंमेंसे केवल ६ शाखाओंकी अध्ययन-शैली ही वर्तमानमें प्राप्त है। मुख्यरूपसे वेदकी इन प्रत्येक शाखाओंकी वैदिक शब्दराशि चार भागोंमें प्राप्त है—(१) 'संहिता'—वेदका मन्त्रभाग, (२) 'ब्राह्मण'—जिसमें यज्ञानुष्ठानकी पद्धतिके साथ फलप्राप्ति तथा विधि आदिका निरूपण किया गया है, (३) 'आरण्यक'—यह भाग मनुष्यको आध्यात्मिक बोधकी ओर झुकाकर सांसारिक बन्धनोंसे ऊपर उठाता है। संसार-त्यागकी भावनाके कारण वानप्रस्थ-आश्रमके लिये अरण्य (जंगल)-में इसका विशेष अध्ययन तथा स्वाध्याय करनेकी विधि है, इसीलिये इसे आरण्यक कहते हैं और (४) 'उपनिषद्'—इसमें अध्यात्म-चिन्तनको ही प्रधानता दी गयी है। इनका प्रतिपाद्य ब्रह्म तथा आत्मतत्त्व है।

वेदोंके शिक्षाप्रद आख्यान

वेदोंमें यत्र-तत्र कुछ शिक्षाप्रद आख्यान तथा आख्यानोंके कतिपय संकेत-सूत्र भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि कुछ आख्यान ऐतिहासिक-जैसे भी प्रतीत होते हैं, जिनके आधारपर कुछ आधुनिक विद्वान् उन इतिहासोंके अनुसार वेदके कालका निर्णय करनेका प्रयास करते हैं, परंतु वास्तवमें ये आख्यान इतिहासके नहीं हैं। कुछ आख्यानोंमें जगत्‌में सदा होती रहनेवाली घटनाओंको कथाका रूप

देकर समझाया गया है। जो एक प्रकारका जगत्का नित्य इतिहास है। नित्य-वेदमे अनित्य ऐतिहासिक आख्यान नहीं हो सकते। इसी प्रकार वेदमे कुछ राजाओके तथा भारतीय इतिहासके कुछ व्यक्तियोंके भी नाम प्राप्त होते हैं। इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वेद अपौरुषेय हैं, तब इनमे ऐतिहासिक आख्यान तथा ऐतिहासिक व्यक्तियोके नाम कैसे आते हैं ? परतु वास्तवमे वेदके ये शब्द किन्ही ऐतिहासिक व्यक्तियोके नाम नही हैं, प्रत्युत वेदमे य यौगिक अर्थम आते हैं। मन्त्रोके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थोके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते है तथा कल्प-कल्पान्तरकी ऐतिहासिक कथाओका सूत्र या बीज भी इन कथाओमे रहता है। इस प्रकार ये कथाएँ ऐतिहासिक नहीं, अपितु नित्य और शाश्वत हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियाके माता-पिताओने वेदके इन शब्दोके आधारपर अपनी सततियाका वही नाम रख दिया था। वेदका इन व्यक्तियोसे कोई सम्बन्ध नहीं। इन व्यक्तियाके नामो एव वैदिक नामोम केवल श्रवणमात्रकी समानता है। वेदम इतिहासका खण्डन करते हुए महर्षि जैमिनिने भी मीमासा-दर्शनमे यही बात कही है।

वास्तवम वेदके ये आख्यान हमारे जीवनको प्रभावित करते हैं। हमारे अदर नैतिक मूल्या—सुसस्काराका जन्म देते हैं। ये कथाएँ उपदेश नहीं देतीं प्रत्युत अपनी प्रस्तुतिसे हमारे अदर एक विचार उत्पन्न करती हैं, अच्छे-बुरेका विवेचन करती हैं और हमे उस सत्-असत्से परिचित कराकर हमारे मन-मस्तिष्कपर अपनी छाप भी छाडती हैं। ये कथाएँ केवल देवा-दानवा, ऋषिया-मुनियो एव राजाआकी ही नहीं हैं, अपितु समस्त जड-चेतन, पशु-पक्षी आदिसे भी सम्बन्धित हैं, जो हम कर्तव्य-कर्मोका बोध कराती हुई शाश्वत कल्याणका मार्गदर्शन कराती हें।

वेदोके प्रतिपाद्य विषय

यह सर्वविदित है कि मानवके ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणके साधनरूप धर्मका साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण वेदाम ही उपलब्ध है। धर्मके साथ-साथ अध्यात्म मर्यादा ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, शिल्प-उद्याग आदि ऐसा कौन-सा विषय है, जिसका प्रतिपादन वेदोम न किया गया हो ? यही कारण है कि मनीषियाने वेदको कालातीत अक्षय ज्ञानका निधान कहा है। मनुष्य-जातिके प्राचीनतम इतिहास, सामाजिक नियम, राष्ट्रधर्म, सदाचार, कला, त्याग सत्य आदिका ज्ञान प्राप्त करनके लिये एकमात्र साधन वेद ही हैं।

वेदमे जो विषय प्रतिपादित है, वे मानवमात्रका मार्गदर्शन करते हैं। मनुष्यको जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त प्रतिक्षण कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, साथ ही प्रात काल जागरणसे रात्रि-शयनपर्यन्त सम्पूर्ण चर्या और क्रिया-कलाप ही वेदाके प्रतिपाद्य विषय हैं। इस प्रकार वेदका अन्तिम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति ही है। ईश्वरोपासना, यागाभ्यास, धर्मानुष्ठान, विद्याप्राप्ति, ब्रह्मचर्य-पालन तथा सत्सग आदि मुक्तिके साधन बतलाये गये हैं। कर्मफलकी प्राप्तिके लिये पुनर्जन्मका प्रतिपादन, आत्मोन्नतिके लिये सस्काराका निरूपण समुचित जीवनयापनके लिये वर्णाश्रमकी व्यवस्था तथा जीवनकी पवित्रताके निमित्त भक्ष्याभक्ष्यका निर्णय करना वदाकी मुख्य विशेषता है।

कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—इन तीन विषयाका वर्णन मुख्यत वेदाम मिलता है। कर्मकाण्डमे यज्ञ-यागादि विभिन्न क्रिया-कलापाका प्रतिपादन विशेषरूपस हुआ है। यज्ञके अन्तर्गत दवपूजा, देवतुल्य ऋषि-महर्षियाका सगतिकरण (सत्सग) और दान—ये तीनो होते हैं। वैदिक मन्त्राद्वारा देवताओकी तृप्तिक उद्देश्यसे किये हुए द्रव्यके दानको यज्ञ कहत हैं—

मन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दान याग ।

तैत्तिरीयसहिता (३। १०। ५)-म यह बात आती है कि द्विज जन्म लेत ही ऋषि-ऋण दव-ऋण और पितृ-ऋणाका ऋणी बन जाता ह। ब्रह्मचयक द्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञके द्वारा देव-ऋणसे और सततिके द्वारा पितृ-ऋणस मुक्ति होती हे। अत इन ऋणासे मुक्तिहतु तत्तत्-प्रतिपादक अवश्यानुष्ठेय यज्ञाका सम्पादन करना चाहिये।

यज्ञ नित्य और नैमित्तिक दो प्रकारके होते हैं। जिन कर्मोक करनसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं हाती और न करनसे पाप लगते हैं उन्ह नित्य (यज्ञ) कर्म कहत हैं।

जैसे—सध्या-वन्दन, पञ्चमहायज्ञादि। पञ्चमहायज्ञ करनेस आत्मोन्नतिके साथ-साथ पूर्वजन्मके पापासे निवृत्ति भी होती है—

सर्वगृहस्थै पञ्चमहायज्ञा अहरह कर्तव्या ।

अर्थात् गृहस्थमात्रको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करना चाहिये। पञ्चमहायज्ञके अन्तर्गत ये हैं—(१) 'ब्रह्मयज्ञ'—वेदाके स्वाध्यायको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। (२) 'देवयज्ञ'—अपन इष्टदवकी उपासना, परब्रह्म परमात्माके निमित्त की गयी पूजा और हवनको दवयज्ञ कहते हैं। (३) 'भूतयज्ञ'—कृमि, काट-पतग, पशु और पक्षीकी सेवाको भूतयज्ञ कहते हैं। (४) 'पितृयज्ञ'—परलाकगामी पितराके निमित पिण्डदानादि श्राद्ध एव तर्पणको पितृयज्ञ कहत हैं और (५) 'मनुष्ययज्ञ'—क्षुधा-पीडित मनुष्यके घर आ जानेपर उसको भोजनादिसे की जानवाली सवारूप यज्ञका अथात् अतिथि-सवाका मनुष्ययज्ञ कहते हैं।

नैमित्तिक कर्म मुख्यतया दो प्रकारके होते हैं—श्रौत और स्मार्त। श्रुतिप्रतिपादित यज्ञाको श्रौतयज्ञ और स्मृति-प्रतिपादित यज्ञोको स्मार्तयज्ञ कहते ह। श्रौतयज्ञम केवल वैदिक मन्त्राका प्रयोग होता है तथा स्मार्तयज्ञामे वैदिक, पौराणिक एव तान्त्रिक मन्त्राका भी प्रयाग होता ह।

उपर्युक्त सभी प्रकारके यज्ञ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक-भेदस तीन प्रकारक हात हैं। जा यज्ञ निष्कामभावसे प्रभुका प्रसन्नताक लिय किये जात हैं उन्ह सात्त्विक यज्ञ कहते हैं। जो यज्ञ सकाम अथात् किसा फल-विशेषकी इच्छासे किये जाते हैं उन्ह राजसिक यज्ञ कहा जाता है और जो यज्ञ शास्त्रविरुद्ध किय जात हैं, वे तामसिक कहलाते हैं। सात्त्विक यज्ञका अनुष्ठान सर्वोत्तम कहा गया है, शास्त्रामे इसका महान् फल बतलाया गया है।

एक प्रश्न उठता है कि यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मोका फलश्रुतिम स्वर्गप्राप्तिकी बात कही गयी है। तब जो व्यक्ति स्वर्ग न चाहता हो मोक्ष ही चाहता हा तो उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकता है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२)-क वचनस मिलता है—

तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।

ब्राह्मण लाग वेदाध्ययनसे, कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करते हैं—इस वचनमे 'अनाशकेन' (कामनारहितेन)-पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त यज्ञादि कर्म जब आसक्ति-सहित किय जाते हैं, तब उनस स्वर्गलाभ हाता है और जब आसक्तिरहित किये जाते हैं, तब काम-क्रोधादिकासे मुक्त होकर कर्ताका चित शुद्ध हो जाता है तथा वह मोक्षका अधिकारी बन जाता है। यही बात गीतामें भगवान्ने कही है—

यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य कार्यमेव तत्।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चित मतमुत्तमम्॥
(१८।५-६)

यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं, क्योकि वे मनीषियोको पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करना चाहिये यही मेरा निश्चित उत्तम मत है। यहाँ उपनिषद्के 'अनाशकेन' पदको ही गीताके 'सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च' शब्दाने विशद किया है।

अत जो मनुष्य अपना आत्यन्तिक कल्याण चाहता है अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहता है उसे वैदिक कर्मकाण्डक फलरूप स्वर्गभोगकी इच्छा न रखते हुए निष्कामभावसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही कर्म करते रहना चाहिये। यह बात मुण्डकोपनिषद् (१।२।७)-मे भी आया है।

मनुष्यका चित्त अनेक प्रकारके कुकर्मोसे मलिन हो जानेके कारण, इन सब मलाको हटानेके लिये सत्कर्मोका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। वेदोक्त कर्मोके करनस चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञानकी बात श्रवण करनेसे फलवती होता हैं।

वेदोक्त कर्मोको करनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका पालन करना भी अत्यन्त अनिवार्य है। वेदामें ब्राह्मण, क्षत्रिय

वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी व्यवस्था बतायी गयी है। साथ ही इन चारा वर्णोंक कर्तव्योका भी निरूपण है। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ ओर सन्यास आदि चार आश्रमोका निरूपण किया गया ह। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य-आश्रमम ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य—द्विज-बालकोका उपनयन-सस्कार करानेकी विधि ह, जिसस व वेदाक्त कर्म करनेक अधिकारी वनत हे। इस आश्रमम विद्याध्ययनक बाद गृहस्थाश्रमम अग्नि आर देवताक साक्षाम विवाह-सस्कारका प्रतिपादन किया गया हे तथा गृहस्थाश्रमक नियमोका प्रतिपादन हुआ हे। तदनन्तर सासारिक प्रपञ्चासे निवृत्त हाकर एकमात्र परमात्मप्रभुकी उपासनाम सलग्न होनेके लिये वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रमकी व्यवस्थाका निरूपण हुआ है।

वेदोमे सूक्त

वेदोमे यत्र-तत्र सूक्तरूपी अनक मुक्तामणियाँ बिखरी पडी ह, जिनम व्यक्तिका अभाष्ट-सिद्धिके अमाघ उपादान अन्तर्निहित हैं। निष्ठा एव आस्थाक द्वारा व्यक्ति अपनी विविध कामनाओका पूर्ति इनक माध्यमस करनम समर्थ है। वेदमन्त्राक समूहका सूक्त कहा जाता है। जिसम एकदैवत्य तथा एकार्थका हा प्रतिपादन रहता हे। वदवर्णित सूक्ताम इन्द्र, विष्णु, रुद्र, उषा पर्जन्य प्रभृति दवताओकी अत्यन्त सुन्दर ओर भावाभिव्यञ्जक प्रार्थनाएँ हैं। वैदिक दवताओकी स्तुतियाके साथ लौकिक एव धार्मिक विषयासे सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टिस महत्त्वपूर्ण अनक सूक्त हे, इनम आध्यात्मिक सूक्त दिव्य ज्ञानस आतप्रात ह, जिन्ह दार्शनिक सूक्तके रूपम भी जाना जाता है। वदक दार्शनिक सूक्तोमे पुरुषसूक्त हिरण्यगर्भ-सूक्त, वाक्सूक्त तथा नासदीय सूक्त आदि प्रसिद्ध हैं। इन सूक्ताम ऋषियाकी ज्ञान-गम्भीरता तथा सर्वथा अभिनव कल्पना परिलक्षित हाती ह। समस्त दार्शनिक सूक्ताक वाच नासदाय सूक्तका अपना विशष महत्त्व है।

नासदीय सूक्तम सृष्टिक मूल तत्त्व, गूढ रहस्यका वणन किया गया हे। सृष्टि-रचना-जैसा महान् गम्भीर विषय ऋषिक चिन्तनम किस प्रकार प्रस्फुटित हाता है—यह नासदाय सूक्तम देखनको मिलता है। इस सूक्तम सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धम अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ विचार किया गया है, इसलिये यह सूक्त सृष्टि-सूक्तक नामसे भी जाना जाता है।

इस सूक्तके प्रथम भागम सृष्टिके पूर्वकी स्थितिका वर्णन हे। उस अवस्थाम सत्-असत्, मृत्यु-अमरत्व अथवा रात्रि-दिवस—यह कुछ भी नहीं था। न अन्तरिक्ष था, न आकाश था, न काई लोक था, न जल था। न कोई भोग्य था, न भाक्ता था। सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस समय तो केवल एक तत्त्वका ही अस्तित्व था, जा वायुके बिना भी श्वास ले रहा था।

द्वितीय भागमे कहा गया है कि जो नाम-रूपादि-विहीन एकमात्र सत्ता थी, उसीकी महिमासे ससाररूपी कार्य-प्रपञ्च प्रादुर्भूत हुआ।

तृतीय भागम सृष्टिकी दुर्ज्ञेयताका निरूपण किया गया है। समस्त ब्रह्माण्डम ऐसा काई भी नहीं है, जो यह कह सके कि सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई। ससार-सृष्टिक परम गूढ रहस्यको यदि काई जानते हे ता कवल वे जो इस समस्त सृष्टिके अधिष्ठाता ह। उनके अतिरिक्त इस गूढ तत्त्वको कोई नहीं जानता।

नासदीय सूक्तकी गणना विश्वक शिखर-साहित्यम होती है। सूक्तम आध्यात्मिक धरातलपर विश्व-ब्रह्माण्डकी एकताकी भावना स्पष्ट-रूपस अभिव्यक्त हुई हे। भारतीय सस्कृतिम यह धारणा निश्चित है कि विश्व-ब्रह्माण्डम एक ही सत्ता विद्यमान है, जिसका नाम-रूप कुछ भी नहीं हे। इस सूक्तम इसी सत्यकी अभिव्यक्ति है।

वेदोमे आध्यात्मिक सदेश

वेद चाहत हैं कि व्यक्तिक चित्तवृत्तिरूप राज्यम प्रतिपल पवित्र, वरण्य एव उर्वर विचार-सरिता बहती रह, जिससे अन्त करणम सद्वृत्तियाँ जाग्रत् होती रह—'तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो दवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचादयात्'॥ (ऋक्० ३। ६२। १०)—सच्चिदानन्दरूप परमात्मन्! आपके प्रणादायी विशुद्ध तेज स्वरूपभूत दिव्यरूपका हम अपने हृदयम नित्य ध्यान करत हैं, उससे हमारी बुद्धि निरन्तर प्ररित हाती

रहे। आप हमारी बुद्धिको अपमार्गसे रोककर तेजोमय शुभ मार्गकी ओर प्रेरित करें। उस प्रकाशमय पथका अनुसरण कर हम आपकी ही उपासना करें और आपको ही प्राप्त हों।

वेदोंकी भावना है कि हम ईश्वरको अनन्य एकाग्रतासे, उपासनासे प्रसन्न करें और वे हमारे योग-क्षेमादिको सर्वदा सम्पन्न करें। 'संसारको धारण करनेवाले भगवन्! हमारी अभिलाषाएँ आपको छोडकर अन्यत्र न कहीं गयी हैं, न कदापि कहीं जाती ही हैं, अतः आप अपनी कृपाद्वारा हमें सब प्रकार सामर्थ्यसे सम्पन्न करें' (ऋक्० ८। २४। ११)।

ज्ञानकी पराकाष्ठापर भक्तिका उदय होकर भक्तिके सदा परिपूर्ण होनेसे कृत्रिम मुक्तिकी वासना भी नहीं उठती है—ऐसा जीवन ही वैदिक जीवन-संस्कृतिका आदर्श है—

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥

(अथर्व० १। ५। २ ऋक्० १०। ९। २)

'प्रभो! जो आपका आनन्दमय भक्तिरस है, आप हमें वही प्रदान करें। जैसे शुभकामनामयी माता अपनी संतानको संतुष्ट एवं पुष्ट करती है, वैसे ही आप (मुझपर) कृपा करें।'

वेदमें ईश्वरसे प्रार्थना की गयी है कि वह हमें सन्मार्गपर लाये, हमारे अन्तःकरणको उज्ज्वल कर आत्मश्रेयके सर्वोच्च-शिखरको प्राप्त करा दे—

भद्रं मनः कृणुष्व।

(सामवेद १५६०)

'हे प्रभु! आप हमारे मनको कल्याण-मार्गमें प्रेरित करें।'

वेदोंकी मान्यता है कि तपःपूत जीवनमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है—

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥

(अथर्व० ४। ३५। ६)

'जो प्रभु-गुण-गान करनेवाली गायत्रीद्वारा अपने जीवनकी आत्मशुद्धि कर स्वामी बन गया है, जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान—वेदको पूर्णतः धारण कर लिया है, वही मानव वेदज्ञानरूपी पके हुए ओदनके ग्रहण-सदृश मृत्युको पारकर मोक्ष-पद प्राप्त करता है, जो मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।'

गायत्रीमन्त्रको वेदका सार-सर्वस्व कहा गया है। यह सम्पूर्ण मन्त्रोंमें सर्वोपरि मन्त्र है। इसमें परब्रह्म परमात्मासे सद्बुद्धि प्रदान करनेकी प्रार्थना की गयी है। कहते हैं कि मात्र गायत्रीमन्त्रके जपसे भी व्यक्तिको वेदके स्वाध्यायका फल प्राप्त हो जाता है, अतः स्नान-संध्याके अनन्तर पवित्रावस्थामें यथासाध्य द्विजको गायत्रीमन्त्रका जप अवश्य करना चाहिये। इस मन्त्रके जपमें भगवती गायत्री अथवा अपने इष्टदेवका ध्यान करना चाहिये।

वेद भगवान्‌का संविधान है। इनमें अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनमें शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य अध्यात्मके सर्वोच्च शिखरपर पहुँच सकता है। वेदोंमें इस लोकको सुखमय तथा परलोकको कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिये आचार-विचारके पालनका विधान तो किया ही गया है, साथ ही आध्यात्मिक साधनाके बाधक अनेक निन्दित कर्मोंसे दूर रहनेका निर्देश भी दिया गया है। जैसे—

अक्षैर्मा दीव्यः ।

(ऋक्० १०। ३४। १३)

'जूआ मत खेलो।'

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

(यजु० ४०। १)

'पराये धनका लालच न करो।'

मा हिंसी पुरुषान्पशूंश्च।

(अथर्व० ६। २)

'मनुष्य और पशुओंको मन, कर्म एवं वाणीसे (किसी भी प्रकार) कष्ट न दो।'

देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरका प्रयोजन सकल दुःख-निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति है। वेदोंके प्रति पूर्ण निष्ठा रखकर और उनके बताये गये मार्गपर चलकर ही मानव इसे प्राप्त कर सकता है।

मानवमात्रके लिये अन्तिम उपदेश है—'सत्यके मार्गपर चलो'—'ऋतस्य पथा प्रेत' (यजु० ७। ४५)। यही है वेदका आध्यात्मिक संदेश।

—राधेश्याम खेमका

मन्त्रद्रष्टा आचार्य वसिष्ठ

अध्यात्म-ज्ञान तथा योग, वैराग्य, शम-दम, तितिक्षा, अपरिग्रह, शौच, तप, स्वाध्याय एव सतोष आर क्षमाकी प्रतिमूर्ति आचार्य वसिष्ठके माङ्गलिक नामसे शायद ही कोई अपरिचित होगा। आपको अपनी दीर्घकालीन समाधिरूप साधनामे भगवद्विग्रहरूप वेदिक ऋचाओका साक्षात् दर्शन हुआ था, इसीलिये आप 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाते हैं। आपकी सदाचारपरायणता तथा कर्मयोगपरायणता न केवल निवृत्तिमार्गके साधकोके लिये ही, अपितु प्रवृत्तिमार्गावलम्बियोके लिये भी सदासे अनुकरणीय रही है। आपका जीवन-दर्शन आदर्शकी पराकाष्ठाका भी अतिक्रमण कर जाता है, इसी कारण महर्षि वसिष्ठका स्थान सभी मन्त्रद्रष्टा आचार्योमे अन्यतम स्थान ग्रहण करता है। आपको वेदोके अनेक सूक्तो एव मन्त्रोके प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं। विशेषरूपसे दस मण्डलोमे विभक्त ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके आप द्रष्टा कहे जाते हैं, इसीलिये ऋग्वेदका सप्तम मण्डल 'वासिष्ठमण्डल' कहलाता है।

इस वासिष्ठमण्डलकी विशेषताका वर्णन करनेसे पूर्व महर्षि वसिष्ठजीके दिव्य पावन चरित्रका आख्यान उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत होता है। अस्तु, उसे सक्षेपमे प्रस्तुत किया जा रहा है—

महर्षि वसिष्ठजीकी महिमा सर्वोपरि है। वेदो तथा पुराणेतिहास-ग्रन्थोमे महर्षि वसिष्ठजीका मङ्गलमय चरित्र बडे ही समारोहके साथ अनुग्रथित है। कहीं-कहीं इनका आख्यान भिन्न-भिन्न-रूपसे भी वर्णित हुआ है और इन्हे अत्यन्त दीर्घजीवीके रूपमे गुम्फित किया गया है। सप्तर्षियोमे आपका परिगणन है। देवी अरुन्धती आपकी धर्मपत्नी हैं। ये पतिव्रताओकी आदर्श हे। इनका महर्षि वसिष्ठसे कभी अलगाव नहीं होता। सप्तर्षि-मण्डलमे महर्षि वसिष्ठके साथ माता अरुन्धती भी विराजमान रहती है। अखण्ड सौभाग्य और उच्चतम श्रेष्ठ दाम्पत्यके लिये महर्षि वसिष्ठ एव अरुन्धतीकी आराधना की जाती हे।

इनके आविर्भावकी भी अनेक कथाएँ हे। कहीं ये ब्रह्माजीके मानस-पुत्र कहीं मित्रावरुणके पुत्र कहीं आग्नेयपुत्र और कहीं प्राणतत्त्वसे उद्भूत कहे गये हैं। ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान्-स्वरूप तथा तप शक्तिके विग्रह महर्षि वसिष्ठजीके अतिदीर्घकालीन साधनाओके प्रतिफलमे उनका अनेक प्रकारसे आविर्भूत होना अस्वाभाविक नहीं, अपितु सहज ही प्रतीत होता हे।

जब इनके पिता ब्रह्माजीने इन्हे सृष्टि करनेकी ओर भूमण्डलमे आकर सूर्यवशी राजाओका पौरोहित्य करनेकी आज्ञा दी, तब इन्होने उस कार्यमे हिचकिचाहट प्रकट की। फिर ब्रह्माजीने समझाया कि इसी वशमे आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका पूर्णावतार होनेवाला है, तब महर्षि वसिष्ठने इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके बाद इन्होने सर्वदा अपनेको सर्वभूतहितमे लगाये रखा। जब कभी अनावृष्टि हुई, दुर्भिक्ष पडा तब इन्होने अपने तपोबलसे वर्षा करायी और जीवोकी अकालमृत्युसे रक्षा की। इक्ष्वाकु, निमि आदि चक्रवर्ती सम्राटोसे अनेक यज्ञ करवाये। जब अपने पूर्वजोके असफल हो जानेके कारण गङ्गाको लानेमे राजा भगीरथको निराशा हुई, तब इन्हीकी कृपासे राजा भगीरथ पतितपावनी गङ्गाको पृथ्वीपर लानेमे सफल हुए और तभीसे गङ्गाका नाम 'भागीरथी' पड गया। राजा दिलीप सतान न होनेसे दु खी थे। इन्होके उपदेशसे नन्दिनीकी सेवाके फलस्वरूप उन्हे महाराज रघु-जैसा प्रतापी पुत्र प्राप्त हुआ। राजा दशरथसे पुत्रेष्टि-यज्ञ करवाकर इन्होने भगवान् श्रीरामको इस धराधामपर अवतीर्ण कराया और श्रीरामको अपने शिष्यरूपमे प्राप्त कर इन्होने अपना पुरोहित-जीवन सफल किया। भगवान् श्रीरामके भी ये गुरु रहे हैं अत इनकी विद्या-बुद्धि योग-ज्ञान, सर्वज्ञता तथा आचारनिष्ठताकी कोई सीमा नहीं हे। इन्होने भगवान् श्रीरामको जो उपदेश दिया वह ग्रन्थके रूपमे 'योगवासिष्ठ'के नामसे प्रसिद्ध हो गया। महर्षि वेदव्यास एव महाज्ञानी शुकदेव आचार्य वसिष्ठजीकी ही पुत्र-प्रपौत्र-परम्परामे समादृत हैं।

महर्षि विश्वामित्रका क्षात्रबल इनके ब्रह्मतेजके सामने अस्तित्वविहीन हो गया। इनमे क्रोध लेशमात्र भी नहीं है क्षमा तो इनके जीवनमे सब प्रकारसे अनुस्यूत हे। जिस समय विश्वामित्रने इनके सौ पुत्रोका सहार कर दिया उस समय भी वे अविचल ही बने रहे सामर्थ्य रहनेपर भी इन्होने विश्वामित्रके किसी प्रकारके अनिष्टका चिन्तन नही किया

प्रत्युत क्षमा-धर्मका ही परिपालन किया।

एक बार बात-ही-बातमे विश्वामित्रजीसे इनका विवाद छिड गया कि तपस्या बडी है या सत्सग। वसिष्ठजीका कहना था कि सत्सग बडा है और विश्वामित्रजीका आग्रह था कि तपस्या बडी है। इस विवादका निर्णय करानेके लिये अन्तमे दोनो शेषभगवान्‌के पास पहुँचे। सब बात सुनकर शेषभगवान्‌ने कहा—'भाई, अभी तो मेरे सिरपर पृथ्वीका भार है। आप दोनोमेसे कोई एक थोडी देरके लिये इसे ले ले तो मैं निर्णय कर सकता हूँ।' विश्वामित्र अपनी तपस्याके घमडमे फूले हुए थे, उन्होने दस हजार वर्षकी तपस्याके फलका सकल्प किया और पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेकी चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे ससारमे तहलका मच गया। तब वसिष्ठजीने अपने सत्सगके आधे क्षणके फलका सकल्प करके पृथ्वीको धारण कर लिया और बहुत देरतक धारण किये रहे। अन्तमे जब शेषभगवान् फिर पृथ्वीको लेने लगे, तब विश्वामित्र बोले—'अभी आपने निर्णय सुनाया ही नही।' शेषभगवान् हँस पडे। उन्होने कहा—'निर्णय तो अपने-आप हो गया। आधे क्षणके सत्सगकी बराबरी हजारो वर्षकी तपस्या नहीं कर सकी।' इस प्रकार महर्षि वसिष्ठजीका माहात्म्य सब प्रकारसे निखर उठनेपर भी उनमे लेशमात्र अभिमान प्रविष्ट नही हो पाया था।

महर्षि वसिष्ठ सबके हितचिन्तन एव कल्याणकी कामनामे लगे रहते है। इनका अपना कोई स्वार्थ नहीं सदा परमार्थ-ही-परमार्थ। भगवद्भक्तोमे आपकी गणना प्रथम पक्तिमे होती है। आपकी गोसेवा एव गोभक्ति सभी गोभक्तोके लिये आदर्शभूत रही है। कामधेनुकी पुत्री नन्दिनी नामक गौ आपके आश्रममे सदा प्रतिष्ठित रही। अरुन्धतीजीके साथ आप नित्य उसकी सेवा-शुश्रूषा किया करते थे और अनन्त शक्तिसम्पन्न होमधेनु नन्दिनीके प्रभावसे आपको दुर्लभ पदार्थ भी सदा सुलभ रहता था।

महर्षि वसिष्ठ सूर्यवशी राजाओके कुलपुरोहित रहे। महाराज निमिने एक यज्ञमे इन्हे वरण किया था परतु ये इसके पहले इन्द्रके यज्ञमे वृत हो चुके थे इसलिये राजा निमिको रुकनेके लिये कहकर ये देवलोक चले गये। वहाँ यज्ञ सम्पन्न कराकर लौटे तो सुना कि अगस्त्य आदिसे निमिने यज्ञ करा डाला। इसपर क्रुद्ध होकर इन्होने निमिको चेतनाशून्य हो जानेका शाप दे दिया। इसपर निमिने भी इन्हे ऐसा ही शाप दे डाला। अन्तमे ब्रह्माके उपदेशसे ये मित्रावरुणके पुत्रके रूपमे पुन उत्पन्न हुए और महाराज इक्ष्वाकुने अपने वशके हितार्थ इन्हे पुन कुलपुरोहित बनाया। गोत्रकार ऋषियोमे महर्षि वसिष्ठका गोत्र विशेष महत्त्व रखता है। इस प्रकार महर्षि वसिष्ठका जीवन-दर्शन तथा उनका कृतित्व सभीके लिये मङ्गलकारी है।

वेदोमे जो उनका चरित्र प्राप्त होता है, उसमे बताया गया है कि महर्षि वसिष्ठ इन्द्रादि देवोके महान् भक्त रहे हैं और देवताओसे उनका नित्य साहचर्य रहा है। ये अश्विनीकुमारोंके सदा कृपापात्र बने रहे (ऋक्० १। ११२। ९)। भगवान् अग्निदेवकी स्तुतियोसे इन्हे बहुत आनन्द प्राप्त होता रहा (ऋक्० ७। ७। ७)। ऋग्वेदमे बताया गया है कि महर्षि वसिष्ठ हजार गायोके अधिपति और विद्या तथा कर्ममे महान् थे—

इद वच शतसा ससहस्त्रमुदग्नये जनिषीष्ट द्विबर्हा ।

(ऋक्० ७। ८। ६)

इस मन्त्रभागके सायणभाष्यमे लिखा है—'शतसा गवा शतस्य सभक्ता ससहस्र गवा सहस्रेण च सयुत द्विबर्हा द्वाभ्या विद्याकर्मभ्या बृहन् वसिष्ठो द्वयो स्थानयोर्द्युलोकयो महान् वा।'

अग्निदेवके साथ ही इन्होने इन्द्रदेवकी भी स्तुतियाँ की है। ऋग्वेद (७। ३३। २)-में बताया गया है कि भगवान् इन्द्र दूसरेका यज्ञ छोडकर इनके यज्ञमे आया करते थे। इन्द्रकी कृपासे वसिष्ठ-पुत्रोने अनायास ही सिन्धु नदीको पार किया था। वसिष्ठ और पराशरके प्राणोके शत्रु अनेक राक्षस थे किंतु इन्द्रकी उपासनाके कारण इनकी कोई हानि नहीं हो सकी थी (ऋक्० ७। १८। २१)। इन्हींके मन्त्र-बलसे दाशराज-युद्धमे इन्द्रने सुदास राजाकी रक्षा की थी। तृत्सुनरेश राजा सुदासके पुरोहित महर्षि वसिष्ठ थे और दूसरे दलके नेता महर्षि विश्वामित्र थे जिसमे दस राजाओका सघ था। दस राजाओकी सेना जो महर्षि विश्वामित्रकी शक्तिसे सम्पन्न थी इस युद्धमे पराजित हो गयी। दस राजा होनेके कारण ही यह युद्ध 'दाशराज-युद्ध' कहलाता है। इसमे राजा सुदासकी विजय प्राप्त हुई जिसके अधिपति महर्षि वसिष्ठ थे। इस विजयगाथाका वर्णन महर्षि वसिष्ठने ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके तीन सूक्तो (१८ ३३ तथा ८३)-मे बडे ही ओजस्वी स्वरमे किया है। इस प्रकार जहाँ महर्षि वसिष्ठ

अपरिग्रह और त्याग-वैराग्यके उपासक हैं, वहीं वे युद्धनीति एव अस्त्रविद्याके भी महनीय आचार्य हैं।

ऋग्वेदादिमे महर्षि वसिष्ठके बारह पुत्राका उल्लेख है, जो मन्त्रद्रष्टा भी कहे गये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—मन्यु, उपमन्यु, व्याघ्रपात्, मृळीक, वृषगण प्रथ इन्द्र-प्रमति द्युमीरू, चित्रमहा कर्णश्रुत्, वसुक्र तथा शक्ति। इनके साथ ही चार प्रपौत्र हैं—वसुकृद् वासुक्र, वसुकर्ण वासुक्र पराशर शाक्त्य तथा गौरवीति शाक्त्य। य भी मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं।

महर्षि वसिष्ठक पुत्रोंने यागवल्लसे समाधि-दशाम वसिष्ठके जन्म-रहस्यका ज्ञान प्राप्त किया था। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके ३३व सूक्तक द्रष्टा ऋषि वसिष्ठके पुत्रगण हैं। इसम महर्षि वसिष्ठके आविर्भावक विषयम उनके पुत्रगण उनकी महिमा निरूपित करत हुए कहते हैं—

हे वसिष्ठ! देह धारण करनक लिये विद्युत्के समान अपनी ज्योतिका त्याग करते हुए तुम्हे मित्र आर वरुणने देखा था, उस समय तुम्हारा एक जन्म हुआ। मूल मन्त्र इस प्रकार है—

विद्युतो ज्याति परि सजिहान मित्रावरुणा यदपश्यता त्वा।
तत् ते जन्मोतैक वसिष्ठाऽगस्त्यो यत् त्वा विश आजभार॥
(ऋक्० ७। ३३। १०)

इसी प्रकार आगे मन्त्राम कहा गया है कि वसिष्ठ! तुम मित्र और वरुणक पुत्र हो। ब्रह्मन्! तुम उर्वशीके मनस उत्पन्न हुए हो। यथा—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जात ।
(ऋक्० ७। ३३। ११)

यज्ञम दीक्षित मित्र और वरुणने स्तुतिद्वारा प्रार्थित होकर कुम्भ (वसतीवर कलश)-मे एक साथ ही शक्ति प्रदान किया था। उसी कुम्भसे वसिष्ठ और अगस्त्यका प्रादुर्भाव हुआ। मन्त्रमे कहा गया है—

सत्रे ह जातावियिता नमोभि कुम्भे रेत सिषिचतु समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् तता जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥
(ऋक्० ७। ३३। १३)

ऋग्वेदका सप्तम मण्डल और महर्षि वसिष्ठ

सम्पूर्ण ऋग्वद दस मण्डलाम विभक्त है। मण्डलोके अन्तर्गत सूक्त हैं ओर सूक्ताके अन्तर्गत अनेक ऋचाएँ समाहित हैं। प्रत्येक मण्डलके द्रष्टा ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। तदनुसार सम्पूर्ण सप्तम मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि वसिष्ठ और उनके पुत्रगण हैं। सप्तम मण्डलम कुल १०४ सूक्त हैं, जिनमे देवस्तुतियाँ तथा अनेक कल्याणकारी बातोका सनिवेश हुआ है। मुख्य-रूपसे अग्नि, इन्द्र, वरुण, अश्विनी, मित्रावरुण, द्यावापृथिवी, आदित्य विश्वदव, वास्तोष्पति, सविता, भग तथा ऊपा आदि देवताओकी स्तुतियाँ की गयी हैं। इन सभी मन्त्राक द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ ही हैं।

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलक अध्ययनस कुछ विशेष बात ज्ञात हाती हैं, जिनसे महर्षि वसिष्ठजीक लोकोपकारी भावका परिज्ञान होता है। यहाँ कुछ प्रकरणाको दिया जा रहा है—

देवता सभीका कल्याण करे

महर्षि वसिष्ठ अत्यन्त उदारचेता मनीषी रहे हैं। उन्हाने अपने अभ्युदयकी प्रार्थना दवताओस नही की, बल्कि वे सदा समष्टिके हितचिन्तन, समष्टिक कल्याणकी कामना करते रहे। गीताका 'सर्वभूतहिते रता 'का सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शनम परिव्याप्त रहा। महर्षि वसिष्ठद्वारा दृष्ट सप्तम मण्डलके अधिकाश सूक्तोंके मन्त्रोम एक पद आवृत हाता है, जा इस प्रकार है—

'यूय पात स्वस्तिभि सदा न '॥

इसका तात्पर्य है कि 'हे दवताओ! आप हम लोगाका सदा कल्याण करते रह।' आचार्य सायणने 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ शाश्वत कल्याण किया है—'अविनाशि मङ्गलम्।' एसा मङ्गल जो अविनाशी हो, कभी नष्ट न होनेवाला हा, क्षणिक न हो। अविनाशी कल्याण ता केवल पारमार्थिक अभ्युदय ही हो सकता है। इसम लौकिक कल्याणको क्षीण मानते हुए भगवत्सानिध्यकी ही अभिलाषा रखी गयी है, इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महर्षि वसिष्ठ देवताओस प्रार्थना करते है कि ससारके चराचर सभी प्राणी परमार्थके पथिक बन।

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलक प्रथम सूक्तम २५ मन्त्र हैं, जिनम मैत्रावरुणि वसिष्ठद्वारा अग्निदवस शुद्ध-बुद्धिकी कामना, वाणीम परिष्कार, यागक्षेम सुख-शान्ति आर दीर्घ आयुकी प्रार्थना की गयी है। सप्तम मण्डलम प्रथम सूक्तसे ही 'यूय पात स्वस्तिभि सदा न ' यह पद प्रयुक्त ह। वह मन्त्र इस प्रकार है—

नु मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्व देव मघवद्भ्य सुषूद ।
रातौ स्यामोभयास आ त यूय पात स्वस्तिभि सदा न ॥
(ऋक्० ७। १। २०)

श्री जुबली नागरी भण्डार
पुस्तकालय एव वाचनालय
४२६ 19-2-99 पत्रिका

—इस मन्त्रमे अग्निदेवसे अखण्ड धनकी अभिलाषा की गयी है, ताकि उस धनसे हम देवपूजा, यज्ञ तथा लोकोपकारका कार्य कर सकें।

इसी प्रकार सप्तम मण्डलमे 'यूय पात स्वस्तिभि सदा न' यह ऋचाश लगभग तीससे भी अधिक बार आया है, इससे महर्षि वसिष्ठका सर्वभूत-हित-चिन्तन स्पष्ट होता है।

ऋग्वेदिक शान्ति-सूक्त (कल्याण-सूक्त)

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका ३५ वाँ सूक्त 'शान्ति-सूक्त' कहलाता है। इन वैश्वदेवी ऋचाओका महानाम्नीव्रतमे पाठ होता है। इस सूक्तके पाठसे शान्ति, कल्याण—मङ्गल तथा सब प्रकारसे देवताओका अनुग्रह प्राप्त होता है। इस सूक्तमे १५ ऋचाएँ है, जिनमे महर्षि वसिष्ठने इन्द्र अग्नि, वरुण, भग अर्यमा धाता, अश्विनी, द्यावापृथिवी, वसु, रुद्र, सोम सूर्य, अदिति मरुत्, विष्णु, पर्जन्य विश्वेदेव सरस्वती, गौ ऋभु, पितर अजैकपात् तथा अहिर्बुध्न्य आदि देवताओसे शान्तिकी प्रार्थना की है। सूक्तका प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

श न इन्द्राग्नी भवतामवोभि श न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय श यो श न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥
(ऋक्० ७। ३५। १)

—इसका भाव यह है कि इन्द्राग्नि, इन्द्रावरुण, इन्द्रासोम तथा इन्द्रापूषा आदि देवता हमारे लिये शान्तिकारक मङ्गलकारक होवे सब प्रकारसे हमारी रक्षा करे हम सुख-कल्याण प्रदान करे।

इस सूक्तकी अन्तिम ऋचा (१५)-में भी 'यूय पात स्वस्तिभि सदा न' यह पद आया है।

सप्तम मण्डलका रोग-निवारक भग-सूक्त

सप्तम मण्डलका ४१ वाँ सूक्त 'भग-सूक्त' कहलाता है। इस सूक्तमे ७ ऋचाएँ है। जिनमे महर्षि वसिष्ठने भगदेवतासे सभी प्रकारके रोगासे मुक्ति पानेकी प्रार्थना की है। 'ऋग्विधान' (२। २५)-मे बतलाया गया है कि इस सूक्तका श्रद्धापूर्वक पाठ करनेसे असाध्यसे भी असाध्य रोगासे मुक्ति हो जाती है और दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। महर्षियाकी उक्ति है—

नियेष्टकामा रोगार्तो भगसूक्त जपेत् सदा।
निवेश विशति क्षिप्र रोगैश्च परिमुच्यते॥

भग-सूक्तका आदिम मन्त्र इस प्रकार है—

प्रातरग्नि प्रातरिन्द्र हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भग पूषण ब्रह्मणस्पति प्रात सोममुत रुद्र हुवेम॥
(ऋक्० ७। ४१। १)

वास्तोष्पति-सूक्त

वास—निवास-स्थान, गृह आदिके अधिष्ठाता देव वास्तुदेवता अथवा वास्तोष्पति हैं। जिस भूमिपर मनुष्यादि प्राणी वास करते हैं, उसे 'वास्तु' कहा जाता है। शुभ वास्तुमे रहनेसे शुभ-सौभाग्य एव समृद्धिकी अभिवृद्धि होती है और अशुभ वास्तुमे रहनेसे इसके विपरीत फल होता है। जिस स्थानपर गृह, प्रासाद यज्ञमण्डप, ग्राम, नगर आदिकी स्थापना करनी हो, उसके नैर्ऋत्यकोणमे वास्तुदेवका निर्माण करना चाहिये। वास्तुपुरुषकी प्रतिमा स्थापित कर पूजन-हवन किया जाता है। ऋग्वेदके अनुसार वास्तोष्पति साक्षात् परमात्माका नाम है, क्योकि वे विश्वब्रह्माण्डरूपी वास्तुके स्वामी हैं। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका ५३वाँ सूक्त (तीन मन्त्र) तथा ५४वे सूक्तका प्रथम मन्त्र वास्तुदेवतापरक है। वास्तुदेवताका मुख्य मन्त्र इस प्रकार है—

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् त्स्वावेशो अनमीवो भवा न।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व श नो भव द्विपदे श चतुष्पदे॥
(ऋक्० ७। ५४। १)

—इस ऋचाके द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ हैं। मन्त्रके भावमे वे कहते हैं—हे वास्तुदेव! हम आपके सच्चे उपासक हैं, इसपर आप पूर्ण विश्वास करे। तदनन्तर हमारी स्तुति-प्रार्थनाओको सुनकर आप हम सभी उपासकोको आधि-व्याधिसे मुक्त कर दे और जो हम अपने धन-ऐश्वर्यकी कामना करते है, आप उसे भी पूर्ण कर दे। साथ ही इस वास्तुक्षेत्र या गृहमे निवास करनेवाले हमारे स्त्री-पुत्रादि परिवार-परिजनोके लिये कल्याणकारक हों तथा हमारे अधीनस्थ गौ अश्वादि सभी चतुष्पद प्राणियाका भी आप कल्याण करे।

मृत्युनिवारक त्र्यम्बक-मन्त्र

मृत्युनिवारक त्र्यम्बक-मन्त्र जो मृत्युञ्जय-मन्त्र भी कहलाता है उसे महर्षि वसिष्ठने ही हमे प्रदान किया है।

मन्त्र इस प्रकार है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
(ऋक्० ७। ५९। १२)

आचार्य शौनकने ऋग्विधानमें इस मन्त्रके विषयमें बतलाया है कि नियमपूर्वक व्रत तथा इस मन्त्रद्वारा पायसके हवनसे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, मृत्यु दूर हो जाती है तथा सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है। इस मन्त्रके अधिष्ठाता देव भगवान् शङ्कर हैं।

अनावृष्टि दूर करनेका उपाय

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका १०१वाँ सूक्त 'पर्जन्य-सूक्त' है। इसमें ६ ऋचाएँ हैं। आचार्य शौनकने बताया है कि सूर्याभिमुख होकर इन ६ ऋचाओंके पाठसे शीघ्र अनावृष्टि दूर हो जाती है और यथेच्छ वर्षा होती है जिससे सभी वनस्पतियाँ तथा ओषधियोंका प्रादुर्भाव होता है और सब प्रकारका दुर्भिक्ष दूर हो जाता है तथा सुख-शान्ति प्राप्त होती है—

अनश्नंस्तैतज्जप्तव्यं वृष्टिकामेन यत्नत।
पञ्चरात्रेऽप्यतिक्रान्ते महतीं वृष्टिमाप्नुयात्॥
(ऋग्विधान २। ३२७)

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका अन्तिम १०४ वाँ सूक्त 'रक्षोघ्न-सूक्त' है, जिसमें महर्षि वसिष्ठने इन्द्र देवतासे सब प्रकारसे रक्षा करनेकी प्रार्थना की है, न केवल दुष्टोंसे अपितु काम, क्रोध, लोभ आदि जो बुराइयाँ हैं, उनसे भी दूर रहनेकी प्रार्थना की है (ऋग्वेद ७। १०४। २२)।

इसके साथ ही महर्षि वसिष्ठजीने सत्य, अहिंसा मैत्री सदाचार, लोककल्याण, विवेकज्ञान, पवित्रता उदारता शौच संताप, तप तथा देवताओं, पितरों, माता-पिता और गोभक्तिका उपदेश अनेक मन्त्रोंमें दिया है। ऋत (नैतिकता और सत्य)-की महिमाको महर्षिने विशेष महत्त्व दिया है उन्होंने देवताओंको ऋतके पथपर चलनेवाला तथा ऋतको जाननेवाला कहा है—

'ऋतज्ञा (ऋक्० ७। ३५। १५) तथा 'ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विष' (ऋक्० ७। ६६। १३)।

साथ ही महर्षिने अभिलाषा की है कि हम लोग सत्यके पथका अनुसरण करते हुए सौ वर्ष (दीर्घ समय)-तक जीवित रहें और सौ वर्षतक कल्याण-ही-कल्याण देखें—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥
(ऋक्० ७। ६६। १६)

महर्षिका कृतित्व

इस प्रकार महर्षि वसिष्ठका दिव्य चरित्र सब प्रकारसे सन्मार्गकी प्रेरणा देता है। ऋग्वेदके अन्य मण्डलों तथा यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेदमें भी उनके द्वारा दृष्ट मन्त्र प्राप्त होते हैं। न केवल उन्होंने वैदिक ऋचाओंका ही दर्शन किया, अपितु उन्होंने धर्माधर्म तथा कर्तव्याकर्तव्यके लिये धर्मशास्त्रीय सदाचार-मर्यादाएँ भी नियत की हैं, जो उनके द्वारा निर्मित 'वसिष्ठधर्मसूत्र' तथा 'वसिष्ठस्मृति' में संगृहीत हैं। इनके उपदेश बड़े ही मार्मिक, उपयोगी तथा शीघ्र कण्ठस्थ होने योग्य हैं। धर्मकी परिभाषा करते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि श्रुति (वेद) तथा स्मृति (धर्मशास्त्र)-में जो विहित आचरण बतलाया गया है, वह धर्म है। यथा—

'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः' (वसिष्ठ० १। ३)

धर्माचरणकी महिमा बतलाते हुए वे कहते हैं—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत नानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥
(वसिष्ठ० ३०। १)

—इसका भाव यह है कि धर्मका ही आचरण करो, अधर्मका नहीं। सदा सत्य ही बोलो, असत्य कभी मत बोलो। दूरदर्शी बनो, संकीर्ण न बनो उदार बनो, जो पर-परात्पर (दीर्घ) तत्त्व है उसीपर सदा दृष्टि रखो। तदतिरिक्त अर्थात् परमात्मासे भिन्न मायामय किसी भी वस्तुपर दृष्टि मत रखो। इसी प्रकार वसिष्ठ-स्मृतिके उपदेश बड़े ही सुन्दर हैं और भक्ति करने तथा भक्त बननेके उपाय भी उसमें निर्देशित किये गये हैं।

आचार्य वसिष्ठका योगवासिष्ठ ग्रन्थ तो सर्वविश्रुत है ही, उनका अध्यात्मज्ञान सभी ज्ञानोंमें सर्वोपरि है। इससे महर्षिकी ब्रह्मनिष्ठता स्पष्ट व्यक्त होती है।

इस प्रकार महर्षि वसिष्ठने वैदिक ऋचाओंमें जिन उपदेशोंका अनुभव किया, उनका इतिहास-पुराणादिमें विस्तार कर उन्हें सर्वसाधारणके लिये सुलभ करा दिया। महर्षि वसिष्ठका संसारपर महान् उपकार है। ऐसे युगद्रष्टा महर्षिको बार-बार प्रणाम है।
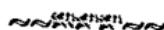
वैदिक सभ्यताके प्रवर्तक मनु

प्रत्येक कल्पके अन्तमे नैमित्तिक प्रलय हुआ करता है। गत कल्पके अन्तमे भी इस प्रकारका प्रलय होनेसे एक सप्ताह-पूर्व द्रविड देशके महाराज सत्यव्रत केवल जल पीकर शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए श्रीभगवान्की आराधना कर रहे थे। एक दिन कृतमाला नदीके तटपर उनके जीवसौहृदभावसे प्रसन्न होकर श्रीभगवान्ने उनसे कहा—'हे राजर्षे! आजसे सातवे दिन जब सम्पूर्ण त्रिलोकी प्रलय-जलमे विलीन होने लगेगी, तब तुम्हारे पास एक बहुत बडी नौका उपस्थित होगी। तुम सप्तर्षियोकी सहायतासे वनस्पतियोके बीजोका उसमे सग्रह कर लेना। जबतक प्रलय-निशा रहेगी, तबतक तुम उस नौकामे रहकर मत्स्यरूपधारी मेरे साथ प्रश्नोत्तरका आनन्द लेना।' राजाने ऐसा ही किया। तदनन्तर ब्राह्मी निशाके अवसानमे ब्राह्म दिनका आरम्भ हुआ। लोकपितामह ब्रह्माजीके एक दिनमे चौदह मनु हुआ करते हैं—

यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविद ॥

(श्रीमद्भा० ८। १४। ११)

वर्तमान दिनका नाम है श्वेतवाराहकल्प। इसमे आजकल जिन सातवे मनुका समय चल रहा है, उनका नाम है श्राद्धदेव। ये श्राद्धदेव पूर्वकल्पवाले महाराज सत्यव्रत हैं—

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसयुत ।
विष्णो प्रसादात् कल्पेऽस्मिन्नासीद् वैवस्वतो मनु ॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ५८)

श्राद्धदेव विवस्वान्के पुत्र हैं—

(अ) मनुर्विवस्वत पुत्र श्राद्धदेव इति श्रुत ।

(श्रीमद्भा० ८। १३। १)

(आ) योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनय स विवस्वत ।
श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पित ॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ११)

श्राद्धदेवके दस पुत्र हुए, जिनमे ज्येष्ठका नाम था इक्ष्वाकु जो भारतीय इतिहासके प्रसिद्ध वश-प्रवर्तक हुए हैं।

अर्जुनसे श्रीभगवान्ने कहा था कि प्राचीन कालमे मैंने इस योगका उपदेश विवस्वान्को दिया था। इसे ही विवस्वान्ने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको दिया था। इस प्रकरणमे गीतामे जिन मनु महाराजका स्मरण किया गया है वे ये ही श्राद्धदेव है।

ये अपने समयके बहुत बडे समाज-व्यवस्थापक हुए हैं—इतने बडे कि आजतक लाखों वर्ष बीत जानेपर भी इनकी बनायी व्यवस्था वेदानुयायी हिंदूमात्रके लिये सम्मान्य है। इनकी व्यवस्थामे यो तो सैकडा माननीय विषय हैं, तथापि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था अद्वितीय हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारो पुरुषार्थोको इनकी व्यवस्थामे समुचित स्थान मिला है। मानव-जीवनको परिष्कृत करनेके उद्देश्यसे उन्होने सोलह सस्कारोका विधान किया, और गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञ (स्वाध्याय, पितृतर्पण, हवन, प्राणिसेवा और अतिथि-सेवा)-का विधान तो विश्वमे सर्वत्र शान्तिप्रसारका मूलमन्त्र ही है।

भारतीय समाजको आदर्शरूप देनेके लिये मनुने एक शास्त्र (धर्मशास्त्र) उन दिनोकी सूत्रशैलीमे बनाया, जिसका एक सस्करण 'मानव-धर्मसूत्र' के नामसे अब भी प्रचलित है। उसी सूत्रराशिको उपदेशका भृगुने (नारद-स्मृतिके अनुसार सुमति भार्गवने) लगभग ढाई हजार अनुष्टुप् छन्दोका रूप देकर बारह अध्यायोमे विभक्त कर दिया था, जो कि आजकल 'मनुस्मृति' के नामसे विदित है।

मनु आचार (सदाचार)-पर बहुत जोर देते है—

आचार परमो धर्म श्रुत्युक्त स्मार्त एव च।

(मनु० १। १०८)

यही 'आचार' वाल्मीकिके महाकाव्य रामायणका 'चरित्र' है और व्यासके इतिहास महाभारतका 'धर्म' है।

प्रत्येक मनुष्य [विशेषकर भारतीय]-को मनुकी मेधाका कृतज्ञ होना चाहिये। मनुकी व्यवस्थाको यदि विश्वके सभी राष्ट्र अपना ले तो कितना अच्छा हो। वास्तवमें मनुका शासन-विधान इतना अच्छा है कि जर्मनीके दार्शनिक नित्शेने ठीक ही कहा है—'मनुका धर्मशास्त्र बाइबिलसे भी कहीं ऊँचे दर्जेका है। मनुने जो कुछ कहा वह वेदके आधारपर ही कहा'—

य कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तित ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स ॥

(मनु० २। ७)

इस प्रकार विश्वमे वैदिक सभ्यताका प्रकाश-विस्तार करनेवालोमे मनुका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वेद और वेदव्यास

भारतीय संस्कृतिके प्राणतत्त्व वेद ही हैं, यह आर्यमेधाने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म, आचार-विचार, रीति-नीति, विज्ञान-कला—ये सभी वेदसे अनुप्राणित हैं। जीवन और साहित्यकी कोई विधा ऐसी नहीं है जिसका बीज वैदिक वाङ्मयमे न मिले। समष्टि-रूपमे समग्र भारतीय साहित्य, जन-जीवन एव सभ्यताकी आधारभूमि यदि वेदोको ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

वेदाका प्रादुर्भाव कब किसके द्वारा हुआ ? इस सम्बन्धम स्मृति-वचन ही प्रमाण है—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'

अर्थात् वेदवाणी अनादि, अनन्त और सनातन है एव ब्रह्माजीद्वारा उसे लोकहितार्थ प्रकट किया गया है।

वेद कितने हैं ? इस सम्बन्धमें तैत्तिरीय (३। १०। ११३)-के कथनको यदि अधिमान दिया जाय तो मानना होगा कि वेदका कोई अन्त नहीं है—'अनन्ता वै वेदा '। वस्तुत ईश्वरीय ज्ञानकी कोई सीमा हो ही नहीं सकती, फिर भी अपने-अपने दृष्टिकोणसे इस सम्बन्धमे मन्थन कर कुछने वेदाकी सख्या तीन तथा कुछने चार प्रतिपादित की है। अमरकोषमे प्रथम काण्डके शब्दादिवर्गमे वेदको त्रयी कहा गया है—'श्रुति स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी' तथा 'स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी' अर्थात् ऋक्, साम और यजु—वेदके तीन नाम हैं और तीनोका समूह वेदत्रयी कहलाता है।

उपर्युक्त त्रयीके विपरीत महाकाव्यम वेदोकी सख्या चार बतायी गयी है—'चत्वारो वेदा साङ्गा सरहस्या ।' इसके अतिरिक्त चार सख्याके प्रतिपादक अन्य प्रमाण भी इस प्रकार उपलब्ध हाते है—

१ ऋचा त्व पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्र त्वो गायति शक्वरीपु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्या यज्ञस्य मात्रा विमिमीत उ त्व ॥
(निरुक्त १। २)

२ अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस । (बृ० उ० २। ४। १०)

३ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद ०।
(मुण्डक० १। १। ५)

४-चत्वारो वा इमे वदा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदो ब्रह्मवेद । (गो० ब्रा० १। २। १६)

५-ऋच सामानि जज्ञिरे। छन्दाꣳसि जज्ञिरे॥
तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (यजु० ३१। ७)

इस प्रकार उक्त प्रमाणामे चार वेदाका स्पष्ट उल्लेख है।

कहा जाता है कि वेद पहले एक ही था, वेदव्यासजीने उसके चार भाग किये थे। महाभारतमे इस एतिहासिक तथ्यका उद्घाटन इस प्रकार किया गया है—

यो व्यस्य वेदाश्चतुरस्तपसा भगवानृषि ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च॥

अर्थात् 'जिन्होने निज तपके बलस वदका चार भागामे विस्तार कर लाकमे व्यासत्व-सज्ञा पायी और शरीरके कृष्णवर्ण होनेके कारण कृष्ण कहलाये।' उन्हीं भगवान् वेदव्यासने ही वेदको चार भागाम विभक्त कर अपने चार प्रमुख शिष्याको वैदिक सहिताआका अध्ययन कराया। उन्होने अपने प्रमुख शिष्य पैलको ऋग्वेद वैशम्पायनको यजुर्वेद, जैमिनिको सामवेद तथा सुमन्तुको अथर्ववेद-सहिताका सर्वप्रथम अध्ययन कराया था। महाभारत-युद्धके पश्चात् वेदव्यासजीने तीन वर्षके सतत परिश्रमक उपरान्त श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास 'महाभारत' की रचना की थी। यह महाभारत पञ्चम वेद कहलाता है और इसे व्यासजीने अपने पञ्चम शिष्य लोमहर्षणको पढाया था जैसा कि महाभारतके अन्त साक्ष्यभूत इन श्लाकास विदित होता है—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तु जैमिनि पैल शुक चैव स्वमात्मजम्।
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
सहितास्तै पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिता ॥
(महा० आदि० ६३। ८९-९०)

त्रिभिर्वर्षै सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनि ।
महाभारतमाख्यान कृतवानिदमद्भुतम्॥
(महा० आदि० ६२। ५२)

भगवान् वदव्यासन वेदका चार भागाम विभक्त क्यों किया ? इसका उत्तर श्रीमद्भागवतम इस प्रकार उपलब्ध होता है—

तत सप्तदशे जात सत्यवत्या पराशरात्।
चक्रे वदतरो शाखा दृष्ट्वा पुसोऽल्पमधस ॥
(१। ३। २१)

अर्थात् महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीसे उत्पन्न वेदव्यासजीने कलियुगमें मानवकी अल्पबुद्धि देखकर (अर्थबोधकी सुगमताकी दृष्टिसे) वेद-रूपी वृक्षकी चार शाखाएँ कर दीं। महाभारतक व्याजसे वेदव्यासजीने श्रुतिका अर्थ जन-सामान्यक लिये बोधगम्य बनाया—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शित ।

महर्षि वेदव्यास भारतीय ज्ञान-गङ्गाके भगीरथ माने जाते है। इन्होने भगीरथकी ही भाँति भारतीय लाक-साहित्यक आदियुगम हिमालयके बदरिकाश्रमम अखण्ड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्मनीति और पुराणकी त्रिपथगाका पहले स्वय साक्षात्कार कर फिर साहित्य-साधनाद्वारा दशके आर्षवाङ्मयको पावन बनाया एव लोक-साहित्यको गति प्रदान की। अनन्तक उपासक वेदव्यासजीकी साहित्य-साधनाने उन्हे भारतीय ज्ञानका अनन्त महिमान्वित प्रतीक बना दिया है। श्रीवेदव्यासजी अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष थे। विद्वानाकी परीक्षाभूमि 'श्रीमद्भागवत', समुज्ज्वल भावरत्नोका निधि 'महाभारत' तथा 'ब्रह्मसूत्र' एव 'अष्टादश पुराण' आदि उनकी महत्ताके प्रबल समर्थक हैं। इसीलिये व्यासजीकी प्रतिभाकी स्तुतिम कहा गया है कि जीवनक चतुर्विध पुरुषार्थोसे सम्बन्ध रखनेवाला जा कुछ ज्ञान महाभारतम है, वही अन्यत्र है, जो वहाँ नहीं है वह कहीं और भी नहीं मिलेगा—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥
(महा० आदि० ६२। ५३)

व्यासजीका जन्म भी यमुनाके ही किसी द्वीपम हुआ था, इसीलिये इन्हे द्वैपायन, कृष्णवर्ण शरीरके कारण कृष्ण या कृष्णद्वैपायन, बदरीवनमे निवासके कारण बादरायण तथा वेदाका विस्तार करनेके कारण 'वेदव्यास' कहा जाता है। ये दिव्य तेज सम्पन्न तत्त्वज्ञ एव प्रतिभाशाली थे इसीलिये इनकी स्तुति करते हुए कहा गया है—

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्ण
प्रज्वालितो ज्ञानमय प्रदीप ॥

अर्थात् खिले हुए कमलकी पँखुडीक समान बडे-बडे नेत्रावाल तथा विशाल बुद्धिवाले हे व्यासदेव। आपने अपने महाभारतरूपी तेलके द्वारा दिव्य ज्ञानमय दीपकको प्रकाशित किया है, आपको नमस्कार है।

इनकी असीम प्रभविष्णुता परिलक्षित कर इन्हे त्रिदेवाकी समकक्षता प्रदान की गयी है—

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरि ।
अभाललोचन शम्भुर्भगवान् बादरायण ॥

अभिप्राय यह कि भगवान् बादरायण चतुर्मुख न होते हुए भी ब्रह्मा दो (ही) भुजाआवाले होते हुए भी दूसरे विष्णु और त्रिनेत्रधारी न होते हुए भी साक्षात् शिव ही हैं।

भागवतकारके रूपम इनका वर्णन करते हुए जयाशीके लिये इनक अभिवादनकी अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—

नारायण नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यास तता जयमुदीरयेत्॥
(श्रीमद्भा० १। २। ४)

इस पुराण-पुरुषकी परम्परा ब्रह्मासे प्रारम्भ होती है और फिर क्रमश वसिष्ठ, शक्ति पराशर तथा व्यासका नाम आता है—

व्यास वसिष्ठनप्तार शक्ते पौत्रमकल्मषम्।
पराशरात्मज वन्दे शुकतात तपोनिधिम्॥

महापुरुषका व्यक्तित्व इतना महान् होता है कि उसे किसी सीमाम आबद्ध नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि व्यासजीके कार्यक्षेत्रकी सीमा समग्र भारतम प्रसृत दृष्टिगोचर होती है।

भारतीय जनजीवनमे व्यासजी अजरामर-रूपमे प्रतिष्ठित हैं। आज भी वर्षगाँठके अवसरपर हम जिन सप्त-चिरजीवियोंका स्मरण करते हैं उनम व्यासजीका अन्यतम स्थान है—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमाश्च विभीषण ।
कृप परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविन ॥

भगवान् वेदव्यासकी स्थिति वैदिक युगके अन्तम भी थी महाभारतकालम भी थी और आज भी वे नारायणभूत वेदव्यास अनन्तके अनन्त-रूपम विश्वम विद्यमान हैं।

व्यासजीने मनुष्यमात्रको अल्पबुद्धि अल्पायु तथा कर्म-क्रियाम लिप्त दखकर उनक सार्वकालिक कल्याणके लिये वेदाका विभाजन चार शाखाआम किया था जिसका स्पष्ट

महर्षि वाल्मीकि एव उनके रामायणपर वेदोका प्रभाव

प्राय सभी व्याख्याताओने अपनी रामायण-व्याख्याके प्रारम्भम एक बडा सुन्दर मनोहारी श्लोक लिखा है, जो इस प्रकार है—

वदवद्य परे पुसि जाते दशरथात्मज।
वद प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

भाव यह है कि परमात्मा वदवेद्य है अथात् कवल वदाके द्वारा हा जाना जा सकता ह। जव वह परब्रह्म परमेश्वर लोककल्याणके लिय दशरथनन्दन रघुनन्दन आनन्दकन्द श्रीरामचन्द्रक रूपम अवतीर्ण हुआ, तव सभी वेद भी प्रचेतामुनिक पुत्र महर्षि वाल्मीकिक मुखसे श्रीमद्रामायणक रूपम अवतीर्ण हुए। तात्पर्य यह कि श्रीमद्रामायण विशुद्ध वेदार्थ-रूपमे ही लोककल्याणके लिय प्रकट हुआ है। इन्हीं कारणासे मूल रूपम सो करोड श्लोकाम उपनिबद्ध श्रीमद्रामायणका एक-एक अक्षर सभी महापातका एव उपपातकाका प्रशमन करनवाला आर परम एव चरम पुण्यका उत्पादक बताया गया है—

चरित्त रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षर पुसा महापातकनाशनम्॥

वेदाका अर्थ गूढ ह तथा रामायणक भाव अत्यन्त सरल हैं। अत रामायणके द्वारा ही वदार्थ जाना जा सकता है।

महर्षि वाल्मीकिने इस रहस्यका वर्णन अपनी रामायणम बार-बार किया ह। मूल रामायणकी फलश्रुतिम वे कहत ह—

इद पवित्र पापघ्न पुण्य वेदैश्च सम्मितम्।
य पठद् रामचरित सर्वपापै प्रमुच्यत॥
(वा०रा० १। १। ९८)

'वदाक समान पवित्र एव पापनाशक तथा पुण्यमय इस रामचरितको जा पढगा, वह सभी पापासे मुक्त हा जायगा।'

अर्थात् यह सर्वाधिक परम पवित्र सभी पापाका नाश करनवाला अपार पुण्य प्रदान करनेवाला तथा सभी वदाक तुल्य है। इस जो पढता ह, वह सभी पाप-तापासे मुक्त हा जाता है।

भगवान् श्रीराम चारा भाइयाक साथ महर्षि वसिष्ठके आश्रमम जाकर वदाध्ययन करत हैं। राजर्षि जनकके गुरु पुराहित याज्ञवल्क्य, गौतम, शतानन्द आदि सभी वेदामे निष्णात थ। यही नहीं, स्वय रावण भी वेदाका बडा भारी विद्वान् पण्डित था। उसक भाष्याका प्रभाव सायण, उद्गाथ, वकट, माधव तथा मध्वादिके भाष्यापर प्रत्यक्ष दीखता है। उसक यहाँ अनक वदपाठी विद्वान् ब्राह्मण थे। हनुमान्‌जी जव अशाकवाटिकाम सीताजीका ढूँढत हुए पहुँचे और अशाकवृक्षपर छिपकर बेठे, तव आधा रातक वाद उन्ह लकानिवासी वदपाठी विद्वानाकी वदध्वनि सुनायी पडी—

षडङ्गवदविदुषा क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥
(वा०रा० ५। १८। २)

रातक उस पिछले पहरम छहा अङ्गोसहित सम्पूर्ण वदाके विद्वान् तथा श्रेष्ठ यज्ञाद्वारा यजन करनेवाले ब्रह्म-राक्षसाक घरम वदपाठकी ध्वनि होने लगी, जिसे हनुमान्‌जाने सुना।

अयाध्याम तो वेदज्ञ ब्राह्मणाका बाहुल्य हो था। जब भरतजी रामजीको वापस करने चित्रकूट जाते हैं तो अनेक वदपाठी शिक्षक-छात्र भरतजीक साथ चलते हैं। महर्षि वाल्मीकिने लिखा हे कि कठ, कण्व कपिष्ठल आदि शाखाआके शिक्षक याज्ञिक भरतजीके साथ चल रहे थे और भरतजीने उनकी रुचिके अनुसार जलपान तथा भोजनादिकी पूरी व्यवस्था कर रखी थी।

इसी प्रकार वनवास-कालम भगवान् श्रीरामजीको आग महर्षि अगस्त्यस भट हाती ह। अगस्त्यजाका ऋग्वदम 'आगस्त्य-मण्डल' वहुत प्रसिद्ध है। अगस्त्यकी पत्नी लापामुद्रा वेदके कई सूक्तोकी द्रष्टा ह।

हनुमान्‌जी वदाक प्रकाण्ड विद्वान्—निष्णात पण्डित थे। जब वे किष्किन्धाम भगवान् श्रीरामसे बाते करते हैं, तव श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिव कपिम्।
वाक्यज्ञ मधुरैर्वाक्यै स्नेहयुक्तमरिंदमम्॥
नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिण।
नासामवेदविदुष शक्यमेव विभाषितुम्॥
नून व्याकरण कृत्स्नमनन बहुधा श्रुतम्।

बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोष संविदित क्वचित्॥
(वा०रा० ४। ३। २७—३०)

लक्ष्मण! इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्‌से, जो बातके मर्मको समझनेवाले हैं, तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणीमें बातचीत करो। जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषामें वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होने समूचे व्याकरणका कई बार स्वाध्याय किया है, क्योंकि बहुत-सी बात बोल जानेपर भी इनके मुँहसे कोई अशुद्धि नहीं निकली। सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गोसे भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ।

भाव यह है कि जबतक कोई अनेक व्याकरणाका ज्ञाता नहीं होगा, वेदज्ञ नहीं होगा तबतक इतना सुन्दर, शान्त एव प्रसन्न-चित्तसे शुद्धातिशुद्ध सम्भाषण नहीं कर सकेगा।

हनुमान्‌जी जब लका जाते हैं और रावणसे बातचीत करते हैं तो वेदोके सारभूत ज्ञानका निरूपण करते हैं। वे रावणसे कहते हैं कि तुम पुलस्त्य-कुलमें उत्पन्न हुए हो, वेदज्ञ हो, तुमने तपस्या की है और देवलोक तकको भी जीत लिया है, इसलिये सावधान हो जाओ। तुमने वेदाध्ययन और धर्मका फल तो पा लिया, अब वेदविरुद्ध दुष्कर्मोका परिणाम भी तुम्हारे सामने उपस्थित दीखता है—

प्राप्त धर्मफल तावद् भवता नात्र सशय।
फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे॥
ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा
रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्र सुरनायको वा
स्थातु न शक्ता युधि राघवस्य॥
(वा०रा० ५। ५१। २९, ४४)

तुमने पहले जो धर्म किया था, उसका पूरा-पूरा फल तो यहाँ पा लिया, अब इस सीताहरणरूपी अधर्मका फल भी तुम्हे शीघ्र ही मिलेगा। चार मुखावाले स्वयम्भू ब्रह्मा, तीन नेत्रावाले त्रिपुरनाशक रुद्र अथवा देवताओके स्वामी महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र भी समराङ्गणमे श्रीरघुनाथजीके सामने नहीं ठहर सकते।

अर्थात् जिनके तुम भक्त हो, वे त्रिनेत्रधारी त्रिशूलपाणि भगवान् शकर अथवा चार मुखवाले ब्रह्मा या समस्त देवताओके स्वामी इन्द्र—सभी मिलकर भी रामके वध्य शत्रुकी रक्षा नहीं कर सकते।

इसी प्रकार हनुमान्‌जीने रावणके समक्ष तर्कोंसे—युक्तियोसे रामको परब्रह्म परमात्मा और परब्रह्म सिद्ध किया। वे कहते हैं—

सत्य राक्षसराजेन्द्र शृणुष्व वचन मम।
रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषत॥
सर्वाल्लोकान् सुसहृत्य सभूतान् सचराचरान्।
पुनरेव तथा स्रष्टु शक्तो रामो महायशा॥
(वा० रा० ५। ५१। ३८-३९)

अर्थात् हे राक्षसराज रावण! मेरी सच्ची बात सुनो—महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी चराचर प्राणियोसहित सम्पूर्ण लोकोका सहार करके, फिर उनका नये सिरेसे निर्माण करनेकी शक्ति रखते हैं।

विभीषणको वेदका तत्त्वज्ञान था। उन्होने रावणको वेदज्ञानके आधारपर परामर्श दिया, किंतु उसने उनकी एक भी नहीं सुनी। इसलिये वेदको जानते हुए भी वेदके विरुद्ध वह चल रहा था। गोस्वामीजीने ठीक लिखा है—

बेद बिरुद्ध महा मुनि, साधु ससोक किए सुरलोकु उजारो।
और कहा कहौं, तीय हरी, तबहूँ करुनाकर कोपु न धारो॥
सेवक-छोह तें छाड़ी छमा, तुलसी लख्यो राम! सुभाउ तिहारो।
तौलौं न दापु दल्यौ दसकंधर जौलो बिभीषन लातु न मारो॥
(कवितावली उ० ३)

विभीषण सच्चे वेदज्ञ थे, इसलिये वे वेदतत्त्व-रामको पहचान पाये। तुलसीदासने वसिष्ठके मुखसे रामके जन्मते ही यह बात कहलायी—

धरे नाम गुर हृदयँ बिचारी। बेद तत्व नृप तव सुत चारी॥
मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बाल केलि रस तेहिं सुख माना॥
(रा०च०मा० १। १९८। १-२)

भाव यह है कि वसिष्ठजी महाराज दशरथसे कहते हैं कि महाराज! ये आनन्दकन्द रघुनन्दन साक्षात् वेदपुरुष—वेदतत्त्व हैं और अपनी लेशमात्र शक्तिसे सारे ससारको प्रकाशित करते हैं। समस्त मन बुद्धि, हृदय इन्द्रिय और

जीवात्माको भी प्रकाशित करते हैं—

जो आनद सिधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥
(रा०च०मा० १। १९७। ५-६)

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
(रा०च०मा० १। ११७। ५-६)

अर्थात् समस्त प्राणियोंके विषय, इन्द्रिय, उनके स्वामी देवता एक-से-एक विशिष्ट चेतन्य कहे गये हैं, किंतु सबको प्रकाशित करनेवाली शक्ति एक ही है, जो अनादि ब्रह्म वेदसार श्रीरामके नामसे विज्ञेय है। स्वयं भगवान् रामने रावणको देखकर कहा था—यह रावण अत्यन्त तेजस्वी है, वेदोंका ज्ञाता है, किंतु इसका आचरण वेदविरुद्ध हो गया, अन्यथा यह शाश्वत कालके लिये तीनों लोकोंका स्वामी हो सकता था। महर्षि वाल्मीकिद्वारा श्रीमद्रामायणमें भगवान्‌के भाव इन शब्दोंमें निरूपित हुए हैं—

यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वर।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता॥
(वा० रा० युद्धकाण्ड)

वाल्मीकिरामायणकी समाप्तिके समय प्रार्थनारूपमें कहा गया है कि सम्पूर्ण वेदोंके पाठका जितना फल होता है उतना ही फल इसके पाठसे होता है। इससे देवताओंकी सारी शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। पृथ्वीपर ठीकसे वर्षा होती है। राजाओंका शासन निर्विघ्न चलता है। गो-ब्राह्मण आदि सभी खूब प्रसन्न रहते हैं। सम्पूर्ण विश्वमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता और भगवान् विष्णुका बल बढ़ता जाता है—

कालं वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः॥

इस प्रकार संक्षेपमें यह समझाया गया है कि बिना रामायणके जाने वेदका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। जो रामायणको नहीं जानता वह वेदके अर्थको ठीक नहीं समझ सकता। इसीलिये अल्पश्रुतासे वेद भयभीत रहता है, कहता है कि यह अपनी अल्पश्रुततासे मेरे ऊपर प्रहार कर देगा—

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।
(महाभारत आदिपर्व १। २६८)

वाल्मीकिजीने जब प्रथम श्लोकबद्ध लौकिक साहित्यकी रचना की, तब ब्रह्माजी उनकी मनःस्थिति समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकिसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! तुम्हारे मुँहसे निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे संकल्प अथवा मेरी प्रेरणासे ही तुम्हारे मुँहसे ऐसी वाणी निकली है। इसलिये तुम श्रीरामचन्द्रजीकी परम पवित्र एवं मनोरम कथाको श्लोकबद्ध करके लिखो। वेदार्थयुक्त रामचरितका निर्माण करो'—

तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहसन् मुनिपुङ्गवम्॥
श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्।

आगे ब्रह्माजीने पुनः कहा—जबतक पृथ्वी, पर्वत और समुद्र रहेंगे तुम्हारी रामायण भी रहेगी और इसके आधारपर अनेक रामायणोंकी रचना होगी तथा तुम्हारी तीनों लोकोंमें अबाधगति होगी और रामायणरूपी तुम्हारी यह वाणी समस्त काव्य, इतिहास, पुराणोंका आधारभूत बीजमन्त्र बनी रहेगी।

कहा जाता है कि सभी ब्राह्मण बालकोंको सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकिके मुखसे निकला हुआ यही श्लोक पढ़ाया जाता है जो इस प्रकार है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
(वा० रा० १। २। १५)

गोविन्दराज माधवगोविन्द नागेशभट्ट, कतक, तीर्थ और शिवसहाय तथा राजा भोज आदि कवियोंने इस श्लोकके सैकड़ों अर्थ किये हैं। राजा भोजने इसीके आधारपर चम्पू रामायणका निर्माण किया है। सबसे अधिक अर्थ गोविन्दराजने किया है।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपमें वेदसारभूत श्रीमद्रामायणका परिचय दिया गया है, जो कि वैदिक साहित्यसे भिन्न सम्पूर्ण विश्वके लौकिक साहित्यका प्रथम ग्रन्थ है। सारे संसारके ग्रन्थ इसीसे प्रकाशित होते हैं। प्रथम कवि संसारमें वाल्मीकि ही हुए हैं जैसा कि प्रसिद्ध है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभवद् ध्वनिः।

भगवान् आदि शंकराचार्य और वैदिक साहित्य

आचार्यके सम्बन्धमे वैदिक विद्वानामे एक श्लोक परम्परासे अति प्रसिद्ध रहा है, जो इस प्रकार है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी षोडशे सर्वभाष्यकृत्।
चतुर्विंशे दिग्विजयी द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

अर्थात् आचार्य शकरको आठ वर्षकी अवस्थामे ही समस्त वेद-वेदाङ्गोका सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो गया तथा सोलह वर्षकी अवस्थामे वे समस्त वेद-वेदाङ्गाके भाष्य लिख-लिखवा चुके थे और चौबीस वर्षतकको अवस्थामे विजय-पताका फहरा दी एव वेद-विरोधियोको परास्त कर भगा दिया और बत्तीसवे वर्षमे सम्पूर्ण विश्वमे वैदिक धर्मकी स्थापना करके चारो दिशाआमे चार विशाल मठाकी स्थापना कर ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त हुए।

आचार्यके सभी लक्षण दिव्य थे। उनके प्रखर तर्कोके सामने कोई विरोधी क्षणभर भी टिक नही सकता था। आठ वर्षमे किसी सामान्य व्यक्तिको समस्त वेद-वेदाङ्गोका पूर्वोत्तर-पक्षसहित सम्यक् ज्ञान कैसे सम्भव है? अत वे अचिन्त्य दिव्य-अद्भुत प्रतिभायुक्त लोकोत्तर लक्षणासे समन्वित साक्षात् भगवान् शकरके अवतार माने गये हे—'शङ्कर शङ्कर साक्षात्।'

वेदान्त-सूत्रके प्रारम्भिक भाष्यम वे वदोको भगवान्से भी श्रेष्ठ बतलाते हैं। वे कहते ह कि भगवान् कैसे हैं, उनकी क्या विशेषताएँ हे, उनकी प्राप्ति कैसे होगी, यह वद ही बतलाते हैं, अन्यथा कोई भी व्यक्ति अपनेको भगवान् बताकर भ्रमम डाल सकता है।

'परात्तु तच्छ्रुते '(ब्रह्मसूत्र २। ३। ४१)—इस सूत्रम वे श्रुतिको ही परतम प्रमाण मानते हे और परमेश्वरको सर्वोपरि शक्ति मानते हैं। सभी प्राणी उनके ही अधीन हैं। कौषीतकि ब्राह्मणका उद्धरण दकर वे कहते हैं कि भगवान् अपने भक्ता एव सतोंद्वारा श्रेष्ठ कर्मोका आचरण कराकर उन्ह सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य तथा सायुज्य आदि मुक्तियाँ देते हैं और आसुरी स्वभाववाले व्यक्तियोद्वारा दुष्कर्म कराकर उन्हे नरकमे भेजते हैं। कौषीतकिके मूल वचन इस प्रकार हैं—

एष ह्येवैन साधु कर्म कारयति त यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वर ।

(कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् ३। ९)

प्राय गीताम भी आचार्य शकरका भगवान् श्रीकृष्णके—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमा गतिम्॥

(गीता १६। २०)

—इस श्लोकका भाष्य भी इसी प्रकार है।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार तो भगवान्मे वैषम्य और नैर्घृण्य-दोषकी प्रसक्ति होती है तो आचार्यचरण 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति' (ब्रह्मसूत्र २। १। ३४)—इस बादरायण-सूत्रके भाष्यमं उपर्युक्त आक्षेपको दूर कर 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋक्० १०। १९०। ३)—इस वेद-वचनको उद्धृत कर क्रमिक रूपसे सात्त्विक कर्मोके द्वारा सूर्य तथा चन्द्रमाके स्वरूपको प्राप्त करनेकी बात बताते हैं तथा आसुरी प्रकृतिके व्यक्तियाद्वारा निरन्तर कुकर्म करनेसे ही अधम गतिकी प्राप्ति बताते है। यही 'मूढा जन्मनि जन्मनि'-का भाव है। भगवान् तो सर्वथा पक्षपात-शून्य हे।

अत बुभूषु पुरुषको निरन्तर सत्सग, वेदादि-साहित्यके स्वाध्याय तथा तदनुकूल सद्धर्मका सदा आचरण कर शीघ्र-स-शीघ्र आत्मोन्नति, राष्ट्रकल्याण, विश्वकल्याण करते-कराते हुए विशुद्ध भगवत्तत्त्वको प्राप्त कर लना चाहिये इसीमे मानव-जीवनकी सफलता हे और यही आचार्य-चरणाक वैदिक उपदेशाका सारभूत निष्कर्षात्मक सदेश है।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्

[वेद ओर गोस्वामी तुलसीदास]

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'नानापुराणनिगमागमसम्मत०'का जो मञ्जुल उद्घोष प्रतिज्ञाके रूपमे किया था, उसका पूर्ण निर्वाह उन्होने मानस तथा अपने अन्य ग्रन्थोमे आदिसे अन्ततक किया है। मानसका प्रारम्भ वाणी ओर विनायककी प्रार्थनासे हुआ है। अथर्ववेदके अन्तर्गत '*श्रीदेव्यथर्वशीर्ष*'मे कामधेनुतुल्य भक्तोको आनन्द देनेवाली, अन्नवलसे समृद्ध करनेवाली माँ वाग्रूपिणी भगवतीकी उत्तम स्तुति है तथा वेदोमे '**गणाना त्वा गणपतिः हवामहे**' से गणेशजीकी वन्दना है, जो मङ्गलमूर्ति एव विघ्नविनाशक हैं। उसी शाश्वत दिव्य परम्पराका पालन '**वन्दे वाणीविनायकौ**' से श्रीतुलसीदासजीने किया है। भगवान् शिव एव उमा वैदिक देवता हैं। '**श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ**' के रूपमे उन्हे प्रणाम किया है, क्योकि बिना श्रद्धा ओर विश्वासके भक्त हृदयमे ईश्वरका दर्शन नहीं कर सकता। श्रद्धाको धर्मकी पुत्री कहा गया है। विश्वास हमारी शुभ निश्चयात्मिका दृढ मनोवृत्ति है जो हमे शिवत्व प्रदान कराती है। '*कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा*' एव '*श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई*' तुलसीदासजीकी उक्ति है।

मानसके प्रारम्भकी चौपाई मृत्युञ्जय-मन्त्रका अनुस्मरण एव भावानुवाद ही है—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
(यजुर्वेद ३। ६०)

अर्थात् हम लोग भगवान् शिवकी उपासना करते हैं, वे हमारे जीवनमे सुगन्धि (यश सदाशयता) एव पुष्टि (शक्ति समर्थता)-का प्रत्यक्ष बोध करानेवाले हैं। जिस प्रकार पका हुआ फल ककडी खरबूजा आदि स्वय डठलसे अलग हो जाता है उसी प्रकार हम मृत्यु-भयसे सहज मुक्त हों किंतु अमृतत्वसे दूर न हो।

इस महामन्त्रकी छाया '*बदउँ गुरु पद पदुम परागा*' आदि चोपाइयोमे भी द्रष्टव्य है।

त्र्यम्बक यजामहे से गुरुको शकररूप माना है— वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।' सुगन्धि से *सुरुचि सुबास*' माना है अर्थात् हमारी सुन्दर रुचि ही सुवास-सुगन्धि है। भ्रमर रुचिके कारण ही परागसे कमल-रसका पान करता है। 'पुष्टिवर्धनम्' का अर्थ '*सरस अनुरागा*' किया है अर्थात् हृदयमे श्रेष्ठ अनुराग सुरुचिके कारण ही उत्पन्न होता है, जिससे हृदय पुष्ट होता है। इसकी पुष्टिमे कहा गया है—'*नायमात्मा बलहीनेन लभ्य*' तात्पर्य यह कि बल रहनेपर ही आत्माका बोध होता है। गुरुका चरण '*अमिअ मूरि*' (अमृत लताकी जडी) है, जिसमे रज लगा है, वह अमृतदायिनी है। मृत्युके बन्धनको छुडाने-हेतु रोग-निवारणमे पूर्ण सक्षम है, ऐसे शकररूप गुरुको मैं वन्दना करता हूँ।

वैदिक ऋषियोकी प्रार्थना है—'**असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।** *मृत्योर्मामृतं गमय।*'

अर्थात् हे प्रभो! आप मुझे असत्से सत्की ओर ले चले। अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चले, मृत्युसे अमरताकी ओर ले चले। इसका भाव-रूपान्तर गुरु-वन्दना-प्रकरणमे सुन्दर एव मार्मिक ढगसे किया गया है। असत् तथा तमस् एव मृत्युसे बचनेकी तथा मुक्ति-प्राप्तिकी प्रार्थना की गयी है। असत् दूर होता है—सत्से, '*सतसगत मुद मगल मूला*', '*बिनु सतसग बिबेक न होई*'। तमस्—अन्धकार अर्थात् अज्ञान दूर होता है श्रीगुरुचरण-नखमणिकी ज्योतिसे, वन्दनासे प्रार्थनासे—'*अमिअ मूरिमय चूरन चारू*' गुरुके इस अमृत मूरि-चरण-रजसे अमृत-प्रकाशकी उपलब्धि भक्तको सहज ही हो जाती है। तुलसीदासजीने वेदोकी वन्दना की है—

बदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥
(रा०च०मा० १। १४ (ड))

अर्थात् मैं चारो वेदोकी वन्दना करता हूँ, जो ससार-समुद्रके पार होनेके लिये जहाजके समान हैं। जिन्हे रघुनाथजीका निर्मल यश वर्णन करते स्वप्नमे भी खेद नहीं होता।

वेद ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुए। श्रीवाल्मीकिजीके मुखसे रामायण प्रकट हुआ। वेदार्थ ही रामायणके रूपमे

प्रकट हुआ। श्रुतिका वचन है—'तरति शोकमात्मवित्'— अर्थात् आत्मज्ञ शोक-समुद्रसे पार हो जाता है। तुलसीदासजी अपनेको शोक-समुद्रसे पार होनेके लिये कहते हैं—

निज सदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥

अर्थात् मैं अपने सदेह तथा मोह एव भ्रमको दूर करने-हेतु रामकथाका वर्णन करता हूँ। अन्यत्र हनुमन्नाटकमे भी रामकथाको 'विश्रामस्थानमेकम्' कहा गया है। तुलसीदासजीने '**बुध बिश्राम सकल जन रजनि**' कहा है। राम ससारकी आत्मा हैं। जैसे प्रणव वेदाकी आत्मा है, उसी प्रकार राम भी वेदाके आत्मारूप हैं—

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥
(रा०च०मा० १। १९। २)

वेदोमे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना है। आगे चलकर मनु-शतरूपाको ज्ञानमार्गसे निर्गुण-निराकार-उपासनासे तृप्ति नहीं हुई तो उन्हाने तप किया। दृढ होकर घोर तप करनेके बाद वे कल्पना करने लगे—

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनत अनादी। जेहि चिंतहि परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अस ते नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥
(रा०च०मा० १। १४४। ३—८)

मनु एव शतरूपाकी उत्कट तपस्या निर्गुण ब्रह्मको सगुण-साकार रूपम प्रकट करनेके उद्देश्यसे हुई थी। जिस निर्गुण ब्रह्मका निरूपण उपनिषदोमे है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय
तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्।
(कठ० १। ३। १५)

अथात् ब्रह्म शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित रसरहित और बिना गन्धवाला है। श्रीरामचरितमानसमे निर्गुण ब्रह्मके बारेमे वर्णन आया है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो कवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
(रा०च०मा० १। १३। ३—५)

मनुजीने ब्रह्मा विष्णु, महेश आदि देवताआके वर प्रदानकी उपेक्षा कर अन्तमे सबके परम कारण सर्वज्ञ ब्रह्मका साक्षात्कार किया तथा उनसे ब्रह्मके समान पुत्रकी अभिलाषा की, जिससे स्वय सर्वज्ञ ब्रह्मको रामरूपम अवतरित होना पडा। मनु-शतरूपा ही दूसर जन्मम दशरथ-कौसल्याके रूपमे प्रकट हुए थे, जिनके यहाँ ब्रह्मको बालकरूप धारण कर बालक्रीडा करनी पडी तथा गृहस्थ बनकर आदर्श जीवन-चरित, जो वेदानुकूल था, प्रस्तुत करना पडा। जिसका सुन्दर मनोहारी वर्णन श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसम किया है। जिसका आधार वेद-पुराण है—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहि राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मगलकारी॥
(रा०च०मा० १। ३६। ३-४)

भगवान् श्रीरामके जन्मके पूर्व वेदधर्मक विरुद्ध आचरण करनेवाले रावण तथा कुम्भकर्ण आदिका जन्म हो चुका था। रावण हिसाप्राय अत्याचारम लिप्त था, उसके सभी कार्य वेद-विरुद्ध थे—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहिं जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥

इस प्रकार अधर्मपूर्ण कार्योंको देखकर पृथ्वी बहुत दु खित हुई। उसने कहा—

गिरि सरि सिधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥

पृथ्वी गौका रूप धारण करके देवताआके यहाँ गयी, फिर उसके साथ सभी दवता ब्रह्माजीके पास गये। पृथ्वीने अपना दु ख सबको सुनाया। भगवान् शिवने पृथ्वी और देवताआकी दशाको जानकर भगवान् विष्णुसे प्रार्थना करनेको कहा। भगवान् प्रेमस पुकारनेपर भक्ताकी प्रार्थना सुनते हैं और उनके दु खको दूर करते हैं। शिवजीने एक सूत्रमे सबको समझाया—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मै जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रम त प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
(रा०च०मा० १। १८५। ५ ७)

आकाशवाणी हुई, जिसमे पूर्वमे दिये हुए कश्यप-अदितिके वरदानका स्मरण दिलाया गया और समय आनेपर प्रभुके अवतरित होनेका विश्वास दिलाया गया।

बहुत दिनोतक कोई संतान न होनेसे दशरथ एवं कौसल्याजी अत्यन्त चिन्तित थे। उन्होंने गुरु वसिष्ठसे पुत्र-प्राप्तिकी कामना व्यक्त की। वसिष्ठजीने पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया। अग्निदेव हाथमे चरु लेकर प्रकट हुए। अग्निदेवके हविके प्रसादसे भगवान् भाइयोसहित अवतरित हुए। अग्नि-उपासना वैदिक उपासना है। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमे अग्निदेवकी प्रार्थना मनोरथ पूर्ण करने-हेतु है। वेदके 'सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्' का पालन भगवान् राम भाइयो एवं अवधपुरके बालकोके साथ क्रीडा एवं भोजन आदिके समय भी करते हैं। विश्वामित्रके साथ उनकी यज्ञ-रक्षा-हेतु जाते हैं। वहाँसे जनकपुर धनुष-यज्ञ देखने जाते है। वहाँ उनके रूपको देखकर जनकजी-जैसे ज्ञानी भी विमोहित हो जाते हैं। विश्वामित्रजीसे पूछते है—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

(रा०च०मा० १। २१६। २)

अर्थात् जिसका वेदोने 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है कहीं वह ब्रह्म युगलरूप धारण करके तो नहीं आया है? क्योंकि—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० १। २१६। ३ ५)

—मेरा मन जो स्वभावसे ही वैराग्य-रूप है, इन्हे देखकर इस तरह मुग्ध हो रहा है, जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर। इनको देखते ही अत्यन्त प्रेमके वश होकर मेरे मनने हठात् ब्रह्मसुखको त्याग दिया है।

जनकजीके प्रश्नोको सुनकर मुनिने हँसकर उत्तर दिया कि जगत्मे जितने भी प्राणी हैं, ये सभीको प्रिय हैं। 'ये सभीको प्रिय है'—यह कहकर मानो मुनिजीने संकेत कर दिया कि ये सबके प्रिय अर्थात् सबके आत्मा हैं। सर्वप्रियता चारुता दयालुता गुण-दोष न देखना, अस्पृहा निर्लोभता—ये सब आत्माके गुण हैं। भगवान् राम इन सद्गुणोके भण्डार हैं। भगवान् राम एवं लक्ष्मण गुरुजीके साथ नियम-धर्मका पालन करते हैं। सध्याकालमे संध्या-वन्दन करते हैं—

बिगत दिवसु गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥

वेदोकी आज्ञा है—'अहरहः संध्यामुपासीत।' प्रतिदिन संध्या करो। अपने मूल उत्स ईश्वरको सदा स्मरण रखो। वेद सदा ईश्वर-उपासनाके लिये बल देता है। जिसके लिये संयम-नियमका पालन आवश्यक है। श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

(रा०च०मा० १। ३७। १४)

भक्तके लिये मनका निग्रह—यम-नियम ही फूल हैं, ज्ञान फल है और श्रीहरिके चरणोमे प्रेम ही इस ज्ञानरूपी फलका रस है। ऐसा वेदोने कहा है।

जप, तप, नियम, उपासना—ये सब हमारी भारतीय संस्कृतिके अङ्ग हैं। नारदजीने शिवको वरण करनेके लिये पार्वतीको तप करनेकी प्रेरणा की थी। श्रीरामचरितमानसमे कथन है—

इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥
जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

पार्वतीजीने घोर तपस्या की। भगवान्‌की प्राप्ति हुई। राम-कथाके बारेमे पार्वतीजीने बीस प्रश्न किये, भगवान्ने सबका समाधान किया। वेद-मतका समर्थन करते हुए कहा—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥

(रा० च० मा० १। ११८। ५—७)

—यह श्वेताश्वतरोपनिषद् (३। १९)-के निम्न मन्त्रका भावानुवाद है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

अर्थात् वह परमात्मा हाथ-पैरसे रहित होकर भी समस्त वस्तुओको ग्रहण करनेवाला है। वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है। आँखोके बिना सब कुछ देखता है। कानोके बिना ही सब कुछ सुनता है। वह जो कुछ भी जाननेमें आनेवाली वस्तुएँ हैं उन सबको जानता है, परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है। ज्ञानी पुरुष उसे महान् आदि पुरुष कहते हैं।

मनु-शतरूपाजीने भी घोर तपस्या की थी। तप-कालमे शुद्ध-सात्त्विक जीवन-आचरणका विधान है—

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥

(रा०च०मा० १। १४४। १)

'ईशा वास्यमिदः सर्वं०' का बोध परम आवश्यक है। काकभुशुण्डिजीने *'ईस्वर सर्ब भूतमय अहई'* का ज्ञान तपके बाद ही प्राप्त किया, जब उनकी सारी वासनाएँ निर्मूल हुईं, क्योंकि वासनाएँ हमारी शक्ति—ऊर्जा एव तजको क्षीण कर देती हैं।

'छूटी त्रिबिधि ईषना गाढी' तब भगवान्मे प्रीति हुई।

वेदोम भगवान्के विराट्-रूपका वर्णन है। पुरुपसूक्तम वर्णन है—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।

(ऋग्वेद १०। ९०। १)

अर्थात् वह विराट् पुरुष सहस्र सिरा, सहस्र आँखा और सहस्र चरणोवाला है।

इस विराट्-रूपका दर्शन माँ कौसल्याको हुआ था—

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।

मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

अर्थात् वेद कहते हैं कि तुम्हारे प्रत्येक रोमम मायाके रचे हुए अनेक ब्रह्माण्डाके समूह हैं। वे ही तुम मेरे गर्भमे रहे—इस हँसीकी बात सुननेपर धीर (विवेकी) पुरुषाकी बुद्धि भी स्थिर नहीं रहती, विचलित हो जाती है।

इसी विराट्-रूपका दर्शन जनकपुरकी रगभूमिमे जनकपुरवासिया एव वहाँ पधारे हुए राजाओको हुआ—

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥

जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सात सुद्ध सम सहज प्रकासा॥

अर्थात् विद्वानाको प्रभु विराट्-रूपम दिखायी दिये, जिनके बहुतसे मुँह, हाथ, पैर, नेत्र और सिर हैं। योगियाको वे शान्त, शुद्ध, सम और स्वत प्रकाश परम तत्त्वके रूपम दीखे।

मन्दोदरीने इसी पुरुषसूक्तके विराट्-रूपका वर्णन रावणसे किया था—

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।

लोक कल्पना बेद कर अग अग प्रति जासु॥

× × ×

अहकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।

मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥

(रा०च०मा० ६। १४, १५ (क))

अर्थात् रघुकुलके शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी विश्वरूप हैं। वेद जिनके अङ्ग-अङ्गम लोकाकी कल्पना करते हैं। शिव जिनके अहकार हैं, ब्रह्मा बुद्धि हे, चन्द्रमा मन हे और महान् विष्णु ही चित्त हैं। उन्हीं चराचर-रूप भगवान् श्रीरामजीने मनुष्य-रूपम निवास किया है।

काकभुशुण्डिजीने भी इसी विराट्-रूपका दर्शन किया था।

श्रीरामचरितमानस शिवजीका प्रसाद है। माता पार्वतीजीने शिवजीसे *'श्रुति सिद्धात निचोरि'* कहकर रामकथा कहनेकी प्रार्थना की थी। उसी सकल लाक-हितकारी गङ्गाजीके समान सबको पवित्र करनेवाली कथाको भगवान् शिवजीने कृपा करके पार्वतीजीको सुनाया था। शिवजीने कहा था—पहले इन्द्रियाको शुद्ध करो। अन्तर्मुखी बनो। श्रवण अज्ञात-ज्ञापक हैं। श्रवणके द्वारा ही कथाका प्रवेश होता है। मन और हृदय पवित्र होता है। यदि कानसे कथा न सुनी गयी तो वह कान साँपका बिल बन जायगा। साँपकी उपमा कामसे दी जाती है। काम—भुजग यदि कानम प्रवेश करगे तो आसुरी वृत्तियाँ हृदय और मनम अपनी जडे जमा लगी। मनुष्यके हृदयम दैवी एव आसुरी सम्पदाओका निवास है। दैवी सम्पदा मोक्ष—श्रेय-मार्गका अनुसरण करती हैं। आसुरी सम्पत्तिके लोग नरककी ओर मुडते हैं। इन्द्रियोकी उपमा घोडोसे दी गयी है। लकाकाण्डम कठोपनिषद् श्रुति-समर्थित धर्मरथकी चर्चामे भगवान्ने कहा है कि—

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥

(रा०च०मा० ६। ८०। ६)

हमारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो, बल-विवेक-दम और परहित-रूपी घोडे क्षमा, दया और समतारूपी रज्जुसे जुडे हो, तब रथ सन्मार्गपर—विकासके मार्गपर आगे बढता है।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म सतोष कृपाना॥

(रा०च०मा० ६। ८०। ७)

चतुर सारथीका ईश-भजनसे प्रेरणा मिलगी । वैराग्यके ढालसे सतोषरूपी कृपाणके द्वारा वह शत्रुओका सहार करता हुआ श्रेय-पथपर आगे बढता जायगा। परतु जो आसुरी चरित्रवाला है वह इन्द्रिय-सुखके कारण प्रेय-मार्गमे भटक जायगा। नरककी ओर मुड जायगा। अपना विनाश कर लेगा। आत्मघाती बनेगा। इसीको यजुर्वेद (४०। ३)-म इस प्रकार कहा गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
ताः स्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महना जना ॥

अर्थात् आत्मघाती मनुष्य चाहे कोई भी क्या न हो, मरनेके बाद वह असुरोके लोकाम निवास करता है, जो घार अज्ञानान्धकारसे आच्छादित है। श्रीतुलसीदासजीने भी यही बात कही है—

करनधार सदगुर दृढ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(रा०च०मा० ७। ४४। ८ ७। ४४)

हमारे कान भगवान्की कथा सुन। जिह्वा हरिनाम रटे। नेत्रासे सताका दर्शन हो। गुरु और भगवान्के सामने हम शीश झुकाएँ। हम भद्र पुरुष बन। वेद-मन्त्र इसीको ग्रहण करनेका आदेश दता है—

भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहित यदायु ॥
(यजु० २५। २१)

अर्थात् हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानासे सुन, कल्याणकारी दृश्य ही आँखासे देख और अपने दृढ अङ्गोके द्वारा शरीरसे यावज्जीवन वही कर्म कर, जिससे विद्वानाका हित हो। इन्द्रियाको सत्कर्मकी ओर लगानेसे मन भगवान्से जुड जाता है। हम शक्ति-सम्पन्न बनते हैं।

चित्रकूटकी सभाम वसिष्ठजीने भगवान् रामसे कहा था कि—

भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

अर्थात् पहले भरतजीकी विनती आदरपूर्वक सुन लीजिये फिर उसपर विचार कीजिय तब साधुमत, लाकमत राजनीति और वेदोका निचोड निकाल कर वैसा ही कीजिये।

भगवान् रामने अन्तमे सार-तत्त्वकी शिक्षा दी—

मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥
(रा० च० मा० २। ३०६। २-३)

वेदाकी शिक्षा 'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव, आचार्यदेवा भव' का पूर्ण पालन करनेकी आज्ञा दी।

वेदाम वर्णित विद्या-अविद्याकी व्याख्या लक्ष्मणजीके ज्ञान, वैराग्य एव भक्तिक प्रसगम द्रष्टव्य है। भगवान् श्रीरामने श्रीलक्ष्मणजीके समक्ष अरण्यम विद्या और अविद्याकी साङ्गोपाङ्ग व्याख्या की है। जब लक्ष्मणजीने पूछा—

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥
(रा०च०मा० ३। १४)

तब भगवान्ने समाधान किया—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥
(रा०च०मा० ३। १५)

तुलसी-साहित्यम 'मानस' एव 'विनय-पत्रिका' विशेषरूपसे जन-जनका कण्ठहार बन गया है। वैसे उनके सभी द्वादश ग्रन्थ ज्ञान-भक्तिभाव-सम्पन्न हैं, उनका अध्ययन भी होता है। अत —*'को बड़ छोट कहत अपराधू।'*

तुलसीदासजीने अपनी रचनाआम सर्वत्र वेदोके यज्ञिय सस्कृतिकी रक्षा की है। जैसे—ऋषियाके आश्रमामें जाना तथा लङ्का-विजय एव सिहासनारूढ होनेपर सर्वत्र ऋषियाको पूर्ण आदरके साथ सम्मान देना आदि।

अन्तम श्रीतुलसीदासजीकी ज्योतिष्मती प्रज्ञाको प्रणाम है, जिन्होने साधारणजनक स्वर-म-स्वर मिलाकर भगवान्को प्रणाम किया—

मो मम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥
(रा०च०मा० ७। १३० (क))

श्रीतुलसीदासजी वेदाके निष्णात पारगत विद्वान् थे। वेदके विद्वानाको जो लाभ वेदाके अध्ययनसे प्राप्त होता है, वही फल तुलसी-साहित्यके अध्ययन करनेवालेको प्राप्त हाता है। श्रीतुलसीदासजीरचित द्वादश ग्रन्थ भक्ताके लिये कामतरु एव कामधेनुके समान है। यही कारण है कि श्रीरामचरितमानस, विनय-पत्रिका आदि ग्रन्थाका पठन-पाठन झोपडीसे लेकर महलोतक साधारणजनसे लेकर विद्वान्तक समान श्रद्धा-भावसे करते हैं। वेदोंके (अर्थ बोधके) साथ मनोयागपूर्वक तुलसी-साहित्यके अध्ययन एव आचरणसे अध्येताको लाक-सुयश एव परलोकमे सद्गति अवश्य मिलेगी ऐसा हम सबको पूर्ण विश्वास है।

(डॉ० श्रीओ३म्प्रकाशजी द्विवेदी)

वेद अनादि एवं नित्य हैं

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणपर निर्भर होती हे। प्रमाणशून्य विचारवाद, सिद्धान्त सव अप्रामाणिक, भ्रान्त, विनश्वर और हेय भी समझे जाते हैं। जैसे रूप जाननेके लिय निर्दोष चक्षु, गन्धके लिये घ्राण, शब्दके लिये श्रोत्र, रसके लिये रसना स्पर्शके लिये त्वक् और सुख-दु खके लिये मन-प्रमाण अपेक्षित है, वैसे ही अनुमेय प्रकृति, परमाणु आदिके ज्ञानके लिये हेत्वाभासापर अनाधृत, व्यभिचारादि-दोषशून्य व्याप्तिज्ञान या व्याप्य हेतुपर आधृत अनुमान अपेक्षित होता है। ठीक इसी प्रकार धर्म, ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय और अननुमेय पदार्थोके ज्ञानके लिये स्वतन्त्र शब्द-प्रमाण अपेक्षित है। ससारम सर्वत्र पिता-माताको जाननेक लिये पुत्रको शब्द-प्रमाणकी आवश्यकता होती है। न्यायालयाके लेखा एव साक्षियाके शब्दाक आधारपर ही आज भी सत्यका निर्णय किया जाता है।

फिर भी वैदिक शब्द-प्रामाण्य उनसे विलक्षण ह। कारण, लोकम शब्द कहीं भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होते, वे प्रत्यक्ष एव अनुमानपर आधृत हाते हैं। उनके आधारभूत प्रत्यक्ष तथा अनुमानम दोष होने अथवा वक्ताके भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा करणपाटव आदि दोपासे दूपित होनेके कारण उनमे कहीं अप्रामाण्य भी सम्भव होता है। दोपशून्य प्रत्यक्षादि प्रमाणापर आधृत समाहित निर्दोप आप्त वक्ताके शब्दोका ही प्रामाण्य होता है।

कितु अपौरुपेय मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद तो सदा प्रमाण ही होते हैं, अप्रमाण नहीं। शब्दका प्रामाण्य सर्वत्र मान्य है, उसका अप्रामाण्य वक्ताके भ्रम-प्रमादादि दापापर ही निर्भर होता है। यदि कोई एसे भी शब्द हा जो किसी वक्तासे निर्मित न हा तो उनके वक्तृदोपसे दूपित न होनके कारण अप्रामाण्यका कारण न होनेसे सुतरा उनका स्वत प्रामाण्य मान्य हाता हें। ऐस ही उपमान अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भी मान्य ह। ऐतिह्य-चेष्टा आदि काई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं, क्याकि प्रवाद या एतिह्य यदि आप्त-परम्परासे प्राप्त हैं तो वे आप्त वाक्यमे ही आ जात हैं और चेष्टादि आन्तर भावाके अनुमापक होनेसे अनुमानम ही निहित समझ जात ह।

जिन शब्दो या वाक्याका पठन-पाठन एव तदर्थानुष्ठान अविच्छिन्न अनादि सम्प्रदाय-परम्परासे प्रचलित हो और जिनका निर्माण या निर्माता प्रमाण-सिद्ध न हो, ऐसे वाक्य या ग्रन्थ अनादि एव अपौरुपेय ही होते ह। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि इसी दृष्टिकोणसे अनादि एव अपौरुपेय मानी जाती है। गो, घट, पट आदि बहुतसे शब्द भी, जिनका निर्माण प्रमाण-सिद्ध नहीं है और जो अनादिकालसे व्यवहारम प्रचलित हैं, नित्य माने जाते हे।

नैयायिक, वैशेपिक आदिके मतानुसार यद्यपि वर्ण एव शब्द सभी अनित्य ही हे तथापि पूर्वोत्तर मीमासकोकी दृष्टिसे वर्ण नित्य ही होते ह। क्याकि—'अ क च ट त प' आदि वर्ण प्रत्यक उच्चारणम एकरूपसे ही पहचाने जाते हैं। अवश्य ही कण्ठ-तालु आदिके भेदसे ध्वनियाम भेद भासता है, अत ध्वनियाक अनित्य होनेपर भी वर्ण सर्वत्र अभिन्न एव नित्य हैं। नियत वर्णोकी नियत आनुपूर्वीको ही 'शब्द' एव नियत शब्दोकी नियत आनुपूर्वीको 'वाक्य' कहा जाता है। यद्यपि वर्णोके नित्य एव विभु होनसे उनका देशकृत तथा कालकृत पौर्वापर्य असम्भव ही होता है और पौर्वापर्य न होनेसे शब्द एव वाक्य-रचना असम्भव ही हे, तथापि कण्ठ-ताल्वादिजनित वर्णोकी अभिव्यक्तियाँ अनित्य ही होती हैं। अत उनका पौर्वापर्य सम्भव है और उसीके आधारपर पदत्व तथा वाक्यत्व भी बन जाता है।

यद्यपि वर्णाभिव्यक्तियाके अनित्य होनेसे पदों एव वाक्याकी भी अनित्यता ही ठहरती है, तथापि जिन पदा एव वाक्याका प्रथम उच्चारयिता या पूर्वानुपूर्वी-निरपेक्ष-आनुपूर्वी निर्माता प्रमाण-सिद्ध नही, उन पदा एव वाक्योको प्रवाहरूपसे नित्य ही माना जाता हे। 'रघुवश' आदिके प्रथम आनुपूर्वी-निर्माता या उच्चारयिता कालिदास आदि हैं, किंतु वेदाका अनादि अध्ययन-अध्यापन अनादि आचार्य-परम्परास ही चलता आ रहा है। अत उनका निर्माता या प्रथमोच्चारयिता कोई नहीं हे। 'रघुवश' आदिके उच्चारयिता हम-जैसे भी हा सकत हें, पर प्रथम उच्चारयिता कालिदासादि ही ह, हम लाग तो पूर्वानुपूर्वीस सापक्ष हाकर ही

उच्चारयिता हैं, निरपेक्ष नहीं। किंतु वेदोंका कोई भी निरपेक्ष उच्चारयिता या प्रथम उच्चारयिता नहीं है। सभी अध्यापक अपने पूर्व-पूर्वके अध्यापकोंसे ही वेदका अध्ययन या उच्चारण करते हैं, इसलिये वेद अनादि एवं नित्य माने जाते हैं।

गो, घट आदि शब्दोंका नित्यत्व वैयाकरण एवं पूर्वोत्तर मीमांसक भी मानते हैं और शब्दकी शक्ति भी जातिमें मानते हैं। इसीलिये शब्द और अर्थका सम्बन्ध शक्ति या संकेत भी उन्हें नित्य ही मान्य है।

यद्यपि 'डित्थ', 'डवित्थ' आदि यदृच्छा-शब्दोंके समान कुछ शब्द सादि भी होते हैं, तथापि तद्भिन्न पुण्यजनक सभी साधु-शब्द अनादि एवं नित्य ही होते हैं। हम अनादि कालसे ही गो, घट आदि शब्दों और उनके अर्थोंके सम्बन्धोंका ज्ञान वृद्ध-व्यवहार-परम्परासे प्राप्त करते हैं। इनमें शक्ति-ग्राहकहेतु व्याकरण, काव्य, कोष आदिमें वृद्ध-व्यवहार ही मूर्धन्य माना जाता है। धूम-वह्निका सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध है तथा धूम-वह्निका व्याप्ति-सम्बन्ध ज्ञात होनेपर ही धूमसे वह्निका अनुमान होता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह शब्द एवं अर्थका स्वाभाविक सम्बन्ध होनेपर भी व्यवहारादिद्वारा सम्बन्ध-ज्ञान होनेपर ही शब्द भी स्वार्थका बोधक होता है। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक आदि शब्द एवं अर्थके सम्बन्ध ईश्वरकृत होनेसे शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्धको अनित्य ही मानते हैं, तथापि सृष्टि-प्रलयकी परम्परा अनादि होनेसे सभी सृष्टियोंमें सम्बन्ध समानरूपसे रहते हैं। अतः उनके यहाँ भी शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्ध प्रवाहरूपसे नित्य ही होते हैं।

पूर्वोत्तर मीमांसक वर्ण, पद एवं पद-पदार्थ-सम्बन्ध तथा वाक्य एवं वाक्य-समूह वेदको भी नित्य मानते हैं।

इतिवृत्तवेत्ता भी संसारके पुस्तकालयोंमें सर्वप्राचीन पुस्तक 'ऋग्वेद' को ही मानते हैं। लोकमान्य तिलकने 'ओरायन' में युधिष्ठिरसे भी हजारों वर्ष पूर्व वेदोंका अस्तित्व सिद्ध किया है। श्रीदीनानाथ चुलैटने कई मन्त्रोंको लाखों वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है।

मनु, व्यास, जैमिनि प्रभृति ऋषियों तथा स्वयं वेदने भी वेदवाणीको नित्य कहा है—

'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे'॥

(मनु० १। २१)

'अतएव च नित्यत्वम्' (ब्र०सू० १। ३। २९)

'वाचा विरूप नित्यया' (ऋक्० ८। ७५। ६)

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'

(जैमिनि० सूत्र १। ५)

वाक्यपदीयकारके अनुसार प्रत्येक ज्ञानके साथ सूक्ष्मरूपसे शब्दका सहकार रहता है। कोई भी विचारक किसी भाषामें ही विचार करता है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।'

(वाक्यपदीय १। १२३)

'जानाति, इच्छति, अथ करोति' के अनुसार ज्ञानसे इच्छा एवं इच्छासे ही कर्म होते हैं—'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।' अतः सृष्टि-निर्माणके लिये सर्वज्ञ ईश्वरको भी ज्ञान, (विचार) इच्छा एवं कर्मका अवलम्बन करना पड़ता है। जिस भाषामें ईश्वर सृष्टिके अनुकूल ज्ञान या विचार करता है, वही भाषा वैदिक भाषा है। ईश्वर एवं उसका ज्ञान अनादि होता है। अतएव उसके ज्ञानके साथ होनेवाली भाषा और शब्द भी अनादि ही हो सकते हैं। वे ही अनादि वाक्य-समूह 'वेद' कहलाते हैं। बीज और अंकुरके समान ही जाग्रत्-स्वप्न, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय तथा कर्म एवं कर्मफलकी परम्परा भी अनादि ही होती है। अनादि प्रपञ्चका शासक परमेश्वर भी अनादि ही होता है। अनादिकालसे शिष्ट (शासित) जीव एवं जगत्पर शासन करनेवाले अनादि शासक परमेश्वरका शासन-संविधान भी अनादि ही होता है। वही शासन-संविधान 'वेद' है।*

[प्रेषक—प्रा० श्रीबिहारीलालजी टाटिया]

---

* विशेष जानकारीके लिये लेखकद्वारा विरचित ग्रन्थ 'वेदप्रामाण्य-मीमांसा' 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' (भाग २) और 'वेद-स्वरूप-विमर्श' (संस्कृत) द्रष्टव्य हैं।

वेदकी उपादेयता

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

'यस्य निश्वसित वेदा ' उस परब्रह्म परमात्माके नि श्वासभूत वेदोका प्रादुर्भाव प्रगल्भ तप और प्रखर प्रतिभापूर्ण महर्षियोके अविच्छिन्न ज्ञानद्वारा स्वत प्रस्फुटित शब्दराशिसे हुआ। मानव उसी ज्ञानसे धर्माधर्म, आवास-निवास, आचार-विचार, सभ्यता-सस्कृतिका निर्णय करता हुआ गूढ अध्यात्म-तत्त्वाका विवेचन कर ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदयका भागी बना और बन सकता है। जिस प्रकार शब्दादिज्ञानके लिये चक्षु आदि इन्द्रिय-वर्ग अपेक्षित होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणाद्वारा अगम्य एव अज्ञात तत्त्वाके ज्ञापनार्थ वेदकी आवश्यकता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एन विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

बडे-से-बडा तार्किक अपनी प्रबल शक्तिद्वारा पदार्थकी स्थितिका प्रयत्न करता हुआ अन्य प्रबल तार्किककी प्रतिभापूर्ण बुद्धिके द्वारा उपस्थापित तर्कसे स्वतर्कको निस्तत्त्व मानकर अपने प्रामाण्यार्थ वेदकी शाखामे जाते देखा गया है। इसीलिये 'स्वर्गकामो यजेत', 'कलञ्ज न भक्षयेत्' इत्यादि वेदवाक्याद्वारा प्रतिपादित विहित प्रवर्तन, निषिद्ध निवर्तनम कोई भी तर्क अग्रसर नहीं किया जा सकता। सध्योपासन धर्मजनक है, सुरापान अधर्मोत्पादक है, इसकी सिद्धि वेदवाक्यातिरिक्त अन्य किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे गम्य नहीं, इसलिये वेदकी आवश्यकता है। वेदकी प्रामाणिकतापर विश्वास करनेवाला 'आस्तिक' और वेदविरुद्ध प्रामाणिकतापर विश्वास करनेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। इसीलिये कोषकार अमरसिहने भी 'नास्तिको वेदनिन्दक ' लिखा है। आस्तिक सम्प्रदायवाले वेदनिन्दक ईश्वरावतारपर भी विश्वास नहा करते और न वे उनको मान्यता ही देते है।

वेदका स्वाध्याय

इसीलिये आस्तिक-वर्गने वेदके स्वाध्यायको अपनाया। शतपथ-ब्राह्मणम लिखा है कि—

'यावन्त ह वै इमा पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोक जयति, त्रिभिस्तावन्त जयति, भूयासञ्च अक्षय्यञ्च य एव विद्वानहरह स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य ।'

अथात् जा व्यक्ति रत्नास परिपूर्ण समस्त पृथिवीका दान कर देता है, उस दानसे उत्पन्न पुण्यकी अपेक्षा वेदके स्वाध्यायसे उत्पन्न हुआ पुण्य कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इतना ही नहीं, मनु महाराजने तो यहाँतक क॰। है कि—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(मनु० १२। १०२)

तात्पर्य यह कि वेदादि शास्त्राके अर्थ-तत्त्वको जाननेवाला ब्राह्मण जिस किसी भी स्थान और आश्रमर्म निवास कर, उसे ब्रह्मतुल्य समझना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिन भी कहा है—

'ब्राह्मणन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च,
मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते।'
(महाभाष्य १। १। १)

ब्राह्मणको बिना किसी प्रयोजनक छ अङ्गा-सहित वेदका अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार अध्ययन कर शब्दप्रयोग करनेवालेके माता-पिता इस लोक और परलोकम महत्ता प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो ब्राह्मण वेदाध्ययनमे प्रवृत्त न होकर इधर-उधर परिभ्रमण (व्यर्थ परिश्रम) करता है, उसकी निन्दा स्वय मनु महाराजने भी की है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय ॥
(मनु० २। १६८)

इस वाक्यके अनुसार जो द्विज वेदातिरिक्त अन्य पठन-पाठन (शिल्पकला आदि)-म परिश्रम करता है, वह सवश जीवित ही शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थितिम द्विजाति-मात्रको स्वधर्म समझकर वेदाध्ययनमे प्रवृत्त होना चाहिये।

अधिकार

सभी धार्मिक ग्रन्थाम वेदाध्ययनका अधिकार द्विजको ही दिया गया हे, द्विजतरको नहीं। इसका मुख्य कारण हे वेदशास्त्रकी आज्ञा—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि' अर्थात् 'विद्या ब्राह्मणके समीप जाकर बोली—मेरी रक्षा कर में तेरी निधि हूँ'। वह अन्यके पास नहीं गयी, क्याकि मुख्यत ब्राह्मण ही विद्याके रक्षक हे—वेदरूपी कोषका कोषाध्यक्ष ब्राह्मण ही हे। दूसरी बात यह है कि 'उपनीय गुरु शिष्य वेदमध्यापयद् विधिम्' गुरु शिष्यका उपनयन-सस्कार कर विधिपूर्वक शौचाचार-शिक्षणद्वारा

वेदाध्ययन कराये। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा। एकादशवर्षं राजन्यम्। द्वादशवर्षं वैश्यम्' (पा० गृ० सू० २। २। १—३)—इन वाक्याद्वारा त्रिवर्णका ही उपनयन-सस्कार वदादि सत्-शास्त्राद्वारा हा सकता है। जब द्विजेतराका उपनयन-सस्कार ही नहीं, तव उनके लिय उपनयनमूलक वेदाध्ययनकी चर्चा वहुत दूर रह जाती है। चतुर्थ वर्णक व्यक्तियाका कला, कौशल, दस्तकारी आदिकी शिक्षाका विधान किया गया है। शास्त्रपर विश्वास न करनेवालाके विषयम क्या कह, व तो ईश्वरके दया-पात्र ही हैं।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
य तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या सयोजयन्ति तम्॥

जिस वर्ग, समाज और व्यक्तिकी रक्षा भगवान्‌को इष्ट होती है, उसकी बुद्धि व शुद्ध कर दत ह। वह व्यक्ति बुद्धिसे पदार्थका निर्णय कर प्रवृत्ति-निवृत्तिका निश्चय करनेके योग्य वन जाता है।

वैदिक धर्म और सस्कृति

वैदिक कालम अधिकाशम स्वाध्याय और अध्ययनमे ही समय व्यतीत हाता था। समयका दुरुपयाग करनेवाले चल-चित्रादि साधन उस समय नहीं थ। कुछ लोग गृहस्थ-जीवन वनाकर इन्द्रादि देवाकी ऋक्-सूक्ताद्वारा उपासना करते तथा वैदिक कर्मकाण्डका आश्रय ग्रहण करते और स्वय उत्पन्न नीवार आदिस जीवन-निर्वाह करत थे। इनके छाटे-छोटे बालकाका राजसूय, अश्वमध आदि यज्ञाकी प्रक्रिया कण्ठस्थ रहती थी तथा इनका जीवन विचार-प्रधान हाता था। आडम्वरका गन्ध भी नहीं था। नदिया और उपवनाके स्वच्छ तटापर रहकर स्वाध्याय करत हुए आत्मचिन्तन करना ही इनका परम लक्ष्य था। आनवाली विपत्तियाका प्रतिकार वे दैवी उपायास करते थे। व अपने प्रतिद्वन्द्वी दस्युआपर विजय प्राप्त करनक लिये इन्द्र आदि दवताआकी स्तुति करते थे आर अपनी रक्षाम सफल होते थे। उस समयकी प्रजा सत्त्वगुण-प्रधान थी।

वर्तमान

आज हमारा समाज वैदिक परम्पराको अनुपादेय समझ कर उसका परित्याग करता चला जा रहा है। वेदिक केवल मन्त्रोच्चारण मात्रसे ही कृतकृत्य हो जाते हैं। अङ्गाके अध्ययनकी ओर उनकी रुचि ही नही है। वैयाकरण और साहित्यिकाका थाडस सूत्रा तथा कुछ मनारजक पद्योपर ही पाण्डित्य समाप्त हो जाता है। पहले विद्वानाकी प्रतिभा और उनका परिश्रम सर्वतामुखी होता था, अत इस सम्बन्धम सबको सावधानी बरतनी चाहिये।

वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्या सप्त धामभि ॥
इद विष्णुर्वि चक्रम त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पासुरे॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य । अतो धर्माणि धारयन्॥
विष्णो कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्य सखा॥
तद् विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय । दिवीव चक्षुराततम्॥
तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवास समिन्धते। विष्णोर्यत् परम पदम्॥

(ऋक्० १। २२। १६—२१)

जिस भू-प्रदशसे अपने साता छन्दाद्वारा विष्णुने विविध पाद-क्रम किया था उसी भू-प्रदेशसे दवता लोग हमारी रक्षा कर। विष्णुन इस जगत्‌की परिक्रमा की उन्हाने तीन प्रकारसे अपने पेर रख और उनक धूलियुक्त परस जगत् छिप-सा गया। विष्णु जगत्‌क रक्षक ह, उनको आघात करनेवाला कोई नही है। उन्हाने समस्त धर्मोको धारण कर तीन पगामे परिक्रमण किया। विष्णुक कर्मोक वलसे हा यजमान अपने व्रताका अनुष्ठान करते है। उनक कर्मोका दखो। वे इन्द्रके उपयुक्त सखा हैं। आकाशम चारा आर विचरण करनवाली आँख जिस प्रकार दृष्टि रखती ह उसी प्रकार विद्वान् भी सदा विष्णुक उस परम पदपर दृष्टि रखते ह। स्तुतिवादी आर मधावा मनुष्य विष्णुक उस परम पदस अपने हृदयको प्रकाशित करत ह।

वेद ही सदाचारके मुख्य निर्णायक

(शृङ्गेरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराज)

वेदामे आया है कि यदि कोई मनुष्य साङ्ग समग्र वेदाम पारगत हो, पर यदि वह सदाचारसम्पन्न नहीं है तो वेद उसकी रक्षा नहीं करगे। वेद दुराचारी मनुष्यका वैसे ही परित्याग कर देते हे, जैसे पक्षादि सर्वाङ्गपूर्ण नवशक्तिसम्पन्न पक्षि-शावक अपने घासलेका परित्याग कर दते हे। प्राचीन ऋषियोने अपनी स्मृतियोम वेदविहित सदाचारके नियम निर्दिष्ट किये हैं और विशेष आग्रहपूर्वक यह विधान किये हें कि जो कोई इन नियमोका यथावत् पालन करता है, उसके मन और शरीरकी शुद्धि होती है। इन नियमाके पालनसे अन्तम अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता हे। परतु व्यवहार-जगत्मे इस बातका एक विरोध-सा दीख पडता हे। जो लोग सदाचारी नही हें, वे सुखी और समृद्ध दीखते हैं तथा जो सदाचारके नियमोका तत्परताके साथ यथावत् पालन करते हैं, वे दु खी और दरिद्र दीखते हैं, परतु थाडा विचार करने आर धर्मतत्त्वको अच्छी तरहसे समझनेका प्रयत्न करनेपर यह विरोधाभास नहीं रह जाता। हिदू-धर्म पुनर्जन्म और कर्मविपाकक सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित है। कुछ लोग जो सदाचारका पालन न करते हुए भी सुखी-समृद्ध दीख पडते हें, इसम उनके पूर्वजन्मके पुण्यकर्म ही कारण हैं और कुछ लोग जो दु खी हैं, उसम उनके पूर्वजन्मके पाप ही कारण हैं। इस जन्मम जो पाप या पुण्यकर्म बन पडगे, उनका फल उन्हे इसके बादके जन्माम प्राप्त होगा।

इस समयका कुछ ऐसा विधान है कि बड-बडे गम्भीर प्रश्नोके निर्णय उन लोगाक बहुमतसे किये-कराये जाते ह, जिन्हे इन प्रश्नाके विषयम प्राय कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। ओरकी बात तो अलग, राजनीतिक जगत्से सम्बन्ध रखनेवाले विषयाम भी यह पद्धति सही कसाटीपर खरी सिद्ध नहीं होती, फिर धर्म और आचारके विषयम एसी पद्धतिस काम लेनेका परिणाम तो सर्वथा विनाशकारी ही होगा। जो आत्मा चक्षु आदिसे अलक्षित आर भौतिक शरीरसे सर्वथा भिन्न है, साथ ही अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अचिन्त्य है, उसके अस्तित्वके विषयमे सदेह उठे तो उसका निराकरण केवल बुद्धिका सहारा लनेसे केस हो सकेगा ? एसी शकाका निराकरण ता वेदाद्वारा तथा उन सद्ग्रन्था एव सत्-युक्तियाद्वारा ही हो सकता है जो वेदोके आधारपर रचित हैं।

इसी प्रकार यदि अज्ञानी लोग अपने विशाल बहुमतक बलपर निर्णय कर दे कि अमुक बात धर्म है, तो उनके कह देने मात्रसे कोई बात धर्म नहीं हो जाती। सदाचार वह हे, जिसका वेद-शास्त्राने विधान किया है, जिसका सत्पुरुष पालन करते हैं तथा जो लाग एसे सदाचारका आचरण करते हैं, उन्हे यह सदाचार सुखी-सोभाग्यशाली बनाता है। इसके विपरीत अनाचार वह है, जो वद-विरुद्ध है तथा जिसका सदाचारी पुरुष परित्याग कर देते हें। जो लोग ऐसे अनाचारमे रत रहते हें, उनका भविष्य कभी अच्छा नहीं होता।

विद्याध्ययनका सम्पन्न कर जब विद्यार्थी गुरुकुलसे विदा होते हैं, तब गुरु उन्हे यह उपदेश देते हैं—

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्यु । यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथा ।

(तेत्तिरीयापनिषद्, अनु० ११ शीक्षावल्ली)

'यदि तुम्हे अपन कर्मक विषयम अथवा अपने आचरणक विषयमे कभी कोई शका उठे तो वहाँ जो पक्षपातरहित विचारवान् ब्राह्मण हा, जो अनुभवी, स्वतन्त्र सोम्य धर्मकाम हा, उनके जैसे आचार हा, तुम्हे उन्हीं आचारोका पालन करना चाहिये।'

यह बहुत ही अच्छा होगा यदि बच्चाको बचपनसे ही ऐसी बुरी आदते न लगने दी जायँ, जैसे मिट्टाकी गोलियासे खलना या दाँतासे अपन नख काटना। विशेषत बडाके सामन बच्च ऐसा कभी न कर। मनु (३। ६३—६५)-का कथन हे कि ऐसे असदाचारी लोगाक कुटुम्ब नष्ट हा जाते हें। हमार ऋषि सध्या-वन्दन आर सदाचारमय जीवनक कारण अमृतत्वका प्राप्त हुए। इसी प्रकार हम लाग भा अपने जीवनम सदाचारका पालन करके सुख-समृद्धि आर दार्घजीवनका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। सदाचारके नियम मूलत वदाम हें।

अन्तमे यहाँ हिदुआक, वैदिक और लाकिक—इस प्रकार जा भद किय जाते हें, उसक विषयम भी हम दा शब्द कहना है। वह यह कि इस प्रकारका वर्गीकरण बहुत ही भद्दा आर गलत है। हिंदू-धर्मम एसा कोई वगभेद नहीं ह। सभी हिंदू वेदिक हें और सबको ही सदाचारके उन नियमाका पालन करना चाहिये, जा वर्ण आर आश्रमके अनुसार मूल वदग्रन्थाम विहित हें।

वेदका अभेदपरत्व

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

प्रश्न—क्या वेदका तात्पर्य—प्रतिपाद्य भेद है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है। प्रमाणान्तरसे सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेपर वेद अज्ञातज्ञापक प्रमाण नहीं रहेगा, दूसरे प्रमाणसे सिद्ध पदार्थका अनुवादक हो जायगा। जो वस्तु साक्षीके अनुभवसे ही सिद्ध हो रही है, उसकी सिद्धिके लिये वेदतक दौड़नेकी क्या आवश्यकता है? वेद ऐसी वस्तु बताता है, जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदिसे सिद्ध नहीं होती। वेद साक्षीमात्रका भी प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि वह तो स्वतः सिद्ध है और सबका प्रकाशक है। वेदका वेदत्व साक्षीको ब्रह्म बतानेसे ही सफल होता है।

वस्तुतः बात यह है कि परिच्छिन्न स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंसे अभेद अथवा तादात्म्य होना अज्ञानका लक्षण है। दृश्य, साक्ष्य अथवा भेदमात्रसे अपनेको पृथक् द्रष्टा जानना विवेक है। इस पृथक्त्वमें भिन्नत्व अनुस्यूत है। जड़से चेतन आत्मा भिन्न है। यह भिन्नत्वकी भ्रान्ति भी अज्ञानकृत है। वेद प्रमाणान्तरसे अज्ञात आत्माकी अपरिच्छिन्नता—अद्वितीयताका बोध करा देता है। आत्मा होनेसे चेतन है, ब्रह्म होनेसे अपरिच्छिन्न—अद्वितीय है। इस ऐक्यके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, भेद बाधित हो जाता है। यह अज्ञानकी निवृत्ति और बाधित भेद भी आत्मस्वरूप ही है, क्योंकि वह अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है। प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुका बोध करानेके कारण ही श्रुतिका वास्तविक प्रामाण्य है।

प्रश्न—तब क्या भेद सत्य नहीं है?

उत्तर—कदापि नहीं। भेद सर्वथा मिथ्या है परिच्छिन्नके तादात्म्यसे ही वह सत्य भासता है। जिस अधिष्ठानमें भेद भास रहा है, उसीमें उसका अत्यन्ताभाव भी भास रहा है। अपने अभावके अधिष्ठानमें भासना ही मिथ्याका लक्षण है। इसलिये यह युक्ति बिलकुल ठीक है—'भेदा मिथ्या स्वभावाधिकरणे भासमानत्वात्'। यह अनुभवसिद्ध है कि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद मिथ्या हो जाता है। इसलिये वेदका तात्पर्य मिथ्या-भेदके प्रतिपादनमें नहीं है प्रत्युत भेदके भाव और अभावके अनुकूल शक्ति मायाके अधिष्ठानके प्रतिपादनमें है।

प्रश्न—तब क्या भेदके प्रतिपादनसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती?

उत्तर—भेदके प्रतिपादनसे अर्थ-धर्म-कामरूप तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, परंतु मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती। भेदमें परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति दुःख है, अहंकार दुःख है, राग-द्वेष दुःख हैं और जन्म-मरण भी दुःख हैं। भेदमें समाधि-विक्षेप नहीं छूटते, सुख-दुःख नहीं छूटते, पाप-पुण्य नहीं छूटते और संयोग-वियोग भी नहीं छूटते, इसलिये भेदमें जन्म-मरणका चक्र अव्याहतरूपसे चलता रहता है। अतएव मुक्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि भेदसे नहीं हो सकती। मुक्ति स्वयं आत्माका स्वरूप ही है। ज्ञानरूपसे उपलक्षित आत्मा ही अज्ञानकी निवृत्ति है। निवृत्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, इसलिये मुक्तिमें प्राप्य-प्रापकभाव, साध्य-साधनभाव आदि भी नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्रुतिका तात्पर्य भेदके प्रतिपादनमें नहीं है क्योंकि भेदकी सिद्धिसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—फिर भेद-प्रतिपादक श्रुतियोंका क्या होगा?

उत्तर—भेद-प्रतिपादक श्रुतियाँ अविरक्त अधिकारीके लिये हैं। उनसे लौकिक-पारलौकिक सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वे व्यष्टि-समष्टिका कल्याण करती हैं, अन्तःकरणको शुद्ध करती हैं मुमुक्षुको ज्ञानोन्मुख करती हैं। इसलिये व्यवहारमें उनका बहुत ही उपयोग है, परंतु जहाँ वस्तुकी प्रधानतासे परमार्थ-तत्त्वका निरूपण है, वहाँ श्रुतियाँ भेदको ज्ञाननिवर्त्य होनेसे मिथ्या बताती हैं। जो वस्तु अज्ञानसे निवृत्त होती है, वह भी मिथ्या ही होती है। अतएव सर्वाधिष्ठान सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे तद्विषयक अज्ञानकृत सर्वभेदकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

बात यह है कि केवल इन्द्रिययन्त्रोंसे तत्त्वका अनुसंधान करनेपर मात्र एक या अनेक जड़ सत्ताकी ही सिद्धि होती है। चिद्वस्तु यन्त्रग्राह्य नहीं है। केवल बुद्धिसे अनुसंधान करनेपर बुद्धिकी शून्यता ही परमार्थरूपसे उपलब्ध होती है क्योंकि विचार-विक्षेपात्मक बुद्धिका अन्तिम सत्य निर्वाणात्मक शून्य ही है। भक्तिभावनायुक्त बुद्धिके द्वारा अनुसंधान करनेपर सर्वप्रमाण-प्रमेय-व्यवहारके मूलभूत सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वरकी सिद्धि होती है। ऐसी स्थितिमें स्वतःसिद्ध साक्षीको अपरिच्छिन्न—अद्वितीय ब्रह्म बतानेके लिये कोई इन्द्रिययन्त्र या भाव-भक्ति समर्थ नहीं है। उसका ज्ञान केवल औपनिषद-ऐक्यबोधक महावाक्यसे सम्पन्न होता है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

(ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजकी अमृत-वाणी)

वेद विश्वका प्राचीनतम वाङ्मय है। भारतकी सनातन मान्यताओंके अनुसार वेद अपौरुषेय अथवा सर्वज्ञ स्वयं भगवान्‌की लोकहिताय रचना है। शास्त्रोंमें सम्पूर्ण वेदका धर्मके मूलरूपमें आख्यान किया गया है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। उदयनाचार्यने सम्पूर्ण वेदको परमेश्वरका निरूपक माना है। उनका कहना है—

कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।

भट्टपादने वेदकी वेदता इस बातमें मानी है कि लोकहितका जो उपाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे नहीं जाना जा सकता, उसका ज्ञान वेदसे होता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेदकी समस्त शिक्षाएँ सार्वभौम हैं। वेदभगवान् मानवमात्रको हिन्दू, सिख, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि कुछ भी बननेके लिये नहीं कहते। वेदभगवान्‌की स्पष्ट आज्ञा है—'मनुर्भव' अर्थात् मनुष्य बनो। आज हमारी मनुष्यता पाश्चात्य धूमिल संस्कृतिके संसर्गसे संक्रमित हो गयी है। अहर्निश यह तथाकथित मानव-समाज स्वसाधनमें संलग्न है। सैकड़ों वैदिक मन्त्रोंमें भगवान् नारायणका विराट् और परम पुरुषके रूपमें चित्रण किया गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(ऋक्० १०। ९०। १)

इस विश्वके असंख्य प्राणियोंके असंख्य सिर, आँख और पैर उस विराट् पुरुषके ही सिर, आँख तथा पैर हैं। विश्वमें सर्वत्र परिपूर्ण और सभी शरीरोंमें प्राणिमात्रके हृदयदेशमें विराजमान वे पुरुष निखिल ब्रह्माण्डको सब ओरसे घेरकर दृश्य-प्रपञ्चसे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त हैं।

अतः सर्वभूतमय ईश्वरकी अवधारणा प्रगाढ करनेके लिये ही वेदोंमें प्रार्थना की गयी है—'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।' सभी दिशाएँ मेरे मित्र हो जायँ। 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' हम सभी प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखें—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्ववेद ३। ३०। १)

ईश्वरने हमें सहृदय, एक मनवाला बिना द्वेषके बनाया है। हम एक-दूसरेसे ऐसे स्नेह करें, जैसे गाय अपने नवजात बछड़ेसे करती है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋक्० १०। १९१। ४)

हम सबके जीवनका लक्ष्य एक हो, हृदय और मन एक हो, ताकि मिलकर जीवनमें उस एक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

मानवधर्मका ऐसा उच्चतम, श्रेष्ठतम और वरणीय-ग्रहणीय स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ है। वैदिक धर्म हमें सुख-शान्ति, समाजमें समृद्धि, सेवा-भावना, सामञ्जस्य, सहयोग, सत्याचरण, सदाचरण, संवेदनासे परिपूर्ण हृदय और मननशील मनुष्य बननेकी ओर उत्प्रेरित करता है।

वेदमें इसी भावनाको दृढ किया गया है कि एक ही आत्मतत्त्व प्रत्येक पदार्थमें प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे अभिहित हो रहा है, अतएव समग्र ब्रह्माण्ड एक ही तत्त्वसे अधिष्ठित है। वेद-संस्कृतिको वैष्णव संस्कृति इसलिये कहा गया है कि विष्णुमें ब्रह्मके सभी गुणोंका समावेश हो गया है—

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।'

(ऋक्० १०। ९०। २)

वेद-विद्या भारतीय संस्कृतिका पहला प्रतीक है। वेद-विद्या त्रयीविद्या कहलाती है। ऋक्, यजु और साम ही त्रयीविद्या हैं। त्रयीविद्याका सम्बन्ध अग्नित्रयसे है। अग्नि, वायु और आदित्य—ये तीन तत्त्व ही विश्वमें व्याप्त हैं। पुरुष ब्रह्मके तीन पैर ऊपर हैं और एक पैर विश्व है। त्रयीविद्याके समान ज्ञान, कर्म और उपासनाका त्रिक वेद-विद्याका दूसरा स्वरूप है, जिसके माध्यमसे वेद ब्रह्मकी सत्, चित् और आनन्द—इन तीन विभूतियोंकी अभिव्यक्ति हो रही है। विश्वके सम्पूर्ण धर्मोंका केन्द्रबिन्दु इस त्रिकमें ही स्थित है। यह त्रिक है और अधिक विशिष्ट रूपमें—गायत्री, गङ्गा एवं गौके रूपमें प्रस्फुटित हुआ है। अतः गायत्री, गङ्गा और गौके तत्त्वको ठीक-ठीक समझना ही वैदिक संस्कृतिके मूल तत्त्वोंको समझना है।

आत्मकल्याणके इच्छुक मानवोंको धर्मके मूल स्रोत वेदोंका अध्ययन, मनन और यथार्थ चिन्तन आत्मनिष्ठाके साथ करना चाहिये।

[प्रस्तुति—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री, साहित्यालंकार]

श्रीअरविन्दका अध्यात्मपरक वेद-भाष्य

श्रीअरविन्दके योग और दर्शनके आधार हैं वेद। वे वेदिक परम्पराके द्रष्टा और चिन्तक थे। सृष्टिके विकास-क्रमम जिस अतिमानसिक चेतनाका अवतरण और अभिव्यक्ति उनके पूर्णयागका लक्ष्य है, वह उनके वेद-भाष्यकी आध्यात्मिक व्याख्याम परिलक्षित हुआ है। श्रीअरविन्दने अपन सस्कृत काव्य 'भवानी-भारती' म कहा है कि—

पुन श्रृणोमीममरण्यभूमौ
वेदस्य घोष हृदयामृतोत्सम्।
सुज्ञानिनामाश्रमगा मुनीना
कुल्येव पुसा वहति प्रपूर्णा॥ ९३॥

भावार्थ—एक बार फिर में वनाम वदक उस स्वरका गुजरित हाते हुए सुन रहा हूँ, जा हृदयमे अमृतका स्रोत है। यह मानव-नदी मुनियाके गम्भीर ज्ञानयुक्त आश्रमकी आर वह रही ह।

श्रीअरविन्दक अनुसार 'विश्वके अध्यात्म, मत-पन्थ ओर चिन्तनका काई भी अङ्ग आज जेसा है वैसा नहीं होता, यदि वेद न होते। यह विश्वके किसी अन्य वाङ्मयके लिये नही कहा जा सकता हे। वेद ब्रह्मके सार-तत्त्वके विषयम ही नहीं, प्रत्युत अभिव्यक्तिके विषयमे भी सत्य हे।'

वेदाकी अपोरुपेयता और उनम निहित ईश्वरीय ज्ञानका प्रतिपादन करते हुए भी श्रीअरविन्दने उन्ह ज्ञेय और अनुसधेय स्वीकार किया है। भारतवर्ष ओर विश्वका विकास इसके अन्वेषण आर इसम निहित ज्ञानके प्रयोगपर निर्भर करता ह। वदका उपयोग जीवनके परित्यागम नहीं, प्रत्युत ससारम जीवनयापनके लिये हे। हम जो आज हैं ओर भविष्यम जो हाना चाहते हे उन सभीक पीछे हमार चिन्तनके अभ्यन्तरम हमारे दर्शनाके उद्‌गम वेद ही हैं। यह कहना उचित नहा कि वदका सनातन ज्ञान हमार लिये सहज मागकी प्राप्तिक लिय अति दुरूह ओर अँधेरी उपत्यकाम भटकन-जेसा हे।

एक वार उन्हान अपने पूर्णयागकी साधनाक उद्देश्यक विषयम श्रीयुत मातीलाल रायको लिखा था—'श्रीकृष्णने मुझ वदका वास्तविक अर्थ वताया है। इतना ही नहीं उन्हान मुझ भाषा-शास्त्रका नया विज्ञान वताया ह जिससे मानव-वाक् तथा उसक विकासकी प्रक्रियाका ज्ञान हा सके आर एक नयान निरुक्त लिखा जा सके। उन्हाने मुझ उपनिषदाम निहित अर्थ भी वताया ह, जा भारतीय तथा यूरापीय विद्वानाद्वारा समझा नही गया है। अत मुझे वेद और सारे वेदान्तकी व्याख्या इस तरह करनी होगी कि कैसे सार धर्म इनस उद्भूत हाते ह। इस तरह प्रमाणित हा जायगा कि भारतवर्ष विश्वके धर्म-जीवनका केन्द्र है और सनातनधर्मद्वारा विश्वकी रक्षा करना भारतवर्षकी नियति है।'

वेद, योग ओर धर्मशास्त्रके प्राणप्रद वीज-मन्त्र तथा धर्मरक्षक मूलतत्त्व होनेक नाते श्रीअरविन्द वेदार्थको गुह्य मानते ह। चतनाके ऊर्ध्वलाकम रहस्यमय पर्देके पीछे अवस्थित वेदार्थ शब्दार्थकी सीमाआम कभी सीमित नहीं माने गये हैं, क्याकि वैदिक ऋषि मन्त्रद्रष्टा तथा सत्यश्रुत होनेके नाते उस परम ज्ञानक अधिकारी थे, जहाँ साधारण मानवक मनकी गति नहीं है। अत उस गुह्य ज्ञानको गुरु-शिष्य-परम्पराम ही सरक्षित करनका विधान था।

स्वाभाविक ह कि उपर्युक्त विधानक कारण ऋचाआक पीछे छिपा हुआ तात्पर्य दुर्ज्ञेय हो गया, किंतु इतना नहीं कि वह अज्ञेय हो जाय। आध्यात्मिक साधना-पद्धति हमे सिखाती हे कि यदि ऋषिकी चेतनासे तदाकार होनेका अभ्यास करके वद-ऋचाक अर्थ-बोधकी अभीप्सा हो तो वेद स्वयको अवश्य स्पष्ट करग। निरुक्तकार यास्कन भी ऐसे अनक शब्द गिनाये ह जिनका अर्थ उन्ह ज्ञात नहीं था। आज तो अप्रचलित भाषा-शैली और साधनाके अभावम व्याप्त अन्धकारसे वेदके अभिप्रायका उदय होना, 'दभ्र पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ (ऋक्० १। ११३। ५)-की तरह अल्पदृष्टियुतको विशाल दृष्टि देनेके लिये उषा भगवतीकी अभिव्यक्तिके समान ही कठिन है। उपनिषद्-कालमे भी आध्यात्मिक अभीप्सुआको वेदकी उपासनाक लिये दीक्षा, ध्यान और तपस्याकी शरण लेनी होती थी। अत आज भी वदोपासकको श्रद्धा होनी चाहिये कि ऋचाएँ ऋषियाकी कल्पनाएँ नहीं प्रत्युत सत्य दर्शन हैं। अत इनक यथार्थको केवल व्याकरण और व्युत्पत्ति-शास्त्रके मानसिक कार्यकलापाद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता।

श्रीअरविन्दने अपनी अध्यात्मपरक व्याख्याके लिये वेदाक्त प्रमाण ही प्रस्तुत किये हैं। वे ऋषि दीर्घतमाकी ऋचाका उद्धृत करते हैं—

ऋचो अक्षर परम व्यामन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
(ऋक्० १। १६४। ३९)

अर्थात् परमात्मा परम आकाशके समान व्यापक और ऋचाओके अक्षरके समान अविनाशी है, जिसमे समस्त देवगण स्थित हैं, उसे जो नहीं जानता वह वेदकी ऋचाओसे क्या करेगा? जो उस परमतत्त्वको जानते हैं, वे ही उस परम लोकमे अधिष्ठित हो सकते हैं?

इस गूढार्थ-बोधक प्रथम प्रमेयकी पुष्टि श्रीअरविन्दने 'वेद-रहस्य' नामक पुस्तकमे निरुक्त, व्याकरण, भाषा-विज्ञान, रूपक-रहस्य-भेदन और परम्परा-प्राप्त विभिन्न प्रणालियासे की है। स्वत प्रमाणके रूपमे उन्होने ऋषि वामदेव गौतमका मन्त्र-दर्शन प्रस्तुत किया है—

एता विश्वा विदुषे तुभ्य वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचासि।
निवचना कवये काव्यान्यशसिष मतिभिर्विप्र उक्थै ॥

(ऋक्० ४। ३। १६)

अर्थात् हे अग्नि! तुम ज्ञानीके लिये मैंने ये गुह्य शब्द उच्चरित किये हैं। इन मार्ग-प्रदर्शक, आगे ले जानेवाले क्रान्तदर्शी कवि-वाक्यो तथा ऋषि-ज्ञानके प्रकाशमान तत्त्वोको मैंने शब्दो और चिन्तनमे वर्णित किया है।

ऋषि दीर्घतमा औचथ्य वाक्के चार स्तरोका वर्णन करते हैं। परा, पश्यन्ती और मध्यमा तो गुहामे छिपी है, केवल तुरीया वाक् अर्थात् वैखरीका प्रयोग ही मानव कर पाता है—**'वैखरी कण्ठदेशगा।'**

निरुक्तकार यास्कने भी वेद-भाष्यकाराका याज्ञिक, गाथा-गायक अथवा ऐतिहासिक, वैयाकरण और आध्यात्मिक सम्प्रदायामे वर्गीकरण किया है तथा वे ज्ञानका भी अधियज्ञ अधिदैवत तथा आध्यात्मिक वर्गोंमे मानते है।

श्रीअरविन्दका द्वितीय प्रमेय है कि वेदार्थ स्वय प्रतीकात्मक, द्व्यर्थक या अनेकार्थक है। सप्त सरिताओके प्रवाहको खोलना, प्रकाशकी मुक्ति, पणियासे पशुओको छुडाना—ये सदर्भ ऐसे हैं जो प्रतीकोकी स्थायी, स्वाभाविक और आध्यात्मिक व्याख्यासे ही अपने गुह्य तात्पर्यका उद्घाटन कर सकते हैं। लौकिक, बाह्य और गुह्य अर्थोका पृथक्करण ज्ञान और शिक्षणके अभ्याससे ही सम्भव है। अत वेदार्थरूपी रथके दो चक्र हैं—अध्यात्म और रहस्य। इनकी साधनासे ही वेदकी ऋचाएँ अपने रूप और तात्पर्यको प्रकट करती है।

उदाहरण-स्वरूप ऋषि मधुच्छन्दा वैश्वामित्रकी ऋचा प्रस्तुत करते हैं—

महो अर्ण सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥

(ऋक्० १। ३। १२)

अभिप्राय यह कि सरस्वती अन्तर्दर्शन या प्रज्ञानके द्वारा मानव-चेतनाके सतत-प्रबोधनके माध्यमसे मानव-चेतनाके महान् प्रवाह (ऋतस्य विशाला०) साक्षात् सत्य चेतनाको अवतरित कराती है तथा हमारे सारे चिन्तनको प्रदीप्त करती है।

पूर्वकी ऋचाओमे सरस्वतीको प्रकाशमय ऐश्वर्यसे पूर्ण (वाजेभिर्वाजिनीवती) एव विचारकी सम्पत्तिसे समृद्ध (धियावसु) कहा गया है। किंतु **'महो अर्ण'** को समानाधिकरण मानकर अर्थ किया जाय तो सरस्वती पजाबकी एक नदी मात्र है। अत प्रतीककी व्याख्याके अभावमे वेदार्थ ही लुप्त हो जायगा।

इसी परम्परामे ऋषि वामदेव जब समुद्रके विषयमे **'हृद्यात् समुद्रात्'** कहते हैं तो प्रतीकार्थ ही स्पष्ट है—

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्॥

(ऋक्० ४। ५८। ५)

इसका शब्दार्थ है कि नदियाँ हृदय-समुद्रसे निकलती हैं। शत्रुद्वारा सैकडो बाडामे बद होनेके कारण ये दिखायी नहीं दे सकतीं। मैं घीकी धाराओको देखता हूँ, क्योकि उनके अदर सुनहरा बेत रखा हुआ है।

श्रीअरविन्दके अनुसार इसका निहितार्थ यह है कि दिव्य ज्ञान हमारे विचाराके पीछे सतत प्रवाहित हो रहा है, किंतु आन्तरिक शत्रु उसे अनेक बन्धनासे रोके रखते है। अर्थात् वे मनस्तत्त्वको इन्द्रिय-ज्ञानतक ही सीमित कर देते हैं। यद्यपि हमारी सत्ताकी लहर अतिचेतना तक पहुँचनेवाले किनारासे टकराती है, किंतु वे इन्द्रियाकी आश्रिता मनश्चेतनाकी सीमामे सीमित हो जाती हैं। आगे यह लक्ष्य इस रूपमे वर्णित है कि बस मधु-ही-मधु है—यह लक्ष्य अर्थात् सिन्धु-अतिचेतनका पारावार है।

वेद-व्याख्यामे प्रतीकोका विवेचन भाषा-विज्ञानका विरोधी सिद्धान्त नहीं है। अध्यात्मपरक भाष्य-प्रणाली वैदिक शब्दावलीके अनेकार्थ-सिद्धान्तपर आधारित होनेसे वेद दुरूह भी नहीं हुए हैं, बल्कि निरुक्तसे अनुमादित शब्दार्थके वैकल्पिक अर्थाकी सम्भावनाएँ उन्मुक्त हो गयी

ह। शिक्षा, साधना तथा ध्यानक अभावसे ही ऋषि-चेतनाका स्पर्श सम्भव नहीं हो पाता है। तात्पर्य यह नहा है कि इस सिद्धान्तके अनुशीलनसे वेदार्थ कल्पनापर आश्रित हो जायगा, वल्कि भाषा-विज्ञानको भी शब्दाके स्थायी तात्पर्यके अन्वेषणम सहायता मिलेगी। क्योंकि शब्द श्रीअरविन्दके अनुसार कृत्रिम नही, प्रत्युत ध्वनिके सजीव विस्तार है। बीज-ध्वनि उनका आधार है, अत बीज-मन्त्रासे उत्पन्न शब्द भी स्थायी अर्थोंकी अभिव्यञ्जनाम साधक ही है, बाधक नहीं।

श्रीअरविन्दका तृतीय प्रमेय है कि वैदिक शब्दावलीका स्वाभाविक और स्थायी अर्थ आध्यात्मिक ही होगा। जस 'ऋतम्'का आध्यात्मिक अर्थ है परम सत्य। जल या अन्न आदि अवान्तर अर्थ हम स्वाभाविक वदार्थसे दूर ले जाते हैं। वेद यदि अग्निको 'क्रतु हृदि' अर्थात् हृदयका सत्य कहते हैं तो अग्निका अर्थ अधिक व्यापक और उदात्त हो जाता है। यही प्रणाली कथानका ओर रूपकाकी व्याख्याम भी प्रयुक्त हो सकती है।

अग्निका आध्यात्मिक अर्थ हे **'गापामृतस्य दीदिवि वर्धमान स्वे दमे'**—स्वगृहम देदीप्यमान सत्यका प्रभासित रक्षक। मित्र और वरुण हैं **'ऋतावृधौ ऋतस्पशो'**—सत्यके स्पर्श तथा अभिवृद्धिकारक। **'गो'** शब्द गायके अतिरिक्त प्रकाश या रश्मियाका भी वाचक है। यह ऋषियाके नामामे भी प्रयुक्त हे। यथा—**'गोतम'** ओर **'गविष्ठिर'**। वेदात्क गाय सूर्यके **'गोयूथ'** ह। यह व्याख्या सर्वत्र सुसगत और अर्थ-प्रदायिका है। जेसे घृत शब्द **'घृ क्षरणदीप्त्यो '** धातुसे बना है। अत वैदिक शब्दावलीम घृतका अर्थ प्रकाश भी होगा।

वैदिक ज्ञानका केन्द्रिय चिन्तन है सत्य, प्रकाश ओर अमरत्वकी खोज। वैदिक कथानका ओर रूपकाम भी यही आध्यात्मिक लक्ष्य प्रत्यक्ष हे। उदाहरणार्थ देवशुनी सरमाका कथानक सरमाको ज्ञानकी पूर्वदर्शिका तथा ज्ञानान्वेपणमे लगी दिव्य शक्तियाकी पथ-प्रदर्शिकाके रूपम प्रदर्शित करता है—

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्य सरमा दृहळ्मूर्वं येना नु क मानुपी भोजते विट्॥

(ऋक्० १। ७२। ८)

तात्पर्य यह कि विचारको यथार्थ-रूपस धारण करती हुई सत्यकी ज्ञाता द्युलाकको सात शक्तिशाली नदियान आनन्द-सम्पत्तिके द्वाराका जान लिया सरमाने गायाका दृढता, विस्तीर्णताको पा लिया। उसके द्वारा अब मानुपी प्रजा उच्च ऐश्वर्योंका आनन्द लेती है।

अत देवताआकी कुतिया सरमा दस्युआद्वारा लूटी गयी गायाको खोजनेवाली प्राणी नही, प्रत्युत सत्यकी शक्ति है, जो प्रकाश करनेवाली गौआको खोज कर दिव्य शक्तियाको पथ दिखाती है, ताकि वे त्रिगुणात्मक पहाडीको विदीर्ण कर गौआको मुक्त करा सक।

विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथ पूर्व्यं सध्र्यक्।
अग्र नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रव प्रथमा जानती गात्॥

(ऋक्० ३। ३१। ६)

अर्थात् जब सरमाने पहाडीक भग्न स्थानको ढूँढकर पा लिया, तब महान् लक्ष्य खुल गया। सुन्दर पखासे युक्त सरमा इन्द्रको उषाकी अवध्य गोआके सामने ले गयी। वह गौआके शब्दकी ओर गयी।

इस कथानकके आध्यात्मिक अर्थसे स्पष्ट है कि श्रीअरविन्दका वद-भाष्य उपर्युक्त परम्पराम वैज्ञानिक प्रयास है। श्रीअरविन्दकृत वेद-भाष्यमे पूर्व-भाष्यकाराके शुद्धाशयको भी प्रकाशम लाया गया है और सृष्टिके **'अप्रकेत सलिलम्'**-की अचेतन-स्थितिसे जगत्को 'ज्यातिपा ज्योति ' की ओर विकासशील उत्क्रमणकी ऋषि-परम्पराको भी अभिव्यक्त किया गया हे।

आध्यात्मिक भाष्य त्रिविध उद्देश्याको चरितार्थ करता हे। प्रथम ता उपनिषदाके अर्थबोधम सहायता प्राप्त होती है। द्वितीय लाभके रूपम वेदान्त पुराण, तन्त्र, दर्शन सभीके मूल स्रोतके रूपम वेद-ज्ञानकी उपलब्धि है और तृतीय लाभ भविष्यमे आनेवाले सभी दर्शनोका मूल चिन्तन वेद-सम्मत हाना है, जिससे प्रज्ञाको सहज ही अध्यात्मका आधार प्राप्त हा जायगा।—

ऋतेन ऋतमपिहित ध्रुव वा सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदक देवाना श्रेष्ठ वपुषामपश्यम्॥

(ऋक्० ५। ६२। १)

सत्यसे आवृत एक सत्य है जहाँ सूर्य या दिव्य ज्योति अर्थात् सत्य घाडा अर्थात् ज्योतिकी यात्राको उन्मुक्त कर देते हैं। दिव्य ऐश्वर्य समृद्धि ज्ञान वल एव आनन्द आदिकी सहस्रा धाराएँ एकत्र हो जाती हैं ऐसे दिव्य सूर्यके रूपम वह कल्याणतम रूप-दव एक है।

[श्रीदेवदत्तजी]

वेदान्तकी अन्तिम स्थिति

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रे-
ऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मु० उ० ३।२।८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको छोडकर समुद्रमे विलीन हो जाती हैं, वसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम-रूपसे रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

भाव यह है कि जबतक जीवको पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभीतक उसे इस लोकके तथा परलोकक कर्मोंकी चिन्ता रहती है, तभीतक उसे सयोगम सुख और वियोगम दु खका अनुभव होता है। जब उसे भलीभाँति यह ज्ञात हो जाता है, यह अनुभव होने लगता है कि मैं पृथ्वी नहीं, जल नहीं, तेज नहीं, आकाश नहीं, तन्मात्रा नहीं, इन्द्रिय-समूह नहीं, मन-बुद्धि, चित्त तथा अहकार नहीं अपितु मैं इन सबसे विलक्षण हूँ, तब उसे शरीरके रहनेसे हर्ष नहा होता ओर शरीरके न रहनेसे विषाद नहीं होता। जब उसे अनुभव होने लगता है कि ये सभी सगे-सम्बन्धी गन्धर्व-नगरके समान हैं, स्वप्नमे देखे हुए पदार्थोंके सदृश हैं—इनसे मरा कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, तब वह न सयोगम सुखी होगा, न वियोगम दुखी होगा।

एक साधारण श्रेणीका मनुष्य था। उसक पास थोडा-सा धन था, छोटा-सा परिवार था—एक पत्नी, एक पुत्र और वह स्वय। एक दिन उसने स्वप्न देखा—वह बहुत बडा राजा बन गया है, बहुत धन है, अपार वैभव हे, बहुत-सी रानियाँ हैं, दस पुत्र हैं, वह सबपर शासन कर रहा है, सब लोग उसकी आज्ञाका पालन कर रहे हे। निद्रा खुली तो न कहीं राज्य है, न धन-वैभव है, न पुत्र तथा पत्नियाँ ही हैं। उसी टूटी खाटपर पडा है। दूसरे दिन कुछ डाकू आये, उसका सब धन छीन ले गये पुत्रको मार डाले। उसकी स्त्री रोते-रोते बेहाल हो गयी। सम्पूर्ण गाँवक लाग सहानुभूति प्रकट करने आये, किंतु वह मनुष्य न रोया, न उसन किसी प्रकारका दु ख ही प्रकट किया। वैसा ही निर्विकार, निर्लेप बना रहा।

इसपर उसकी पत्नी बोली—'तुम्हारा हृदय पत्थरका बना है क्या? घरका सब धन लुट गया, एकमात्र पुत्र था वह भी मर गया, तुम्हारी फूटी आँखासे एक बूँद पानी भी नहीं निकला। मानो तुम्ह इसका तनिक भी शोक नहीं। बड निर्मोह, निष्ठुर, वज्रहृदयवाले हो!!'

पतिने कहा—'शोक किस-किसक लिय करूँ। एकके लिय या अनेकके लिये?'

पत्नी बोली—'शोक अपनाक लिये किया जाता है, वैसे तो ससारमे नित्य ही बहुतस आदमी मरते रहत हैं, सबके लिये कोई थोडे ही राता ह। तुम्हारा तो एक ही पुत्र था, उसके वियोगका दु ख ता तुम्हे हाना ही चाहिये?'

पुन उसने कहा—'तुम एकको कहती हा, कल स्वप्नमे म दस पुत्राका पिता था, अपार धनका—अनन्त वैभवका स्वामी था। आज दखता हूँ, समस्त धन-वैभव आर मर व सब पुत्र नष्ट हा गये। जब उनक लिय मैने शोक नहीं किया, तब उस एक पुत्रके लिय अथवा तनिकसे धनके लिय दु'ख-शोक क्या करूँ?'

पत्नी बाली—'वे तो स्वप्नक धन वभव तथा पुत्र थे, यह तो आपका यथार्थ पुत्र था सच्चा धन-वैभव था।'

पतिने कहा—'यथार्थ कुछ नहीं ह, यह भी एक दीर्घकालीन स्वप्न ही है। अपना ता एकमात्र परमात्मा है, जिसका इन बाह्य पदार्थोसे कोई सम्बन्ध नहीं ह। य सब पदाथ ता नाशवान् ह ही।'

वास्तविक बात यही ह। यह दह, ये प्राकृतिक पदार्थ तो अन्तवान् हैं क्षणभगुर हैं, विनाशशाल हैं। जो शरीरी है—आत्मा ह, वही नित्य ह, अविनाशी हे कभी नष्ट होनेवाला नहीं है। उसका शरीरसे काई सम्बन्ध नही है। अत जो ज्ञान-तृप्त महात्मा हे व इन ससारी पदार्थोंके सयाग-वियोगस दु खी-सुखी नहीं होत। वे एकमात्र परमात्माको

ही सत्य मानकर सदा एकरस बने रहते हैं। इस विषयमें शौनकजीने श्रीसूतजीको बतलाया कि 'सूतजी! जो ब्रह्मज्ञानी महात्मा हैं, जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है, वे वीतराग विशुद्ध अन्तःकरणवाले कृतात्मा ऋषिगण इस परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर ज्ञान-तृप्त प्रशान्तात्मा हो जाते हैं। उनकी किसी वस्तुमें आसक्ति नहीं रहती। वे अहंता अर्थात् देहमें अहंभाव और देह-सम्बन्धी गेह, धन, पुत्र-पौत्रादिमें ममता नहीं करते। उन्हें किसी प्रकारके अभावका बोध नहीं होता। वे युक्तात्मा धीर पुरुष सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माको पूर्णरीत्या प्राप्त करके उस परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। उनमें और परमात्मामें केवल नाममात्रका ही भेद रह जाता है, वे उन्हींमें तल्लीन, तन्मय तथा तदाकार हो जाते हैं।

सूतजीने पूछा—'ब्रह्म-प्राप्त महापुरुषोंका इस भौतिक शरीरसे कुछ सम्बन्ध रहता है क्या? वे ब्रह्मलोकमें कैसे जाते हैं, संसारसे विमुक्त होनेपर उनकी स्थिति कैसी होती है?'

शौनकजीने कहा—'ब्रह्मज्ञानीका देहसे सम्बन्ध तभी तक है, जबतक देह-सम्बन्धी प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय नहीं होता। प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय हो जानेपर वे इस शरीरको त्याग कर ब्रह्मके लोकमें—परब्रह्मके सनातन धाममें चले जाते हैं, क्योंकि उन्होंने वेदान्त शास्त्रके विज्ञानद्वारा यथार्थ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। संन्यास-योगद्वारा कर्मोंके फल और आसक्तिके त्याग-रूप योगसे उनका अन्तःकरण मल, विक्षेप और आवरणसे रहित होकर विशुद्ध बन गया है। ऐसी साधनामें प्रयत्नशील साधक अन्तकालमें जब प्रारब्ध-कर्मोंकी समाप्तिके समय शरीरका परित्याग करते हैं, तब उन्हें पुनः संसारमें जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। वे ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं, वहाँसे उन्हें इस संसारमें पुनः आना नहीं पड़ता। वे संसारके समस्त बन्धनोंसे सदा-सदाके लिये परिमुक्त हो जाते हैं। वे संसारके आवागमनसे सर्वदाके लिये छूट जाते हैं।'

सूतजीने पूछा—'बहुतसे ऐसे महात्मागण हैं, जो इस शरीरके रहते हुए ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं। वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष जब इस शरीरका परित्याग करते हैं, तब अन्तकालमें उनकी स्थिति कैसी होती है?'

शौनकजीने कहा—'देखो, सूतजी! भगवान् अङ्गिरा मुनिने मुझे बताया कि जो समष्टिमें है वही व्यष्टिमें है, जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें भी है। यह लोक पंद्रह कलाओंसे निर्मित है। श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रियगण, मन (अन्तःकरण), अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम—ये जो पंद्रह कलाएँ हैं, वे सभी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता हैं और वे सब-के-सब अपने-अपने अधिष्ठातृ देवताओंमें जाकर उसी प्रकार मिल जाते हैं, जैसे व्यष्टि पञ्चभूत समष्टि पञ्चभूतोंमें मिलकर एक हो जाते हैं। शरीरका पृथ्वी-तत्त्व पृथ्वीमें, जल-तत्त्व जलमें, तेजस्तत्त्व तेजमें, वायु-तत्त्व समष्टि वायुमें और देहाकाश महाकाशमें जाकर मिल जाता है। वाणी अग्निमें, प्राण वायुमें, चक्षु आदित्यमें, मन चन्द्रमामें और श्रोत्र दिशाओंमें मिल जाते हैं। जैसे हाथोंके अधिष्ठातृदेव इन्द्र हैं तो ज्ञानीके शरीरके अन्त होनेपर वह इन्द्रमें जाकर मिल जायगा। इसी प्रकार सभी शरीर-पदार्थ अपने-अपने कारणोंमें विलीन हो जाते हैं।'

इनके अतिरिक्त कर्म और जीवात्मा शेष रह जाते हैं। ज्ञानीके कर्म अदत्त-फलवाले होते हैं। जैसे अज्ञानी तो शुभ-अशुभ कर्मोंके फलरूप ही नाना योनियोंमें जाते हैं। अतः उनके कर्म दत्त-फल कहलाते हैं, परंतु ज्ञानी तो शुभ-अशुभ धर्म-अधर्म सबसे परे हो जाता है, इसलिये उसके कर्म अदत्त-फलवाले हो जाते हैं। अतः अदत्त-फल कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा—ये सब अव्यय ब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं—एकीभूत हो जाते हैं।

सूतजीने पूछा—'ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्तका जीवात्मा परमात्मामें किस मार्गसे, किन-किन लोकोंसे, कैसे जाकर उनमें लीन होता है?'

शौनकजीने कहा—'देखो, जैसे अपने उद्गम-स्थानसे निकलकर बहती हुई गङ्गा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती आदि नदियाँ जब जाकर समुद्रमें मिलती हैं, तब अपने-अपने नाम-रूपोंका परित्याग करके उसीमें विलीन हो जाती हैं, एकाकार बन जाती हैं। उसी प्रकार विद्वान्

जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे विमुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते है—उन्हीके समान हो जाते है। उनका फिर कभी जन्म नहीं होता, वे आवागमनसे सर्वथाके लिये रहित हो जाते हैं। वे जन्म-मरण-विहीन—पुनरावृत्ति-रहित हो जाते है। वे किस पथसे कैसे जाते हैं, इसका भी कोई चिह्न अवशेष नहीं रहता। जैसे कछुए, मछली आदि जलचर जीव जिधरसे चाहे निकल जायँ, आकाशमे उडनेवाले पक्षी जिधरसे चाहे उड जायँ, उनके पद-चिह्न अवशिष्ट नहीं रहते। इसी प्रकार ज्ञानियोके गमनकी गति दृष्टिगोचर नही होती। जैसे नदियाँ समुद्रमे विलीन हो जाती है, जलचर जीव जलमे विलीन हो जाते हैं, आकाशचारी जीव आकाशमे ही विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी अज्ञात मार्गसे जाकर ब्रह्ममे विलीन हो जाते हैं।'

सूतजीने कहा—'भगवन्! महर्षि अङ्गिराद्वारा कही हुई यह जो दिव्य उपनिषद् आपने सुनायी, इस श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जान लेनेपर तो साधक परब्रह्मका विज्ञाता बन जाता होगा?'

शौनकजीने कहा—'निश्चयपूर्वक जो भी साधक इस उपनिषद्के द्वारा परब्रह्मको जान लेता है, वह परब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्मके समान ही हो जाता है। यही बात नहीं कि वह अकेला ही कृतार्थ होता हो, उसके कुलमे भी ब्रह्मवेत्ता ही उत्पन्न होते है, उसके कुलमे कोई भी अब्रह्मवेत्ता नही होता। जो ब्रह्मको जान लेता है, वह शोक-सागरको तरकर शोकके पार पहुँच जाता है, अर्थात् शोकरहित बन जाता है। वह पाप-पङ्कसे भी तर जाता है अर्थात् निष्पाप, निर्मल बन जाता है। उसके हृदयकी ग्रन्थियाँ सर्वथा खुल जाती हैं, ब्रह्म-साक्षात्कार होनेपर वह अमृतत्वको प्राप्त होता है—अमर बन जाता है।'

[संकलनकर्ता—डॉ० श्रीविद्याधरजी द्विवदी]

वेदोकी संहिताओंमे भक्ति-तत्त्व

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज)

मङ्गलाचरण

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु
शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु
शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा॥

(ऋक्० ७। ३५। १३ अथर्व० १९। ११। ३)

विश्वरूप अविनाशी देव हमारे 'शम्' (शाश्वतशान्ति-सुख)-के लिये प्रसन्न हों। प्राणोके प्रेरक एवं शरीरोके अन्तर्यामी महादेव हमारे 'शम्' के लिये अनुकूल हों। समस्त विश्वके उत्पादक, संरक्षक एवं उपसंहारक विश्वाधिष्ठान परमात्मा हमारे 'शम्' के लिये सहायक हो। क्षीरसमुद्रशायी विश्वप्रणम्य भगवान् श्रीनारायणदेव—जो संसारके समस्त दुःखोसे भक्तोको पार कर देते हैं—हमारे 'शम्' के लिये प्रसन्न हों। देवोकी रक्षा करनेवाली विश्वव्यापिनी भगवान्की चिति-शक्ति हमारे 'शम्'-लाभके लिये तत्पर हो।'

वेदोका महत्त्व

यद्यपि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग दोनोका नाम वेद है, यो वैदिक सनातन धर्मानुयायी विद्वान् मानते हैं, तथापि मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभागका आधाराधेय-भाव तथा व्याख्येय-व्याख्यानभाव होनेके कारण अर्थात् मन्त्रभाग (संहिताएँ) आधार एवं व्याख्येय तथा ब्राह्मणभाग आधेय एवं व्याख्यान होनेके कारण ब्राह्मणभागकी अपेक्षा मन्त्रभागमे मुख्य निरपेक्ष वेदत्व है। अतः उसकी संहिताओमे ही अभिवर्णित भक्तितत्त्वका यहाँ कल्याण-प्रेमियोके लिये यथामति उल्लेख किया जाता है। मनुमहाराजने भी कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

(मनुस्मृति २। १३)

अर्थात् धार्यमाण भक्ति, ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालोके लिये मुख्य—स्वतः-प्रमाण एकमात्र श्रुति है।

अत श्रुतिके अनुकूल ही इतर स्मृति-पुराणादिके वचन प्रामाणिक एव ग्राह्य माने जाते हैं। श्रुतिविरुद्ध कोई भी वचन प्रामाणिक नही माना जाता। अतएव वदाके महत्त्वके विषयम महाभारतमे यह कहा गया है—

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च॥

(महाभारत, शान्ति० २७०। ४३)

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तय ॥

अर्थात् वेदाके ज्ञाता सब कुछ जानते हैं, क्याकि वदम सब कुछ प्रतिष्ठित ह। जो ज्ञातव्य अर्थ अन्यत्र है या नहीं है, उस साध्य-साधनादि समस्त वर्णनीय अर्थोकी निष्ठा वेदामे है। अत वेदवाणी दिव्य है, नित्य है एव आदि-अन्त-रहित ह, सृष्टिके आदिम स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा उसका प्रादुर्भाव हुआ हे तथा उसके द्वारा धर्म, भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही ह। इसलिये—

वेदो नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

—कहकर हमारे पूज्य महर्षियाने वेदाकी अपार महिमा अभिव्यक्त की हे।

भक्तिका स्वरूप

जिसके अनन्त महत्त्वका हम श्रवण करते हैं, जो हमारा वास्तविक सम्बन्धी हाता हे, जिसके द्वारा हमारा हित सम्पादित होता है एव शाश्वत शान्ति तथा अनन्त सुखका लाभ होता है, उसम विवेकीकी अविचल प्रीति स्वभावत हो ही जाती है। इसलिये भगवत्प्रार्थनाके रूपम अथर्वसहिता (६। ७९। ३)-म कहा गया हे—

देव सस्फान सहस्रापोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवास स्याम॥

'ह अभ्युदय एव नि श्रयसप्रदाता देव! तू आध्यात्मिकादि असख्य शाश्वत पुष्टियाका स्वामी है इसलिय हम उन पुष्टियाका तू दान कर उनका हमारेम स्थापन कर। जिससे उस महान् अनन्त पुष्टिपति प्रभुकी भक्तिसे हम युक्त हा, अर्थात् तरी पावन भक्तिद्वारा ही हम अभीष्ट पुष्टियाका लाभ हागा—ऐसा विश्वास हम कर।'

श्रीभगवान्‌के दिव्यतम गुणाके श्रवणसे द्रवीभूत चित्तकी वृत्तियाँ उस सर्वेश्वर प्रभुकी आर जब धाराप्रवाहरूपसे सतत बहने लग जाती हैं, तव यही भक्तिका स्वरूप बन जाता है। अतएव ऋग्वेदसहिता (१। ७१। ७)-म कहा गया है—

अग्निं विश्वा अभि पृक्ष सचन्ते
समुद्र न स्रवत सप्त यह्वी ।

'जेस गङ्गा आदि बडी सात नदियाँ समुद्रकी ओर ही दौडती हुई उसीम विलीन हो जाती हैं, वैसे ही भगवद्भक्ताके मनकी सभी वृत्तियाँ अनन्त दिव्यगुणकर्मवान् परमेश्वरकी आर जाती हुई—तदाकार होती हुई—उसीमे विलीन हो जाती ह।' (इस मन्त्रम पृक्ष अन्नका नाम है, वह अन्नमय मनका लक्षित करता है।)*

इसलिये हे प्रभो!—

यस्य ते स्वादु सख्य स्वाद्वी प्रणीति ।

(ऋक्० ८। ६८। ११)

'तुझ परमात्माका सख्य (मित्रता) स्वादु है, अर्थात् मधुर आह्लादक आनन्दकर है, और तुझ परमेश्वरकी प्रणीति (अनन्यभक्ति) स्वाद्वी हैं, समस्त सतापाका निवारण करके परमानन्द प्रदान करनेवाली है अर्थात् *'भक्ति सुतत्र सकल सुख खानी'* है। प्रणीति, प्रणय, प्रेम प्रीति भक्ति—ये सब पर्याय-वाचक हे—एकार्थके बोधक हैं।

वास्तविक सम्बन्धी भगवान्

जिसके साथ हमारा काई-न-कोई सम्बन्ध होता है उसे देखकर या उसका नाम सुनकर उसके प्रति स्नेहका प्रादुर्भाव हो ही जाता ह। ससारके माता-पिता आदि सम्बन्धी आगन्तुक हैं—वे आज हे और कल नहीं रहगे, इसलिय वे कच्चे—नकली स्वार्थी सम्बन्धी माने गय हैं। परतु सर्वेश्वर परमात्मा हम सब जीवात्माआका माता-पिता

---

* श्रीमद्भागवत (३। २९। ११)-मे भी इसा मन्त्रका छायानुवाद इस प्रकार किया गया है—
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

आदि वास्तविक शाश्वत नि स्वार्थ दु ख-निवारक एव हित—सुखकर सम्बन्धी है। इसलिये हमारे अतिधन्य वेदाने उस परमात्मामे परम प्रीति उत्पन्न करनेके लिये कहा है—

त्व त्राता तरणे चेत्यो भू पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥

(ऋक्० ६। १। ५)

'हे तारनहार अर्थात् ससारके त्रिविध दु खासे तारनेवाले भगवन्! तू हमारा त्राता—रक्षक है, इसलिये तू चेत्य अर्थात् जानने योग्य है कि तू हमारा कौन हे? तू हम मनुष्याका सदा रहनेवाला सच्चा माता एव पिता है।'

पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा॥

(ऋक्० ६। ३६। ४)

'हे प्रभो! हम (सब) जनाका तू ही एकमात्र उपमारहित—असाधारण पति—स्वामी ह तथा समस्त भुवनाका राजा—ईश्वर है।'

स न इन्द्र शिव सखा। (ऋक्० ८। ९३। ३)

'वह इन्द्र परमात्मा हमारा कल्याणकारी सखा है।' इसलिये हे भगवन्!—

त्वमस्माक तव स्मसि॥ (ऋक्० ८। ९२। ३२)

'तू हमारा हे ओर हम तर हैं।' यह भाव भगवच्छरणागतिका भी है।

अग्नि मन्ये पितरमग्निमापिमग्नि भ्रातर सदमित् सखायम्।

(ऋक्० १०। ७। ३)

अर्थात् अग्नि परमात्माको ही में सदेव अपना पिता मानता हूँ, अग्निको ही 'आपि'—अपना बन्धु मानता हूँ एव अग्निको ही में भाई तथा सखा मानता हूँ। यहाँ यह याद रखना चाहिये कि वेदाम अग्नि इन्द्र वरुण, रुद्र आदि अनक नामाके द्वारा एक परमात्माका ही वर्णन किया गया हे।

भजनीय परमेश्वरका स्तुत्य महत्त्व

सहिताआम परमेश्वरक भक्तिवर्धक स्तुत्य महत्त्वका अनेक प्रकारस वणन मिलता हे। जेसे—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभ सतामसि
त्व विष्णुरुरुगायो नमस्य।
त्व ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पत
त्व विधर्त सचसे पुरध्या॥

(ऋक्० २। १। ३)

'हे अग्ने! परमात्मन्! तू इन्द्र अर्थात् अनन्त ऐश्वर्योसे सम्पन्न है, इसलिये तू सज्जनोके लिये वृषभ अर्थात् उनकी समस्त कामनाआका पूरक है। तू विष्णु है—विभु, व्यापक हे, इसलिय तू उरुगाय है—बहुतासे गानाके द्वारा स्तुति करने याग्य हे एव नमस्कार्य है। हे ब्रह्म अर्थात् वेदके पति! तू ब्रह्मा हे ओर रयि अर्थात् समस्त कर्मफलोका ज्ञाता एव दाता है। हे विधारक—सर्वाधार! तू पुरधि अर्थात् पवित्र एकाग्र बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होता है।'

अभि त्वा शूर नानुमोऽदुग्धा इव धेनव।
ईशानमस्य जगत स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुष॥

(ऋक्० ७। ३२। २२ यजु० २७। ३५ साम० २३३, ६८०, अथर्व० २०। १२१। १)

'हे शूर—अनन्त-बल-पराक्रमनिधे! हे इन्द्र—परमात्मन्! जिस प्रकार पय पानके इच्छुक क्षुधार्त बछडे अपनी माताका चिन्तन करते हुए उसे पुकारते ह उसी प्रकार हम स्थावर एव जगम समग्र विश्वक नियामक निरतिशय सुखपूर्ण एव सोन्दर्यनिधि दर्शनीय तुझ परमेश्वरको स्तुति एव चिन्तन करते हुए भक्तिपूर्ण हृदयसे तुझे पुकारते हैं।'

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या
इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मधिराणा-
मिन्द्र क्षेमे योगे हव्य इन्द्र॥

(ऋक्० १०। ८९। १०)

'परमात्मा इन्द्र स्वगलाक तथा पृथिवी-लाकका भी नियन्ता ह तथा भगवान् इन्द्र जलाका या पाताल-लाकका तथा पर्वताका भी नियन्ता ह। परमश्वर इन्द्र स्थावर जगत्का तथा मधा (बुद्धि)-वाल चेतन जगत्का भी नियन्ता—शासक ह। वह सर्वेश्वर इन्द्र हमार याग एव क्षमक सम्पादनम समर्थ हे इसलिय वही हमार द्वारा आह्वान या आराधना

करने योग्य ह।

भगवान्‌की कृपालुता

श्रीभगवान्‌की भक्तवत्सलताका अनेक दृष्टान्ताक द्वारा इस प्रकार वर्णन मिलता हे—

गाव इव ग्राम यूयुधिरिवाश्वान्
वाश्रेव वत्स सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु
धर्ता दिव सविता विश्ववार ॥

(ऋक्० १०। १४९। ४)

'जैसे गाय ग्रामक प्रति शीघ्र ही जाती हे, जैस शूरवार योद्धा अपने प्रिय अश्वपर बैठनक लिये जाता है जैस स्नेहपूरित मनवाली बहुत दूध दनेवाली 'हम्मा-रव' करती हुई गाय अपने प्रिय वछडेके प्रति शीघ्रतासे जाती है तथा जैसे पति अपनी प्रियतमा सुन्दरी पत्नीसे मिलनेके लिय शीघ्र जाता है, वैसे ही समस्त विश्वद्वारा वरण करने याग्य निरतिशय शाश्वत-आनन्दनिधि सविताभगवान् हम शरणागत भक्ताक समीपम आता है।' इस मन्त्रम यह रहस्य बतलाया गया है कि गौकी भाँति मातारूप परमस्नेहामृतका भडार श्रीभगवान् ग्रामकी तरह भक्तक गृहम या उसके हृदयम निवास करनेके लिये वत्सस्थानापन्न अपने स्नेह एव कृपाके भाजन भक्तको ज्ञानामृत पिलानेके लिये या योद्धा वीरकी भाँति निखिल बल-पराक्रमनिधि महाप्रभु भक्तके अन्त करण एव बाह्यकरणरूप अश्वाका नियमन करनेके लिये या उन्हे अपने वशमे करनेके लिये तथा पतिकी भाँति विश्वपति सर्वेश्वर प्रभु प्रियतम जायाके स्थानापन्न भक्तका परिरम्भण (आलिङ्गन) करनेक लिय, या उसक ऊपर अनुग्रह करनेक लिये या उस सर्वप्रकारस सतृप्त करनक लिय या अपन अलौकिक साक्षात्कारद्वारा कृतार्थ—धन्य वनानेक लिये शीघ्र ही भक्तकी प्रार्थनामात्रस आ जाता ह। यह भगवान्‌की भक्तपर स्वाभाविकी कृपालुता हे। एसे कृपालु भगवान्‌क प्रति भक्तिका उद्रक स्वभावत हा हा जाता हे।

एकेश्वरवाद

वह सर्वेश्वर भगवान् एक ही ह वह एक ही अनक नामाक द्वारा स्तूयमान हाता ह एव विविध साकार विग्रहाक द्वारा समुपास्य वनता ह। उस एकक अनक नाम एव भक्त-भावना-समुद्भासित विविध विग्रह होनेपर भी उसकी एकता अक्षुण्ण ही रहती ह। यह सिद्धान्त हमारी अतिधन्य सहिताआम स्पष्टरूपसे प्रतिपादित है। जैसे—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहु ।

(ऋक्० १। १६४। ४६)

एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

(ऋक्० १। १६४। ४६ अथर्व० ९। १०। २८)

अर्थात् 'तत्त्वदर्शी मधावी विद्वान् उस एक सर्वेश्वरको ही इन्द्र, मित्र, वरुण एव अग्नि आदि विविध नामासे पुकारते ह।' एक ही सद्ब्रह्मको साकार-निराकारादि अनेक प्रकारसे कहते ह।'

सुपर्ण विप्रा कवयो वचोभिरेक सन्त बहुधा कल्पयन्ति।

(ऋक्० १०। ११४। ५)

'तत्त्वविद् विद्वान् शोभन—पूर्ण लक्षणोसे युक्त उस एक सत्य ब्रह्मकी अनक वचनाक द्वारा बहुत प्रकारसे कल्पना करते ह।'

सर्वदेवमय इन्द्र परमात्मा

यो देवाना नामधा एक एव॥ (ऋक्० १०। ८२। ३ शुक्लयजु० १७। २७) यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे। (ऋक्० १०। ८२। ६) 'एक ही परमात्मा देवाके अनेक नामाको धारण करता हे ओर उसी एक परब्रह्मम सभी दव आत्मभावसे सगत हो जाते हैं।' अतएव शुक्ल यजुर्वेदसहितामे भी एक इन्द्र-परमात्मा ही सर्वदवमय ह एव समस्त देव एक—इन्द्रस्वरूप ही हैं, इसका स्पष्टत वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च म सरस्वती च भ इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च म धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च म मरुतश्च म इन्द्रश्च म विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ पृथिवी च म इन्द्रश्च मऽन्तरिक्ष च म इन्द्रश्च मे द्यौश्च म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च म दिशश्च म इन्द्रश्च म यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

(शुक्लयजु० १८। १६—१८)

'अग्नि भी इन्द्र ह साम भा इन्द्र है सविता भी इन्द्र

है, सरस्वती भी इन्द्र है, पूषा भी इन्द्र है, बृहस्पति भी इन्द्र है, वे सब इन्द्र-परमात्मास्वरूप अग्नि आदि देव जपादि विविध यज्ञोंके द्वारा मेरे अनुकूल—सहायक हों। मित्र भी इन्द्र है, वरुण भी इन्द्र है, धाता भी इन्द्र है, त्वष्टा भी इन्द्र है, मरुत् भी इन्द्र हैं, विश्वेदेव भी इन्द्र हैं, वे सब इन्द्रस्वरूप देव यज्ञके द्वारा हमपर प्रसन्न हों। पृथिवी भी इन्द्र है, अन्तरिक्ष भी इन्द्र है, द्यौ—स्वर्ग भी इन्द्र है, समा—संवत्सरके अधिष्ठाता देवता भी इन्द्र हैं, नक्षत्र भी इन्द्र हैं, दिशाएँ भी इन्द्र हैं, वे सब इन्द्राभिन्न देव यज्ञके द्वारा मेरे रक्षक हों।'

समस्त देवता उस एक इन्द्र-परमात्माकी ही शक्ति एवं विभूतिविशेषरूप हैं। अतः वे उससे वस्तुतः पृथक् नहीं हो सकते। इसलिये इस देवसमुदायमें सर्वात्मत्व-ब्रह्मत्वरूप लक्षणवाले इन्द्रत्वका प्रतिपादन करनेके लिये अग्नि आदि प्रत्येक पदके साथ इन्द्रपदका प्रयोग किया गया है और **'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्'** इस न्यायसे अर्थात् जैसे घटसे अभिन्न मृत्तिकासे अभिन्न शरावका घटसे भी अभिन्नत्व हो जाता है, वैसे ही अग्निसे अभिन्न इन्द्र-परमात्मासे अभिन्न सोमका भी अग्निसे अभिन्नत्व हो जाता है—इस न्यायसे अग्नि, सोम आदि देवोंमें भी परस्पर भेदका अभाव ज्ञापित होता है और इन्द्र-परमात्माका अनन्यत्व सिद्ध हो जाता है, जो भक्तिका खास विशेषण है।

नामभक्ति और रूपभक्ति

यह जीव अनादिकालसे संसारके कल्पित नाम-रूपोंमें आसक्त होकर विविध प्रकारके दुःखोंको भोग रहा है। अतः इस दुःखजनक आसक्तिसे छूटनेके लिये हमारे स्वतः प्रमाण वेदोंने **'विषस्यौषधं विषम्', 'कण्टकस्य निवृत्तिः कण्टकेन'**-की भाँति श्रीभगवान्‌के पावन मधुरतम मङ्गलमय नामोंकी एवं दिव्यतम साकार रूपोंकी भक्तिका उपदेश दिया है। जैसे—

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

(ऋक्० ३।३७।३ अथर्व० २०।१९।३)

'हे अनन्तज्ञाननिधि भगवन्! आपके पावन नामोंका परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार वाणियोंके द्वारा भक्तिके साथ हम उच्चारण करते रहते हैं।'

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।

(ऋक्० ८।११।५)

'अमर्त्य-अविनाशी आप भगवान्‌के महिमाशाली नामका हम श्रद्धाके साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं।'

इसी प्रकार उपासनाके लिये दिव्यरूपवान् साकार विग्रहोंका भी वर्णन किया गया है। जैसे—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्णः।

(ऋक्० २।३५।१०)

'हिरण्य अर्थात् सुवर्ण-जैसा हित-रमणीय जिसका रूप है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी जिसकी हिरण्यवत् दिव्य हैं, वर्ण अर्थात् वर्णनीय साकार विग्रह भी जिसका हिरण्यवत् अतिरमणीय सौन्दर्यसारसर्वस्व है, ऐसा वह क्षीरोदधि-जलशायी भगवान् नारायण अतिशय भक्तिद्वारा प्रणाम करने योग्य है'—

अर्हन् बिभर्षि सायकानि
धन्वार्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं
न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥

(ऋक्० २।३३।१०)

'हे अर्हन्—सर्व प्रकारकी योग्यताओंसे सम्पन्न! विश्वमान्य! परम पूज्य! तू दुष्टोंके निग्रहके लिये धनुष एवं बाणोंको धारण करता है। हे अर्हन्—सौन्दर्यनिधि प्रभो! भक्तोंको संतुष्ट करनेके लिये तू अपने साकार विग्रहमें दिव्य-विविधरूपवान् रत्नोंका हार धारण करता है। हे अर्हन्—विश्वस्तुत्य! तू इस अतिविस्तृत विश्वकी अपनी अमोघ एवं अचिन्त्य शक्तिद्वारा रक्षा करता है। हे रुद्र—दुःखद्रावक देव! तुझसे अन्य कोई भी पदार्थ अत्यन्त ओजस्वी अर्थात् अनन्त वीर्यवान् एवं अमित पराक्रमवान् नहीं है।'

अजायमानो बहुधा वि जायते।

(शुक्लयजु० ३१।१९)

'वह प्रजापति परमेश्वर निराकाररूपसे वस्तुतः अजायमान है और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्तिद्वारा भक्तोंकी भावनाके अनुसार उपासनाकी सिद्धिके लिये दिव्य साकार विग्रहोंसे बहुधा जायमान होता है।'

पूर्वोक्त मन्त्रामे वर्णित हिरण्यवत् रूपवाला तथा धनुष-बाण एव हार धारण करनेवाला हस्तपादकण्ठादिमान् साकार भगवान् ही हो सकता है, निराकार ब्रह्म नहीं, क्योकि उसम पूर्वोक्त वर्णन कभी सगत नहीं हो सकता। अत सिद्धान्तरूपसे यह माना गया है कि सगुण-साकार ब्रह्म उपास्य होता ह एव निर्गुण-निराकार ब्रह्म ज्ञेय।

परम प्रेमास्पद एव परमानन्दनिधि भगवान्

प्रेष्ठमु प्रियाणा स्तुहि।

(ऋक्० ८। १०३। १०)

वेदभगवान् कहते हैं कि 'वह सर्वात्मा भगवान् धन-स्त्री आदि समस्त प्रिय पदार्थोसे भी निरतिशय प्रमका आस्पद ह, इसलिये तू उसकी स्तुति कर अर्थात् आत्मारूपसे—परमप्रियरूपसे उसका निरन्तर अनुसधान करता रह।'

प्रियाणा त्वा प्रियपतिः हवामह।

(शुक्लयजु० २३। १९)

'अन्यान्य समस्त प्रिय पदार्थोके मध्यम एकमात्र तू ही परमप्रिय पतिदेव है, यह मानकर हम सब भक्तजन तुझे ही पुकारते हे एव तुम्हारी ही कामना करते हुए आराधना करते रहत हैं।'

अच्छा म इन्द्र मतय स्वर्विद
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पति
मर्यं न शुन्ध्यु मघवानमूतय॥

(ऋक्० १०। ४३। १)

'ह प्रभा! एकमात्र तू ही निरतिशय-अखण्ड-आनन्दनिधि है यह मैं जानता हूँ इसलिय मरी य सभा बुद्धिवृत्तियाँ तुझ आनन्दनिधि स्वात्मभूत भगवान्से सम्बद्ध हुई तरा ही निश्चल अभिलाषा रखती हुई—जसे युवती पत्नियाँ अपन प्रियतम सुन्दर पतिदेवका समालिङ्गन करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं वैस तरा ही ध्यान करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं। अथवा जैस स्वरक्षणके लिये दरिद्रजन दयालु धनवान्का अवलम्बन करके दरिद्रताके दु खस मुक्त हो जाते हे, वैसे ही मरी ये बुद्धिवृत्तियाँ भी तुझ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव अनन्त-सुखनिधि सर्वात्मा भगवान्का ध्यान करती हुई समस्त दु खासे विमुक्त हो जाती हैं।' इसलिये ह भगवन्! तू—

यच्छा न शर्म सप्रथ॥

(ऋक्० १। २२। १५)

सुम्नमस्मे ते अस्तु।

(ऋक्० १। ११४। १०)

—'हमे अनन्त अखण्डकरसपूर्ण सुख प्रदान कर। हे परमात्मन्! हमारे अदर तेरा ही महान् सुख अभिव्यक्त हो।' ('शर्म' एव 'सुम्न' सुखके पर्याय हैं।)

इसलिये भावुक भक्त यह मङ्गलमयी प्रतीक्षा करते हुए अपने परम प्रमास्पद भगवान्से कहते ह—

कदा न्व न्तर्वरुणे भुवानि।
कदा मृळीक सुमना अभि ख्यम्॥

(ऋक्० ७। ८६। २)

'ह विभा! कब मैं पवित्र एव एकाग्र मनवाला होकर सत्य आनन्दमय आपका साक्षात् दर्शन करूँगा? और कब मैं सर्वजन-वरणीय अनन्तानन्दनिधिरूप आप वरुणदेवमें अन्तर्भूत—तादात्म्य-भूत हो जाऊँगा?' हे भगवन्! तेरे पावन अनुग्रहसे ही मेरी यह अभिलाषा पूर्ण सफल हो सकती है, इसलिये मैं तेरी ही भक्तिमयी प्रार्थना करता हूँ।

एकात्मभाव

वह एक ही सर्वेश्वर भगवान् समस्त विश्वके अन्तर्बहि पूर्ण ह व्याप्त है, अतएव वह निखिल चराचर विश्वका आत्मा ह अभिन्नस्वरूप है। वेदमन्त्र इस एकात्मभावका स्पष्टत प्रतिपादन करते हैं—

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षः
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

(ऋक्० १। ११५। १ शुक्लयजु० ७। ४२ अथर्व० १३। २)

'स्वर्ग पृथिवी एव अन्तरिक्षरूप यह परमेश्वर निखिल विश्वमे पूर्णरूपसे व्याप्त है वह सम्पूर्ण जगत्का सूर्य (प्रकाशक) है तथा वह स्थावर-जगमकी आत्मा है।'

पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश
तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।

(शुक्लयजु० २३। ५२)

'शरीरादिरूपसे परिणत पाँच पृथिव्यादि भूतोंके भीतर पुरुष अर्थात् पूर्ण परमात्मा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये प्रविष्ट हुआ है तथा उस अधिष्ठान-पुरुषके भीतर वह भूत-भौतिक जगत् अर्पित है—अध्यारोपित है।' जैसे आभूषणोंमें सुवर्ण प्रविष्ट है एवं सुवर्णमें आभूषण आरोपित हैं, वैसे ही वह सर्वेश्वर भगवान् सबसे अनन्य है, सबका अभिन्नस्वरूप आत्मा है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं है।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(शुक्लयजु० ४०। ७)

'जिस ज्ञानके समय समस्त प्राणी एक आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् नाम-रूपात्मक आरोपित जगत्का अधिष्ठान आत्मामें बाध हो जाता है केवल आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है, ऐसे विज्ञानवाले एवं सर्वत्र एक आत्मभावका ही अनुदर्शन करनेवालेको उस समय मोह क्या एवं शोक क्या? अर्थात् अद्वय-आत्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानके शक्ति-द्वयरूप आवरणात्मक मोह एवं विक्षेपात्मक शोककी भी सुतरां निवृत्ति हो जाती है।'

ज्ञानवान् भक्तकी यही एकभक्ति है, वह उस एकको ही सर्वत्र देखता है और तदन्यभावका बाध करके उस एकमें ही वह तन्मय बना रहता है। वह एक अपना अभिन्नस्वरूप आत्मा ही है। अतएव जो यथार्थमें ज्ञानवान् है, वह भक्तिशून्य भी नहीं रह सकता और जो सच्चा भक्त है, वह अज्ञानी भी नहीं हो सकता। ज्ञानीके हृदयमें अनन्य भक्तिकी निर्मल मधुर गङ्गा प्रवाहित रहती है तथा भक्तका हृदय अद्वय-ज्ञानके विमल प्रकाशसे देदीप्यमान रहता है। इस प्रकार ज्ञान एवं भक्तिका सामञ्जस्य ही साधक—कल्याण-पथिकको निःश्रेयसके शिखरपर पहुँचा देता है।

पराभक्ति

पराभक्तिके ही पर्याय हैं—अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तभक्ति एवं फलभक्ति। अतएव भजनीय भगवान्के अनन्य—अभिन्न स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(शुक्लयजु० ४०। ५)

'वह समस्त प्राणियोंके भीतर परमप्रिय आत्मारूपसे अवस्थित है एवं सबके बाहर भी अधिष्ठानरूपसे अनुगत है।'

अतएव वह मुझसे भी अन्य नहीं है—अनन्य है, अभिन्न है, इस भावको दिखानेके लिये श्रुति भावुक भक्तकी प्रार्थनाके रूपमें कहती है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

(ऋक्० ८। ४४। २३)

'हे अग्ने! परमात्मन्! मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय—इस प्रकार तेरा एवं मेरा अभेद-भाव हो जाय तो बड़ा अच्छा रहे। ऐसे अनन्य प्रेम-विषयके तेरे सदुपदेश मेरे लिये सत्य अनुभवके सम्पादक हों। या तेरे शुभाशीर्वाद सत्य—इष्ट-सिद्धिके समर्पक हों, यही मेरी प्रेममयी प्रार्थना है।' जीवात्माके साथ ईश्वरात्माका अभेदभाव हो जानेपर ईश्वरात्मामें परोक्षत्वकी निवृत्ति होती है और ईश्वरात्माके साथ जीवात्माका अभेदभाव हो जानेपर जीवात्मामें संसारित्वकी एवं सद्वितीयत्वकी निवृत्ति होती है।

उस प्रियतम आत्मस्वरूप इष्टदेवसे भिन्न बाहर एवं भीतर अन्य कोई भी पदार्थ द्रष्टव्य एवं चिन्तनीय न रहे, यही भक्तिमें अनन्यत्व है। आँखें सर्वत्र उसे ही देखती रहें, परमप्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोंके सामने रहें। वे आँखें ही न रहें, जो तदन्यको देखना चाहें, वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय, जिसमें तदन्यका भाव हो, चिन्तन हो। अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है, जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—हे आराध्यदेव! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्यकी नहीं। ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुझसे अन्य कुछ भी तो नहीं है। अतः—

विश्वरूपमुप ह्वये अस्माकमस्तु केवलः।

'मैं सर्वत्र विश्वरूप तुझ सर्वात्माका ही अनन्यभावसे

अनुसधान करता रहता हूँ, हमारे लिये तू ही एकमात्र द्रष्टव्य बना रहे।' तू ही एकमात्र 'सत्य शिव सुन्दरम्' है, अन्य नहीं, इसलिये मैं तुझे ही चाहता एव रटता हुआ तुझम ही लीन होना चाहता हूँ। मुझमे तेरी तन्मयता इतनी अधिक बढ जाय कि मे तू हो जाऊँ और तू मैं बन जाय। तुझसे में अन्य न रहूँ एव तू मुझस अन्य न रहे। तुझमे एव मुझम अभेदभावकी प्रतिष्ठा हो जाय। मेरा यह तुच्छ 'मैं' उस महान् 'तू' म जलम बरफकी भाँति गल-मिल जाय। यही अनन्य पराभक्तिका स्वरूप है। अन्तमे एकमात्र वही रह जानसे यह एकान्त-भक्ति भी कहलाती है।

अतएव उस प्रियतम परमात्माके साथ अभेदभावके बोधक इस प्रकारके अनेक वेदमन्त्र उपलब्ध हैं। जैसे—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धन न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।

(ऋक्० १०। ४८। ५)

'मैं स्वय इन्द्र-परमात्मा हूँ, अत मैं किसीस भी पराजित नहीं हो सकता। परमानन्दनिधिरूप मेरे धनको कोई भी अभिभूत नही कर सकता। अत मै कभी भी मृत्युके समक्ष अवस्थित नहीं रह सकता, क्याकि मैं स्वय अमृत—अभयरूप इन्द्र हूँ।'

अग्निरस्मि जन्मना जातवदा घृत मे चक्षुरमृत म आसन्।

(ऋक्० ३। २६। ७)

'मैं स्वभावसे ही अनन्तज्ञाननिधि अग्नि-परमात्मा हूँ, मेरा चैतन्यप्रकाश सर्वत्र विभासित है मेरे मुखम सदा कल्याणमय अमृत अवस्थित है।'

इस प्रकार ज्ञान अद्वैतरूप है तो भक्ति अनन्यरूपा है। दोनोका लक्ष्य एक ही है। अतएव सिद्धान्तमे दोनाका तादात्म्य-सम्बन्ध माना गया है। अत ज्ञानक विना भक्तिकी सिद्धि नहीं आर भक्तिके बिना ज्ञानकी निष्ठा नहीं। भक्ति तथा ज्ञान एक ही कल्याण-प्रेमी साधकमे मिश्री ओर दूधकी भाँति घुले-मिले ह।

भक्तिके साधन

वेदाकी सहिताआम सत्सग श्रद्धा अद्राह, दान, ब्रह्मचर्य कामादि-दाप-निवारण आदि अनक भक्तिके साधनाका वर्णन मिलता हे। उन्हे यहाँ क्रमश सक्षेपम प्रदर्शित किया जाता है—

(१) सत्सग

पुनर्ददताघ्नता जानता स गमेमहि॥

(ऋक्० ५। ५१। १५)

'दानशील—उदार स्वभाववाले, विश्वासघातादि-दोषरहित, विवेक-विचारशील ज्ञानी भक्तको हम बार-बार सगति करते रह।' इस मन्त्रम भक्तिके हेतुभूत सत्सगका स्पष्ट वर्णन है।

(२) श्रद्धा

श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(शुक्लयजु० १९। ३०)

श्रद्धे श्रद्धापयेह न ॥

(ऋक्० १०। १५१। ५)

'श्रद्धा-विश्वासद्वारा सत्य-परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

'हे श्रद्धादेवी। हमारे हृदयम रहकर तू हम श्रद्धालु—आस्तिक बना।'

(३) अद्रोह

मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

(शुक्लयजु० ३६। १८)

'मित्रभावकी (हितकर, मधुर) दृष्टिसे मैं समस्त भूत-प्राणियाको देखता हूँ, अर्थात् मैं किसीस कभी भी द्वेष एव द्रोह नहीं करूँगा।' तात्पर्य यह कि शक्तिके अनुसार सबकी भलाई ही करता रहूँगा, भला चाहूँगा, भला कहूँगा एव भला ही करूँगा। (इस मन्त्रम मानवको प्राणिमात्रके कल्याणम तत्पर रहनेका स्पष्ट उपदेश दिया गया है।)

(४) दान—उदारता

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त स किर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

'हे मानव। सो हाथके उत्साह एव प्रयत्नद्वारा तू धन-धान्यादिका सम्पादन कर और हजार हाथकी उदारताद्वारा तू उसका दान कर—योग्य अधिकारियाम वितरण कर।'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्।

(ऋक्० १०। ११७। ५)

'धनवान् सत्कायक लिय याचना करनवाल सत्पात्रको धनादिका अवश्य दान कर।'

केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

'अतिथि, बन्धुवर्ग, दरिद्र आदिको न देकर जो केवल अकेला ही अन्नादि खाता है, वह अन्न नही मानो पाप ही खाता है।' इसलिये शक्तिके अनुसार अन्याको कुछ देकर ही पुण्यमय अन्न खाना चाहिये।

(५) ब्रह्मचर्य—सयम

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व० ११। ५। १९)

'ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसक लाभद्वारा ही मानव दैवीसम्पत्तिसम्पन्न देव हो जाते हैं और वे अनायास ब्रह्मविद्या एव अनन्य भक्तिका सम्पादन करके अविद्यारूप मृत्युका विध्वस कर देते हैं।'

माध्वीर्गावो भवन्तु न ॥

(ऋक्० १। ९०। ८ शुक्लयजु० १३। २९)

'हे प्रभो! मेरी इन्द्रियाँ मधुर अर्थात् सयम-सदाचारद्वारा प्रसन्नतायुक्त बनी रहे'—इनमे असयमरूपी कटुता—विक्षेप न रहे, ऐसी कृपा कर।

(६) मोहादि षड्दोष-निवारणका उपदेश

उलूकयातु शुशुलूकयातु जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातु दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋक्० ७। १०४। २२ अथर्व० ८। ४। २२)

'हे इन्द्रस्वरूप जीवात्मन्! दिवान्ध उलूकके समान आचरण करनवाले मोहरूपी राक्षसका, शुशुलूक (भेडिये)-के समान आचरण करनेवाले क्रोधरूपी राक्षसका श्वा (कुत्ता)-के समान आचरण करनेवाले मत्सररूपी राक्षसका तथा कोक (चकवा-चकवी) पक्षीके समान आचरण करनेवाले कामरूपी राक्षसका, सुपर्ण (गरुड)-के समान आचरण करनेवाले मदरूपी राक्षसका तथा गृध्र (गीध)-के समान आचरण करनेवाले लोभरूपी राक्षसका सदुपायाके द्वारा विध्वस कर और जैसे पत्थरसे मिट्टीके ढलको पीस दिया जाता है, वैसे ही उन छ मोहादि दोपरूपी राक्षस शत्रुआको पीस डाल।'

इस प्रकार वेदोंकी परम प्रामाणिद सहिताओंम भगवद्भक्तिके अनेक साधनाका स्पष्ट वर्णन मिलता है। इन साधनाम सत्सग नन्दनवन है, सयम कल्पवृक्ष ह ओर श्रद्धा कामधेनु हैं। जब साधक इस दिव्य नन्दनवनके कल्पवृक्षकी शीतल मधुमयी छायाम बैठकर कामधेनुका अनुग्रह प्राप्त करता है, तब उसी समय आनन्दमयी, अमृतमयी, शान्तिमयी भक्तिमाताका प्राकट्य हो जाता है ओर साधकका जीवन कल्याणमय, धन्य एव कृतार्थ हा जाता है।

उपसहार

अन्तमे वैदिक स्तुति-प्रार्थना-नमस्कारादि—जो भक्तिके विशेष अङ्ग हैं—मन्त्राद्वारा प्रदर्शित करके लेखका उपसहार किया जाता है—

यो भूत च भव्य च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥

(अथर्व० १०। ८। १)

नम साय नम प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकर नम ॥

(अथर्व० ११। २। १६)

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्र तन्न आ सुव॥

(ऋक्० ५। ८२। ५ शुक्लयजु० ३०। ३)

'जो भूत, भविष्यत् एव वर्तमानकालिक समस्त जगत्का अधिष्ठाता—नियन्ता है एव केवल स्व (विशुद्ध अनन्त आनन्द) ही जिसका स्वरूप हे उस ज्येष्ठ (अतिप्रशस्त—महान्) ब्रह्मको नमस्कार है। उसे सायकाल नमस्कार हो, प्रात काल नमस्कार हो। रात्रिम नमस्कार हो एव दिवसम नमस्कार हो। अर्थात् सर्वदा उसीकी आर हमारी भक्ति-भावसे भरी बुद्धिवृत्तियाँ झुकी रह उस विश्व-उत्पादक एव विश्व-उपसहारक भगवान्‌को म दाना हाथ जोडकर नमस्कार करता हूँ। हे सवितादेव! भगवन्! हमार समस्त दु खप्रद कश्मलाका तू दूर कर ओर जा कल्याणकर सुखप्रद भद्र ह, उसे हम समर्पण कर।' यहाँ नास्तिकता अश्रद्धा, अविवेक, दारिद्र्य, कार्पण्य असयम, दुराचार आदि अनक दापाका नाम दुरित है और तद्विपरीत आस्तिकता, श्रद्धा, विवेक, उदारता, नम्रता, सयम, सदाचार आदि सद्गुणाका नाम भद्र है।

हरि ॐ तत्सत्, शिव भूयात् सर्वेषाम्।

तपसा कि न सिध्यति!

(वद-दर्शनाचार्य महामण्डलश्वर पू० स्वामा श्रीगगश्वरानन्दजी महाराज)

श्रयोलिप्सुस्तप कुर्यात् तपसा कि न सिध्यति।
लेभिर तपसा भक्ता स्वर्ग चापन्निराकृतिम्॥

कल्याणका इच्छुक पुरुप तपकी साधना करे। तपसे क्या नहीं सधता? ऋपि, दवता आदि श्रद्धालु साधक भक्ताने तपके ही यलपर स्वर्ग ओर पावमानी ऋचाआके माध्यमसे अपनी विपत्तिसे छुटकारा पाया। प्रस्तुत वैदिक आख्यानम महिमान्वित तपस्याका प्रभाव अवलाकनीय एव उसम निहित शिक्षा ग्रहणीय-मननीय ह—

एक बार ऋपियाके निवास-प्रदेशम अत्यन्त व्यापक सूखा पडा। अनावृष्टिके प्रकोपसे सर्वनाशका दृश्य उपस्थित हो गया। ऋपि अत्यन्त त्रस्त हा उठे। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी।

ऋपियाने इसस त्राण पानेके लिये देवराज इन्द्रकी स्तुति की। फलस्वरूप देवेन्द्र वहाँ उपस्थित हुए। उन्हाने उनकी विपत्तिपर हार्दिक सवेदना व्यक्त करत हुए पूछा—'ऋपिया, इस महान् सकटके समय अबतक आप लोगाने किस प्रकार जीवन धारण किया?'

'देवन्द्र हम लोगाने गाडी, कृपि पशु, न बहनेवाला जल (झील-सरावर) वन समुद्र पर्वत आर राजा—इन सबक माध्यमस किसी तरह अबतक गुजारा किया।' इन्द्रकी स्तुति करते हुए आङ्गिरस शिशु ऋपिने अन्य ऋपियोकी उपस्थितिमे 'नानान०' तथा 'कारुरह०' (ऋक्० ९।११२।१, ३) आदि ऋचाआसे यह रहस्य बताया।

वे इन्द्रसे विपत्ति-निवारणका उपाय जाननेके लिये व्यग्र हो उठे। किंतु देवराज इन्द्र मान ही रह। केवल उँगलीसे उन्हाने अपनी ओर सकेतमात्र किया। ऋपिगणको उनका भाव समझते देर न लगी। उन्हाने समझ लिया कि इस तरह देवराज यह बताना चाहते ह कि 'देखो हम भी जो सामान्य व्यक्तिसे इन्द्र बने वह तपस्याक कारण ही। इसलिये आप लोग भी यदि अपनी विपत्तिका निवारण चाहत ह ता तपस्याका ही सहारा ल। उसके विना काई चारा नहीं। फलस्वरूप ऋपियान सामूहिक तप साधना शुरू की। उग्र तपक फलस्वरूप ऋपियाका साम (पवमान)-सम्बन्धी ऋचाआका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

फिर इन्द्रने आकर उनस कहा—'ऋपियो, वड साभाग्यकी वात ह कि आप लागाको उग्र तपस इन ऋचाआका दर्शन हुआ। सचमुच य ऋचाएँ अत्यन्त महत्त्वकी हैं। इनसे आपकी सारी आपदाएँ नष्ट हा जायँगी ओर आप लाग स्वर्गक भागी यनगे।'

पावमानी ऋचाआकी सर्वफलदातृत्व-शक्तिपर प्रकाश डालते हुए इन्द्रने कहा—'जा ईर्ष्यालु नहीं हे, जो अध्यवसायी, अध्यता, सेवक आर तपस्वी है, यदि वह इनका नित्य पाठ करता है ता अपन दस पूर्वके और दस उत्तरके वशजासहित स्वय पवित्र हो जाता हे। मन वचन, शरीरस किये सार पाप कवल इन पावमानी ऋचाआके पाठमात्रसे नष्ट हा जात ह।'

देवराजने आगे कहा—'ऋपियो, ये पावमानी गायत्रियाँ उज्ज्वल एव सनातन ज्योतिरूप परब्रह्म हे। जो अन्त समयमे प्राणायाम करते हुए इनका ध्यान करता है साथ ही पावमान पितरा, देवताआ और सरस्वतीका ध्यान करता है, उसके पितराक समीप दूध, घृत, मधु और जलकी धाराएँ बहने लगती हैं। इसलिये अब आप लाग कामधेनु-सी इन ऋचाआके बलपर अपनी सारी आपत्तियोस सर्वथा मुक्त हाकर अन्तमे स्वर्ग प्राप्त कर कृतकृत्य हो जायँगे।'

निम्न ऋचाआमें इस कथाका स्पष्ट सकेत किया गया है—

नानान वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्ट रुत भिपग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायन्दो परि स्रव॥

(ऋक्० ९।११२।१)

अर्थात् हम लोगाके कर्म या जीवनवृत्तियाँ अनेक प्रकारस चलती हैं। अन्य लाग भी अनेक प्रकारसे जीवन-यापन करते है। बढई या शिल्पकार काष्ठका तक्षण करके जीवन चलाता है। वैद्य रागीकी चिकित्सासे जीविका-निर्वाह करता है आर ब्राह्मण सामाभिपव करनेवाले यजमानको चाहता हे। इसलिये ह साम तुम इन्द्रके लिये परित क्षरित हा।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवो ऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
(ऋक्० ९।११२।३)

मैं तो कारु अर्थात् स्तुतिकर्ता हूँ। पुत्र भिषक् यानी भेषजकर्ता यज्ञका ब्रह्मा है। माता या दुहिता दाना भूँजती है या सत्तू पीसती है। नाना कर्म करते हुए धनकी कामनासे हम लोग ठीक उसी प्रकार यहाँ रह रहे हैं, जिस प्रकार गाय गोष्ठमे रहता ह। इसलिये हे सोम, इन्द्रक लिये तुम परित क्षरित हो।

—इन दोना ऋचाआसे बृहद्देवतोक्त उपर्युक्त कथाम अकालम ऋषियाद्वारा चलायी जानेवाली जीवनवृत्तियाका सकत मिलता है।

उपर्युक्त वर्णित ऋचाआके अतिरिक्त ऋग्वेद (९।८३।१ १०।१६७।१) तथा बृहद्देवता (६।१३९—१४६)-म भी इस कथाका उल्लख हुआ है।

वेदका अध्ययन

(गोलोकवासी महामहोपाध्याय प० श्रीविद्याधरजी गौड)

ससारम सभी जीव यह अभिलाषा करते हैं कि मुझे सुख सदा प्राप्त हो और दु ख कभी न प्राप्त हा। सुख और दु ख दोना ही जन्य हैं। अखण्ड ब्रह्मानन्दरूप नित्य-सुखक अतिरिक्त वृत्तिरूप सुख-दु ख सभी जन्य हैं, यह वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं। वृत्तिरूप सुख जब जन्य है, तब उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य मानना होगा। क्याकि ससारमे जितने जन्य पदार्थ ह, वे किसी-न-किसी कारणकी अपेक्षा अवश्य रखत हैं। कहा भी गया है—'कारण विना कार्यस्य उत्पत्तिर्भवत्येव नहि'। इसलिये प्रस्तुत सुख और दु ख-निवृत्तिरूप कार्योंका भी कोई-न-काई कारण अवश्य होना चाहिये। ऐसी स्थितिम वह कारण कौन है? या उसके अन्वेषणमे बुद्धि प्रवृत्त हाती है। कारण, गवेषणाम प्रवृत्त पुरुषका यह निश्चय होता है कि विविध विचित्रताआसे युक्त केवल इस चराचर जगत्का ही नहीं, अपितु तद्गत वैचित्र्यका भी कोई-न-कोई कारण होना चाहिये।

पहले वह लौकिक प्रमाणाद्वारा उक्त कारणको परखना चाहता है, किंतु प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि लौकिक प्रमाणोमे उसे बहुधा व्यभिचार दीख पडता है और उनकी ओर प्रवृत्तिम विफलता ही उसक हाथ लगती है। इस प्रकार लौकिक प्रमाणाम विफल-यत्न होकर वह पुरुष बुद्धिके अगोचर किसी अलोकिक प्रमाणके अन्वेषणम प्रवृत्त होता है। अन्वेषण करते-करते उसे अलाकिक अर्थकी प्रत्यायक कोई शब्दराशि, जा पुरुषबुद्धिसे अछूती और सकल पुरुषार्थोंकी अवभासक है प्राप्त होती ह। उसे पाकर उसके मनको शान्ति मिलती है एव आशान्वित और शान्तचित्त हा उसक द्वारा उपदिष्ट मार्गसे वह विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है। उसके अनुष्ठानसे उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है एव फल-प्राप्तिसे पूर्ण सतोष हाता है।

अलाकिक अर्थका प्रत्यायक जो शब्दराशिरूप प्रमाण उसे प्राप्त हुआ वही 'वद' कहा जाता ह। उससे प्रतिपाद्य जा अर्थ है वही 'धम' कहलाता है। वह सब पुरुषार्थोंका मूलभूत प्रथम पुरुषार्थ हे। धर्मसे ही अन्य तीन पुरुषार्थ (अर्थ, काम और माक्ष) प्राप्त हाते हैं। वही सारी कल्याणपरम्पराका सम्पादक तथा दु खका निवर्तक है। उसीम सब लोक प्रतिष्ठित हैं अर्थात् सब लाकाका वही आधार है।

कहा भी है—'धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा, धर्मेण पापमपनुदति' जा वेदातिरिक्त प्रमाणास अधिगम्य नहीं हैं, उन्हीं विविध प्रकारके धर्मोका प्राणियाके अनुग्रहार्थ अवबोधन करानेक लिये वेद प्रवृत्त हैं। इसीलिये वे 'वेद' कहलाते है। आर्योने वदके लक्षणका या उपदेश दिया ह—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एन विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥'

अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे जिस सुख तथा दु ख-निवृत्तिके उपायका परिज्ञान नहीं हो सकता, उसे लाग वदसे जानते हे इसीलिये वेद 'वेद' कहलात हैं।

हमारे प्राचीनतम महर्षिया तथा मनु आदि स्मृतिकाराने, जो सर्वज्ञकल्प थे, पूर्वाक्त अलाकिक श्रेयक साधन धर्मको अन्य प्रमाणास जाननकी इच्छा की। उसके लिये उन्हाने बहुत क्लेश सहे किंतु उसम उन्ह सफलता प्राप्त नहीं हुई।

अन्तम उन्हाने धर्मके विषयमे भगवान् वेदकी ही शरण ली। उन्हान स्पष्ट कहा है—'वेदो धर्ममूलम्' (गौ० ध० सू०), 'उपदिष्टो धर्म प्रतिवेदम्' (बौ० ध० सू०), 'श्रुतिस्मृतिविहिता धर्म ' (वा० ध०), 'वदाऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु०) आर एक स्वरसे सभीन वेदका प्रथम धर्ममूल वतलाया, तदुपरान्त वेदका अनुगमन करनेवाला स्मृतियाका भी वदानुसरणस ही धर्ममे प्रमाण वतलाया एव श्रुति-स्मृतिप्राक्त शिष्टाचारको भी उन्होने धमम प्रमाण माना।

इस प्रकार स्मृति आर शिष्टाचारका धर्मक विषयमें जा प्रामाण्य कहा गया हे, वह वदक अविराधसे ही है। यदि किसी अशम भी उनका वदसे विराध प्रतीत हाता ता उनम ग्राह्यता ही नहीं रहती।

इसी अभिप्रायसे महर्षियान कहा—'धर्मज्ञसमय प्रमाण तदलाभे शिष्टाचार प्रमाणम्' (वा० ध०)—अर्थात् धर्मवेत्ताका आचार प्रमाण है, उसके प्राप्त न होनेपर शिष्टाचार प्रमाण है। धर्मका स्वरूप न ता प्रत्यक्ष आदि लोकिक प्रमाणाद्वारा ग्राह्य है और न वह कोई मूर्ति ही रखता है। इसीलिय मीमासकाने भी 'चोदनालक्षणाऽर्थो धर्म ' (जै० सू० १। १। २), 'श्रेय साधनता ह्यषा नित्य वेदात् प्रतीयते' इत्यादि घापणा की है। यद्यपि याग, दान, हाम आदि कर्मोका ही धर्म वतला रहे ओर कर्मका प्रत्यक्षका विषय मान रहे भाट्टाक मतम धर्मम भी प्रत्यक्ष विषयता प्राप्त हाती है, तथापि वे धर्मका कर्मरूप नहीं कहत बल्कि अलाकिक श्रयका साधन कहते हैं। धर्मका वह स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणाद्वारा वद्य नहीं है, किंतु एकमात्र वदस ज्ञेय ह। तदनुसारिणी स्मृतियास भी वह ज्ञातव्य ह एव श्रुति आर स्मृतियाके अनुशालनरूप एक सस्कारस परिपक्व शिष्टबुद्धिस भी अभिगम्य है। इनक अतिरिक्त धर्मस्वरूपका परिचायक आर कुछ नहीं है।

इसी अभिप्रायका अनुसरण कर रह भगवान् महर्षि आपस्तम्बन भा कहा ह—'न धर्माधर्मौ चरत 'आव स्व' इति न दवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतऽय धर्मोऽयमधर्म इति॥ य त्वार्या क्रियमाण प्रशसन्ति स धर्मो य गर्हन्त सोऽधर्म ॥' (आपस्तम्ब धमसूत्र ७।६-७) अथात् धर्म और अधर्म हम हैं हमारा आचरण करा एसा नहीं कहत। न देवता कहत हैं न गन्धर्व ही कहत हैं आर न पितर ही कहत ह कि यह धर्म हे तथा यह अधर्म हे। जिस आचरणका आर्य-जन (श्रेष्ठ पुरुष) श्लाघा करत है, वह धर्म ह आर जिसकी गर्हा करते हैं, वह अधर्म है।

प्रामाणिक और परीक्षक इस प्रकार अरण्यसिह-न्यायस प्रमाणान्तरसे अवद्य धर्मके स्वरूपका परिचायक हानस ही वदक प्रामाण्य ओर गोरवका बखान करते हैं। पुरुषबुद्धिक दोषलशस असस्पृष्ट सर्वज्ञकल्प वदाद्वारा अभिगम्य हानक कारण ही धर्मम लाग अटूट और अटल गौरव रखते ह। इस प्रकारक अतिगम्भीर वदास वद्य धर्मस्वरूपको ठीक-ठीक जाननेक लिय असमर्थ मन्दबुद्धियापर वे भी धर्मस्वरूपका यथार्थरूपसे जानकर उसका आचरण कर विशिष्ट सुख आर दु खनिवृत्ति प्राप्त कर परमानन्दभागी हा, या अनुग्रह करनेके लिये लोकम वद प्रवृत्त हैं। वद ही क्या, वेदानुगृहीत सब वदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष आर छन्द तथा पुराण, न्याय और मीमासारूप सब उपाङ्ग, बहुत क्या कह, सारा-का-सारा सस्कृत वाङ्मय भगवान् वेदपुरुषका ज्ञान कराकर वेदार्थका विशद करनेके लिये वदप्रतिपाद्य धर्मस्वरूपकी सरल रीतिसे व्याख्या करनेके लिये आख्यान-उपाख्यान आदि कहते हुए तत्तत्-धर्मोम उन-उन अधिकारी पुरुषाको प्रवृत्त करानेक लिये ही लाकम प्रवृत्त है।

केवल सस्कृत वाङ्मयके ही नहीं भारत देशके सभी भाषामय ग्रन्थ विविध प्रकारस उसी (पूर्वोक्त) अर्थका विवरण प्रस्तुत करते हैं।

इसलिये हमारा सारा-का-सारा शब्द-सदर्भ साक्षात् या परम्परास भगवान् वदपुरुषका अवयव ही है, ऐसा वस्तुत विचार करनेपर सर्वव्यापी सर्वशक्तिशाली वेदपुरुषमें अन्यून (समान) बुद्धि आर अन्यून गारव रखनवाले हम लाग—हमारी यह मति अनुचितकारिणी नहीं है यह हृदयस स्वाकार करत हैं।

इस प्रकार धर्म ही सब प्राणियाका साक्षात् अथवा परम्परास सम्पूर्ण पुरुषार्थ अधिकारानुसार प्रदान करता है। उक्त धर्मका वदस ही ठीक-ठीक परिज्ञान किया जा सकता है। वद आर वदका अनुसरण करनवाल स्मृति आदि प्रमाणास ज्ञात नियमत तथा विधि-विधानम अनुष्ठित धर्म

ही अर्थ और कामरूप पुरुषार्थोंके प्रदानपूर्वक मोक्षरूप नि श्रेयस तक प्रदान करता है।

वेद यदि विधिपूर्वक गुरुमुखसे पढा जाय तभी वह अपने अर्थको अवबोधित कराता हुआ अभिलषित फल प्रदान करता है। जो नियमोका पालन नहीं करता, उसके द्वारा सविधि न पढा गया वेद नियमपूर्वक अध्ययनके बिना (यहाँ अध्ययन गुरुमुखसे उच्चारणके अनन्तर उच्चारण अभिप्रेत है।) पुस्तक देखकर कण्ठस्थ किया गया, खूब अभ्यस्त भी, कर्ममे विधिपूर्वक प्रयुक्त भी कुछ फल पैदा नहीं करता। इसलिये जो लोग वेदाध्ययनके अङ्गभूत स्मृति आदि ग्रन्थामे प्रतिपादित नियमोकी कोई परवाह न कर मनमाने ढगसे रघुवशादि काव्याके तुल्य वेदको कण्ठस्थ कर उसी शब्दराशिको कर्मोंम प्रयुक्त करते हैं, कर्मम प्रयुक्त उस निस्सार शब्दराशिसे अथवा उसके अनुसार किये गये कर्मका कोई फल न देख, वे वदिक कर्मोंकी निष्फलता और वैदिक मन्त्रोकी निस्सारताका ढिढोरा पीटते फिरते ह एव श्रद्धालुजनाको मोहमे डालते हैं। **'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'**—इस न्यायके अनुसार यह सब उनके स्वकृत दोषका अज्ञान ही है।

वैदिक मार्गकी यह दुर्दशा इधर प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हो रही है। वेदमार्गनिरत श्रद्धालु धार्मिक जनाको इसे रोकना चाहिये।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि नियमानुसार अधीत वेदसे ही अर्थज्ञान करके कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। नियमपूर्वक गुरुमुखसे अधीत सारगर्भित मन्त्राका ही कर्मोंम प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार किये गये कर्म ही अपना-अपना फल देनेमें समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं।

जैसे अकुर उत्पन्न करनेम समर्थ सारी शक्ति अपनेमे रखते हुए भी धान, गहूँ, जो आदिके बीज उचित देश, काल और सस्कारके अभावमे अकुर उत्पन्न नहीं कर सकते, वैसे ही यज्ञ आदि कर्म भी सम्पूर्ण फल-जननशक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी यदि ठीक-ठीक अनुष्ठित न किया जाय तो कदापि फलोत्पादक नहीं होता। इसलिये धर्मानुष्ठानसे फल चाहनवाले पुरुषाको पहले कर्मवैगुण्यसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसलिये शबरस्वामीने कहा है—**'स यथावदनुष्ठित पुरुष नि श्रेयसेन सयुनक्ति सयुनक्ति'** अर्थात् धर्म यदि यथाविधि अनुष्ठित हो ता वह अनुष्ठाता पुरुषके लिये कल्याणप्रद होता हे। अत धर्म पुरुषके अभिलषित सर्वविध कल्याणोका प्रापक हे ओर वह एकमात्र वेदसे ज्ञेय है। वेद भी विधि, अर्थवाद, मन्त्र, निषेध ओर अभिधेय-रूपसे विविध प्रकारका है। अपने सभी विध्यादि प्रकारा (भागा)-से वह धर्मका ही प्रतिपादन करता है।

विधि—यह धर्मस्वरूप, धर्मके अङ्ग, द्रव्य, देवता अथवा अन्यका विधान करती ह। अर्थवाद—यह पुरुषोकी रुचि-उत्पादनद्वारा धर्मम उन्ह प्रवृत्त करनेके लिये धर्मकी स्तुति करता है। मन्त्र—यह अनुष्ठानके समय उच्चरित होकर उसीका (धर्मका ही) स्मरण कराता है। निषेध—यह अधर्मके स्वरूपका ज्ञान कराता हुआ अधर्मसे भिन्न धर्म ह, इसीका प्रतिपादन करता है। अभिधेय—यह कर्मकी सज्ञा है। यह अधर्मसे धर्मको पृथक् करता हुआ सकल्प, व्यवहार आदिमे *सहायता पहुँचाता है।*

इसीलिये सूत्रकार भगवान् जैमिनिने विविध स्थलाम कहा है—**'तद्भूताना क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्'** (जै० सू० १। १। २५), **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थाना तस्मादनित्यमुच्यते।'** (जै० सू० १। २। १), **'उक्त समाम्नायैतदर्थं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात्'** (जै० सू० १। ४। १)।

इस प्रकार वेदका काई एक अश भी ऐसा नहीं है, जो धर्मका प्रतिपादन न करता हो। उसके द्वारा पुरुपको श्रय प्राप्ति होती है, अत उसका कहींपर त्याग नहीं किया गया है। उसीसे मनुष्य अपनेको कृतार्थ मानता है। अतएव भगवान् मनुने यह स्पष्ट-रूपसे कहा है—**'वेद एव द्विजातीना नि श्रेयसकर पर'** (अर्थात् वेद ही द्विजातियाके लिये परम नि श्रेयसकर है)।

इसलिये सव प्रकारसे कल्याणकारी वेदका विधिपूर्वक अध्ययन कर और नियमानुसार उसका अर्थ जानकर विधि-विधानके साथ अपने अधिकारानुरूप तत्तत्-विविध कर्मोंका अनुष्ठान कर लाग अपनी अभिलषित सुख-प्राप्ति और दु ख-निवृत्तिका सम्पादन करगे, ऐसी आशा हे। य सारी शुभाशसाएँ अपने मनम रखकर ही हमार प्राचीन आचार्य कहते हैं—**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'**

वेदोमें भेद और अभेद-उपासना

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूणस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
(बृहदारण्यक० ५। १। १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह ससार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है, क्याकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (ससार) प्रकट हुआ है, पूर्ण (ससार)-के पूर्ण (पूरक परमात्मा)-को स्वीकार करके उसम स्थित हानेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेप रह जाता है।'

हिदू-शास्त्रोका मूल वद ह, वेद अनन्त ज्ञानके भण्डार हैं, वेदाका ज्ञानकाण्ड उसका शीर्षस्थानीय या अन्त ह, वही उपनिपद् या वेदान्तके नामसे ख्यात है। उपनिपदाम ब्रह्मक स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया गया है ओर साथ ही उसकी प्राप्तिके लिये विभिन रुचि और स्थितिके साधकोके लिय विभिन्न उपासनाआका प्रतिपादन किया गया है। उनमं जो प्रतीकोपासनाका वर्णन है,उसे भी एकदेशीय ओर सर्वदेशीय—दोना ही प्रकारसे करनेको कहा गया है। ऐसी उपासना स्त्री, पुत्र, धन, अन्न, पशु आदि इस लाकक भोगाकी तथा नन्दनवन, अप्सराएँ और अमृतपान आदि स्वर्गीय भोगाकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेका भी प्रतिपादन किया गया है एव साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भा अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। उनमसे इस लोक और परलोकके भोगाको प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाओके सम्बन्धम यहाँ कुछ लिखनेका अवसर नहीं है। उपनिषदाम परमात्माकी प्राप्तिविपयक उपासनाआके जो विस्तृत विवचन हैं, उन्हींका यहाँ वहुत सक्षेपमे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

उपनिपदाम परमात्माकी प्राप्तिके लिय दृष्टान्त उदाहरण रूपक सकेत तथा विधि-निपधात्मक विविध वाक्योके द्वारा विविध युक्तियासे विभिन्न साधन वतलाये गये हैं उनमंसे किसी भी एक साधनके अनुसार सलग्न होकर अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। उपनिपदुक्त सभी साधन—१-भेदापासना और २-अभेदापासना—इन दो उपासनाआक अन्तर्गत आ जाते हैं। भेदापासनाक भी दा प्रकार हैं। एक तो वह जिसम साधनम भेदभावना रहती है और फलम भी भेदरूप ही रहता है और दूसरी वह, जिसमे साधनकालम तो भेद रहता है, परतु फलम अभेद होता है। पहले क्रमश हम भेदोपासनापर ही विचार करते हैं।

भेदोपासना

भेदोपासनाम तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं—१-माया (प्रकृति), २-जीव ओर ३-मायापति परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिपदाम कई जगह आता है। प्रकृति जड है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान् आर परिणामी है। जीवात्मा और परमेश्वर—दोनो ही नित्य चेतन और आनन्दस्वरूप हैं, किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सवज्ञ ह, जाव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं, जीव अश है और परमेश्वर अशी हैं, जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी हे एव जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य हैं। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवाके कल्याणके लिये उपदेश भी देते है।

इस विषयमे केनोपनिपद्मे एक आख्यान आता है। एक समय परमेश्वरके प्रतापसे स्वर्गके देवताओने असुरापर विजय प्राप्त की, पर देवता अज्ञानसे अभिमानवश यह मानने लगे कि हमारे ही प्रभावसे यह विजय हुई है। दवताआके इस अज्ञानपूर्ण अभिमानका दूर कर उनका हित करनके लिये स्वय सच्चिदानन्दघन परमात्मा उन दवताआके निकट सगुण-साकार यक्षरूपमे प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये इन्द्रादि देवताओने पहले अग्निको भेजा। यक्षन अग्निसे पूछा—'तुम कौन हा ओर तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होने उत्तर दिया कि 'मैं जातवेदा अग्नि हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको जला सकता हूँ।' यक्षने एक तिनका रखा और उसे जलानेको कहा, किंतु अग्नि उसको नहीं जला सके एव लौटकर देवताआसे बोले—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तदनन्तर देवताआके भेजे हुए वायुदेव गये। उनसे भी यक्षने यही पूछा कि 'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होने कहा—'मैं मातरिश्वा वायु हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको उडा सकता हूँ।' तव यक्षने उनके सामने भी एक तिनका रखा किंतु वे उसे उडा नहीं सके और लौटकर उन्होने भी देवताआसे

यही कहा कि 'मैं इसको नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?' तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रदेव गये, तब यक्ष अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर इन्द्रने उसी आकाशमें हैमवती उमादेवीको देखकर उनसे यक्षका परिचय पूछा। उमादेवीने बतलाया कि 'वह ब्रह्म था और उस ब्रह्मकी ही इस विजयमें तुम अपनी विजय मानने लगे थे।' इस उपदेशसे ही इन्द्रने समझ लिया कि 'यह ब्रह्म है।' फिर अग्नि और वायु भी उस ब्रह्मको जान गये। इन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना, इसलिये इन्द्र, अग्नि और वायुदेवता अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ माने गये।

इस कथासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। गीता (१०। ४१)-में भी श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम्॥

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया है कि उपासक अपने उपास्यदेवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है। कठोपनिषद् (१। २। १६-१७)-में सगुण-निर्गुणरूप आकारकी उपासनाका भेदरूपसे वर्णन करते हुए यमराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनः श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

'यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और अक्षर ही परब्रह्म है इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

इसलिये कल्याणकामी मनुष्योंको इस दुःखरूप संसार-सागरसे सदाके लिये पार होकर परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही उनकी उपासना करनी चाहिये, सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं। वे परमेश्वर इस शरीरके अंदर सबके हृदयमें निराकाररूपसे सदा-सर्वदा विराजमान हैं, परंतु उनको न जाननेके कारण ही लोग दुःखित हो रहे हैं। जो उन परमेश्वरकी उपासना करता है, वह उन्हें जान लेता है और इसलिये सम्पूर्ण दुःखों और शोकसमूहोंसे निवृत्त होकर परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद् (३। १। १—३)-में भी बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)-का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस शरीररूपी समान वृक्षपर रहनेवाला जीवात्मा शरीरकी गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है और असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है किंतु जब कभी भगवान्‌की अहैतुकी दयासे भक्तोंद्वारा नित्यसेवित तथा अपनेसे भिन्न परमेश्वरको और उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लेता है तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है तथा जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत्‌के रचयिता, दिव्यप्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है उस समय पुण्य-पाप—दोनोंसे रहित होकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।'

वह सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है। वह सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ सर्वव्यापी, अकारण दयालु और परम प्रेमी हृदयस्थित

निराकार परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उस भजने-याग्य परमात्माकी शरण लेनसे मनुष्य सार दु ख, क्लेश, पाप और विकारोसे छूटकर परम शान्ति और परम गतिस्वरूप मुक्तिका प्राप्त करता है। इसलिये सबकी उत्पत्ति, स्थिति आर प्रलय करनेवाले सवशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् उस सवसुहृद् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे उसीकी शरण लेनी चाहिये।

श्वेताश्वतरापनिषद् (३। १७)-म परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है, उसमेसे कुछ मन्त्र यहाँ दिय जाते ह—

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्य शरण बृहत्॥

'जो परमपुरुष परमेश्वर समस्त इन्द्रियासे रहित होनपर भी समस्त इन्द्रियाक विषयाको जाननवाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक आर सबसे बडा आश्रय है, उसकी शरण जाना चाहिये।'

अणारणीयान् महता महीया-
नात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तो।
तमक्रतु पश्यति वीतशाका
धातु प्रसादान्महिमानमीशम्॥
(श्वेताश्वतर०३। २०)

'वह सूक्ष्मस भी अतिसूक्ष्म तथा बडस भी बहुत बडा परमात्मा इस जावकी हृदयरूप गुफाम छिपा हुआ ह सबकी रचना करनवाल परमश्वरका कृपास जा मनुष्य उस सकल्परहित परमश्वरका आर उसकी महिमाको दख लता है वह सब प्रकारक दु खास रहित हाकर आनन्दस्वरूप परमश्वरका प्राप्त कर लता ह।'

आर भा कहा है—

माया तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतस्तु व्याप्त सर्वमिद जगत्॥
या यानि यानिमधितिष्ठत्यको
यस्मिन्निद स च वि चति सर्वम्।
तमाशान वरद दवमाड्य
निचाय्यमा शान्तिमत्यन्तमति॥
(श्वेताश्वतर० ४। १० ११)

माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये आर महेश्वरको मायापति समझना चाहिये, उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। जो अकेला ही प्रत्येक यानिका अधिष्ठाता हो रहा है, जिसम यह समस्त जगत् प्रलयकालम विलीन हो जाता है और सृष्टिकालम विविध रूपाम प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता, वरदायक स्तुति करनेयाग्य परमदेव परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनकरूपम्।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार
ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमति॥
(श्वेताश्वतर० ४। १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वका रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्का सब ओरसे घेर रखनवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हाता है।'

एका देव सर्वभूतेषु गूढ
सर्वव्यापी सवभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास
साक्षी चेता कवलो निर्गुणश्च॥
एको वशी निष्क्रियाणा बहूना-
मेक बीज बहुधा य करोति।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तपा सुख शाश्वत नेतरेषाम्॥
(श्वेताश्वतर० ६। ११-१२)

'वह एक दव हा सब प्राणियाम छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियाका अन्तर्यामी परमात्मा है वहा सबक कर्मोका अधिष्ठाता सम्पूर्ण भूताका निवासस्थान, सबका साक्षी चतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध ओर गुणातीत है तथा जा अकेला ही बहुत-स वास्तवम अक्रिय जावाका शासक है आर एक प्रकृतिरूप बाजका अनक रूपाम परिणत कर दता है उस हृदयस्थित परमश्वरका जा धार पुरुष निरन्तर अनुभव करत हैं उन्हींको सदा रहनवाला परमानन्द प्राप्त हाता है दूसराका नहीं।'

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्व
यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।

तः ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश
मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये॥
(श्वेताश्वतर० ६। १८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबके पहले ब्रह्माको उत्पन्न रता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माका समस्त वेदोका न प्रदान करता है, उस परमात्मविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण लेता हूँ।'

जिसमे साधनमे भी भेद हो और फलमे भी भेद हो, एसी भेदोपासनाका वर्णन यहाँ किया गया, अब साधनमे तो भेद हो किंतु फलमे अभेद एसी उपासनापर आगे विचार किया जायगा। [क्रमश]

वेदकी ऋचाएँ स्पष्ट करती है—'परब्रह्मकी सत्ता'

(सर्वपल्ली डॉ० श्राराधाकृष्णनजी पूर्व-राष्ट्रपति)

वेदोमे जिन तत्त्वोको इंगित किया गया है, उपनिषदोमे न्हींकी व्याख्या की गयी है। ग्रन्थोके अनुशीलनसे यह पष्ट होता है कि उपनिषदोके द्रष्टा जिस सत्यको देखते थे, ;मके प्रत्येक रूप-रंगके प्रति पूर्णत ईमानदार थे। इस ;थ्यके कारण उनकी व्याख्याके अनेक निष्कर्ष अब पुराने ड गये हैं। किंतु उनकी कार्य-विधि, उनका आध्यात्मिक भौर बौद्धिक ईमानदारी तथा आत्माकी प्रकृतिके विषयमे उनके विचारोका स्थायी महत्त्व है।

उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोका कथन है कि एक केन्द्रिय सत्ता अवश्य है, जिसके भीतर सब कुछ व्याप्त है। प्रत्यक्ष भौतिक विषयो तथा अन्तरिक्षकी अमाप विशालता और अगणित आकाशीय पिण्डोसे परे परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व है। सम्पूर्ण सत्ताका अस्तित्व उस परमात्माके ही कारण है।

परब्रह्म पुरुषोत्तम कण-कणमे व्याप्त है। मानवकी आत्मामे तो उसका निवास है ही। उसके लघुतमसे अधिक लघु और महत्तमसे अधिक महत् अस्तित्वका सारतत्त्व प्रत्येक प्राणीके भीतर उपस्थित है। 'तत्-त्वम्-असि' रूप अखण्ड एव अद्वय परब्रह्मका निवास समस्त प्राणियोमे है ही। वह परमात्मा हृदयकी गहराइयोमे स्थित है—'परब्रह्मकी उपस्थितिकी ऐसी प्रतीतिमात्रसे व्यक्ति पवित्र हो जाता है।' ऋग्वेद कहता है—'अस्तित्व या अनस्तित्व कुछ नहीं था। वायु भी नहीं, ऊपर आकाश भी नहीं था। फिर वह क्या है? जो गतिशील है? किस दिशामे गतिशील है? और किसके निर्देशनमे गतिशील है? कौन जानता है? कौन हमे बता सकता है? सृष्टि कहाँसे प्रारम्भ हुई? क्या देवगण इसके बाद उत्पन्न हुए? कौन जानता है कि सृष्टि कहाँसे प्रारम्भ हुई? और कहींसे भी प्रारम्भ हुई तो इसका कर्ता कौन है? केवल वही अकेला जानता है। वह स्वर्गमे बैठा सम्पूर्ण सृष्टिको देख रहा है।' इन शब्दोमे आत्मा-विषयक अनुसधान आध्यात्मिक विचार एव बौद्धिक संदेहवादकी अभिव्यक्ति होती है और यहींसे भारतके सांस्कृतिक विकासका आरम्भ हुआ। 'ऋग्वेद-द्रष्टा' एक सत्यमे विश्वास करते रहे। वह सत्य हमारे अस्तित्वको नियन्त्रित करनेवाला एक नियम है। हमारी सत्ताके विभिन्न स्तरोको बनाये रखनेमे यह असीम वास्तविकता है। वही 'एक सद्' है। विभिन्न देवगण इसीके अनेक रूप हैं। ऋग्वेदके देवता वास्तवमे उस अमर ईश्वरकी शक्तियाँ है, सत्य अभिभावक है। अत हम प्रार्थना उपासना एव आराधनासे उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं। उनकी ही कृपाके बलपर हम सत्यके नियम 'ऋतस्य पन्था' को पहचान सकते है।

परब्रह्मको पहचानना और उसके साथ एकाकार हो जाना मानवमात्रका लक्ष्य है। इस प्रसगकी व्याख्या बाह्य ढगसे नहीं की जा सकती ईश्वरको अपने बाहर मानकर न तो उसकी आराधना की जा सकती है, न तो उसकी उपासना की जा सकती है और न ही उसके प्रति अपनी श्रद्धा या अपना प्रेम ही प्रकट किया जा सकता है। यह एक ऐसा कार्य है, जिसे उस परब्रह्मको अपना बना लेना और स्वयको उसका बन जाना ही कहा जा सकता है। यद्यपि मानवीय ज्ञानकी इस क्षेत्रमे कोई पहुँच नहीं। अत इस तथ्यके सम्बन्धमे कोई विश्वस्त विवरण देना मानव-विवेकके लिये असम्भव है—बिलकुल असम्भव है, तथापि भक्ति-रसमे अवगाहन कर शरणागतिकी नौकापर आरूढ हो मानवका हृदय उस परब्रह्म परमात्मासे प्रेम तो अवश्य ही कर सकता है।

[प्रस्तुति—प० श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य]
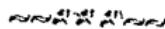
वेदोपनिषद्में युगल स्वरूप

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भारतके आर्य-सनातनधर्मके जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके द्वारा वस्तुतः एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्‌की उपासना करते हैं। अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्‌के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्‌को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मङ्गलमय स्वरूपोंमें उनका भजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, तारा, उमा, अन्नपूर्णा, सीता और राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं, जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये विभिन्न रूपोंमें अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्‌के साथ है और शक्ति है, इसीसे वह शक्तिमान् है। इसीलिये यह नित्य युगल स्वरूप है। पर यह युगल स्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषणसमूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी युगलभाव है। जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं, जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। जो स्वरूपतः एक होकर भी द्वैधभावके पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

वेदमूलक उपनिषदोंमें ही इस युगल स्वरूपका प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्यतया दो स्वरूप हैं—एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका संधान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्‌की कार्य-कारण-शृङ्खला ही टूट जाय, उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय, फिर जगत्‌के किसी मूलका ही पता न लगे और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं नहीं मिले। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषदोंके दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अनवच्छिन्न सच्चिदानन्दस्वरूपको देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी अपनी नित्य-सत्ता, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है। ऋषियोंने जहाँ देश-काल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह वह नहीं है, यह वह नहीं है' (नेति नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परम तत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न उसका कोई वर्ण है, न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि हैं।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञावाला है, न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है, वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है, न वह पकड़में आता है, न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है, जिसके सम्बन्धमें न चित्तसे कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीसे कुछ कहा ही जा सकता है। जो आत्मप्रत्ययका सार है, प्रपञ्चसे रहित है

शान्त, शिव और अद्वैत है'—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्र तदपाणिपादम्।

(मुण्डक० १। १। ६)

नान्त प्रज्ञ न बहिष्प्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिवमद्वैतम् " ।

(माण्डूक्य० ७)

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करने योग्य, चिन्तन करने योग्य और धारणाम लाने योग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसीके साथ वहीं, उसी क्षण उन्हाने उसी देश-कालातीत, अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त-शिव-अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकालमे और समस्त देशामे नित्य विराजित देखा और कहा कि—'धीर साधक पुरुप उस नित्य-पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतकि कारण परमात्माको देखते हैं'—

नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म
तदव्यय यद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीरा ॥

(मुण्डक० १। १। ६)

उन्हाने यह भी अनुभव किया कि 'जब यह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुपको दख लेता हे, तब वह निर्मल-हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है'—

यदा पश्य पश्यत रुक्मवर्ण
कर्तारमीश पुरुप ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जन परम साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३। १। ३)

यहाँ तक कि उन्हाने ध्यानयागम स्थित होकर परम दव परमात्माको उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूत शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जो अपन ही गुणासे छिपी हुई ह। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालसे लकर आत्मातक (काल, स्वभाव, नियति, आकस्मिक घटना, पञ्चमहाभूत यानि और जीवात्मा) सम्पूर्ण कारणाका स्वामा प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा हा ह—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।
य कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक ॥

(श्वेताश्वतर० १। ३)

ऋपियाने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सवगत, सवम अनुस्यूत और सवका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेदरहित, परिणामशून्य, अद्वय परम तत्त्व ही चगचर भूतमात्रकी योनि है एव अनन्त विचित्र पदार्थोका वही एकमात्र अभिन्न निमित्तापादान-कारण हे। उन्हाने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वातीत तत्त्व हे, वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् हे और वही विश्व हे। विश्वम उसीकी अनन्त सत्ताका, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्व-सृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वेचित्र्यको विश्वम विकसित अखिल एश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिङ्गन किये हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वम विराजित हे। उपनिपद्क मन्त्रद्रष्टा ऋपियान अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिस दखकर कहा—'साम्य' इस नाम-रूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था'—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'

(छान्दोग्य० ६। २। १)

परतु इसीके साथ तुरत ही मुक्तकण्ठसे यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने इक्षण किया—इच्छा की कि में वहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारस उत्पन्न हाऊँ'—

'तदैक्षत बहु स्या प्रजाययति'।

(छान्दोग्य० ६। २। ३)

यहाँ वहुताका यह वात समझम नहीं आती कि जो 'सवस अतीत' ह वहा 'सवरूप' कस हा सकता ह, परतु आपनिपद-दृष्टिस इसम काइ भी विराध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान्का नित्य एक रहना, नित्य वहुत-से रूपाम अपन आस्वादनकी कामना करना आर नित्य वहुत-स रूपाम अपनका आप ही प्रकट करना—य सव उनक एक नित्यस्वरूपक ही अन्तर्गत हें। कामना, इक्षण और आस्वादन—य सभा उनका निरवच्छिन्न पूण चतनाक क्षत्रम समान अर्थ ही रखत हें। भगवान् वस्तुत न ता एक अवस्थास किसा

दूसरी अवस्थाविशेषमे जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य-स्वरूप-स्थितिम कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनक बहुत रूपाम प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थाम अथवा अद्वैत-स्थितिसे द्वैतस्थितिम चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका काई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट हानस पूर्वकी या पीछकी अवस्थाम जो भेद दिखायी दता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहां कर पाता। अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड जगत्मे है। स्थिति आर गति अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना आर परिणाम भूत और भविष्य, दूर आर समीप एव एक और बहुत—ये सभी भद वस्तुत जड-जगत्क सकीर्ण धरातलम ही ह। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता ता सर्वथा भेदशून्य ह। वह विशुद्ध अभेद-भूमि है। वहाँ स्थिति और गति अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियताम अभेद ह। इसी प्रकार एक और बहुत साधना आर सिद्धि, कामना और भाग भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं। इस अभेदभूमिम चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविराधी धर्मोको आलिङ्गन किय नित्य विराजित हे। वे चलते हैं और नही चलते वे दूर भी हैं समीप भी हैं वे सबके भीतर भी हे आर सबके बाहर भी हैं—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥

(ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपन विश्वातीत रूपमं स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य-शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करक अनादि-अनन्तकालतक उसीक द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्यक्‌भाग करते रहते हें। उपनिषद्म जो यह आया है कि वह ब्रह्म पहल अकेला था वह रमण नहीं करता था। इसी कारण आज भी एकाकी पुरप रमण नहीं करता। उसन दूसरेकी इच्छा का—उसन अपनको हा एकस दो कर दिया—व पति-पत्नी हो गये।'

स वै नैव रेमे तस्मादकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्—स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्तत पतिश्च पत्नी चाभवताम्।'

(बृहदारण्यक० १।४।३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकलपनम रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये, क्याकि कालपरम्पराके क्रमसे अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मक लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य-मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य-युगलत्वमे ही उनका पूर्ण एकत्व हैं। उनका अपने स्वरूपम ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य ओर अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्तकाल अनादि-अनन्त देशामे अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और सहारका लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगल रूपम ही ब्रह्मक अद्वैतस्वरूपका परमात्कृष्ट परिचय प्राप्त हाता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम श्रीराधा-कृष्ण श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल-स्वरूप नित्य-सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषत्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद्ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमे, स्थितिशील और गतिशीलरूपमे, निष्क्रिय और सक्रियरूपम, अव्यक्त और व्यक्तरूपम एव सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारीरूपमे इसी युगल स्वरूपका विवरण किया हे परतु यह विपय है बहुत ही गहन। वस्तुत यह अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है—तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व साकारत्व आर निराकारत्व, परिणामत्व और अपरिणामत्व एव बहुरूपत्व ओर एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वाङ्गीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभा इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमे प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भद एव तदनुकूल किसी लौकिक या जडीय सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि—जब अप्राकृत तत्त्वकी प्राकृत मन-बुद्धि एव इन्द्रियाके द्वारा उपासना करनी पडती है, तब प्राकृत उपमा और प्राकृत सज्ञा दनी ही पडती है। प्राकृत पुरुष और प्राकृत नारी एवं

उनके प्रगाढ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चित्तत्त्वके स्वरूपगत युगल-भावको समझनेका प्रयत्न करना पडता है। वस्तुत पुरुषरूपम ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है और नारीरूपमे उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला वैचित्र्यमयी स्वरूपा-शक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुषमूर्तिम भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं और सर्वथा निष्क्रिय हैं एव नारीमूर्तिम वे ही विश्वजननी बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी-रूपमे प्रकाशित हैं। पुरुष-विग्रहम वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमे उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यकी विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींके आनन्दका विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारी-भावके सयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हैं—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और सहारकर्ता हैं। नारी-भावके सहयोगसे ही उनक स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है, इसीमे उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुषरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति)-रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोम—लीलारूपम प्रकट करके नित्य-चिद्रूपमे उसकी उपलब्धि और उपभोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्त-वैचित्र्यप्रसविनी लीलाविलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं, ब्रह्मके विश्वातीत, देशकालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्दस्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता, चेतनता और आनन्दका अगणित स्तरोके सत्-पदार्थरूपम, असख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमे एव असख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपम विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्की सेवा करती रहती हैं। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपत उस चित्तत्त्वसे अभिन्न है। यह नारी-भाव उस पुरुषभावसे अभिन्न है, यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनके कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव अभिन्न होकर ही भिन्नरूपम परस्पर आलिङ्गन किये हुए एक-दूसरेका प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए एक-दूसरेको आनन्द-रसमे आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति—भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमे स्वरूपत प्रतिष्ठित हैं। इसलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि, अनन्तकाल बिना विराम चल रहा है। उपनिषदोने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य-लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोमे परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने, समझने, उपलब्ध करने तथा उपभोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ एव साधनाएँ अनुभवी ऋषियोकी दिव्य वाणीके द्वारा उनमे प्रकट हुई हैं।

वेदमें गौका जुलूस

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमा । वशा सहस्रधारा ब्रह्मणाच्छावदामसि॥
शत कसा शत दोग्धार शत गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्या । ये देवास्तस्या प्राणन्ति ते वशा विदुरेकधा॥

(अथर्ववेद १०। १०। ४-५)

अर्थात् जिस गौके द्वारा द्यु, पृथिवी एव जलमय अन्तरिक्ष—ये तीनो लोक सुरक्षित हे, उस सहस्रधाराओसे दूध देनेवाली गौकी हम प्रशसा करते हैं। सौ दोहनपात्र लिये सौ दुहनेवाले तथा सौ सरक्षक इसकी पीठपर सदा खडे रहते हैं। इस गौसे जो देव जीवित रहते हैं, वे ही सचमुच उस गौका महत्त्व जानते ह।

वेदमे अवतारवाद

(महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

'वेदमें अवतारवाद है या नहीं ?' इसके लिये अवतारवादके प्रतिपादक कुछ मन्त्र यहाँ लिखे जाते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(यजुर्वेद ३१। १९)

—इसका अर्थ ह कि प्रजाओका पति भगवान् गर्भके भीतर भी विचरता है। वह तो स्वय जन्मरहित है, किंतु अनेक प्रकारस जन्म ग्रहण करता रहता है। विद्वान् पुरुष ही उसके उद्भव-स्थानको देखते एव समझते हैं। जिस समय वह आविर्भूत होता है, उस समय सम्पूर्ण भुवन उसीके आधारपर अवस्थित रहते हैं। अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ नेता बनकर लोकोको चलाता रहता है। इस मन्त्रके प्रकृत अर्थमें अवतारवाद अत्यन्त स्फुट है। अब यद्यपि कोई विद्वान् इसका अन्य अर्थ कर तो प्रश्न यही होगा कि उनका किया हुआ अर्थ ही क्यो प्रमाण माना जाय ? मन्त्रके अक्षरासे स्पष्ट निकलता हुआ हमारा अर्थ हो क्यो न प्रमाण माना जाय ? वस्तुत बात यह है कि वेद सर्वविज्ञाननिधि है। वह थोडे अक्षरोमे सकेतसे कई अर्थोंको प्रकाशित कर देता है और उसके सकेतित समस्त अर्थ शिष्ट-सम्प्रदायमे प्रमाणभूत माने जाते हैं। इसलिये बिना किसी खींचतान और लाग-लपटके जब इस मन्त्रसे अवतारवाद बिलकुल विस्पष्ट हो जाता है तब इस अर्थको अप्रमाणित करनेका कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यदि कोई वैज्ञानिक अर्थ भी इस मन्त्रसे प्रकाशित होता है तो वह भी मान लिया जाय, किंतु अवतारवादका अर्थ न माननेका कोई कारण नहीं। अन्य भी मन्त्र देखिये—

'त्व स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी।'
(अथर्व० १०। ८। २७)

यहाँ परमात्माकी स्तुति है कि आप स्त्रीरूप भी हैं, पुरुषरूप भी हैं। कुमार और कुमारीरूप भी आप होते हैं।

अब विचारनेकी बात है कि परमात्मा अपने व्यापक स्वरूपमे तो स्त्री, पुरुष कुमार और कुमारी कुछ भी नहीं है। ये रूप जो मन्त्रमे वर्णित है, अवतारोके ही रूप हो सकते हैं। पुरुषरूपमे राम, कृष्ण आदि अवतार प्रसिद्ध ही हैं। स्त्रीरूप महिषमर्दिनी आदि अवतारोका विस्तृत वर्णन 'श्रीदुर्गासप्तशती' मे प्रसिद्ध है। वहाँके सभी अवतार स्त्रीरूप ही हैं। व्यापक, निराकार परमात्मा पुरुषरूपमे अथवा स्त्रीरूपमे इच्छानुसार कहीं भी प्रकट हो सकता है। कुमाररूपमे अवतार भी वहाँ वर्णित है और कुमाररूपमे वामनावतार प्रसिद्ध ही है, जिसकी कथा विस्तारसे 'शतपथ-ब्राह्मण' में प्राप्त होती है। शिष्ट-सम्प्रदायमे मन्त्र और ब्राह्मण दोनो ही वेद माने जाते हैं, इसलिये 'शतपथ-ब्राह्मण' मे प्रसिद्ध कथाको भी वेदका ही भाग कहना शिष्ट-सम्प्रदायद्वारा अनुमोदित है और कथाका सकेत मन्त्रमे भी मिलता है—

'इद विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पा॰सुरे॰॥' (यजुर्वेद ५। १५)

अर्थात् इन दृश्यमान लोकोको विष्णुने विक्रमण किया—इनपर अपने चरण रखे। अर्थात् अपने चरणोसे सारे लोकोको नाप डाला। वे लोक इनकी पाद-धूलिमे अन्तर्गत हो गये। वामन-अवतारकी यह स्पष्ट कथा है। यहाँ भी अर्थका विभाग उपस्थित होनेपर यही उत्तर होगा कि मन्त्रके अक्षरोसे स्पष्ट प्रतीत होता हुआ हमारा अर्थ क्यो न माना जाय। जो कथा ब्राह्मण और पुराणोमे प्रसिद्ध है उसके अनुकूल मन्त्रका अर्थ न मानकर मनमाना अर्थ करना एक दुराग्रहपूर्ण कार्य होगा। जो सम्प्रदाय ब्राह्मणभागको वेद नहीं मानते, वे भी यह तो मानते ही हैं कि मन्त्रोके अर्थ ही भगवान्ने ऋषियोकी बुद्धिमे प्रकाशित किये। वे ही अर्थ ऋषियोने लिखे। वे ही ब्राह्मण हैं और पुराण आदि भी वेदार्थोंके विस्तार ही हैं, यह उनमे ही वर्णित है। इसी प्रकार मत्स्यावतारकी कथा और वराहावतारकी कथा भी शतपथ आदि ब्राह्मणोमें स्पष्ट मिलती है। जो वैज्ञानिक अवतार हैं, जिनका सृष्टिमे विशेषरूपसे उपयोग है, उनकी कथा ब्राह्मणोमे सृष्टि-प्रक्रिया बतानेके लिये स्पष्ट-रूपसे दी गयी है।

महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठने 'मन्त्र-भागवत' और 'मन्त्र-रामायण' नामके दो छोटे निबन्ध भी लिखे हैं। उनमे राम और कृष्णकी प्रत्येक लीलाओके प्रतिपादक मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, उन मन्त्रोसे राम और कृष्णके प्रत्येक चरित्र प्रकाशित होते हैं। और वेदके रहस्यको प्रकाशित करनेमे ही जिन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया, उन वेदके असाधारण विद्वान् विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझाने भी गीता-विज्ञान-भाष्यके आचार्यकाण्डमे उन मन्त्रोको दुहराया है। इसलिये ये मन्त्र उन लीलाओपर नहीं घटते, ऐसा कहनेका साहस कोई नहीं कर सकता। इससे वेदोमे अवतारवाद होना अति स्पष्ट हो जाता है।

'वेद' शब्दका तात्पर्यार्थ क्या है?

(शास्त्रार्थ-महारथी (वैकुण्ठवासी) प० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

'वेद' शब्दमय ब्रह्मका मूर्तस्वरूप है, इसलिये सभी शास्त्रोमे 'वेद' शब्दका अपर पर्याय 'ब्रह्म' प्रसिद्ध है। वेदका जो विधि-प्रधान भाग है, वह तो 'ब्राह्मण' नाम्ना ही सर्वत्र व्यवहृत है। 'ब्रह्मण इद ब्राह्मणम्' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थके कारण ही उक्त भागकी 'ब्राह्मण'-सज्ञाका स्वारस्य सिद्ध होता है।

'वेद' शब्द 'विद सत्तायाम्', 'विद ज्ञाने', 'विद विचारणे' और 'विद्लृ लाभे'—इन चार धातुओसे निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—जिसकी सदैव सत्ता हो, जो अपूर्व ज्ञानप्रद हो, जो ऐहिकामुष्मिक उभयविध विचारोका कोश हो और जो लौकिक और लोकोत्तर लाभप्रद हो, ऐसे ग्रन्थको 'वेद' कहते हैं।

वेदोमे सत्ता, ज्ञान, विचार और लाभ—ये चारो गुण विद्यमान हैं। हम क्रमश इन चारो गुणोपर विशेष विचार उपस्थित करते हैं—

सत्ता—

ईश्वरवादी सभी सम्प्रदायोमे ईश्वर अनादि और अनन्त परिगृहीत है। 'वेद' भगवान्की वाणी है, अत वह भी अनादि एव अनन्त है। स्मृति-वचन है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

अर्थात् वेद स्वयम्भू ब्रह्माकी वह वाणी है जिसका न कोई आदि है और न अन्त। अतएव वह नित्य है। ब्रह्मा भी वेदवाणीके निर्माता नहीं, अपितु यथापदिष्ट उत्सर्ग—प्रदान करनेके कारण उत्स्रष्टा ही है। इस प्रकार वेदोकी सत्ता त्रिकालाबाधित है।

कदाचित् कोई कुतार्किक 'वाणी' शब्दको सुनकर आशका करे कि लोकमे तो वाणी त्रिकालाबाधित नहीं होती। जाग्रत्-अवस्थामे ही वाणीका व्यापार प्रत्यक्ष दृष्ट है। स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्थामे तो वाणीके व्यापारकी कथमपि सम्भावना नहीं की जा सकती। अत आस्तिकोके कथित भगवान्के भी शयनकालमे वाणीका अवरोध युक्तिसगत है, अत उसे सदा अनवरुद्ध सत्ता-सम्पन्न कैसे कहा जा सकता है? यद्यपि यह शका कुतर्कपर आश्रित है क्योकि ससारमे कोई भी दृष्टान्त सर्वांशमे परिगृहीत नहीं हुआ करता, किंतु सभी उपमाएँ एक सीमातक उपमेय वस्तुके गुण-दोषोकी परिचायक हुआ करती हैं। मुखको चन्द्रके समान कहनेका चन्द्रगत आह्लादकतादि गुणोको ही मुखमे आरोप करना हो सकता है न कि तद्गत शशक-चिह्न, किंवा क्षीणत्व-दोषका उद्घाटन करना। ठीक इसी प्रकार वेदको भगवान्की वाणी कहनेका तात्पर्य यही है कि यावत् शब्द-व्यवहार एकमात्र वेद-वाणी-निस्यूत शब्द-राशि है, क्योकि वह अपौरुषेय है, अत किसी पुरुष-विशेषकी वाणीसे उसका सम्बन्ध स्वीकृत नहीं, इसलिये आपातत वेदभगवान्का ही वैभव हो सकता है। तथापि कुतार्किकोको शका-उद्घाटनका अवसर ही प्राप्त न हो, एतावता अन्यत्र वेदको भगवद्वाणी न कहकर उसे भगवान्का नि श्वास कहा गया है—

(क) अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस । (बृहदारण्यक० २। ४। १०)

(ख) यस्य निश्वसित वेदा ।

(सायणीय भाष्य मङ्गलाचरण)

अर्थात्—(क) इस महाभूत श्रीमन्नारायणभगवान्के ये श्वास ही हैं। जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्वाङ्गिरस—अथर्ववेद हैं।

(ख) वेद जिस भगवान्के नि श्वासोच्छ्वास हैं, वे प्रभु वन्दनीय हैं।

कहना न होगा कि उक्त प्रमाणोमे वेदोको भगवान्का श्वासोच्छ्वास कहनेका यह अभिप्राय है कि श्वास प्रयत्न-साध्य वस्तु नहीं किंतु निसर्गजन्य है तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्थामे भी यावज्जीवन वह विद्यमान रहता है, एतावता यह सुप्रसिद्ध है कि वेद भी कोई कृत्रिम वस्तु नहीं अपितु भगवान्का सहज व्यापार है। ससार भले ही सम्भव और विनाशशील हो, परंतु वेदोकी सत्ता आदि सृष्टिमे पूर्व भी थी और प्रलयान्तरमे भी वह अबाधरूपमे अक्षुण्ण बनी रहती। जैसे श्रीमन्नारायणभगवान् अनादि,

अनन्त और अविपरिणामी है, ठीक इसी प्रकार वेद भी अनादि अनन्त और अविपरिणामी हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि 'विद सत्तायाम्' धातुसे निष्पन्न 'वेद' शब्द त्रिकालाबाधित सत्तासम्पन्न है।

ज्ञान—

वेद जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानकी सीमापर्यन्त सीमित लौकिक ज्ञानकी अक्षय निधि है, वहीं प्रत्यक्षानुमानोपमानादिसे सर्वथा और सर्वदा अज्ञेय, अतीन्द्रिय, अवाङ्मनसगोचर लोकोत्तर ज्ञानके तो एकमात्र वे ही अन्धेकी लकड़ीके समान आधारभूत हैं। वस्तुतः लौकिक ज्ञान वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। तादृश वर्णन तो वैदिकोंके शब्दोंमें केवल प्रत्यक्षानुवाद मात्र है। कुछ लोग कहते हैं कि 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'—यह बात वेदके बिना भी वज्रमूर्ख तक स्वानुभवसे जानते हैं फिर वेदमें ऐसी छिछली बातोंकी क्या जरूरत थी? परंतु आक्षेप्ताओंको मालूम होना चाहिये कि वेदका यह प्रत्यक्षानुवाद भी उस कोटिका साहित्य है, जो कि आजके कथित भौतिक विज्ञानवादियोंकी समस्त उछल-कूदकी पराकाष्ठाके परिणामोंसे सदैव एक कदम आगे रहता है। शंकावादीकी उदाहृत श्रुतिका केवल यही अर्थ नहीं है कि 'अग्नि शीतकी औषधि है' अर्थात् आग तापनेसे पाला दूर हो जाता है, अपितु वेदके इन शब्दोंमें यह उच्च कोटिका विज्ञान भी गर्भित है कि हिमानी प्रदेशमें उत्पन्न होनेवाली जड़ी-बूटियाँ अतीव उष्ण होती हैं। शिलाजीत, केशर, सजीवनी और कस्तूरी आदि इस तथ्यके निदर्शन हैं। अथवा बर्फ बनानेका नुस्खा अग्नि ही है अर्थात् इतनी डिग्री उष्णता पहुँचानेपर तरल राशि बर्फरूपमें घनीभावको प्राप्त हो जाती है। कहना न होगा कि वर्तमान भौतिक विज्ञानवादी वर्षों अनुसंधान करनेके उपरान्त एक मुद्दतमें वेदके उपर्युक्त मन्त्रांशद्वारा प्रतिपादित हिम-विज्ञानको समझ पाये हैं। इसी प्रकार वेद-प्रतिपादित अश्वत्थ-विज्ञान, शंखध्वनिसे रोग-कीटाणु-विनाश-विज्ञान, श्रीजगदीशचन्द्र वसु और सी० वी० रमण आदि भारतीय विज्ञानवेत्ताओंके चिरकालीन अनुसंधानोंके उपरान्त अभारतीय वैज्ञानिकोंतक अंशतः पहुँच गया है। इसी प्रकार 'हिमवतः प्रस्रवन्ती हृद्रोगभेषजम्' आदि वेद-प्रतिपादित गङ्गाजलके हृदय-रोगोंकी अचूक औषधि होनेकी बात अभीतक अनुसंधान-कोटिमें ही लटक रही है और वेदोक्त स्पर्श-विज्ञानकी ओर तो अभी भौतिक विज्ञानवादी उन्मुख नहीं हो पाये हैं।

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस वैदिक घोषणाका तथ्य समझनेमें अभी वैज्ञानिकोंको शताब्दियाँ लगेंगी। परमाणु-विज्ञान, विज्ञानकी चरम सीमा समझी जाती है, परंतु वस्तुतः वह विज्ञानकी 'इति' नहीं, अपितु 'अथ' है। कथित 'न्यूट्रोन' और 'प्रोटोन' नामक परमाणुके विश्लिष्ट अन्तिम दोनों अंश वेदोक्त अग्नि और सोम-तत्त्वके ही स्थूलतम प्रतिनिधि हैं। जिस तत्त्वांशको अन्तिम समझ कर आजका भौतिक विज्ञानवादी केवल अनिर्वचनीय शक्तिपुञ्ज (एनर्जी) मात्र कहनेको विवश है और तत्संश्लिष्ट 'अपर' अंशको अच्छेद्य सह-अस्तित्वशाली आवरण बताता है, वास्तवमें वे दोनों अग्नि और सोमके ही स्थूलतम अत्यणु हैं। यह परमाणु-विज्ञानका चरम बिन्दु नहीं किंतु प्रवेशद्वार मात्र है। अभी तो विपञ्चीकृतभूत तन्मात्राएँ, अहंकार और महान्—इन द्वारोंकी लम्बी मंजिल तय करनी पड़ेगी, तब कभी 'अव्यक्त' तत्त्वतक पहुँच हो पायेगी। उस समय साम्प्रतिक भौतिक विज्ञानवादियोंद्वारा कथित एनर्जी और आवरण नामक तत्त्वद्वयात्मक परमाणु पुरुष और प्रकृतिके ऐक्यभूत अर्धनारीश्वरकी संज्ञाको धारण कर सकेंगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि वेदोंका अप्रमुख विषय भौतिक विज्ञान भी वेदोंमें इतनी उच्च कोटिका वर्णित है कि जिसकी तहतक पहुँचनेमें अनुसंधायकोंको अभी कई सहस्राब्दियाँ लग सकती हैं। हमने प्रसंगवश कतिपय पंक्तियाँ इस विषयपर इसलिये लिख छोड़ी हैं कि जिनसे वर्तमान भौतिक विज्ञानकी चकाचौंधमें चौंधियायी हुई भारतीय आँखोंकी भी साथ-साथ कुछ चिकित्सा हो सके। अब हम वेदोंके मुख्य विषयकी चर्चा करते हैं। स्मृतिकारोंका कहना है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्षानुमान और उपमान आदि साधनोंद्वारा जो उपाय नहीं जाना जा सके, वह उपाय वेदसे जाना जा सकता है यही वेदका वेदत्व है।

मन क्या है? बुद्धि क्या है? स्वप्न और सुषुप्तिकी अनुभूतियाँ किमाधारभूत हैं? जीवन-मरण क्या है? मृत्युके पश्चात् क्या कुछ होता है? इत्यादि मानव-प्रश्नोंको मानव-बुद्धि-बलात् सुलझानेका असफल प्रयत्न किया जायगा तो हो सकता है कि अनुसंधायक सनकी, अर्धविक्षिप्त, किंवा मस्तिष्ककी धमनी फट जानेसे मृत्युका ग्रास ही न बन जाय। इसलिये अनुभवी तत्त्वदर्शियोंकी खुली घोषणा है कि—

अतीन्द्रियाश्च ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

इन्द्रियातीत भावोंको तर्कसे समझनेका प्रयास नहीं करना चाहिये।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन लोकोत्तर परोक्ष-विषयोंमें मानव-बुद्धि उछल-कूद मचाकर कुण्ठित, किंवा पंगु हो जाय, उन विषयोंके परिज्ञानके लिये एकमात्र वेद ही हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। इसलिये पाणिनीय महाभाष्यकारके शब्दोंमें भारतीय ऋषियोंका यह गौरवपूर्ण उद्घोष आज भी दिग्दिगन्तोंमें प्रतिध्वनित है— '**शब्दप्रामाणिका वयम्**' अर्थात् हम वेद-प्रमाणको सर्वोपरि मानते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि—'**विद ज्ञाने**' धातुसे निष्पन्न होनेवाला '**वेद**' शब्द धात्वर्थके अनुसार लौकिक और पारलौकिक उभयविध ज्ञानका कोश है।

विचार—

'वेद' शब्दका अन्यतम अर्थ विचार भी है। तदनुसार लौकिक या पारलौकिक कोई भी नया बेजोड़ विचार सम्भव नहीं हो सकता, जो कि वेदमें प्रथमतः न किया गया हो। यह ठीक है कि दुर्भाग्यवश आज राजाश्रयके बिना वे सुलझे-सुलझाये अकाट्य सिद्धान्त तबतक लोगोंकी दृष्टिसे ओझल ही रहते हैं, जबतक कि अँधेरेमें चाँदमारी करनेवाले वर्षों माथापच्ची करनेके बाद किसी सिद्धान्ताभासकी दुम पकड़कर एतावता अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेते और उसपर आचरण करके पदे-पदे विपत्तियाँ आनेपर अपने उस मन्तव्यकी केंचुली बदलते-बदलते 'मघवा मूल बिडौजा टीका' को चरितार्थ नहीं कर डालते। यह एक अपरिहार्य सत्य है कि मनुष्य चाहे कितना ही बड़ा बुद्धिमान् क्यों न हो, तथापि वह मानव होनेके कारण 'अल्पज्ञ' ही रहेगा। सर्वज्ञ तो एकमात्र श्रीमन्नारायणभगवान् ही हैं। अतः मानव-विचार सर्वांशमें त्रुटिहीन नहीं हो सकता। एक मनुष्यकी कौन कहे, सैकड़ों चुने हुए बुद्धिमानोंद्वारा बड़े ऊहापोह और बहस-मुबाहसेके बाद बनाये गये कानून कुछ दिनोंके बाद ही खोखले मालूम पड़ने लगते हैं। वही प्रस्तोता अनुमोदक तथा समर्थक अपने पूर्व-निश्चयको बदलनेके लिये बाध्य हो जाते हैं। भारतकी ही संसदमें अन्यून नब्बे करोड़ जनताद्वारा निर्वाचित सवा पाँच सौ सदस्य एक दिन एक विधान बनाते हैं और कुछ दिनोंके बाद स्वयं उसमें संशोधनके लिये बाध्य होते हैं। यह मनुष्यकी सहज अल्पज्ञताका ही निदर्शन है। इसलिये सर्वज्ञ भगवान्की वाणी वेद ही '**विद विचारणे**' धातुसे निष्पन्न होनेके कारण महान् विचारोंका खजाना है।

लाभ—

शास्त्रोंमें समस्त लौकिक लाभोंका संग्राहक शब्द 'अभ्युदय' नियत किया गया है और सम्पूर्ण पारलौकिक लाभोंका संग्राहक शब्द 'निःश्रेयस' शब्द नियत किया गया है। उक्त दोनों प्रकारके लाभ जिनके द्वारा सुतरां प्राप्त हो सकें, उसी तत्त्वका पारिभाषिक नाम धर्म है। वेद धर्मका प्रतिपादक है। अतः यह उभयविध लाभोंका जनक है। वेदाज्ञाओंका पालन करनेवाले व्यक्तिको 'योगक्षेमात्मक' सर्वविध अभ्युदय प्राप्त होता है और परलोकमें वह श्रीमन्नारायणभगवान्के सांनिध्यसे लाभान्वित होता है। शास्त्रमें साधकके लिये पारलौकिक सद्गतिको ही वस्तुतः परम लाभ स्वीकार किया गया है, लौकिक सुख-समृद्धिको तो अनायास अवश्य ही प्राप्त होनेवाली वस्तु बतलाया गया है, जैसे आम्रवनमें पहुँचनेपर यात्रीका वास्तविक लाभ तो सुमधुर आम्रफल-प्राप्ति ही है, परंतु घर्मतापापनोदिनी शीतल छाया, श्रुति-सुलभ कोकिला-रावश्रवण और प्राणतर्पक विशुद्ध वायु-संस्पर्श आदि भोग तो उसे अयाचित ही सुलभ हो जायँगे। एतावता यह सिद्ध है कि '**विदॢ लाभे**' धातुसे निष्पन्न 'वेद' शब्द अपने मूल धात्वर्थके अनुसार ऐहिक और आमुष्मिक उभयविध लाभोंका सर्वोपरि जनक है।

अतः जो त्रिकालाबाधित सत्तासम्पन्न हो, परोक्ष ज्ञानका निधान हो, सर्वविध विचारोंका भण्डार हो और लोक तथा परलोकके लाभोंसे भरपूर हो उसे 'वेद' कहते हैं। यही वेद शब्दका संक्षिप्त अर्थ है।

गो-स्तवन

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥
(ऋक्० ८।१०१।१५)

'गौ रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, अदितिपुत्रोंकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है, प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एवं अवध्य गौका वध न करो।'

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥
(अथर्व० ४।२१।१)

'गौओंने हमारे यहाँ आकर हमारा कल्याण किया है। वे हमारी गोशालामें सुखसे बैठें और उसे अपने सुन्दर शब्दोंसे गुँजा दें। ये विविध रंगोंकी गौएँ अनेक प्रकारके बछड़-बछड़ियाँ जनें और इन्द्र (परमात्मा)-के यजनके लिये उषःकालसे पहले दूध देनेवाली हों।'

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥
(अथर्व० ४।२१।३)

'वे गौएँ न तो नष्ट हों, न उन्हें चोर चुरा ले जाय और न शत्रु ही कष्ट पहुँचाये। जिन गौओंकी सहायतासे उनका स्वामी देवताओंका यजन करने तथा दान देनेमें समर्थ होता है, उनके साथ वह चिरकालतक संयुक्त रहे।'

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥
(अथर्व० ४।२१।५)

'गौएँ हमारा मुख्य धन हों, इन्द्र हमें गोधन प्रदान करें तथा यज्ञोंकी प्रधान वस्तु सोमरसके साथ मिलकर गौओंका दूध ही उनका नैवेद्य बने। जिसके पास ये गौएँ हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है। मैं अपने श्रद्धायुक्त मनसे गव्य पदार्थोंके द्वारा इन्द्र (भगवान्)-का यजन करना चाहता हूँ।'

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥
(अथर्व० ४।२१।६)

'गौओ! तुम कृश शरीरवाले व्यक्तिको हृष्ट-पुष्ट कर देती हो एवं तेजोहीनको देखनेमें सुन्दर बना देती हो। इतना ही नहीं, तुम अपने मङ्गलमय शब्दसे हमारे घरोंको मङ्गलमय बना देती हो। इसीसे सभाओंमें तुम्हारे ही महान् यशका गान होता है।'

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥
(अथर्व० ४।२१।७)

'गौओ! तुम बहुत-से बच्चे जनो, चरनेके लिये तुम्हें सुन्दर चारा प्राप्त हो तथा सुन्दर जलाशयमें तुम शुद्ध जल पीती रहो। तुम चोरों तथा दुष्ट हिंसक जीवोंके चंगुलमें न फँसो और रुद्रका शस्त्र तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे।'

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥
(अथर्व० ७।७३।८)

'रँभानेवाली तथा ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली यह गाय मनसे बछड़ेकी कामना करती हुई समीप आयी है। यह अवध्य गौ दोनों अश्विदेवोंके लिये दूध दे और वह बड़े सौभाग्यके लिये बढ़े।'

अपौरुषेय वेदोक्त श्रेयस्कर मार्ग

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

भारतवर्षकी यह सर्वाधिक विशेषता है कि यहाँ ज्ञान-विज्ञान, शस्त्र एव शास्त्र-विद्या, साहित्य-कला, सभ्यता-सस्कृति आदिका मूल वेद माना जाता है या इन सबका सम्बन्ध वेदासे जोडा जाता है। यह वेदाका दश है, महर्षियोका देश है। वेद ज्ञानराशि होने तथा सर्वव्यापक तत्त्वदर्शन आदिसे समलकृत होनेके कारण विश्वके विभिन देशाके विद्वानाका ध्यान बरबस इस ओर आकृष्ट हुआ और विद्वत्समाजने एक-कण्ठ होकर भारतकी महानता और श्रेष्ठताको स्वीकार किया। ससारमे शायद ही ऐसा कोई देश हो जो यह कहता हो कि हमारी सभी विद्याआका, हमारी सभी सस्कृतिया एव सभ्यताओका, हमारे सगीत और हमारी कलाआका मूल हमारे धार्मिक ग्रन्थ हैं। केवल भारतमे सनातनधर्मके मूल वेदको ऐसा अद्वितीय गौरव प्राप्त है। **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** और **'धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा'**-जैसे श्रुति-स्मृति-वाक्योंसे स्पष्ट है कि समस्त मानवाक अभ्युत्थान, अभ्युदय और श्रेयके लिये एकमात्र वद ही सर्वस्व हैं। सर्वविषयात्मक, सर्वविद्यात्मक तथा सवज्ञान-प्रकाशात्मक वेद परमश्वरके शासनरूपमे अवतरित हैं।

प्राचीन भारतीय आर्ष-सम्प्रदायके बद्धमूल विश्वास और दृढ विचारानुसार वेद परब्रह्म परमात्माके नि श्वास-रूपम विनिर्गत है जो ऋषि-मुनियाको केवल दर्शन-श्रवणादि-रूपमे प्राप्त हुए। वैदिक मन्त्राम ऋषि, देवता और छन्दका उल्लेख इस बातका प्रमाण है कि वैदिक ऋषियाको वे मन्त्र दर्शन-श्रवणादिसे प्राप्त हुए। अतएव वेद अपौरुषेय हैं किसी लौकिक काव्यादि ग्रन्थाकी तरह वदोका रचना नहीं हुई है और न ही इसके कर्ता कोई पुरुष अथवा एकसे अधिक मनीषी लखक हैं। स्वय वेद ही इस बातक प्रमाण हैं कि वेद ईश-शासन हैं, परमश्वरके नि श्वासभूत ह। बृहदारण्यकोपनिषद् (२। ४। १०)-की श्रुति है—

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदा यजुर्वेद सामवेदाऽथर्वाङ्गिरस ।'

सृष्टिकर्तानें सृष्टिके प्रारम्भम सृष्टिकी सुव्यवस्थाके लिये सर्वथा धर्म-बोधकी आवश्यकता समझी और तदर्थ प्रथमत उन्होने ब्रह्माको वेद धारण कराया। श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं
या वे वदाश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वताश्वतर० ६। १८)

वदाके अभावमे ब्रह्माको भी धर्मका बोध न होता, तब औराकी बात कहना ही क्या ह!

किसी मानव-कृत ग्रन्थम शका, भ्रम अथवा भूल आदिके लिये स्थान हा सकता है, जबकि वेदामे ऐसी किसी बातका सम्भावना भी नहीं है। कल्प-कल्पान्तरोंम वेद विद्यमान रहते हैं। सम्प्रति जो कल्प है, उसका नाम श्वेतवाराह कल्प है। इसके पूर्व भी कल्प था। जैसे इस कल्पम वेद है, वैसे ही पूर्ववर्ती कल्पामे भी थे। भविष्यपुराणम महर्षि व्यासने भविष्यकी घटनाआका वर्णन किया है। भविष्यपुराण ही क्या? अन्यान्य पुराणाम भी एसे वर्णन द्रष्टव्य ह। जब पुराणाम एसी अपूर्व शक्ति है तो परमात्माके नि श्वासरूप वदाम ऐसी अपूर्व शक्ति क्यो न हो? उसकी दिव्यता और अपूर्व शक्तिक सम्बन्धमे मीमासा-भाष्यकार शबर स्वामी कहते ह—

चादना हि भूत भवन्त भविष्यन्त सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टमित्यव जातीयकमर्थ शक्नात्यवगमयितुम्।

अर्थात् वदाकी अपूर्व अथवा असाधारण शक्ति यह है कि उनसे भूत, वर्तमान और भविष्यम घटनेवाल अर्थ ही नहीं सूक्ष्म, व्यवहित तथा अन्य अर्थ भी ज्ञात हाते हैं। एसी दिव्यता और असाधारण शक्ति अन्यत्र कहा भी द्रष्टव्य नहीं है।

सुप्रसिद्ध वद-भाष्यकार सायणाचार्यजाका कथन है कि 'स्वयम्प्रकाश-सूर्य जिस प्रकार दुर्गम विषयाका भी बाध करा सकता है, उसी प्रकार वद भी अचिन्त्य आर अद्भुत विस्मयकारी शक्तिसे युक्त हैं। घट-पटादिम स्वयम्प्रकाशकी शक्ति नहीं है, जबकि सूर्य-चन्द्रादिको एसी शक्ति है। मनुष्यादिको स्वस्कन्धारोहण-सामर्थ्य नहीं है जबकि वेद, जो अकुण्ठित सामर्थ्यस युक्त ह इतर वस्तु-प्रतिपादकत्व-शक्तिक समान (स्वयम्प्रकाशशक्तिस युक्त अथवा) स्वप्रतिपादकत्व-शक्तिसे युक्त हाते ह इसलिय सम्प्रदायविद् वेदकी अकुण्ठित शक्तिका दशन करते ह।'

यथा घटपटादिद्रव्याणा स्वप्रकाशत्वाभावऽपि सूर्यचन्द्रादीना

स्वप्रकाशत्वमविरुद्ध तथा मनुष्यादीना स्वस्कन्धाधिरोहासम्भवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्ति अतएव सम्प्रदायविदोऽकुण्ठिता शक्ति वेदस्य दर्शयन्ति ।

प्राचीन परम्परागत विचाराका अस्वीकार करनकी दृष्टिसे ही कुछ लोग एसे विचाराका खण्डन करते ह ओर कुछ लाग भ्रमके कारण पदे-पद सदह प्रकट करत रहते हैं, ऐस लाग भी हैं जा ससर्ग-दोषक कारण सही विचाराको स्वीकार नहीं कर सकते। कहनकी आवश्यकता नहा ह कि वेदाकी रचनाका काल-निणय करनेकी प्रवृत्ति आधुनिक हैं। किसी ग्रन्थ-विशपक रचना-कालक विपयम जैसे विचार किया जाता ह, वस ही वदाक रचना-कालका निर्णय भी करनका प्रयत्न कुछ लोगाने किया ह, परतु उनका प्रयत्न सफल नहा कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस पथपर चलनेवाल लागाम भी मतक्य नहीं है। क्या कारण है ? उनका विचार वालूकी भात ह, ठोस प्रमाणापर आधारित नहीं हे। इसका अर्थ यह नहीं ह कि विचार-विनिमय या शका-समाधान न हो परतु शास्त्राय अकाट्य तर्कोस नि सृत सत्यसे हम विमुख न हा।

किसी वस्तुक रूपका जाननेक लिय अथवा उसका अवलोकन करनेक लिये प्रकाशकी आवश्यकता हाती हे, जब सूर्यका प्रकाश हाता है, तव दापकादि किसी अन्य प्रकाशकी आवश्यकता नहा हाता। उसी प्रकार धर्म-अधर्मके सम्बन्धम जाननेक लिय वद स्वत प्रमाण ह वहाँ किसी अन्य प्रमाणकी अपक्षा नहा हे। श्रीभगवत्पाद शकराचार्यजीका कथन है—

वदस्य हि धर्माधर्मया निरपेक्ष प्रामाण्य रवरिव रूपविपय।

'**निरपेक्ष प्रामाण्यम्**' कहनस यह सर्वथा स्पष्ट है कि यहाँ किसी अन्य प्रमाणकी अपक्षा नहीं है। इसस विदित हे कि अपारुपेय वद सवक लिय प्रमाण हे। यही कारण है कि उन्हाने कहा ह कि वदका नित्य ही अध्ययन करना चाहिये ओर तदुक्त कमाचरण हमारा कर्तव्य हैं— **वदा नित्यमधीयता तदुदित कर्मस्वनुष्ठीयताम्।**' वद ईश्वरीय आदश ह वद नित्य हे। अतएव उसका अध्ययन सर्वथा श्रयस्कर ह।

जिनको वदाधिकार ह उनका कर्तव्य ह कि व उसस च्युत न हा। एक आर वात यह हे कि वद अपरिमित भा है। कहा गया ह कि अनन्ता व वदा । काइ व्यक्ति अपने जावनकालम समस्त वदाका अध्ययन पूणरूपण नहीं कर सकता। स्व-शाखाका अध्ययन भा वहुत प्रयासस किया जा सकता है। इस सम्बन्धम तैत्तिरीय-शाखाम एक कथा है जो इस प्रकार है—महर्षि भरद्वाजन समस्त वेदाका अध्ययन करना चाहा। उन्हाने वदाध्ययन प्रारम्भ किया। यद्यपि वे निरन्तर एक जन्मतक अध्ययन करते रहे, तथापि अध्ययन पूरा नही हुआ। दूसर जन्मम व अवशिष्ट वेद-भागाका अध्ययन करने लगे। उस जन्मम भी वेदाध्ययन पूरा नहीं हुआ। तीसरे जन्मम इस अध्ययन-कार्यका वे पूरा करना चाहत थे। वेदाध्ययन करने लग। वहुत वृद्ध हा जानेपर भी उन्हाने अध्ययन नहीं छोडा। वृद्धावस्थाक कारण उनका शरीर शिथिल हा गया, कम्पित होने लगा। अव तो वे बठकर अध्ययन करनेम असमर्थ होनके कारण सोकर ही अध्ययन करन लगे। एसी स्थितिम उनका इन्द्रका साक्षात्कार हुआ। इन्द्रन उनस पूछा—'यदि तुमको एक जन्म और प्रदान किया जाय तव तुम क्या कराग ?' मुनिने कहा—'तब में शप वदाध्ययन पूरा करूँगा।' इन्द्रने उस समय कहा—यह तुमसे पूर्ण हा सकनवाला कार्य नहीं हे। जब मुनिने पूछा—क्या ? तब इन्द्रने उनक सामन तीन पहाड दिखाये। तीनामसे एक-एक मुट्ठीभर मिट्टी उनक सामने रखी और कहा—तीना जन्माम तुमने जा वदाध्ययन किया है, वह इतनी-सी मिट्टीक बराबर ह, अव शप ह इन तीन पहाडोंके बरावरका अध्ययन।

मुनि अवाक्-अचम्भित रह गये। फिर उन्हाने पूछा—'तब म क्या करूँ ?' महेन्द्रने मधुर वाणीम कहा—'**यत्सारभूत तद्पासितव्यम्**—मैं तुमका सारका उपदश दता हूँ।

वेदाकी ऐसी असीमता हे, ऐसी अपरम्पार महिमा है। श्राभगवत्पाद शकराचार्य-सरीखे महामहिमाको छोडकर शप लोग वदाक अद्वितीय विद्वान् कसे हा सकते हैं ?

धर्माधर्मका निर्णय कवल वेदासे सम्भव है। वेदाकी अति विशालता गहनता, महानता आर महत्ताको दृष्टि-पथमें रखकर मनु, गौतम याज्ञवल्क्य आर पराशर-प्रभृति ऋषि-मुनियान धर्मकी व्याख्या करनेवाल जिन ग्रन्थाकी रचना की उन्ह 'स्मृति' कहते हैं।

'**श्रुतिस्तु वेदा विज्ञयो धर्मशास्त्र तु वै स्मृति**'—यह कहनस स्पष्ट हाता है कि श्रुति हमार लिय जिस भाँति प्रवल प्रमाण ह उसी भाँति स्मृति भा प्रमाण है। स्मृति श्रुतिका हा अनुसरण करता हैं। उपमाक सार्वभौम कविकुलगुरु कालिदासन रघुवश (२। २)-म कहा ह—

मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

श्रुति जा कहता है स्मृति भा वहा कहता है। अतएव

दोनोम विरोध नहीं होता। जेसे श्रुति-वाक्य प्रमाण या आचरणीय होता है, वैसे ही स्मृति-वाक्य भी। यदि कहीं श्रुति-वाक्य स्मृति-वाक्यसे मेल नही खाता अथवा परस्पर विरोध दिखायी पडता है, तब तो हमारे लिये श्रुति-वाक्य ही प्रबलतम प्रमाण होता है, जिसका उल्लघन नहीं किया जा सकता। श्रुति-स्मृति दोनोका हम समान-रूपसे आदर करना चाहिये।

पुराण तथा महाभाष्यादि ग्रन्थासे हम वेदकी शाखाओंका ज्ञान होता है। कूर्मपुराण (पू०वि० ५०। १८-१९)-मे बताया गया है कि ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेदकी एक सौ शाखाएँ, सामवेदकी एक हजार शाखाएँ और अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ हैं। महर्षि पतञ्जलिने यजुर्वेदकी एक सौ शाखाओंका उल्लेख '**एकशतमध्वर्युशाखा**' कहकर किया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वेदाकी उपर्युक्त शाखाओंमे कई शाखाएँ आज दृष्टिगत नहीं होतीं।

प्रातिशाख्य-जैसे ग्रन्थ वेदोच्चारण-प्रक्रियाको जाननेमे सहायक हैं। उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-स्वर नियमक्रमके अनुसार वेद-मन्त्रोंके उच्चारण होने एव पदपाठ, जटापाठ और घनपाठ आदिके द्वारा नियमित होनेके कारण उनका स्वरूप-सरक्षण आजतक उसी भाँति सम्भव हो सका है, जिस भाँति वे अति प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं।

वैदिक मन्त्रोके उच्चारणमे सावधानी वरतनी चाहिये। वर्ण-व्यत्यय या स्वर-व्यत्ययसे वाञ्छित अर्थ-लाभ न होकर हानि होनेकी सम्भावना होती है। वेदाङ्ग-शिक्षामे प्रसिद्ध है—

मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्॥

श्रुति कहती है—

यदब्रवीत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति। तस्मादस्यन्द्रश्शत्रुरभवत्।

श्रीमद्भागवत (६। ९। ११)-मे इस सम्बन्धमे कहा गया है—

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व माचिर जहि विद्विषम्॥

'**इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व**' मे स्वरापराधके कारण त्वष्टाकी इच्छाके विरुद्ध इन्द्र ही शत्रु हो गया और इन्द्रसे वृत्रासुर मारा गया।

वेद-मन्त्रोका ऐसा दिव्य प्रभाव होता है। कुछ मन्त्र तो सद्य प्रभावशील होते हैं। यह अनुभवसिद्ध बात है कि वेदोक्त-विधानसे पर्जन्य-जपका अनुष्ठान करनेपर सुवृष्टि होती है। महारुद्र और अतिरुद्र महायाग-जसे अनुष्ठानासे शीघ्र ही अभीष्ट-सिद्धि होती है। वास्तविकता यह हे कि अनुष्ठान करने-करानेवालोमे श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिये। कहा गया हे कि जो वेदज्ञ ब्राह्मण हैं उनमे देवता निवास करते हे।

श्रुति है—'*यावतीर्वै देवतास्ता सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे* **वसन्ति तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवेदिवे नमस्कुर्यान्नाश्लील कीर्तयेदेता एव देवता प्रीणन्ति।**' एसे वेदज्ञोका सम्मान करना चाहिये, उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, इससे देवता सतुष्ट होते हे। '**वेद शिव शिवो वद वदाध्यायी सदाशिव**'—जो कहा गया हे, उसके सम्बन्धमे एक कथा याद आती है। हेहय-वशके एक राजकुमारने शिकारके समय एक ऋषिके आश्रमके समीप मृगचर्म ओढे एक वटुको भ्रमवश एक विषैले बाणसे मारा। 'हा- हा' की आवाज सुनकर उसने समझा कि ब्रह्महत्या हो गयी। शापके भयसे वह भागकर अपने राजमहलमे पहुँचा। राजाने सब वृत्तान्त जानकर कहा कि तुमने ठीक नहीं किया। चलो, हम आश्रमपर चलकर मुनिवरसे क्षमा माँग ले। राजा सपरिवार मुनिके आश्रममे पहुँचे तो मुनिने स्वागत किया। तब राजाने कहा—'हम इसके योग्य नही हैं, क्षमा करे।' राजाने पूरी घटनाका वर्णन कर क्षमा माँगी और प्रायश्चित्तका विधान जानना चाहा। मुनिने कहा—'प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ कोई ब्रह्महत्या नही हुई हे।' यह सुनकर राजाको आश्चर्य हुआ। उस विषैले बाणसे कोई जीवित बच जाय, यह कैसे सम्भव है—यह सोचकर राजाने जब सदेह प्रकट किया, तब मुनिने पूछा—'यदि आश्रममे रहनेवाले सभी ब्रह्मचारियोको यहाँ बुलाऊँ तो क्या राजकुमार उस ब्रह्मचारीको पहचान सकते हैं ?' राजकुमारके 'हाँ' कहनेपर मुनिद्वारा आश्रमसे सभी ब्रह्मचारी बुलाये गये। जिसे बाणसे आहत किया था, उसको राजकुमारने पहचाना। परतु आश्चर्य कि उसके शरीरपर घावका चिह्नतक नही था, मरना तो दूर। तब मुनिवरने राजासे कहा—'हम लोग पूर्णत वैदिक धर्मके मार्गपर चलनेवाले ह, वेद-विहित कर्मोमे कोई न्यूनता आने नहीं देते, धर्मानुष्ठानोका सम्यक् पालन करते हैं। अतएव मृत्युदेवता यहाँसे कोसो दूर रहते हैं। आप इस वैदिक धर्मानुष्ठानके प्रभावपर विश्वास करते है न।

निस्सदेह वैदिक धर्मानुष्ठान सर्वथा श्रेयस्कर है। मनुने इसीलिये कहा हे—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

(मनु० ८। १५)

यहाँ दो बाते हैं—यदि हम धर्मकी रक्षा करते हैं तो धर्म

हमारी रक्षा करता है, यदि हम उसकी हिसा करते हैं तो वह हमारी हिमा करता ह, अर्थात् धर्मके सही स्वरूपको जानकर तदनुसार आचरण करना धर्मकी रक्षा करना है, इससे सुख-शान्ति और श्रेयकी समुपलब्धि हाती है। धमका आचरण न करनेसे अथवा धर्मका गलतरूपम आचरण करनसे विरुद्ध-फलकी प्राप्ति हाती हे या हम विनष्ट हात हैं। इसलिय प्रत्येक व्यक्तिका चाहिय कि वह अपन लिय विहित धर्मका आचरण करे और कभी अपने कर्तव्यसे मुँह न मोडे क्योंकि—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर ।

(गीता १८। ४५)

निज कर्तव्यके अनुसार चलनेसे वह सुख-सिद्धि प्राप्त करता है और श्रेयका भागी होता है। तदर्थ ही वद धर्मका बोध कराते ह। धर्मके विषयम किसीको स्वातन्त्र्य नहीं है। निरपेक्ष-प्रमाण वेदाके आदेशाके अनुसार ही चलना चाहिये, क्याकि सबकी बुद्धि समान नहीं होती। जिस-किसीकी सुविधा एव अपेक्षाके अनुसार कल्पना करत रहनेसे धर्मकी व्यवस्था नहीं टिक सकती, अराजकता ही हो जायगी। जैसा कि श्रीभगवत्पादजीने कहा भी है—

कश्चित कृपालु प्राणिना दु खबहुल ससार एव मा भूदिति कल्पयेत्। अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्ति कल्पयत्। तस्माद् यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्सर्वं प्रमाण स्यात्।

श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्यके उपोद्घातम उन्होंने वेदोक्त धर्मको प्रवृत्ति और निवृत्ति-लक्षणात्मक कहा है—'द्विविधो हि वदोक्तो धर्म प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च'। भगवान् बादरायणने भी इसी प्रकार कहा हे—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदा प्रतिष्ठिता ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च प्रकीर्तित ॥

वदविहित प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्गपर चलते हुए हम श्रेयकी साधना करनी चाहिये, परम लक्ष्यतक पहुँचना चाहिये। गीता (२। ४०)-मे भी इसी तथ्यकी पुष्टिका उद्घोष किया गया है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

वैसे सर्वात्मना सर्वाङ्गीण-रूपसे धर्मका आचरण करनेमें अशक्त होनपर यथाशक्ति-न्यायसे यथासम्भव धर्मका आचरण दृढ चित्तसे प्रयत्नपूर्वक ठीक-ठीक करना चाहिये। यही श्रेयस्कर मार्ग है।

अथर्ववेदकी महत्ता और उसकी समसामयिकता

(अनन्तश्रीविभूषित द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

मन्त्रद्रष्टा ऋषियाकी ऋतम्भराप्रज्ञा एव श्रुतिपरम्पराके द्वारा मुनियाकी तप पूत भूमिम सचित तथा सुरक्षित मन्त्रब्राह्मणात्मक ज्ञानराशिका नाम वेद है। आपस्तम्बश्रौतसूत्रम वेदका लक्षण बताते हुए कहा गया हे कि—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

चिन्तन-पद्धतिके वैविध्य, ज्ञानमयी भौगालिकताके विस्तार, असख्य आश्रम-व्यवस्था, उपभाषाआकी बहुविधता एव चिन्तनात्मक स्वातन्त्र्यके कारण वदकी असख्य शाखाआका हाना स्वाभाविक था। कहा जाता है कि भगवान् वदव्यासने वदको चार भागाम विभक्त कर दिया था जिसके कारण उनका नाम 'वदव्यास' पडा और वदने ऋक्, यजु साम एव अथर्वके रूपम चार स्वरूप धारण किया। ऋग्वदम स्तुति यजुर्वेदम यज्ञ सामवदम सगीत तथा अथर्ववदम आयुर्वेद अर्थशास्त्र राष्ट्रिय सगठन तथा दशप्रमके चिन्तनका प्राधान्य ह। वैस दुनियाके इस सर्वप्राचीन वाड्मयने हा ससारके सभी लागाका शिक्षा संस्कृति सभ्यता एव मानवताका सर्वप्रथम पाठ पढाया था। मनुस्मृतिकार कहत ह कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ॥

(मनु० २। २०)

वैदिक महर्षियाकी दृष्टि मूलत आध्यात्मिक है। स्तुति, यज्ञ तथा सगीत हा अथवा जीवसेवार्थ लाकहित-हेतु विभिन्न साधनाएँ सबका लक्ष्य मात्र अध्यात्म-साधना, मोक्षप्राप्ति एव ईश्वर-साक्षात्कार है। यह साहित्य समानरूपस सभी लागाका स्वस्थ सुखी कल्याणमय, निर्भय, प्रसन्न, सतुष्ट तथा समृद्ध बनने-बनानका कामनासे आपूरित पवित्र सकल्पाका समुच्चयात्मक ज्ञाननिधि है। कहना न हागा कि इसके किसी भी सविभाग—अङ्गपर विचार क्या न कर, सबका लक्ष्य समान ही दिखायी दगा क्याकि उनका मूल स्वरूप एक हा है। उदाहरणार्थ यदि अथर्ववदको हा ल ता हम देखते ह कि सामान्यरूपस इसम समाज किवा लाकजीवनकी व्यवस्थाम सम्बद्ध वण्यसामग्री अधिक है अपक्षाकृत अन्याके किंतु लाकहित-साधनाकी यह परम्परा कोरी लाकिक नहा ह प्रत्युत इसका लाकान्मुखता अध्यात्म-

चिन्तनकी पृष्ठभूमि है। इसी चिन्तनात्मक अभ्यास-सापानके सहारे चिन्तक पारलौकिकताके चरम विन्दुको प्राप्त कर सकेगा। यही कारण है कि अथर्ववेदकी इसी विचार-पद्धतिने इस कालजयी साहित्यको परम लोकप्रिय, उपयोगी एव मानव-जीवनका अभिन्न अङ्ग बना दिया। जिससे यह सामान्यातिसामान्य व्यक्तिके लिये भी अध्ययन, अवबोध, उपयोग तथा शिक्षाका स्रोत बन गया। इसीलिये आज भी ससारका कोई भी चिन्तक अथर्ववेदकी सार्वजनीन, सार्वकालिक एव सार्वत्रिक प्रासगिकताको अस्वीकार नहीं कर सकता। उसमे कहीं लोगाको बुद्धिमान्, विद्वान्, ज्ञानी आर जीवन-दर्शनमे निष्णात होनेका उपदेश दिया गया है, तो कहीं पारस्परिक एकता, सौमनस्य, सगठन, बलिष्ठता उन्नति, सवेश्य राष्ट्र, एकराट्, सुधार, विजय, सेवा, शस्त्र-निर्माण स्वराज्य-शासन, आर्थिक प्रगति तथा मातृभूमिके प्रति असीम प्रेम रखनेका निर्देश भी दिखायी देता है। वनस्पतियोकी रक्षा, पर्यावरण-सुरक्षा ओषधि-निर्माण, वर्षा अचौर्य, क्षमाभाव, पवित्रता विद्यार्जन, शान्तिस्थापन तथा पशु-पालन आदि इस वदके एसे वर्ण्यविषय हैं जो—'काले वर्षतु पर्जन्य ""सर्वे सन्तु निर्भया ' एव 'सर्वे भवन्तु सुखिन " मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत्' के आदर्शको मूर्त स्वरूप प्रदान करते हैं। मानव-जीवनके आचार एव मातृभूमिकी उन्नतिके परस्पर सम्बन्ध देख—

सत्य बृहदृतमुग्र दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरु लोक पृथिवी न कृणोतु॥
(अथर्व० १२। १। १)

अर्थात् सत्यपालन, हृदयकी विशालता सरल आचरण, वीरता, कार्यदक्षता, ठडी-गर्मी आदि द्वन्द्वाकी सहिष्णुता, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नता, विद्वानाका सत्कार—ये गुण मातृभूमिकी रक्षा करते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यत्‌म हमारा पालन करनेवाली हमारी मातृभूमि हम सभीके लिये अपने लोकको विस्तार दे अर्थात् अपनी सीमा बढाये, जिससे हमारा कार्यक्षेत्र बढे। इसका तात्पर्य यह हे कि असत्य-भाषण, हृदयकी सकीर्णता असदाचरण, कायरता अकर्मण्यता, असहिष्णुता, अज्ञानता, विद्वदपमान एव आपसी असहयागस राष्ट्रकी शक्ति क्षीण हो जाती है, राष्ट्र कमजोर हो जाता है और बादम उसपर शत्रु अपना आधिपत्य जमा लेते ह।

मनुजीने कहा हे कि उन लोगाके आयु, विद्या यश आर बल सतत वृद्धिको प्राप्त करते हैं, जो अपने पूज्या बडाका अभिवादन एव सम्मान करते हैं—'अभिवादनशीलस्य"""।' स्मृतिका यह वाक्य-सिद्धान्त श्रुति माना जाता है, क्योकि स्मृति श्रुत्यनुगामिनी होती है। कालिदासने भी रघुवशम उपमानक तौरपर इस अर्थवत्ताको स्वीकार करते हुए कहा है—

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस देशक नागरिक अपने पूर्वजो या सम्माननीयाका सम्मान नही करते, वहाँके लागाकी आयु, सम्पत्ति, कीर्ति, शक्ति और विद्या क्षीणताको प्राप्त हा जाती है। मनुके इस चिन्तनके आशयको अथर्ववेदम इस प्रकार दख—जहाँ पूर्वजाके प्रति असीम आदर देनेको कहा गया है—

यस्या पूर्वे पूर्वजना विचक्रिर यस्या देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वाना वयसश्च विष्ठा भग वर्च पृथिवी नो दधातु॥
(अथर्व० १२। १। ५)

जिस मातृभूमिम हमारे पूर्वजान अपूर्व पराक्रम किये उन्हान सदाचार, तप और राष्ट्रकी रक्षा की। जहाँ देवाने असुराका पराजित किया, जा गौ, अश्व एव पक्षियाका आश्रयस्थान हे, वह मातृभूमि हमे ऐश्वर्य एव वर्चस्व प्रदान करे।

इस राष्ट्रकी रक्षा वही कर सकता ह, जा अपन इतिहास तथा अपनी परम्परापर गर्व करता हा, जिनम एसा भाव नहा है, उनसे मातृभूमिकी प्रतिष्ठाकी रक्षा भला केसे सम्भव हे, क्योकि एसे स्वाभिमानविहीन नागरिकाक देशकी गाय एव अश्वादि अन्याद्वारा छीन लिये जायँग, फलत उनकी आयु, ज्ञान तथा बल केसे सुरक्षित रह सकगे। इसलिय हम सबमे ऐसा भाव होना चाहिये कि हम सभी एक ही मातृभूमिके पुत्र हे। इसकी रक्षा हम सभीका दायित्व हैं—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्व
विभर्षि द्विपदस्त्व चतुष्पद ।
तवेम पृथिवि पञ्च मानवा यभ्यो ज्योतिरमृत
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥
(अथर्व० १२। १। १५)

अथर्ववदम राष्ट्री देवी, राजाके कर्तव्य, राजाकी स्थिरता, राष्ट्रिय समृद्धि राज्याभिषक राजाका चयन, राजाद्वारा राज्यका पुन स्थापन, क्षात्र-धर्म प्रजा-पालन, राष्ट्र-सवर्धन शत्रु-नाश, पापी-सहार आनन्द-प्राप्ति तथा युद्धोपकरण-सम्बन्धी लगभग ११२ सूक्ताका विधान ह। ऋषि कहते हैं कि—

'विजयी होकर, युद्धम न मरकर आर चोटरहित हो मे अपनी मातृभूमिका अध्यक्ष बनकर अच्छ कार्य करूँगा।

(उनकी इच्छा है कि) जो मुझसे ईर्ष्या करता है, जो सेना भेजकर मेरे साथ युद्ध करता है और जो मनसे हम अपना दास बनाना चाहता है, उन सभीका नाश हो जाय।'

७३६ सूक्तो तथा ५,९७७ मन्त्रोवाला यह अथर्ववेद, जिसमें लगभग २० सूक्त ऋग्वेदके ही हैं, ऐतिहासिक दृष्टिसे अथर्वाङ्गिरस् एवं अङ्गिरस् आदि नामोंसे भी जाना जाता रहा है। इसीलिये इसके ज्ञाताको या ऋषियोंको 'अथर्वन्' तथा 'अथ्रवन्' भी कहते हैं। इन मनीषियोंका मानना है कि राष्ट्रकी प्रोन्नति प्रतिभाके बिना असम्भव है अर्थात् यदि देशकी प्रतिभाएँ अपने देशको छोड़कर अन्यत्र जाने लगेंगी तो भारतवर्ष सदा-सदाके लिये विद्युत्के अभावमें बल्व-जैसा खोखला, निरर्थक, अनुपयोगी एवं निष्फल हो जायगा। यथा—

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥

(अथर्व० ६। १०८। २)

अर्थात् श्रेष्ठतायुक्त ज्ञानियोंसे सेवित, ऋषियोंसे प्रशंसित और ब्रह्मचारियोंद्वारा स्वीकृत मेधाको अपनी रक्षाके लिये बुलाता हूँ, क्योंकि बुद्धि शरीररूपी समूची सृष्टिका मुख्यतम केन्द्र है। इसके बिना अन्य सब व्यर्थ है। इसकी वृद्धिके लिये मनकी शक्ति परमावश्यक है।

इसके साथ-साथ ऋषियोंका यह भी कहना है कि परस्पर सगठित होकर रहनेका काम भी बुद्धिमान् व्यक्ति ही कर सकता है और तभी मानव इस संसारमें स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर सकता है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य०' सिद्धान्तको ये महापुरुष ही अच्छी तरह जानते हैं, इसीलिये वे देवताओंसे सहायता-हेतु प्रार्थना भी करते हैं—कभी सोम-सवितासे तो कभी आदित्यादि देवोंसे। समूचे अथर्ववेदमें सामूहिक जीवनके विकासकी व्यवस्था है। यहाँ किसी स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत उन्नतिको बहुत स्थान नहीं है। एक-दूसरेसे *मिल-जुलकर आपसी सौहार्द एवं सहयोगसे कार्य करनेकी* सलाह देते हुए तत्त्वद्रष्टा ऋषि कहते हैं—

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि ॥

(अथर्व० ६। ९४। २)

इसी प्रकार सर्वेश्य राष्ट्रकी अवधारणाको सुस्पष्ट करते हुए मन्त्रद्रष्टाने कहा है कि—

अस्मभ्य " बृहद्राष्ट्रं सवश्य दधातु॥

(अथर्व० ३। ८। १)

'संघे शक्तिः युगे युगे' सदृश सिद्धान्तको गतार्थता प्रदान करने-हेतु अथर्ववेदमें अनेक ऐसे शब्द-समुच्चयका उपयोग किया गया दीखता है, जिन्हें पारिभाषिक तथा व्याख्येय कहनेमें भी कोई संकोच नहीं होता। यथा—'ज्यायस्वन्त' (वृद्धोंका सम्मान), 'मा वियौष्ट' (परस्पर लड़ना नहीं), 'सधुराचरन्त' (एक धुरा अर्थात् एक नेताके नेतृत्वमें कार्य करना), 'सध्रीचीना' (मिलकर कार्य करना) और 'संराधयन्त' (सिद्धिहेतु सभी मिलकर प्रयत्न करें) इत्यादि। इस प्रकार प्रेम, शान्ति, सतोष और सेवाभावसे बलपूर्वक जनहितके कार्य करने चाहिये। इसीलिये यहाँ ब्रह्मयोग, जिष्णुयोग तथा क्षात्रयोग प्रभृतिका विधान किया गया है (अथर्ववेदकी भूमिका भाग ५ पृ० ७)।

स्वतन्त्रताके बिना परतन्त्र व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। अतः यदि स्वतन्त्रताके लिये युद्ध करना पड़े और एतदर्थ शस्त्र-निर्माण भी करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। इसीलिये इस ग्रन्थके मन्त्रोंमें सात प्रकारके स्फोटक अस्त्रोंकी भी चर्चा परिलक्षित होती है जिनके द्वारा शत्रुराष्ट्रकी जमीन एवं उनके पानीपर आक्रमण किया जा सकता है। हाथसे और आकाशमें भी प्रहार किया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ एक ऐसी भी आक्रमण-विधि वर्णित है, जिससे नदी, तालाब अथवा पेय जलके सभी स्रोत समाप्त किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त त्रिषन्धि नामक वज्र तथा अयोमुख, सूचीमुख, विककतीमुख शितिपदी और चतुष्पदी इत्यादि अनेकविध बाणोंकी भी चर्चा प्राप्त होती है। तमसास्त्र और सम्मोहनास्त्रोंद्वारा शत्रुसेनामें अन्धकार फैलाने तथा सभीको चेतनाशून्य कर देनेकी व्यवस्था भी प्राप्त होती है।

अथर्ववेद (३। २४। २)-में सभीके विकास तथा समृद्धिका वर्णन करते हुए कहा गया है—

पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः॥
वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।

अर्थात् मैं रसयुक्त ओषधियोंको हजारों प्रकारसे पोषण देना जानता हूँ। अधिकाधिक धान्य कैसे उत्पन्न हो, इसकी विधि भी जानता हूँ। इसी प्रकार यज्ञ करनेवालोंके घरमें निवास करनेवाले देवोंकी हम सभी उपासना करते हैं यथा—

संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो अयज्वनो गृहे।

(अथर्व० ३। २४। २)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एव निषाद—इन पाँचो वर्गोंके लोगाको मिलकर उपासना करनेका विधान, मधुर भाषण (**पयस्वान् मामक वच**) अच्छी खती, आत्मशुद्धि आर दुष्कालके लिये धान्य-सग्रह, प्रजाकी रक्षा तथा दान—ये अथर्ववेदक प्रधान उद्देश्य हैं। इसीलिय ऋषि कहते ह—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त स किर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

अथर्ववेदीय मन्त्रामे वीर पुत्राकी माँका स्मरण करते हुए बताया गया ह कि वस्तुत शूर पुत्राकी माँ ही धन्यवाद और प्रशसाकी पात्र है, क्याकि उसीका पुत्र आदर्श देशका निर्माण कर सकता ह और वही भूमिको अर्थसम्पन्न, गौरवपूर्ण, सुसस्कृत एव सर्वताभावेन स्वस्थ बना सकता हे—

हुवे देवीमदिति शूरपुत्राम्० (अथर्व ३। ८। २)

ऐसी दवीके पुत्र देवाको भी वशम कर लेत ह तथा राष्ट्रिय भावनासे भावित हाते हैं। वे न स्वय दीन हाते ह और न राष्ट्रको दीन बनने दते हे। एस ही लागाक लिये कहा गया है—

कुल पवित्र जननी कृतार्था ।

अथर्ववेदम जहाँ ऋषियाने समूचे त्रलोक्यक प्राणियाके लिये जलकी कामना की ह, वही वाणिज्य धनप्राप्ति, चन्द्रमा एव पृथिवीकी गतिका भी उल्लख किया है, क्याकि जनहित-हेतु अर्थकी चिन्ता उन्ह सतत बनी रहती है। उनका मानना है कि व्यापारसे धन हाता हे। इसीलिय उन्हाने इन्द्रको वणिक् कहा हे—

इन्द्रमह वणिज चोदयामि स न एतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नराति परिपन्थिन मृग स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

(अथर्व० ३। १५। १)

अर्थात् मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूँ। व हमारा ओर आय। वद-विरुद्ध मागपर चलकर लूट-मारवाले-पाशवी आचरण करनेवाले शत्रुको नष्ट कर ओर व मर लिय धन देनेवाले बन।

इसके अतिरिक्त परस्पर मैत्री-स्थापन, बन्धनस मुक्ति, अग्निकी ऊर्ध्वगति ब्राह्मणधर्मका आदश शापका प्रभाव-विनाश हृदय और पाण्डुरागकी चिकित्सा, वानस्पतिक ओषधि (८। ७), कुष्ठोषधि (५। ४-५ ६। ९५), अपामार्गी आषधि (४। १७—१९, ७। ६५) पृश्निपर्णी (२। २५), लाक्षा (५। ५), शमी (६। ३०), सूर्यकिरणचिकित्सा (६। ५२, ७। १०७), मणिबन्धन (१०। ६), शखमणि (४। १०), प्रतिसरमणि (८। ५) शरीर-रचना (११। ८) अजन (४। ९) ब्रह्मचर्य (११। ५) ब्रह्मौदन (११। १), स्वर्ग एव आदन (१२। ३), अमावस्या, पूर्णिमा, विराट् अन्न, प्रथम वस्त्र-परिधान, कालयज्ञ सगठन-महायज्ञ मधुविद्या युद्ध-नीति युद्ध-रीति युद्धका तयारी, मातृभूमिक गीत, विराट्-ब्रह्मज्ञान, राजाका चयन (३। ४), राजा वनानवाले राजाके कर्तव्य, उन्नतिके छ केन्द्र, अभ्युदयकी प्राप्ति, कर्म और विजय (७। ५०), विजयी स्त्रीका पराक्रम पापमाचन, द्यावापृथिवी, दुष्टाक लक्षण, दण्ड-विधान, आदर्श राजा, सरक्षक, कर, राजाके गुण एव राजाक शिक्षक आदिका विवेचन तथा जीवनोपयागी असख्य सूक्तियाका प्रयाग अथर्ववदकी वे विशेषताएँ हे जा न केवल इसकी महत्ताका प्रतिपादन करती ह, प्रत्युत इसकी प्रासगिकताको दिनानुदिन बढाती भी जा रही हैं। कालका अखण्ड प्रवाह ज्या-ज्या आग बढता जा रहा है, जिसम रागाकी असाध्यता, पर्यावरणका सकट, राष्ट्रिय अस्थिरता आपराधिक बाहुल्य, आपसी वमनस्य, आदश आचरणका अभाव तथा ढर सारी वयक्तिक, सामाजिक, सास्कृतिक किवा राष्ट्रिय समस्याएँ मानवताको अपने विकराल तथा क्रर पजसे अपन जबडाम दबोचती जा रही हैं उत्तरात्तर प्रतिदिन भय, अविश्वास, धोखा, अधर्म एव अनैतिकताका वातावरण विश्वको प्रदूषित करता जा रहा है, त्या-त्या इस अन्धकारमय परिवशका सर्वविध प्रकाश प्रदान करनेके लिय प्रदीप-रूप अथर्ववदकी उपयोगिता बढती जा रही ह क्याकि इतिहासकी अविरल धाराम जब-जब एसी समस्याएँ आयी हैं, तब-तब सनातन परम्पराके अक्षुण्ण निधिभूत अनादि वदमन्त्र सतत उनका समाधान करत रहे ह तथा करत भी रहग। वदभगवान् सनातन सत्य ह तथा सूर्य-चन्द्रकी भाँति व स्वयक लिय भी प्रमाण हैं। इसलिय इनकी प्रामाणिकता आर प्रासगिकता शाश्वत ह। आइय पुन -पुन ऋषियाको वाणाका स्मरण करते हुए विश्व-कल्याणकी कामना कर—

तमसो मा ज्यातिर्गमय। असता मा सद्गमय।
मृत्यार्माऽमृत गमय।

॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

श्रुतियोमे सृष्टि-सदर्भ

[ऋग्वेदीय नासदीयसूक्त-परिशीलन]

(अनन्तश्रीविभूपित जगद्गुरु शकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

पूर्वाम्नायपुरीपीठसे सम्बन्धित ऋग्वेदान्तगत दशम मण्डलका एक सौ उन्तीसवाँ 'नासदीयसूक्त' है। इसम सात मन्त्र (ऋचाएँ) ह। इस सूक्तको सात सदर्भोमे विभक्त किया जा सकता है। 'मायाशेपसदर्भ' के अन्तर्गत प्रथम मन्त्रका, 'मायाश्रयस्वप्रकाश-परब्रह्मशेपसदर्भ' क अन्तर्गत द्वितीय मन्त्रको, 'स्रष्टव्यपर्यालोचनसदर्भ' के अन्तर्गत तृतीय मन्त्रको, 'सिसृक्षासदर्भ' क अन्तर्गत चतुर्थ मन्त्रको, 'सर्गक्रम-दुर्लक्ष्यतासदर्भ' क अन्तर्गत पञ्चम मन्त्रको, 'जगत्कारण-दुर्लक्ष्यतासदर्भ' के अन्तर्गत पष्ठ मन्त्रको और 'दुर्धर-दुर्विज्ञेयतासदर्भ' के अन्तगत सप्तम मन्त्रका गुम्फित करना उपयुक्त ह।

ध्यान रह, नासदीयसूक्तमे विवक्षावशात् मायाको नो नामासे अभिहित किया गया है—१-न सत्, २-न असत्, ३-स्वधा, ४-तमस्, ५-तुच्छ, ६-आभु, ७-असत्, ८-मनम् ओर ९-परमव्याम। परमात्माका मन मायारूप है। परमव्यामका अर्थ जहाँ सच्चिदानन्दरूप परमात्मा ह, वहाँ **'यो वेद निहित गुहाया परम व्यामन्'** (तत्तिरीयापनिपद् २।१)-की शैलीम अव्याकृतसज्ञक माया भी है। रुद्रापनिपद् (१०-११)-ने भी मायाका परमव्याम माना है—

> ससार च गुहावाच्य मायाज्ञानादिसज्ञक॥
> निहित ब्रह्म या वद परमे व्याम्नि सज्ञित।
> सोऽश्नुते सकलान् कामान् क्रमेणैव द्विजोत्तम ॥

नासदीयसूक्तम विवक्षावशात् ब्रह्मका १-आनीदवात आर २-अध्यक्ष—इन दा नामासे अभिहित किया गया ह। जावका १-रेताधा आर २-प्रयति (प्रयतिता)—इन दा नामास अभिहित किया गया है। जगत्का १-स्वधा २-सत्, ३-विसजन आर ४-विसृष्टि—इन चार नामास अभिहित किया गया ह।

नासदायसूक्तक प्रथम मन्त्रम कहा गया हैं कि महाप्रलयम शशशृङ्गादि-तुल्य निरुपाख्य 'असत्' नहीं था न आत्मा और आकाशादि-तुल्य निवाच्य (निरूपण करन याग्य) सत् ही था। उम समय शशशृङ्गादि-तुल्य असत् हा हाता ता उसस अर्थ-क्रियाकारा आकाशादिका उत्पत्ति हा कहाँ सम्भव हाता? उस समय यदि सगदशाक तुल्य आकाशादिका [विद्य]मानता हा हाता ता महाप्रलयका प्राप्ति हा कहाँ हाता? परिशेपमे यही सिद्ध होता हे कि सत् और असत् तथा इनसे विलक्षण रजोरूप कार्यप्रपञ्चसे विरहित स्वाश्रयसापेक्ष स्वाश्रयभावापन्न अनिर्वचनीया माया ही महाप्रलयमे शेष थी। उस समय रज सज्ञक लाक नहीं थे। अभिप्राय यह है कि महाप्रलयम चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड नहीं था। क्या आवरक (आवारक, आच्छादक) था? नहीं। जब आवर्य (आवरणका विषय, आवरण करने योग्य) ही कुछ नहीं था, तब आवरक कहाँसे हाता। वह देश भी तो नहीं था, जिसम स्थित हाकर आवरक आवर्यका आवरण करता। अभिप्राय यह हे कि आवरकको आवरण करनके लिये आश्रय दनवाला दश भी उस समय नहीं था जिसम स्थिति-लाभ करके वह आवर्यको आवृत करता। किस भोक्ता जीवके सुख-दु ख साक्षात्काररूप भोगके निमित्त वह आवरक आवर्यका आवरण करता? उस समय भोक्ता जीव भी तो देहेन्द्रिय प्राणान्त करणरूप उपाधिस विरहित ईश्वरभावापन्न हाकर ही अवशिष्ट था। क्या दुष्प्रवेश और अत्यन्त अगाध जल था? नहा। जल तो कवल अवान्तर-प्रलयम ही रहता हे। महाप्रलयम उसका रहना सम्भव नहीं। आवर्य चतुर्दशभुवनगर्भ ब्रह्माण्डके तुल्य आवरक पृथिव्यादि महत्तत्त्वपर्यन्त उपादानात्मक तत्त्व भी कार्यकोटिक हानेसे महाप्रलयम ब्रह्माधिष्ठिता मायारूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं। आभूपणरूप आवर्यक न रहनेपर भी सुवर्णरूप आवरक शेष रहता ह परतु महाप्रलयम कोई भी आवरक शप नहीं रहता। तमसा गूळ्हमग्रे', तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्' इस वक्ष्यमाण वचनक अनुसार बाजम सनिहित अकुरादिका बाजस समावृत करनक तुल्य असत्कल्प तमसूम सनिहित जगत्का तमसूस समावृत कहा गया हैं। कायकी अपक्षा कारणम निर्विशपता सूक्ष्मता शुद्धता विभुता आर प्रत्यग्रूपता हाता ह। यही कारण ह कि कार्य आवर्य और कारण आवरक बन जाता है। कारणक बाधम प्रतिबन्धक हानसे काय आवरक माना जाता है, जैस कि मृद्घट मृत्तिका-दशनम प्रतिबन्धक हानम आच्छादक मान्य है। कारा कायम अनुगत हानस आच्छादक मान्य ह जस कि मृत्तिका अपना अनुगतिस घटादिका आच्छादिका मान्य है।

शास्त्रोम चार प्रकारका प्रलय मान्य है—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) प्राकृतिक ओर (४) आत्यन्तिक। सावयव कार्यात्मक देहादिका प्रतिक्षण परिवर्तन 'नित्य-प्रलय' है। ब्रह्माजीकी निद्राके निमित्त 'भू ' आदि लोकत्रयका प्रलय 'नैमित्तिक' प्रलय है। चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डसहित भुवनोपादान पृथिव्यादि तत्त्वाका प्रकृतिम लय 'प्राकृतप्रलय' है तथा ब्रह्मात्मविज्ञानके अमोघ प्रभावसे अविद्या आर उसके कार्यवर्गका छेदन कर जीवका स्वरूपावस्थान 'आत्यन्तिक प्रलय' है। सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्माजीका एक दिन होता हैं। दिनके तुल्य ही उनकी रात्रि होती है। तीन सो साठ दिनाका (दिन-रातका) एक वर्ष होता हे। सौ वर्षोंकी ब्रह्माजीकी पूर्णायु होती है। उसीको 'परार्ध' कहते हैं। ब्रह्माजीकी आयु पूर्ण होते ही पञ्चभूतात्मक जगत् मायामे लीन हो जाता है। ब्रह्माजी भी मायाम लीन होते ह। ब्रह्माजीके तुल्य ही रुद्रादि मूर्तियाँ भी मायाम लीन होती हैं। उत्तरसर्गम हेतुभूता प्रकृतिसज्ञक माया महाप्रलयम सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मादिसज्ञक परमेश्वरमे अभेदरूपमे स्थितिलाभ करती है।

द्वितीय मन्त्रम कहा गया ह कि उस प्रतिहारके समय (महाप्रलय)-मे प्रतिहर्ता (सहर्ता) मृत्यु नहीं था आर न मृत्युके अभावसे सिद्ध—अमरस्वभाव कोई प्राणी ही था। रात्रि-दिवस और इनसे उपलक्षित मास, ऋतु, सवत्सर प्रभृति सर्वकाल और काल-कालके न रहनेसे 'मृत्यु नहीं था' यह कथन सर्वथा चरितार्थ ही हे। अभिप्राय यह ह कि दाहतुल्य सहार्य भाग्य और भोक्तृ-प्रपञ्चका दाहतुल्य मृत्युसज्ञक सहार हो जानेपर दाहकतुल्य अमृतसज्ञक सहारक महाकाल भी महाप्रलयमे शेष नहीं रहता। अथवा सर्वसहारक मृत्युसज्ञक काल और ज्ञानमय अमृतसज्ञक जाव शिवतादात्म्यापन्न होकर स्थित रहता है। कार्यप्रपञ्चका उपादानात्मक लयस्थित महाकारण माया भी वक्ष्यमाण मायाश्रय महेश्वरसे एकीभूत रहती है। मृत्यु अग्नितुल्य है। महाप्रलय उत्तरसर्गकी अपेक्षा मृत्युकी अभिव्यक्तिकी पूर्वावस्था हे। पूर्वसर्गकी अपक्षा वह मृत्युके ध्वसकी उत्तरावस्था है। अग्निकी अभिव्यक्तिके पूर्व और अग्निके ध्वसके पश्चात् अग्निका असत्त्व दृष्टान्त है। इस कथनके पीछे दार्शनिकता यह हे कि भागका हतु कर्म है। फलान्मुख परिपक्व कर्माधीन ही भाग हे। बिना कर्मके भोग असम्भव है। निरपेक्ष अमृत ब्रह्म और ब्रह्माधिष्ठिता माया है। महाप्रलयम उसका अस्तित्व ही श्रुतिका प्रतिपाद्य ह। अतएव निरपेक्ष अमृतका प्रतिपेध अप्राप्त है। सापेक्ष अमृत-प्रलयम अवशिष्ट मह, जन, तप और सत्यम्-सज्ञक परमेष्ठिलोक, परमेष्ठिदेह ओर परमेष्ठिपद है, उसीका प्रतिपध यहाँ विवक्षित है। व्यष्टि-समष्टि सूक्ष्म आर कारण शरीरपर्यन्त जीवभाव है। महाप्रलयम मायारूपी महाकारणमे सूक्ष्म और कारणप्रपञ्चका विलय हा जानेके कारण जीवसज्ञक अमृतका प्रतिपेध महाप्रलयमे उपयुक्त ही हे। ब्रह्माधिष्ठिता मलिनसत्त्वगुणप्रधाना प्रकृति निमित्तकारण और तम प्रधाना प्रकृति उपादानकारण हे। मलिनसत्त्वप्रधाना ओर तम प्रधाना प्रकृतिका लयस्थान त्रिगुणमयी गुणसाम्या माया महाकारण ह। ब्रह्माधिष्ठिता माया महाप्रलयमे शेप रहती हे। अभिप्राय यह हे कि कालातीत महामाया हा कालगर्भित पृथिव्यादिके प्रतिपेधका अवच्छेदक अर्थात् उपादानरूपसे अवशिष्ट रहती हे। परमात्माम मुख्य ईक्षण भी विशुद्धसत्त्वात्मिका मायाके यागसे ही सम्भव हे। अतएव ब्रह्माधिष्ठिता माया जगत्का निमित्तकारण भी हा सकती ह। इस प्रकार ब्रह्मम अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व जिस मायाके आध्यात्मिक सयोगस ह, वही महाप्रलयम कालगर्भित पृथिव्यादिके प्रतिषधका अवच्छेदक हो सकती हैं। अथवा 'तदानीम्' आदि कालवाचक पदाकी सार्थकता भी मायोपहित ब्रह्मकी कालरूपताके कारण सम्भव ह। जव भोग्य और भोगप्रद काल नहा था तथा भाक्ता-कर्ता भी नहीं था, तब कौन था? क्या शून्य ही तो नहा था? नहीं। सम्पूर्ण प्राणिसमूहको आत्मसात् किय स्वय विना वायु (प्राण)-के ही वह प्राणका भी प्राण प्राणनकर्ता परब्रह्म प्रतिष्ठित था। ऐसा भी नहीं कि मायासयुक्त होनेपर भी शुद्धब्रह्मकी महाप्रलयम असम्भावना साख्यसम्मत प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका स्वतन्त्रा मायाको ही सिद्ध करती हे। वस्तुस्थिति यह हे कि नित्यता, असगता आर अद्वितीयताका न त्यागे हुए अर्थात् साधे हुए ही स्वनिष्ठ (जलनिष्ठ) शत्यको आत्मसात् किये सलिल (जल)-क तुल्य वह परब्रह्म मायाको आत्मसात् किये अर्थात् सर्वथा एकीभूत किय स्थित था। स्थूणानिखननन्यायस इस तथ्यकी परिपुष्टि की जाती हे। नि सदह उस परब्रह्मसे पर कुछ भी नहा था। सर्गकालिक द्वैत उस समय नहीं था। द्वैतबीज मायाका परब्रह्म अपनेम अध्यस्त बनाये—आत्मसात् किय हुए था। जव भूत-भातिक माया भी परब्रह्मम अध्यस्त हा थी तव किसको लेकर द्वत हाता? महाप्रलयम ब्रह्मसे

तादात्म्यापन्न या अविभागापन्न होकर ही स्वधासंज्ञक माया विद्यमान थी। ब्रह्माश्रिता माया वृक्षाश्रित अमरवलके तुल्य ब्रह्माण्डपुष्पोत्पादिनी विचित्र शक्तियासे सम्पन्न स्वतन्त्र सत्ताशून्य होती हुई ही विद्यमान थी। वह ब्रह्मसे पृथक्-गणनाके योग्य नहीं थी। सर्वथा शक्तिमात्रकी पृथक्-गणना सम्भव भी नहीं। शक्तिकार्य उस समय था नहीं, ऐसी स्थितिमें मायासहित सत्-तत्त्व सद्वितीय हो, ऐसा सम्भव नहीं।

इस प्रकार अनिर्वचनीया मायाके योगसे भी ब्रह्म वस्तुतः 'आनीदवातं' अर्थात् स्वतन्त्र सत् सिद्ध होता है। ब्रह्मके योगसे माया सत् अर्थात् निर्वाच्य नहीं होती इसलिये 'नो सदासीत्' यह पूर्वोक्ति चरितार्थ होती है। वायुके योगसे जैसे आकाश चञ्चल नहीं होता और आकाशके योगसे वायु स्थिर नहीं होता, अग्निके योगसे वायु मूर्त नहीं होती और वायुके योगसे अग्नि अमूर्त (अरूप) नहीं होता, रज्जुसर्पके योगसे रज्जुतत्त्व अनिर्वाच्य नहीं होता और रज्जुयोगसे रज्जुसर्प अबाध्य नहीं होता वैसे ही मायाके योगसे ब्रह्म अनिर्वाच्य (मिथ्या) नहीं होता और ब्रह्मके योगसे माया सत् नहीं होती।

माया द्वैध है। कार्य और कारण दोनोंके लिये प्रसंगानुसार माया शब्दका प्रयोग विहित है। 'माया ह्येषा मया सृष्टा' (महाभारत, शान्तिपर्व ३३९। ४५)-की उक्तिसे कार्यकोटिकी मायाका प्रतिपादन किया गया है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। १०)-की उक्तिमें कारणकोटिकी मायाका प्रतिपादन किया गया है। कार्यकोटिकी मायाका प्रतिषेध प्रलयदशामें अभीष्ट होनेसे कारणभूता मूल मायाके अतिरिक्त कोई भी दृश्यरूप कार्यात्मक प्रपञ्च नहीं था।

तृतीय मन्त्रमें कहा गया है कि सृष्टिके पूर्व महाप्रलयमें कार्यात्मक प्रपञ्चरूप जगत् अनिर्वचनीया मायासंज्ञक भावरूप अज्ञानान्धकारसे एकीभूत था। यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे संगत अतएव अविभागापन्न अजायमान था। क्षीरसे एकीभूत नीरके तुल्य ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृतिसे एकीभूत कार्यात्मक प्रपञ्च दुर्विज्ञेय था। तमोभूत असत्कल्प अपने उपादानकारणसे समावृत और उसमें सर्वथा एकीभूत जो कार्यात्मक प्रपञ्च था वह स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप परमेश्वरके तपके अद्भुत माहात्म्यसे उत्पन्न हुआ।

सृष्टिके पूर्व तमस् ही था। जगत्कारण तमस्से नाम-रूपात्मक प्रपञ्च ढका था। जैसे रात्रिका अन्धकार सब पदार्थोंको ढक लेता है, वैसे ही उस तमस्ने सबको अपने अंदर गूढ कर रखा था। व्यवहारदशाके समान महाप्रलयदशामें आवरक तमोरूप कर्ता और आवेय जगद्रूप कर्मकी स्पष्ट पृथक्ता ज्ञात नहीं थी। यह सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे संगत—पूर्णरूपसे अविभागापन्न था अथवा दुग्धमिश्रित जलतुल्य पृथक् विज्ञानका विषय नहीं था। वह भारतुल्य तमस् यद्यपि नीरतुल्य जगत्से प्रबल-सा सिद्ध होता है, परंतु विचारकोंकी दृष्टिमें तुच्छ अर्थात् अनिर्वचनीय ही है। केवल आवरण करनेका ही इसका स्वभाव है। कालक्रमसे लीन प्रपञ्चको प्रादुर्भूत न होने देनेका स्वभाव नहीं है, फिर तमस् प्रबल हो तब भी परमेश्वरके स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तपके अमोघ प्रभावसे तमस्से समावृत और एकीभूत विविध विचित्रताओंसे भरपूर प्रपञ्चका भी यथापूर्व व्यक्त हो जाना सम्भव है। आच्छादकका ही सर्गदशामें आच्छादन हो जाना और प्रलयदशामें लयस्थान हो जाना—परमेश्वरके अमोघ माहात्म्यका द्योतक है। जिन पदार्थोंका प्रलयमें निषेध किया गया है वे ही पदार्थ सर्गकालमें परमात्मासे अधिष्ठित मायासे अभिव्यक्त होते हैं। उन पदार्थोंको परिपूर्ण प्रकाशरूप परमात्माने स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तपसे रचा। परमात्माने मानस यथार्थसंकल्परूप ऋत, वाचिक यथार्थ भाषणरूप सत्य तथा इनसे उपलक्षित धृति, क्षमा, दम अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहादि शास्त्रीय धर्मोंको रचा। इसी प्रकार उसने रात्रि, दिन और जलसे भरपूर समुद्रोंको उत्पन्न किया। उसने संवत्सरोपलक्षित सर्वकाल उत्पन्न किया—'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। कला मुहूर्ताः काष्ठाश्च' (तैत्तिरीयारण्यक १०। १। ८)। अहोरात्र (दिन-रात)-से उपलक्षित सर्वभूतोंको व्यक्त किया। उस विधाताने पूर्वकालके अनुरूप ही कालके ध्वजरूप सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सुखरूप द्युलोकसंज्ञक त्रिभुवनसे उपलक्षित चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डको रचा।

श्रुत्यन्तरमें 'न तमः' कहकर तमस्का प्रतिषेध 'सत्'-की विद्यमानतासे है। अथवा तेज और तमस् दोनोंका प्रतिषेध प्राप्त होनेसे कार्यात्मक तमस्का प्रतिषेध है। 'सत्किञ्चिदवशिष्यते' की उक्ति सत्की प्रधानतासे है—

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते।

(योगकुण्डल्युपनिषद् ३। २४-२५)

'प्रलयदशामे निश्चल, दुरवगाह, मनका भी अविषय, चन्द्रादि अधिदेवसे भी अतीत, आवरक तमस्‌से सुदूर, अनभिव्यक्त, अनाख्य—निरुपाख्य (निरूपणका अविषय), शून्यसे सुदूर अशेषविशेषातीत व्यापक स्वप्रकाश सत् ही अवशिष्ट था।' कदाचित् 'न तम ' की उक्तिसे मायाका ही प्रतिषेध माने ता 'ज्योतिषामपि तज्ज्योति ' (गीता १३। १७)—'वह ज्योतियाका भी ज्योति हे'-की शैलीमे ज्योतिका तथा 'तमस परमुच्यते' (गीता १३। १७)—'तमस्‌से पर कहा गया (जाता) है'-की शैलीमे अज्ञानरूप तमस्‌का प्रतिषेध मानना उपयुक्त है। 'सर्वेषा ज्योतिषा ज्योतिस्तमस परमुच्यते', 'तम शब्देनाविद्या' (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ४। १)-म स्पष्ट ही तमस्‌का अर्थ अविद्या किया गया हे।

उक्त वचनका अभिप्राय असत्कार्यवाद, असद्वाद, अनीश्वरवाद, परमाणुवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, जडवाद, क्षणिक विज्ञानवाद ओर खण्डप्रलयवादक व्यावर्तनसे हे।

जैसे चैत्ररूप कर्ता और ग्रामरूप कर्म दोनाकी सहस्थिति सम्भव होनेपर भी दोनाका ऐक्य सम्भव नहीं, वसे ही महाप्रलयमे आवरक तमस् ओर आवर्य जगत्‌की सहस्थिति सम्भव होनेपर भी दानाका ऐक्य सम्भव नहीं, तथापि *आवर्य जगत्‌का उपादान होनेसे दोनाका ऐक्य भी सम्भव* है। यही कारण है कि स्निग्ध मृत्तिकाम और पिण्डावस्थाम सनिहित घटके सदृश जगत् प्रलयदशाम विशेषरूपसे ज्ञायमान नहीं होता। सृष्टि-प्रलयसदर्भम यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रपञ्चका उपादान कारण प्रकृति है। परमात्मा इसका अधिष्ठान हे। इसको अभिव्यक्त करनेवाला काल है—

प्रकृतिर्ह्यस्यापादानमाधार पुरुष पर ।
सतोऽभिव्यञ्जक कालो ब्रह्म तत्त्रितय त्वहम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २४। १९)

व्यवहार-दशाकी त्रिविधता वस्तुत ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मरूप परमेश्वरकी पालनप्रवृत्तिके अनुरूप जबतक ईक्षणशक्ति काम करती रहती है, तबतक जीवाके कर्मोपभोगके लिये पिता-पुत्रादि कारण-कार्यरूपसे यह सृष्टि-चक्र निरन्तर चलता रहता है। महाप्रलयका योग समुपस्थित होनेपर सर्गक्रमक विपरीतक्रमसे पृथिव्यादि तत्त्व अपने कारणम विलीन होते हैं। ज्ञानक्रियाभयशक्तिप्रधान कार्यात्मक महत्तत्त्व त्रिगुणके द्वारसे अव्यक्त प्रकृतिमे लीन होता है। प्रकृतिका क्षाभ कालाधीन है, अत वह कालसे एकीभूतरूप लयको प्राप्त होती है। काल अपने चतनज्ञानमय जीवमे तादात्म्यापत्तिरूप लयको प्राप्त हाता है। जीव अपने शिवरूप-स्वरूप लयको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि स्वरूप-विज्ञानके बिना ही प्रलयम जीव शिवभावापन्न होकर विराजता हे। परमात्माकी प्रपञ्चोन्मुखता ही उसकी जीवरूपता है। जीवकी सर्जनसरक्षणादिके अनुरूप सकल्पमुखता ही उसकी कालरूपता है। यद्यपि परमात्माकी प्रपञ्चोन्मुखता और सकल्पमुखता अर्थात् ईक्षणान्मुखता प्रकृतिसज्ञक मायाके योगस ही हे, तथापि दर्पणसे अतिक्रान्त दर्पणादित्य-तुल्य आर धूमसे अतिक्रान्त (अतीत) ज्वालातुल्य अप्रतिममहामहिमामण्डित महेश्वरकी जीवरूपता और कालरूपता मायास अतिक्रान्त हे। इस दृष्टिसे विचार करनेपर 'न मृत्युरासीत्' (ना०सू० २)-की उक्तिसे मृत्युसज्ञक कालका महाप्रलयम निषध विवक्षित है। 'अमृत न तर्हि' (ना० सू० २)-की उक्तिसे अमृतसज्ञक जीवका महाप्रलयम निषध विवक्षित है। जीवका लयस्थान शिवस्वरूप परमात्मा हे। वह सबका परम आर चरम मूल है। अतएव उसका लय नहीं होता।

चतुर्थ मन्त्रम कहा गया है कि ईश्वरने सर्जनेच्छासे *स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तप किया। सर्जनेच्छा ईश्वरके मायारूप* मनम हुई। अभिप्राय यह ह कि अतीत कल्पम अकृतार्थ *जीवाके मनसे सम्बन्धित आर मनम सनिहित जो भाविप्रपञ्चका* हेतुभूत वासनात्मक कर्म था, उसीके उद्‌बुद्ध और फलोन्मुख हानेक कारण सर्गके आरम्भम प्राणियाको आत्मसात् किये महेश्वरक मायारूप मनम पर्यालोचनरूप तपका भी मूल सिसृक्षारूप-काम उत्पन्न हुआ। 'तम आसीत्' तथा 'असत्' कहकर श्रुतिने भावरूप अव्याकृतात्मक अज्ञानको तथा '**कामस्तदग्रे समवर्तताधि**' कहकर कामको और '**रेत प्रथम यदासीत्**' कहकर कर्मको जगत्‌का मूल माना हे। अभिप्राय यह है कि जगत् अविद्या तथा काम ओर कर्मक योगसे समुत्पन्न हुआ है। परमेश्वर जीवाक अज्ञान, काम और कर्मोक अनुरूप ही जगत्‌की रचना करते हैं। असत्, अव्यक्त, अव्याकृत, अविद्या, तम, प्रकृति, मायाकी एकरूपता 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तत्तिरीयापनिषद् २। ७) 'अविद्या-माहुरव्यक्तम्' (महाभारत, शान्तिपर्व ३०७। २), 'तद्धेद तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृहदारण्यक० १। ४। ७), 'अविद्या

प्रकृतिर्ज्ञेया' (महा० शा० ४१ दा० पाठ), 'निरस्ताविद्यातमोमोह' (नृसिहोत्तरतापिन्युपनिषद् २), 'प्रकृतिर्माया (गणशपूर्वतापिन्युपनिषद् २। ३), 'अविद्या मूलप्रकृतिमाया लोहितशुक्लकृष्णा' (शाण्डिल्योपनिषद् ३। १) आदि वचनाके अनुशीलनसे सिद्ध है।

पॉचव मन्त्रम कहा गया है कि जीवनिष्ठ अविद्या, काम और कर्म सृष्टिके हेतु हैं। अविद्योपादानक आर कामकर्मनिमित्तक आकाशादि भूत ओर भातिक पदार्थका सजन करते समय कार्यवर्ग सूर्यरश्मिसदृश शीघ्र विस्तार ओर प्रकाशको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार आर्द्र ईंधनक योगसे ज्वाला आर धूम दो रूपाम अग्निकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे ज्वालाकी अग्निके अनुरूप अभिव्यक्ति हाती हे ओर धूमकी विरूप अभिव्यक्ति होती ह, उसी प्रकार काम आर कर्मगर्भित अविद्याके योगसे परमात्माकी ही भोक्ता और भोग्य दो रूपोम अभिव्यक्ति होती ह।- भोक्ता भगवान्क अनुरूप अभिव्यक्ति हे, भोग्य भगवान्क विरूप अभिव्यक्ति है। भोग्य अविद्याके अनुरूप अभिव्यक्ति है आर भोक्ता अविद्याके विरूप अभिव्यक्ति है। भोक्ता अन्नाद है और भोग्य अन्न। कार्यकारणात्मक प्रपञ्च अन्न है आर जीव अन्नाद। अन्न भोग्य हे ओर जीव भोक्ता। अन्न शेप हे और अन्नाद शपी। शेपी जीवमे शेपकी दासता उपयुक्त नहीं।

छठे मन्त्रम कहा गया है कि यह विविध विचित्र भूत-भौतिक, भोक्तृ-भोग्यादिरूपा सृष्टि किस उपादानकारणसे ओर निमित्तकारणस प्रकट हुई है—इस तथ्यको परमार्थत कान जानता ह? इस जगत्म उसका कान प्रवचन कर सकता है? इस भूत-भातिक प्रपञ्चक विसजनक वाद ही जव दवता, मन आर इन्द्रियाकी उत्पत्ति हुई तव य उस मूल तत्त्वका केस जान सकत ह? सृष्टिका मूल तत्त्व दुर्विज्ञय है। जा वस्तु जानी जाती ह वह ता दृश्य, जड तथा विकारी ही हाता है। जिसका हम कारणरूपस अनुमान करत ह अथवा जिस हम कारणरूपस जानत हैं वह सावयव-विकारी हा हाता ह अतएव नश्वर हाता है। एसी स्थितिम कार्य-कारण-कल्पनाक प्रकाशक सवाधिष्ठान स्वयम्प्रकारा प्रत्यग्ब्रह्मका ज्ञानका विपय कैस वनाया जा सकता है? नाम-रूपात्मक जगत् अनिर्वचनाय हानस निरूपणका विपय नहीं है। जगत्कारण अधिष्ठानात्मक-उपादान ब्रह्म शब्द प्रवृत्तिके हेतु जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध, रूढिरहित होनेसे अभिधा-वृत्तिसे शब्द-प्रवृत्तिका अविषय हैं। ऐसी स्थितिम जगत् कितना है, कैसा है और इसका उपादान तथा निमित्तकारण कौन है—आदि तथ्याको कान विधिवत् जानता है? कौन इसे विधिवत् बता ही सकता है? घटादिके कर्ताम जो देहादिकी स्थिति है, वह ईश्वरमें सर्वतोभावन चरितार्थ हो ऐसा आवश्यक नहीं। व्याप्तिके विना सामानाधिकरण्यमात्र असाधक ही होता है। ऐसा न मान तो रसाईम धूम-वह्नि (धूआँ ओर आग)-की व्याप्तिका ग्रहण करत समय व्यञ्जनादिमत्त्व भी परिलक्षित होता है, फिर तो पर्वतादिम भी उनका (व्यञ्जनादिका) अनुमान होना चाहिय, परतु ऐसा नहीं। अभिप्राय यह है कि रसोईघरमे धूम और अग्निके साहचर्य-सदृश पर्वतम धूमाग्निका साहचर्य है, यह ता ठीक है, परतु उससे निष्पन्न छप्पन भोग और छत्तीसों व्यञ्जनकी स्थिति पर्वतम सिद्ध करना जैसे उपयुक्त नहीं, वैसे ही ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् कर्ताको कार्यक मूलम स्थित सिद्ध करना ता उचित, परतु उस कर्ताको देहादियुक्त अनुमित करना अनुचित। एसा न समझनेवाले विमाहित ता हाते ही हैं। जब देवगण भी उस तत्त्वको नहीं जान सकते, तव मनुष्याम भला कोन जान सकता है? मनुष्याके साथ तो अल्पज्ञता सर्वतोभावन अनुविद्ध है।

सप्तम मन्त्रम इस तथ्यका प्रकाश किया गया है कि जिस विवर्तोपादानकारणसे अर्थात् कल्पित कार्यके उपादानकारणस इस विविध-विचित्र परस्पर-विपरीत (विलक्षण) सृष्टिका उदय हुआ है, वह भी इस सृष्टिका अपने स्वरूपमे धारण करता ह या नहीं? अन्य काई धारण कर हा कैसे सकता है? यदि धारण कर सकता हे तो सर्वेश्वर ही। इस सृष्टिका जो अध्यक्ष परमेश्वर है, वह परमव्यामम रहता है। वह भी कहीं इस जानता ह या नहीं? दश-कालादि त्रिविध परिच्छदशून्य परमात्मा सृष्टिक मूलकारण अपन-आपका जानता भी है अथवा नहीं? अथवा अपने अज्ञानकल्पित प्रपञ्चको वह जानता भा ह या नहीं? 'यदि या न वद' का अभिप्राय यह ह कि जब स्वदृष्टिस सृष्टि है हा नहीं, तव जानगा किसका? अन्य काई ता जाननस रहा।

शुभाशंसा

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्र सरस्वतीजी महाराज)

श्रीपरमेश्वरके उच्छ्वास-नि श्वासभूत है वेद। ये र्वप्राणिहितकर होते हैं। अत वेद माता कहे जाते हैं। नके वचन निषेध एव विध्यात्मक होते हैं। इनकी विशेषताओंको ोटी-छोटी कहानियाद्वारा वेदमन्त्र ही सरल एव स्पष्टरूपमें ामझाते हैं। यथा हि—'देवासुरा सयत्ता आसन्'—देवलोग ाथा दैत्यलाग आपसमे लडे-भिडे आदि-आदि। ात्मचिन्तनोके प्रकारके विशदीकरणम भी इन्हीं उक्तियाकी हायता ली गयी है। इससे कठिन-से-कठिन बातोका मााधान-सुझाव अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

भारतकी परम्परागत सम्पत्ति हैं ये वेद। पुराण, इतिहास, काव्य तथा नाटक आदि इनक उपबृहण हैं। इस सम्पत्तिकी रक्षाम सावधानीपूर्वक कटिबद्ध होते 'कल्याण'के वर्ष १९९९ का विशेषाङ्क 'वेद-कथाङ्क' प्रकाशित हो रहा है, यह सुन-समझकर हम अतीव सतुष्ट हुए।

वेदमाताक परिपूर्ण आशीवादा एव श्रीपरमेश्वरकी परम कृपासे यह 'विशषाङ्क' पुनरपि वेदाकी विशेषताआको मानव-मनम जाग्रत् करे, यह मेरी शुभाशसा है।

वेदोका परम तात्पर्य परब्रह्ममे सनिहित

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शकराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

कालो देश क्रिया कर्ता करण कार्यमागम ।
द्रव्य फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरि ॥
(श्रीमद्भा० १२। ११। ३१)

द्रव्य कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वत ॥
(श्रीमद्भा० २। ५। १४)

द्रव्य कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहत सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥
(श्रीमद्भा० २। १०। १२)

—आदि वचनाके अनुसार वेद, देव, काल, देश, क्रिया, करण कार्य, द्रव्य, फल, स्वभाव, जीव, लोक, योग और ज्ञानादि परब्रह्मम प्रतिष्ठित हैं।

वेदोकी ब्रह्मपरायणता इस प्रकार है—सृष्टिपरक श्रुतियाका तात्पर्य सृष्टिम सनिहित नहीं है अपितु स्रष्टाके स्वरूपप्रतिपादनमे ही सनिहित है। सृष्टिपरक श्रुतियाम विगान होनेपर भी स्रष्टाके स्वरूप-प्रतिपादक श्रुतियाम विगान नहीं है। स्रष्टा, सरक्षक ओर सहारक परमेश्वरकी 'वासुदव' सज्ञा है। वही जगत्का अभिन्न- निमित्तोपादानकारण है। जगद्रूपसे विलसित वासुदेवकी सर्वरूपता शास्त्रसिद्ध है। 'वासुदेव सर्वमिति' (गीता ७। १९), 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३। १४। १), 'सब वासुदव है' तथा 'यह सब नि सदेह ब्रह्म है' आदि शास्त्राके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध है। 'यत्प्रशस्यते तद्विधेयम्' 'जो प्रशसित होता है वह विधेय हाता है',—इस न्यायसे ब्रह्मदर्शनमे फलवाद और उपपत्ति (युक्ति)-की उपलब्धि होनेसे एकत्व प्रशस्त है, वही विवक्षित है।

'न तु तद्द्वितीयमस्ति' (बृहदारण्यक० ४। ३। २३), 'द्वितीयाद्वै भय भवति' (बृहदारण्यक० १। ४। २)—'वह द्वितीय नहीं है', 'नि सदेह दूसरेसे भय हाता है' 'उदरमन्तर कुरुते। अथ तस्य भय भवति' (तैत्तिरीय० २। ७) 'जा तनिक भी भेद करता है, नि सदेह उसे भय होता है' आदि वचनासे अनेकत्वकी निन्दा की गयी है। 'यन्निन्द्यते तन्निषिध्यते'—'जिसकी निन्दा की जाती है वह निषेध्य (निषेधका विषय होने योग्य) होता है'। इस न्यायसे नानात्व-प्रतिपादनमे शास्त्राका तात्पर्य सनिहित नहीं हो सकता। 'ओदन पचति'—'भात पकाता है'—इस प्रयोगम जिस प्रकार अनादनम ओदनका उपचार है, उसी प्रकार भेद-दर्शन-घटित पूर्वकाण्डाम अभेदम भेदोपचार है।

भेद न तो अपूर्व है ओर न पुरुषार्थ ही। अतएव वह तात्पर्य भी नहीं। प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध भेदके प्रतिपादक शास्त्र अनुवादक ही मान्य हैं। अनुवादकका स्वतन्त्र प्रामाण्य असिद्ध होनेसे वेदाका वेदत्व तभी सम्भव है, जब वे प्रमाणान्तरसे अनधिगत और अबाधित अर्थके प्रतिपादक

वैदिक धर्म-संस्कारों एव संस्कृतिका समग्र जन-जीवनपर प्रत्यक्ष प्रभाव

(जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीश्यामनारायणाचार्यजी महाराज)

वेदमे एक लाख मन्त्र हैं। अस्सी हजार मन्त्र केवल कर्मकाण्डका निरूपण करते हैं, जबकि सोलह हजार मन्त्र ज्ञानका निरूपण करते हैं। मात्र चार हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं।

मूलरूपसे वेदमे दो भाग हैं—पूर्वमीमासा एव उत्तरमीमासा। पूर्वमीमासा अर्थात् अस्सी हजार मन्त्र कर्मकाण्डका निरूपण करते हैं। कर्मकाण्ड-निरूपणके आदिमे लिखा हुआ है **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** और यहींसे मानव-जीवनका सस्कार आरम्भ होता है। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त सोलह प्रकारके सस्काराका निरूपण वेद करता है।

वास्तवम, वेदमे वर्णित सस्कार-विधिके अनुसार यदि माता-पिता अपने बच्चोको सुसस्कृत कर तो वह बालक सच्चा मानव बन सकता है। भगवान्ने मनुष्य-शरीर इसलिये प्रदान किया है कि तुम वेदानुकूल आचरण करो तभी तुम मानव बन सकोगे। वेद-विरुद्ध आचरण होनेपर मानवका मानव-धर्म निभाना असम्भव है, क्योकि शास्त्रवचन है—**'आचारहीन न पुनन्ति वेदा ।'** तात्पर्य यह कि आचारहीन व्यक्ति न पवित्र होते हैं आर न पवित्र आचरण करते हैं। तथा **'यन्नवे भाजने लग्न सस्कारो नान्यथा भवेत्।'** बाल्यावस्थामें जो सस्कार प्राप्त होता है वह अमिट होता है। परतु बालकोको अच्छे सस्कार मिलने धीरे-धीरे गुरुकुल-आश्रमोमे भी बद हो रहे हैं क्योकि उनम भी विलासी लोगाके आवागमनसे आश्रमके वातावरणम अन्तर पडता जा रहा है। धर्मका उपदेश करनेवाले गुरुजनोम भी भौतिकताकी आँधी चलनी शुरू हो गयी है। इसलिये पहलेकी अपेक्षा यद्यपि आज लाखो शिक्षा देनेवाले कथा सुना रहे हैं, योगकी शिक्षा दे रहे हैं, वद-वेदान्तका अध्ययन करा रहे हैं फिर भी आजकलका बालक सस्कारहीन होता जा रहा है।

पहले एक समय वह था जब कि लोग रुपय खर्च करके टी०वी० की बीमारीको डॉक्टरसे इलाज कराकर भगाते थ परतु आज घर-घर टी०वी० प्रवेश करक जन-जनक मन-वाणी तथा इन्द्रियोपर अपना प्रभाव स्थापित करता चला जा रहा है। इसम टी०वी० की निन्दा नहीं है, क्योकि टी०वी० से तो ससारके सभी बाताकी जानकारी होती है, परतु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। समझदार व्यक्ति टी०वी० से समाचार सुन लेता है तथा धार्मिक सीरियल भी देख लेता है, परतु छोटे बच्चोकी बुद्धि अपरिपक्व होती है, वे अच्छी बाताको कम ग्रहण कर पाते हैं और बुरी बात बुद्धिम शीघ्र जमा लेते हैं।

जहाँ टी०वी० के द्वारा प्रसारित श्रीराम-कृष्ण आदिके सीरियलसे कुछ लोगाको अच्छी बाताकी जानकारी मिली है, वहीं साठ प्रतिशत बच्चाका सस्कार अश्लील चित्रादि देखनेसे बिगडा भी है। इसका मूल कारण है माता-पिताकी बच्चाके प्रति लापरवाही तथा अधिक लाड-प्यार करना। जिन माता-पिताको स्वय सस्कार नहीं प्राप्त हुआ है, वे अपने बच्चाको कहाँतक अच्छे सस्कार दे सकते हैं। ऐसे माता-पिता तो जन्म दे सकते हैं, परतु अच्छे सस्कार तो सैकडा-हजारोमे कोई एक सुसस्कृत माता-पिता ही दे पाते हैं। वेद, शास्त्र, रामायण तथा गीतापर हजारो हिन्दी और अंग्रेजीम टीकाएँ हो चुकी हैं तथा होती भी जा रही हैं, परतु अच्छे सस्कार बहुत कम लोगाको प्राप्त हो रहे हैं। इसका मूल कारण है—उपदेश देनेवाले सत-विद्वानो तथा माता-पिताका स्वय अच्छे आचरणके बिना उपदेश देना। यदि ऐसा ही चलता रहा तो धीरे-धीरे आजका बालक बिगडनेके अलावा सुधर नहीं सकता। जहाँ पूर्वकालम विदेशी लोग जिस ज्ञान तथा भक्तिकी भूमि भारतसे शिक्षा प्राप्त करके आगे बढे थे, वहीं आज भारतके मानव-समाजका पतन हो रहा है, भारतका अनुकरण करनेवाले विदेशी भारतके आचरणको ग्रहण करके हमसे आगे बढते जा रहे हैं।

हम स्वय अपने शास्त्र-वेद-पुराणम विश्वास नहीं है, क्योकि हम सभीका सस्कार नष्ट होता जा रहा है। आज

'गीताप्रेस'-जैसे सस्थानसे जिस प्रकार अच्छी-अच्छी पुस्तकोंका प्रकाशन, रामायण-गीताकी परीक्षा, अच्छी-अच्छी कथानक-पुस्तकोंका प्रकाशन तथा रामनाम-जप-सकीर्तन आदिसे लाखों लोगोंका मन परिवर्तित हुआ है, यदि इसी प्रकार स्वयसेवी सस्थाओं एव सत महापुरुषोंके आश्रमोंमे भी अच्छे आचरण करनेवाले विद्वानों एव सतोंके द्वारा सस्कार देनेके साथ-साथ वेदानुकूल आचरण कराये जायँ तो मानवका विकास होना सम्भव है। धन-दौलत-कुटुम्ब और परिवार बढानेसे मानवकी उन्नति नहीं होगी। रावणके पास तो सोनेकी लका थी, परतु सस्कारहीन होनेसे लकाका एव उसके सारे कुटुम्ब-परिवारका नाश हो गया। उसी परिवारमे विभीषणको अच्छा सस्कार सत-महात्माओंके द्वारा मिला, जिसके कारण स्वय परमात्मा श्रीराम उसके पास मिलने आये और जब परमात्मा मिल गये तो सारे ससारका वैभव भी मिल गया।

वेदकी ऋचाओंमे भगवत्तत्त्वदर्शन

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपालवैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तःह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेता० ६। १८)

सर्वश्रुतिशिरोजुष्टं सर्वश्रुतिमनोहरम्।
सर्वश्रुतिरसाश्लिष्टं श्रौतं श्रीकृष्णमाश्रये॥

अखिलब्रह्माण्डनायक, सकलजगत्-पालक, सृष्टि-सहारकारक देवकी-वसुदेव-बालक, भक्तजनसुखदायक, श्रीगोपाल-ब्रह्म-वाचक कृष्णचन्द्रभगवान् ही परिपूर्ण पुरुषोत्तम कहलाये हैं। वे षोडशकलासे युक्त हैं। अष्टसिद्धि, षडैश्वर्य, लीला-कृपाशक्तिसे सम्पन्न श्रीकृष्णचन्द्र षोडशी तत्त्व हैं।

तत्त्वज्ञानी महापुरुष उसी परम तत्त्वको वेदान्त-रीतिसे ब्रह्म, स्मृतियोंमे परमात्मा तथा पुराणोंमे भगवान् शब्दसे अभिहित करते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १। २। ११)

उन्हींके नि श्वाससे वेदोंकी रचना हुई है अत साधारण पुरुषद्वारा कल्पित न होनेसे वेद अपौरुषेय हैं। जिसके द्वारा उस परम तत्त्वका ज्ञान होता है। वेद ज्ञानार्थक 'विद' धातुसे निष्पन्न होता है। सभी वेदोंका तात्पर्य परम ब्रह्ममे है। इस श्रीमद्भगवद्गीताके वाक्यसे इसीकी सम्पुष्टि होती है— 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।'

वेद भगवान्‌की आज्ञारूप हैं। 'वेदा ब्रह्मात्मविषया '— इस भागवतीय श्रुतिसे जीव-ब्रह्मका स्वरूप निरूपित होता है। वेदोंके आदि-मध्य तथा अवसानमें सर्वत्र हरिका ही यशोगान है। नाना नाम-रूपोंमे उन्हींकी अभिव्यक्ति है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥
(ऋक्० १। १६४। ४६)

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वदेवमय हैं। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें सभी देवोंका निवास है। वे भी सभीके अन्तर्गत हैं। उनसे रहित चराचर-जगत्‌में कोई भी वस्तु नहीं है। इसी सर्वव्यापकताके कारण वे विष्णु-ब्रह्म-नारायण-वासुदेव आदि नामोंसे व्यवहृत होते हैं। वे सभीको देखते रहते हैं, परतु उन्हें कोई नहीं देख पाता, शुभाशुभ-कर्मोंके साक्षी होनेपर भी उनकी ज्ञानदृष्टि कभी कहीं लिप्त नहीं होती—

यच्च किंचिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थित ॥

बिना भगवदिच्छाके उनको जानना कठिन है। दिव्य वस्तु दिव्य दृष्टिसे ही दृष्टिगोचर होती है। भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, तभी वह उनके विश्वरूपको देखनेमे समर्थ हुआ—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
(ऋक्० १०। ९०। १)

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभि स विवेश॥

(यजुर्वेद ३२। ११)

उपर्युक्त मन्त्रोसे सिद्ध हाता है कि जगत्मे व्याप्त होकर भगवान् विष्णु सभीके हृदय-कमलमे विराजमान हैं।

एक सुपर्ण स समुद्रमा विवेश स इद विश्व भुवन वि चष्टे।

(ऋक्० १०। ११४। ४)

अर्थात् वह अद्वितीय परम तत्त्व सुपर्ण—सुन्दर कमलदलके समान चरणारविन्दवाले, समुद्रके समान गम्भीर हृदय-कमलमे प्रविष्ट होकर परिदृश्यमान जगत्को साक्षात् देखते हुए उन सभी प्राणियाके अन्तर्गत स्थित हाकर अपनी चित्-शक्तिसे सभीको सचेष्ट करनेवाले कृष्णके निकट दौडे—

'त भूतनिलय देव सुपर्णमुपधावत'

(उपनिषद्)

रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतम श्रुतिरूपा गोपियाँ रसिकशेखर श्रीराधासर्वेश्वर श्यामसुन्दरसे कहती हैं कि—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वता कुले॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

अर्थात् हे सखे। आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं, प्रत्युत सभी देहधारियाके अन्तर्यामी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर विश्वके पालन-हेतु आप यादव-कुलमे अवतीर्ण हुए हैं।

गोपियाँ वेदोकी ऋचाएँ हैं। उनका गोपीभाव प्राप्त करनेका कारण बृहद्वामनपुराणमे उल्लिखित है—एक बार मूर्तिमती श्रुतियाँ कोटिकाम-लावण्य-धाम घनश्यामकी रूपमाधुरीपर माहित हो गयी थीं, कामिनीभावको प्राप्त होकर वे उनस रमण करनेकी प्रार्थना की थीं। भक्तवत्सल भगवान्ने उन्ह सारस्वत-कल्पमे व्रजम गापाभाव प्राप्त करनेका वरदान दिया था। अत श्रुति-रूपा गापियाको उनके स्वरूप-गुण आदिका भान हो गया इसलिये अन्तरात्मदृक् शब्दका प्रयाग भागवतकारने किया है।

कर मनोवाञ्छित वरदान पाकर श्रुतिरूपा गापियाँ व्रजम जा[कर] विचार कर फल पानेके लिये उद्यत हुईं तथा पर[स्पर] बोलीं—

[...]भृङ्गा अयास।
ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि[शृङ्गा] भाति भूरि॥
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परम पद[म्] (ऋ० १। १५४। ६)

(ऋ[चा]वाली गाये हैं,

अर्थात् जहाँ सुवर्णमय बडे-बडे सींग प्रकाशमान हैं, वह वृष्णिधुर्य श्रीकृष्णका परम धाम अ[है] और जो गोपोके जिसमे वेदाका बहुधा गुणगान होता है [इ]स प्रकार कहकर सुन्दर भवनासे अलकृत है—वहाँ चले। इ[स प्रकार] श्यामसुन्दरकी श्रुतिरूपा गोपियाँ व्रजम आयीं तथा [उन]पर मुग्ध हो साँवरी सूरत, मोहिनी मूरत, बाँसुरीपू[...]विहारीके साथ गयी थीं। वृन्दावनम यमुना-पुलिनपर रा[स] विह्वल हा गयीं रासलीलाम सम्मिलित हो गयीं। जब रास[...]ये। इसके बाद तो सर्वेश्वर श्यामसुन्दर अन्तधान हो [...]कर रुदन करती उन्मत्तवत् व[न]-वनमे ढूँढती हुई निराश ह[ो] हुई कहती हैं—

[...]भि पौस्य रणम्।
जज्ञान एव व्यबाधत स्पृध प्रापश्यद्वीरो अवपस्यया पृथुम्॥
अवृश्चदद्रिवम सस्यद सृजदस्तभ्नान्नाक [ऋ]० १०। ११३। ४)

(ऋक् विरोधी शत्रुआको

अर्थात् आपने जन्मसे ही सभी स्पर्धालु[...]म करपर धारण परास्त कर, गिरिराज गोवर्धनको अपन [...] करके सम्पूर्ण कर, इन्द्रकी प्रलयकारी शक्तिका स्तम्भ[...]दमन इन्द्रदमन व्रजकी रक्षा की है। आपन देवदमन, ना[...]पने वीर्य-शौर्यसे कालियमर्दन, कस-निकन्दन आदि नाम [...] वीरता दिखानेसे अर्जित किये हैं। हम ता अबला हैं हमप[...]र हमारे हृदयकी आपकी क्या प्रशसा है? अत प्रकट होव[...] पीडा दूर कीजिये।

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् [...]तानलात्।
वर्षमारुताद् वैद्य[...]
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभया-[...] मुहु॥
दृषभ ते वय रक्षित[ा] [...]० १०। ३१। ३)

(श्रीमद्[भा]

रूपरूप प्रतिरूपा बभूव तदस्य रूप प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शता दश॥
(ऋक्० ६। ४७। १८)

जिस समय भगवान् बाल-कृष्ण ग्वालबालो एव गोआ तथा बछर्डोको लेकर वेणु बजाते हुए मधुकराकी मधुर झकार, विविध विहगमाकी चहचहाहट मत्त काकिलोके कलरवसे सुशोभित वृन्दावनम प्रवेश कर बछडाका पानी पिलाकर शीतल छायादार विटपी-विटपासे अलकृत रमणीक स्थलपर कलेवा करनेके लिये बेठे थे, तब लाकपितामह ब्रह्माजीने ग्वालबाला एव गौआ-गावत्साका हरण कर अपनी मायास माहित कर दिया। तब योगेश्वर श्रीकृष्णन ब्रह्माकी माया समझ ली थी।

अत उन्हाने ग्वालबालाकी माताआको प्रसन्न करनेके लिये ग्वालबाला-जैसा रूप-वेष-वेणु-लकुटा, विषाण, अङ्ग-प्रत्यङ्ग धारण कर और बछडा-गोआ-जेसा बनकर नन्दगाँवम प्रविष्ट हुए। इस रहस्यका कोई भी नहीं जान सका, पर जब कन्हैयासे दाऊ भैयाने एकान्तम पूछा ता महामायावी कृष्णने कटाक्षसे उन्हे बताया कि—'सर्वस्वरूपो बभौ' (श्रीमद्भा० १०। १३। १९)। उधर जब ब्रह्माजोन देखा कि ये ग्वालबाल एव गोएँ-बछड कहाँस आये, मेंने जिन्हे हरण किया था वे तो अभी सोये पड हैं। 'सत्या के कतरे नेति ज्ञातु नेष्ट०' (श्रीमद्भा० १०। १३। ४३)—वे हो हैं या अतिरिक्त हैं इस सत्यको जाननम वे असमर्थ हो गये। ब्रह्मा अपनी मायाके बलपर अपना वैभव देखना-दिखाना चाहते थ, परतु उलटे व स्वय ही भगवान्की मायाम फँस गय, अन्तम उन्होने हस-वाहनसे उतरकर क्षमा-याचना की—

अत क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिन ।
(श्रीमद्भा० १०। १४। १०)

सर्वान्तर्यामिन्! आपकी प्ररणासे सभी जीव सचेष्ट होते हैं। आप सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं और सभी परतन्त्र हैं। आपके अभिप्रायका कोइ नहीं जानता ह—'का जानाति चिकीर्षितम्' आपकी मायास ता विवेकी भी माहित हो जाते हैं—'मुह्यन्ति यत्सूरय '।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि ।
(ऋक्० १०। १२९। ६)

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथ वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। २१)

तीनो लोकोंम आपकी लीलाएँ कहाँ और कैसे तथा कितनी और कब हुईं, यह कोन जान सकता हे? जो आपका कृपापात्र हे, वही जान सकता ह। प्राणन्द्रियाकी तृप्तिम लिप्त प्राणी नही जान सकता। यह घोषणा करती हुई ऋचा कहती है—

न त विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तर बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥
(ऋक्० १०। ८२। ७)

जो इस दृश्यमान जगत्को रचता है जो तुम्हारे हृदयके अदर अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हे, उसे प्राण-पोषक विषयी जन नहीं पहचानते। जैसे कुहरके अन्धकारम निकटकी भी वस्तु नही दीखती, वेसे ही अज्ञानान्धकारसे ढका प्राणी अपने हृदयमें भगवान्का नहीं पहचान पाता।

अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥
(गीता ५। १५)

अत अज्ञानतिमिरसे अन्धे जीवाको गुरु-गोविन्दके चरणकी शरणम जाकर अपने स्वरूपको जाननके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

'श मे अस्त्वभय मे अस्तु ॥

'मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और मुझे कभी किसी प्रकारका भय न हो।' (अथर्ववेद १९। ९। १३)

प्रशस्त हुआ। नीचे स्वधाका स्थान हुआ और ऊपर प्रयतिका।
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥

(ऋक्० १०। १२९। ६)

प्रकृतिक तत्वको कोई नहीं जानता तो उसका वर्णन कौन कर सकता है। इस सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण क्या है? विभिन्न सृष्टियाँ किस उपादान-कारणसे प्रकट हुईं? देवगण भी इन सृष्टियोंके पश्चात् ही उत्पन्न हुए, तब कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुई?

इय विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

(ऋक्० १०। १२९। ७)

ये विभिन्न सृष्टियाँ किस प्रकार हुईं, इतनी रचनाएँ किसने कीं, इस विषयमे इन सृष्टियोंके जो स्वामी है और दिव्य धाममे निवास करते हैं, वे जानते है। यह भी सम्भव है कि उन्हे भी ये सब बात ज्ञात न हों।

—इस नासदीय सूक्तसे विदित होता है कि परमेश्वरकी जीवन-कथारूप उनका सृजन-सहार कितना निगूढ है। नासदीय सूक्त (कथा)-का स्पष्ट साङ्गोपाङ्ग अक्षर आर्षभाष्य है पुरुषसूक्त—जिसमे विराट्-अखिल ब्रह्माण्डनायककी महिमा द्योतित है, उसके परमात्मा अनन्त हैं, उन (वेद)-की कथा अनन्त है। विद्वान् अनन्त रूपोमे उसकी व्याख्या—निर्वचन करते हुए अमृतपदमे प्रतिष्ठित रहते हैं।

वेदकथा-निर्वचनकी यही कसौटी है कि जो पुरुष सब प्राणियो और प्राणरहित जडपदार्थोंमे सर्वव्यापक परमात्माका विद्याभ्यास, धर्माचरण और योगाभ्यासद्वारा साक्षात्कार कर लेता है तथा समस्त प्रकृति आदि पदार्थोंमे परमेश्वरको व्यापक जानता है वह कभी सदेहमे नहीं पडता—सशयसे परे होता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न वि चिकित्सति॥

(यजुर्वेद ४०। ६)

जिस ब्रह्मज्ञानको दशामे समस्त जीव-प्राणी अपने आत्माके समान हो जाते हैं अपने ही समान दीखने लगते हैं, उस एकता या समानताको प्रतिक्षण देखनेवाले विशेष आत्मज्ञानी पुरुषके लिये न मोह रहता है, न शोक रह जाता है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत॥

(यजुर्वेद ४०। ७)

वेद-कथाकी माङ्गलिक प्रेरणा है कि परमेश्वर सर्वव्यापक हैं। वे शुद्ध कान्तिमय, परम शक्तिमय, शीघ्र गति देनेवाले, स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनो शरीरोसे रहित, व्रणादिसे रहित, स्नायु आदि दोषोसे रहित, निष्पाप, पापमुक्त, क्रान्तदर्शी, मेधावी, सबके मनको प्रेरित करनेवाले सर्वव्यापक, अपनी सत्तामे सदा विद्यमान अङ्ग हैं, वे यथार्थ-रूपमे सनातन कालसे प्रजाओके लिये समस्त पदार्थकी रचना करते हैं तथा उनका ज्ञान प्रदान करते है। वेदब्रह्मकी सर्वसमर्थता स्पष्ट है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्""॥

(यजुर्वेद ४०। ८)

नाथयोग-दर्शन—द्वैताद्वैत-विलक्षण नाथयोग निर्वचन-सम्मत अलख-निरजन सर्वव्यापक, मायातीत स्वसवेद्य परमात्माका यही माङ्गलिक—अपाप, परम शुद्ध दर्शन है, जो समस्त वेदवाङ्मयका अमृतत्व है। इस अमृतके रसास्वादनकी दिशामे माङ्गलिक शान्तिपाठ है—

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिर्द्यौ शान्तिराप शान्तिरोषधय शान्तिर्वनस्पतय शान्तिर्विश्वे मे देवा शान्ति सर्वे मे देवा शान्ति शान्ति शान्ति शान्तिभि।

(अथर्ववेद १९। ९। १४)

पृथिवी हमे शान्ति दे द्यौ जल औषध, वनस्पति, विश्वदेव सब देवता शान्ति दे, इन सब शान्तियोके अतिरिक्त मुझे शान्ति प्राप्त हो। इनके द्वारा विपरीत अनुष्ठानसे भयकर प्राप्त होनेवाले फल—क्रूर पापमय फलको हम दूर करते हैं। सब मङ्गलमय हो शान्ति हो, कल्याण हो।

वेद-कथाके ऋषिदर्शनके क्रममे सत्यार्थसमीक्षापूर्वक यही माङ्गलिक सम्पन्नता-सम्पूर्णता है।

वेद और श्रीमद्भगवद्गीता

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

वेद नाम शुद्ध ज्ञानका है, जो परमात्मासे प्रकट हुआ है—'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता ३। १५), 'ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा' (गीता १७। २३)। वही ज्ञान आनुपूर्वीरूपसे ऋक्, यजु आदि वेदोंके रूपसे ससारमे प्रकट हुआ है। वेद भगवद्रूप हैं और भगवान् वेदरूप हैं। उन वेदोका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोका सार श्रीमद्भगवद्गीता है। वेद तो भगवान्के नि श्वास हैं—'यस्य नि श्वसित वेदा ', पर गीता भगवान्की वाणी है। वेद और उपनिषद् तो अधिकारी मनुष्योंके लिये हैं, पर गीतामे मनुष्यमात्रका अधिकार है। कौरव-पाण्डवोके इतिहास-ग्रन्थ महाभारतके अन्तर्गत होनेसे इसके अधिकारी सभी हो सकते हैं। श्रीवेदव्यासजी महाराजने महाभारतरूप पञ्चम वेदकी रचना भी इसीलिये की थी कि मनुष्यमात्रको वेदोका ज्ञान प्राप्त हो सके।

गीतामे भगवान्ने वेदोका बहुत आदर किया है और उनको अपना स्वरूप बताया है—'पिताहमस्य जगतो'''ऋक्साम यजुरेव च' (९। १७)। जिसमे नियताक्षरवाले मन्त्रोकी ऋचाएँ हैं, वह 'ऋग्वेद' कहलाता है। जिसमे स्वरोसहित गानेमे आनेवाले मन्त्र हैं, वह 'सामवेद' कहलाता है। जिसमे अनियताक्षरवाले मन्त्र हैं, वह 'यजुर्वेद' कहलाता है। जिसमे अस्त्र-शस्त्र भवन-निर्माण आदि लौकिक विद्याओका वर्णन करनेवाले मन्त्र हैं, वह 'अथर्ववेद' कहलाता है। लौकिक विद्याओका वर्णन होनेसे भगवान्ने गीतामे अथर्ववेदका नाम न लेकर केवल ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद—इन तीन वेदोका ही नाम लिया है, जैसे—'ऋक्साम यजुरेव च' (९। १७), 'त्रैविद्या ' (९। २०), 'त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना ' (९। २१)।

भगवान्ने वेदोमे सामवेदको अपनी विभूति बताया है—'वेदाना सामवेदोऽस्मि' (गीता १०। २२)। सामवेदमे 'बृहत्साम' नामक एक गीति है, जिसमे इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है। अतिरात्रयागमे यह एक पृष्ठस्तोत्र है। सामवेदमे सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण इस बृहत्सामको भी भगवान्ने अपनी विभूति बताया है—'बृहत्साम तथा साम्नाम्' (गीता १०। ३५)।

सृष्टिमे सबसे पहले प्रणव (ॐ) प्रकट हुआ है। उस प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं—'अ', 'उ' और 'म'। इन तीनो मात्राओसे त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है। त्रिपदा गायत्रीसे ऋक्, साम और यजु —ये तीन वेद प्रकट हुए हैं। वेदोसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्मय जगत् प्रकट हुआ है। इस दृष्टिसे 'प्रणव' सबका मूल है और इसीके अन्तर्गत गायत्री तथा सम्पूर्ण वेद हे। अत जितनी भी वैदिक क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण करके ही की जाती हैं—'तस्मादोमित्युदाहृत्य'''ब्रह्मवादिनाम्' (गीता १७। २४)। जैसे गाय साँडके बिना फलवती नहीं होतीं, ऐसे ही वेदकी जितनी ऋचाएँ, श्रुतियाँ हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण किये बिना अभीष्ट फल देनेवाली नहीं होतीं। गीतामे भगवान्ने प्रणवको भी अपना स्वरूप बताया है—'गिरामस्म्येकमक्षरम्' (१०। २५), 'प्रणव सर्ववेदेषु' (७। ८), गायत्रीको भी अपना स्वरूप बताया है—'गायत्री छन्दसामहम्' (१०। ३५) और वेदोको भी अपना स्वरूप बताया है।

सृष्टिचक्रको चलानेमे वेदोकी मुख्य भूमिका है। वेद कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी विधि बताते हे—'कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि' (गीता ३। १५), 'एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे' (गीता ४। ३२)*। मनुष्य उन कर्तव्य-कर्मोका विधिपूर्वक पालन करते हैं। कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ होता है। यज्ञसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता हे, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं और उन प्राणियोमे मनुष्य कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ करते ह। इस तरह यह सृष्टिचक्र चल रहा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भव ॥

---

* यहाँ 'ब्रह्म' पद वेदका वाचक है।

कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(गीता ३। १४-१५)

भगवान् गीतामे कहते है कि ऊपरकी ओर मूलवाल तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस ससाररूप अश्वत्थवृक्षको अव्यय कहते हैं ओर वद जिसके पत्ते हैं, उस ससारवृक्षको जा जानता है, वह सम्पूर्ण वेदाको जाननेवाला है—

ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम्।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित्॥

(गीता १५। १)

ससारसे विमुख होकर उसके मूल परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेना ही वेदाका वास्तविक तात्पर्य जानना है। वदाका अध्ययन करनेमात्रसे मनुष्य वेदाका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ तत्त्ववेत्ता नहीं । परतु वेदाका अध्ययन न होनेपर भी जिसको ससारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया है, वही वास्तवमे वेदोके तात्पर्यको जाननेवाला अर्थात् अनुभवम लानेवाला 'वेदवेत्ता' है—'यस्त वेद स वेदवित्'। भगवान्ने भी अपनेको वेदान्तका कर्ता अर्थात् वेदाके निष्कर्षका वक्ता और वेदवेत्ता कहा है—'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' (गीता १५। १५)। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जिसने परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है, ऐसे वेदवेत्ताकी भगवान्‌के साथ एकता (सधर्मता) हो जाती है—'मम साधर्म्यमागता ' (गीता १४। २)।

भगवान्ने गीताम अपनेको ही ससारवृक्षका मूल 'पुरुषोत्तम' बताया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ॥

(गीता १५। १८)

'मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमे और वेदम पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

वेदमे आये 'पुरुषसूक्त' मे पुरुषोत्तमका वर्णन हुआ है। गीतामे भगवान् कहते है कि वेदाम इन्द्ररूपसे जिस परमेश्वरका वर्णन हुआ है, वह भी मैं ही हूँ, इसलिये स्वर्गप्राप्ति चाहनवाले मनुष्य यज्ञाके द्वारा मेरा ही पूजन करते हैं—

'त्रैविद्या मा सोमपा पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते।'

(गीता ९। २०)

वेदाम सकामभाववाले मन्त्राकी सख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनवाले अर्थात् निष्कामभाववाले मन्त्राकी सख्या बीस हजार ही है, जिसम चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके और सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं। इसलिये गीताम कुछ श्लोक ऐसे भी आत हैं, जिनम वेदाकी निन्दा प्रतीत हाती है, जैसे—'यामिमा पुष्पिता वाचम्' (२।४२), 'वेदवादरता ' (२। ४२), 'कामात्मान स्वर्गपरा—भोगैश्वर्यगति प्रति' (२। ४३), 'त्रैगुण्यविषया वेदा ' (२। ४५), 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' (६। ४४), 'एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागत कामकामा लभन्ते' (९। २१), 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न द्रष्टु त्वदन्येन कुरुप्रवीर' (११। ४८), 'नाह वेदैर्न तपसा मा यथा' (११। ५३), 'छन्दासि यस्य पर्णानि' (१५। १) आदि। वास्तवम यह वेदाकी निन्दा नहीं है, प्रत्युत वेदाम आये सकामभावकी निन्दा है।

ससारके मनुष्य प्राय मृत्युलाकके भोगोमे ही लगे रहते हैं। परतु उनमे भी जो विशेष बुद्धिमान् कहलाते हैं,उनके हृदयमे भी नाशवान् वस्तुआका महत्त्व रहनेके कारण जब वे वेदाम कहे हुए सकाम कर्मोका तथा उनके फलका वर्णन सुनत हैं तब वे वेदाम श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण यहाँके भोगाकी इतनी परवाह न करके स्वर्ग-प्राप्तिके लिये वेदाम वर्णित यज्ञाके अनुष्ठानम लग जात है। उन सकाम अनुष्ठानाके फलस्वरूप वे लोग स्वर्गम जाकर देवताओके दिव्य भोगाको भोगते हैं जो मनुष्यलोकके भोगाकी अपेक्षा बहुत विलक्षण हे। वे लोग स्वर्गके प्रापक जिन पुण्योके फलस्वरूप स्वर्गम जाते हैं, उन पुण्याके समाप्त होनेपर वे पुन मृत्युलोकमे लौट आते हैं—'ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति' (गीता ९। २१)। सकामभावक कारण ही मनुष्य 'बार-बार जन्मता-मरता है—'गतागत कामकामा लभन्ते' (गीता ९। २१)। इसलिये भगवान्ने सकामभावकी निन्दा की है।

वेदोम् सकामभावका वर्णन होनेका कारण यह है कि वेद श्रुतिमाता है और माता सब बालकोके लिये समान होती है। ससारमे सकामभाववाले मनुष्योकी सख्या अधिक रहती है। अत वेदमाताने अपने बालकोको अलग-अलग रुचियोके अनुसार लौकिक और पारमार्थिक सब तरहकी सिद्धियोके उपाय बताये हैं।

भगवान्ने वेदोको ससारवृक्षके पत्ते बताया है—'छन्दासि यस्य पर्णानि' और वेदोंकी वाणीको 'पुष्पित' कहा है—'यामिमा पुष्पिता वाचम्'। यद्यपि निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा वेदविहित सकाम अनुष्ठानको करना श्रेष्ठ है, तथापि उससे मुक्ति नहीं हो सकती। अत साधकको वैदिक सकाम अनुष्ठानरूप पत्तो और पुष्पोमे तथा नाशवान् फलमे न फँसकर ससारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। वेदोका वास्तविक तत्त्व ससार या स्वर्ग नहीं है, प्रत्युत परमात्मा ही है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' (गीता १५। १५)। महाभारत (शान्तिपर्व ३१८। ५०)-मे आया है—

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्य न जानीते वेदभारवहो हि स ॥

'साङ्गोपाङ्ग वेद पढकर भी जो वेदोके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता, वह मूढ केवल वेदोका बोझ ढोनेवाला है।

महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी वैदिकी कथा

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

ब्राह्मण, उपनिषद् तथा बृहद्देवता आदि ग्रन्थोमे जो कथाएँ विस्तारके साथ मिलती हैं, उनका सकेत ऋग्वेद-सहितामे प्राप्त होता है। ऋग्वेदमे ऐसे बहुतसे सूक्त उपलब्ध होते हैं, जिनमे दो या तीन पात्रोका परस्पर कथनोपकथन विद्यमान है। उन सूक्तोको सवाद-सूक्त कहते हैं। भारतीय साहित्यमे अनेक अङ्गोका उद्गम इन्हीं सवादोसे होता है। इनके अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तोमे भी भिन्न-भिन्न देवताओके विषयमें अनेक मनोरजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानोकी उपलब्धि होती है। सहितामे जिन कथाओका केवल सकेत-मात्र है, उनका विस्तृत वर्णन बृहद्देवता तथा षड्गुरुशिष्यकी कात्यायन-सर्वानुक्रमणीकी वेदार्थदीपिका-टीकामे किया गया है। निरुक्तमे भी आचार्य यास्कने तथा सायणने अपने वेदभाष्यमे उन कथाओके रूप तथा प्राचीन आधारको प्रदर्शित किया है। अस्तु,

महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी कथा ऋग्वेद-सहिता (१। ११६। १२, १। ११७। २२ १०। ४८। २)-मे तथा शतपथ-ब्राह्मण (१४। ४। ५। १३)-मे एव बृहद्देवता (३। १८। १४)-मे उपलब्ध होती है। जिसमे अनधिकारी और अधिकारीको किये गये रहस्य-विद्याके उपदेशके कुपरिणाम और सुपरिणामका उल्लेख है, जिसका साराश यहाँ प्रस्तुत है—

एक बार देवराज इन्द्रने तपोवन-निवासी महर्षि दध्यङ् आथर्वणके पास जाकर कहा—'मैं आपका अतिथि हूँ। मेरा मनोरथ पूर्ण करनेकी कृपा करे।' महर्षिने कहा—'तुम कौन हो? तुम्हारा यहाँ आनेका प्रयोजन क्या है'? इन्द्रने कहा—'पहले आप मेरे मनोरथको पूर्ण करनेकी स्वीकृति प्रदान करे तो मैं अपना परिचय दूँ'। महर्षिने कहा—'मैं स्वीकृति प्रदान करता हूँ'। इन्द्रने कहा—'मैं देवताओका राजा इन्द्र हूँ।' महर्षे! मैंने आपकी विद्वत्ताकी बात पहलेसे सुन रखी है—'आपके समान ब्रह्मवेत्ता इस भूतलपर दूसरा नहीं है। परमतत्त्वके स्वरूपको भलीभाँति समझनेकी जिज्ञासा मुझे स्वर्गलोकसे इस भूतलपर खींच लायी है। उस गूढ रहस्यकी शिक्षा देकर मुझे कृतकृत्य कर दीजिये'। देवराजके इस प्रस्तावको सुनकर दध्यङ् आथर्वणका चित्त चचल हो उठा। उनके सामने एक विषम समस्या आ खडी हुई। अतिथिके मनोरथको पूरा करनेकी पहले ही प्रतिज्ञा कर दी थी, इसका निर्वाह न करनेसे सत्यका व्रत भग होगा और यदि इन्द्रको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देते है तो अनधिकारीको शिक्षा देने-सम्बन्धी दोषका भागी होना पडेगा, क्योकि अधिकारका प्रश्न बडा विषम हुआ करता है। शास्त्रके सरक्षण एव विद्याके सदुपयोगके लिये ही अधिकारीकी व्यवस्था की गयी है। शिक्षा योग्य व्यक्तिको देनेपर ही फलवती होती है अन्यथा लाभकी अपेक्षा हानिकी ही

सम्भावना बनी रहती है। यही कारण है कि प्राचीन कालमे विद्वान् गुरुजन अधिकारी शिष्यकी खोजमे अपना जीवन बिता देते थे। 'जो व्यक्ति नित्य तथा अनित्य वस्तुको जानता है, जिसे इस लोक तथा परलोकके भोगोमे सच्चा वैराग्य है, जिसने इन्द्रियो तथा मनके ऊपर पूरी तरहसे विजय पा ली है, वही साधक उच्च उपदेशके सुननेका अधिकारी होता है।'

यद्यपि उपर्युक्त गुण इन्द्रमे नहीं हैं, क्योकि इसके हृदयमे कामवासना तथा शत्रुको वज्रसे मार भगानेकी लालसा बनी रहती है। इसलिये अशान्त हृदयवाला व्यक्ति उच्चतम उपदेशका अधिकारी नहीं हो सकता, तथापि अपने प्रतिज्ञा-पालनके उद्देश्यको सामने रखकर उन्होने इन्द्रको मधुविद्याका उपदेश देनेके बाद यह कहना प्रारम्भ किया—'भोगोकी लिप्सा प्राणीके हृदयमे उसी प्रकार अनर्थकारिणी होती है, जिस प्रकार फूलोके समूहमे छिपी हुई सर्पिणी। योगमार्गका आश्रय लेनेके लिये भोगमार्गका बहिष्कार करना पडेगा। स्वर्गभूमिके अनुपम भोग, नन्दनवनकी उस सुलभता, स्वच्छ फेनके समान रमणीय शय्या और नाना प्रकारके स्वादिष्ट व्यञ्जनके सेवनसे हृदयमे संतोषका उदय कभी नही हो सकता। श्रेय और प्रेय—ये दोनो परस्पर-विरोधी हैं। प्रेयका अवलम्बन सदा अनर्थकारक तथा क्षणभंगुर है। श्रेयका ही मार्ग कल्याणकारक है। भोगकी लिप्साके विचारसे देवताओके अधिराज इन्द्र तथा भूतलके निकृष्ट कुत्तेमे कोई अन्तर नहीं है। इसलिये भोगकी आसक्तिको हृदयसे दूर कीजिये, तभी निःश्रेयसकी उपलब्धि हो सकती है।'

महर्षिके इन वचनोको सुनकर देवराजको बडा क्रोध हुआ। उन्होने स्वप्नमे भी नहीं सोचा था कि मुझे कोई व्यक्ति कुत्तेके समान कहेगा। वे उन्हे मार डालनेके लिये उद्यत हुए, परंतु ज्ञानोपदेशक मानकर वे अपने क्रोधको छिपाकर बोले—'यदि आप इस विद्याका उपदेश किसी अन्य व्यक्तिको करेंगे तो मैं आपके सिरको धडसे अलग कर दूँगा।' महर्षिने इस अभिशापको शान्तमनसे सुन लिया। इन वचनोका प्रभाव उनपर नहीं पडा। वे हिमाचलके समान अडिग रहे। इन्द्र वहाँसे चले गये। कुछ दिन बाद महर्षिके पास आकर अश्विनीकुमारोने प्रार्थना की कि 'महाराज! हमें आप मधुविद्याका उपदेश करें। हम लोगोने कठिन तपस्या करके अपने हृदयसे हिंसा तथा कामनाओको सदाके लिये दूर कर दिया है। परोपकार हमारे जीवनका मूल मन्त्र है। कितने पंगुओको हमने चलनेकी शक्ति, कितने अन्धोको देखनेकी क्षमता तथा कितने जरा-जीर्ण व्यक्तियोके शरीरसे बुढापेका कलंक हटाकर नवीन यौवन प्रदान किया है। अतः आप हमें मधुविद्याके रहस्यका उपदेश दीजिये।'

उस समय भी महर्षि दध्यङ् आथर्वणके समक्ष विषम समस्या उत्पन्न हो गयी। अधिकारी व्यक्तिको उपदेशसे वंचित रखना महान् अपराध होगा, परंतु इन्द्रके अपराधको भुला देना भी घोर अपराध है—महर्षिके मनमे यह द्वन्द्व कुछ देरतक चलता रहा। उनके जीवनमे कितनी ही बार ऐसे अवसर आये थे और कितनी ही बार उन्होने परमार्थकी वेदीपर अपने स्वार्थको समर्पण करनेमे विलम्ब नहीं किया, फिर भी इन्द्रके अभिशापकी चर्चा उन्होने अश्विनीकुमारोसे की, जिसे सुनकर अश्विनीकुमारोने अपनी संजीवनी विद्याका परिचय देते हुए कहा कि 'हम आपके असली सिरको धडसे जोड देंगे। आपकी प्राणहानि भी नहीं होगी तथा हमारी वर्षोंकी साधना भी पूरी हो जायगी।' अश्विनीकुमारोकी वाणीसे आश्वस्त होकर महर्षिने उन्हे उपदेश देना स्वीकार कर लिया। अश्विनीकुमारोने उनके असली सिरके स्थानपर घोडेका सिर बैठा दिया, जिससे उन्होने अश्विनीकुमारोको मधुविद्याके रहस्यको समझाते हुए कहा कि—

'इस जगत्‌के समस्त पदार्थ आपसमे एक-दूसरेके उपकारक हैं। यह पृथिवी सब प्राणियोके लिये मधु है तथा समस्त प्राणी इस पृथिवीके लिये मधु हैं। इस पृथिवीमे रहनेवाला तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष विद्यमान है। ये दोनों समग्र पदार्थोंके उपकारक हैं। जल, अग्नि वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, विद्युत् और आकाश—इन समग्र पदार्थोंमे भी यही नियम विद्यमान है। धर्म और सत्य भी इसी प्रकार जगत्‌के उपकारक होनेसे मधु हैं। धर्मके लिये समस्त प्राणी मधुरूप हैं, सत्यकी भी यही स्थिति है। यह विशाल विश्व सत्यपर ही आधारित है। सत्यके अभावमे यह संसार न जाने कब कहाँ ध्वस्त हो गया होता। सूर्य भी सत्यके

बलपर अन्धकारका नाश करता है। हे नासत्यो! आप लाग इस नियमसे परिचित ही हैं कि जो वस्तु एक-दूसरका उपकार करनेवाली होती है, वह एक मूल स्रोतसे ही प्रवाहित हाती है। उसका सामान्य रूप एक-समान है तथा उसक प्रलय होनेका स्थान भी एक ही है। विश्वके मूलम परमात्मा है। अविद्याके आश्रयसे इस जगत्की सत्ता है। ज्ञानके उदय हाते ही यह विश्व परमात्माम उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार सूर्योदयके हानेपर अन्धकार। उस नित्य परमात्माको अपनी बुद्धिसे पकडना चाहिये, क्योंकि परमतत्त्वको पहचानना ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है।'

—इस प्रकार महर्षि दध्यङ् आथर्वणने स्वानुभूत मधु-विद्याका उपदेश अश्विनीकुमाराको दे दिया। वर्षोकी उनकी साधना सफल हुई। पात्रकी भिन्नताके कारण एक हा कार्यके अनेक फल दीखते हैं। मधुविद्याका उपदेश अश्विनीकुमाराक लिये असीम हर्षका साधन था, परतु इन्द्रके हृदयम यह उपदेश क्रोधका कारण बन गया। अभिमानी इन्द्रको यह बात बडी बुरी लगी कि महर्षिने उसकी आज्ञाका उल्लघन कर दिया। इन्द्रने अपना वज्र सँभाला और ऋषिक मस्तकपर तीक्ष्ण प्रहार कर दिया, दखते-ही-देखते क्षणभरम ऋषिका सिर भूतलपर लोटने लगा। उधर अश्विनीकुमाराको इस बातकी खबर मिली, तब उन्होने अपन प्रतिज्ञा-पालनम क्षणभर भी विलम्ब न किया। उस असली मस्तकको जिसे उन्हाने काटकर अलग रखा था, उसे ऋषिक धडसे जोड दिया। अश्विनीकुमारोके इस अद्भुत कार्यको देखकर लाग विस्मित हो उठे और अधिकारी शिष्यको दी गयी विद्याके महत्त्वका समझ। उस समय अधोमुख इन्द्रने ऋषिसे कहा—'महर्षे! मेरे गुरुतर अपराधको क्षमा कर दीजिय।' महर्षिने कहा—'मेरे हृदयम आपके इस कृत्यसे तनिक भी क्षोभ नहीं है। मैं अनधिकारीको विद्या-दानसे उसी समय पराङ्मुख हो रहा था, परन्तु आपके आग्रह तथा अपनी सत्यप्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये मैंने आपको इस मधुविद्याका उपदेश किया था'। इन्द्रने कहा—'आपन अपनी उदारतासे मुझ-जेसे अपराधीको क्षमा कर दिया। अश्विनीकुमाराक इस असीम गुरुभक्ति तथा सजीवनी विद्याके इस अद्भुत कार्यको इस भूतलपर देखकर मेरा दर्प विलीन हा गया'। महर्षिने कहा—'इन्द्र! जिसके हृदयमे अभिमानकी आग जल रही हो, उसके हृदयम विद्याका रहस्य नहीं टिकता। तुमने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है, इसलिय अब तुम अपराधी नहीं हो। मेरा अश्वशिर शर्मणा नामक जलाशयमें है उसे ढूँढ़कर अपना कार्य सिद्ध करो।' ऋषिके उपदेशानुसार उस अश्वशिरसे इन्द्रन नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र तयार किये और उनसे अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त की।

वैदिक महर्षि दध्यङ् आथर्वण ही पौराणिक 'दधीचि'के नामसे प्रसिद्ध हैं। वैदिक तथा पौराणिक कथाओके कई अशाम अन्तर हैं। वेदम दध्यङ् आथर्वणके अश्वशिरसे वज्र बननेका उल्लख है तो पुराणाम उनकी देहकी हड्डियासे बने वज्रक द्वारा वृत्रासुरके वधका वर्णन है। मूलत कथामे कोई विशेष अन्तर नहीं है। महर्षिके आदर्श चरित्रका चित्रण दोनाम समान है, जिसके चिन्तन-मननसे मनुष्य-जीवनम सत्यनिष्ठा, दयालुता तथा अनधिकारी और अधिकारीको रहस्य-विद्या-प्रदानके फलक विषयमे विशष शिक्षा उपलब्ध होगी।

सत्सगकी महिमा

सज्जनासे सगति होनेपर क्षुद्र जन भी भाग्यवान् बन जाता हे। इन्द्रकी सगति पाकर दवशुनी सरमाने पणियाका जीता और 'सुभगा' कहलायी—

यस्य स्यात् सङ्गत सद्भिर्भवेत् साऽल्पोऽपि भाग्यवान्। देवशुनीन्द्रसङ्गत्या जित्वाऽभूत् सुभगा पणीन्॥

यह सरमा-पणिकथाका प्रसग हे। जिसम यह स्पष्ट किया गया है कि सज्जनोंकी सगतिस नीचका भी कितना महान् उत्थान हो जाता है।

दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन। बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हा सोमा ग्रावाण ऋषयश्च विप्रा ॥

(ऋक्० १०। १०८। ११)

तात्पर्य यह कि 'ह पणियो, यहाँसे आप लाग दूर दश चले जायँ ताकि आपद्वारा चुरायी गयी य गाय सत्यक बलपर अन्धकारका नाश करती हुई बाहर निकल। जा गाय आर भी भीतर कहीं छिपाया हा उन्ह बृहस्पति पा लग। मधावीजन, आङ्गिरस ऋषि सोमाभिषव करनेवाले ग्रावाण (पत्थर) यह बात जान गय हैं, अत उनक आनक पहल आप लाग चले जायँ तो आप लागाका शरीर बच सकेगा।' एसा सरमान पणियास उनक हितक लिय कहा।

आख्यान—

पृथ्वीकी परिक्रमा

(श्रीभगवानाचार्यजी गुप्त)

एक बार पार्वतीजी जब स्नान करने जाने लगीं तो उन्होंने अपने पुत्र गणेशसे कहा—'बेटा! मैं स्नान करने जा रही हूँ, तुम द्वारपर बैठे रहो। जबतक मैं स्नान करके वापस न आ जाऊँ, तुम यहीं बैठे रहना और किसीको भी अंदर न आने देना।'

एक आज्ञाकारी बालककी भाँति गणेश द्वारपर बैठ गये। अभी पार्वतीजी नहा ही रही थीं कि भगवान् शिव अपने गणोंके साथ आये और घरमें जाने लगे। गणेशने उन्हें रोककर कहा—'अभी आप लोग बाहर प्रतीक्षा करें। माताजी अंदर स्नान कर रही हैं। जब वे स्नान करके बाहर आ जायँ, तब आप अंदर जायँ।'

शिवजी गणेशकी इस बातकी उपेक्षा कर जब अंदर जाने लगे, तब गणेशने बलपूर्वक प्रतिरोध किया तथा अंदर नहीं जाने दिया। शिवजीको बड़ा क्रोध आया कि उनका ही बेटा उनको अपने ही घरमें नहीं जाने दे रहा है। जब गणेश किसी तरह न माने तो भगवान् शिवने क्रोधित होकर त्रिशूलसे उनका सिर ही काट लिया। अन्य गण भयसे भागे। इतनेमें पार्वतीजी स्नान करके बाहर निकलीं और गणेशकी ऐसी दशा देखी तो दुःख एवं क्रोधसे उनकी संहारक शक्ति जाग्रत् हो उठी। उन्होंने क्रोधमें जब हुंकार किया तब उससे उत्पन्न अनेक शक्ति-देवियाँ संहार-लीला शुरू कर दीं। शिव-गण तो भयके मारे भाग खड़े हुए। नारदने आकर प्रार्थना की—'माँ जगदम्बे! आप अपनी संहारक शक्ति समेट लें। आपके पुत्रको जीवित कर दिया जायगा।'

फिर उन्होंने शिवजीसे कहा—'भगवन्! आदिशक्ति जगदम्बाका क्रोध शान्त हो, इसके लिये आप गणेशके जीवन-हेतु कुछ कीजिये।' भगवान् शिवने एक गजशावकका सिर काट कर तत्काल गणेशके धड़से जोड़ दिया। अब धड़पर हाथीका सिर जुड़ जानेसे गणेश जीवित हो गये और उनका नाम 'गजानन' पड़ गया।

पार्वतीजीने जब पुत्रका यह रूप देखा तो कहा—'नारद! मेरे बेटेको यह रूप देकर कौन-सा देवत्व प्रदान करोगे? देवोंके बीचमें गजमुखम इसकी क्या स्थिति होगी? ऐसी व्यवस्था करो-कराओ, जिससे सब देवोंमें पूर्व गणेशकी अग्रपूजा हो, तभी मैं अपनी संहारक शक्ति समेटूँगी।'

नारदने कहा—'माँ भगवती! इसकी भी व्यवस्था करता हूँ। पहले आप शान्त हो जाइये।'

नारदके कहनेसे पार्वतीजीने अपनी संहारक शक्ति समेट ली। जब सब शान्त हो गया, तब नारदने कहा—'अभी गणेशकी अग्रपूजाकी घोषणा कर देनेसे अन्य देवता नाराज हो जायँगे। अतः किसी प्रतियोगिताके द्वारा सब देवोंके आदिदेव ब्रह्माजीके सामने इसका निर्णय किया जायगा।'

पार्वतीजीने नारदके इस सुझावको स्वीकार कर लिया। ब्रह्माजीके सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि इतने सारे देवी-देवताओंमें सर्वप्रथम किसकी पूजा की जाय? कोई भी शुभकार्य करनेसे पहले किस देवताकी प्रतिष्ठा की जाय, इसकी कुछ व्यवस्था कीजिये।

देवताओंको भी यह प्रस्ताव पसंद आया। सबने कहा—'हाँ, ऐसा हो जाय तो कोई भी देवी-देवता इस बातको लेकर रुष्ट नहीं होगा कि मानवने पहले मेरी पूजा नहीं की।'

ब्रह्माने कहा—'प्रस्ताव तो उचित है नारदजी, परंतु जब आपने ऐसी समस्या रखी है तो आप ही कोई ऐसी योजना बतायें, जिससे निर्णय हो सके कि किस देवकी अग्रपूजा की जाय?'

नारदने कहा—'तात! मेरे विचारसे तो एक प्रतियोगिताका आयोजन किया जाय, उसमें जो देवी-देवता अपने-अपने वाहनपर सवार होकर इस पृथ्वीकी परिक्रमा पूरी करके सबसे पहले आपके पास आ जायँ, वे ही अग्रपूजाके अधिकारी हों।'

नारदके इस सुझावको सबने स्वीकार किया। ब्रह्माने भी इसे स्वीकृति दे दी। सब देवता अपने-अपने वाहनपर

सवार होकर पृथ्वीकी परिक्रमा करने निकल पडे। गणेशजी अपने चूहेपर सवार हुए। ये ही सबसे पीछे रहे। इनका वाहन चूहा अन्य देवताओकी सवारियोका क्या मुकाबला करता, परतु प्रतियोगिताम भाग तो लेना ही था।

नारद गणेशका उपक्रम देख रह थे तथा विचार भी कर रहे थे कि गणेश तो वैसे भी शरीरसे भारी भरकम, लम्बोदर, ऊपरसे सिर भी हाथीका। इनका वाहन भी विचित्र—चूहा-जैसा छोटा-सा जीव। कैसे पृथ्वीकी परिक्रमा करके सफल होगे! उधर माता पार्वतीको वचन दिया है कि उनके पुत्र गणेशकी अग्रपूजा होगी। ऐसा सोचते हुए उन्हे एक उपाय सूझा, उन्होने गणेशसे कहा—'गणेशजी महाराज! उन बडे-बडे देवताओ और उनके तीव्रगामी वाहनोके बीचम आप अपने भारी भरकम शरीरसे इस छोटेसे चूहेपर बैठकर पृथ्वीकी परिक्रमा तो सम्भव ह कर ले, पर सर्वप्रथम आनेके बारेमे भी कुछ सोचा है?'

गणेशने कहा—'नारदजी! मेरे पास जो वाहन है, म तो उसीका प्रयोग करूँगा। प्रथम आऊँ या न आऊँ।'

नारदने कहा—'ठीक है, कीजिये आप अपने इसी वाहनका प्रयोग, पर बुद्धिके साथ। देखिये, यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड प्रकृति और पुरुषमे समाया है और यह सब कुछ 'राम' मे रमण कर रहा है। सारा विश्व-ब्रह्माण्ड राममय है। इसी नामकी परिक्रमा यह भूमण्डल कर रहा है, अत आप इसी नामकी परिक्रमा कर ले। आपको पृथ्वी ही नहीं, समस्त ब्रह्माण्डकी परिक्रमाका फल मिलेगा।'

गणेशने कहा—'मुनिवर! आपका यह विचार उत्तम है। मैं 'राम' नामकी परिक्रमा करूँगा।' यह कहकर उन्होने भूमिपर 'राम-राम' लिखा और अपने वाहन मूषकपर बैठकर उस नामकी तीन बार परिक्रमा करके ब्रह्माजीके समक्ष आ खडे हुए।

ब्रह्माने देखा कि अभी किसी भी देवताका पता नहीं और गणेशने परिक्रमा पूरी कर ली। उन्हे आश्चर्य तो हुआ, पर बोले कुछ नहीं। बादमे जब सारे देवता परिक्रमा करके आये तो ब्रह्माने कहा—'देवो! आप लोग एकके बाद एक आते रहे, पर यहाँ तो गजानन—गणेश मेरे पास सबसे पहले पहुँचे इसलिये अग्रपूजाका अधिकार इन्हे ही मिलना चाहिये।'

अन्य देवोने आपत्ति की कि—'प्रजापते! यह कैसे हो सकता है! गणेश भला इस चूहेपर बैठकर सारी पृथ्वीकी परिक्रमा कर कैसे सबसे पहले आपके पास आ सकते हैं? लगता है ये परिक्रमा करने गये ही नही होगे, प्रारम्भसे यहा बैठ रहे होगे।'

गणेशने उत्तर दिया—'हे देवो! मैने छल नहीं किया है। तुम सब तो केवल पृथ्वीकी एक परिक्रमा करके आये हो और मैं तो तीनो लोकोकी परिक्रमा तीन बार करके सबसे पहले यहाँ पहुँचा हूँ।'

जब देवोने उसे असत्य माना तो नारदने कहा—'हे देवो! यह सत्य है। आप लोग तो भौतिक और स्थूल पृथ्वीकी परिक्रमा करते रहे पर गणेशने तो उसकी परिक्रमा की—जिसमे मात्र यह भूमण्डल ही नहीं, अपितु त्रैलोक्य ही समाया है। जिसमे सारा विश्व-ब्रह्माण्ड रमण कर रहा है, उस 'राम' नामरूपी त्रैलोक्यकी परिक्रमा करके ये सबसे पहले पहुँचनेके अधिकारी हो गये।'

देवोने कहा—'निश्चय ही बौद्धिक तत्त्वज्ञानसे गणेश हम सबसे श्रेष्ठ हे ओर अग्रपूजाके अधिकारी भी।'

ब्रह्माने देखा कि प्रतियोगी देवताओने भी इस गणेशकी विजय मानी है तो उन्होने घोषणा की—'विघ्नहारी कल्याणकारी गणेश सर्वप्रथम अग्रपूजाके अधिकारी है। ये समस्त गणोके गणपति भी होगे। इनकी अग्रपूजा करके कार्य प्रारम्भ करनेवालोका सदा कल्याण होगा। उनके कार्यमे विघ्न-बाधाएँ नही आयेंगी। ये विघ्नहरण कहलायेगे।

इस प्रकार गणेशने बुद्धि-कौशलसे अग्रपूजाका पद प्राप्त किया।

(ऋग्वेद)

~~~~
~~~~

वेदोमे भगवत्कृपा

(आचार्य श्रीमुंशारामजी शर्मा)

क्लेशबहुल जगत्मे कभी-कभी सुखकी स्वल्प झलकियाँ भी अविवेकीके सामने आती रहती हैं, पर दुःख तो आकर प्राणीको ऐसा दबोच लेता है, जैसे बिल्ली चूहेको। इसलिये महर्षि पतञ्जलिने कहा—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥' (योगसूत्र २। १५)

'विवेकी पुरुष सुखोंके परिणाम-ताप-संस्कारादिको सूक्ष्मरूपसे विचार कर इस जगत्के सभी दृश्योंको दुःखमय ही मानते हैं।' दृश्य भोगात्मक है। भोगमें सुख-दुःख दोनों ही प्राप्त होते हैं। सुख भी एकान्ततः सुख नहीं होता, वह दुःखसे मिश्रित रहता है। सुखभोगमें जो आयास और परिश्रम करने पड़ते हैं, वे स्वतः क्लेशप्रद हैं। एक सुखाभिलाषा पूरी हुई तो दूसरी उत्पन्न हो जाती है। अभिलाषाओंका अन्त नहीं, इसीलिये सुख-प्राप्तिके इस पथमें दुःखोंका अन्त नहीं। तो क्या दुःख अनन्त हैं—असीम हैं? क्या इनका अन्त नहीं हो सकता? ऋषि आश्वासन देते हुए कहते हैं—'दुःख सावधि हैं, अनन्त नहीं। जो भोग जा चुके हैं अथवा भोगे जा रहे हैं, उन दुःखोंका त्याग नहीं किया जा सकता, किंतु भविष्यके दुःखोंका नाश किया जा सकता है—'हेयं दुःखमनागतम्' (योगसूत्र २। १६)।

योगदर्शनके अनुसार क्लेशके पाँच रूप हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचों प्रकारके क्लेशोंका क्षेत्र 'अविद्या' ही है। क्लेश कभी प्रसुप्त हो जाते हैं, कभी कम हो जाते हैं, कभी उन्हें काट भी दिया जाता है और कभी वे अपने विशाल रूपको खुलकर प्रकट करने लगते हैं। 'अभिनिवेश' मृत्युका क्लेश है और यह क्लेशोंमें सबसे बड़ा है। यह प्रायः सभीके सिरपर चढ़ा रहता है। विश्वका कोई भी जन्मधारी प्राणी या पदार्थ इसके प्रभावसे मुक्त नहीं हो सकता। इसे स्वरसवाही कहा जाता है—बिना किसीकी चिन्ता किये यह अपने रसमें ही बहता रहता है, पर है यह भी अविद्याके क्षेत्रमें ही पनपनेवाला। ज्ञानका प्रकाश होते ही इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। जबतक देह है, तबतक मृत्यु भी उसकी सङ्गिनी बनी है, परंतु ज्ञानका प्रकाश मृत्युके प्रभावको ही कम नहीं करता, उसके भयको तथा उसको भी समाप्त कर देता है। भगवती श्रुतिके शब्दोंमें—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्ववेद १०। ८। ४४)

जगज्जालके कण-कणमें एक ही विभूति रमी हुई है। प्रत्येक प्राणीके अन्तस्तलमें उसका निवास है। वह सबके हृदयदेशमें स्थित है, अन्तर्यामिरूपमें रमकर भी सबसे पृथक् है। यह सर्वव्यापक सूक्ष्मतम सत्ता अकाम और अमृत है। व्याप्य वस्तुओंके रूप परिवर्तित होते रहते हैं, पर इस व्यापकके रूपमें कहींसे कोई भी न्यूनता नहीं, परिवर्तन नहीं। यह नित्य रसतृप्त, धीर, अजर, सतत युवा और स्वयम्भू है। जो इसे जान लेता है—ज्ञानके प्रकाशमें देख लेता है, उसे मृत्यु कभी भयभीत नहीं कर सकती। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'—(शुक्लयजु० ३१। १८, श्वेताश्व० उ० ३। ८; ६। १५)—जो इस भगवती पराशक्तिका दर्शन कर लेता है, वह मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है। मृत्युसे पार जानेके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। इसका एकमात्र उपाय है—सबके भीतर छिपी इस महाशक्तिका दर्शन।

'यह दर्शन कैसे हो? मेरी आँखें तो बाहरकी ओर लगी हैं, बाहरी दृश्योंको ही देख रही हैं। यह परमानन्दमयी शक्ति तो भीतर है। मैं भीतर कैसे प्रवेश करूँ? कैसे इसके अन्तःसामीप्यको प्राप्त करूँ?' ऋषि कहते हैं कि 'इसके नामका जप करके। यह नाम प्रणव है, नित्य-नूतन ॐकार है। ॐकारके अर्थकी भावना करते हुए जप कर। इससे तेरी चेतना बाहरसे हटकर प्रत्यक्ष भीतर चली जायगी और कृपा-भगवतीके परमानन्दमय दर्शनमें जो अन्तराय या विघ्न हैं, उनका अभाव हो जायगा। वे मिट जायँगे।' पर जप कैसे हो? अर्थके भावमें कैसे डूबा जाय?—

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥
(ऋक्० ६। ९। ६)

'क्या बोलूँ? क्या मनन करूँ? जिह्वासे जप कैसे जपूँ?

कैसे तेरा ध्यान धरूँ? ज्या ही जप करने बैठता हूँ, त्यो ही कान बाहरके शब्दाको सुननेमे लग जाते हैं। आँखे बद हैं, पर वे भी अपने द्वारा पहले देखे रूपाको देखन लगती हैं और हृदयमे प्रतिष्ठित यह ज्योति—मन विविध प्रकारकी आधिया, चिन्ताआमे विचरण करने लगता है। नामका जप और अर्थका भावन—दाना रुक जाते हैं।' ऋषि कहते हैं कि 'यदि ऐसा है तो भी तू धैर्य धारण कर, चिन्ता मत कर, क्याकि तू जो कुछ कहेगा, उन प्रचेतस महादेवके लिये जैसे भी शब्दाका प्रयोग करेगा, वे तेरा मङ्गल ही करगे। जैसे बने, वैसे तू जिह्वासे नाम रटता रह। मन भागता है, भागने दे। आँख और कान अपने-अपने विषयोमे दौड लगाते हैं, लगाने दे। तू नामको मत छोड—

'मा चिदन्यद् वि शसत सखायो मा रिषण्यत।'

(ऋक्० ८। १। १ अथर्व० २०। ८५। १)

प्रभुके अतिरिक्त तू अन्य किसीकी स्तुति मत कर। भगवद्विरुद्ध किसी प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थितिको हृदयमे महत्त्व मत दे, क्योकि ऐसा करनसे तू परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। तू एकमात्र अपने प्रभुको पकड, उनके आश्रयका परित्याग मत कर। पुत्र जैसे अपने पिताका पल्ला पकड लेता है, उसी प्रकार तू भी अपने उस सच्चे माता-पिताके पल्लेको पकड ले। न पकड सके तो रो, तरे हृदयका विलाप तेरे माता-पिताको हिला देगा और वे सब कुछ छोडकर तुझे अपनाने, गोदमे लेनेके लिये दौड पडगे—

आ घा गमद्यदि श्रवत् सहस्त्रिणीभिरूतिभि । वाजेभिरुप नो हवम्॥ (सामवेद ७४५, ऋक्० १। ३०। ८)

प्रभुका बल अनन्त हे, उनकी शक्ति असीम है, उनके रक्षण-उपाय अनेक है। तू रो-रोकर अपना रुदन-स्वर, हृदयसे निकली आर्त-पुकार उनके निकटतक पहुँचा। वे आयगे—अवश्य आयगे, हजारो रक्षाशक्तियोके साथ प्रकट हागे। उनका वरद हस्त तेरे सिरपर होगा तू निहाल हो जायगा।

क्या तू अपनेको निर्बल अनुभव करता है? तब तो अवश्य ही उन सम्बलाक भी सम्बल, आश्रयाके भी आश्रय आधाराके भी परमाधार प्रभुको पकड। तू दीन और वे दीन-दयालु, तू निरवलम्ब और वे सर्वश्रेष्ठ आलम्बन तू मझधारमे गोते खानेवाला और वे पार लगानेवाले हैं। उनकी कृपाका—अनुकम्पाका कोई ओर-छोर नहीं—

एतदालम्बनः श्रेष्ठमेतदालम्बन परम्।

(कठोपनिषद् १। २। १७)

विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्ण तुवीमघम्। तुविमात्रमवोभि ॥

(ऋक्० ८। ८१। २)

नहि नु ते महिमन समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्म। न राधसोराधसो नूतनस्येन्द्र नकिर्ददृश इन्द्रिय ते॥

(ऋक्० ६। २७। ३)

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदान ।

(शुक्लयजु० ३३। ७९)

प्रभुकी शक्ति अल्पज्ञ जीवके लिये अकल्पनीय है। हम सोच भी नहीं सकते कि प्रभु कहाँसे किस प्रकार आकर हमे बचा लेते हैं, अपनी गोदमे उठा लेते हैं। उनकी भगवत्ता, उनकी महिमा उनकी सफलतादायिनी, सिद्धिप्रदायिनी शक्ति अनिर्वचनीय है, अज्ञेय है। उनके कर्म, उनके दान, उनके विभव, उनके रक्षण और उनका ज्ञान—सब कुछ महान् है, अद्भुत है तथा विचित्र है। वे विचित्रतम वय, प्राण, जीवन एव शक्तिके धारक हैं। वे अद्भुत रूपसे दर्शनीय हैं। उनकी प्रत्यक्ष एव साक्षात् अभिव्यक्ति, सम्पत्ति और शक्ति सभी विचित्र हैं। उनकी समता करनेवाला यहाँ कोई भी नहीं है। मुक्तात्मा उनका सायुज्य प्राप्त करके उन-जैसे हो जाते हैं, पर सृष्टिके उद्भव, स्थिति एव सहारकी क्षमता उनमे भी नहीं आ पाती। प्रभु भक्तोके लिये उपास्य हैं। वे आनन्दघन ह और सबसे बढकर वे कृपा-कोष हैं, दया-निधि हैं। हम अहके शिखरपर चढते हैं, गिर पडते हे, पर प्रभुको पुकारते ही उनकी कृपासे उठ भी जाते हैं। कभी-कभी उनका कृपा-कोप भी अपनी तीव्र भ्रू-भङ्गिमाका निक्षेप करने लगता है, पर उसमे छिपी करुणा जीवके लिये अन्तम कल्याणकारिणी ही सिद्ध होती है—

क्रत्व समह दीनता प्रतीप जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥ अपा मध्य तस्थिवास तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(ऋक्० ७। ८९। ३-४)

'ह समह-पूजनीय! हे शुचे—पवित्र ज्याति। मैं दीनताके कारण कर्तव्यपथसे पृथक् होकर विपरीत पथपर चल पडा। इस विपरीत मार्गने मुझे झाड-झखाडमे डाल दिया है, निर्जन वनमे ला पटका है। ह सुक्षत्र—क्षत्रासे त्राण करनेकी

शोभन शक्ति रखनेवाले। दया करो, दया करो, इस विकट सकटसे मेरा उद्धार करो, मुझे पुन सुपथसे ले चलो। देव! आप-जेसे आनन्दसागरके रहते भी में प्यासा मरूँ, यह आपके विरदके विपरीत है। दयानिधे! द्रवित हो जाओ, रूठा मत, अपनी कृपा-दृष्टिसे मुझे भी आनन्दित कर दो।'

प्रभु ही जीवके सच्चे अपने ह। अथवा यह कहना चाहिये कि वे ही एकमात्र अपने ह, अन्य सब पराये हैं—

य आपिर्नित्या वरुण प्रिय सन् त्वामागासि कृणवत् सखा ते।

(ऋक्० ७। ८८। ६)

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्य ॥

(ऋक्० १। २६। ३)

—प्रभु अपने हैं, पिता हैं, भ्राता हैं, सखा हैं। अपना व्यक्ति अपने लिये क्या नहीं करता? पिता पुत्रके लिये, सखा सखाके लिये, भ्राता सहोदर भ्राताके लिये अपने प्राणतक होम देनेक लिये तैयार हो जाता है। यह लोकिक अनुभूति है। पारलौकिक अनुभूति तो पारमार्थिकी है, परम अर्थवाली हे, विशुद्ध सत्यपर आधारित हे। अपने सब कुछ प्रभु हैं। वे भी अपने भक्तके लिये सब कुछ करते हे। इस लोकम जो असम्भव-जैसा जान पडता हे, उसे भी वे सम्भव कर देते हैं।

प्रभु नगेको वस्त्रसे आच्छादित कर देते हैं, आतुर रोगीक रोगको भेषज दकर हटा देते हे, अधा उनकी कृपासे आँख पा जाता है और पगु चलनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता हे।

प्रभुकी इस अहेतुकी कृपाका अनुभव प्राय सभी भक्तोको हुआ हे। व्यास, सूर तथा तुलसी आदि भक्तोने तो उसका वर्णन भी किया है—

'**मूक करोति वाचालम्**', '*बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै*', '*पगु चढइ गिरिबर गहन*' आदि पक्तियाँ कथनमात्र नहीं अनुभूतिपरक हें। वद मुक्तस्वरम इस अनुभूतिका उद्‌घोष करत हैं—

स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्। (ऋक्० २। १५। ५)

'प्रभु गरजती हुई महती ध्वनिको एकदम शान्त कर देते हैं।'

प्रभुका अपना सगा-सम्बन्धी यह जाव जान-अनजाने न जान कितने पाप करता रहता है परतु उनकी कृपा उस बचाती है प्रायश्चित्त कराती है तथा विकृतियास निकाल करक सुकृतियाको आर प्ररित करती रहती है। निरन्तर अपन अन्तस्‌से निकलती हुई आवाजका यदि हम श्रवण और अनुगमन करते रह तो नि सदेह पावन पथपर चलनेके अभ्यासी बन सकते हैं। वेद-मन्त्राम एसे ही पथके पथिक प्रार्थना करते हैं—

उत त्व मघवञ्छृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत्।
यद् वीळयासि वीळु तत्॥ (ऋक्० ८। ४५। ६)

पिता! आप मघवा हैं, ऐश्वर्यकी राशि हैं। आपके कोशम किसी प्रकारकी कमी नहीं है। भक्त जो कामना करता हे, उसे आप पूर्ण कर देते हैं। आप उसकी सर्वाङ्ग-निर्बलताका उन्मूलन करक उसे बलवान् बना देते हैं।

प्रभो! आप सोम हैं, सजीवनी शक्ति हैं। आप जिसे जीवित रखना चाहते हैं, उसे कोई मार नहीं सकता। आपको स्तोत्र बडे प्यारे हैं, भक्तिभरे स्तुति-गान जब भक्तके कण्ठसे निकलते हैं, तब आप बडे चावसे उन्ह सुनते हैं। आप ही पालक और रक्षक हैं।

पिता! आज मैं भी पूछ रहा हूँ कि मैं कब आपके भीतर प्रविष्ट होऊँगा (आपको प्राप्त करूँगा)? कब वह अवसर आयेगा, जब में आप-जैसे वरणीयका अपनत्व प्राप्त करूँगा? आप ही एकमात्र यहाँ वरण करने योग्य हैं। किसीको चुनना है ता वह एक आप ही हैं। आप ही पथके विघ्नाको भी हटानेवाले हैं। पिता! क्या आप मरे इस हव्यको ग्रहण करेगे? मेरी पुकारको सुनगे? क्या वह स्वर्णघटिका इस जीवनमे उदित होगी, जब में प्रसन्न-मनसे आपकी लावण्यमयी मुख-मुद्राको दख सकूँगा?

देव! आपकी खाजम मैं इधर-उधर बहुत भटका, सतों कविया, साधको और विद्वानाके पास गया, पर सबने एक ही बात कही—'उन प्रभुकी कृपा प्राप्त करो। अनुनय-विनय करके उन्हे मना लो। उनकी कृपासे ही तुम्हारा पाप कटगा। उन दयालु दवको दया ही निखिल तापशमनी ओषधि हे' (ऋक्० ७। ८६। २)।

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाष।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथा॥

(ऋक्० २। ३३। ७)

'ह रुद्र! दु खी प्राणियाक दु खाको दूर करनवाले तथा पापाको पछाडनवाले आपक कल्याणकारक हाथ कहा हैं? आपका दयाद्रवित वरद कर जिसक सिरपर पड गया उसे

ओषधियोकी ओषधि मिल गयी। उसके सतापका शमन हो गया। कितनी शीतलता है आपके हाथमे! दाहक अग्नि एकदम बुझ गयी, शान्त हो गयी।'

भक्त तडप रहा था, पापका प्रचण्ड पावक धक्-धक् कर जल रहा था, आपके कृपा-करका स्पर्श होत ही न जाने वह कहाँ छू-मतर हो गया। एक नहीं, अनेक बार ऐसे अनुभव हुए। क्या दिव्य शक्तियाके प्रति मैंने कोई अपराध किया था? पिता! आप ही जाने। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि आप मेरे साथ रहते हैं ओर यदि कोई पाप इस मन या तनसे हो भी गया तो उससे आपने ही मुझ बचाया ओर समस्याओका समाधान किया है। आपकी अमोघ क्षमा मुझ मिली है, मैं इतना तो अवश्य ही जानता हूँ।

पिता! अब एक ही आकाक्षा है—यह जा कुछ है आपका है, आपका ही दिया हुआ है। जब-जब इस शरीर-यन्त्रपर दृष्टि जाती हे, तब-तब आपका सकेत प्राप्त होता है। मैं चाहता हूँ, जैसे इस शरीरन् आपका आभास प्राप्त किया है, वैसे ही यह मन भी अब सर्वात्मना आपका ही होकर रहे। मेरी बुद्धिको ऐसा मोड दीजिये, जिससे यह आपका अदभ्र प्रकाश प्राप्त करती रहे—

त्वामिद्धि त्वायवो ऽनुनोनुवतश्चरान्। सखाय इन्द्र कारव ॥

(ऋक्०८। ९२। ३३)

मेरी शिल्पकारिता, काव्यकला और बुद्धिविशारदताकी सार्थकता इसीम है कि वह आपका ही स्तवन करे, आपके ही सामने झुके। कोई ऐसी युक्ति बतलाइये, जिससे मेरी साधना आपके मनको प्रसन्न कर सके। मेर भीतर समर्पणमयी भावना भर दीजिये। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। मरे तो एकमात्र आप हैं। मेर सर्वस्व! मर प्राण! अन्तराराम! मेरे शाश्वत सम्बन्धी! आप मरे हैं और मैं आपका हूँ—

त्वमस्माक तव स्मसि॥ (ऋक्० ८। ९२। ३२)

आज मेरी समस्त मतियाँ आपकी सङ्गिनी, सहेली, अनुचरी बननेके लिये व्याकुल हो उठी हैं। ये उमड रही हैं, विस्तृत व्योमम फल रही हैं, आपका अञ्चल छूने और पकडनेके लिये—'**आकाशस्तल्लिङ्गात्**।' (वेदान्तदर्शन १। १। २२)—इस आकाशम आपके कुछ चिह्न पाये जाते हैं, इसीलिये ये मतियाँ आकाशमे सतनित हा रही हैं। हृदयाकाश तुम्हारे मिलनका क्षेत्र कहा गया है—

'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्॥'

(ब्रह्मसूत्र १। ३। २५)

इस आकाशम ये मतियाँ आपकी खोज कर रही हैं, आपके ही स्पर्शकी आकाक्षा रखती हैं। क्या भटकाते हैं इन्ह? मेरी विनयको क्या अनसुनी कर रहे हैं? प्यासे चातकको द्यौसे गिरनेवाले उत्सकी—आकाशकी वर्षाधाराकी आवश्यकता है। मेरी मतिको भी तुम्हारे स्पर्शकी आकाक्षा है। छू दीजिये देव! छू दीजिये। यह क्या प्यासी रहे? इस तृषितको तृप्ति प्रदान कीजिये। इसकी पिपासाको शान्त कीजिये। कृपानिधान! कृपाकी कोर इधर भी कर दीजिये। जलकी एक बूँद इसके मुखम भी डाल दीजिये—

कथ वातो नलयति कथ न रमते मन ।
किमाप सत्य प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन॥

(अथर्ववेद १०। ३७)

देव! न जाने कितने दिन बीत गये, कितनी राते निकल गयीं, कितने वर्ष ओर कितने जन्म एक-पर-एक बीतते गये किंतु आपके दर्शनकी लालसा ज्या-की-त्यो बनी है। यह प्राण चलता ही रहता है, यह मन विश्रामका नाम तक नहीं लेता। ये जीवन-कर्म निरन्तर प्रवहमान हैं। इनकी गतिम, इनकी क्रियाम केवल आपके दर्शनकी लगन बसी हुई ह। इस असत् नाम-रूपके प्रपचमे आप ही एकमात्र सत्य हैं। आपकी प्राप्तिकी आकाक्षामे ही ये प्राण और मन धावमान ह—ये मतियाँ विस्तृत हैं। इनकी गतियोंकी गति, परम गति एव परम लक्ष्य एकमात्र आप हैं।

नह्यन्य बळाकर मर्डितार शतक्रतो। त्व न इन्द्र मृळय॥
यो न शश्वत् पुराविथाऽमृध्रो वाजसातये। स त्व न इन्द्र मृळय॥

(ऋक्० ८। ८०। १-२)

मरे एकमात्र इष्टदेव! आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी त्राता नहीं हे। मे क्या, यहाँ सब-के-सब केवल आपकी ओर देख रहे हैं, आपकी ही शरण चाहते हैं। इन सबपर आक्रमण हात हैं, किंतु आपपर कोई आक्रमण कर ही नहीं सकता। आप ही सबका बचाते आये हैं। दयालु देव! दया कीजिये मुझे भी बचाइय, अपना आश्रय दीजिये, अपनी कृपादृष्टिकी वर्षाद्वारा मेरे भी क्लेशजालकी ज्वाला शान्त कीजिये।

आख्यान—

धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे

भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे धनुर्धर पार्थसे कहते हैं कि मैं प्रत्येक युगम धर्मसस्थापनार्थ अवतार ग्रहण किया करता हूँ—'धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे'। यह 'धर्म' किसी सकुचित अर्थका अभिव्यञ्जक नहीं, प्रत्युत जिसके द्वारा प्राणिमात्रका धारण-पोषण हो, वही (धर्म) है।' दूसरे शब्दाम विश्वनाटकके सूत्रधार महाप्रभु नारायणकी विश्वका धारण, पोषण करनेवाली शक्ति ही धर्म है। अत प्रत्येक युगमे भगवान्को एतदर्थ (धर्मरक्षार्थ) अवतार लेना पडता है। वैदिक ऋचा (ऋक्० १। २२। १८)-म भगवान्के इस नित्य कर्तव्यका वर्णन प्राप्त होता है और उसीकी पुष्टि निम्न सूक्तिम को गयी है—

प्रतियुग वपुर्धत्ते त्रिविक्रमादिक हरि ।
गोपा मेधातिथिर्ब्रूते विष्णु धर्मस्य रक्षकम्॥

अर्थात् भगवान् श्रीहरि युग-युगम धर्मरक्षणार्थ वामनादिके रूपम शरीर धारण किया करते हैं। ऋषि मेधातिथि स्वदृष्ट मन्त्रमे 'गोपा' शब्दद्वारा श्रीकृष्णरूपम विष्णुको धर्मरक्षक बताते हैं।

उक्त सूक्तिसे जहाँ भारतीय सस्कृतिका एक प्रमुख तत्त्व अवतारवाद स्पष्टत श्रुतिसम्मत सिद्ध हो जाता है, वहीं धर्मविरुद्ध आचरण करनेवालाको उपदेश मिलता है कि वे अधर्मसे विरत हा जायँ। कारण यह भगवान्का नित्य कार्य है। धर्मविरोधी बननपर सीधे भगवान्से मुकाबला करना पडेगा, जो बडा महँगा सौदा होगा।

प्रस्तुत सूक्तिके पूर्वार्धम श्रीहरिके पूर्वयुगीय शरीर-धारणम वामनावतारका उल्लेख है तो उत्तरार्धमे वैदिक ऋचाक प्रतीक-रूपसे सूचित किया गया कि उन्हीं वामनावतारधारी श्रीहरिने द्वापरयुगम नन्दनन्दन श्रीकृष्णका रूप धारण किया ओर धर्मकी रक्षा की। गोपालकृष्ण भगवान् श्रीहरिकी लीलाएँ ता अतिप्रसिद्ध और अतिव्यापक हैं। अत उन्ह छाड यहाँ सक्षेपम वामनावतारकी कथाका उल्लेखमात्र किया जा रहा हे।

भगवान् वामनका ही एक नाम 'त्रिविक्रम' है जिन्हाने तीन कदमाम त्रिलाकीका नाप लिया। त्रिविक्रमसम्बन्धी शरीर हा त्रैविक्रम' कहा जाता ह। वामनावतारकी यह कथा पुराणाम प्रसिद्ध है।

भक्तराज प्रह्लादके पौत्र, असुराके राजा बलिको इन्द्रने पहले जीत लिया था, किंतु उसन भृगुवशीय ब्राह्मणाकी एकनिष्ठ सेवा करके उनके अनुग्रहस्वरूप पुन अटूट सामर्थ्य पायी और एक बार पुन इन्द्रपर चढाई कर दी। अबकी बार इन्द्र विवश हो गये। विष्णुने भी कह दिया कि असुरराजकी ब्राह्मणोपासनाका पुण्य इतना बलवान् है कि आपके लिये स्वर्ग छोडकर भाग जाना ही श्रेयस्कर हागा। 'ब्रह्मतेजो बल बलम्'—ब्राह्मण-बलका कोई सामना नहीं कर सकता। आज असुरराज सर्वथा धमनिष्ठ बन गया है।

अब तो देवाकी बडी दयनीय दशा हुई। उनकी ममतामयी माता ब्राह्मणी अदितिसे यह देखा नहीं गया। उसने जब अपने पति ब्राह्मणश्रेष्ठ कश्यप ऋषिसे अन्तरकी यह वेदना प्रकट की, तब उन्हाने देवाको असुरासे भी श्रेष्ठ ब्रह्मबल-धर्मबल अर्जन करनेकी सलाह देते हुए कहा कि 'धर्ममूर्ति, धर्मरक्षक नारायण ही यह पीडा दूर कर सकते हैं, क्याकि असुरराज पूर्ण धर्मनिष्ठ हो गया है, अत तुम्हारे पुत्र देव उसका कुछ नहीं बिगाड सकते।'

फलस्वरूप अदितिने उग्र तप किया—पयोव्रतका अनुष्ठान किया। उस पुण्यके प्रभावसे भगवान् श्रीविष्णु उनके घर वामनरूपधारी पुत्रके रूपमे प्रकट हुए ओर कामना पूरी करनेका वचन देकर उन्हाने माताको आश्वस्त किया।

इधर असुरराज बलि सौ अश्वमेध पूरा करके विजित इन्द्र-पदको अटल बनानके लिये ब्राह्मसस्कृतिके प्राण यज्ञसस्थामे लगा था कि प्रभु वामन ब्राह्मण बनकर उसके यज्ञमे पहुँचे। स्वागतके बाद बलिने अतिथिसे अभीष्ट माँगनेकी प्रार्थना की तो प्रभुने तीन पग पृथ्वी माँगी। दैत्यगुरु शुक्राचार्यने विष्णुकी यह माया ताड ली और असुरराजको राका किंतु असुरराज अपना वचन पूरा करनेपर ही अडा रहा। विष्णुने दो पगाम भूलोक एव स्वर्गलाकका नाप लिया और पुन इन्द्रको स्वर्गका राज्य सौंप दिया। तीसरा पग नापनक लिय बलिक पास अपना काई स्थान ही न रह गया।

इस तरह परम धर्मनिष्ठ हात हुए भी ब्राह्मणको तान

पग भूमि देनेका वचन देकर भी उसे पूरा न करनेका पाप लगा असुरराजको। दैववश उससे अकस्मात् यह अधर्म हो गया और उसकी धर्मशक्ति क्षीण हो गयी। साथ ही अनुचित होनेके कारण उसने गुरु (शुक्राचार्य)-का वचन नहीं माना। फलत जिस भार्गव ब्रह्मवशके पौरुषसे वह इतना बडा बना, वह बल भी उसके हाथसे जाता रहा। अन्तत उसे वरुणके पाशामे बँधकर सारे ऐश्वर्यसे हाथ धोना पडा।

यह अलग बात है कि इतना होते हुए भी उसकी भगवन्निष्ठा कम न हुई। फलस्वरूप पुन वह भगवत्-कृपासे ही वरुण-पाशसे मुक्त हुआ। साथ ही भगवान्ने न केवल उस रसातलका राज्य दिया, प्रत्युत स्वय बलिकी दरवानी भी स्वीकार की।

सक्षेपमें यही वामनावतारकी कथा है, जिसमे धर्मकी सूक्ष्म-गतिका चित्रण करते हुए अन्तिम विजय धर्मकी ही बतायी गयी है। साथ ही यह बतलाते हुए कि सर्वशक्तिमान् भगवान्ने भिक्षा-जैसी निन्दनीय वृत्ति अपनाकर भी धर्मकी रक्षा की, उनके धर्मरक्षण-कार्यकी अखण्डताकी ओर स्पष्ट सकेत किया गया है। हमे भी चाहिये कि भगवान्के परम प्रिय धर्मके रक्षार्थ कमर कसकर उनका अनुग्रह पाते रहे।

प्रस्तुत कथाकी सूचक ऋचा तो एक ही है, पर वह न केवल ऋग्वेदमे, प्रत्युत चारो वेदोकी सहिताओ एव ब्राह्मण-ग्रन्थमे भी समान रूपसे प्राप्त होती है। ऋग्वेद (१। २२। १८), यजुर्वेद वाजसनेयि सहिता (३४। ४३), सामवेद (१६७०), अथर्ववेद (७।२६।५) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४।६।१)-मे वह ऋचा इस प्रकार उद्धृत है—

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य ।
अतो धर्माणि धारयन्॥

तात्पर्य यह कि धर्मके धारण अर्थात् सस्थापनके लिये उस व्यापक परमात्माने पूर्वयुगमे अपने केवल तीन पगासे सारे ब्रह्माण्डको नाप लिया, सारे ब्रह्माण्डपर स्वामित्व पा लिया। उसी व्यापक परमात्मा विष्णुने द्वापरयुगमे धर्मरक्षार्थ गोपबाल श्रीकृष्णका रूप धारण किया। उनका वह श्रीकृष्णरूप नरकासुर-जैसे बडे-बडे असुराके लिये भी अदम्य रहा। कोई कितना ही बडा असुर क्यो न हो, उन्हे पराभूत नहीं कर पाता था, फिर हिसाकी बात तो दूर ही रही। [वेदोपदेश-चन्द्रिका]

वेदोमे भक्तिका स्वरूप

(श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालकार)

वेदोके सम्बन्धमे कई प्रकारकी मिथ्या और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई है। इनमे एक यह भी है कि वेदोमे भक्ति-प्रेरक भावनाएँ उतनी विशद नहीं हैं, जितनी अन्य ग्रन्थोमे—विशेषत मध्यकालीन भक्तोकी वाणीमे हैं। एक धारणा यह भी है कि वेद-मन्त्र इतने क्लिष्ट है कि सामान्य जनके लिये उनका समझना कठिन होता है। इस सम्बन्धमे हमारा निवेदन यह है कि यदि सस्कृत भाषाका और विशेषत वैदिक सस्कृतका तनिक भी ज्ञान हो तो वेदके अधिकाश मन्त्र सहज ही समझमे आ जाते है। वेदोकी सस्कृत भाषा उस सस्कृतसे कई अशोमे भिन्न है जिसे हम वाल्मीकिरामायण, महाभारत और गीतामे पढते है। उदाहरणके लिये 'देव' शब्दका तृतीया विभक्तिका बहुवचन प्रचलित सस्कृतमें 'देवै ' होता है पर वेदमे प्राय 'देवेभि का प्रयोग आता है। वेदको वेदसे समझनेका और पूर्ण श्रद्धाके साथ उसका अध्ययन करनेका यदि प्रयत्न किया जाय तो निश्चितरूपसे सारी दिक्कत दूर हो सकती है। गुरुजनो और विद्वत्पुरुषोसे नम्रतापूर्वक शङ्का-निवारण तो करते ही रहना चाहिये।

भक्तिका स्वरूप

वेद वस्तुत भक्तिके आदिस्रोत है। यदि हम भक्तिका स्वरूप समझ ले तो वेदोमे वर्णित भक्तितत्त्वका समझनेमे सुगमता होगी। भक्तिका लक्षण शास्त्रोमे इस प्रकार किया गया है—'**सा परानुरक्तिरीश्वर**' अर्थात् परमेश्वरमे अविचल और एकान्तिक भावना तथा आत्मसमर्पणकी उत्कट आकाक्षाको 'भक्ति' कहा गया है। हमे यह भी नही भूलना चाहिये कि 'भक्ति' शब्द '**भज सेवायाम्**' धातुमे 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर

सिद्ध होता है। अर्थात् भक्ति हृदयकी उस भावनाका नाम है, जिसम साधक जहाँ एक ओर पूर्णभावसे ब्रह्मम अनुरक्त हो और सर्वताभावेन अपनेको ब्रह्मार्पण करनेवाला हो, वहाँ साथ ही ब्रह्मद्वारा रचित इस सारी सृष्टिके प्रति सेवाका भावना रखनेवाला भी हो। यजुर्वेद (३६। १८)-के शब्दामें—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

वेदका भक्त कहता है—'हे समर्थ! मुझ शक्तिसम्पन्न बनाआ। म सब प्राणियाको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ और सब प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखनेवाले हा। हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखे।'

भक्ति और शक्तिका अटूट सम्बन्ध

वैदिक भक्तिकी एक ओर विशेषता है, आगे चलकर जिसका मध्यकालमे लोप हा गया। वह यह कि वेदम आपको ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलेगा, जिसम उपासक, साधक अथवा भक्त अपनेको अधम, नीच, पापी, खल दुष्ट तथा पतित इत्यादि कहे अथवा प्रभुको किसी प्रकारका उपालम्भ दे। इसका कारण यह है कि वेदमे 'भक्ति' के साथ 'शक्ति' का सतत और अविच्छिन्न सम्बन्ध माना गया है। वेदके द्वारा प्रभु यह आदेश देते ह कि निर्बल और अशक्त आत्मा सच्चा भक्त नहीं बन सकता। इसलिये वेदम भक्त प्रभुका तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्तिका अजस्र भडार मानता हुआ उससे तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्तिकी कामना करता है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बल मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

वेदका भक्त कितना सशक्त और कितना आत्मविश्वासी है—यह इस मन्त्रके एक अशम देखिये—

कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित ।
(अथर्व० ७।५०।८)

'मेरे दाय हाथम कार्यशक्ति है और बाय हाथमे विजय है।'

प्रभुके प्रति प्रणमनकी भावना

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेदम ब्रह्मके प्रति साधककी प्रणमन, विनम्रता और आत्मलघुताकी भावनाका निराकरण है। निम्नलिखित मन्त्राम भक्त कितनी तन्मयताके साथ विशाल प्रभुचरणाम अपनेको नतमस्तक हो उपस्थित करता हे, इसका सम्यक् निदर्शन हुआ है—

यो भूत च भव्य च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥
(अथर्व० १०।८।१)

भूत-भविष्यत-वर्तमानका जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योममें व्याप्त हो रहा जो त्रिकालका है स्वामी॥
निर्विकार आनन्द-कन्द है जो कैवल्यरूप सुखधाम।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

यस्य भूमि प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिव यश्चक्रे मूर्धान तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥
(अथर्व० १०।७।३२)

सत्य ज्ञानकी परिचायक यह पृथ्वी जिसके चरण महान।
जो इस विस्तृत अन्तरिक्षको रखता है निज उदर समान॥
शीर्षतुल्य है जिसके शोभित यह नक्षत्रलोक द्युतिमान।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

प्रभुसे हम क्या माँग, यह निम्न मन्त्रमे देखिये—

गूहता गुह्य तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥
(ऋक्० १।८६।१०)

'हे प्रियतम! हृदय-गुहाके अन्धकारको विलीन कर दो, नाशक पापको भगा दो और हे ज्योतिर्मय! हम जिस ज्योतिको चाहते हैं वह हमे दा।'

शरणागतकी भावना

भगवान् अशरणोके शरण हैं। उन्हींकी कृपासे मेरा उद्धार हा सकता है—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।
त्व यज्ञेष्वीड्य ॥
(ऋक्० ८।११।१)

चतुर्दिक् तुम्हीं नाथ छाये हुए हो
मधुर रूप अपना बिछाये हुए हो।
तुम्हीं व्रत-विधाता नियन्ता जगत्के
स्वय भी नियम सब निभाये हुए हो॥

प्रभो! शक्तियाँ दिव्य अनुपम तुम्हारी,
तुम्हीं दूर, तुम पास आये हुए हो।
करें हम यजन, पुण्य शुभकर्म जितने,
सभीमे प्रथम स्थान पाये हुए हो।।
तुम्हारी कर वन्दना देव! निशिदिन,
तुम्हीं इस हृदयमे समाये हुए हो।।

निराश मत हो मानव!

जिस समय मानवकी जीवन-नैया इस भवसागरम डाँवाडोल होती है, वह निराश हो जाता है, उस समय करुणागार भगवान् आशाकी प्रेरणा देते है—

उद्यान ते पुरुष नावयान जीवातु ते दक्षताति कृणोमि।
आ हि रोहेममममृत सुख रथमथ जिर्विर्विदथ मा वदासि॥

(अथर्ववेद ८।१।६)

किसलिये नैराश्य छाया?
किसलिये कुम्हला रहा फूल-सा चेहरा तुम्हारा॥
तुम स्वय आदित्य! दुर्दिनका न गाओ गान रोकर।
हे सुदिव्य महारथी! सकल्प एक महान् होकर॥
फिर बढो फिर-फिर बढो चिरतक बढो अभिमान खोकर।
फिर तुम्हारी हार भी विख्यात होगी जीत बनकर॥
फिर तुम्हारी मृत्यु गूँजेगी अमर सगीत होकर।
काल यह सदेश लाया किसलिये नैराश्य छाया॥

प्रभुका यह विश्व रमणीय है

वेदका भक्त इसे रमणीय समझता है ओर वास्तविक समझता हे। वह प्रभुसे प्रार्थना करता है—

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्य।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्त शिशिर इन्नु रन्त्य॥

(सामवेद ६१६)

वसन्त रमणीय सखे ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा रमणीय सखे, शरद रमणीय है॥
हेमन्त रमणीय सखे शिशिर रमणीय है।
मन स्वय भक्त बने विश्व तो रमणीय है॥

वेदाम भक्तिके उदात्त ओर पुनीत उद्गार अनेक स्थलापर अकित ह। हमने यहाँपर कुछ उदाहरण ही उपस्थित किये हैं। इन्हे पढकर यदि हमारी वेदाम श्रद्धा बढे, उसके स्वाध्यायकी ओर प्रवृत्ति हो ओर वेदाकी रक्षा तथा उसके प्रचारकी आर हम लग सक ता निश्चय ही हमारा अपना, देशका और विश्वका कल्याण हागा। मङ्गलमय भगवान् ऐसी कृपा करे।

आख्यान—

ब्रह्म क्या है?

गर्ग-गोत्रमे उत्पन्न बलाकाके पुत्र बालाकि नामके एक प्रसिद्ध ब्राह्मण थे। उन्हाने सम्पूर्ण वेदाका अध्ययन तो किया ही था, वे वेदाके अच्छे वक्ता भी थे। उन दिना ससारमें सब ओर उनकी बडी ख्याति थी। वे उशीनर देशके निवासी थे, परतु सदा विचरण करनेके कारण कभी मत्स्यदेशम, कभी कुरु-पाञ्चालमे आर कभी काशी तथा मिथिला-प्रान्तमे रहते थे। इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध गार्ग्य (बालाकि) एक दिन काशीके विद्वान् राजा अजातशत्रुके पास गये और अभिमानपूर्वक बोले—'राजन्! आज में तुम्हे ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा।' इसपर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'आपकी इस बातपर हमने आपको एक सहस्र गौएँ दीं। आज आपने हमारा गारव राजा जनकके समान कर दिया। अत इन्हे स्वीकार करके हम ब्रह्मतत्त्वका शाघ्र उपदेश करे।'

इसपर गार्ग्य बालाकिने कहा कि 'राजन्! यह जा सूर्यमण्डलम अन्तर्यामी पुरुष हैं, इसीकी में ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं, इसके विषयम आप सवाद न करे। निश्चय ही यह सबसे महान् शुक्लाम्बरधारी तथा सर्वोच्च स्थितिमे स्थित सबका मस्तक ह। मैं इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूँ। इसी प्रकार उपासना करनेवाला कोई दूसरा मनुष्य भी सबसे ऊँची स्थितिम स्थित हो जाता है।'

तब गार्ग्य बालाकि पुन बाले—'यह जा चन्द्रमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, मैं इसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं, इस विषयमें आप सवाद न करे। यह सोम राजा है और अन्नका आत्मा ह। इसकी इस प्रकार उपासना करनेवाला व्यक्ति मुझ-जैसा ही अन्नराशिसे सम्पन्न हो जाता ह।'

अब वे गार्ग्य बाले—'यह जो विद्युन्मण्डलम अन्तर्यामी पुरुष ह इसीकी में ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।'

अजातशत्रुने इसपर यही कहा कि 'नहीं, नहीं, इस विषयमें आप संवाद न करें, यह तेजका आत्मा है। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी हो जाता है।'

इसी प्रकार गार्ग्य क्रमशः मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिध्वनि, पदध्वनि, छायामय पुरुष शरीरान्तर्वर्ती पुरुष, प्राण तथा उभयनेत्रान्तर्गत पुरुषको ब्रह्म बतलाते गये और अजातशत्रुने इन सबको ब्रह्मका अङ्ग तथा ब्रह्मको इनका अङ्गी सिद्ध किया। अन्तमें हारकर बालाकिने चुप्पी साध ली और राजा अजातशत्रुको अपना गुरु स्वीकार किया तथा उनके सामने समिधा लेकर वे शिष्यभावसे उपस्थित हुए।

इसपर राजा अजातशत्रुने कहा—'यदि क्षत्रिय ब्राह्मणको शिष्य बनाये तो बात विपरीत हो जायगी, इसलिये चलिये, एकान्तमें हम आपको ब्रह्मका ज्ञान करायेंगे।' यों कहकर वे बालाकिको एक सोये हुए व्यक्तिके पास ले गये और उसे 'ओ ब्रह्मन्! ओ पाण्डरवासा! ओ सोम राजा!' इत्यादि सम्बोधनोंसे पुकारने लगे, पर वह पुरुष चुपचाप सोया ही रहा। जब उसे दोनों हाथोंसे दबाकर जगाया, तब वह जाग गया। तदनन्तर राजाने बालाकिसे पूछा—'बालाके! यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था तब कहाँ था? और अब यह कहाँसे आ गया?' किंतु गार्ग्य यह कुछ न जान सके।

अजातशत्रुने कहा—'हिता' नामसे प्रसिद्ध बहुत-सी नाडियाँ हैं। ये हृदयकमलसे सम्बद्ध हैं और वहींसे निकलकर सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई हैं। यह पुरुष सोते समय उन्हीं नाडियोंमें स्थित रहता है। जैसे क्षुरधानमें छूरा रखा रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तर्गत हृदयकमलमें इस परम पुरुष परमात्माकी उपलब्धि होती है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अनुगत सेवककी भाँति उसका अनुसरण करती हैं। इसके सो जानेपर ये सारी इन्द्रियाँ प्राणमें तथा प्राण इस आत्मामें लीन—एकीभावको प्राप्त हो जाता है।'

'यही आत्मतत्त्व है। जबतक इन्द्रको इस आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं था, तबतक वे असुरोंसे हारते रहे। किंतु जब वे इस रहस्यको जान गये, तब असुरोंको पराजित कर सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठ हो गये, स्वर्गका राज्य तथा त्रिभुवनका आधिपत्य पा गये। इसी प्रकार जो विद्वान् इस आत्मतत्त्वको जान लेता है, उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं तथा उसे स्वाराज्य प्रभुत्व तथा श्रेष्ठत्वकी प्राप्ति होती है।' (बृहदारण्यक०) [कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्]

वैदिक ऋचाओंमें भगवत्तत्त्व-दर्शन

(श्रीगङ्गाधरजी गुरु बी०ए० एल्-एल्०बी०)

भगवान् जगन्नाथ उत्कलके परमाराध्य देवता हैं। वैदिक ऋचाओंमें भगवान् जगन्नाथके तत्त्व-दर्शन गर्भित हैं, जो अनन्य-साधारण तथा अनिर्वचनीय हैं। वस्तुतः जगन्नाथजीके रहस्यका समुद्घाटन साधारण मनुष्यके पक्षमें सहज-साध्य नहीं है। किस कालसे किस कारण जगन्नाथजी दारुब्रह्मरूपमें पूजित होते हैं एवं दारुविग्रहके रूपसे पूजित होनेका सार मर्म क्या है, यह निःसंदेह-भावसे स्थिर निर्णय करना अत्यन्त गहन व्यापार है। भगवदीय तत्त्वोंका भक्तिपरक विवेचन ऋग्वेद (१०। १५५। ३)-में वर्णित है—

> अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
> तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥

वेद-भाष्यकार सायणाचार्यने उक्त मन्त्रका जो अर्थ अपने भाष्यमें किया है, उसका हिन्दीमें भाव इस प्रकार है—'जो अपौरुषेय पुरुषोत्तम नामवाले दारुमय देवता सिन्धुतीरमें जलके ऊपर भासमान हैं—हे स्तोता! तुम उन्हीं दारुका अवलम्बन करो। उन्हीं समुपास्य दारुमय देवताकी सहायता एवं करुणासे तुम परम उत्कृष्ट वैष्णव लोकको प्राप्त हो।'

उस परम तत्त्वके सम्बन्धमें ऋग्वेद (१०। ८१। ४)-में कहा गया है—

> किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
> यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
> मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
> तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

'वह कौन-सा वन है? वह कौन वृक्ष है? जिससे

आकाश और पृथ्वी निर्मित है। मनीषी लोग जिज्ञासा कर तथा अपने मनमे ही प्रश्न करे कि वह अधिष्ठान क्या है जो भुवनोका धारण कर रहा है?'

बीजसे वृक्ष और वृक्षसे ही बीजकी सृष्टि होती है। बीज और वृक्ष तथा सूक्ष्म और स्थूल घनिष्ठतासे सम्पृक्त हैं। विश्वसृष्टिरूप विशाल वृक्षके मूलम ही ब्रह्म बीज है। मूलसृष्टिके मूलमे सूक्ष्म-तत्त्व निहित है। व्यष्टिका समाहार समष्टि है, वृक्षका समाहार ही वन है, वृक्षके बिना वन असम्भव है। सृष्टि-वृक्षके अवबोधके लिये वृक्षकी सहायता अनिवार्य है, सृष्टि-वृक्षको समझनेके लिये दारुधारणा अपरिहार्य है। सृष्टिदारुके मूलमे ब्रह्मदारु है। असीम रहस्योसे भरे हुए इस ससारकी एक वृक्षके रूपमें कल्पना करना युक्तियुक्त, सुबोध्य, सहजानुभव्य तथा अपूर्व कवित्वसमन्वित है। वैदिक ऋचामे इस दृश्य जगत्का वर्णन कठोपनिषद् (२। ३। १)-के अनुसार इस प्रकार किया गया है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन
तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।

'यह प्रत्यक्ष जगत् है सनातन पीपलका वृक्ष, जिसका मूल ऊपरकी ओर और शाखा नीचेकी ओर है। इस वृक्षक मूल एक विशुद्ध तत्त्व ईश्वर हैं। वे ही ब्रह्म हैं। वे ही अश्वत्थके नामसे कथित हैं। उस ब्रह्मने सभी लोक आश्रित हैं। कोई उसे अतिक्रम कर नहीं सकता। यही है वह परमात्म-तत्त्व।'

ससाररूप अश्वत्थ-वृक्षका मूल ऊर्ध्वम है अर्थात् ब्रह्म ही ससारका मूल है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १६४ वे सूक्तके २०वें मन्त्रमे वर्णित है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परि षस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

'एक वृक्षपर दो पक्षी (जीवात्मा तथा परमात्मा) बन्धुभावसे विराजमान हैं। उन दोनोमें एक फलको भोगता है एव दूसरा नीरव होकर साक्षीभावसे फल न खाकर अवस्थान करता है।'

ससार-वृक्षके मूलमे ब्रह्मबीज है सूक्ष्म-ब्रह्मसे ही विशाल ब्रह्माण्डका परिप्रकाश होता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ससार-वृक्षमे विराजित हैं। जीवात्मा वहीं आसक्त है किंतु परमात्मा अनासक्त है। भक्ति-मुक्तिफलदायक परमज्ञान कल्पतरु ब्रह्मदारु ही दारुब्रह्म जगन्नाथरूपम नित्य नमस्य, नित्य वन्दनीय तथा नित्य उपास्य हैं। सृष्टिके मूलम जगन्नाथ हैं एव सृष्टिम सर्वत्र व अनासक्त-भावस विराजमान हैं। जगन्नाथमे ब्रह्मदारुकी उपमा सर्वतोभावसे सार्थक-सफल है। स्वभावत ब्रह्मदारु विपरीत-भावसे ही दारुब्रह्मके रूपमे श्रीक्षेत्रपर विराजित है। भक्ति और मुक्तिरूप फलद्वय उनके सम्मुख अदृश्य-भावसे सतत सनिहित हैं। उनका पूर्ण महत्त्व, यथार्थरूप साधारण लक्ष्यसे अदृश्य है। स्थितधी, ज्ञानी तथा साधक भक्तजन ही अवाङ्मनसगोचर इन्द्रियातीत मुक्तिविधायक दिव्यरूपका दर्शन कर सकते हैं और उस अनिर्वचनीय महत्त्वकी उपलब्धि कर सकते हैं।

उत्कलम दारुब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् जगन्नाथकी पूजा वैदिक युगसे अबतक होती आ रही है। भगवान् जगन्नाथ तो जगत्प्रसिद्ध वेदवेद्य परात्पर प्रभु हैं। वैदिक ऋचाक अनुसार 'सर्वं खल्विद ब्रह्म'—सर्वत्र भगवच्चिन्तन ही भगवदीय तत्त्वोका अभिप्राय है। भगवान् जगन्नाथ व्यक्ताव्यक्त दोनो ही हैं। वे अनिर्वाच्य हैं, वेदवेद्य परम ईश्वर हैं, साम्य मैत्रीके प्रकृष्ट देवता हैं और श्रीक्षेत्रके निवासी हैं। जगन्नाथ-धामम निम्न वैदिक ऋचाएँ अक्षरश सार्थक सफल और शाश्वत सत्य सिद्ध हैं—

स जानीध्व स पृच्यध्व स वा मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥
समानो मन्त्र समिति समानी समान व्रत सह चित्तमेषाम्।
समानेन वा हविषा जुहोमि समान चेतो अभिसविशध्वम्॥
समानी व आकूती समाना हृदयानि व।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥
सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभाग समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित॥

(अथर्ववद ६। ६४। १—३ ३। ३०। १ ६)

राजा, प्रजा, धनी निर्धन, ज्ञानी ओर निर्बोध सभी लाग प्रभुकी करुणाका लाभ करनेम सक्षम हैं। आब्राह्मणचाण्डाल सभी एक साथ ही एकत्र जगदीश-महाप्रसादका सवन करते हैं। शबर और ब्राह्मण उनके महाप्रसादके लिय घनिष्ठ मत्रीपाशसे आबद्ध हैं। भगवान् जगनाथजी साम्यमैत्रीक श्रेष्ठ दवता हैं। सम्मिलित होकर हा जगदीश-रथयात्राक दिन असख्य व्यक्ति रथका खींचत हैं। श्रीजगदीशरथयात्रा-तत्त्व वैदिक समयकी भावनापर ही आधारित है।

भारतीय सस्कृतिमे रथका प्रचलन अनादि-अनन्तकालसे होता आ रहा है। वैदिक ऋचा (यजु० ३३। ४३)-मे भगवान् सूर्यका सप्ताश्वयुक्त रथ इस प्रकार वर्णित है—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

रथासीन जगन्नाथ (वामन)-के दर्शनसे पुनर्जन्मसे छुटकारा मिलता है—

मध्ये वामनमासीन विश्वे देवा उपासते॥

(कठोपनिषद् २। २। ३)

अर्थात् शरीरके भीतर (हृदयमध्यमे) सर्वश्रेष्ठ भजनीय भगवान्की सभी देवता उपासना करते हैं। हृदयरूपी रथमे ही वामन (जगन्नाथभगवान्) निवास करते हैं।

मनुष्यके अपने हाथ ही भगवान् है—भगवान् जगन्नाथ। वैदिक ऋचा है—

अय मे हस्तो भगवानय मे भगवत्तर।
अय मे विश्वभेषजो ऽय शिवाभिमर्शन॥

(ऋक्० १०। ६०। १२)

अर्थात् दुष्कर-से-दुष्कर कार्य करनेमे भी समर्थ यह मेरा हाथ भगवान्से भी श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा कर्म करनेपर भगवान्को भी फल देनेके लिये बाध्य होना पडता है। यह मेरा हाथ विश्वके समस्त रोगोका औषध और सभी समस्याओका समाधान है। जिसका भी यह स्पर्श कर देता है, वह शिव हो जाता है।

ससारके सर्वपुरातन ग्रन्थ तो वेद ही हैं। भगवत्तत्त्व-दर्शनका ऋग्वेदके निम्न ऋचामे सुन्दर विवेचन हुआ है—

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

(ऋक्० १०। १२९। ३)

भगवदीय तत्त्वोका सम्यक् यथार्थ वर्णन करनेमें सरस्वतीकी लेखनी भी दुर्बलताका वरण करती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेपर भी प्रभु अपने महनीय विग्रहमे अनन्त विस्तृत लोकोको धारण करते हैं—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईश० १)

भगवान् जगन्नाथका परमतत्त्व शुद्ध मनसे ही इस प्रकार जाना जा सकता है—इस जगत्मे एकमात्र पूर्णानन्दभगवान् ही परिपूर्ण हैं सब कुछ उन्हींका स्वरूप है यहाँ भगवान्से भिन्न कुछ भी नहीं है। इसके अतिरिक्त जो यहाँ विभिन्नताको झलक देखता है वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है—

मनसैवेदमाप्तव्य नेह नानास्ति किंचन।
मृत्यो स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

(कठोपनिषद् २। १। ११)

अन्तमे परब्रह्म श्रीजगन्नाथके श्रीचरणोमे नमन करते हुए मैं अपनी हार्दिक शुभाशसाके साथ इस लेखका उपसहार कर रहा हूँ—

'कल्याण' स्याङ्करत्न परमहितकर वेदविद्याकथाख्य
कल्याण न विदध्यात् परमतुलधन सौख्यसौभाग्यद वै।
भक्तिज्ञानप्रसारैर्भवभयकलुषव्यामोह नाशयन् व
विप्राणा मानवाना जयमिह तनुता वेदवेद्योऽवतारी॥
सद्भक्तिज्ञानवैराग्यधर्माचारकथान्वित ।
'कल्याण'स्यैव वेदाङ्को जयताच्छाश्वती समा॥
कल्याणकामिभि सर्वैस्तुष्टिपुष्टिप्रियैस्तथा।
परमामृतसोपान सेव्य कल्याण'मिष्टदम्॥
त्रिसप्ततितमे वर्षे 'वेद-कथाङ्क' आगत।
जनलोकस्य सर्वेषा कुर्यादज्ञाननाशनम्॥
वेदवेद्यो जगन्नाथ पायाद्योगेश्वरो हरि।
वेद-कथाङ्क' एवाय तनातु सवमङ्गलम्॥
सतत जयताद् धर्म सज्जनानन्दवर्धक।
कल्मष लोपमायातु वेदाङ्कोऽस्तु च सार्थक॥

'कल्याण' का वेद-कथा सज्ञक ७३वे वर्षका अङ्क 'कल्याण' कारी रत्न है। परम श्रेष्ठ तथा अतुल्य वित्त है जो प्रमोद और सौभाग्यको देनेवाला है। यह अङ्क हम सभीके लिये कल्याणकारी हो। भक्ति ज्ञान और वैराग्यके प्रसारसे भवभयके साथ पापरूपी व्यामोह-जालका विनाशपूर्वक वेदवेद्य-अवतार-पुरुष हम विप्रो तथा सभी प्रकारके मनुष्य—प्राणियोको विजय प्रदान करे।

समस्त कल्याणाभिलाषियो तथा सतुष्टि-पुष्टिप्रेमियोको चाहिये कि वे श्रेष्ठ एव अमृत-सोपान अभीष्टदायक 'कल्याण'-का ही पठन-पाठन करे।

७३वे वर्षमे प्रकाश्यमान यह 'वेद-कथाङ्क' जनलोकके अथवा समस्त जनोके अज्ञानका नाश करे। वेदवेद्य जगदीश्वर, योगेश्वर श्रीहरि हमारी रक्षा करें। 'कल्याण' का 'वेद-कथाङ्क' सभीका मङ्गल करे। सनातन-धर्म निरन्तर जययुक्त हो एवं (समस्त अधमादिकृत) पापोका लोप हो जाय और सज्जनोके आनन्दको बढानेवाला यह 'वेद-कथाङ्क' सार्थक हो।

[प्रेषक—श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु]

आख्यान—

मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश

महर्षि याज्ञवल्क्यके दो स्त्रियाँ थीं। एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी। दाना ही सदाचारिणी और पतिव्रता थीं, परतु इन दोनाम मैत्रेयी तो परमात्माके प्रति अनुरागिणी थीं और कात्यायनीका मन ससारके भागामे रहता था। महर्षि याज्ञवल्क्यने सन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीका अपने पास बुलाकर कहा कि 'हे मैत्रेयी! मैं अब इस गृहस्थाश्रमको छोडकर सन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। अत मेरे न रहनेपर तुम दोना आपसमे झगडा न कर सुखपूर्वक रह सको, इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोमे घरकी सम्पत्ति आधी-आधी बाँट दूँ।'

स्वामीकी बात सुनकर मैत्रेयीने अपने मनमे सोचा कि 'मनुष्य अपने पासकी किसी वस्तुको तभी छोडनेको तैयार होता है, जब उसको पहली वस्तुकी अपेक्षा कोई अधिक उत्तम वस्तु प्राप्त होती हे। महर्षि घर-बारको छोडकर जा रहे हैं, अतएव इनको भी कोई ऐसी वस्तु मिली होगी जिसके सामन घर-बार सब तुच्छ हो जाते हैं, अवश्य ही इनके जानेमे कोई ऐसा बडा कारण होना चाहिये। वह परम वस्तु जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति लाभकर अमृतत्वको—परमात्माको पाना ही है।' या विचार करके मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! मुझे यदि धन-धान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मैं अमृतत्वको पा सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहां, नहीं! धनसहित पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिको-सा जीवन हो सकता है, परतु उससे अमृतत्व कभी नहीं मिल सकता।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मेरा मरना न छूटे, उस वस्तुको लेकर मैं क्या करूँगी? हे भगवन्! आप जो जानते हैं (जिस परम धनके सामने आपको यह घर-बार तुच्छ प्रतीत हाता है और बडी प्रसन्नतासे आप सबका त्याग कर रहे हैं), वही परम धन मुझे बतलाइये।'

'मैत्रेयी! पहले भी तू मुझे बडी प्यारी थी, तेरे इन वाक्यासे वह प्रेम और भी बढ गया है। तू मेरे पास आकर बैठ, मैं तुझे अमृतत्वका उपदेश करूँगा। मेरी बाताको भलीभाँति सुनकर उनका मनन कर।' इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रियतमरूपसे आत्माका वर्णन आरम्भ करते हुए कहा—

'मैत्रेयी! (स्त्रीको) पति पतिके प्रयोजनके लिये प्रिय नहीं होता, परतु आत्माके प्रयाजनके लिये पति प्रिय होता है।'

वे० क० अ० ५—

'इस 'आत्मा' शब्दका अर्थ लागाने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है, कुछ कहते हे कि आत्मासे यहाँपर शरीरका लक्ष्य है—यह शिश्नोदरपरायण पामर पुरुषाका मत हे। कुछ कहते ह कि जबतक अदर जीव है तभीतक ससार हे, मरनेके बाद कुछ भी नहीं, इसलिये यहाँ इसी जीवका लक्ष्य है—यह पुनर्जन्म न माननेवाले जडवादियाका मत हे। कुछ लोग 'आत्माके लिये' का अर्थ करते ह कि जिस वस्तु या जिस सम्बन्धीसे आत्माकी उन्नति हो, आत्मा अपने स्वरूपको पहचान सके, वही प्रिय है। इसीलिये कहा गया है—'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'—यह तीव्र मुमुक्षु पुरुषाका मत है।'

कुछ तत्त्वज्ञाका मत है कि 'आत्माके लिये' इस अर्थम कहा गया है कि इसम आत्मतत्त्व हे, यह आत्माकी एक मूर्ति है। मित्रकी मूर्तिको कोई उस मूर्तिके लिये नहीं चाहता, परतु चाहता हैं मित्रके लिये। ससारकी समस्त वस्तुएँ इसीलिये प्रिय है कि उनमे केवल एक आत्मा ही व्यापक है या वे आत्माके ही स्वरूप ह। महर्षि याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'अरे! स्त्री स्त्रीके लिये प्रिय नहीं हाती, परतु वह आत्माके लिये प्रिय होती है, पुत्र पुत्राके लिये प्रिय नहीं होते, परतु वे आत्माके लिये प्रिय होते हैं, धन धनके लिये प्यारा नहीं होता, परतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नही होता, परतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता, परतु वह आत्माके लिय प्रिय होता है, लोक लोकाके लिये प्रिय नहीं होते, परतु आत्माके लिये प्रिय होते हे, देवता देवताआके लिये प्रिय नहीं होते, परतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, वेद वेदाके लिये प्रिय नहीं हैं, परतु आत्माके लिये प्रिय हैं। अरी मैत्रेयी! सब कुछ उनके लिये ही प्रिय नहीं होते, परतु सब आत्माके लिये ही प्रिय होत हैं। यह परम प्रेमका स्थान आत्मा ही वास्तवमे दर्शन करन याग्य श्रवण करने योग्य, मनन करन याग्य ओर निरन्तर ध्यान करने याग्य है। हे मैत्रेया! इस आत्माके दर्शन, श्रवण मनन ओर साक्षात्कारस ही सब कुछ जाना जा सकता है। यही ज्ञान है।'

इसके पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्यजीने सबका आत्माके साथ अभिन्न रूप बतलाते हुए इन्द्रियाका अपने विषयोंमे अधिष्ठान बतलाया ओर तदनन्तर ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णन कर अन्तम कहा कि—'जबतक द्वैतभाव होता हे तभीतक दूसरा दूसरेको दखता है, दूसरा दूसरेको

सूँघता है, दूसरा दूसरेको सुनता है, दूसरा दूसरसे बोलता है, दूसरा दूसरेके लिये विचार करता है और दूसरा दूसरेको जानता है, परतु जब सर्वात्मभाव प्राप्त हाता है, जब समस्त वस्तुएँ आत्मा ही हैं—ऐसी प्रतीति होती है, तब वह किससे किसको देखे? किससे किसको सूँघे? किसस किसके साथ बोले? किससे किसका स्पर्श करे तथा किससे किसको जाने? जिससे वह इन समस्त वस्तुआको जानता है, उस वह किस तरह जाने?'

'वह आत्मा अग्राह्य है इसस उसका ग्रहण नहीं होता, वह अशीर्य है इससे वह शीर्ण नहीं होता वह असग है इससे कभी आसक्त नहीं होता, वह बन्धनरहित है इससे कभी दु खी नही होता और उसका कभी नाश नहीं हाता। एसे सर्वात्मरूप, सबके जाननेवाले आत्माको कोई किस तरह जाने? श्रुतिने इसीलिये उसे 'नेति' 'नेति' कहा है, वह आत्मा अनिर्वचनीय है। मैत्रेयी! बस तेरे लिये यही उपदेश है, यही तो मोक्ष है।'

—इतना कहकर याज्ञवल्क्यजीने सन्यास ले लिया और वैराग्यके प्रताप तथा ज्ञानकी उत्कट पिपासाके कारण स्वामीके उपदेशसे मैत्रेयी परम कल्याणको प्राप्त हुईं।

(बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर)

आख्यान—

रैक्वका ब्रह्मज्ञान

एक बडा दानी राजा था, उसका नाम था जानश्रुति। उसने इस आशयसे कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायेंगे, सर्वत्र धर्मशालाएँ बनवा दी थीं और अन्न-सत्रादि खाल रखे थे। एक दिन रात्रिमे कुछ हस उडकर राजाके महलकी छतपर जा बैठे। उनमसे पिछले हसने अगलेसे कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष! ओ भल्लाक्ष! देख, जानश्रुतिका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है। कहीं उसका स्पर्श न कर लेना, अन्यथा वह तुझे भस्म कर डालेगा।'

इसपर दूसरे (अग्रगामी) हसने कहा—'बेचारा यह राजा तो अत्यन्त तुच्छ है, मालूम होता है तुम ब्रह्मज्ञानी रैक्वको नहीं जानते। इसीलिये इसका तेज उसकी अपेक्षा अत्यल्प होनेपर भी तुम इसकी इस प्रकार प्रशसा कर रहे हो।' इसपर पिछले हसने पूछा—'भाई! ब्रह्मज्ञानी रैक्व कैसा है?' अगले हसने कहा—'भाई! उस रैक्वकी महिमाका क्या बखान किया जाय! जुआरीका जब अनुकूल पासा पडता है, तब जैसे वह अपनी बाजी जीत लेता है, इसी प्रकार जो कुछ प्रजा शुभ कार्य करती है, वह सब रैक्वको प्राप्त हो जाता है। वास्तवमे जो तत्त्व रैक्व जानता है, उसे जो भी जान लेता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है।'

जानश्रुति इन सारी बातोको ध्यानसे सुन रहा था। प्रात काल उठते ही उसने अपने सेवकोको बुलाकर कहा—'तुम ब्रह्मज्ञानी रैक्वके पास जाकर कहो कि राजा जानश्रुति उनसे मिलना चाहता है।' राजाके आज्ञानुसार सर्वत्र खोज हुई पर रैक्वका कहीं पता न चला। राजाने विचार किया कि इन सबने रैक्वको ग्रामो तथा नगरोमे ही ढूँढा है और उनसे पुन कहा कि 'अरे जाओ, उन्हे ब्रह्मवेत्ताओके रहने योग्य स्थानो (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानो)-मे ढूँढो'।

अन्तमे वे एक निर्जन प्रदेशमे गाडीके नीचे बैठे शरीर खुजलाते हुए मिल ही गये। राजपुरुषोने पूछा—'प्रभो! क्या रैक्व आप ही हैं?' मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ।'

पता लगनेपर राजा जानश्रुति छ सौ गौएँ, एक हार और सामग्रियोसे भरा हुआ रथ लेकर उनके पास गया और बोला—'भगवन्! मै यह सब आपके लिये लाया हूँ। कृपया आप इन्हे स्वीकार कीजिये तथा जिस देवताकी आप उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिये।' राजाकी बात सुनकर मुनिने कहा—'अरे शूद्र! ये गाय, हार और रथ तू अपने ही पास रख।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और पुन दूसरी बार एक सहस्र गाय एक हार एक रथ एव अपनी पुत्रीको लेकर मुनिके पास गया तथा हाथ जोडकर कहने लगा—'भगवन्! आप इन्हे स्वीकार कर और अपने उपास्यदेवताका मुझे उपदेश दे।'

मुनिने कहा—'हे शूद्र! तू फिर ये सब चीजे मेरे लिये लाया? क्या इनसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है?' राजा चुप होकर बैठ गया। तदनन्तर राजाको धनादिके अभिमानसे शून्य जानकर उन्होने ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। जहाँ रैक्व मुनि रहते थे उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया।

(छान्दोग्य० ४।१-२)

वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एवं मैत्रीभाव

(म० म० प० श्रीविश्वनाथजी शास्त्री दातार, न्यायकेसरी, नीतिशास्त्रप्रवीण)

यूरोपीयकुशिक्षया कवलिते धर्माश्रिते भारत
लोके मानसकार्यकर्मवचनैर्दासेयतामापिते।
दु शिक्षा व्यपनीय धर्मधनुषोद्धर्तुं पुनर्भारत
सर्वस्वेन कृतोद्यमान् गुरुवरान् साष्टाङ्गपात नुम ॥

—इस मङ्गलाचरणमे वेद और भारतीयताको टिकानेम जिन गुरुआने अपना सर्वस्व समर्पित किया है, उन्ह प्रणाम करनेका सकेत प्राप्त है। उसी सकेतके अनुसरणम 'वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एव मैत्रीभाव' विषय प्रस्तुत है।

यह विषय तबतक अवगत नही होगा, जबतक वद एव भारतीयताके सम्बन्धको समझा न जाय। अत उन दोनाके सम्बन्धका निरूपण कर्तव्यतया प्राप्त है। उसके प्रति निर्णायकके रूपम इतिहास देखना हागा, उसका आरम्भ सृष्टिका आरम्भ है।

सृष्टिकी अक्षुण्ण यात्राको चलाने-हेतु प्रथमत प्रभुने विधायक कहकर नि श्वासात्मक वेदरूप शब्दराशि प्रदान की। उसका मुख्य उद्देश्य अदृष्ट सम्पत्ति प्राप्त करना समझाया है, जो एकमात्र यज्ञासे ही सम्भव है।

इसके पश्चात् दूसरा प्रश्न वेदरक्षण-सम्बन्धी है। उसका समाधान सहज नहीं है, क्याकि वदाकी पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रखना सबकी शक्तिके बाहर है। अत जो कठार सात्त्विक व्रतमे रहनेकी प्रतिज्ञा करे तथा निर्भ्रान्त हाकर उसका आचरण करे, उन्हींके द्वारा वेद एव उसकी सतेजस्कता सुरक्षित रह सकती है। उसके अनुबन्धम यज्ञहेतुतया राष्ट्रगुणसम्पन्न भूमिकी आवश्यकता साचकर सृष्टिमे यज्ञिय देशके रूपम भारतभूमि प्रकट हुई, जा अजनाभि-स्थानापन्न है। इस भारतभूमिपर आहुति प्रदत्त होती है तो वह वाष्प बनकर ऊपरकी ओर वढती हुई, सम्पूर्ण भुवनको आप्यायित करती हुई सुभिक्ष सुवृष्टि एव सुप्रजा प्राप्त करानम सहयोग देती है। यही वदकी पवित्रता तथा सतेजस्कताका परिपाक है।

स्मर्तव्य है कि भारतभूवासियाने प्रभुके सकल्प (कठोरव्रत-आचरण)-का समझ कर विश्वासके साथ वेदरक्षणका भार सहर्ष स्वीकारा, अपनको वेदोके हेतु समर्पित किया और यह भाव जबतक भारतभूमिक निवासियामे अक्षुण्ण बना रहा, तबतक दशम भारतीयता समृद्ध होती हुई देशान्तर-विजातीयताकी अनुमापक बनी रही।

वेदोने भी भारतीयताम उक्त सकल्पकी कार्यान्वयिता देखकर उसका सर्वविधहित साधनेमे सम्पूर्ण सहयोग दिया है, यहाँ तक कि भारतीयाक वचन भी वेदाके बलसे प्रमाणित हाते रहे।

इस अतीत इतिहासको देखनेसे वद एव भारतीयताके मध्यमे रहा सम्बन्ध दूसरा न होकर मैत्री-सम्बन्ध (**यस्तित्याज सचिविद सखाय न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति**—(ऋग्वेद १०।७१।६) ही स्पष्ट हो रहा है। वेदो और भारतीयताका सम्बन्ध स्थायी हानेसे अनुरागपर्यवसायी हो गया। इस सम्बन्धके याथार्थ्यको असदिग्ध वनाने-हेतु प्रभुन ब्रह्माजीके हृदयाकाशम वद ध्वनित कराया ओर कहा कि वेदाको दखकर उसके प्रति अनास्था न करत हुए सृष्टिकी रचना करनी हागी तथा उनके सरक्षणार्थ सत्त्व, पवित्रता, निर्दम्भतासे सम्पन्न पुत्रा (ऋषिया)-का निर्माण कर उन्ह वद सौंपने हागे।

वेदप्रभुका दूसरा स्वरूप शब्दब्रह्म है। अत कहना हागा कि वद शब्दमात्र नही, अपितु जीवित ईश्वरतत्त्व ही ह। यदि वे यथावत् प्राप्त हा ता ईश्वर ही प्राप्त है—ऐसा भारतीयाका समझना है, जो यथार्थ भी है।

वेदा अथवा भारतीयतामेसे किसी एक या दोनाकी अवहेलना होती रह तो ईश्वर भी उस अपमानयिता व्यक्तिसे अति दूर होकर रहते हैं, इसलिय कि वेद *जीवित हैं ता* भारतीयता जीवित हे और भारतीयता जीवित है ता वेद जीवित हैं—एसा होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

वेद एव भारतीयताका सहज मैत्रीसम्बन्ध सृष्टिके आरम्भसे ही हानके कारण श्रीराम एव लक्ष्मणजीक

मेवक-सव्य-सम्बन्धकी तरह ही सहज ह।

वेदासे आवद्ध भारतीयता एव भारतीयतासे आबद्ध वेद, मित्रताके लक्ष्य-लक्षणकी दृष्टिसे जबतक शुचिता आदि गुणासे सम्पन्न ह, तवतक वेद सखा होकर दासकी तरह भारतीयताको उज्ज्वलित करते ह। यही युक्ति वदोके प्रति व्यवहार करनेवाली भारतीय तत्त्वाम समझनी होगी। उसके मूलमे—'**यावदुपकरोति तावन्मित्र भवति, उपकारलक्षण हि मित्रम्**' (नीतिसार) यह उक्ति स्मर्तव्य हे।

वेद एव भारतीयता दोनामे सघटित मैत्री अक्षुण्ण हानपर भी वद रक्षक तथा भारतीयता रक्ष्या होनेसे वेद प्रधान (स्वामी) मान जाते ह। भारतीयता उनकी स्व (सम्पत्ति) होनेसे द्रव्य प्रकृतिके रूपम समझी जाती हे।

उपर्युक्त सख्यका समझनका निष्कर्ष अव्यक्त ईश्वरका देखनेका उपाय समझनेम हे। अत वदकी दासता स्वीकारनेका निष्कर्ष उसके वताये सनातन-विधिक पालनम है। आशय यह है कि वेदप्राक्त सनातन-विधिका पालन दासभावसे होता रहेगा ता प्रभुका कृपा या प्रसन्नता होना अवश्यम्भावी है—यही भगवदुपलब्धि हे। वेदाके द्वारा सुने गये सनातन-विधिकी विशेपता तवतक समझमे नहीं आयगी, जवतक ईश्वरकृपाप्रसादकी अवश्यम्भाविता (व्याप्यता) सदिग्ध हागी। अत उसका निरास हाना अपेक्षित ह।

चिन्त्य है कि वद ईश्वरके नि श्वास हैं अथवा ईश्वरनि श्वास ही वद ह ? यह साभाग्य लोकिक शब्दाका प्राप्त नहीं है क्याकि वे (लाकिक शव्द) जिनके नि श्वास हैं व अल्पज्ञ एव काल-देश-विशेपकी सीमासे घिरे हैं तथा अपनी काल-दश-सामाके वाहरी तत्त्वाके प्रति अनभिज्ञ हानस भ्रान्त भी हो सकत ह। वद जिनक नि श्वास ह, व काल-दश-सीमास सामित नहीं हैं, न ता अल्पज्ञ हैं। इस अन्तरका समझकर साधारण लाकका अपन नि श्वासभूत शब्दक पूज्यतार्थ प्रमाणान्तरकी अपक्षा आवश्यक है।

यदि उक्त अपक्षाम काई प्रमाण विराधितया उपलब्ध नहीं है तो लाकनि श्वासभूत शब्दकी प्रमाणता असदिग्ध ह।

यदि लाक (सिद्ध महात्माआ)-क नि श्वास ही आपसम टकरायं ता उस अवस्थाम मनापियाने यहा निणय सुनाया है कि पुरातन नि श्वासक विराधम भाजा नि श्वासरूप शब्दकी प्रमाणता सदिग्ध है। अतएव मनीषी विद्वान् स्वनि श्वासात्मक शब्दप्रमितता समझाने-हेतु पूर्ववर्ती विद्वानाके नि श्वासकी या स्वानुभव-प्रत्यक्षानुमानकी दुहाईको प्रकट करते हैं।

वेदात्माके नि श्वासमात्र उक्त लोक-नि श्वासके विपरीत हैं, क्याकि वेद अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थकी प्रमितताके प्रति एकमात्र स्वनि श्वासकी दुहाई देत हैं, जबकि नि श्वासान्तर अपने प्रमिततार्थ लोकिक प्रमाणकी दुहाई सुनाते हैं। यही ईश्वरनि श्वासकी स्वत प्रमाणता तथा लोकनि श्वासको परत प्रमाणता है।

अव प्रश्न हे कि वेदोम कोन-सा तथ्य निहित किया गया हे, जिसको समझने-हेतु यहाँ प्रथमतया वद अपेक्षित हा एव उनसे समझे गये तथ्यकी लोकयात्राके प्रति उपयागिता समझकर लोक प्रवृत्त हा।

उसक उत्तरमे गीतावाक्य स्मर्तव्य है—

सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनन प्रसविष्यध्वमेप वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

अर्थात् (१) देवता एव हविर्द्रव्य, (२) यागसे प्राप्तव्य फलके प्रति कारणता तथा (३) तत्-साधक अदृष्ट—इन तीन तत्त्वाकी आर भारतीयाको प्रवृत्त कराकर उनकी त्रिवर्गसमृद्धि पूर्ण कराना वदोकी अपनी स्वतन्त्र विशपता है। वेदाके विराध प्रातिकूल्य तथा अनभिमतम जो भी शब्दात्मक नि श्वास श्रुत हाग उनकी प्रमाणताको मनीषी लोग प्रमाणतया स्वीकार नहीं करते। वदाके चिन्तक मनीपियाको यह अनुभव अभीतक हा रहा है कि वे जब वेदाको ज्ञानभण्डार समझ कर उसम निहित एक-एक कणका शाधन करनम प्रवृत्त होते हैं ता उनका वेदाकी यथार्थतापर विस्मय हाता है इसलिये कि वदकी यथार्थवक्तृता अवाधित है। इसकी उपपत्तिका मूल सर्वज्ञ ईश्वरका अन्तर्नाद ह, जा भ्रान्तिस सर्वथा दूर है। वह नाद ईश्वरका नि श्वास है, जा उदर्य अग्निकी उच्छलित धाराकी परा वाणा ह वह सवसमथा सर्वना ह।

परमात्माक परा, पश्यन्ती एव मध्यमाक माध्यमस प्रकट उनका उदयाग्नि ज्वालाका नाद नानरूप ह तथा उसक साथ वह वण कदम्वात्मक है जसा कि शास्त्रवाक्यस स्पष्ट है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते'।

(वाक्यपदीय भर्तृहरिकृत)

ईश्वरके दीर्घजीवी अतिस्वस्थ होनेसे उनके नि श्वास नित्य एकरूप हैं, अत वेद भी एकरूप हैं। इसीलिये वेदाकी अपौरुषेयता है।

वेदाको विद्या इसलिये कहा जाता है कि उससे धर्माधर्मरूप यज्ञकी प्रक्रिया विदित होती है। इसके प्रमाणम नीतिसारीय जयमगलाका वाक्य निम्न हे—

'धर्माधर्मवेदनाद्वेदा ते च कार्यापेक्षया समुदितास्त्रयीसञ्ज्ञका ।'

इस प्रकार वेद एव भारतीयताम रहा उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्ध भी सुचिन्त्य है जा—'नाथ! तवाह न मामकीनस्त्व०' इस वाक्यसे स्मृत है। उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्धके सम्बन्धी उपास्य वेद अनेकविध ईश्वरार्चावतारामेसे एक अर्चावतार है, यह अर्चावतार वेद बाहरसे कर्मयोग एव अन्तस्तलसे भक्तियोगकी शिक्षा देता है। वेदरूप अर्चामूर्ति उपास्य होकर भारतीयोके मस्तिष्क या हृदयम भूतावेशन्यायन निवास करते हुए उनका सरक्षण करती हे तथा विरोधी तत्त्वाका उत्पीडन करती रहती है।

यह उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्ध भी ईश्वर-प्रसूत होनेसे भारतीयाके लिये उपेक्ष्य नहीं है।

वेदरूप अर्चावतारने यहाँतक छूट दे रखी हे कि उस अर्चाके एकाग्र तेजस्वी उपासक जहाँ भी रहते हा, उस स्थलीपर दव, तीर्थ ही नहीं स्वय ईश्वर भी निवास करते हैं। वेदरूप अर्चावतारकी पवित्रतापर बहुत ध्यान रखने-सम्बन्धी भारतीयतासे सम्पन्न उपासकाका इतिहास भी मननीय है। उससे यह निर्विवाद है कि वेदाकी मर्यादा भारतीय उपासकके हृदयम तभीतक है, जबतक वे वेदाकी इच्छाको समझकर दासभावम उनकी पवित्रता बनाये रखते हैं। जैसे—मन्दिर आदिमे ईश्वरकी व्यावहारिक मूर्तिके अनुरूप उनकी पवित्रताको बनाये रखना सभी भारतीयाका कर्तव्य माना जाता ह। यही तथ्य वेदाकी पवित्रताके विषयमे भी चिन्तनीय है।

उपास्य-उपासक-भावम एक तथ्य यह भी स्मरणीय हे कि मूर्तिके पूजक एक ही रहगे तो मूर्तिकी पवित्रता कथमपि टिक नहीं सकती। अत तदङ्गतया पृथक्-पृथक् कार्य करने-हेतु जो अधिकारिगण नियुक्त होत ह, वे सभी जब अपना-अपना कार्य सम्पन्न करत ह तो मन्दिरस्थ मूर्तिकी पवित्रता बनी रहती है। फलत सभी उपासक ईश्वरके प्रसादाधिकारी माने जाते है। उसी प्रकार परमेश्वरद्वारा वेदाकी शुचिताक अनुरूप उसके रक्षणाथ तत्-तत् व्यक्तियाकी नियुक्तिका स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धम द्रष्टव्य है। वह जबतक बनी रहती है तबतक भारतीयता एव वेदोके उक्त दोना पारस्परिक सम्बन्ध बने रहते ह, अन्यथा नही।

यदि उपर्युक्त दोना सम्बन्ध टिके हैं तो वदाकी तेजस्विता ओर भारतीयताका स्वातन्त्र्य, गुरुत्व, ऐश्वर्य तथा श्री आदिका स्थैर्य बना रहता हे।

वेदाने भारतीयोंके हृदयम स्वाथ (गूढार्थ) प्रकाशित करनेकी दो रीतियाँ अपनायी ह। तदन्तर्गत एक रीति रामायण आदि हे। जेसा कि—'वेद प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना' से स्पष्ट है। दूसरी रीति यह ह कि पुण्यात्माके हृदयम स्वय वेदार्थ प्रतिभासित होत रहते हैं। उनको अध्ययनकी अपेक्षा नही रहती।

उपर्युक्त दोना रीतियाके अतिरिक्त एक रीति यह स्मर्तव्य हे कि सृष्टिके आरम्भ हात ही उसके योगक्षेमार्थ प्रभुने विधान बनाकर उसका वदग्रन्थसे प्रकट कर वेदाके सुरक्षार्थ पारम्परिक वशको अधिकृत किया हे। उसकी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण भारतीयाको अकुशमे रखना सिखाया गया है। वह अकुश हे वृद्धाका आदर एव विनय। जवतक यह समाजम अक्षुण्ण रहा, तबतक वश और समाजकी रचना स्वर्णयुगसे विख्यात थी, जा अन्य समाजमे दुर्लभ है। तदितर साधारण तथ्य सोचकर साधनतया अकुश आर विनय तथा फलरूपम स्वर्णयुगकी व्यवस्था भारतीय समाजम स्थिर बनानेके विचारसे वेदाने सबके सामने कठोरता प्रकट करते हुए—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञयश्च'-का विधान किया तथा जीविका-हतु उञ्छ-शीलवृत्ति विहित की। जा अन्य समाजाके लिय उपक्षास्पद (विस्मयास्पद) हैं। अतएव उक्त वृत्तिम रहनवाले वेदापासक त्यागी कुम्भीधान्य कह गय हें।

उपर्युक्त त्यागी कुम्भीधान्य, कुटल आदि विप्राका

चिन्तन कविने निम्नरूपस किया हे—

नास्माक कटकानवाजिमुकुटाद्यालक्रिया सत्क्रिया ।
नोत्तुगस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवावर सुन्दरम्॥

सृष्टिसे लेकर अक्षुण्ण-रूपसे रहे एतिहासिक युगको भूलनेपर तद्भव परिणामको मनुजीने भारतीयाको इस प्रकार समझाया है—

अव्रतानाममन्त्राणा जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रश समेताना परिषत्त्व न विद्यते॥

(मनु० १२। ११४)

एव—

गोरक्षकान्वाणिजिकास्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकाश्चैव विप्राञ्शूद्रवदाचरेत्॥

(मनु० ८। १०२)

उपर्युक्त विवकसे वेद एव भारतीयताके उपास्य-उपासकभाव तथा मैत्रीभाव दाना सम्वन्धका पूर्णरूपेण परिचय प्राप्त कर जिन्हाने उसके सरक्षणाथ अपना बलिदान किया—उन्हींका मङ्गलाचरणमे नमस्कारका सकेत प्राप्त है।

आख्यान—

यमके द्वारपर

(श्रीशिवनाथजी दुवे, एम्० कॉम्०, एम्० ए० साहित्यरत्न धर्मरत्न)

'न देन याग्य गौके दानसे दाताका उलटे अमङ्गल हाता है'। इस विचारसे सात्त्विक बुद्धि-सम्पन्न ऋषिकुमार नचिकेता अधीर हो उठे। उनके पिता वाजश्रवस—वाजश्रवाके पुत्र उद्दालकने विश्वजित् नामक महान् यज्ञके अनुष्ठानम अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी, किंतु ऋषि-ऋत्विज् और सदस्याकी दक्षिणामे अच्छी-बुरी सभी गाएँ दी जा रही थीं। पिताके मङ्गलकी रक्षाके लिये अपने अनिष्टकी आशका हाते हुए भी उन्हाने विनयपूर्वक कहा—'पिताजी। मैं भी आपका धन हूँ, मुझे किसे दे रहे ह'—'तत कस्मै मा दास्यसीति।'

उद्दालकन काई उत्तर नहीं दिया। नचिकेताने पुन वही प्रश्न किया पर उद्दालक टाल गय।

'पिताजी! मुझ किसे द रह हैं?' नचिकताद्वारा तीसरी वार पूछनपर उद्दालकका क्राध आ गया। चिढकर उन्हान कहा—'तुम्ह दता हूँ मृत्युका'—'मृत्यव त्वा ददामीति।'

नचिकता विचलित नहीं हुए। परिणामक लिय व पहलस ही प्रस्तुत थ। उन्हान हाथ जाडकर पितास कहा—'पिताजी! शरार नश्वर है, पर सदाचरण सर्वोपरि है। आप अपन वचनका रक्षाक लिय यम-सदन जानका मुझ आज्ञा द।'

ऋषि सहम गय पर पुत्रकी सत्यपरायणता दखकर उस यमपुरी जानेकी आज्ञा उन्हाने दे दी। नचिकेताने पिताके चरणामे सभक्ति प्रणाम किया आर वे यमराजकी पुरीके लिये प्रस्थित हो गये।

यमराज काँप उठे। अतिथि ब्राह्मणका सत्कार न करनेके कुपरिणामसे वे पूर्णतया परिचित थे और ये तो अग्नितुल्य तेजस्वी ऋषिकुमार थे, जा उनकी अनुपस्थितिमें उनके द्वारपर विना अन्न-जल ग्रहण किय तीन रात बिता चुक थे। यम जलपूरित स्वर्णकलश अपन ही हाथाम लिये दाडे। उन्हान नचिकताका सम्मानपूर्वक पाद्यार्घ्य देकर अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'आदरणीय ब्राह्मणकुमार! पूज्य अतिथि हाकर भी आपने मरे द्वारपर तीन रात्रियाँ उपवासमें विता दीं, यह मेरा अपराध है। आप प्रत्यक रात्रिक लिये एक-एक वर मुझस माँग ल।'

'मृत्यो। मर पिता मर प्रति शान्त-सकल्प प्रसन्नचित आर क्रोधरहित हा जायँ आर जव मैं आपक यहाँसे लाटकर घर जाऊँ तव व मुझ पहचान कर प्रमपूर्वक बातचीत करें।' पितृभक्त वालकन प्रथम वर माँगा।

'तथास्तु' यमराजन कहा।

'मृत्या। स्वगक साधनभूत अग्निका आप भलाभाँति जानत हैं। उस हा जानकर लाग स्वगर्म अमृतत्व-देवत्वको

प्राप्त होते हैं, मैं उसे जानना चाहता हूँ। यही मेरी द्वितीय वर-याचना है।'

'यह अग्नि अनन्त स्वर्ग-लोककी प्राप्तिका साधन है'— यमराज नचिकेताको अल्पायु, तीक्ष्णबुद्धि तथा वास्तविक जिज्ञासुके रूपमे पाकर प्रसन्न थे। उन्होने कहा—'यही विराट्‌रूपसे जगत्‌की प्रतिष्ठाका मूल कारण है। इसे आप विद्वानोकी बुद्धिरूप गुहामे स्थित समझिये।'

उस अग्निके लिये जैसी ओर जितनी ईटे चाहिये, वे जिस प्रकार रखी जानी चाहिये तथा यज्ञस्थली-निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रियाँ और अग्नि-चयन करनेकी विधि बतलाते हुए अत्यन्त सतुष्ट होकर यमने द्वितीय वरके रूपम कहा—'मैंने जिस अग्निकी बात आपसे कही, वह आपके ही नामसे प्रसिद्ध होगी और आप इस विचित्र रत्नावाली मालाको भी ग्रहण कीजिये।'

'तृतीय वर नचिकेतो वृणीष्व॥'

(कठ० १। १। १९)

'हे नचिकेता, अब तीसरा वर माँगिये।' अग्निको स्वर्गका साधन अच्छी प्रकार बतलाकर यमने कहा।

'आप मृत्युके देवता हैं' श्रद्धा-समन्वित नचिकेताने कहा—'आत्माका प्रत्यक्ष या अनुमानसे निर्णय नहीं हो पाता। अत मैं आपसे वही आत्मतत्त्व जानना चाहता हूँ, कृपापूर्वक बतला दीजिये।'

यम झिझके। आत्मविद्या साधारण विद्या नहीं। उन्होने नचिकेताको उस ज्ञानकी दुरूहता बतलायी, पर उनको वे अपने निश्चयसे नहीं डिगा सके। यमने भुवन-मोहन अस्त्रका उपयोग किया—सुर-दुर्लभ सुन्दरिया और दीर्घकालस्थायिनी भोग-सामग्रियोका प्रलोभन दिया, परतु ऋषिकुमार अपने तत्त्व-सम्बन्धी गूढ वरसे विचलित नहीं हो सके।

'आप बडे भाग्यवान् हैं।' यमने नचिकेताके वैराग्यकी प्रशसा की और वित्तमयी ससारगतिकी निन्दा करत हुए बतलाया कि विवेक-वैराग्य-सम्पन्न पुरुष ही ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके अधिकारी हैं। श्रेय-प्रेय और विद्या-अविद्याके विपरीत स्वरूपका यमने पूरा वर्णन करते हुए कहा—'आप श्रेय चाहते हैं तथा विद्याके अधिकारी हैं।'

'हे भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो सब प्रकारके व्यावहारिक विषयोसे अतीत जिस परब्रह्मको आप देखते हैं, मुझे अवश्य बतलानेकी कृपा कीजिये।'

'आत्मा चेतन है। वह न जन्मता है, न मरता है। न यह किसीसे उत्पन्न हुआ है ओर न ही कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है।' नचिकेताकी जिज्ञासा देखकर यम अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे। उन्होने आत्माके स्वरूपको विस्तारपूर्वक समझाया—'वह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, शरीरक नाश हानेपर भी बना रहता है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् है। वह समस्त अनित्य शरीरोमे रहते हुए भी शरीररहित है, समस्त अस्थिर पदार्थोंम व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है। वह कण-कणमे व्याप्त है। सारा सृष्टिक्रम उसीके आदेशपर चलता है। अग्नि उसीके भयसे जलता हे, सूर्य उसीके भयसे तपता है तथा इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु उसीके भयसे दौडते है। जो पुरुष कालके गालमे जानेसे पूर्व उसे जान लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं, तथा शोकादि क्लेशाका पार करके परमानन्दको प्राप्त कर लेते हैं।'

यमने आगे कहा—'वह न तो वेदके प्रवचनसे प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धिसे मिलता हे और न केवल जन्मभर शास्त्रोके श्रवणसे ही मिलता है'—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

(कठोपनिषद् १। २। २३)

'वह उन्हींको प्राप्त होता है, जिनकी वासनाएँ शान्त हो चुकी हैं, कामनाएँ मिट गयी हैं और जिनके पवित्र अन्त करणको मलिनताकी छाया भी स्पर्श नहीं कर पाती तथा जो उसे पानेके लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाते है।'

आत्मज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद उद्दालक-पुत्र कुमार नचिकेता लौटे ता उन्होने देखा कि वृद्ध तपस्वियाका समुदाय भी उनके स्वागतार्थ खडा है।

('कठोपनिषद्')

वेदोमे शरणागति-महिमा

(स्वामी श्रीआकारानन्दजी सरस्वती)

साधनाके मार्गमें शरणागतिका सबसे ऊँचा स्थान है। किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो उसे बिना प्रभुके निकट आत्मनिवेदन किये प्रभुप्रसाद प्राप्त ही नहीं हो सकता। साधकको आत्मसमर्पणसे दूर रखनेवाली वस्तु 'अहंकार' है। यही अहंकार साधकका परम शत्रु है। यह अहंकार प्रभुका भोजन है। प्रेमदर्शनमें यह बात स्पष्टरूपसे बतलायी गयी है—

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥

अर्थात् ईश्वरको अभिमान अप्रिय है और दैन्य—नम्रभाव ही प्रिय है। गोस्वामीजीने भी यही भाव प्रकट करते हुए कहा है—

'जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना ॥

असावधान साधकमें साधना और सिद्धियाँ तथा ज्ञान एवं कर्म भी कभी-कभी अहंकार उत्पन्न कर देते हैं। यह चोर अहंकार साधकके हृदय-मन्दिरमें इस प्रकार चुपचाप प्रवेश कर जाता है कि उसे भान भी नहीं होता। यह कपटी चोर मित्रका रूप धारण कर जबतक आत्माका सब धन चुरा नहीं लेता, तबतक दम भी नहीं छोड़ता। यह तो आत्माका सर्वनाश करके भी हटना नहीं चाहता। साधनाके आरम्भ, मध्य और अन्तमें कहीं, किसी प्रकार भी यह दुष्ट अहंकार अपना पैर न जमाने पाये इसीमें साधककी सावधानी और विजय है। छोटा-सा अहंकार भी आत्माको परमात्मासे पृथक् ही रखेगा। प्रभुकी शरण जाना कायरता नहीं, अपितु बुद्धिमानी और वीरता है। महान् ही नम्र हुआ करते हैं। महिकी महानता उसकी नम्रतामें ही है। ईश्वरप्रणिधान साधकका परम हितैषी बनकर उसे अहंकार-जैसे भयंकर शत्रुसे बचा लेता है। प्रभु-शरण ही अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचानेका एकमात्र सच्चा साधन है। इसीलिये तो नारदजीने भक्त साधकोंको 'अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्' इन शब्दोंद्वारा चेतावनी दी है और अहंकारको त्याज्य बतलाया है।

परमात्मप्रदत्त ज्ञानके भण्डार वेदोंमें शरणागतिकी विशेष महिमा है। चारों वेदोंमें जहाँ ज्ञान कर्म और उपासनाका वर्णन है, वहीं प्रभुकी शरण जानेका भी आदेश है। बिना प्रभुकी शरणके मरण है। वेदप्रतिपादित शरणागति ऋग्वेद (१०।१४२।१)-के निम्नाङ्कित मन्त्रमें देखिये—

अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम्।
भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि॥

तात्पर्य यह कि हे प्रकाशस्वरूप प्रभु! इस स्तोताको हिंसक काम-क्रोधादिके वज्रसे बचा, ये वज्र कहीं चोट न कर दें। भक्त तेरी शरण आ गया है। तू ही सबसे बली है। तेरी शरण सचमुच तीनों (प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा)-में भद्र अथवा कल्याणकारी है।

मनुष्य इस संसारमें जहाँ कहीं भी नाते जोड़ता है, वे अन्तमें सब टूट ही जाते हैं। जहाँ संयोग है, वहीं वियोग भी है। कोई सम्बन्ध स्थायी दिखायी नहीं देता। मनुष्यकी भाग्य-नैयाको भवसागरसे पार लगानेवाला कोई योग्य नाविक दृष्टिगोचर नहीं होता। दुःखी मानव एक सच्चे मित्र और सहायककी खोजमें है। वह एक स्थायी आश्रय चाहता है। वह आश्रयार्थी बनकर सभी शक्तिशालियोंका द्वार खटखटा आया परंतु किसीने शरण न दी। कहीं थोड़ी देरके लिये शरण मिली भी, वह अबाध नहीं रही। उस क्षणिक आश्रयमें कुछ ही समय पश्चात् दोष दिखायी दिया, परंतु जिज्ञासुको एक निर्दोष आश्रयकी आवश्यकता है। उसने भाई, बहन पिता, माता, मित्र सभीका आश्रय ग्रहण करके अनुभव किया कि इनमेंसे कोई स्थायी और सुखदायी नहीं है। ये सारे सम्बन्ध झूठे सिद्ध हुए। तब उसके मुखसे सहसा यही वेदवाणी निकली—'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता' (यजु० ३२।१०)—अरे पागल! वही प्रभु ही तेरा सच्चा बन्धु, माता पिता और विधाता है। अब आश्रय ढूँढते-ढूँढते उसे अन्तमें मिल ही गया। यह प्रभुका चरण ही सर्वाश्रय और सर्वाधार है। इतनी कठिनाइयोंके पश्चात् प्राप्त हुए इस आश्रयको भक्त किसी दशामें छोड़ना नहीं चाहता। वह अपने प्रभुको पुकार-पुकार कर कहने लगा—

'अयमग्ने जरिता त्वे अभूत्।'

यह दास अब हर प्रकारसे तेरे ही सहारे रहता है। इसका अब इस ससारमे कोई दूसरा सहारा ही नहीं रहा। भला अथवा बुरा, यह तेरा दास जैसा भी हो, परतु है तो तेरा ही—तेरे द्वारका एक भिखारी ही। प्रभु! इसे अपना ले। इसे शरण दे। इस शरणागत भक्तकी दशा महात्मा श्रीतुलसीदासके शब्दामे—

'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।'

—जैसी हो गयी है। अब भक्त प्रभुका है और प्रभु भक्तके हैं।

ऋग्वेदके मन्त्रमे भी शरणागतिके रहस्यको खोलनेवाली कुजी इतने शब्दोमे ही निहित है—

'भद्र हि शर्म त्रिवरूथमस्ति ते॥'

यहाँ यह बतलाया गया है कि तीनो शरणामे प्रभुकी शरण ही सचमुच सर्वश्रेष्ठ है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन-कौनसे तीन प्रकारके शरण हैं, जिनका आश्रय आत्मा ले सकता है? इसके उत्तरम यही कहा जा सकता है कि (१) प्रकृति, (२) जीवात्मा और (३) परमात्मा—ये ही तीन प्रकारकी सत्ताएँ हैं, जहाँ जीव सहारा खोजा करता है। जिज्ञासु साधकने प्रकृतिसे सम्बन्ध जोडकर यह निश्चय कर लिया कि यह स्वय जड है। यह चेतनकी क्या सहायता कर सकती है? यह तो मायास्वरूप है। यह तो मरु-मरीचिकाके समान दूसरे प्यासेको बुलाकर प्यासा ही छोड देती है। यह धोखेबाज है। साधक बहुत परिश्रम और गुरुज्ञानद्वारा इसके चगुलसे निकल भागा है। तब उसने इसका नाम, 'माया-ठगनी' रखा है। जीव स्वामी है, प्रकृति 'स्व' है। जीव चेतन है प्रकृति अचेतन है। उस जडप्रकृतिम क्रिया, चेष्टा और गतिका आघात यह चेतन जीव ही करता है। अत दासीके शरणमे स्वामी क्यो जाय? तब क्या जीवात्मा, दूसरे जीवात्माकी शरणमे जाय? नहीं। यह भी नहीं! इससे क्या लाभ? शरण तो अपनेसे महान्के जाया जाता है। जीवात्मा तो स्वय अल्पज्ञ और ससीम है। रोग-भोगमें पडा हुआ जीवात्मा दूसरेको क्या परम सुख देगा? अविद्या और अन्धकारमे पडा हुआ जीवात्मा दूसरे जीवात्माको कहाँतक विद्या और प्रकाश दे सकेगा, यह विचार करना चाहिये। जीवात्माको तो उस असीम, ज्ञानके भण्डार, प्रकाशस्वरूप प्रभुकी खोज है। जबतक उसे वह महासत्ता नहीं मिल जाती, तबतक उसे चैन नहीं। इस व्यग्रता तथा श्रद्धापूर्ण खोजने अन्तम जीवात्माको परमात्माके द्वारतक पहुँचा दिया। तब उसे पता चला कि यह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही सबसे बली और प्रकृति तथा जीवका अधिष्ठाता है। तभी वह अति प्रसन्न होकर आवेशमे बोल उठा—'प्रभु! तेरी ही शरण तीनोम श्रेष्ठ है।' अब भक्तकी एकमात्र भक्ति प्रभुचरणोसे ही हो गयी। उसीकी शरणम उसे सुख-शान्तिका अनुभव हुआ। भक्ति बिना प्रेम नहीं, प्रेम बिना सब कुछ फीका ही है, रस तो प्रेममे ही है, परतु यह विचित्र रस प्रभु उन्हींको देनेकी कृपा करता है जो उसके हो गये हैं। माताकी गोदम पडे हुए शिशुके समान जिसने अपनेको प्रभुके चरणोमे डाल दिया है, उसीको प्रभु माताके समान प्यार भी करता है। इस प्रकारकी भक्ति बिना शरणागतिके कहाँ मिल सकती है! भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। इस सत्यको भक्तराज नारदजीने भी इन शब्दाद्वारा स्वीकार किया है—

'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी।'

अर्थात् तीनो सत्याम भक्ति ही श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठ भक्तिका साधन शरणागति है।

अब साधकको पता तो चल गया कि परम भक्ति शरणागतिद्वारा प्राप्त हो जाती है, परतु उसे साधनाके पथमे नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ मिल रही हैं। इस भौतिक जगत्म रहकर साधकको उस अभौतिक सत्ताको प्राप्त करना है। लोकम विषमता-ही-विषमता दीख रही है। विषम-अवस्थाम प्रभु-प्रेम मिल ही नहीं सकता। ईर्ष्या, द्वेष, मोह, मत्सर, क्रोधके कारण मनुष्य एक-दूसरेका शत्रु हो रहा है। धोखा, अशुचिता, असतोष, विलास, असत्य, प्रलाप और नास्तिकता आदि नाना प्रकारकी पाप-भावनाओका साम्राज्य है और इन्हीं परिस्थितियाम साधकको साधना करनी है। वह पापके प्रचण्ड पावकके लपलपाती हुई लपटोसे जला-भुना-सा जा रहा है। उसे एक शीतल छायाकी आवश्यकता है। झुलसते हुए ससारमे वह 'शीतल छाया' कहाँ मिलनेको? मानसिक चिन्ता और उद्वेगकी इस दशाम उसे वेद-वाणी सुननेको मिली—'यस्यच्छायामृत०' रे जीव! जिसकी छाया अमृतके समान है, तू उसीकी छायाम जा। बस, इतना सकेत मिलते ही वह श्रद्धालु भक्त ऋग्वेद (२।२७।६)-के शब्दामे ही बोल उठा—'यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म' प्रभो! हम अपनी अबाध

शरण दे, तेरी शरणक बिना मरण है। अपनी अमृतस्वरूप छत्रच्छाया हमारे ऊपर फैला दे—अपन ही अमरपथका पथिक बना दे। प्रभो! तूने स्वय ही अपनी वेद-वाणीद्वारा बतलाया है—'सुगो हि वो पन्था साधुरस्ति' अर्थात् भक्तिद्वारा तेरा पथ सुगम और उत्तम रूपसे प्राप्य है। जीवन-मरणके काल-चक्रके ऊपर चढा हुआ जीव अनन्त दु खोको भोग रहा है। उसे सच्चे सुखका पता ही नहीं है। उसीकी खोजम वह महात्माओ और सतोके पास दौड रहा है। गुरुजनोके मुखसे उसने ऋग्वेद (१।१५४।५)-का यह वचन सुना—'विष्णो पदे परमे मध्व उत्स ' अथात् विष्णुके परमपदम ही, मधु—अमृतका कूप हे। बस, अब साधकको विष्णुके चरणातक पहुँचनेकी आवश्यकता है। उन चरणोका चरणामृत ही उसे सदाके लिय दु खासे छुटकारा दिला सकता है। विष्णुधाम ही सुखधाम है, प्रभुका चरण ही सर्वश्रेष्ठ शरणालय है। गोस्वामीजीके शब्दाम वह साधक उस 'व्यापक, अविगत, गोतीत, पुनीत, मायारहित सच्चिदानन्द प्रभुकी शरणकी याचना करता हुआ बार-बार प्रभुके द्वारपर नतमस्तक होते हुए कह रहा है'—

भव बारिधि मंदर सब बिधि सुदर गुनमदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा॥

अब उसे पाप-तापहारी शरणागतिरूप साधनका ज्ञान पूर्णरूपम हा गया है। उसने प्रभुको ही हर प्रकार पूर्ण पाकर उसीकी शरण लेनका निश्चय किया है। उसकी श्रद्धा और भक्ति अटल है। वह जान चुका है कि शरणागति ही परम पुरुपार्थ हे। उस कृपालु प्रभुका यह स्वभाव है कि वह अपने शरणापन्नका कभी त्याग नहीं करता। शरणागत भक्तको हृदयसे लगा लेता है। उसे अजर कर देता है, अमर कर देता है, शान्त कर देता है। अन्तमे उसी अबाध शरणकी याचना प्रभुसे ऋग्वेद (१।१८।७)-के शब्दामें करता हुआ साधक उसीकी प्रेरणा और कृपाकी आशामें टकटकी लगाये बैठा है—

'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीना योगमिन्वति॥'

कृपासिन्धुका कृपा बिना कब यज्ञ मनोरथ होते सिद्ध।
दे प्रेरणा शरण-आगतको भक्तियोगमे है परिवृद्ध॥

~~~

आख्यान—

शौनक-अङ्गिरा-संवाद

महाशाल शौनक हाथम समिधा लिये श्रीअङ्गिराक आश्रमम पहुँचे। वहाँ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परम ऋषि अङ्गिराके समीप प्रणामादि विधिपूर्वक उपस्थित हाकर उन्हान यह प्रश्न किया—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति?

'भगवन्! वह कोन-सी विद्या है, जिसके जान लेनपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?'

अङ्गिरा—ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि दो विद्याएँ जानन योग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा।

शौनक—अपरा विद्या किसका कहते हैं और परा विद्या किसका कहते हैं?

अङ्गिरा—ऋग्वद यजुर्वेद, सामवद अथववद शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष—य अपरा विद्या हैं और परा विद्या वह है जिससे उस अक्षरब्रह्मका बाध हाता है।

शौनक—यह अक्षरब्रह्म क्या है?

अङ्गिरा—वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि-रहित है, जा अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूताका कारण है उसे धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

शौनक—सर्वत्र यह जो विश्व दिखायी दता है, वह ब्रह्मसे कैसे उत्पन्न होता है?

अङ्गिरा—जैसे मकडा अपना जाला बनाती और चाहे जब उसे समेट लेती है जैसे पृथ्वीसे वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं जैसे सजीव पुरुपस कश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षरब्रह्मसे यह विश्व उत्पन्न होता है।

शौनक—ब्रह्मसे विश्वकी यह उत्पत्ति जिस क्रमस हाती है, वह क्रम क्या है?

अङ्गिरा—

तपसा चीयत ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणा मन सत्य लाका कर्मसु चामृतम्॥

'उत्पत्तिविधिका जा ज्ञान है उस ज्ञानरूप तपस सूक्ष्मातिसूक्ष्म
~~~

ब्रह्म स्थूलताको प्राप्त होता है, उसी स्थूलतासे अन्न उत्पन्न होता है, अन्नसे क्रमश प्राण, मन, सत्य, लोक और कर्म तथा कर्मसे अमृत उत्पन्न होता है।'

य सर्वज्ञ सर्वविद्यस्य ज्ञानमय तप ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्न च जायते॥

'वह जो सर्वज्ञ है (सबको समानरूपसे एक साथ जाननेवाला है), जो सर्वविद् है (सबमे प्रत्येकका विशपज्ञ है), जिसका ज्ञानमय तप है, उसी अक्षरब्रह्मसे यह विश्वरूप ब्रह्म, यह नामरूप और अन्न उत्पन्न होता है।'

शौनक—भगवन्! वह अव्यय पुरुष जो इस विश्वका मूल है, कैसे जाना जाता है?

अङ्गिरा—

तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वासो भैक्ष्यचर्या चरन्त ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति
यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

'जो शान्त और विद्वान् लाग वनमे भिक्षावृत्तिसे रहते हुए तप और श्रद्धाका सेवन करते हैं, व शान्तरज होकर सूर्यद्वारसे वहाँ जाते हैं, जहाँ वह अमृत अव्यय पुरुप रहता है।'

शौनक—भगवन्! सूर्यद्वारस उस अव्यय धामको प्राप्त करनेका साधन क्या है?

अङ्गिरा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्॥

'कर्मसे जा-जो लोक प्राप्त होते हं, उनकी परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो ले, क्याकि ससारमे अकृत नित्य पदार्थ कोई नहीं है, अत कृत कर्मसे हमें क्या प्रयोजन है। तब वह उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हाथमे समिधा लकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाय।'

'तब वे विद्वान् गुरु उस प्रशान्तचित्त जितेन्द्रिय शिष्यका उस ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हैं, जिससे उस सत्य और अक्षरपुरुषका ज्ञान होता है।'

'उसी अक्षरपुरुषसे प्राण उत्पन्न होता ह, उसीसे मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।'

'अग्नि (द्युलोक) उसका मस्तक है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हे, प्रसिद्ध वेद वाणी है, वायु प्राण हे, विश्व हृदय है, उसके चरणासे पृथिवी उत्पन्न हुई हे, वह सब प्राणियाका अन्तरात्मा हे।'

'बहुतसे जो देवता हैं, वे उसीसे उत्पन्न हुए हैं। साध्यगण, मनुष्य, पशु-पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि-यव, तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और विधि—ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं।'

शौनक—सत्यस्वरूप पुरुपसे ये सब उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् विकारमात्र हें और पुरुप ही केवल सत्य है, ऐसा ही समझना चाहिये?

अङ्गिरा—नही, यह सारा जगत्, कर्म और तप स्वय पुरुप ही है, ब्रह्म ह, वर है, अमृत ह। इस गुहामे छिपे हुए सत्यको जा जानता है वह, हे सोम्य! अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर देता हे।

'वह दीप्तिमान् है, अणुसे भी अणु है, उसमे सम्पूर्ण लोक और उनके अधिवासी स्थित ह। वही अक्षरब्रह्म है, वही प्राण हे, वही वाणी ओर वही मन है। वही सत्य तथा अमृत है। वही वेधने याग्य है। ह सोम्य! तुम उसको वेधो।'

शौनक—भगवन्! उसका वेधन कैसे किया जाय?

अङ्गिरा—'हे सोम्य! औपनिषद महास्त्र लकर उपासनासे तीक्ष्ण किया हुआ बाण उसपर चढाओ और उसे तद्भावभावित चित्तसे खीचकर उस अक्षरब्रह्मलक्ष्यका वेधन करो।'

शौनक—भगवन्! वह ओपनिषद महास्त्र क्या है, वह बाण कौन-सा है और उससे लक्ष्यवेध कैसे करना चाहिये?

अङ्गिरा—'प्रणव ही वह (महास्त्र) धनुष है, आत्मा ही बाण है और वह ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमादरहित (सावधान) होकर उस लक्ष्यका वध करनके लिये बाणके समान तन्मय हाना चाहिय।'

'जिसमे द्युलाक, पृथिवी, अन्तरिक्ष आर मन सब प्राणाके सहित बुना हुआ है, उसी एक आत्माको जानो, अन्य वाणीको छोडो यही अमृतका सेतु है।'

'रथचक्रकी नाभिमे जिस प्रकार अर लगे होते हैं, उसी

प्रकार जिसमे सब नाडियाँ जुडी हैं, वही यह अन्तर्वर्ती आत्मा है, जो अनेक प्रकारसे उत्पन्न हाता है। उस आत्माका 'ॐ' से ध्यान करा। तम (अज्ञान)-को पार करनेकी इच्छावाले तुम्हारा कल्याण हो।'

'जा सर्वज्ञ ओर सवविद् है, जिसकी यह महिमा भूलोकमे है, वही यह आत्मा ब्रह्मपुर आकाशमे स्थित है। वह मनोमय प्राण-शरीरका नेता ह (मन और प्राणको एक दहसे दूसरी देहमे, एक लोकसे दूसर लोकमे ले जाता है) और अन्नमय शरीरमे वह हृदयका आश्रय ग्रहण करके रहता है। उसके विज्ञानको प्राप्त होकर धीर पुरुष उस प्रकाशमान आनन्दरूप अमृतको सर्वत्र देखते हैं।'

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सवसशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

'उस परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सब सशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म भी इसके क्षीण हा जाते हैं।'

'वह अमृत ब्रह्म ही आगे ह, वही पाछे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है, वही नीचे है, वही ऊपर ह, यह सारा विश्व वही वरिष्ठ ब्रह्म ही तो है।'

शौनक—उस ब्रह्मके साथ इस जीवका कैसा सम्बन्ध है?

अङ्गिरा—ये दाना (ब्रह्म और जीव) ही सुन्दर पक्षवाले दो पक्षिया-जैसे एक ही वृक्षका आश्रय किये हुए दा सखा हैं। इनमसे एक उस वृक्षक फलाको खाता है और दूसरा नहीं खाता, केवल दखता है। जा इन फलाको खाता है वह दीन (अनीश) होकर शोकको प्राप्त होता है। यही जब दूसरेको ईशरूपमे देखकर उसकी महिमाको देखता है, तब यह भी वीतशाक हा जाता है। जगत्कर्ता ईश पुरुषको दखकर यह पाप-पुण्य दोनाको त्याग कर निरञ्जन हो परम साम्यको प्राप्त हाता है।

शौनक—उस ईश पुरुषको देखनेका उपाय क्या है?

अङ्गिरा—सत्य, तप सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे विशुद्धात्मा यागीजन अन्त शरीरमे इस ज्योतिर्मय शुभ्र रूपमे दखते हैं। वही आत्मा ह। वह बृहत् है दिव्य है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूर-से-दूर और समीप-से-समीप है। वह दखनेवालाके हृदयकी गुहामे छिपा हुआ रहता ह। वह आँखसे नहीं दिखायी देता, वाणीसे या अन्य इन्द्रियोसे अथवा तप या कर्मसे भी नहीं जाना जाता। ज्ञानके प्रसादसे अन्त करण विशुद्ध होनेपर उस निष्कल पुरुषका साक्षात्कार हाता है। एसा साक्षात्कार जिसे होता है, वह जो कुछ सकल्प करता है वह सिद्ध हो जाता है। वह सकल्पमात्रसे चाहे जिस लाक या भोगको प्राप्त कर सकता है। ऐसे पुरुषकी जा उपासना करता है, वह भी बन्धनमुक्त होकर आत्माको प्राप्त कर लेता है।

शौनक—आत्माका कथन करनेवाले शास्त्रोके प्रवचनसे क्या इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती?

अङ्गिरा—नहीं,

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम्॥

'यह आत्मा प्रवचनसे नहीं, मेधासे नहीं, बहुत श्रवण करनसे भी नहीं मिलता। यह जिसका वरण करता है, उसीको यह प्राप्त हाता है। उसके सामने यह आत्मा अपना स्वरूप व्यक्त कर देता है।' जा बल अप्रमाद, सन्यास और ज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है आत्मा उसे अपने धाममे ले आता है।

शौनक—जो काई आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है, उसकी क्या स्थिति होती है?

अङ्गिरा—जो उस परब्रह्मको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता हे और उसक कुलमे कोई अब्रह्मविद् नहीं होता। वह शोकको तर जाता है, पापका पार कर जाता है, हृदयग्रन्थियासे विमुक्त होकर अमृत-पदको प्राप्त हो जाता है।

शौनक—भगवन्! ऐसी इस ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन हाता हे यह कृपापूर्वक बताइय।

अङ्गिरा—जा क्रियावान् हैं श्रोत्रिय हैं, ब्रह्मनिष्ठ हैं, श्रद्धापूर्वक जो एकर्षि-हवन करते हैं और जिन्हान विधिपूर्वक शिरोव्रतका अनुष्ठान किया ह उनसे यह ब्रह्मविद्या कहे।

इस प्रकार महाशाल (महागृहस्थ) शौनकके प्रश्न करनपर महर्षि अङ्गिराने यह सत्य कथन किया। जिस किसाने शिराव्रतका अनुष्ठान नहीं किया है, वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता।

वेदोंमे ईश्वर-भक्ति

(श्रीराजेन्द्रप्रसादजी सिह)

कुछ लोगोका कहना है कि वेदाम ईश्वर-भक्तिका समावेश नहीं, परतु विचार करनेसे पता लगता है कि वेदाम ईश्वर-भक्तिके विषयम जो मन्त्र विद्यमान है, वे इतने सारगर्भित तथा रससे भरे पडे हैं कि उनसे बढकर भक्तिका सोपान अन्यत्र मिलना कठिन है। ईश्वर-भक्तिके सुगन्धित पुष्प वेदके प्रत्येक मन्त्रमे विराजमान हैं, जो अपने प्राणकी *सुगन्धसे स्वाध्यायशील व्यक्तियोके हृदयाको सुवासित कर* देते हैं। वेदमे एक मन्त्र आता है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रः रसया सहाहु ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० २५।१२)

'जिसकी महिमाका गान हिमसे ढके हुए पहाड कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग समुद्र अपनी सहायक नदियोके साथ सुना रहा हे और ये विशाल दिशाएँ जिसकी बाहुआके सदृश हैं, उस आनन्दस्वरूप प्रभुको मेरा नमस्कार हे।'

प्रभुकी महिमा महान् है। अणु-अणुम उसकी सत्ता विद्यमान है। ये सूर्य-चन्द्र, तारे तथा ससारके सारे पदार्थ उसकी सर्वव्यापकताके साक्षी हं। उषाकी लालिमा जब चतुर्दिक् छा जाती है, भाँति-भाँतिके पक्षी अपने विविध कलरवोसे उसीकी भक्तिके गीत गाते हैं। पहाडी झरनाम उसीका सगीत है। जिस प्रकार समाधिकी अवस्थाम एक योगी बिलकुल निश्चेष्ट होकर ईश्वरके ध्यानमे लीन हो जाता है, उसी प्रकार ये ऊँचे-ऊँचे पहाड अपने सिराको हिमकी सफेद चादरसे ढककर ध्यानावस्थित हो अपने निर्माताकी भक्तिमे मौन-भावसे खडे हैं।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि भक्तिक आवेशमे ईश्वर-भक्तकी आँखासे प्रेमके अश्रु छलक पडते हैं। उसी प्रकार पर्वतोके अदरस जो नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, वे ऐसी लगती हे मानो उन पर्वताके हृदयसे जल-धाराएँ भक्तिके रूपमे निकल पडी ह। जैसे ईश्वर-भक्तके हृदयमे लहराते हुए परमात्म-प्रेमके अगाध सिन्धुम नाना प्रकारकी तरगें उठती ह, उसी प्रकार आकपण-शक्तिके द्वारा जिसे प्रभुने समुद्रके हृदयम डाल रखा है, उस प्रेमकी ज्वारभाटाके रूपमे विशाल लहरे समुद्रम पेदा होती हैं। यह *प्रेम समुद्रके हृदयम किसने पैदा किया? समुद्र और* चन्द्रमाके बीच जा आकर्षण-शक्ति है, यह कहाँसे आयी? किस महान् शक्तिकी प्रेरणासे पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाके पूर्ण विकसित चेहरेको देखकर समुद्र अपने प्राणप्रिय चन्द्रदेवसे मिलनेके लिये बाँसा उछलता है? ठीक इसी प्रकार जब ईश्वर-भक्त परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसका हृदय भी गद्गद होकर उसकी ओर आकर्षित हा जाता हे। यह सच है कि प्रकृति देवी धानी साडी पहने हुए अपने पतिदेव परमात्माकी भक्तिम दिन-रात लगी रहती है। एक वाटिकाके खिले फूल अपनी आकर्षक सुरभिके साथ मूक स्वरसे अपने निर्माताका स्तवन करते रहते हैं। सूर्यकी प्रचण्डता, चन्द्रकी शीतल ज्योत्स्ना, ताराआका झिलमिल प्रकाश अरोरा बोरियालिसका उत्तरी ध्रुवम प्रकाशित होना तथा आस्ट्रेलिसका दक्षिणी ध्रुवम उदय होना, हिमाच्छादित पर्वत-मालाएँ, कलकल करती हुई सरिताएँ, झरझर झरते हुए झरने मानो अपने निर्माताकी भक्तिके गीत सदा गाते रहते हैं।

वेदभगवान् हम आदेश देते हैं कि वह ईश्वर जिसकी महिमाका वर्णन ये सब पदार्थ कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है—हे मनुष्य। यदि दु खोसे छूटना चाहता हे तो तू भी उसीकी भक्ति कर। इसक अतिरिक्त दु खासे छूटनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं हे।

'आरोहणमाक्रमण जीवताजीवतोऽयनम्॥' (अथर्व० ५।३०।७)
उन्नत होना और आगे बढना प्रत्येक जावका लक्ष्य हे।

वेदोंमें गो-महिमा

इस संसारमें 'गौ' एक महनीय, अमूल्य और कल्याणप्रद पशु है। गौकी महिमाका उल्लेख वेदादि सभी शास्त्रोंमें मिलता है। गो (गौ) भगवान् सूर्यदेवकी एक प्रधान किरणका नाम है। सूर्यभगवान्के उदय होनेपर उनकी ज्योति, आयु और गो—ये तीनों किरणें स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंमें यथासम्भव न्यूनाधिक्यरूपमें प्रविष्ट होती हैं, परंतु इनमें सूर्यभगवान्की 'गो' नामकी किरण केवल गो-पशुमें ही अधिक मात्रामें समाविष्ट होती है। अतएव आर्यजाति इस पशुको 'गौ' नामसे पुकारती है।

'गो' नामक सूर्य-किरणकी पृथ्वी स्थावरमूर्ति और गौ-पशु जंगममूर्ति है। शास्त्रोंमें दोनोंको 'गो' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। ये दोनों ही अनन्तगुणसम्पन्न भगवान् विराट्के स्वरूप हैं।

शुक्लयजुर्वेदमें गौ और पृथ्वी—इन दोनोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया गया है कि 'कस्य मात्रा न विद्यते?' (किसका परिमाण (उपमा) नहीं है) [शुक्लयजु० २३।४७]। इसका उत्तर दिया गया है—'गोस्तु मात्रा न विद्यते' (गौका परिमाण (उपमा) नहीं है) [शुक्लयजु० २३।४८]।

गौ और पृथ्वी—ये दोनों गौके ही दो स्वरूप हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। गौ और पृथ्वी—इन दोनोंमें अभिन्नता है। ये दोनों ही परस्पर एक-दूसरेकी सहायिका और सहचरी हैं। मृत्युलोककी आधारशक्ति 'पृथ्वी' है और देवलोककी आधारशक्ति 'गौ' है। पृथ्वीको 'भूलोक' कहते हैं और गौको 'गोलोक' कहते हैं। भूलोक अधोलोक (नीचे)-में है और गोलोक ऊर्ध्वलोक (ऊपर)-में है। भूलोककी तरह गोलोकमें भी श्रेष्ठ भूमि है।

जिस प्रकार पृथ्वीपर रहते हुए मनुष्योंके मल-मूत्रादिक त्यागादिक कुत्सित आचरणोंको पृथ्वी-माता सप्रेम सहन करती है उसी प्रकार गो-माता भी मनुष्योंके जीवनका आधार होती हुई उनके वाहन, निरोध एवं ताडन आदि कुत्सित आचरणोंको सहन करती है। इसीलिये वेदोंमें पृथ्वी और गौको 'मही' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। मनुष्योंमें भी जो सहनशील अर्थात् क्षमी होते हैं, वे महान् माने जाते हैं। संसारमें पृथ्वी और गौसे अधिक क्षमावान् और कोई नहीं है। अतः ये दोनों ही महान् हैं।

शास्त्रोंमें गौको सर्वदेवमयी और सर्वतीर्थमयी कहा गया है। अतः गौके दर्शनसे समस्त देवताओंके दर्शन और समस्त तीर्थोंकी यात्रा करनेका पुण्य प्राप्त होता है। जहाँ गौका निवास होता है, वहाँ सर्वदा सुख-शान्तिका पूर्ण साम्राज्य उपस्थित रहता है। गो-दर्शन, गो-स्पर्शन, गो-पूजन, गो-स्मरण, गो-गुणानुकीर्तन और गो-दान करनेसे मनुष्य सर्वविध पापोंसे मुक्त होकर अक्षय स्वर्गका भोग प्राप्त करता है। गौओंकी परिक्रमा करनेसे ही बृहस्पति सबके वन्दनीय, माधव (विष्णु) सबके पूज्य और इन्द्र ऐश्वर्यवान् हो गये।

गौके गोबर, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोघृत और गोदधि आदि सभी पदार्थ परम पावन, आरोग्यप्रद, तेजःप्रद, आयुवर्धक तथा बलवर्धक माने जाते हैं। यही कारण है कि आर्यजातिके प्रत्येक श्रौत-स्मार्त शुभ कर्ममें पञ्चगव्य और पञ्चामृतका विधान अनादिकालसे प्रचलित और मान्य है।

गौके जब बछड़ी-बछड़े पैदा होते हैं, तब सर्वप्रथम वे केवल अपनी माताके दुग्धका पान करके ही तत्क्षण वायुके वेगके सदृश दौड़ने लगते हैं। संसारमें गोवत्सके अतिरिक्त अन्य किसी भी मनुष्यसे लेकर कीट-पतंगादि तकके प्राणीके नवजात शिशुमें इस प्रकारकी विचित्र शक्ति और स्फूर्ति नहीं पायी जाती, जो 'गोवत्स' की तरह उत्पन्न होते ही इतस्ततः दौड़ने लग जाय। इसीलिये मानव-जातिमें जब बालक पैदा होते हैं, तब उन्हें सर्वप्रथम मेधाजननके लिये 'मधुघृते प्राशयति घृतं वा' (पार० गृ० सू० १।१६।४)—इस सूत्रके अनुसार मधु और गोघृतमें सुवर्ण घिसकर अथवा केवल गोघृतमें सुवर्ण घिसकर वह पदार्थ बालकको चटाया जाता है, तत्पश्चात् उसे गौका दूध पिलाया जाता है। अतएव गौको 'माता' कहा जाता है।

हमारी माताएँ हमें बाल्यावस्थामें ही अधिक-से-अधिक दो-ढाई सालतक अपना दुग्ध पिलाकर हमारा इहलोकमें ही कल्याण करती हैं, किंतु गोमाता हमें

आजीवन अपना अमृतमय दुग्ध पिलाकर हमारा इहलोकमे पालन-पोषण करती है और हमारी मृत्युके बाद वह हमे स्वर्ग पहुँचाती है, जैसा कि अथर्ववेद (१८।३।४)-मे भी कहा है—

'अय ते गोपतिस्त जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्॥'

'धन च गोधन प्राहु ' के अनुसार विद्वानाने 'गौ' को ही असली धन कहा है।

वेदाम गा-महिमापरक अनक मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनमेसे कुछ मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते ह—

ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परम पदमव भाति भूरि॥

(ऋग्वेद १।१५४।६)

गोभक्तगण अश्विनीकुमारसे प्रार्थना करते हैं कि—'हे अश्विनीकुमार! हम आपके उस गोलोकरूप निवासस्थानमे जाना चाहते हैं, जहाँ बडी-बडी सींगवाली, सर्वत्र जानेवाली गौएँ निवास करती हैं। वहींपर सर्वव्यापक विष्णुभगवान्का परमपद वैकुण्ठ प्रकाशित हो रहा है।'

माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि ।

(ऋग्वेद ८।१०१।१५)

गौ एकादश रुद्राकी माता, अष्ट वसुआकी कन्या और द्वादश आदित्योकी बहन है, जो कि अमृतरूप दुग्धको देनेवाली है।

देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मध्न्या इन्द्राय भाग प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात॥

(शुक्लयजुर्वेद १।१)

'हे गाओ! प्राणियाको तत्तत्कार्यमे प्रविष्ट करानेवाले सवितादेव तुम्हें हरित-शस्य-परिपूर्ण विस्तृत क्षेत्र (गोचरभूमि)-मे चरनेके लिये ले जायँ, क्याकि तुम्हारे द्वारा श्रेष्ठ कर्मोका अनुष्ठान होता है। हे गाओ! तुम इन्द्रदेवके क्षीरमूलक भागको बढाओ अर्थात् तुम अधिक दुग्ध देनेवाली हो। तुम्हारी कोई चोरी न कर सके, तुम्हे व्याघ्रादि हिसक जीव-जन्तु न मार सक क्याकि तुम तमोगुणी दुष्टाद्वारा मारे जाने योग्य नहीं हो। तुम बहुत सतति उत्पन्न करनेवाली हो, तुम्हारी सततियासे ससारका बहुत बडा कल्याण होता है। तुम जहाँ रहती हो, वहाँपर किसी प्रकारकी आधि-व्याधि नहीं आने पाती। यहाँतक कि यक्ष्मा (तपेदिक) आदि राजरोग भी तुम्हारे पास नहीं आ सकते। अत तुम सर्वदा यजमानके घरमे सुखपूर्वक निवास करो।'

सा विश्वायु सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया ।

(शुक्लयजुर्वेद १।४)

'वह गौ यज्ञसम्बन्धी समस्त ऋत्विजोकी तथा यजमानकी आयुको बढानेवाली है। वह गौ यज्ञके समस्त कार्योका सम्पादन करनेवाली हे। वह गो यज्ञके समस्त देवताओका पोषण करनेवाली हैं अथात् दुग्धादि हवि-पदार्थ देनेवाली है।'

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्ज वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोष वो भक्षीय॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२०)

'हे गौओ! तुम अन्नरूप हो अर्थात् तुम दुग्ध-घृतादिरूप अन्नको देनेवाली हो, अत तुम्हारी कृपासे हम भी दुग्ध-घृतादिरूप अन्न प्राप्त हा। तुम पूजनीय हो, अत तुम्हारे सेवन (आश्रय)-से हम श्रेष्ठता प्राप्त करे। तुम बलस्वरूप हा, अत तुम्हारी कृपासे हम भी बल प्राप्त करे। तुम धनको बढानेवाली हो, अत हम भी धनकी वृद्धि प्राप्त कर।'

सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन।

(शुक्लयजुर्वेद ३।२२)

'हे गौओ! तुम विश्वरूपवाली दुग्ध-घृतरूप हवि प्रदान करनके लिये यज्ञ-कर्मम सगतिवाली हो। तुम अपने दुग्धादि रसाको प्रदान कर हमारा गो-स्वामित्व सर्वदा सुस्थिर रखो।'

इड एह्यदित एहि काम्या एत।
मयि व कामधरण भूयात्॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२७)

'हे पृथ्वीरूप गौ! तुम इस स्थानपर आओ! घृतद्वारा देवताआको अदितिके सदृश पालन करनेवाली अदितिरूप गा! तुम इस स्थानपर आओ। ह गो! तुम समस्त साधनाको देनेवाली होनके कारण सभीकी आदरणीय हो। हे गो! तुम इस स्थानपर आओ। तुमने हम देनके लिये जो अपक्षित फल

धारण किया है, वह तुम्हारी कृपासे हम प्राप्त हों। तुम्हारी प्रसन्नतासे हम अभीष्ट फलोंको धारण करनेवाले बनें।'

वीर विदेय तव देवि सन्दृशि॥

(शुक्लयजुर्वेद ४।२३)

'हे मन्त्रपूत दिव्य गो! तुम्हारे सुन्दर दर्शनके महत्त्वसे मैं बलवान् पुत्रको प्राप्त करूँ।'

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि॥

(शुक्लयजुर्वेद ६।३)

'मैं तुम्हारे उन लोकोंमें जाना चाहता हूँ, जहाँ बड़ी-बड़ी सींगवाली बहुत-सी गौएँ रहती हैं। जहाँपर गौएँ रहती हैं वहाँ विष्णुभगवान्‌का परम प्रकाश प्रकाशित रहता है।'

राया वयः ससवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः।
तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम्०॥

(शुक्लयजुर्वेद ७।१०)

'जिस प्रकार देवगण गौके हव्य-पदार्थकी प्राप्तिसे प्रसन्न होते हैं और गौ घास आदि खाद्य-पदार्थकी प्राप्तिसे प्रसन्न होती है, उसी प्रकार हम भी बहुत दुग्ध देनेवाली गौको प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। गौके घरमें रहनेसे हम धनादिसे परिपूर्ण होकर समस्त कार्योंको करनेमें समर्थ हो सकते हैं। अतः हे देवताओ! तुम सर्वदा हमारी गौकी रक्षा करो, जिससे हमारी गौ अन्यत्र न जाने पावे।'

क्षुमन्तं वाजꣳ शतिनꣳ सहस्त्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे॥

(सामवेद, उत्तरार्चिक ६८६)

'हम पुत्र-पौत्रादिसहित सैकड़ों-हजारोंकी संख्या-वाले धनोंकी और गौ आदिसे युक्त अन्नकी शीघ्र याचना करते हैं।'

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते।
गामश्वं पिप्युषी दुहे॥

(सामवेद, उत्तरार्चिक १८३६)

'हे इन्द्र! तुम्हारी स्तुतिरूपा सत्यवाणी गौरूप होकर यजमानकी वृद्धिकी इच्छा करती हुई यजमानके लिये गौ, घोड़े आदि समस्त अभिलषित वस्तुओंका दोहन करती (दुहती) है।'

इमा या गावः स जनास इन्द्र०॥

(अथर्ववेद ४।२१।५)

'जिसके पास गौएँ रहती हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है।'

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

(अथर्ववेद ४।२१।६)

'हे गौओ! तुम अपने दुग्ध-घृतादिद्वारा दुर्बल मनुष्योंको हृष्ट-पुष्ट करती हो और निस्तेजोंको तेजस्वी बनाती हो। तुम अपने मङ्गलमय शब्दोच्चारणसे हमारे घरोंको मङ्गलमय बनाती हो। इसलिये सभाओंमें तुम्हारी कीर्तिका वर्णन होता रहता है।'

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति॥

(अथर्ववेद १०।१०।३४)

'वशा (वशमें रहनेवाली) गौके द्वारा प्राप्त गो-दुग्धादि पदार्थोंसे देवगण और मनुष्यगण जीवन प्राप्त करते हैं। जहाँतक सूर्यदेवका प्रकाश होता है, वहाँतक गौ ही व्याप्त है अर्थात् यह समस्त ब्रह्माण्ड गौके आधारपर ही स्थित है।'

धेनुः सदनं रयीणाम्।

(अथर्ववेद ११।१।३४)

'गौ सम्पत्तिका घर है।'

महाँस्त्वेव गोर्महिमा।

(शतपथब्राह्मण)

'गौकी महिमा महान् है।'

इस प्रकार वेदोंसे लेकर समस्त धार्मिक ग्रन्थोंमें और समस्त सम्प्रदायवादियोंके धर्मग्रन्थोंमें एवं प्राचीन-अर्वाचीन ऋषि-महर्षि, आचार्य विद्वानोंसे लेकर आधुनिक विद्वानोंतक सभीकी सम्मतिमें गोमाताका स्थान सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य है।

गौ एक अमूल्य स्वर्गीय ज्योति है, जिसका निर्माण भगवान्‌ने मनुष्योंके कल्याणार्थ आशावादरूपमें पृथ्वीलोकमें किया है। अतः इस पृथ्वीमें गोमाता मनुष्योंके लिये भगवान्‌का प्रसाद है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप अमृतरूपी

गोदुग्धका पान कर मानवगण ही नहीं, किंतु देवगण भी तृप्त और संतुष्ट होते हैं। इसीलिये गोदुग्धको 'अमृत' कहा जाता है। यह अमृतमय गोदुग्ध देवताओके लिये भोज्यपदार्थ कहा गया है। अत समस्त देवगण गोमाताके अमृतरूपी गोदुग्धका पान करनेके लिये गोमाताके शरीरमे सर्वदा निवास करते है।

शतपथब्राह्मणमे लिखा है कि गोमाता मानव-जातिका बहुत ही उपकार करती है—

'गौर्वै प्रतिधुक्। तस्यै शृत तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्याऽआतञ्चन तस्यै नवनीतं तस्यै घृत तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्॥'

'गोमाता हमे प्रतिधुक् (ताजा दुग्ध), शृत (गरम-दुग्ध), शर (मक्खन निकाला हुआ दुग्ध), दही, मट्ठा, घृत, खीस (इन्नर), वाजिन (खीसका पानी), नवनीत और मक्खन—ये दस प्रकारके अमृतमय भोजनीय पदार्थ देती है, जिनको खा-पीकर हम आरोग्य, बल, बुद्धि एव ओज आदि शारीरिक बल प्राप्त करते है और गौके दुग्धादि पदार्थोंके व्यापारद्वारा तथा गौके बछडे-बछडियो एव गोबरद्वारा हम प्रचुर मात्राम विविध प्रकारके अन्न पैदा कर धनवान् बन जाते हैं। अत गोमाता हमे बल, अन्न और धन प्रदान कर हमारा अनन्त उपकार करती है।

अत मानव-जातिके लिये गासे बढकर उपकार करनेवाला और कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है। इसीलिय हिंदूजातिने गौको देवताके सदृश समझकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करना अपना परम धर्म समझा है।

शास्त्रामे गोरक्षार्थ 'गो-यज्ञ' भी एक मुख्य साधन कहा गया है। वैदिक कालम बडे-बडे 'गो-यज्ञ' और 'गो-महोत्सव' हुआ करत थे। भगवान् श्रीकृष्णने भी गोवर्धन-पूजनके अवसरपर 'गो-यज्ञ' कराया था। गो-यज्ञम वेदोक्त गो-सूक्तासे गोपुष्ट्यर्थ और गोरक्षार्थ हवन, गो-पूजन, वृषभ-पूजन आदि कार्य किये जाते हैं, जिनसे गो-संरक्षण, गो-संवर्धन, गो-वशरक्षण, गो-वशवर्धन, गो-महत्त्व-प्रख्यापन और गो-संगतिकरण आदिमे विशेष लाभ होता है। आज वर्तमान समयकी विकट परिस्थिति देखते हुए गो-प्रधान भारतभूमिम सर्वत्र गो-यज्ञकी अथवा गोरक्षा-महायज्ञकी विशेष आवश्यकता है। अत गोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रार्थना है कि वे भारतवासी धर्मप्रेमी हिंदुओके हृदयोम गोरक्षार्थ 'गो-यज्ञ' करनेकी प्रेरणा करे, जिससे भारतवर्षके कोने-कोनमे उत्साहके साथ अगणित 'गो-यज्ञ' हो और उन गो-यज्ञाके फलस्वरूप प्रत्येक हिंदूभाईकी जिह्वाम—इन महाभारतोक्त पुण्यमय श्लोकद्वयकी मधुर ध्वनि सर्वदा नि सृत होती रहे, जिससे देश और सम्पूर्ण समाजका सर्वविध कल्याण हो।

गा वै पश्याम्यह नित्य गाव पश्यन्तु मा सदा।
गावोऽस्माक वय तासा यतो गावस्ततो वयम्॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ७८। २४)

गावो ममाग्रतो नित्य गाव पृष्ठत एव च।
गावो म सर्वतश्चैव गवा मध्ये वसाम्यहम्॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ८०। ३)

तात्पर्य यह कि 'मै सदा गौओका दर्शन करूँ और गौएँ मुझपर कृपादृष्टि कर। गौएँ हमारी हैं और हम गौओके ह। जहाँ गौएँ रह, वहीं हम रह।' 'गौएँ मेरे आग रह। गौएँ मेरे पीछे भी रह। गौएँ मर चारो ओर रह और मैं गौओक बीचम निवास करूँ।'

स्कम्भे लोका स्कम्भे तप स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥

(अथर्व० १०।७।२९)

सर्वाधार परमात्माम ही सारे लोक, सारे तप और सारे प्राकृतिक नियम रहते हैं। उस सर्वाधार परमात्माको मैं प्रत्यक्ष रूपसे जानता हूँ। उस इन्द्र-रूप परमात्माम सभी कुछ समाप्त हुआ है।

आख्यान—

गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान

एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी, उसका नाम था जबाला। उसका एक पुत्र था सत्यकाम। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन अपनी मातासे कहने लगा—'माँ! मै गुरुकुलमे निवास करना चाहता हूँ, गुरुजी जब मुझसे नाम, गोत्र पूछेंगे तो मैं अपना कौन गोत्र बतलाऊँगा?' इसपर उसने कहा कि 'पुत्र! मुझे तेरे पितासे गोत्र पूछनेका अवसर नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि उन दिनों में सदा अतिथियोंकी सेवामे ही व्यस्त रहती थी। अतएव जब आचार्य तुमसे गोत्रादि पूछे, तब तुम इतना ही कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम ऋषिके यहाँ गया और बोला—'मैं श्रीमान्‌के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवा करने आया हूँ।' आचार्यने पूछा—'वत्स! तुम्हारा गोत्र क्या है?'

सत्यकामने कहा—'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इसे मैं नहीं जानता। मैं सत्यकाम जाबाल हूँ, बस इतना ही इस सम्बन्धमे जानता हूँ।' इसपर गौतमने कहा—'वत्स! ब्राह्मणको छोडकर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता। जा, थोडी समिधा ले आ। मैं तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा।'

सत्यकामका उपनयन करके चार सौ दुर्बल गायोंको उसके सामने लाकर गौतमने कहा—'तू इन्हे वनमे चराने ले जा। जबतक इनकी संख्या एक हजार न हो जाय, इन्हे वापस न लाना।' उसने कहा—'भगवन्! इनकी संख्या एक हजार हुए बिना मैं न लौटूँगा।'

सत्यकाम गायोंको लेकर वनमे गया। वहाँ वह कुटिया बनाकर रहने लगा और तन-मनसे गौओंकी सेवा करने लगा। धीरे-धीरे गायोंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभ (साँड)-ने सत्यकामके पास आकर कहा—'वत्स! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है अब तू हमे आचार्यकुलमे पहुँचा दे। साथ ही ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमे तुझे एक चरणका मैं उपदेश देता हूँ। वह ब्रह्म 'प्रकाशस्वरूप' है, इसका दूसरा चरण तुझे अग्नि बतलायेंगे।'

सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला। संध्या होनेपर उसने गायोंको रोक दिया और उन्हे जल पिलाकर वहीं रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। तत्पश्चात् काष्ठ लाकर उसने अग्नि जलायी। अग्निने कहा—'सत्यकाम! मैं तुझे ब्रह्मका द्वितीय पाद बतलाता हूँ, वह 'अनन्त'-लक्षणात्मक है, अगला उपदेश तुझे हंस करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकाम पुनः किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया और उसने गौओंके रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। इतनेमे ही एक हंस ऊपरसे उडता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम!' सत्यकामने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' हंसने कहा—'मैं तुझे ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश कर रहा हूँ, वह 'ज्योतिष्मान्' है, चतुर्थ पादका उपदेश तुझे मद्गु (जलकुक्कुट) करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकामने एक वटवृक्षके नीचे गौओंके रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। अग्नि जलाकर वह बैठ ही रहा था कि एक जलमुर्गने आकर पुकारा और कहा—'वत्स! मैं तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ, वह 'आयतनस्वरूप' है।'

इस प्रकार उन-उन देवताओंसे सच्चिदानन्दघन-लक्षण परमात्माका बोध प्राप्त कर एक सहस्र गौओंके साथ सत्यकाम आचार्य गौतमके यहाँ पहुँचा। आचार्यने उसकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखलायी पडता है।' सत्यकामने कहा—'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे विद्या मिली है। मैंने सुना है कि आपके सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप ही पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये।' आचार्य बडे प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स! तूने जो प्राप्त किया है वही ब्रह्मतत्त्व है।' और उस सम्पूर्ण तत्त्वका पुनः उन्होंने ठीक उसी प्रकार उपदेश किया।

(छान्दोग्य० ४।४—९)

ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना

(श्रीअनुरागजी 'कपिध्वज')

मनुस्मृतिमे कहा गया है कि धार्यमाण भक्ति ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालाके लिये मुख्य स्वत प्रमाण एकमात्र श्रुति है।[१] महाभारत—जिसे पञ्चम वेद स्वीकार किया गया है उसमे भी वेदोकी महत्ता बतलाते हुए कहा गया है कि वेद-वाणी दिव्य है। नित्य एव आदि-अन्त-रहित है। सृष्टिके आदिमे स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा उसका प्रादुर्भाव हुआ है तथा उसके द्वारा धर्म, भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही हैं।[२] महा-पुरुषोका मत है कि सच्ची जिज्ञासा उत्कट अभिलाषा श्रद्धा तथा विश्वासके द्वारा ही उस अमृतवाणीको समझा जा सकता है।

वेदोका कथन है कि ससारका अस्तित्व नहीं है। जबतक देह, इन्द्रिय और प्राणोके साथ आत्माकी सम्बन्ध-भ्रान्ति है तभीतक अविवेकी पुरुषको वह सत्य-सा स्फुरित होता है। जैसे स्वप्नमें अनेक विपत्तियाँ आती हैं, वास्तवमे वे हैं नहीं पर स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं मिटता वैस ही ससारके न होनेपर भी जो उसम प्रतीत हानेवाले विषयाका चिन्तन करता रहता है, उसके जन्म-मृत्युरूप ससारकी निवृत्ति नहीं होती।

आत्मतत्त्व-जिज्ञासा एव आत्मबोधके द्वारा ही दृश्य-प्रपञ्चका अस्तित्व जो द्रष्टाका बन्धन कहा गया है नष्ट होता है और साधक 'मैं ही सर्वाधिष्ठान परब्रह्म हूँ', 'सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ'—यह जाननेमे समर्थ होता है तथा उसे वेदोकी वह अमृतवाणी समझमे आ जाती है। जिसके द्वारा समस्त वेद मोहनिद्रामे सोये हुए जीवाको जाग्रत् करनेके लिये दृढतापूर्वक कहते हैं कि ससारमे परमेश्वरके सिवा और कुछ नहीं है। वह परमेश्वर स्वर्ग, पृथिवी एव अन्तरिक्षरूप निखिल विश्वम पूर्णरूपसे व्याप्त है, वह सम्पूर्ण जगत्का सूर्य अर्थात् प्रकाशक है तथा वह स्थावर-जङ्गमका आत्मा है।[३] उसे जानकर ही प्राणी मुक्त होता है अर्थात् वह बारबार जन्म-मृत्युरूप महाभयकर बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है जिससे मुक्त होनेका अन्य कोई उपाय नहीं है।[४]

वेदभगवान्का सुझाव और आदश है कि जो उस परमप्रभुको जान लेते हैं, वे मोक्षपदको प्राप्त करते हैं।[५] वही परमात्मा शरीरादि-रूपसे परिणत पृथिव्यादि पञ्चभूताके भीतर पुरुष अर्थात् पूर्ण परमात्मा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये प्रविष्ट हुआ है तथा इस अधिष्ठान-पुरुषके भीतर वह भूत-भौतिक जगत् अर्पित है अर्थात् अध्यारोपित है।[६] इसीलिये कहा गया है कि जब जीवात्मा सम्पूर्ण भूतामे आत्माको तथा आत्मामे सम्पूर्ण भूताको अभेदरूपसे देखने लगता है, तब वह जीवात्मा ससारसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। यजुर्वेदमे कहा गया है कि जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्मपुरुषोत्तममे देखता है और सर्वान्तर्यामी परमप्रभु परमात्माको प्राणिमात्रम दखता ह, वह फिर कभी किसीसे घृणा या द्वेष नहीं कर सकता।[७]

साधक जब यह समझ जाता है कि ससार अपनी आत्मामे फैला हुआ है और आत्मा तथा परमात्मा एक है—यह जानकर कि अधिष्ठानमे अध्यस्तकी सत्ता अधिष्ठानरूप होती है, तब वह सर्वात्मभावको प्राप्त हो आत्माम फैले ससारको आत्मरूपसे देखने लगता हे और मुक्त हो जाता है, क्योकि जा पुरुष 'सब कुछ ब्रह्म ही हे', 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार एकभावका आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूताम स्थित परमात्माको भजता है, वह सब प्रकार व्यवहार करता हुआ भी पुन ससारम उत्पन्न नहीं होता।

सतजन परमात्मविषयक विचारसे उत्पन्न परमात्मस्वरूपके अनुभवको ही ज्ञान कहते हैं। ज्ञानके द्वारा सामन दिखायी दनेवाले इस जगत्की जो निवृत्ति है—परमात्मामे स्थित एव भलीभाँति प्रबुद्ध हुए ज्ञानी पुरुषकी इसी स्थितिको 'तुर्यपद' कहते हैं। जिस ज्ञानके समय समस्त प्राणी एक आत्मा ही हो जाते ह अर्थात् नाम-रूपात्मक आरापित जगत्का अधिष्ठान आत्माम बाधित हा जाता है—कवल आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है। ऐस विज्ञानस्वरूप साधकको जगत्से मुक्ति होना—स्वाभाविक ही ह।[८]

---

१ धर्मं जिज्ञासमानाना प्रमाण परम श्रुति ॥ (मनुस्मृति २।१३)

२ अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तय ॥ (महाभारत)

३ आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षः सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (ऋग्वद १।११५।१ शुक्लयजुर्वेद ७।४२)

४ तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (शुक्लयजुर्वेद ३१।१८)

५ य इत् तद् विदुस्त अमृतत्वमानशु ॥ (ऋग्वेद १।१६४।२३ अथर्ववेद ९।१०।१)

६ पञ्चस्वन्त पुरुष आ विवेश तान्यन्त पुरुषे अर्पितानि। (शुक्लयजुर्वेद २३।५२)

७ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतषु चात्मान ततो न वि चिकित्सति॥ (शुक्लयजुर्वेद ४०।६)

८ यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत । तत्र का मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥ (शुक्लयजुर्वेद ४०।७)

ब्रह्मस्वरूप वेद

(प० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(१) शास्त्र-वाक्योसे श्रवण

सामान्य दृष्टिसे वेद अन्य ग्रन्थाकी भाँति ही दिखलायी देते ह, क्याकि इनमे कुछ समताएँ है। अन्य ग्रन्थ जैस अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह होते है, वैसे वेद भी अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह दीखते हैं—यह एक समता हुई। दूसरी समता यह है कि अन्य ग्रन्थ जेसे कागजपर छापे या लिखे जाते हैं, वैस वेद भी प्राकृतिक कागजपर छापे या लिखे जाते हैं, किंतु वास्तविकता यह हे कि अन्य ग्रन्थाके वाक्य जेसे अनित्य होते हैं, वेसे वेदके वाक्य अनित्य नहीं ह। इस दृष्टिसे वेद और अन्य ग्रन्थामे वही अन्तर है, जो अन्य मनुष्योसे श्रीराम-श्रीकृष्णम होता है। जब ब्रह्म श्रीराम-श्रीकृष्णके रूपम अवतार ग्रहण करता है, तब साधारण जन उन्हे मनुष्य ही देखते हे। वे समझते ह कि जैस प्रत्येक मनुष्य हाड-मास-चर्मका बना होता है, वेसे ही वे भी हैं, किंतु वास्तविकता यह ह कि श्रीराम-श्रीकृष्णक शरीरम हाड-मास-चर्म आदि कोई प्राकृतिक पदार्थ नहीं होता।[1] इनका शरीर साक्षात् सत्, चित् एव आनन्दस्वरूप होता है। अत अधिकारी लोग इन्हे ब्रह्मस्वरूप ही देखत हे।[2] जैसे श्रीराम-श्रीकृष्ण मनुष्य दीखते हुए भी मनुष्योसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मस्वरूप होते हैं वैसे ही वदाके वाक्य भी अन्य ग्रन्थाके वाक्याकी तरह दीखते हुए भी उनसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मरूप होते हैं। जैसे श्रीराम-श्रीकृष्णको 'ब्रह्म', 'स्वयम्भू' कहा गया है, वैसे वेदको भी 'ब्रह्म', 'स्वयम्भू' कहा गया है। इस विषयम कुछ प्रमाण ये हैं—

(१) अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम्॥
(मनु० १। २३)

अर्थात् 'ब्रह्माने यज्ञको सम्पन्न करनेके लिये अग्नि, वायु और सूर्यसे ऋक्, यजु और साम नामक तीन वेदाको प्रकट किया। इस श्लोकम मनुने वेदाका 'सनातन ब्रह्म' कहा है।'

(२) कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
(गीता ३। १५)

अर्थात् 'अर्जुन! तुम क्रियारूप यज्ञ आदि कर्मको ब्रह्म (वदा)-स उत्पन्न हुआ और उस ब्रह्म (वेदो)-को ईश्वरसे आविर्भूत जानो।'

(३) स्वय वेदने अपनेको 'ब्रह्म' ओर 'स्वयम्भू' कहा है—'ब्रह्म स्वयम्भू' (तै०आ० २। ९)।

(४) इसी तथ्यको व्यासदेवने दोहराया है—

(क) वेदो नारायण साक्षात् (बृ०नारदपु० ४। १७)।

(ख) वेदो नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥
(श्रीमद्भा० ६। १। ४०)

(२) मनन

इस तरह शास्त्रासे सुन लिया गया कि 'वेद नित्य-नूतन ब्रह्मरूप ह।' अब इसका युक्तियासे मनन अपेक्षित है।

(३) वेद ब्रह्मरूप केसे?

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दरूप होता है—'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' (बृ० उ० ३। ९। २८)। 'सत्' का अर्थ होता है—'त्रिकालाबाध्य अस्तित्व। अर्थात् ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है, इसका कभी विनाश नहीं हाता।' 'आनन्द' का अर्थ हाता है—'वह आत्यन्तिक सुख जो प्राकृतिक सुख-दु खस ऊपर उठा हुआ हाता है।' 'चित्' का अर्थ हाता है—'ज्ञान'। इस तरह ब्रह्म जैस नित्य सत्तास्वरूप नित्य आनन्दस्वरूप है, वैस ही नित्य ज्ञानरूप भी ह। ज्ञानमे शब्दका अनुवेध अवश्य रहता है—

अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते॥
(वाक्यपदीय १२३)

१-(क) न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मेदोमज्जास्थिसम्भवा (वराहपुराण)।

(ख) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर॰ शुद्धमपापविद्धम् (शुक्लयजु० ४०। ८)।

—इस मन्त्रमे ब्रह्मको 'अकाय' शब्दके द्वारा लिङ्ग-शरीरसे रहित 'अव्रण' और 'अस्नाविर' शब्दाके द्वारा स्थूल-शरीरस रहित एव 'शुद्ध' शब्दके द्वारा कारण-शरीरस रहित बतलाया गया है।

२ कृष्ण वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृत सच्चिन्मयो नीलिमा (प्रबोधसुधाकर)।

नित्य ज्ञानके लिये अनुवेध भी तो नित्य शब्दका ही होना चाहिये? इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धवाले वेद ब्रह्मरूप सिद्ध हो जात हैं।

महाप्रलयके बाद ईश्वरकी इच्छा जब सृष्टि रचनेकी होती है, तब यह अपनी बहिरङ्गा शक्ति प्रकृतिपर एक दृष्टि डाल देता है। इतनेसे प्रकृतिम गति आ जाती है और वह चौबीस तत्त्वाके रूपमे परिणत होने लगती है। इस परिणामम ईश्वरका उद्देश्य यह होता है कि अपञ्चीकृत तत्त्वासे एक समष्टि शरीर बन जाय, जिससे उसमे समष्टि आत्मा एव विश्वका सबसे प्रथम प्राणी हिरण्यगर्भ आ जाय—'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे०' (ऋक्० १०। १२१। १)।

जब तपस्याके द्वारा ब्रह्मामे योग्यता आ जाती है, तब ईश्वर उन्हे वेद प्रदान करता है—

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्व
यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।
(श्वेताश्व० ६। १८)

इस तथ्यका उपबृहण करते हुए मत्स्यपुराण (३। २, ४)-मे कहा गया है—

तपश्चचार प्रथमममराणा पितामह ।
आविर्भूतास्ततो वेदा साङ्गोपाङ्गपदक्रमा ॥
अनन्तर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनि सृता ।

अर्थात् 'ब्रह्माने सबसे पहल तप किया। तब ईश्वरके द्वारा भेजे गये वेदाका उनम आविर्भाव हो पाया। (पुराणाको पहले स्मरण किया) बादमे ब्रह्माके चारा मुखासे वेद निकले।' उपर्युक्त श्रुतिया एव स्मृतियाके वचनसे निम्नलिखित बाते स्पष्ट होती हैं—

(१) ईश्वरने भूत-सृष्टि कर सबसे पहले हिरण्यगर्भको बनाया। उस समय भौतिक सृष्टि नहीं हुई थी। (२) ईश्वरने हिरण्यगर्भसे पहले तपस्या करायी, इसके बाद योग्यता आनेपर उनके पास वेदोको भेजा। (३) वे वेद पहले ब्रह्माके हृदयमे आविर्भूत हो गये। हृदयने उनका प्रतिफलन कर मुखोसे उच्चरित करा दिया। इस तरह ईश्वरने ब्रह्माको वेद प्रदान किये।

वेदोसे सृष्टि

जबतक ब्रह्माके पास वेद नहीं पहुँचे थे, तबतक वे किंकर्तव्यविमूढ थे। वेदोकी प्राप्तिके पश्चात् इन्हींकी सहायतासे वे भौतिक सृष्टि-रचनामे समर्थ हुए। मनुने लिखा है—

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥
(मनु० १। २१)

तैत्तिरीय आरण्यकने स्पष्ट बतलाया है कि वेदोने ही इस सम्पूर्ण विश्वका निर्माण किया है—'सर्वं हीद ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।' यहाँ प्रकरणके अनुसार 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद है।

ब्रह्माद्वारा सम्प्रदायका प्रवर्तन

सृष्टिके प्रारम्भम ब्रह्मा अकले थे। इन्हाने ही वेदाको पाकर सृष्टिके क्रमको आगे बढाया। सनक, सनन्दन, वसिष्ठ आदि इनके पुत्र हुए। ब्रह्माने ईश्वरसे प्राप्त वेदोको इन्ह पढाया। वसिष्ठ कुलपति हुए। उन्हाने शक्ति आदि बहुत-से शिष्याको वेद पढाया तथा उनके शिष्याने अपने शिष्याको पढाया। इस तरह वेदोके पठन-पाठनकी परम्परा चल पडी। जो आज भी चलती आ रही है—

वेदाध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वकमधुनाध्ययनवत्॥
(मीमासा-न्यायप्रकाश)

उपर्युक्त प्रमाणासे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाप्रलयके बाद ईश्वरकी सत्ताकी भाँति उनके स्वरूपभूत वेदोकी भी सत्ता बनी रहती है। इस तरह गुरु-परम्परासे वेद हम लोगाको प्राप्त हुए हैं। वेदाके शब्द नित्य ह, अन्य ग्रन्थाकी तरह अनित्य नहीं।

वेदोकी रक्षाके अनूठे उपाय

वेदाका एक-एक अक्षर, एक-एक मात्रा अपरिवर्तनीय है। सृष्टिके प्रारम्भम इनका जो रूप था, वही सब आज भी है। आज भी वही उच्चारण और वही क्रम है। ऐसा इसलिये हुआ कि इनके सरक्षणके लिये आठ उपाय किये गये हैं, जिन्हे 'विकृति' कहते हैं। उनके नाम हैं—(१) जटा, (२) माला (३) शिखा (४) रखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ और (८) घन—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घन ।
अष्टौ विकृतय प्रोक्ता क्रमपूर्वा महर्षिभि ॥

विश्वके किसी दूसरी पुस्तकमे ये आठा उपाय नहीं मिलते। गुरु-परम्परासे प्राप्त इन आठा उपायाका फल निकला कि सृष्टिके प्रारम्भम वदके जैसे उच्चारण थे, जैसे पद-क्रम थे, वे आज भी वैस ही सुने जा सकते हैं। हजार वर्षोकी गुलामीन इस गुरु-परम्पराको हानि पहुँचायी है। फलत वेदाकी अधिकाश शाखाएँ नष्ट हो गयीं, किंतु जो

वची हैं, उन्ह इन आठ विकृतियाने सुरक्षित रखा है।

वेद अनन्त हे

जिज्ञासा होती है कि वेदाकी कितनी शाखाएँ होती हैं और उनम आज कितनी बची ह? इस प्रश्नका उत्तर वद स्वय देते हैं। व बतलाते हैं कि हमारी काई इयत्ता नहीं ह—'अनन्ता वै वेदा ।' वेदक अनन्त होनेके कारण जिस कल्पम ब्रह्माकी जितनी क्षमता होती है, उस कल्पम वदकी उतनी ही शाखाएँ उनके हृदयसे प्रतिफलित हाकर उनक मुखासे उच्चरित हो पाती हैं। यही कारण ह कि वदाकी शाखाआकी सख्यामे भिन्नता पायी जाती है। मुक्तिकोपनिषद्‌म ११८० स्कन्दपुराणम ११३७ आर महाभाष्यम ११३१ शाखाएँ बतलायी गयी हैं। वेद चार भागाम विभक्त हैं—(१) ऋक् (२) यजु (३) साम आर (४) अथर्व।

—इनम ऋक्-सहिताकी २१ शाखाएँ होती हैं जिनम आज 'वाष्कल' ओर 'शाकल' दो शाखाएँ उपलब्ध ह। यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ हाती हैं। इसके दा भद हाते ह—(१) शुक्लयजुर्वेद ओर (२) कृष्णयजुर्वेद। इनम शुक्लयजु सहिताकी १५ सहिताएँ हैं। इनम दो सहिताएँ प्राप्त हैं—(१) वाजसनयी ओर (२) काण्व। कृष्ण-यजुर्वेदकी ८६ सहिताएँ होती हैं। इनमे चार मिलती हैं—(१) तत्तिरीय-सहिता (२) मैत्रायणी-सहिता (३) काठक-सहिता आर (४) कठ-कपिष्ठल-सहिता। सामवदकी १००० शाखाएँ होती हैं। इनमे दो मिलती ह—(१) कौथुम ओर (२) जैमिनि शाखा। राणायनीयका भी कुछ भाग मिला ह। अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ होती हैं, उनमें आज दो ही मिलती ह—(१) शौनक-शाखा तथा (२) पप्पलाद-शाखा। वेदके मन्त्र-भागकी जितनी सहिताएँ हाती हैं, उतन ही ब्राह्मण-भाग भी हात ह। आरण्यक और उपनिषद भी उतनी ही होती ह। इनम अधिकाशका लाप हो गया है।

ऋषि लुप्त शाखाआको प्राप्त कर लेते थे

वदकी शाखाएँ पहले भी लुप्त कर दी जाती थीं। शिवपुराणसे पता चलता है कि दुर्गमासुरने ब्रह्मासे वरदान पाकर समस्त वदाको लुप्त कर दिया था। पीछ दुर्गाजीकी कृपासे वे विश्वको प्राप्त हुए। कभी-कभी ऋषि लोग तपस्याद्वारा उन लुप्त वेदाका दर्शन करते थे।

इस तरह शास्त्र-वचनाक श्रवण और उपपत्तियाक द्वारा मननस स्पष्ट हो जाता हे कि वद अन्य ग्रन्थाकी तरह किसी जीवके द्वारा निर्मित नहीं हैं। जसे ईश्वर सनातन, स्वयम्भू और अपौरुषेय हे वैसे वेद भी ह। जैसे ईश्वर प्रलयम भी स्थिर रहत हैं, वसे वेद भी—'नैव वेदा प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि' (मधातिथि)। इन्हीं वदाके आधारपर सृष्टिका निर्माण होता है।

वदाने मानवाके विकासके लिये जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें भरपूर शिक्षाएँ दी हैं। प्रत्यक शिक्षा सत्य ह अत लाभप्रद ह क्याकि वदाका अक्षर-अक्षर सत्य हाता है। जब ईश्वर सत्य है तब उसके स्वरूप वेद असत्य कस हो सकते हैं? जबतक वेदकी इस सत्यतापर पूरी आस्था न जमेगी, तबतक वदाकी शिक्षाको जीवनम उतार पाना सम्भव नहीं है।

अर्चनासे बढ़कर भक्ति नहीं

यो तो भक्तिके नौ प्रकार बतलाये गये हैं, पर उनम मुख्य और कल्याणकारी भक्तिकी विधा है अर्चना—भगवान्‌के श्रीविग्रहका पूजन। यही कारण हे कि 'अर दास०' यह श्रुति भागवती सेवाका सर्वथा अनुपेक्ष्य बताती है—

नवधा भक्तिराख्याता मुख्या तत्रार्चना शिवाम्। प्राह भागवतीं सवामर दास इति श्रुति ॥

कुछ बन्धुआका धारणा है कि भारतीय सस्कृतिक मूल ग्रन्थ वदाम मूर्तिपूजा अचन-भक्ति आदिका कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त हाता। अतएव व न कवल मूर्तिपूजासे दुराव करने लग वरन् उसक खण्डनम भी जुट गय, पर जब यह प्रत्यक्ष श्रुति हमें अर्चना करनेको कहती है तो फिर इस भ्रमक लिय काई स्थान ही नहीं रह जाता। देखिये, श्रुति कितना स्पष्ट कहती है—

अर दासा न मीळ्हुषे कराण्यह देवाय भूर्णयेऽनागा । अचेतयदचितो देवा अर्यो गृत्स राये कवितरो जुनाति॥

(ऋक्० ७। ८६। ७)

तात्पय यह कि मैं निषिद्धाचरणसे वर्जित भक्त किसी दासका तरह असीम फलकी प्राप्तिक लिय चतुर्विध-पुरुषार्थदाता परमेश्वरको पुष्पादिसे अलकृत करता हूँ, ताकि वे मुझपर प्रसन्न हा। ये दव सर्वस्वामी हाकर अपने सनिधानसे पाषाणको भी पूजनीय बना दत हैं। यही कारण है कि बहुदर्शी पुरुष एश्वयप्राप्तिक लिय प्राणनादिकर्ता उस परमेश्वरको ही पूजनादिसे प्रसन्न करत हैं क्षुद्रफलप्रद राजा आदिका परवाह नहीं करत।

वेदवाङ्मय-परिचय एवं अपौरुषेयवाद

(दण्डीस्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'सनातनधर्म' एवं 'भारतीय संस्कृति' का मूल आधारस्तम्भ विश्वका अति प्राचीन और सर्वप्रथम वाङ्मय 'वेद' माना गया है। मानवजातिके लौकिक (सांसारिक) तथा पारमार्थिक अभ्युदय-हेतु प्राकट्य होनेसे वेदको अनादि एवं नित्य कहा गया है। अति प्राचीनकालीन महातपा, पुण्यपुञ्ज ऋषियोंके पवित्रतम अन्तःकरणमें वेदके दर्शन हुए थे, अतः उसका 'वेद' नाम प्राप्त हुआ। ब्रह्मका स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' होनेसे ब्रह्मको वेदका पर्यायवाची शब्द कहा गया है। इसीलिये वेद लौकिक एवं अलौकिक ज्ञानका साधन है। **'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये०'**—तात्पर्य यह कि कल्पके प्रारम्भमें आदिकवि ब्रह्माके हृदयमें वेदका प्राकट्य हुआ।

सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकार महान् पण्डित सायणाचार्य अपने वेदभाष्यमें लिखते हैं कि **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'**—अर्थात् इष्ट (इच्छित) फलकी प्राप्तिके लिये और अनिष्ट वस्तुके त्यागके लिये अलौकिक उपाय (मानव-बुद्धिको अगम्य उपाय) जो ज्ञानपूर्ण ग्रन्थ सिखलाता है, समझाता है, उसको वेद कहते हैं।

निरुक्त कहता है कि **'विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति०'** अर्थात् जिसकी कृपासे अधिकारी मनुष्य (द्विज) सद्विद्या प्राप्त करते हैं, जिससे वे विद्वान् हो सकते हैं, जिसके कारण वे सद्विद्याके विषयमें विचार करनेके लिये समर्थ हो जाते हैं, उसे वेद कहते हैं।

'आर्यविद्या-सुधाकर' नामक ग्रन्थमें कहा गया है कि —

वेदो नाम वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षा अनेनेति व्युत्पत्त्या चतुर्वर्गज्ञानसाधनभूतो ग्रन्थविशेषः ॥

अर्थात् पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)-विषयक सम्यक्-ज्ञान होनेके लिये साधनभूत ग्रन्थविशेषको वेद कहते हैं।

'कामन्दकीय नीति' भी कहती है—**'आत्मानमन्विच्छ०।' 'यस्तं वेद स वेदवित्॥'** अर्थात् जिस (नरपुङ्गव)-को आत्मसाक्षात्कार किंवा आत्मप्रत्यभिज्ञा हो गया, उसको ही वेदका वास्तविक ज्ञान होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानका ही पर्याय वेद है।

श्रुति भगवती बतलाती है कि **'अनन्ता वै वेदाः ॥'** वेदका अर्थ है ज्ञान। ज्ञान अनन्त है, अतः वेद भी अनन्त हैं। तथापि मुण्डकोपनिषद्की मान्यता है कि वेद चार हैं—**'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ॥'** (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद। इन वेदोंके चार उपवेद इस प्रकार हैं—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः ॥

उपवेदोंके कर्ताओंमें आयुर्वेदके कर्ता धन्वन्तरि, धनुर्वेदके कर्ता विश्वामित्र, गान्धर्ववेदके कर्ता नारदमुनि और स्थापत्यवेदके कर्ता विश्वकर्मा हैं।

मनुस्मृति कहती है—**'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः'** अर्थात् वेदोंको ही श्रुति कहते हैं। ***'आदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्ते सा श्रुतिः ॥'*** अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर आजतक जिसकी सहायतासे बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको सत्यविद्या ज्ञात हुई, उसे 'श्रुति' कहते हैं। 'श्रु' का अर्थ है 'सुनना', अतः 'श्रुति' माने हुआ 'सुना हुआ ज्ञान।' वेदकालीन महातपा सत्पुरुषोंने समाधिमें जो महाज्ञान प्राप्त किया और जिसे जगत्के आध्यात्मिक अभ्युदयके लिये प्रकट भी किया, उस महाज्ञानको 'श्रुति' कहते हैं।

श्रुतिके दो विभाग हैं—(१) वैदिक और (२) तान्त्रिक—**'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।'** मुख्य तन्त्र तीन माने गये हैं—(१) महानिर्वाण-तन्त्र, (२) नारदपाञ्चरात्र-तन्त्र और (३) कुलार्णव-तन्त्र।

वेदके भी दो विभाग हैं—(१) मन्त्रविभाग और (२) ब्राह्मणविभाग—**'वेदो हि मन्त्रब्राह्मणभेदेन द्विविधः ।'** वेदके मन्त्रविभागको संहिता भी कहते हैं। संहितापरक विवेचनको 'आरण्यक' एवं संहितापरक भाष्यको 'ब्राह्मणग्रन्थ' कहते हैं। वेदोंके ब्राह्मणविभागमें 'आरण्यक' और 'उपनिषद्'-का भी समावेश है। ब्राह्मणग्रन्थोंकी संख्या १३ है, जैसे ऋग्वेदके २, यजुर्वेदके २, सामवेदके ८ और अथर्ववेदके १। मुख्य ब्राह्मणग्रन्थ पाँच हैं—(१) ऐतरेय ब्राह्मण

(२) तैत्तिरीय ब्राह्मण, (३) तलवकार ब्राह्मण, (४) शतपथब्राह्मण और (५) ताण्ड्य ब्राह्मण।

उपनिषदोंकी संख्या वैसे तो १०८ है, परंतु मुख्य १२ माने गये हैं, जैसे—(१) ईश (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (८) एतरेय, (९) छान्दोग्य, (१०) बृहदारण्यक (११) कौषीतकि और (१२) श्वेताश्वतर।

वेद पौरुषेय (मानवनिर्मित) है या अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) ? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नका स्पष्ट उत्तर ऋग्वेद (१। १६४। ४५)-में इस प्रकार है—'वेद' परमेश्वरके मुखसे निकला हुआ 'परावाक्' है, वह 'अनादि' एवं 'नित्य' कहा गया है। वह अपौरुषेय ही है।

इस विषयमें मनुस्मृति कहती है कि अति प्राचीन कालके ऋषियोंने उत्कट तपस्याद्वारा अपने तप पूत हृदयमें 'परावाक्' वेदवाङ्मयका साक्षात्कार किया था, अत वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाये—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ।'

बृहदारण्यकोपनिषद् (२। ४। १०)-में उल्लेख है—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ।' अर्थात् उन महान् परमेश्वरके द्वारा (सृष्टि-प्राकट्य होनेके साथ ही) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नि श्वासकी तरह सहज ही बाहर प्रकट हुए। तात्पर्य यह है कि परमात्माका नि श्वास ही वेद है। इसके विषयमें वेदके महापण्डित सायणाचार्य अपने वेदभाष्यमें लिखते हैं—

यस्य नि श्वसित वेदा यो वेदेभ्योऽखिल जगत्।
निर्ममे तमह वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

साराश यह कि वेद परमेश्वरका नि श्वास है अत परमेश्वरद्वारा ही निर्मित है। वेदसे ही समस्त जगत्का निर्माण हुआ है। इसीलिये वेदको अपौरुषेय कहा गया है।

सायणाचार्यके इन विचारोंका समर्थन पाश्चात्य वेदविद्वान् प्रो० विल्सन प्रो० मैक्समूलर आदिने अपने पुस्तकोंमें किया है। प्रो० विल्सनसाहब लिखते हैं कि 'सायणाचार्यका वेदविषयक ज्ञान अति विशाल और अति गहन है जिसकी समकक्षताका दावा कोई भी यूरोपीय विद्वान् नहीं कर सकता।' प्रो० मैक्समूलरसाहब लिखते हैं कि 'यदि मुझे सायणाचार्यरचित बृहद् वेदभाष्य पढनेको नहीं मिलता तो मैं वेदार्थोंके दुर्भेद्य किलामें प्रवेश ही नहीं पा सका होता।' इसी प्रकार पाश्चात्य वेदविद्वान् वेबर, बेनफी, राथ, ग्रास्मन, लुडविग, ग्रिफिथ, कीथ तथा विंटरनित्ज आदिने सायणाचार्यके वेदविचारोंका ही प्रतिपादन किया है।

निरुक्तकार 'यास्काचार्य' भाषाशास्त्रके आद्यपण्डित माने गये हैं। उन्होंने अपने महाग्रन्थ वेदभाष्यमें स्पष्ट लिखा है कि 'वेद अनादि नित्य एव अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) ही है।' उनका कहना है कि 'वेदका अर्थ समझे बिना केवल वेदपाठ करना पशुकी तरह पीठपर बोझा ढोना ही है, क्योंकि अर्थज्ञानरहित शब्द (मन्त्र) प्रकाश (ज्ञान) नहीं दे सकता। जिसे वेद-मन्त्रोंका अर्थ-ज्ञान हुआ है, उसीका लौकिक एव पारलौकिक कल्याण होता है।' ऐसे वेदार्थज्ञानका मार्गदर्शक निरुक्त है।

जर्मनीके वेदविद्वान् प्रो० मैक्समूलरसाहब कहते हैं कि 'विश्वका प्राचीनतम वाङ्मय वेद ही है, जो दैविक एव आध्यात्मिक विचारोंको काव्यमय भाषामें अद्भुत रीतिसे प्रकट करनेवाला कल्याणप्रदायक है। वेद परावाक् है।'

नि संदेह परमेश्वरने ही परावाक् (वेदवाणी)-का निर्माण किया है—ऐसा महाभारत, शान्तिपर्व (२३२। २४)-में स्पष्ट कहा गया है—

अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा॥

अर्थात् जिसमेंसे सर्वजगत् उत्पन्न हुआ ऐसी अनादि वेद-विद्यारूप दिव्य वाणीका निर्माण जगन्निर्माताने सर्वप्रथम किया।

ऋषि वेदमन्त्रोंके कर्ता नहीं अपितु द्रष्टा ही थे—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ।' निरुक्तकारने भी कहा है—वेदमन्त्रोंके साक्षात्कार होनेपर साक्षात्कारीको ऋषि कहा जाता है—'ऋषिर्दर्शनात्।' इससे स्पष्ट होता है कि वेदका कर्तृत्व अन्य किसीके पास नहीं होनेसे वेद ईश्वरप्रणीत ही है, अपौरुषेय ही है।

भारतीय दर्शनशास्त्रके मतानुसार शब्दको नित्य कहा गया है। वेदने शब्दको नित्य माना है, अत वेद अपौरुषेय है यह निश्चित होता है। निरुक्तकार कहते हैं कि 'नियतानुपूर्व्या नियतवाचो युक्तय ।' अर्थात् शब्द नित्य है, उसका अनुक्रम नित्य है और उसका उच्चारण-पद्धति भी नित्य है इसीलिये वेदके अर्थ नित्य हैं। ऐसी वेदवाणीका निर्माण स्वय

परमेश्वरने ही किया है।

शब्दकी चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं—(१) परा, (२) पश्यन्ती, (३) मध्यमा आर (४) वेखरी। ऋग्वेद (१।१६४।४५)-में इनके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति॥

अर्थात् वाणीके चार रूप होनेसे उन्ह ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। वाणीके तीन रूप गुप्त ह, चौथा रूप शब्दमय वेदके रूपमे लोगोम प्रचारित होता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म-ज्ञानको परावाक् कहते हैं। उसे ही वेद कहा गया हे। इस वेदवाणीका साक्षात्कार महातपस्वी ऋषियोको होनेसे इसे 'पश्यन्तीवाक्' कहते हैं। ज्ञानस्वरूप वेदका आविष्कार शब्दमय है। इस वाणीका स्थूल स्वरूप ही 'मध्यमावाक्' है। वेदवाणीके ये तीनो स्वरूप अत्यन्त रहस्यमय हैं। चौथी 'वैखरीवाक्' ही सामान्य लोगोकी बोलचालकी है। शतपथब्राह्मण तथा माण्डूक्योपनिषद्मे कहा गया है कि वेदमन्त्रके प्रत्येक पदम, शब्दके प्रत्येक अक्षरमे एक प्रकारका अद्भुत सामर्थ्य भरा हुआ है। इस प्रकारको वेदवाणी स्वय परमेश्वरद्वारा ही निर्मित हे, यह नि शक है।

शिवपुराणमें आया है कि ॐके 'अ' कार, 'उ' कार, 'म' कार और सूक्ष्मनाद, इनमसे (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद तथा (४) अथर्ववेद नि सृत हुए। समस्त वाङ्मय ओकार (ॐ)-से ही निर्मित हुआ। 'आकार बिदुसयुक्तम्' तो ईश्वररूप ही हे। श्रीमद्भगवद्गीता (७।७)-मे भी ऐसा ही उल्लेख है—

मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव॥

श्रीमद्भागवत (६। १। ४०)-मे तो स्पष्ट कहा गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय ।
वेदो नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

अर्थात् वेदभगवान्ने जिन कार्योको करनकी आज्ञा दी है वह धर्म है और उससे विपरीत करना अधर्म है। वेद नारायणरूपमे स्वय प्रकट हुआ है, ऐसा श्रुतिम कहा गया है।

श्रीमद्भागवत (१०।४।४१)-म ऐसा भी वर्णित है—

विप्रा गावश्च वेदाश्च तप सत्य दम शम ।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनू ॥

अर्थात् वेदज्ञ (सदाचारी भी) ब्राह्मण, दुधारू गाय, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, सहनशीलता और यज्ञ—ये श्रीहरि (परमेश्वर)-के स्वरूप हैं।

मनुस्मृति (२। ६) वेदको धर्मका मूल बताते हुए कहती है—

वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

अर्थात् समग्र वेद एव वेदज्ञ (मनु, पराशर, याज्ञवल्क्यादि)-की स्मृति, शील, आचार, साधु (धार्मिक)-के आत्माका सतोष—य सभी धर्मोक मूल हे।

याज्ञवल्क्यस्मृति (१। ७)-मे भी कहा गया है—

श्रुति स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन ।
सम्यक्सकल्पज कामो धर्ममूलमिद स्मृतम्॥

अर्थात् श्रुति, स्मृति, सत्पुरुषोका आचार, अपने आत्माकी प्रीति और उत्तम सकल्पसे हुआ (धर्माविरुद्ध) काम—ये पॉच धर्मके मूल हैं। इसीलिये भारतीय सस्कृतिम वेद सर्वश्रेष्ठ स्थानपर है। वेदका प्रामाण्य त्रिकालाबाधित है।

भारतीय आस्तिक दर्शनशास्त्रक मतमे शब्दक नित्य होनसे उसका अर्थके साथ स्वयम्भू-जसा सम्बन्ध होता है। वेदम शब्दको नित्य समझनेपर वेदको अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) माना गया हे। निरुक्तकार भी इसका प्रतिपादन करते हैं। आस्तिक दर्शनन शब्दका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मान्य किया है।

इस विषयम मीमासा-दर्शन तथा न्याय-दर्शनके मत भिन्न-भिन्न हैं। जैमिनीय मीमासक, कुमारिल आदि मीमासक, आधुनिक मीमासक तथा साख्यवादियाके मतम वद अपौरुषेय, नित्य एव स्वत प्रमाण हैं। मीमासक वेदको स्वयम्भू मानते हैं। उनका कहना है कि वदकी निर्मितिका प्रयत्न किसी व्यक्ति-विशपका अथवा ईश्वरका नहीं है। नेयायिक ऐसा समझत हे कि वेद ता ईश्वरप्रोक्त हे। मीमासक कहते हैं कि भ्रम प्रमाद, दुराग्रह इत्यादि दापयुक्त हानेक कारण मनुष्यक

द्वारा वेद-जैसे निर्दोष महान् ग्रन्थरत्नकी रचना शक्य ही नहीं है। अतः वेद अपौरुषेय ही है। इससे आगे जाकर नैयायिक ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वरने जैसे सृष्टि की, वैसे ही वेदका निर्माण किया, ऐसा मानना उचित ही है।

श्रुतिके मतानुसार वेद तो महाभूतोंका निःश्वास (यस्य निःश्वसितं वेदाः) है। श्वास-प्रश्वास स्वतः आविर्भूत होते हैं, अतः उनके लिये मनुष्यके प्रयत्नकी अथवा बुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। उस महाभूतका निःश्वासरूप वेद तो अदृष्टवशात्, अबुद्धिपूर्वक स्वयं आविर्भूत होता है।

वेद नित्य-शब्दकी संहति होनेसे नित्य है और किसी भी प्रकारसे उत्पाद्य नहीं है, अतः स्वतः आविर्भूत वेद किसी भी पुरुषसे रचा हुआ न होनेके कारण अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) सिद्ध होता है। इन सभी विचारोंको दर्शनशास्त्रमें अपौरुषेयवाद कहा गया है।

अवैदिक दर्शनको नास्तिक दर्शन भी कहते हैं, क्योंकि वह वेदको प्रमाण नहीं मानता, अपौरुषेय स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि इहलोक (जगत्) ही आत्माका क्रीडास्थल है, परलोक (स्वर्ग) नामकी कोई वस्तु नहीं है, 'काम एवैकः पुरुषार्थः'—काम ही मानव-जीवनका एकमात्र पुरुषार्थ होता है, 'मरणमेवापवर्गः'—मरण (मृत्यु) मान ही मोक्ष (मुक्ति) है 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्'—जो प्रत्यक्ष है वही प्रमाण है (अनुमान प्रमाण नहीं है)। धर्म ही नहीं है, अतः अधर्म नहीं है, स्वर्ग-नरक नहीं हैं। 'न परमेश्वरोऽपि कश्चित्'—परमेश्वर-जैसा भी कोई नहीं है 'न धर्मः न मोक्षः'—न तो धर्म है न मोक्ष है। अतः जबतक शरीरमें प्राण हैं तबतक सुख प्राप्त करते हैं—इस विषयमें नास्तिक चार्वाक-दर्शन स्पष्ट कहता है—

> यावज्जीवं सुखं जीवेद्‌ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात् जबतक देहमें जीव है तबतक सुखपूर्वक जीये, किसीसे ऋण ले करके भी घी पीये क्योंकि एक बार देह (शरीर) मृत्युके बाद जब भस्मीभूत हुआ तब फिर उसका पुनरागमन कहाँ? अतः 'खाओ पीओ और मौज करो'—यही है 'नास्तिक-दर्शन' या 'अवैदिक-दर्शन'का संदेश। इसको लोकायत-दर्शन, बार्हस्पत्य-दर्शन तथा चार्वाक-दर्शन भी कहते हैं।

चार्वाक-दर्शन शब्दमें 'चर्व'का अर्थ है—खाना। इस 'चर्व'पदसे ही 'खाने-पीने और मौज' करनेका संदेश देनेवाले इस दर्शनका नाम 'चार्वाक-दर्शन' पड़ा है। 'गुणरत्न' ने इसकी व्याख्या इस प्रकारसे की है—परमेश्वर, वेद, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, आत्मा, मुक्ति इत्यादिका जिसने 'चर्वण' (नामशेष) कर दिया है, वह 'चार्वाक-दर्शन' है। इस मतके लोगोंका लक्ष्य स्वमतस्थापनकी अपेक्षा परमतखण्डनके प्रति अधिक रहनेसे उनको 'वैतंडिक' कहा गया है। वे लोग वेदप्रामाण्य मानते ही नहीं।

(१) जगत्, (२) जीव, (३) ईश्वर और (४) मोक्ष—ये ही चार प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सभी दर्शनोंके होते हैं। आचार्य श्रीहरिभद्रने 'षड्दर्शन-समुच्चय' नामका अपने ग्रन्थमें (१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) मीमांसा और (६) वेदान्त—इन छः को वैदिक दर्शन (आस्तिक-दर्शन) तथा (१) चार्वाक, (२) बौद्ध और (३) जैन—इन तीनको 'अवैदिक दर्शन' (नास्तिक-दर्शन) कहा है और उन सबपर विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है।

वेदको प्रमाण माननेवाले आस्तिक और न माननेवाले नास्तिक हैं, इस दृष्टिसे उपर्युक्त न्याय-वैशेषिकादि षड्दर्शनको आस्तिक और चार्वाकादि दर्शनको नास्तिक कहा गया है।

दर्शनशास्त्रका मूल मन्त्र है—'आत्मानं विद्धि।' अर्थात् आत्माको जानो। पिण्ड-ब्रह्माण्डमें ओतप्रोत हुआ एकमेव आत्म-तत्त्वका दर्शन (साक्षात्कार) कर लेना ही मानव-जीवनका अन्तिम साध्य है ऐसा वेद कहता है। इसके लिये तीन उपाय हैं—वेदमन्त्रोंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन—

> श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
> मत्वा तु सततं ध्येय एते दर्शनहेतवे॥

इसीलिये तो मनीषी लोग कहते हैं—'यस्तं वेद स वेदवित्।' अर्थात् ऐसे आत्मतत्त्वको जो सदाचारी व्यक्ति जानता है वह वेदज्ञ (वेदका जाननेवाला) है।

वेदस्वरूप

(डॉ० श्रीयुगलकिशोरजी मिश्र)

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद सृष्टिक्रमकी प्रथम वाणी है।[१] फलत भारतीय संस्कृतिका मूल ग्रन्थ वेद सिद्ध होता है। पाश्चात्त्य विचारकोंने ऐतिहासिक दृष्टि अपनाते हुए वेदको विश्वका आदि ग्रन्थ सिद्ध किया। अत यदि विश्व-संस्कृतिका उद्गम स्रोत वेदको माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

वेद शब्द और उसका लक्षणात्मक स्वरूप—शाब्दिक विधासे विश्लेषण करनेपर वेद शब्दकी निष्पत्ति 'विद-ज्ञान' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय करनेपर होती है। अतएव विचारकोंने कहा है कि—जिसके द्वारा धर्मादि पुरुषार्थ-चतुष्टय-सिद्धिके उपाय बतलाये जायँ, वह वेद है।[२] आचार्य सायणने वेदके ज्ञानात्मक ऐश्वर्यको ध्यानमें रखकर लक्षित किया कि—अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके अलौकिक उपायको जो ग्रन्थ बोधित करता है वह वेद है।[३] यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य सायणने वेदके लक्षणमें 'अलौकिकमुपायम्' यह विशेषण देकर वेदोंकी यज्ञमूलकता प्रकाशित की है। आचार्य लौगाक्षि भास्करने दार्शनिक दृष्टि रखते हुए—अपौरुषेय वाक्यको वेद कहा है।[४] इसी तरह आचार्य उदयनने भी कहा है कि—जिसका दूसरा मूल कहीं उपलब्ध नहीं है और महाजनों अर्थात् आस्तिक लोगोंने वेदके रूपमें मान्यता दी हो, उन आनुपूर्वी विशिष्ट वाक्योंको वेद कहते हैं।[५] आपस्तम्बादि सूत्रकारोंने वेदका स्वरूपावबोधक लक्षण करते हुए कहा है कि—वेद मन्त्र और ब्राह्मणात्मक हैं।[६] आचार्यचरण स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने दार्शनिक एवं याज्ञिक दोनों दृष्टियोंका समन्वय करते हुए वेदका अद्भुत लक्षण इस प्रकार उपस्थापित किया है—'शब्दातिरिक्त शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्त च यत्प्रमाण तज्जन्यप्रमिति-विषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिक-सुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो यो प्रमाणशब्दस्तत्त्व वेदत्वम्।'[७]

उपर्युक्त लक्षणोंकी विवेचना करनेपर यह तथ्य सामने आता है कि—ऐहिकामुष्मिक फलप्राप्तिके अलौकिक उपायको निदर्शन करनेवाला अपौरुषेय विशिष्टानुपूर्वीक मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद है।

वेदके दो भाग—मन्त्र और ब्राह्मण—आचार्योंने सामान्यतया मन्त्र और ब्राह्मण-रूपसे वेदोंका विभाजन किया है।[८] इसमें मन्त्रात्मक वैदिक शब्दराशिका मुख्य सकलन सहिताके नामसे प्राचीन कालसे व्यवहृत होता आया है। सहितात्मक वैदिक शब्दराशिपर ही पदपाठ, क्रमपाठ एवं अन्य विकृतिपाठ होते हैं। यज्ञोंमें सहितागत मन्त्रोंका ही प्रधान रूपसे प्रयोग होता है।[९]

आचार्य यास्कके अनुसार 'मन्त्र' शब्द मननार्थक 'मन्' धातुसे निष्पन्न है।[१०] पाञ्चरात्र-सहिताके अनुसार मनन करनेसे जो त्राण करते हैं, वे मन्त्र हैं।[११] अथवा मत—अभिमत पदार्थके जो दाता हैं वे मन्त्र कहलाते हैं। महर्षि जैमिनिने मन्त्रका लक्षण करते हुए कहा है—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या।' इसीको स्पष्ट करते हुए आचार्य माधवका कथन है कि—याज्ञिक विद्वानोंका 'यह वाक्य मन्त्र है'—ऐसा समाख्यान (—नाम निर्देश) मन्त्रका लक्षण है। तात्पर्य यह है कि याज्ञिक लोग जिसे मन्त्र कहें, वही मन्त्र है। वे याज्ञिक लोग

१-यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १८)।

२-वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपाया येन स वेद (का०श्रौ०भू० पृ० ४)।

३-इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपाय यो ग्रन्थो वेदयति स वेद (का० भा० भू०)।

४-अपौरुषेय वाक्य वेद (अर्थसग्रह पृ० ३६)।

५-अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतवाक्यत्व वेदत्वम्।

६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

७-वेदार्थपारिजात पृ० २०।

८-आम्नाय पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि (कौ०सू० १। ३)।

९-अपि च यज्ञकर्मणि सहितयैव विनियुज्यन्ते मन्त्रा (नि० १। १७ पर दुर्ग)।

१०-मन्त्रा मननात्।

११-मननान्मनुशार्दूल त्राण कुर्वन्ति वै यत । ददते पदमात्मीय तस्मान्मन्त्रा प्रकीर्तिता ॥ (ई० स० ३। ७। ९)।

अनुष्ठानके स्मारक आदि वाक्योंके लिये मन्त्र शब्दका प्रयोग करते हैं।[1] आचार्य लौगाक्षि भास्करने, अनुष्ठान (प्रयोग)-से सम्बद्ध (समवेत) द्रव्य-देवतादि (अर्थ)-का जो स्मरण कराते हैं, उन्हें मन्त्र कहा है।[2] इस प्रकार तत्तत् वैदिक कर्मोंके अनुष्ठान-कालमें अनुष्ठेय क्रिया एवं उसके अङ्गभूत द्रव्य-देवतादिका प्रकाशन (स्मरण)ही मन्त्रका प्रयोजन है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि शास्त्रकारोंके अनुसार 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्व' मन्त्रोंका दृष्ट प्रयोजन है, अतः यज्ञकालमें मन्त्रोंका उच्चारण अदृष्ट प्रयोजक है—यह कल्पना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि दृष्ट फलकी सम्भावनाके विद्यमान रहनेपर अदृष्ट फलकी कल्पना अनुचित होती है।[3] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मन्त्रोंका जो अर्थ-स्मरण-रूप दृष्ट प्रयोजन बतलाया गया है, वह प्रकारान्तरसे अर्थात् ब्राह्मण-वाक्योंसे भी प्राप्त हो जाता है, फिर तो मन्त्रोच्चारण व्यर्थ हुआ? इस आक्षेपका समाधान शास्त्रकारोंने नियम-विधिके आश्रयणसे किया है। उनका पक्ष है कि 'स्मृत्वा कर्माणि कुर्वीत' इस विधायक वाक्यसे तत्तत्कर्मोंके अनुष्ठान-कालमें विहित स्मरणके लिये उपायान्तरके अवलम्बनसे तत्तत्प्रकरणपठित मन्त्रोंका वैयर्थ्य आपतित होता है, अतः 'मन्त्रैरेव स्मृत्वा कर्माणि कुर्वीत' (मन्त्रोंसे ही स्मरण करके कर्म करना चाहिये)—यह नियम विधिद्वारा स्वीकृत किया जाता है। इसी प्रसंगको आचार्य यास्कने अपने निरुक्त ग्रन्थमें उठाकर उसके समाधानमें एक व्यावहारिक युक्ति प्रस्तुत की है। उनका तर्क है कि मनुष्योंकी विद्या (ज्ञान) अनित्य है, अतः अविगुण कर्मके द्वारा फलसम्प्राप्ति-हेतु वेदोंमें मन्त्र-व्यवस्था है।[4] तात्पर्य यह है कि इस सृष्टिमें प्रत्येक मनुष्य बुद्धि-ज्ञान, शब्दोच्चारण एवं स्वभावादिमें एक-दूसरेसे नितान्त भिन्न एवं न्यूनाधिक है। ऐसी स्थितिमें यह सर्वथा सम्भव है कि सभी मनुष्य विशुद्धतया एक-जैसा कर्मानुष्ठान नहीं कर सकते। यदि कर्मानुष्ठान एक-रूपमें नहीं किया गया तो वह फलदायक नहीं होगा—इस दुरवस्थाको मिटानेके लिये वैदिक मन्त्रोंके द्वारा कर्मानुष्ठानका विधान किया गया। चूँकि वेदोंमें नियतानुपूर्वी है एवं स्वर-वर्णादिकी निश्चित उच्चारण-विधि है, अतः बुद्धि ज्ञान एवं स्वभावमें भिन्न रहनेपर भी प्रत्येक मनुष्य उसे एकरूपतया गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण-विधिसे अधिगत कर उसी तरह कर्ममें प्रयोग करेगा, जिसके फलस्वरूप सभीको निश्चित फलकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार मन्त्रोंके द्वारा ही कर्मानुष्ठान किया जाना सर्वथा तर्कसंगत एवं साम्यवादी व्यवस्था है।

याज्ञिक दृष्टिसे मन्त्र चार प्रकारके होते हैं—

१-करण मन्त्र, २-क्रियमाणानुवादि मन्त्र, ३-अनुमन्त्रण मन्त्र और ४-जपमन्त्र।

—इनमें जिस मन्त्रके उच्चारणानन्तर ही कर्म किया जाता है, वह 'करण मन्त्र' है। यथा—याज्या पुरोऽनुवाक् आदि। कर्मानुष्ठानके साथ-साथ जो मन्त्र पढ़ा जाता है, वह 'क्रियमाणानुवादि मन्त्र' होता है। यथा—युवा सुवासा० आदि। जब यज्ञमें यूप-संस्कार किया जाता है तभी यह मन्त्र पढ़ा जाता है। कर्मके ठीक बाद जो मन्त्र पढ़ा जाता है वह 'अनुमन्त्रण मन्त्र' कहलाता है। यथा—एका मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि० आदि। यह मन्त्र द्रव्यत्याग-रूप याग किये जानेके ठीक बाद यजमानद्वारा पढ़ा जाता है। इनके अतिरिक्त जो 'मर्यादमिति यजमानो जपति' (का० श्रौ०, ३। ४। १२) इत्यादि वाक्योंद्वारा विहित सन्निपत्योपकारक[5] होते हैं, वे 'जपमन्त्र' हैं। इनमें प्रथम त्रिविध मन्त्रोंका अनुष्ठेयस्मारकत्व-

१-याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्। तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते॥ (जै० न्या० मा० २। १। ७)।

२-प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः (अ० सं०, पृ० १५७)।

३-न तु तदुच्चारणमदृष्टार्थत्वम्, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् (अ० सं० मन्त्र-विचार-प्रकरण)।

४-पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे (नि० १। २। ७)।

५-मीमांसादर्शनके अनुसार अङ्ग दो प्रकारके होते हैं—१-सिद्धरूप और २-क्रियारूप। इनमें जाति द्रव्य एवं संख्या आदि 'सिद्धरूप' हैं क्योंकि इन सबका प्रयोजन प्रत्यक्ष (दिखायी देनेवाला) है। क्रियारूप अङ्गके दो भेद हैं—(१) गुणकर्म और (२) प्रधान कर्म। इनमें गुणकर्मको 'सन्निपत्योपकारक' कहते हैं। 'सन्निपत्य द्रव्यादिषु सम्बध्य उपकुर्वन्ति तानि' अर्थात् जो साक्षात् न होकर किसीके माध्यमसे मुख्य भागके उपकारक होते हैं। यथा—'व्रीह्यवघात एवं सेचनादि'। जो साक्षात् रूपमें प्रधान क्रियाके उपकारक होते हैं उन्हें 'प्रधानकर्म' या आरादुपकारक कहते हैं।

रूप दृष्ट प्रयोजन है। जपमन्त्राका अदृष्ट मात्र प्रयोजन है, ऐसा याज्ञिका एव मीमासकाका सिद्धान्त है।

मन्त्राक लक्षणके सम्बन्धम वस्तु-स्थितिका विचार किया जाय तो ज्ञात हाता हे कि काई भी लक्षण सटीक नहीं है। ऐसा इसलिये हे कि वेदिक मन्त्र नानाविध हें।[१] यही कारण है कि आपस्तम्बादि आचार्योंने ब्राह्मण-भाग एव अर्थवादका लक्षण करनके अनन्तर कह दिया—'अतोऽन्ये मन्त्रा '[२] अथात् इनके अतिरिक्त सभी मन्त्र हैं।

विधिभाग—मन्त्रातिरिक्त वेद-भाग 'ब्राह्मण' पदसे अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण शब्द 'ब्रह्मन्' शब्दसे 'अण्' प्रत्यय करनपर नपुसक लिङ्गम वेदराशिके अभिधायक अर्थम सिद्ध हाता है। आचार्य जेमिनिने ब्राह्मणका लक्षण करते हुए कहा है कि—मन्त्रसे वचे हुए भागम 'ब्राह्मण' शब्दका व्यवहार जानना चाहिये।[३] आचार्य भट्ट-भास्करके अनुसार कर्म और कर्मम प्रयुक्त हानेवाले मन्त्रोंके व्याख्यान-ग्रन्थ ब्राह्मण हैं।[४] म०म० विद्याधर शर्माजीक अनुसार—चारा वेदोंके मन्त्रोंके कर्मोंमें विनियाजक, कर्मविधायक, नानाविधानादि इतिहास-आख्यानवहुल ज्ञान-विज्ञानपूर्ण वेदभाग ब्राह्मण है।[५]

ब्राह्मणक दा भेद ह—(१) विधि और (२) अर्थवाद। आचार्य आपस्तम्बने दोनाका भेद प्रदर्शित करते हुए कहा है—कमको आर प्रेरित करनवाली विधियाँ ब्राह्मण हें तथा ब्राह्मणका शप भाग अर्थवाद है।[६] आचार्य लौगाक्षि भास्करके अनुसार अज्ञात अर्थको अवबाधित करानेवाल वेदभागको विधि कहते हैं।[७] यथा—'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम ' अर्थात् स्वर्गरूपी फलकी प्राप्ति करनेके लिये अग्निहात्र करना चाहिय—यह विधिवाक्य, अन्य प्रमाणसे अप्राप्त स्वर्ग-फलयुत हामका विधान करता है, अत अज्ञातार्थ-ज्ञापक है। आचार्य सायणन विधिक दा भेद बतलाये हें—(१) अप्रवृत्तप्रवर्तन-विधि आर (२) अज्ञातार्थ-ज्ञापन-विधि। इनम 'आग्नावैष्णव पुरोडाश निर्वर्णनादीक्षणीयम्' इत्यादि कमकाण्डगत विधियाँ अप्रवृत्तकी आर प्रवृत्त करनेवाली हें। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादि ब्रह्मकाण्डगत विधियाँ प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणासे अज्ञात विपयका ज्ञान करानवाली हें। यहाँ यह ध्यातव्य हे कि आचार्य लौगाक्षि भास्कर कर्मकाण्ड एव ब्रह्मकाण्डगत सभी विधियाका अज्ञातार्थ-ज्ञापन मानते हैं, किंतु आचार्य सायणन सूक्ष्म दृष्टि अपनाते हुए कर्मकाण्डगत विधियाका 'अप्रवृत्तप्रवर्तन-विधि' कहा और ब्रह्मकाण्डगत विधियाको 'अज्ञातार्थ-ज्ञापन-विधि' माना।[८]

मीमासादर्शनम याज्ञिक विचारकी दृष्टिसे विधि-भागक चार भद माने गय हें—(१) उत्पत्तिविधि, (२) गुणविधि या विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि आर (४) प्रयागविधि। इनम जो वाक्य 'यह कर्म इस प्रकार करना चाहिय' एवविध कर्मस्वरूप-मात्रक अववाधनम प्रवृत्त ह, वे 'उत्पत्तिविधि' कहे जाते हें, यथा—'अग्निहोत्र जुहोति'। जा उत्पत्तिविधिसे विहित कर्मसम्बन्धी द्रव्य ओर देवताक विधायक हे, वे 'गुणविधि' ('विनियागविधि') कहे जात ह। यथा—'दध्ना जुहोति'। जा उन-उन कर्मोंम किसका अधिकार हे तथा किस फलक उद्देश्यसे कर्म करना चाहिय—यह बतलात हें, व 'अधिकारविधि' कह जाते हें। यथा—'यस्याहिताग्नरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपाल निर्वपेत्'। जा कर्मोके अनुष्ठानक्रमादिका वाधन कराते ह, वे 'प्रयोगविधि' हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य ह कि प्रयोगविधिक वाक्य साक्षात् उपलब्ध नहीं होते, अपितु प्रधान वाक्य (दर्शपूर्णमासाभ्याम्)-के साथ अङ्ग-वाक्या (सामधेयजति०)-की एकवाक्यता हाकर कल्पित

१-वृहद्देवता—(१। ३४)।
२-आप० श्रौ० सू० (२४। १। ३४)।
३- शेपे ब्राह्मणशब्द ' (मी० २। १। ३३)।
४- ब्राह्मणनाम कर्मणस्तन्मन्त्राणाञ्च व्याख्याग्रन्थ ' (तै० स० १। ५। १ पर भाष्य)।
५-'वेदचतुष्टयमन्त्राणा कर्मसु विनियाजक कर्मविधायका नानाविधानादितिहासाख्यानबहुला ज्ञानविज्ञानपूर्णो भागो ब्राह्मणभाग । (श०ब्रा०भू० [illegible])
६-कर्मचोदना ब्राह्मणानि। ब्राह्मणशपोऽर्थवाद (आप० परि० ३४। ३५) 'चोदनति क्रियाया प्रवर्तकवचनमाहु (भाष्य)।
७-तत्रानातार्थज्ञापको वेदभागो विधि (अ० स० पृ० ३६)।
८-ऋ० भा० भू० विधिप्रामाण्य-विचार।

वाक्य (प्रमाणानुयाजादिभिरुपकृतवद्भ्या दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत) ही प्रयोगविधिका परिचायक होता है।

अर्थवाद—आचार्य आपस्तम्बने ब्राह्मण (कर्मकी ओर प्रवृत्त करनेवाली विधिया)-से अतिरिक्तको शेष अवशिष्ट अर्थवाद कहा है।[1] अर्थसंग्रहकारने अर्थवादका लक्षण करते हुए कहा है—प्रशसा अथवा निन्दापरक वाक्यको अर्थवाद कहते ह।[2] यथा—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता। स्तेन मन अनृतवादिनी वाक् आदि।

अर्थवाद-वाक्याको लेकर पाश्चात्त्य वेद-विचारको एव कतिपय भारतीय विचारकोने वेदके प्रामाण्य एव उसकी महत्तापर तीखे प्रहार किये ह। इसके मूलम आलोचकाका भारतीय चिन्तन-दृष्टिसे असम्पर्कित रहना है। भारतीय चिन्तन-दृष्टि (मीमासा)-मे अर्थवाद विधेय अर्थकी प्रशसा करता है तथा निषिद्ध अर्थकी निन्दा। किंतु इस काय (प्रशसा और निन्दा)-मे अर्थवाद मुख्यार्थद्वारा अपने तात्पर्यार्थकी अभिव्यक्ति नही करता, अपितु शब्दकी लक्षणा शक्तिका आश्रय ग्रहण करता ह। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मीमासक-दृष्टिसे समस्त वेद क्रियापरक हैं[3] तथा यागादि क्रियाद्वारा ही अभीष्ट-प्राप्ति एव अनिष्टका परिहार किया जा सकता ह। यत 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इस विधानसे वेदके अन्तर्गत ही अर्थवाद भी है, अत उनको भी क्रियापरक मानना उचित है। जैसा कि पहले कहा गया है कि अर्थवादका प्रयोजन विधेयका प्रशसा एव निषिद्धकी निन्दामे प्रकट होता है। विधान एव निषेध क्रियाका ही होता है अत परम्परया अर्थवाद-वाक्य क्रिया (याग या धर्म)-परक होते हैं, अतएव उनका प्रामाण्य एव उपादेयता सर्वथा सिद्ध है। इसी बातको आचार्य जैमिनिने इन शब्दाम कहा है—विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीना स्यु ।[4] उन्नीसवीं शतीके पूर्वार्धके बादसे पाश्चात्त्य नव्य वेदार्थ-विचारकों—वर्गाइन आदिने भारतीय चिन्तनकी इस दृष्टिको समझा तथा उसके आलोकमे नये सिरसे वेदार्थ-विचारमे दृष्टि डाली।

प्राशस्त्य और निन्दासे सम्बन्धित अर्थवाद-वाक्य क्रमश विधिशेष एव निषेधशेष-रूपसे अभिहित किये गये हैं।[5] विधि अर्थात् विधायक वाक्य, शेष—अर्थवाद-वाक्य दोनो मिलकर एक समग्र वाक्यका रचना करते हैं, जो कि विशिष्ट प्रभावोत्पादक बनता ह। उदाहरणार्थ—'वायव्य श्वेतमालभेत भूतिकाम' यह विधि-वाक्य है। इसका शेष—अर्थवाद वाक्य है—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'। यहाँ वायुकी प्रशसा विधिशेषात्मक अर्थवादसे की गयी है। उपर्युक्त दोनो वाक्योंको एकवाक्यता करके लक्षणाद्वारा यह विदित होता है कि वायुदेवता शीघ्रगामी हैं अत वे ऐश्वर्य भी शीघ्र प्रदान करते हैं। अब इस विशिष्ट प्रभावोत्पादक अर्थको सुनकर अधिकारी व्यक्तिकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार निषेध-शेषात्मक अर्थवादका भी साफल्य जानना चाहिये।

अर्थवादद्वारा प्रतिपादित विषय-परीक्षणकी दृष्टिसे शास्त्रमें इसके तीन भेद माने गये ह—(१) गुणवाद, (२) अनुवाद और (३) भूतार्थवाद।

गुणवाद नामक अर्थवादमे प्रतिपाद्य अर्थका प्रमाणान्तरसे विरोध होता ह। यथा—'आदित्यो यूप'। यहाँ यूपका आदित्यके साथ अभेद प्रतिपादित ह, जो कि प्रत्यक्षतया बाधित है। अत अर्थसिद्धिके लिये ऐसे स्थलापर लक्षणाका आश्रय लेकर यूपका 'उज्ज्वलत्वादिगुणयोगेनादित्यात्मकत्वम्' अर्थ किया जाता है।

अनुवाद-संज्ञक अर्थवादमे पूर्वपरिज्ञात या पूर्वानुभूत प्रमाणसे अर्थका बाध होता ह जबकि प्रतिपाद्य विषयमें केवल उसका 'अनुवाद' मात्र रहता है। उदाहरणार्थ—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इस वाक्यमे प्रत्यक्षतया सिद्ध है कि अग्नि शैत्यका औषध ह। इस पूर्वपरिज्ञात या पूर्वानुभूत विषय (यत्र यत्राग्निस्तत्र तत्र हिमनिरोध)-का प्रकाशन इस दृष्टान्तमे है, अत यह अनुवाद है।

१-ब्राह्मणशेषोऽर्थवाद ।

२-प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपर वाक्यमर्थवाद (अ० स०)।

३-आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्० (जै० सू०)।

४-जै० सू० (१। २। ७)।

५-स द्विविध —विधिशेषो निषेधशेषश्चेति।

तृतीय भूतार्थवादमें भूतार्थका अर्थ पूर्वघटित किसी यथार्थ वस्तुके ज्ञापनसे है। यहाँ गुणवाद अर्थवादकी भाँति न तो किसी प्रमाणान्तरसे विरोध होता है और न ही अनुवाद अर्थवादकी भाँति प्रमाणान्तरावधारण होता है। अतएव शास्त्रमें इसका लक्षण किया गया है—'प्रमाणान्तर-विरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवाद ।' इसका दृष्टान्त है—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्।' कहीं भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे इस कथनका विरोध हो, अत प्रमाणान्तर-अविरोध है, साथ ही ऐसा भी प्रमाण नहीं है जिससे इसका समर्थन हो, अत प्रमाणान्तरावधारण भी नहीं है। इस प्रकार उभय पक्षके अभावमें यह वाक्य भूतार्थवादका उदाहरण है।

अर्थवाद-भागको आचार्य पारस्करने 'तर्क' शब्दसे अभिहित किया है।[१] आचार्य कर्कने 'तर्क' पदकी व्याख्या करते हुए कहा कि जिसके द्वारा संदिग्ध अर्थका निश्चय किया जा सके, वह तर्क अर्थात् अर्थवाद है।[२] इसका उदाहरण देते हुए कहा कि—'अक्ता शर्करा उपदधाति तेजो वै घृतम्' इस वाक्यमें प्राप्त अञ्जन, तैल तथा वसा आदि द्रव्योंसे भी सम्भव है, किंतु 'तेजो वै घृतम्' इस घृतसस्तावक अर्थवाद-वाक्यसे संदेह निराकृत होकर घृतसे अञ्जन करना यह स्थिर होता है। इस प्रकार अर्थवाद-भाग महदुपकारक है।

आपस्तम्ब, पारस्कर आदि आचार्योंने वेदके तीन ही भाग माने हैं—विधि, मन्त्र और अर्थवाद। अर्थ-संग्रहकारने वेदके पाँच भाग माने हैं—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद।[३]

नामधेय—जैसा कि संज्ञासे स्पष्ट है, नामधेय-प्रकरणमें कतिपय नामोंसे जुड़े हुए विशेष भागोंकी आलोचना होती है। इनमें 'उद्भिदा यजेत पशुकाम ', 'चित्रया यजेत पशुकाम ', 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'श्येनेनाभिचरन् यजेत'—ये चार वाक्य ही प्रमुख हैं। नामधेय विजातीयकी निवृत्तिपूर्वक विधेयार्थका निश्चय कराता है।[४] यथा—'उद्भिदा यजेत पशुकाम ' इस वाक्यमें पशु-रूप फलके लिये यागका विधान किया गया है। यह याग वाक्यान्तरसे अप्राप्त है और इस वाक्यद्वारा विहित किया जा रहा है। यदि इस वाक्यसे 'उद्भिद्' शब्द हटा दिया जाय तो 'यजेत पशुकाम ' यह वाक्य होगा, जिसका अर्थ है—'यागेन पशुं भावयेत्', किंतु इससे याग-सामान्यका विधान होगा जो कि अविधेय है, क्योंकि याग-विशेषका नाम अभिहित किये बिना अनुष्ठान सम्भव नहीं है। 'उद्भिदा' पदद्वारा इस प्रयोजनकी पूर्ति होती है, अत 'उद्भिद्' यागका नाम हुआ तथा याग-विशेषका निर्देशक होनेसे विधेयार्थ-परिच्छेद भी हुआ। नामधेयत्व चार कारणोंसे होता है—(१) मत्वर्थ-लक्षणाके भयसे, (२) वाक्य-भेदके भयसे, (३) तत्प्रख्यशास्त्रसे और (४) तद्व्यपदेशसे।

निषेध—जो वाक्य पुरुषको किसी क्रियाको करनेसे निवृत्त कराता है, उसे 'निषेध' कहते हैं।[५] शास्त्रोंने नरकादिको अनर्थ माना है। इस नरक-प्राप्तिका हेतु कलञ्जभक्षणादि है, अत पुरुषको ऐसे कार्योंसे 'निषेध-वाक्य' निवर्तित करते हैं। इस प्रकार अनर्थ उत्पन्न करनेवाली क्रियाओंसे पुरुषका निवर्तन कराना ही निषेध-वाक्योंका प्रयोजन है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (विधिमन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवाद-रूप) वेदमें कतिपय विचारकोंने ब्राह्मण-भागको वेद नहीं माना है। उनके प्रधान तर्क ये हैं—

(१) ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हींका नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है।

(२) एक कात्यायनको छोड़कर किसी अन्य ऋषिने उनके वेद होनेमें साक्षी नहीं दी है।

(३) ब्राह्मण-भागको भी यदि वेद माना जाय तो 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि'[६] इत्यादि पाणिनि-सूत्रमें

१-विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेद (पा० गृ० सू० २। ६। ६)।
२-तर्कशब्देनार्थवादोऽभिधीयते। तर्क्यते ह्यनेन संदिग्धोऽर्थ (पा० गृ० सू० २। ६। ५ पर कर्क)।
३-स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविध ।
४-नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम् (अ० सं०)।
५-पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेध (अ० सं०)।
६-पा० सू० (४। २। ६६)।

'छन्द ' शब्दके ग्रहणसे ही ब्राह्मणाका भी ग्रहण हो जानेसे अलगसे 'ब्राह्मण' शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ हागा।

(४) ब्राह्मण-ग्रन्थ चूँकि मन्त्राके व्याख्यान हैं, अत ईश्वरोक्त नहीं है, अपितु महर्षि लोगाद्वारा प्राक्त हैं।

इसक समाधानमे यह कहना अत्यन्त सगत है कि ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणाको पुराण अथवा इतिहास नहीं कहा जाता, रामायण, महाभारत, विष्णुपुराण आदिको ही इतिहास, पुराण कहा जाता है। यदि पुरातन अर्थक प्रतिपादक होनेसे तथा ऐतिहासिक अर्थके प्रतिपादक हानसे इनको पुराण-इतिहास कहा जायगा तो इस तरहकी सज्ञासे 'वद' सज्ञाका कोई विरोध नही है, 'वेद' सज्ञाक रहते हुए भी ब्राह्मण-भागकी पुराण-इतिहास सज्ञा भी हो सकती है। भारतीय दृष्टिस—भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ वेदस ज्ञात हाता है।[1] अत जिस प्रकार कम्बु-ग्रीवादिसे युक्त एक ही पदार्थक घट कलश आदि अनेक नामधेय होनेसे कोई विरोध उपस्थित नहीं होता, उसी तरह एक ही ब्राह्मण-ग्रन्थके वेद होनेम और पुराण-इतिहास हानम काई विरोध नहीं ह।[2]

कात्यायनको छोडकर किसी अन्य ऋषिने ब्राह्मण-भागके वेद होनेम प्रमाण नहीं दिया है—यह कथन भा आधाररहित हे क्याकि भारतीय दृष्टिस किसी भा आप्त ऋषिका प्रामाण्य अव्याहत है। फिर ऐसी वात भी नहीं है कि अन्य ऋषियाने ब्राह्मण-भागके वेदत्वको नहीं स्वीकारा है। आपस्तम्ब श्रोतसूत्र, सत्यापाढ श्रौतसूत्र, चौधायन गृह्यसूत्र आदि ग्रन्थाम तत्तत् आचार्योने मन्त्र और ब्राह्मण दानाको वद माना है। अत यह शका निर्मूल सिद्ध हाती हे।

पाणिनिक 'छन्दोब्राह्मणानि०' इत्यादि सूत्राम 'छन्द ' शब्दसे हो ब्राह्मणका ग्रहण माननेपर 'ब्राह्मणानि' यह पद व्यर्थ होगा, अत यह कथन भी तर्क-सगत नहीं है। आचार्य पाणिनिने 'छन्दस्' पदसे मन्त्र और ब्राह्मण दानाका ग्रहण किया है क्याकि 'छन्दस्' इस अधिकारम जा-जा आदश, प्रत्यय स्वर आदिका विधान किया गया ह व दोनाम पाय जात हैं। जा कार्य कवल मन्त्र-भागम इष्ट था, उनके लिये सूत्राम मन्त्रे' पद तथा जा ब्राह्मणम इष्ट था उनक लिय 'ब्राह्मण' पद दिया हैं। यह भी ध्यातव्य है कि 'छन्द ' पद यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदका बाधक है किंतु कभी-कभी वे इनमसे किसी एक अवयवके भी बोधक होते हे। महाभाष्य पस्पशाह्निक एव ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्यमे यह स्पष्ट किया गया है कि समुदायाथक शब्दाकी कभी-कभी उनके अवयवाक लिये भी प्रवृत्ति देखी जाती है। यथा—'पूर्वपाञ्चाल, उत्तरपाञ्चाल आदिका प्रयोग।' अत शास्त्रमे छन्द अथवा वद शब्द केवल मन्त्रभाग, केवल ब्राह्मण-भाग अथवा दोनो भागाके लिये प्रसगानुसार प्रयुक्त होते हैं।

ब्राह्मण-भाग मन्त्राक व्याख्यान हैं, अत वे वेदान्तर्गत नहीं हो सकते—यह कथन भी सर्वथा असगत है। मीमासा एव न्यायशास्त्रम वेदके जो विषय-विभाग किये गये हैं—विधि, अर्थवाद नामधेय और निषेध, वे सभी मुख्यतया ब्राह्मणमे ही घटित हाते हैं। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय-सहिता आदिम ता मन्त्र ओर ब्राह्मण सम्मिलित-रूपम ही हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि महाभाष्यकार पतञ्जलिन यह विचार उठाया है कि व्याकरण केवल सूत्राको कहना चाहिये या व्याख्यासहित सूत्राको? इसका सिद्धान्त यही दिया गया है कि व्याख्यासहित सूत्र ही व्याकरण है। इसी प्रकार व्याख्या (ब्राह्मण)-सहित मन्त्र वेद ह। इसक अतिरिक्त ब्राह्मण-भाग मात्र मन्त्राका व्याख्यान नहीं करता, अपितु यज्ञादि कर्मोकी विधि इतिकर्तव्यता स्तुति तथा ब्रह्मविद्या आदिका स्वतन्त्रतया विधान करता है। अत ब्राह्मण-भागका वेदत्व सर्वथा अव्याहत हे।

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके विषय-सम्बन्धी तीन भेद परम्परासे चले आ रह हैं। इनमे कर्मकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम 'ब्राह्मण' उपासनाकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम 'आरण्यक' तथा ज्ञानकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम 'उपनिषद्' ह।

वेदका विभाजन—भारतीय वाङ्मयम वतलाया गया है कि सृष्टिके प्रारम्भम ऋग्यजु साम-अथर्वात्मक वद एकत्र सकलित था। सत्ययुग, त्रेतायुग तथा द्वापरयुगकी लगभग समाप्तितक एकरूप वेदका ही अध्ययन-अध्यापन यथाक्रम

१-भूत भव्य भविष्य च सर्वं वदात् प्रसिध्यति॥ (मनु० १२। ९७)।
२-वेदार्थपारिजात।

चलता रहा। द्वापरयुगकी समाप्तिके कुछ वर्षों-पूर्व महर्षि व्यासने भावी कलियुगके व्यक्तियोकी बुद्धि, शक्ति और आयुष्यके ह्रासकी स्थितिको दिव्य-दृष्टिसे जानकर ब्रह्मपरम्परासे प्राप्त एकात्मक वेदका यज्ञ-क्रियानुरूप चार विभाजन किया। इन चार विभाजनाम उन्होने होत्रकर्मके उपयोगी मन्त्र एव क्रियाओका सकलन ऋग्वेदके नामसे, यज्ञके आध्वर्यव कर्म (आन्तरिक मूलस्वरूप-निर्माण)-के उपयोगी मन्त्र एव क्रियाओका सकलन यजुर्वेदके नामसे, औद्गात्र कर्मके उपयोगी मन्त्र एव क्रियाओका सकलन सामवेदके नामसे और शान्तिक-पौष्टिक अभिलाषाओ (जातविद्या)-के उपयोगी मन्त्र एव क्रियाओका सकलन अथर्ववेदके नामसे किया। इस विभाजनम भगवती श्रुतिके वचनको ही आधार रखा गया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सम्प्रति प्रवर्तमान वेद-शब्दराशिका वैवस्वत मन्वन्तरमे कृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासद्वारा यह २८वाँ विभाजन है। अर्थात् पौराणिक मान्यताके अनुसार इकहत्तर चतुर्युगीका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक चतुर्युगीके अन्तर्गत द्वापरयुगकी समाप्तिम विशिष्ट तप सम्पन्न महर्षिके द्वारा एकात्मक वेदका चार विभाजन अनवरत होता रहता है। यह विभाजन कलियुगके लिये होता है और कलियुगक अन्ततक ही रहता है। सम्प्रति मन्वन्तराम सप्तम वैवस्वत नामक मन्वन्तरका यह २८ वाँ कलियुग है। इसके पूर्व २७ कलियुग एव २७ ही वेदविभागकर्ता वेदव्यास (विभिन्न नामोंके) हो चुके हैं। वेदाका यह २८वाँ उपलब्ध विभाजन महर्षि पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायनके द्वारा किया गया है। वेदोका विभाजन करनेके कारण ही उन महर्षिको 'वेदव्यास' शब्दसे जाना जाता है।

चार वेद और उनकी यज्ञपरकता—जैसा कि ऊपर कहा गया है वेदविभागकर्ता व्यासोपाधि-विभूषित महर्षि कृष्णद्वैपायनने यज्ञ-प्रयोजनकी दृष्टिसे वेदका ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—यह विभाजन प्रसारित किया, क्योकि भारतीय चिन्तनमे वेदोका अभिप्रवर्तन ही यज्ञ एव उसके माध्यमसे समस्त ऐहिकामुष्मिक फलसिद्धिके लिये हुआ है। वैदिक यज्ञाका रहस्यात्मक स्वरूप क्या है एव साक्षात्कृतधर्मा ऋषियोने किन बीजोद्वारा प्रकृतिसे अभिलषित पदार्थोंका दोहन इस भौतिक यज्ञके माध्यमसे आविष्कृत किया, यह पृथक् विवेचनीय विषय है। यहाँ स्थूलदृष्ट्या यह जानना है कि प्रत्येक छोटे (इष्टि) और बडे (सोम, अग्निचयन) यज्ञाम मुख्य चार ऋत्विक्—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा होते हैं। बडे यज्ञोमे एक-एकके तीन सहायक और होकर सोलह ऋत्विक् हो जाते है, किंतु वे तीन सहायक उसी मुख्यके अन्तर्गत मान लिये जाते हैं। इनमे 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् द्रव्य-देवतात्यागात्मक यज्ञस्वरूपका निर्माण यजुर्वेदसे करता है। 'होता' नामक ऋत्विक् यज्ञके अपेक्षित शस्त्र (अप्रगीत मन्त्रसाध्य स्तुति) एव अन्य अङ्गकलापोका अनुष्ठान ऋग्वेदद्वारा तथा 'उद्गाता' नामक ऋत्विक् स्तोत्र (गेय मन्त्रसाध्य स्तुति) और उसके अङ्गकलापोका अनुष्ठान सामवेदद्वारा करता है। 'ब्रह्मा' नामक चतुर्थ ऋत्विक् यज्ञिय कर्मोंके न्यूनादि दोषाका परिहार एव शान्तिक-पौष्टिक-आभिचारिकादि सर्वविध अभिलाष-सम्पूरक कर्म अथर्ववेदद्वारा सम्पादित करता है।

वेद-त्रयी—कतिपय अर्वाचीन वेदार्थ-विचारक 'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' (श० ब्रा० १०। ३। ६। २), 'त्रयी वै विद्या' (श० ब्रा० ४। ६। ७। १), 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी' इत्यादि वचनोके द्वारा वेद वस्तुत तीन हैं तथा कालान्तरमे अथर्ववेदको चतुर्थ वेदके रूपमे मान्यता दी गयी—ऐसी कल्पना करते हैं, किंतु यह कल्पना भारतीय परम्परासे सर्वथा विपरीत है। भारतीय आचार्योंने रचना-भेदकी दृष्टिसे वेदचतुष्टयीका त्रित्वमे अन्तर्भाव कर उसे लक्षित किया है। रचना-शैली तीन ही प्रकारकी होती है—(१) गद्य, (२) पद्य और (३) गान। इस दृष्टिसे—छन्दमे आबद्ध, पादव्यवस्थासे युक्त मन्त्र 'ऋक्' कहलाते हैं, वे ही गीति-रूप होकर 'साम' कहलाते हैं तथा वृत्त एव गीतिसे रहित प्रश्लिष्टपठित (-गद्यात्मक) मन्त्र 'यजुष्' कहलाते हैं।[1] यहाँ यह ध्यातव्य है कि छन्दोबद्ध ऋग्विशेष मन्त्र ही अथर्वाङ्गिरस हैं, अत उनका ऋग्रूपा (पद्यात्मिका) रचना-शैलीमे ही अन्तर्भाव हो जाता है और इस प्रकार वेदत्रयीकी अन्वर्थता होती है।

१-पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋच । गीतिरूपा मन्त्रा सामानि। वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि।

वैदिक वाङ्मयका शास्त्रीय स्वरूप

(डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

सस्कृत साहित्यकी शब्द-रचनाकी दृष्टिसे 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान होता है, परतु इसका प्रयोग साधारणतया ज्ञानके अर्थमे नहीं किया जाता। हमारे महर्षियाने अपनी तपस्याके द्वारा जिस 'शाश्वत ज्योति' का परम्परागत शब्द-रूपसे साक्षात्कार किया, वही शब्द-राशि 'वेद' है। वेद अनादि हैं ओर परमात्माके स्वरूप हैं। महर्षियाद्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट होनेके कारण इनमे कहीं भी असत्य या अविश्वासके लिये स्थान नहीं है। ये नित्य हैं और मूलमे पुरुष-जातिसे असम्बद्ध होनेके कारण अपौरुषेय कहे जाते हैं।

वेद अनादि-अपौरुषेय और नित्य हैं तथा उनकी प्रामाणिकता स्वत सिद्ध है, इस प्रकारका मत आस्तिक सिद्धान्तवाले सभी पौराणिका एव साख्य, योग मीमासा ओर वेदान्तके दार्शनिकाका है। न्याय ओर वैशेषिकके दार्शनिकाने वेदको अपौरुषेय नही माना है, पर वे भी इन्हे परमेश्वर (पुरुषोत्तम)-द्वारा निर्मित, परतु पूर्वानुरूपीका ही मानते हैं। इन दोना शाखाओके दार्शनिकाने वेदको परम प्रमाण माना है और आनुपूर्वी (शब्दोच्चारणक्रम)-को सृष्टिके आरम्भसे लेकर अबतक अविच्छिन्न-रूपसे प्रवृत्त माना है।

जो वेदको प्रमाण नहीं मानते, वे आस्तिक नहीं कहे जाते। अत सभी आस्तिक मतवाले वेदको प्रमाण माननेमे एकमत हैं, केवल न्याय और वैशेषिक दार्शनिकोकी अपौरुषेय माननेकी शैली भिन्न है। नास्तिक दार्शनिकोने वेदोको भिन्न-भिन्न व्यक्तियाद्वारा रचा हुआ ग्रन्थ माना है। चार्वाक मतवालोने तो वेदको निष्क्रिय लोगाकी जीविकाका साधन तक कह डाला है। अत नास्तिक दर्शनवाले वेदको न तो अनादि, न अपौरुषेय, और न नित्य ही मानते हैं तथा न इनकी प्रामाणिकताम ही विश्वास करते हैं। इसीलिये वे नास्तिक कहलाते हैं। आस्तिक दर्शनशास्त्रोने इस मतका युक्ति तर्क एव प्रमाणसे पूरा खण्डन किया है।

वेद चार है

वर्तमान कालमे वेद चार माने जाते हैं। उनके नाम है— (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद ओर (४) अथर्ववेद। द्वापरयुगकी समाप्तिके पूर्व वेदाके उक्त चार विभाग अलग-अलग नहीं थे। उस समय तो 'ऋक्', 'यजु' और 'साम'—इन तीन शब्द-शैलियाकी सग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनीय शब्द-राशि ही वेद कहलाती थी। यहाँ यह कहना भी अप्रासगिक नहीं होगा कि परमपिता परमेश्वरने प्रत्येक कल्पके आरम्भमे सर्वप्रथम ब्रह्माजी (परमेष्ठी प्रजापति)-के हृदयमे समस्त वेदाका प्रादुर्भाव कराया था, जो उनके चारों मुखामे सर्वदा विद्यमान रहते हैं। ब्रह्माजीकी ऋषिसतानाने आगे चलकर तपस्याद्वारा इसी शब्द-राशिका साक्षात्कार किया और पठन-पाठनकी प्रणालीसे इनका सरक्षण किया।

त्रयी

विश्वमे शब्द-प्रयोगकी तीन ही शैलियाँ होती हैं, जो पद्य (कविता), गद्य और गानरूपसे जन-साधारणमे प्रसिद्ध हैं। पद्यमे अक्षर-सख्या तथा पाद एव विरामका निश्चित नियम रहता है। अत निश्चित अक्षर-सख्या और पाद एव विरामवाले वेद-मन्त्रोकी सज्ञा 'ऋक्' है। जिन मन्त्रामे छन्दके नियमानुसार अक्षर-सख्या और पाद एव विराम ऋषिदृष्ट नहीं हैं, वे गद्यात्मक मन्त्र 'यजु' कहलाते हैं और जितने मन्त्र गानात्मक हैं, वे मन्त्र 'साम' कहलाते हैं। इन तीन प्रकारकी शब्द-प्रकाशन-शैलियाके आधारपर ही शास्त्र एव लोकमे वेदके लिये 'त्रयी' शब्दका भी व्यवहार किया जाता है। 'त्रयी' शब्दसे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि वेदाकी सख्या ही तीन है, क्योकि 'त्रयी' शब्दका व्यवहार शब्द-प्रयोगकी शैलीके आधारपर है।

श्रुति—आम्नाय

वेदके पठन-पाठनके क्रममे गुरुमुखसे श्रवण कर स्वय अभ्यास करनेकी प्रक्रिया अबतक है। आज भी गुरुमुखसे श्रवण किये बिना केवल पुस्तकके आधारपर ही मन्त्राभ्यास करना निन्दनीय एव निष्फल माना जाता है। इस प्रकार वेदके सरक्षण एव सफलताकी दृष्टिसे गुरुमुखसे श्रवण करने एव उसे याद करनेका अत्यन्त महत्त्व है। इसी कारण

वेदको 'श्रुति' भी कहते हे। वेद परिश्रमपूर्वक अभ्यासद्वारा सरक्षणीय है। इस कारण इसका नाम 'आम्नाय' भी है। त्रयी, श्रुति और आम्नाय—ये तीना शब्द आस्तिक ग्रन्थाम वेदके लिये व्यवहृत किये जाते हैं।

चार वेद

उस समय (द्वापरयुगकी समाप्तिके समय)-म भी वेदका पढाना और अभ्यास करना सरल कार्य नहीं था। कलियुगमे मनुष्याकी शक्तिहीनता और कम आयु होनेकी बातको ध्यानमे रखकर वेदपुरुष भगवान् नारायणके अवतार श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी महाराजने यज्ञानुष्ठानके उपयोगको दृष्टिगत रखकर उस एक वेदके चार विभाग कर दिये और इन चारो विभागाकी शिक्षा चार शिष्याको दी। ये ही चार विभाग आजकल ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदक नामसे प्रसिद्ध हैं। पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक—इन चार शिष्याने अपने-अपने अधीत वेदोके सरक्षण एव प्रसारके लिये शाकल आदि अपने भिन्न-भिन्न शिष्योको पढाया। उन शिष्याके मनोयोग एव प्रचारके कारण वे शाखाएँ उन्हींके नामसे आजतक प्रसिद्ध हो रही हैं। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि शाखाके नामसे सम्बन्धित कोई भी मुनि मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं है और न वह शाखा उसकी रचना है। शाखाके नामसे सम्बन्धित व्यक्तिका उस वेदशाखाकी रचनासे सम्बन्ध नहीं है, अपितु प्रचार एव सरक्षणके कारण सम्बन्ध है।

कर्मकाण्डमे भिन्न वर्गीकरण

वेदोका प्रधान लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान देना ही है, जिससे प्राणिमात्र इस असार ससारके बन्धनाके मूलभूत कारणोको समझकर इससे मुक्ति पा सके। अत वेदम कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—इन दोना विषयाका सर्वाङ्गीण निरूपण किया गया है। वेदाका प्रारम्भिक भाग कर्मकाण्ड है और वह ज्ञानकाण्डवाले भागसे बहुत अधिक है। कर्मकाण्डमे यज्ञानुष्ठान-सम्बन्धी विधि-निषेध आदिका सर्वाङ्गीण विवेचन है। इस भागका प्रधान उपयोग यज्ञानुष्ठानमे हाता है। जिन अधिकारी वैदिक विद्वानाको यज्ञ करानेका यजमानद्वारा अधिकार प्राप्त होता है, उनको 'ऋत्विक्' कहते है। श्रौतयज्ञम इन ऋत्विजाक चार गण ह। समस्त ऋत्विक् चार वर्गोंमे बँटकर अपना-अपना कार्य करते हुए यज्ञको सर्वाङ्गीण बनाते हैं। गणोके नाम हैं—(१) होतृगण, (२) अध्वर्युगण, (३) उद्गातृगण और (४) ब्रह्मगण।

उपर्युक्त चारा गणा या वर्गोंके लिये उपयोगी मन्त्राके सग्रहके अनुसार वेद चार हुए हे। उनका विभाजन इस प्रकार किया गया है—

ऋग्वेद—इसम होतृवर्गके लिये उपयोगी मन्त्राका सकलन है। इसका नाम ऋग्वेद इसलिये पडा हे कि इसमे 'ऋक्' सज्ञक (पद्यवद्ध) मन्त्राकी अधिकता है। इसमे होतृवर्गके उपयागी गद्यात्मक (यजु) स्वरूपके भी कुछ मन्त्र हैं। इसकी मन्त्र-सख्या अन्य वेदाकी अपेक्षा अधिक है। इसके कई मन्त्र अन्य वेदाम भी मिलते हैं। सामवेदम ता ऋग्वेदके मन्त्र ही अधिक ह। स्वतन्त्र मन्त्र कम हैं।

यजुर्वेद—इसमें यज्ञानुष्ठान-सम्बन्धी अध्वर्युवर्गक उपयागी मन्त्राका सकलन हे। इसका नाम यजुर्वेद इसलिये पडा हे कि इसम 'गद्यात्मक' मन्त्राकी अधिकता है। इसमे कुछ पद्यबद्ध, मन्त्र भी हैं जो अध्वर्युवर्गके उपयोगी हे। इसके कुछ मन्त्र अथर्ववेदम भी पाय जाते ह। यजुर्वेदके दो विभाग हैं—(१) शुक्लयजुर्वेद और (२) कृष्णयजुर्वेद।

सामवेद—इसम यज्ञानुष्ठानके उद्गातृवर्गके उपयोगी मन्त्राका सकलन है। इसका नाम सामवेद इसलिये पडा है कि इसमे गायन-पद्धतिके निश्चित मन्त्र ही हैं। इसके अधिकाश मन्त्र ऋग्वेदमे उपलब्ध हाते हे, कुछ मन्त्र स्वतन्त्र भी हैं।

अथर्ववेद—इसम यज्ञानुष्ठानके ब्रह्मवर्गके उपयोगी मन्त्राका सकलन है। इस ब्रह्मवर्गका काय हे यज्ञकी देख-रेख करना समय-समयपर नियमानुसार निर्देश दना यज्ञम ऋत्विजा एव यजमानके द्वारा कोई भूल हा जाय या कमी रह जाय तो उसका सुधार या प्रायश्चित्त करना। अथर्वका अर्थ हे कमियाको हटाकर ठीक करना या कमी-रहित बनाना। अत इसमे यज्ञ-सम्बन्धी एव व्यक्ति-सम्बन्धी सुधार या कमी-पूर्ति करनेवाले भी मन्त्र हे। इसम पद्यात्मक मन्त्राके साथ कुछ गद्यात्मक मन्त्र भी उपलब्ध हे। इस वेदका नामकरण अन्य वेदाकी भाँति शब्द-शैलीक आधारपर नही ह अपितु इसके

प्रतिपाद्य विषयके अनुसार है। इस वैदिक शब्दराशिका प्रचार एव प्रयोग मुख्यत अथर्व नामके महर्षिद्वारा किया गया। इसलिये भी इसका नाम अथर्ववेद है।

कुछ मन्त्र सभी वेदोंमें या एक-दो वेदोंमें समान-रूपसे मिलते हैं, जिसका कारण यह है कि चारों वेदोंका विभाजन यज्ञानुष्ठानके ऋत्विक् जनोंके उपयोगी होनेके आधारपर किया गया है। अत विभिन्न यज्ञावसरोंपर विभिन्न वर्गोंके ऋत्विजोंके लिये उपयोगी मन्त्रोंका उस वेदमें आ जाना स्वाभाविक है, भले ही वह मन्त्र दूसरे ऋत्विक्के लिये भी अन्य अवसरपर उपयोगी होनेके कारण अन्यत्र भी मिलता हो।

वेदोंका विभाजन और शाखा-विस्तार

आधुनिक विचारधाराके अनुसार चारों वेदोंकी शब्द-राशिके विस्तारमें तीन दृष्टियाँ पायी जाती हैं—(१) याज्ञिक दृष्टि, (२) प्रायोगिक दृष्टि और (३) साहित्यिक दृष्टि।

याज्ञिक दृष्टि—इसके अनुसार वेदोक्त यज्ञोंका अनुष्ठान ही वेदके शब्दोंका मुख्य उपयोग माना गया है। सृष्टिके आरम्भसे ही यज्ञ करनेमें साधारणतया मन्त्रोच्चारणकी शैली, मन्त्राक्षर एव कर्म-विधिमें विविधता रही है। इस विविधताके कारण ही वेदोंकी शाखाओंका विस्तार हुआ है। प्रत्येक वेदकी अनेक शाखाएँ बतायी गयी हैं। यथा—ऋग्वेदकी २१ शाखा, यजुर्वेदकी १०१ शाखा, सामवेदकी १,००० शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखा—इस प्रकार कुल १ १३१ शाखाएँ हैं। इस सख्याका उल्लेख महर्षि पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें भी किया है। अन्य वेदोंकी अपेक्षा ऋग्वेदमें मन्त्र-सख्या अधिक है फिर भी इसका शाखा-विस्तार यजुर्वेद और सामवेदकी अपेक्षा कम है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेदमें देवताओंके स्तुतिरूप मन्त्रोंका भण्डार है। स्तुति-वाक्योंकी अपेक्षा कर्मप्रयोगकी शैलीमें भिन्नता होनी स्वाभाविक है। अत ऋग्वेदकी अपेक्षा यजुर्वेदकी शाखाएँ अधिक हैं। गायन-शैलीकी शाखाओंका सर्वाधिक होना आश्चर्यजनक नहीं है। अत सामवेदकी १ ००० शाखाएँ बतायी गयी हैं। फलत कोई भी वेद शाखा-विस्तारके कारण एक-दूसरेसे उपयोगिता श्रद्धा एव महत्त्वमें कम-ज्यादा नहीं है। चारोंका महत्व समान है।

उपर्युक्त १,१३१ शाखाओंमेंसे वर्तमानमें केवल १२ शाखाएँ ही मूल ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं। वे हैं—

१—ऋग्वेदकी २१ शाखाओंमेसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) शाकल-शाखा और (२) शाखायन-शाखा।

२—यजुर्वेदमें कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखाओंमेसे केवल ४ शाखाओंके ग्रन्थ ही प्राप्त हैं—(१) तैत्तिरीय शाखा, (२) मैत्रायणीय शाखा (३) कठ शाखा और (४) कपिष्ठल शाखा।

शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाओंमेसे केवल २ शाखाओंके ग्रन्थ ही प्राप्त हैं—(१) माध्यन्दिनीय-शाखा और (२) काण्व-शाखा।

३—सामवेदकी १,००० शाखाओंमेसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) कौथुम-शाखा और (२) जैमिनीय-शाखा।

४—अथर्ववेदकी ९ शाखाओंमेसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) शौनक-शाखा और (२) पैप्पलाद-शाखा।

उपर्युक्त १२ शाखाओंमेसे केवल ६ शाखाओंकी अध्ययन-शैली प्राप्त है जो नीचे दी जा रही है—

ऋग्वेदमें केवल शाकल-शाखा, कृष्णयजुर्वेदमें केवल तैत्तिरीय शाखा और शुक्लयजुर्वेदमें केवल माध्यन्दिनीय शाखा तथा काण्व-शाखा, सामवेदमें केवल कौथुम-शाखा, अथर्ववेदमें केवल शौनक-शाखा। यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि अन्य शाखाओंके कुछ और भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किंतु उनसे उस शाखाका पूरा परिचय नहीं मिल सकता एव बहुत-सी शाखाओंके तो नाम भी उपलब्ध नहीं हैं। कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी शाखा महाराष्ट्रमें तथा सामवेदकी जैमिनीय शाखा केरलके कुछ व्यक्तियोंके ही उच्चारणमें सीमित हैं।

प्रायोगिक दृष्टि—इसके अनुसार प्रत्येक शाखाके दो भाग बताये गये हैं। एक मन्त्र-भाग और दूसरा ब्राह्मण-भाग।

मन्त्र-भाग—मन्त्र-भाग उस शब्दराशिको कहते हैं, जो यज्ञमें साक्षात्-रूपसे प्रयोगमें आती है।

ब्राह्मण-भाग—ब्राह्मण शब्दसे उस शब्दराशिका सकेत है, जिसमे विधि (आज्ञाबोधक शब्द), कथा, आख्यायिका एव स्तुतिद्वारा यज्ञ करानेकी प्रवृत्ति उत्पन्न कराना, यज्ञानुष्ठान करनेकी पद्धति बताना, उसकी उपपत्ति और विवेचनके साथ उसके रहस्यका निरूपण करना है। इस प्रायोगिक दृष्टिके दो विभाजनोमे साहित्यिक दृष्टिके चार विभाजनोका समावेश हो जाता है।

साहित्यिक दृष्टि—इसके अनुसार प्रत्येक शाखाकी वैदिक शब्द-राशिका वर्गीकरण—(१) सहिता, (२) ब्राह्मण, (३) आरण्यक और (४) उपनिषद्—इन चारा भागोंम है।

सहिता—वेदका जो भाग प्रतिदिन विशेषत अध्ययनीय है, उसे 'सहिता' कहते हैं। इस शब्द राशिका उपयोग श्रोत एव स्मार्त दोना प्रकारक यज्ञानुष्ठानामे होता है। प्रत्येक वेदकी अलग-अलग शाखाकी एक-एक सहिता है। वेदाके अनुसार उनको—(१) ऋग्वेद-सहिता, (२) यजुर्वेद-सहिता, (३) सामवेद-सहिता और (४) अथर्ववेद-सहिता कहा जाता है। इन सहिताआके पाठम उनके अक्षर, वर्ण, स्वर आदिका किचित् मात्र भी उलट-पुलट न हाने पाये, इसलिये प्राचीन अध्ययन-अध्यापनके सम्प्रदायमे (१) सहिता-पाठ, (२) पद-पाठ (३) क्रम-पाठ—ये तीन प्रकृति पाठ और (१) जटा, (२) माला, (३) शिखा (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ तथा (८) घन—य आठ विकृति पाठ प्रचलित हैं।

ब्राह्मण—वह वेद-भाग जिसम विशेषतया यज्ञानुष्ठानकी पद्धतिके साथ-ही-साथ तदुपयोगी प्रवृत्तिका उद्बोधन कराना, उसका दृढ करना तथा उसके द्वारा फल-प्राप्ति आदिका निरूपण विधि एव अर्थवादक द्वारा किया गया है, 'ब्राह्मण' कहा जाता है।

आरण्यक—वह वेद-भाग जिसम यज्ञानुष्ठान-पद्धति, याज्ञिक मन्त्र, पदार्थ एव फल आदिमे आध्यात्मिकताका सकेत दिया गया है, 'आरण्यक' कहलाता ह। यह भाग मनुष्यको आध्यात्मिक बोधकी आर झुकाकर सासारिक बन्धनासे ऊपर उठाता है। अत इसका विशप अध्ययन भी ससारक त्यागकी भावनाक कारण वानप्रस्थाश्रमक लिय अरण्य (जगल)-मे किया जाता ह। इसीलिये इसका नाम 'आरण्यक' प्रसिद्ध हुआ है।

उपनिषद्—वह वेद-भाग जिसम विशुद्ध रीतिसे आध्यात्मिक चिन्तनका ही प्रधानता दी गयी ह ओर फल-सम्बन्धी फलानुबन्धी कर्मोक दृढानुरागको शिथिल करना सुझाया गया है, 'उपनिषद्' कहलाता है। वदका यह भाग उसकी सभी शाखाआम हे, परतु यह बात स्पष्ट-रूपसे समझ लेनी चाहिय कि वर्तमानम उपनिषद् सज्ञाके नामसे जितन ग्रन्थ उपलब्ध ह, उनमसे कुछ उपनिषदा (ईशावास्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदि)-को छोडकर बाकीक सभी उपनिषद् उसी रूपमे किसी-न-किसी शाखाके उपनिषद्-भागमे उपलब्ध हो ऐसी बात नहीं है। शाखागत उपनिषदामेसे कुछ अशको सामयिक सामाजिक या वैयक्तिक आवश्यकताके आधारपर उपनिषद् सज्ञा दे दी गयी है। इसीलिये इनकी सख्या एव उपलब्धियामे विविधता मिलती है। वेदाम जा उपनिषद्-भाग हैं, वे अपनी शाखाआम सर्वथा अक्षुण्ण हैं। उनको तथा उन्हीं शाखाआके नामसे जो उपनिषद्-सज्ञाके ग्रन्थ उपलब्ध हे, दोनाको एक नहीं समझना चाहिये। उपलब्ध उपनिषद्-ग्रन्थाकी सख्यामसे ईशादि १० उपनिषद् ता सर्वमान्य हैं। इनके अतिरिक्त ५ ओर उपनिषद् (श्वेताश्वतरादि) जिनपर आचार्योकी टीकाएँ तथा प्रमाण-उद्धरण आदि मिलते हे सर्वसम्मत कहे जाते हैं। इन १५ के अतिरिक्त जो उपनिषद् उपलब्ध हैं, उनकी शब्दगत आजस्विता तथा प्रतिपादनशेली आदिकी विभिन्नता होनेपर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनका प्रतिपाद्य ब्रह्म या आत्मतत्त्व निश्चयपूवक अपोरुपय, नित्य, स्वत प्रमाण वेद-शब्द-राशिस सम्बद्ध है।

ऋषि, छन्द और देवता

वेदक प्रत्यक मन्त्रम किसी-न-किसी ऋषि, छन्द एव दवताका उल्लख हाना आवश्यक ह। कही-कहीं एक ही मन्त्रमे एकस अधिक ऋषि, छन्द आर दवताक नाम मिलत हैं। इसलिय यह आवश्यक हे कि एक ही मन्त्रम एकसे अधिक ऋषि, छन्द ओर दवता क्या ह यह स्पष्ट कर दिया जाय। इसका विवचन निम्न पक्तियाम किया गया है—

ऋषि—यह वह व्यक्ति है, जिसने मन्त्रके स्वरूपको यथार्थ रूपमें समझा है। 'यथार्थ'—ज्ञान प्रायः चार प्रकार-से होता है (१) परम्पराके मूल पुरुष होनेसे, (२) उस तत्त्वके साक्षात् दर्शनसे, (३) श्रद्धापूर्वक प्रयोग तथा साक्षात्कारसे और (४) इच्छित (अभिलषित)-पूर्ण सफलताके साक्षात्कारसे। अतएव इन चार कारणोंसे मन्त्र-सम्बन्धित ऋषियोंका निर्देश ग्रन्थोंमें मिलता है। जैसे—

१—कल्पके आदिमें सर्वप्रथम इस अनादि वैदिक शब्द-राशिका प्रथम उपदेश ब्रह्माजीके हृदयमें हुआ और ब्रह्माजीसे परम्परागत अध्ययन-अध्यापन होता रहा, जिसका निर्देश 'वंश-ब्राह्मण' आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। अतः समस्त वेदकी परम्पराके मूल पुरुष ब्रह्मा (ऋषि) हैं। इनका स्मरण परमेष्ठी प्रजापति ऋषिके रूपमें किया जाता है।

२—इसी परमेष्ठी प्रजापतिकी परम्पराकी वैदिक शब्द-राशिके किसी अंशके शब्द-तत्त्वका जिस ऋषिने अपनी तपश्चर्याके द्वारा किसी विशेष अवसरपर प्रत्यक्ष दर्शन किया, वह भी उस मन्त्रका ऋषि कहलाया। उस ऋषिका यह ऋषित्व शब्दतत्त्वके साक्षात्कारका कारण माना गया है। इस प्रकार एक ही मन्त्रका शब्दतत्त्व-साक्षात्कार अनेक ऋषियोंको भिन्न-भिन्न रूपसे या सामूहिक रूपसे हुआ था। अतः वे सभी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

३—कल्प ग्रन्थोंके निर्देशोंमें ऐसे व्यक्तियोंको भी ऋषि कहा गया है, जिन्होंने उस मन्त्र या कर्मका प्रयोग तथा साक्षात्कार अति श्रद्धापूर्वक किया है।

४—वैदिक ग्रन्थों विशेषतया पुराण-ग्रन्थोंके मननसे यह भी पता लगता है कि जिन व्यक्तियोंने किसी मन्त्रका एक विशेष प्रकारके प्रयोग तथा साक्षात्कारसे सफलता प्राप्त की है, वे भी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

उक्त निर्देशोंको ध्यानमें रखनेके साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि एक ही मन्त्रका उक्त चारों प्रकारसे या एक ही प्रकारसे दर्शनवाले भिन्न-भिन्न व्यक्ति ऋषि हुए हैं। फलतः एक मन्त्रके अनेक ऋषि होनेमें परस्पर कोई विरोध नहीं है; क्योंकि मन्त्र ऋषियोंकी रचना या अनुभूतिसे सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु ऋषि ही उस मन्त्रसे बहिरङ्ग रूपसे सम्बद्ध व्यक्ति है।

छन्द—मन्त्रसे सम्बन्धित (मन्त्रके स्वरूपमें अनुस्यूत) अक्षर, पाद, विरामकी विशेषताके आधारपर दी गयी जो संज्ञा है, वही छन्द है। एक ही पदार्थकी संज्ञा विभिन्न सिद्धान्त या व्यक्तिके विश्लेषणके भावसे नाना प्रकारकी हो सकती है। अतः एक ही मन्त्रके भिन्न नामके छन्द शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। किसी भी संज्ञाका नियमन उसके तत्त्वज्ञ आप्त व्यक्तिके द्वारा ही होता है। अतः कात्यायन, शौनक, पिंगल आदि छन्द शास्त्रके आचार्योंकी एवं सर्वानुक्रमणीकारकी उक्तियाँ ही इस सम्बन्धमें मान्य होती हैं। इसलिये एक मन्त्रमें भिन्न नामोंके छन्दोंके मिलनेसे भ्रम नहीं होना चाहिये।

देवता—मन्त्रोंके अक्षर किसी पदार्थ या व्यक्तिके सम्बन्धमें कुछ कहते हैं। यह कथन जिस व्यक्ति या पदार्थके निमित्त होता है, वही उस मन्त्रका देवता होता है, परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि कौन मन्त्र, किस व्यक्ति या पदार्थके लिये कब और कैसे प्रयोग किया जाय, इसका निर्णय वेदका ब्राह्मण-भाग या तत्त्वज्ञ ऋषियोंके शास्त्र-वचन ही करते हैं। एक ही मन्त्रका प्रयोग कई यज्ञिय अवसरों तथा कई कामनाओंके लिये मिलता है। ऐसी स्थितिमें उस एक ही मन्त्रके अनेक देवता बताये जाते हैं। अतः उन निर्देशोंके आधारपर ही कोई पदार्थ या व्यक्ति 'देवता' कहा जाता है। मन्त्रके द्वारा जो प्रार्थना की गयी है, उसकी पूर्ति करनेकी क्षमता उस देवतामें रहती है। लौकिक व्यक्ति या पदार्थ ही जहाँ देवता हैं, वहाँ वस्तुतः वह दृश्य जड पदार्थ या अक्षम व्यक्ति देवता नहीं है, अपितु उसमें अन्तर्हित एक प्रभु-शक्तिसम्पन्न देवता-तत्त्व है, जिससे हम प्रार्थना करते हैं। यही बात 'अभिमानीव्यपदेश' शब्दसे शास्त्रोंमें स्पष्ट की गयी है। लौकिक पदार्थ या व्यक्तिका अधिष्ठाता देवता-तत्त्व मन्त्रात्मक शब्द-तत्त्वसे अभिन्न है, यह मीमांसा-दर्शनका विचार है। वेदान्तशास्त्रमें मन्त्रसे प्रतिपादित देवता-तत्त्वको शरीरधारी चेतन और अतीन्द्रिय कहा गया

है। पुराणोमे कुछ देवताओके स्थान, चरित्र, इतिहास आदिका वर्णन करके भारतीय संस्कृतिके इस देवता-तत्त्वके प्रभुत्वको हृदयङ्गम कराया गया है। निष्कर्ष यही है कि इच्छाकी पूर्ति कर सकनेवाले अतीन्द्रिय मन्त्रसे प्रतिपादित तत्त्वको देवता कहते हैं और उस देवताका संकेत शास्त्र-वचनोसे ही मिलता है। अत वचनोके अनुसार अवसर-भेदसे एक मन्त्रके विभिन्न देवता हो सकते हैं।

वेदके अङ्ग, उपाङ्ग एव उपवेद

वेदाके सर्वाङ्गीण अनुशीलनके लिये शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन ६ अङ्गाके ग्रन्थ हैं। प्रतिपदसूत्र, अनुपद, छन्दोभाषा (प्रातिशाख्य), धर्मशास्त्र, न्याय तथा वैशेषिक—ये ६ उपाङ्ग ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद—ये क्रमश चारो वेदोके उपवेद कात्यायनने बतलाये हैं।

वेदोकी जानकारीके लिये विशेष उपयोगी ग्रन्थ

वैदिक शब्दाके अर्थ एव उनके प्रयोगकी पूरी जानकारीके लिये वेदाङ्ग आदि शास्त्राकी व्यवस्था मानी गयी है। उसमे वैदिक स्वर और शब्दाकी व्यवस्थाके लिये शिक्षा तथा व्याकरण दोनो अङ्गाके ग्रन्थ वेदके विशिष्ट शब्दार्थके उपयोगके लिये अलग-अलग उपाङ्ग ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' हैं, जिन्हे वैदिक व्याकरण भी कहते हैं। प्रयोग-पद्धतिकी सुव्यवस्थाके लिये कल्पशास्त्र माना जाता है। इसके चार भेद हैं—(१) श्रौतसूत्र, (२) गृह्यसूत्र, (३) धर्मसूत्र और (४) शुल्बसूत्र। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

श्रौतसूत्र—इसमे श्रौत-अग्नि (आवहनीय-गार्हपत्य एव दक्षिणाग्नि)-मे होनेवाले यज्ञ-सम्बन्धी विषयाका स्पष्ट निरूपण किया गया हे।

गृह्यसूत्र—इसमे गृह्य (औपासन)-अग्निमे होनवाले कर्मों एव उपनयन, विवाह आदि संस्काराका निरूपण किया गया है।

धर्मसूत्र—इसमे वर्ण तथा आश्रम-सम्बन्धी धर्म, आचार, व्यवहार आदिका निरूपण है।

शुल्बसूत्र—इसमे यज्ञ-वेदी आदिके निर्माणकी ज्यामितीय प्रक्रिया तथा अन्य तत्सम्बद्ध निरूपण है।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रत्येक शाखाके लिये अलग-अलग व्याकरण ओर कल्पसूत्र हैं, जिससे उस शाखाका पूरा ज्ञान हो जाता है ओर कर्मानुष्ठानमे सुविधा होती है।

इस बातको भी ध्यानमे रखना चाहिये कि यथार्थमे ज्ञानस्वरूप होते हुए भी वेद कोई वेदान्त-सूत्रकी तरह केवल दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं, जहाँ केवल आध्यात्मिक चिन्तनका ही समावेश हो। ज्ञान-भण्डारमे लौकिक ओर अलौकिक सभी विषयोका समावेश रहता है और साक्षात् या परम्परासे ये सभी विषय परम तत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं। यद्यपि किसी दार्शनिक विषयका साङ्गोपाङ्ग विचार वेदमे किसी एक स्थानपर नहीं मिलता, किंतु छोटे-से-छोटे तथा बडे-से-बडे तत्त्वाके स्वरूपका साक्षात् दर्शन तो ऋषियाको हुआ था और वे सब अनुभव वेदमे व्यक्त-रूपसे किसी-न-किसी स्थानपर वर्णित है। उनमे लौकिक और अलौकिक सभी बाते हैं। स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम रूपसे भिन्न-भिन्न तत्त्वाका परिचय वेदके अध्ययनसे प्राप्त होता है। अत वेदके सम्बन्धमे यह नहीं कहा जा सकता कि वेदका एक ही प्रतिपाद्य विषय है या एक ही दर्शन है या एक ही मन्तव्य है। यह तो साक्षात्-प्राप्त ज्ञानके स्वरूपाका शब्द-भण्डार है। इसी शब्दराशिके तत्त्वाको निकाल कर आचार्योने अपनी-अपनी अनुभूति, दृष्टि एव गुरु-परम्पराके आधारपर विभिन्न दर्शना तथा दार्शनिक प्रस्थाना (मौलिक दृष्टिसे सुविचारित मता)-का संचयन किया है। इस कारण भारतीय दृष्टिसे वेद विश्वका संविधान है।

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु संमना ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शान्तिवाम्॥

(अथर्व ३। ३०। २)

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला हो और माताके साथ समान मनवाला हो। पत्नी पतिसे मधुर और सुखद वाणी बोले।

ऋग्वेदका परिचय एवं वैशिष्ट्य

(श्रीराम अधिकारीजी, वेदाचार्य)

हजारसे भी अधिक शाखाओमे विस्तृत वेद ऋक्, यजु, साम और अथर्व नामसे प्रसिद्ध है। ऋग्वेदकी अध्ययन-परम्परा ऋषि पैलसे आरम्भ हुई है। छन्दोबद्ध मन्त्रोसे इस वेदकी ग्रन्थाकृति आविर्भूत हुई है। महाभाष्यके आधारपर ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ होनेका उल्लेख है। सम्प्रति विशेषतया शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाखायन और माण्डूकायन नामक पाँच ही उपलब्ध शाखाएँ प्रसिद्धिमे रही हैं। यद्यपि शाकलके अतिरिक्त अन्य चारो शाखाओकी सहिता नहीं मिलती है, तथापि इनका अनेक स्थानोपर वर्णन मिलता है। किसीका ब्राह्मण, किसीका आरण्यक तथा श्रौतसूत्र मिलनेसे पाँच शाखाएँ ज्ञात होनेकी पुष्टि होती है। जैसे कि शाकलके आधारपर ऋग्वेदका अन्तिम मन्त्र 'समानी व आकूति' है, परतु बाष्कलके आधारपर 'तच्छयोरावृणीमहे' अन्तिम ऋचा है। बाष्कल शाखाकी यह ऋचा ऋक्परिशिष्टके अन्तिम सज्ञानसूक्तका अन्तिम मन्त्र है। इसी सूक्तसे बाष्कल शाखा-सम्मत सहिता समाप्त होती है। शाकल शाखाके मन्त्रक्रमसे बाष्कलके मन्त्रक्रममे बहुत कुछ अन्तर मिलता है।

वर्तमानमे आश्वलायन शाखाके श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र ही मिलते है। इसी प्रकार शाखायन सहिताके ब्राह्मण और आरण्यक ही प्रकाशित है, परतु सहिता नहीं मिलती। प्रकाशित शाकल शाखा और शाखायन शाखामे केवल मन्त्रक्रममे ही भेद है। जैसे शाकलमे ऋक्-परिशिष्ट और बालखिल्यसूक्त सहितासे पृथक् है, जबकि वे शाखायनमे सहिताके अन्तर्गत ही हैं। माण्डूकायन शाखाके भी ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं है। इन पाँच शाखाओमे भी आज शाकल और बाष्कल शाखाएँ ही प्रचलित हैं। जिसमे मण्डल सूक्त आदिसे विभाग किया हो वह शाकल और जिसमे अष्टक-अध्याय-वर्ग आदिके क्रमसे विभाग किया गया हो उसको बाष्कल कहते हैं यह एक मत है। इन दोनो शाकल और बाष्कल शाखाओके भेदक मण्डल सूक्तक्रम अध्याय और वर्गक्रमको छोडकर एक ही जगह मण्डल-सख्या और अध्याय-सख्याओका भी निर्देश प्राचीन ग्रन्थोमे किया गया है। जैसे कि ऋग्वेदमे ६४ अध्याय, ८ अष्टक, १० मण्डल, २,००६ वर्ग, १,००० सूक्त ८५ अनुवाक और १०,४४० मन्त्र होनेका उल्लेख विद्याधर गौडकृत कात्यायन श्रौतसूत्रकी भूमिकामे मिलता है। मण्डलमे सूक्तोकी सख्या क्रमश १५१, ४३, ६२, ५८, ८७, ७५, १०४, ९२, ११४, १५१ अर्थात् कुल १,०१७ निर्धारित मिलती है। कात्यायनकृत चरणव्यूह परिशिष्टमे दस हजार पाँच सौ सवा अस्सी मन्त्र होनेका उल्लेख मिलता है। सूक्तोकी सख्या शाखा-भेदके कारण न्यूनाधिक देखी जा सकती है। इन सूक्तोके अतिरिक्त अष्टम मण्डलके बीच ४३ सूक्तसे ५९ सूक्ततक पढे गये ११ बालखिल्य सूक्त मिलते है। स्वाध्यायके अवसरपर इन सूक्तोका पाठ करनेकी परम्परा ऋग्वेदी विद्वानोकी है। प्राप्त शाखाओमसे शाकल शाखाकी विशिष्ट-उच्चारण परम्परा केरलमे रही है। आश्वलायन और शाखायन शाखीय गुर्जर (गुजरात)-मे ब्राह्मण-परिवार मिलते हैं।

पश्चिमके शोधकर्ताओके विचारमे ऋग्वेदके प्रथम और दशम मण्डल अर्वाचीन है। इस विचारकी पुष्टिके लिये उनका तर्क है कि द्वितीयसे नवम मण्डलोकी अपेक्षा प्रथम और दशम मण्डलोमे भाषागत विभिन्नता छन्दोगत विशिष्टता, देवसम्बद्ध नूतनता और विषयवस्तुओकी नवीनता दिखायी पडती हैं। द्वितीयसे नवमतकके मण्डलोमे रेफ मिल जाता है तो अवशिष्ट मण्डलमे रेफके स्थानपर लकार लिखा हुआ मिलता है। वैसे ही इन्द्र, मित्र वरुण आदि देवोके स्थानमे श्रद्धा मन्यु-जैसी भावनाओका देव मानना प्रथम और दशम मण्डलोकी विशेषता है। परतु ये तर्क और अनुशीलन प्रथम और दशम मण्डलको अर्वाचीन सिद्ध करनेके लिये असमर्थ हैं क्योकि इनका खण्डन सहजरूपमे हो सकता है। पृथक्-पृथक् मण्डलकी अलग विशेषता रहना स्वाभाविक है और 'अभिमानीव्यपदेश' सिद्धान्तके आधारसे कोई जीव या वस्तु देव हो सकता है। सबसे प्रमुख बात तो वेदका कर्ता और रचना-काल असिद्ध होनसे अपौरुषेय वेदकी प्राचीनता और अर्वाचीनता कही नहीं जा

सकती। ऋग्वेदके सम्बन्धमे उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि ससारके सभी लोग इस वेदको विश्वके सर्वप्राचीन ग्रन्थके रूपमे ग्रहण करते हैं। यह बात भारतीयोके लिये गौरव रखती है।

४४ अक्षरासे बननेवाली त्रिष्टुप् छन्द, २४ अक्षराकी गायत्री छन्द और ४८ अक्षराकी जगती छन्द प्रधानतासे पूरी ऋग्वेदकी सहिताम हैं। चार पादवाले, तीन पादवाले और दो पादवाले मन्त्र इसमे देखे जा सकते है। दो पादवाली ऋचाएँ अध्ययन-कालमे चतुष्पदा और यज्ञके अवसरपर द्विपदा मानी जाती हैं। दो पादवाली ऋचाको चतुष्पदा करनेके लिये प्रगाथ किया जाता है। अन्तिम पादको पुन अभ्यास करके चार पाद बनानेकी प्रक्रिया प्रगाथ है।

यह विशेष गौरवपूर्ण तथ्य है कि मात्र भारत ही नहीं, अपितु विश्वके लिये ऋग्वेद ज्ञान, विज्ञान और ऐतिहासिक तथ्य एव सास्कृतिक मूल्याके लिये धरोहर है। इसमे अनेक सूक्तोके माध्यमसे रोचक एव महत्त्वपूर्ण विषयका प्रतिपादन किया गया है। कतिपय सूक्ताम दानस्तुतिका प्रतिपादन मिलता है। ऐसे सूक्त ऋक्सर्वानुक्रमणिकाके आधारपर २२ हैं, परतु आधुनिक गवेषक ६८ सूक्त होनेका दावा करते हैं। आधुनिक इतिहासकाराका मानना है कि इन मन्त्रोमे ऋषियाने दानशील राजाकी दानमहिमा गायी है। परतु वैदिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे अपौरुषेय वेदके आधारपर ये दानस्तुतियाँ प्ररोचना (प्रशसा)-के रूपमे स्वीकार्य हैं। इसमे प्रबन्ध-काव्य एव नाटकाके साथ सम्बन्ध जोडनेवाले लगभग बीस सूक्त मिलते हैं। कथनोपकथनके प्राधान्यसे इन सूक्ताको 'सवादसूक्त' नाम दिया गया है। इनमेसे तीन प्रसिद्ध, रोचक एव नैतिक मूल्यप्रदायक आख्यायिकाआसे जुडे सवाद सूक्त मिलते है। वे पुरूरवा-उर्वशी-सवाद (ऋक्० १०। ८५), यम-यमी-सवाद (ऋक्० १०। १०) और सरमा-पणि-सवाद (ऋक्० १०। १३०) हैं। पुरूरवा एव उर्वशीकी कथा रामाञ्चक प्रेमका प्राचीनकालिक निदर्शन है जिसमे स्वर्गकी अप्सरा पृथ्वीके मानवसे विवाह करती है। सशर्त किया हुआ यह विवाह शर्तभगके बाद वियोगमे परिणत होता है। स्वर्गकी अप्सरा उर्वशी वापस चली जाती है। सूक्तमे कुछ कथन पुरूरवाके और कुछ कथन उर्वशीके देखे जा सकते है। वैसे ही यमी अपनी काम-इच्छाएँ अपने ही भाई यमसे पूरी करनेके लिये प्रयास करती है। नैतिक एव चारित्रिक उदात्ततासे ओतप्रोत यम यमीको दूसरा पति ढूँढनेका परामर्श देकर भाई-बहनके रक्त-सम्बन्धका पवित्र एव मर्यादित करता है। यह आर्योकी महत्त्वपूर्ण सस्कृति रही है। इसी तरह ऋग्वेदीय सामाजिक विशेषता प्रस्तुत करनेवाला सरमा-पणि-सवाद सूक्त है। जिसमे पणि लोगोके द्वारा आर्य लोगाकी गाये चुराकर कहीं अँधेरी गुफाम रखनेकी आख्यायिका आयी है। इन्द्रने अपनी शुनी (कुत्ती) सरमाको पणियाको समझानेके लिये दौत्यकर्म सौपा। उसके बाद सरमा आर्य लोगाके पराक्रमकी गाथा गाकर पणियाको धमकाती है। इसी प्रकारकी सामाजिक स्थितिका बोध ऋग्वेदीय सूक्तासे कर सकते हैं।

शाकल सहिताके अन्तमे ऋक्परिशिष्ट नामसे ३६ सूक्त सगृहीत किये गये है। इनमसे चर्चित सूक्त हैं—श्रीसूक्त, रात्रिसूक्त, मेधासूक्त शिवसङ्कल्पसूक्त तथा सज्ञानसूक्त। ये सूक्त ऋक्सहिताके विविध मण्डलामे पढे गये है। '**सितासिते सरिते यत्र सगत**'—(ऋक्परिशिष्ट २२ वाँ) सूक्त स्कन्द-पुराणके काशीखण्ड (७। ४४) और पद्मपुराण (६। २४६। ३५)-मे उद्धृत है। पुराणके इन दोना स्थानापर यह मन्त्र प्रयागपरक अर्थ देता है अर्थात् प्रयागमे मिलनेवाली सित (गङ्गा) और असित (यमुना)-के सगम-तीर्थकी महिमा भी इससे ज्ञात होती है।

ऋग्वेदकी यज्ञपरता और ब्राह्मण-ग्रन्थ

यजुर्वेद यज्ञका मापन करता है। ऋग्वेद और सामवेद यज्ञमे आहूत देवाकी प्रसन्नताके लिये शस्त्र और स्तोत्र बतलाते है। अथर्ववेद यज्ञमे अनुशासनका पालन करवाता है। इस तरह यज्ञका पूर्ण स्वरूप चारा वेदासे सम्पन्न किया जाता है। इसके लिये ब्राह्मण-ग्रन्थ मन्त्र-विनियोजनपूर्वक कर्मोके प्रख्यापन करते हैं। '**स्तुतमनुशसति**' इस ब्राह्मण-वाक्यके निर्देशानुसार होतृगण ऋग्वेदीय सूक्ताके शसनसे देवाकी स्तुति करते है। होतृगणमे होता मैत्रावरुण, अच्छावाक और ग्रावस्तुत वैदिक नामवाले चार ऋत्विज् रहते हैं। ऋग्वेदके ऐतरेय और शाखायन ब्राह्मण मिलते हैं। ये ब्राह्मण यज्ञके प्रख्यापनके साथ-साथ रोचक आख्यायिकाआसे

मानवीय मूल्यो एव कर्तव्योका शिक्षण करते हैं। ४० अध्याय, ८ पञ्चिका और २८५ कण्डिकाओम विभक्त ऐतरेय ब्राह्मण होतृगणसे सम्बद्ध शस्त्रशसनादि कार्योका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रत्येक पाँच अध्याय मिलाकर निर्मित पञ्चिकाके अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय पञ्चिकाम सभी यागाके प्रकृतिभूत अग्निष्टोम (सोमयाग)-म होतृगणके विधि-विधानो एव कर्तव्योका विवेचन है। इसी प्रकार तृतीय ओर चतुर्थ पञ्चिकाम प्रात माध्यन्दिन तथा तृतीय सवन (साय-सवन)-पर शसन किये जानेवाल बारह शस्त्रोका वर्णन मिलता है।

पञ्चम एव षष्ठ पञ्चिकाम द्वादशाह (सोमयाग) एव अनेक-दिन-साध्य सोमयागपर हौत्रकर्म निरूपित है। सप्तम पञ्चिका राजसूय यागक वर्णनके क्रमम शुन शेपका आख्यान विस्तृत-रूपसे प्रस्तुत करती है। यह आख्यान अत्यन्त प्रसिद्ध है। अन्तिम अष्टम पञ्चिकामे ऐतिहासिक महत्त्ववाले 'एन्द्र महाभिषेक'-जैसे विषय दखनेमे आते हैं। इसी 'ऐन्द्र महाभिषेक' के आधारपर चक्रवर्ती नरेशाके महाभिषेकका रोचक प्रसग आया है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण प्रमुख रूपसे सामयागमे होत्रकर्म बतलाता हैं।

३० अध्यायो एव २२६ खण्डाम विभक्त ऋग्वेदका दूसरा शाखायन ब्राह्मण लम्बे-लम्बे गद्यात्मक वाक्यामे अपने प्रतिपाद्योका निरूपण करता ह। इस ब्राह्मणको 'कौषीतकि ब्राह्मण' भी कहा जाता है क्याकि इसमे अनेक आचार्योके मताका उल्लख करके कौषीतकिका मत यथार्थ ठहराया गया है। विषय-वस्तुकी दृष्टिस यह ब्राह्मण एतरेयका ही अनुसरण करता हे। इसके अनुशीलनसे महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हं। जैस—उदीच्य देश सस्कृतका कन्द्र है, इस दशके भ्रमणका प्रसग रुद्रकी महिमाका वर्णन यज्ञो वै विष्णु '-के आधारपर विष्णुका उच्चकोटिमे रखनका प्रमग इन्द्रद्वारा वृत्रका मारनके लिये महानाम्नी साम-मन्त्राको पढना तथा शक्वरी ऋचाओकी निरुक्ति एव महत्त्वका प्रख्यापन आदि इस ब्राह्मणके उल्लख्य विषय हे।

ऋग्वेदके एतरय और शाखायन नामक दो आरण्यक प्रसिद्ध हे। प्रथम एतरेय आरण्यकम अवान्तर पाँच आरण्यक भाग हें जिनमस प्रथम आरण्यकम 'गवामयन' नामक सत्रयागक अङ्गभूत महाव्रत कर्मका वर्णन है। द्वितीय आरण्यकम प्राणविद्या एव पुरुष आदिका विवेचन है। इसीके अन्तर्गत 'ऐतरेय उपनिषद्' भी वर्णित हे। तृतीय सहितोपनिषद् नामक आरण्यक सहिता, पद, क्रम, स्वर एव व्यञ्जन आदिका निरूपण करता है। चतुर्थ आरण्यकमे महानाम्नी ऋचाओका वर्णन और अन्तिम आरण्यकमे निष्कैवल्य शस्त्र निरूपित हे। इनमसे प्रथम तीनक द्रष्टा ऐतरेय, चतुर्थके आश्वलायन और पाँचवके शौनक माने गये हें। पाँचवे आरण्यकके द्रष्टा शौनक और बृहद्देवताके रचयिता शौनकके बारेम विद्वानोका मतभेद रहा हे। इसी तरह दूसरा शाखायन नामक आरण्यक ३० अध्यायोंमें विभाजित है और ऐतरेय आरण्यकका ही अनुसरण करता हे। इस आरण्यकके १५व अध्यायम आचार्यके वशवर्णनके क्रमानुसार आरण्यकद्रष्टा गुणाख्य शाखायन और उनके गुरुरूपम कहोल कौषीतकिका उल्लेख मिलता है। अध्यात्म विद्याका रहस्य बतलानेवाले उपनिषद्-खण्डम ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेदसे सम्बद्ध हे। इसके अतिरिक्त सोलह अवान्तर उपनिषद् होनेका उल्लेख भी मिलता है।

ऋग्वेदीय वेदाङ्ग-साहित्य

कल्पशास्त्र श्रोत्रसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र ओर शुल्बसूत्रमे विभक्त हुआ है। ऋग्वेदीय कल्पशास्त्रका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—ऋग्वेदीय श्रौतसूत्राम आश्वलायन ओर शाखायन मिलते ह। क्रमश १२ अध्याय ओर १८ अध्यायोम विभक्त इन दोनो श्रोत्रसूत्रोमे पुराऽनुवाक्या, याज्या, प्रतिगर-न्यूख जैसे विषयोका निरूपण करके हौत्रकर्म बतलाया गया है। क्रमश ४ और ६ अध्यायोम विभाजित आश्वलायन और शाखायन गृह्यसूत्र स्मार्त (गृह्य)-कर्मोकी निरूक्ति करते हैं। इसी प्रकार २२ अध्यायाम विभक्त आश्वलायन धर्मसूत्र ऋग्वेदीय धर्मसूत्र माना गया हे।

कुछ लाग पाणिनीय शिक्षाको ऋग्वेदकी शिक्षा मानते हें तो कुछ लाग इसको सर्ववेद-साधारण मानते हैं। शानक-शिक्षा आर वासिष्ठ-शिक्षाका भी ऋग्वदीय शिक्षाके रूपम लिया जा सकता हे। शौनक-शिक्षाक मङ्गलाचरण-श्लाकम 'प्रणम्यर्क्षु प्रवक्ष्यामि' का उल्लख हानसे इसको ऋग्वदाय शिक्षा मानना उपयुक्त ही हे। ६७ श्लाकासे रचित

शोनकीय शिक्षा ऋग्वेदसे सम्बद्ध स्वर-व्यञ्जन तथा उच्चारणकी व्यवस्था बतलाती है।

उपाङ्ग ग्रन्थके रूपमे प्रसिद्ध प्रातिशाख्य साहित्यमे ऋग्वेद-सम्बद्ध प्रातिशाख्य ऋक्प्रातिशाख्य है। १८ पटलामे विभक्त यह प्रातिशाख्य स्वर व्यञ्जन, स्वरभक्ति तथा सधि-जैसे व्याकरणगत विषयोका निरूपण करता है। इसके रचयिता आश्वलायनके गुरु शौनक माने गये है। इस प्रातिशाख्यमे ऐतरेय आरण्यकके अन्तर्गत संहितोपनिषद् आरण्यकका अनुसरण किया हुआ मिलता है।

वस्तुत विश्वसाहित्यका सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ होनेके कारण ऋग्वेद पाश्चात्य विद्वानोके लिये भी अत्यन्त आदर तथा विश्वासके साथ श्रद्धास्पद रहा है। भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तोका तो यह आधारभूत ग्रन्थ ही माना जाता है। विश्वके प्राचीनतम इतिहास, संस्कृति, भाषाशैली, नृवंशशास्त्र भौगोलिक स्वरूप तथा सभ्यताका एकमात्र लिपिबद्ध अभिलेख होनेके कारण पाश्चात्य विद्वानोने इसका अनुशीलन अतिशय परिश्रमसे किया है।

परतु हम भारतीयोकी दृष्टिसे तो यह अपौरुषेय शब्दराशि समस्त ज्ञान-विज्ञानोकी उपदेष्ट्री तथा विश्वकी संविधात्री है।

यजुर्वेदका संक्षिप्त परिचय

(श्रीऋषिरामजी रम्मी, अथर्ववेदाचार्य)

शैलीकी दृष्टिसे वैदिक मन्त्रोका विभाजन ऋक् यजु और सामके रूपमे तीन भागोमे हुआ है। छन्दोमे निबद्ध मन्त्रोका नाम ऋग्वेद, गद्यात्मक मन्त्र-समुदाय यजुर्वेद और गानमय मन्त्र सामवेदके नामसे प्रसिद्ध हैं।

निरुक्तकार यास्क 'यजु' शब्द यज धातुसे निष्पन्न मानते हैं (निरुक्त ७। २०), इसका भाव यह है कि यजुर्वेदसे यज्ञका स्वरूप-निर्धारण होता है—'यज्ञस्य मात्रा वि मिमीत उ त्व' (ऋक्०१०। ७१। ११)। अत याज्ञिक दृष्टिसे यजुर्वेदका अपर नाम 'अध्वर्युवेद' भी है।

सम्प्रदायके आधारपर यजुर्वेद दो भागोमे विभक्त है। सामान्यत आदित्य-परम्परासे प्राप्त मन्त्रसमुदायको 'शुक्ल-यजुर्वेद' और ब्रह्म-परम्पराके द्वारा प्राप्त मन्त्रोको 'कृष्णयजुर्वेद' कहते हैं।

शुक्लत्व और कृष्णत्वका भेद

यजुर्वेदके शुक्लत्व और कृष्णत्वके विषयमे एक पौराणिक आख्यायिका मिलती है। यह आख्यायिका महीधर-भाष्यकी भूमिकामे इस प्रकार उद्धृत है—

'सर्वप्रथम सत्यवतीके पुत्र पाराशर वेदव्यासने एक ही वेद-संहिताको चार भागोमे विभाजन करके ऋक् यजु, साम और अथर्व नामके चारो वेदोको क्रमश पैल वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक चार शिष्योको पढाया। उसके बाद वैशम्पायनने याज्ञवल्क्यादि अपने शिष्योको यजुर्वेद श्रवण कराया। किसी समय महर्षि वैशम्पायनने याज्ञवल्क्यसे क्रुद्ध होकर अपने द्वारा पढायी हुई वेदविद्याको त्यागनेका आदेश दिया। गुरुके आज्ञानुसार याज्ञवल्क्यने अपने योगबलके द्वारा विद्याको मूर्तरूप करके वमन किया। उक्त वमन किये हुए यजुषोको वैशम्पायनके अन्य शिष्योने तित्तिरि (पक्षिविशेष)-रूप धारण करके भक्षण कर लिया। तबसे वे यजुर्मन्त्र 'कृष्णयजुर्वेद'के नामसे प्रसिद्ध हुए। दूसरी ओर दु खित याज्ञवल्क्यने कठोर तपस्या करके आदित्यको प्रसन्न किया। तपसे प्रसन्न होकर सूर्यने वाजि (अश्व)-रूप धारण करके दिनके मध्याह्नमे यजुषोका उन्हे उपदेश दिया। इस प्रकार आदित्यसे प्राप्त यजुष् शुक्ल कहलाये। दिनके मध्याह्नमे प्राप्त होनेके कारण 'माध्यन्दिन' तथा वाजिरूप आदित्यसे उपदिष्ट होनेसे 'वाजसनेय' कहलाये।' आचार्य सायण भी इस मतको स्वीकार करते हैं (देखिये काण्व भा० भू० श्लोक ६—१२)।

इस आख्यायिकामे यजुर्वेदके शुक्लत्वके विषयमे प्रस्तुत मत जितना मान्य है उतना कृष्णत्वके विषयमे नहीं क्योकि शतपथब्राह्मणके वचन 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (१४। ९।४।३३)-के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्यने आदित्यसे शुक्लयजुषोको प्राप्त किया है यह बात स्पष्ट है। किंतु कृष्णत्वके विषयमे जो मत प्रस्तुत है वह रूपकात्मक प्रतीत होता है क्योकि

मूर्त वस्तुकी तरह अमूर्त विद्याका वमन तथा भक्षण योगबलसे ही सम्भव होता है। अत यजुर्वेदके कृष्णत्वके विषयमे अन्य युक्तियोका आश्रय लेना जरूरी है। इस विषयमे 'वेदशाखापर्यालोचनम्' मे 'यजुषा कृष्णत्वविचार' शीर्षकके अन्तर्गत ग्यारह युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। यहाँ भी इसीके कुछ अशोका अनुवाद प्रस्तुत है—

१-शुक्लयजुर्वेदीय लोग वेदके उपाकर्ममे श्रावण शुक्लपक्षकी चतुर्दशी-युक्त पूर्णिमाको ग्रहण करते हैं। किंतु कृष्णयजुर्वेदीय लोग भाद्रपदकृष्णपक्षकी प्रतिपद्-युक्त पूर्णिमाको ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उपाकर्ममे कृष्णपक्षको प्रधान माननेके कारण तैत्तिरीयादि शाखाओका नाम 'कृष्णयजुर्वेद' रहा।

२-ऋषि देवता तथा छन्दोके बोधक तैत्तिरीयाके सर्वानुक्रमणी ग्रन्थके अस्तव्यस्तताके कारण भी कृष्णत्व सम्भव है।

३-कृष्णयजुषोके श्रौत-सूत्रादि कल्पग्रन्थोके आचार्य बहुत हैं। उन आचार्योंके द्वारा रचित विभिन्न कल्पसूत्रोमे एक ही मन्त्रका विभिन्न स्थानपर विनियोग बताया गया है। जैसे-तैत्तिरीय संहिताकी प्रथम कण्डिकामे 'ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात' (१। १। १) इत्यादि मन्त्रका विनियोग बोधायनने अध्वर्युकर्तृक यजमानके आज्यावेक्षणमे किया है, किंतु आपस्तम्बने गायोके प्रत्यावर्तनमे विनियोग किया है। इस प्रकार विनियोगमे एक ही मन्त्रकी विविधता होनेसे प्रयोग-साकर्यके कारण यजुर्वेदका कृष्णत्व हो गया।

४-कृष्णयजुर्वेदमे संहिता और ब्राह्मणके पृथक्-पृथक् अभिधान केवल प्रसिद्धिमूलक दिखायी पडते है। इस वेदके संहिता-भागमे ब्राह्मण-भाग और ब्राह्मण-भागमे संहिता-भाग मिला हुआ है। शुक्लयजुर्वेदकी तरह संहिता-भाग तथा ब्राह्मण-भागका अलग-अलग विभाजन नही है। इस तरह मन्त्र और ब्राह्मणकी संकीर्णताके कारण इसका कृष्णत्व होना प्रत्यक्ष है।

५-कृष्णयजुर्वेदमे सारस्वत और आर्षेय करके पाठकी द्विविधता दिखायी पडती है। इसलिये पाठ-द्वैविध्यसे अनियत-क्रम होनेके कारण इसका कृष्णत्व होना सम्भव है।

६-यजुर्वेदमे मन्त्रकी अपूर्णता भी कृष्णत्वका कारण है। इसमे याज्ञिक लोग कल्पसूत्रोसे मन्त्रोकी पूर्ति करते हैं। जैसे 'स वपामि' (तै० सं० १। १। ८)—यहाँ कल्पसूत्रके अनुसार 'देवस्य त्वा……अग्नये अग्नीषोमाभ्याम्' यह मन्त्र देवतानुसार प्रयोग किया जाता है, किंतु शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र-प्रयोगमें कल्पकी अपेक्षा नहीं होती है (मा० सं० १। २१)।

इस प्रकार यजुर्वेदके कृष्णत्वके कारणोमे संहिता और ब्राह्मणकी संकीर्णता मन्त्र-विनियोगकी विविधता, संहिता पाठकी द्विविधता, मन्त्रोकी अपूर्णता तथा कुछ ग्रन्थोकी अस्तव्यस्तता प्रमुख हैं।

यजुर्वेदकी शाखाएँ

महाभाष्यकार पतञ्जलिके अनुसार यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ थीं। जिनमे कृष्णयजुर्वेदकी ८६ और शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाएँ हैं। इनमे आजकल सभी शाखाएँ उपलब्ध नहीं होतीं।

शुक्लयजुर्वेदीय शाखाएँ

चरणव्यूहादि ग्रन्थोमे उक्त शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाओका नाम आचार्य सायणने काण्वभाष्य-भूमिकामे इस प्रकार दिया है—

काण्वा, माध्यन्दिना, शापेया, तापायनीया, कापाला, पौण्ड्रवत्सा, आवटिका, परमावटिका, पाराशर्या, वैधेया, वैनेया, औधेया, गालवा, वैजवा, कात्यायनीया।

नामकी भिन्नता विभिन्न ग्रन्थोमे दिखायी पडती है। इनमे आजकल काण्व और माध्यन्दिन केवल दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं।

कृष्णयजुर्वेदकी शाखाएँ

कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखाओमे आज केवल ४ शाखाएँ उपलब्ध हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणीय (३) कठ और (४) कपिष्ठल।

[क] शुक्लयजुर्वेदका परिचय

महर्षि याज्ञवल्क्यने सूर्यकी आराधनासे प्राप्त शुक्लयजुर्वेदका अपने काण्वादि १५ शिष्योको उपदेश दिया। उन्होने भी अपने-अपने शिष्योको प्रवचन किया। शाखापाठक आदि-प्रवचनकर्ता याज्ञवल्क्यके १५ शिष्य होनेके कारण तत्तत् नामसे १५ शाखाओकी प्रसिद्धि हो गयी। इन १५ शाखाओके अध्येता सभी लोग वाजसनेयी नामसे भी प्रसिद्ध हैं।

वाजसनेयि-अभिधानका कारण—

शुक्लयजुर्वेदीयोको वाजसनेयि कहे जानेके विषयम विभिन्न कारण हो सकते हैं। जिनम दो प्रमुख हेतुआका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१-काण्वसहिताकी भाष्योपक्रमणिकामे आचार्य सायण 'वाजसनेय' पदकी ऐसी व्याख्या करते है—'अन्न वै वाज ' इस श्रुतिके अनुसार 'वाज' का अर्थ अन्न है। 'षणु' दाने धातुसे 'सनि' शब्द बनता है। अत 'वाजस्य=अन्नस्य, सनि =दान यस्य महर्षेरस्ति सोऽय वाजसनि , तस्य पुत्रो वाजसनेय (वाजसनि+ढक्)'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसने अन्नदान किया है, वह वाजसनि है और उसीके पुत्रका नाम वाजसनेय है। महर्षि याज्ञवल्क्यके पिता अन्नदान करते थे। अत वाजसनेय याज्ञवल्क्यका दूसरा नाम है।

२-दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सूर्यका नाम वाजसनि भी है। अत सूर्यके छात्र होनेके कारण याज्ञवल्क्यको वाजसनेय कहते हैं।

इस प्रकार '*वाजसनेय*' शब्द *शुक्लयजुर्वेदके आदिप्रवक्ता* महर्षि याज्ञवल्क्यका अपर नाम है। इसी तरह वाजसनि शब्द शुक्लयजुर्वेदका वाचक है तथा इसके अनुयायी लोग वाजसनेयि हैं।

१-माध्यन्दिन-शाखा—

याज्ञवल्क्यके १५ शिष्याम माध्यन्दिन नामके भी एक शिष्य हैं। उन्हाने जिन यजुषोका प्रवचन किया, वह माध्यन्दिन-शाखाके नामसे प्रसिद्ध है। माध्यन्दिन-शाखाके नामकरणके विषयमे दूसरा हेतु यह भी दिया जाता है कि वाजिरूप सूर्यके द्वारा याज्ञवल्क्यने दिनके मध्यकालमे यजुष् मन्त्रोको प्राप्त किया था, इसलिये यह शाखा माध्यन्दिन कहलायी। इन दोना हेतुआमे प्रथम कारण ही उपयुक्त लगता हे, क्याकि अन्य शाखाआकी प्रसिद्धि भी उनक प्रथम प्रवचनकर्ता आचार्योके नामसे ही है।

यह शाखा भारतके विभिन्न प्रान्ताम विशेषत उत्तर भारतमे तथा नेपालके सभी भागाम अपन वाङ्मय-विपुलताके साथ विस्तारित हो रही है। इस शाखाकी सहिता वाजसनेयि-माध्यन्दिन-सहिताके नामसे प्रसिद्ध है।

माध्यन्दिन-सहिताका विभाग एव चयनक्रम

माध्यन्दिन-सहिताका विभाग अध्यायो तथा कण्डिकाओम है। इसमे ४० *अध्याय* हे। इन *अध्यायोमे* कुल *मिलाकर* ३०३ अनुवाक तथा १,९७५ कण्डिकाएँ हैं। कण्डिकाआमे मन्त्रोका विभाजन है, परतु किस कण्डिकामे कितने मन्त्र हैं, इसका सकेत सहिताम नहीं है। सर्वानुक्रमसूत्र तथा कात्यायन श्रौतसूत्रमे दिये गये मन्त्रविनियोगके आधारपर कण्डिकागत मन्त्राकी सख्याका पता चलता हे। महीधरने उसीके आधारपर कण्डिकागत मन्त्राका उल्लेख किया है। *अनुवाकसूत्राध्यायके अनुसार माध्यन्दिन-सहिताकी* कण्डिकाओका वर्गीकरण अनुवाकामे किया गया है।

प्रतिपाद्य विषय

वाजसनेयि-सहिता नामसे प्रसिद्ध इस सहिताके चालीस अध्यायाम ३९ अध्यायोका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय श्रौत-कर्मकाण्ड ही है। जिसके अन्तर्गत प्रथम एव द्वितीय अध्यायाम दर्श-पूर्णमास तथा पिण्डपितृयज्ञ, तृतीय अध्यायमे *अग्निहोत्र, चातुर्मास्य* मन्त्रोका सकलन, ४ से ८ तकमे सोमसस्थाओका वर्णन है। उसमे भी सभी सोमयागाका प्रकृतियाग होनेके कारण अग्निष्टोमके विषयमे विस्तृत वर्णन है। ९वे तथा १०व अध्यायाम राजसूय और वाजपेय-यागका वर्णन है। ११ से १८ तकमे अग्निचयनका वर्णन है। इसीके अन्तर्गत १६वेमे शतरुद्रिय होमके मन्त्र तथा १८वम वसोर्धारा-सम्बद्ध मन्त्र हैं। १९ से २१व तकम सौत्रामणी *याग*, २२ से २५ तकमे *सार्वभौम क्षत्रिय राजाक* द्वारा किये जानेवाले अश्वमेध-यागका वर्णन है। २६ से २९ तकम खिल मन्त्राका सग्रह हे। ३०वेम पुरुपमेध ३१वम पुरुपसूक्त, ३२वे तथा ३३व अध्यायोम सवमेध-विषयक मन्त्राका सकलन हे। इसीके अन्तर्गत हिरण्यगर्भ सूक्त भी आता हे। ३४वें के आरम्भम शिवसङ्कल्पोपनिषद् ह। इसका वर्णन अत्यन्त हृदयावर्जक हे। ३५वेम पितृमेध तथा ३६ से ३९ तकम प्रवर्ग्यविपयक मन्त्र ह। ४० वे *अध्यायम* ईशावास्योपनिषद् उपदिष्ट ह। यह उपनिषद् सभी उपनिषदाम प्रथम परिगणित है।

२-काण्व-शाखा—

शुक्लयजुर्वेदका दूसरी उपलब्ध शाखा काण्व है।

इसके प्रवचनकर्ता आचार्य कण्व हैं। काण्व-शाखाका प्रचार आजकल महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्र तथा उडीसा आदि प्रान्तामे है। इसमे उत्कलपाठ और महाराष्ट्रपाठके रूपमे दो पाठ मिलते हैं।

माध्यन्दिन-संहिताकी तरह काण्व-संहितामे भी ४० अध्याय हैं, जो चार दशकामे विभक्त हैं। प्रत्येक अध्यायमे कई अनुवाक तथा प्रत्येक अनुवाकमे कई मन्त्र हैं। कुल अनुवाकाकी सख्या ३२८ तथा मन्त्राकी सख्या २,०८६ है। माध्यन्दिन संहिताके सम्पादनमे अनुवाक-विभागको प्रमुखता नहीं दी गयी, किंतु काण्व-संहिताके सम्पादनमे अनुवाक-विभागको प्रधानता दी गयी है। अध्यायगत प्रत्येक अनुवाकाकी मन्त्र-सख्या अनुवाकके साथ शुरू होती है और अनुवाकके साथ समाप्त होती है। इसके अतिरिक्त केवल मन्त्रात्मक अध्यायक्रम भी प्रचलित है। इस शाखाका अनुवाकाध्याय पृथक् उपलब्ध है।

काण्व-संहिताका प्रतिपाद्य विषय वही है, जो माध्यन्दिन-संहिताका है। केवल अध्याय या मन्त्राके क्रममे दोनाका अन्तर है।

शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थामे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, विपुलकाय, यज्ञानुष्ठानका सर्वोत्तम प्रतिपादक शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ-ब्राह्मण है। यह ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदकी काण्व तथा माध्यन्दिन दोनो शाखाआमे उपलब्ध है। विषयकी एकता होनेपर भी उसके वर्णनक्रम तथा अध्यायोकी सख्यामे अन्तर पडता है। माध्यन्दिनीय शतपथ-ब्राह्मणमे १४ काण्ड १०० अध्याय, ४३८ ब्राह्मण तथा ७ ६२४ कण्डिकाएँ हैं। अत सौ अध्यायाके आधारपर 'शतपथ' नाम हुआ है— **'शत पन्थानो यस्य तच्छतपथम्'**। यहाँ 'पथि' शब्द अध्यायका वाचक है। यद्यपि काण्व-शाखाके शतपथमे १७ काण्ड १०४ अध्याय ४३५ ब्राह्मण तथा ६ ८०६ कण्डिकाएँ हैं तथापि वहाँ 'छत्रिन्याय' से 'शतपथ' की सज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। माध्यन्दिन शतपथमे ६८ प्रपाठक हैं, किंतु काण्व-शतपथमे प्रपाठक नहीं है।

विषयक्रम

माध्यन्दिन शतपथमे प्रथम काण्डसे आरम्भ कर नवम काण्डतक पिण्डपितृयज्ञको छोडकर विषयाका क्रम माध्यन्दिन संहिताके अनुसार ही है। पिण्डपितृयज्ञका वर्णन संहितामे दर्शपूर्णमासके अनन्तर है, परंतु ब्राह्मणमे आधानके अनन्तर। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट सभी काण्डामे संहिताका क्रम अङ्गीकृत किया है। दोनो शतपथाके आरम्भमे ही कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है। माध्यन्दिन शतपथके प्रथम काण्डका विषय (दर्शपूर्णमास) काण्वके द्वितीय काण्डमें है और द्वितीय काण्डका विषय काण्वके प्रथम काण्डमें समाविष्ट है। अन्यत्र विषय उतने ही हैं, परंतु उनका क्रम दोनामे भिन्न-भिन्न है।

वैशिष्ट्य

शतपथ-ब्राह्मणमे यज्ञाके नाना रूपा तथा विविध अनुष्ठानाका जिस असाधारण परिपूर्णताके साथ निरूपण है, वह अन्य ब्राह्मणोमे नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टिसे भी यज्ञाके स्वरूपनिरूपणका श्रेय इस ब्राह्मणको प्राप्त है। शतपथने यज्ञ-मीमासाका प्रारम्भ हविर्यागासे किया है, जिनका आधार अग्निहोत्र है। अग्निहोत्रीको अग्नि मृत्युके पश्चात् भी नष्ट नहीं करता, अपितु माता-पिताके समान नवीन जन्म देता है। अग्निहोत्रीके लिये अग्नि स्वर्ग ले जानेवाली नौकाके सदृश है—**'नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या। यदग्निहोत्रम्'** (श० ब्रा० २। ३। ३। १५)। शतपथने यज्ञको जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्य बतलाया है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म'** (१।७।३।५)। तदनुसार जगत् अग्नीषोमात्मक है। सोम अन्न है और अग्नि अन्नाद। अग्नीरूपी अन्नाद सोमरूपी अन्नकी आहुति ग्रहण करता है। यही क्रिया जगत्मे सतत विद्यमान है। इस ब्राह्मणमे यज्ञकी प्रतीकात्मक व्याख्याएँ भी हैं। एक रूपकके अनुसार यज्ञ पुरुष है हविर्धान उसका सिर, आहवनीय मुख आग्नीध्रीय तथा मार्जालीय दोनो बाहुएँ हैं। इस प्रकार यज्ञका दैविक स्वरूप निर्धारित किया गया है। (श० ब्रा० ३।५।३।१ ३।५।४।१)। यज्ञके नामकरणका हेतु उसका विस्तृत किया जाना है—**'तद्यदेन तन्वते तदेन जनयन्ति स तायमाना जायते'** (३।९।४।२३)।

इस प्रकार यज्ञिय अनुष्ठानाके छोटे-से-छोटे विधि-विधानाका विशद वर्णन इन क्रियाओके लिये हेतुका निर्देश ब्राह्मणोचित आख्यायिकाओका यथास्थान निवेश

तथा उनका सरस विवेचन इस ब्राह्मणके उत्कर्ष बतलानेके लिये पर्याप्त कारण माने जा सकते है।

शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यक

अधिकाश आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थोके अन्तिम भाग हैं, इसलिये प्राय ब्राह्मण-ग्रन्थोके प्रवचनकर्ता ही आरण्यकोके भी प्रवचनकर्ता हैं। अत शुक्लयजुर्वेदीय 'बृहदारण्यक' के प्रवचनकर्ता आचार्य भी महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ-ब्राह्मण माध्यन्दिन शाखाका १४ वाँ काण्ड तथा काण्व-शाखाका १७ वाँ काण्ड शुक्लयजुर्वेदका आरण्यक ग्रन्थ है। विषयकी दृष्टिसे आरण्यक और उपनिषद्मे साम्य होनेसे बृहदारण्यक आदि आरण्यक ग्रन्थाको उपनिषद् भी माना जाता है, किंतु वर्ण्य विषयकी किञ्चित् समानता होनेपर भी दोनाका पार्थक्य लक्षित होता है। आरण्यकका मुख्य विषय प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना है। इसके विपरीत उपनिषद्का वर्ण्य विषय निर्गुण ब्रह्मके स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिका विवेचन है। अत विषयभेदके अनुसार दोनोमे भेद है, किंतु दोना रहस्यात्मक विद्या होनेके कारण समान भी हैं।

आरण्यकका मुख्य विषय यज्ञ नहीं, अपितु यागोके भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्याकी मीमासा है। अत शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यक भी इसीका प्रतिपादन करता है।

उपनिषद्

मुक्तिकोपनिषद् (शुक्लयजुर्वेदीय)-के अनुसार शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध १९ उपनिषद् हैं। जिनमे प्रमुख ईशावास्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन श्रौतसूत्र

शुक्लयजुर्वेदीय श्रौतसूत्राम आजकल उपलब्ध एकमात्र श्रौतसूत्रका नाम 'कात्यायन श्रौतसूत्र' है। यह ग्रन्थ श्रौतसूत्रोमे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। श्रौतसूत्रके स्वरूपको जाननेके लिये कात्यायन श्रौतसूत्र प्रतिनिधिमूलक ग्रन्थ है। श्रौतसूत्रोका मुख्य उद्देश्य श्रौतयागाका सक्षिप्त सुव्यवस्थित क्रमबद्ध प्रतिपादन है। इसी उद्देश्यको ध्यानम रखकर महर्षि कात्यायनने ब्राह्मणामे उपलब्ध मूल सामग्रीका कहीं विस्तार तथा कहीं सक्षेप कर उन्हे बोधगम्य तथा सरल बनानेका सफल प्रयास किया है।

चरणव्यूह क्रम २ के अनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध १५ शाखाओके लिये प्रवृत्त है। इन शाखाओमे भी विशेषत काण्व और माध्यन्दिन दो ही शाखासे सम्बद्ध है। काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाओमे जो क्रम है, उसी क्रमको ग्रहण करके यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

प्रतिपाद्य विषय

कात्यायन श्रौतसूत्र २६ अध्यायामे विभक्त है और इसमे अध्यायाकी अवान्तर कण्डिकाएँ भी हैं। प्रथम अध्यायम कात्यायन श्रौतसूत्रमे प्रतिपादित पदार्थोके ज्ञानके लिये पारिभाषिक विषयोका प्रतिपादन है। द्वितीय एव तृतीय अध्यायोमे दर्शपूर्णमासका साङ्गोपाङ्ग निरूपण, चतुर्थ अध्यायमे पिण्डपितृयज्ञ, वत्सापाकरण, विकृतियागोमे दर्शपूर्णमासोका अतिदेश, दाक्षायण, आग्रयणेष्टि, अन्वारम्भणेष्टि, अग्न्याधान, पुनराधान और अग्निहोत्रका निरूपण है। ५वेम चातुर्मास्य याग, मित्रविन्देष्टि, ६ठेमे प्रतिवर्षमे अनुष्ठेय निरूढपशुबन्ध, ७ से११ तक सोमयाग, १२वेमे द्वादशाह, १३वेमे गवामयन, १४वेम वाजपेय, १५वेमे राजसूय, १६ से १८ तक अग्निचयन, १९वेमे सौत्रामणी, २०वम अश्वमेध, २१वेमे पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध, २२वम एकाह, २३वेमे अहीनयाग, २४वेमे सत्रयाग, २५वम प्रायश्चित्त और २६वेम प्रवर्ग्यका प्रतिपादन है।

शुक्लयजुर्वेदीय कुछ ग्रन्थोका विवरण

शुक्लयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रामे आजकल उपलब्ध तथा विशेषरूपमे प्रचलित 'पारस्कर गृह्यसूत्र' ही है। इसके अतिरिक्त 'बैजवाप गृह्यसूत्र' का उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है। पारस्कर गृह्यसूत्र तीन काण्डोम विभक्त है। प्रथम काण्डम अवसथ्याधान, विवाह और गर्भाधानादिका वर्णन, द्वितीय काण्डमे चूडाकरण, उपनयन, समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ, श्रवणाकर्म, सीतायज्ञादिका विवरण तथा तृतीय काण्डम अवकीर्णप्रायश्चित्तादिका विधान है। इसम कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर तथा विश्वनाथके पाँच भाष्य उपलब्ध हैं।

महर्षि कात्यायनद्वारा सकलित 'कात्यायन श्राद्धसूत्र' (कातीय श्राद्धसूत्र) श्राद्ध-विषयका वर्णन करता है। इसम ९ कण्डिकाएँ हैं। इसमे कर्क, गदाधर तथा कृष्ण मिश्रके तीन भाष्य (टीका) उपलब्ध हैं। इसी तरह कात्यायनरचित

'शुल्बसूत्र' भी काशीसे प्रकाशित हुआ है, जिसमे सात कण्डिकाएँ हैं। शुक्लयजुर्वेदका प्रातिशाख्य 'वाजसनेयि-प्रातिशाख्य' नामसे प्रसिद्ध है। इसके रचयिता महर्षि कात्यायन है। ८ अध्याय तथा ७३४ सूत्रामे विभक्त वाजसनेयि-प्रातिशाख्यका मुख्य विषय वर्ण, स्वर, सधि, पदपाठ ओर क्रमपाठका विचार करना है। इस प्रातिशाख्यक परिशिष्टके रूपमें दो सूत्र उपलब्ध होते ह—(१) प्रतिज्ञासूत्र और (२) भाषिक सूत्र। शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध स्वरादि-सम्बन्धी नियमोका विवरण प्रतिज्ञासूत्रमे दिया गया हे। भाषिक सूत्रम प्रधानतया शतपथ-ब्राह्मणके स्वर-सचारका विधान है।

शिक्षा-विषयक ग्रन्थामे शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध कई शिक्षाएँ हैं, जिनमे याज्ञवल्क्य शिक्षा अधिक प्रचलित है। परिशिष्टोमे शुक्लयजुर्वेदके १८ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं।

[ख] कृष्णयजुर्वेदका परिचय

कृष्णयजुर्वेदके ८६ शाखाओम आज केवल ४ शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) तैत्तिरीय शाखा (२) मैत्रायणी शाखा, (३) कठशाखा ओर (४) कपिष्ठल शाखा। इनका सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है—

१-तैत्तिरीय शाखा—

शुक्लकृष्ण-यजुषाके भेद-निरूपणमे याज्ञवल्क्यके वमन किये हुए यजुषोको वेशम्पायनके अन्य शिष्योके तित्तिरि-रूप धारण करके वान्त यजुषाका भक्षण करनेसे उन यजुषाका कृष्णत्व हा गया—ऐसा जो इतिवृत्त सम्प्रति उपलब्ध होता हे, वह सर्वाशत वैदिक लोगाके लिये रुचिकर नहीं हो सकता है, क्याकि इतिवृत्तामे रूपकत्व सम्भव होनेसे, विद्याका मूर्त-रूपसे वमन तथा वान्तग्रहण लोकसम्मत नहीं होनेसे और सहिताआम ऐसा इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होनेसे उक्त हेतु अपर्याप्त है। अनन्यरूप ब्राह्मण-आरण्यकादि अनादि वेदभागामे तैत्तिरीय सज्ञा ही उपलब्ध होनेसे उन इतिवृत्तोका परिकालिकत्व स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा वेदाके अनादित्वका हनन हो जायगा। इसलिये तैत्तिरीय अभिधानमे अन्य हेतुओका अवलम्बन करना पडगा। 'वेदशाखापर्यालोचनम्' म इसमे सम्बन्धित निम्न हेतुआको उपस्थापित किया गया है—

[१] कृष्णयजुर्वेदमे मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक एक साथ ही पढे जाते हैं। अत 'त्रीणि मन्त्रब्राह्मणारण्यकानि यस्मिन् वेदशब्दराशौ सह तरन्ति पठ्यन्ते, असौ तित्तिरि' ऐसी व्युत्पत्ति कर सकते हैं। शौनकीय चरणव्यूह परिशिष्ट-२ म यजुर्वेदका लक्षण वताते हुए इसी भावको स्पष्ट किया गया है—

त्रिगुण पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणया सह।
यजुर्वेद स विज्ञय शेषा शाखान्तरा स्मृता॥

—इस कथनका प्राय यह अभिप्राय लिया जाता है कि जहाँ मन्त्र और ब्राह्मणका एक साथ त्रिगुण पाठ (सहिता पद-क्रम) किया जाता है, उसे यजुर्वेद जानना चाहिये।

[२] तैत्तिरीयक मन्त्र और ब्राह्मणका साकर्य स्पष्ट ही है। अत तीन मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक जिस शाखा या वदभागम छिपे हुएकी तरह सम्मिश्रित-रूपम अन्तर्हित हैं, वह वेदभाग या शाखा तैत्तिरीयके रूपम व्यवहृत किया जाता है।

[३] तीसरा मान्य हेतु यह भी हा सकता है कि तित्तिरि नामक आचार्यके द्वारा प्रवचन किये हुए यजुषो तथा उनके अनुयायी लोगाको तैत्तिरीय ऐसा नाम दिया है।

तैत्तिरीय सहिता—

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय सहिताका प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड देश इसी शाखाका अनुयायी है। इस शाखाने अपनी सहिता, ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र—इन सभीको बडी तत्परतासे अक्षुण्ण बनाये रखा है।

इसके स्वरूपके विषयम विद्वानोमे मतैक्य नहीं है। तैत्तिरीय सहिताम सारस्वत तथा आर्षेयके रूपमे दो पाठभेद हैं। आज इस शाखाकी जो सहिता उपलब्ध है, वह सारस्वत-परम्पराकी मानी जाती है, जिसमे मन्त्र तथा ब्राह्मणका पूर्ण साकर्य दिखायी पडता है। इस सारस्वत-परम्परामे मन्त्र-ब्राह्मणका साकर्य होनेपर भी तैत्तिरीय सहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक अलग-अलग छपे हैं। इस परम्पराम उपलब्ध तैत्तिरीय सहितामे कुल ७ काण्ड, ४४ प्रपाठक, ६५१ अनुवाक हैं। चरणव्यूहमे ४४ प्रपाठकाके स्थानपर ४४ प्रश्नाका उल्लख किया गया

है। इस प्रकार यहाँ प्रपाठक और प्रश्न—इन दोनोको एक ही समझना चाहिये।

तैत्तिरीय-परम्पराम बौधायन, आपस्तम्ब, सत्यापाढ आदि आचार्योंके द्वारा तैत्तिरीय सहिताके आर्षेय पाठक्रमका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इस पाठक्रमके अनुसार सहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक—ये तीना अलग-अलग ग्रन्थ नहीं, अपितु तीना मिलकर तैत्तिरीय-यजुर्वेद कहलाते हैं। काण्डानुक्रमणीके अनुसार यह पाँच काण्डाम विभक्त है—(१) प्राजापत्य-काण्ड, (२) सौम्य-काण्ड, (३) आग्नेय-काण्ड, (४) वैश्वदेव-काण्ड और (५) स्वायम्भुव-काण्ड।

२-मैत्रायणीय शाखा—

कृष्णयजुर्वेदकी शाखाआम मैत्रायणीय शाखा अन्यतम है। इसकी मैत्रायणीय सहिता है। 'मित्रयु' नामक आचार्यके प्रवचन करनेके कारण इसका नाम मैत्रायणी हो गया होगा। पाणिनिने अपने गणपाठमे मैत्रायणका उल्लेख किया है। हरिवश पुराणमे इस प्रकारका उल्लेख मिलता है—

मैत्रायणी तत शाखा मैत्रेयास्तु तत स्मृता ॥

मैत्रायणी सहिता गद्य-पद्यात्मक है। अन्य कृष्णयजुर्वेदीय सहिताआके समान इसमे भी मन्त्र तथा ब्राह्मणाका सम्मिश्रण है। यह सहिता क्रमश प्रथम (आदिम), द्वितीय (मध्यम), तृतीय (उपरि) और चतुर्थ (खिल) इस प्रकार चार काण्डोमें विभक्त है। प्रथममे ११ प्रपाठक, मध्यममे १३ प्रपाठक, उपरिम १६ तथा खिलकाण्डमे १४ प्रपाठक हैं। इस प्रकार कुल प्रपाठक-सख्या ५४ है और प्रत्येक प्रपाठक अनुवाको तथा कण्डिकाआमे विभक्त है। कुल मिलाकर प्रथम काण्डमे ११ प्रपाठक, १६५ अनुवाक और ६९५ कण्डिकाएँ हैं। द्वितीय काण्डमे १३ प्रपाठक, १५१ अनुवाक ७८३ कण्डिका तथा तृतीय काण्डमे १६ प्रपाठक १८० अनुवाक और ४८५ कण्डिका तथा चतुर्थ काण्डमे १४ प्रपाठक, १५८ अनुवाक, ११८१ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार पूरी सहितामे ५४ प्रपाठक ६५४ अनुवाक और ३,१४४ कण्डिकाएँ हैं।

इस शाखाके प्रतिपाद्य विषयामे मुख्यत दर्शपूर्ण-मासेष्टि, ग्रहग्रहण अग्न्युपस्थान, अग्न्याधान, पुनराधान, अग्निहोत्र चातुर्मास्य, वाजपय, काम्येष्टियाँ, राजसूय, अग्निचिति, सौत्रामणी तथा अश्वमेधका विवेचन है। कृष्णयजुर्वेदकी अन्य शाखाआकी तरह इसम भी यज्ञाके विवेचनमे व्यवस्थित क्रम नहीं है। मैत्रायणी सहितामे कुछ ऐसे विषयाका विवचन ह, जा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होत। उदाहरणके लिये गानामिक प्रकरण (मै० स० ४। २)-म गायके विभिन्न नामाका उल्लेख करते हुए उसकी महिमाका विवेचन किया गया है।

३-कठशाखा—

कृष्णयजुर्वेदकी उपलब्ध शाखाओम कठशाखा भी एक है। इसका प्रवचन कठ नामक आचार्यने किया है। इसी कारण इस शाखाकी सहिताका नाम 'काठक सहिता' है। कृष्णयजुर्वेदकी २७ मुख्य शाखाआम काठक सहिता (*कठशाखा) भी अन्यतम है। पतञ्जलिके कथनानुसार* कठशाखाका प्रचार तथा पठन-पाठन प्रत्येक ग्रामम था—**ग्रामे ग्रामे काठक कालापक च प्रोच्यते** (महाभाष्य)। जिससे प्राचीन कालम इस शाखाके विपुल प्रचारका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, परतु आजकल इसके अध्येताआकी *सख्या तथा इसके प्रचारवाले प्रान्तका भी पता नहीं चलता।* कठ ऋषिका विशेष इतिवृत्त ब्रह्मपुराणक अन्तर्गत गोदा-माहात्म्यके ५० वे अध्यायम वर्णित है। जिसके अनुसार काठकोंका मूल स्थान गोदा नामक नदीका दक्षिणाग्नेय तटवर्ती देश था।

काठक सहिताका स्वरूप मन्त्रब्राह्मणोभयात्मक है। यह सहिता इठिमिका, मध्यमिका, ओरिमिका, याज्यानुवाक्या तथा अश्वमेधाद्यनुवचन—इन पाँच खण्डामे विभक्त है। इन खण्डोके टुकडाका नाम 'स्थानक' है। कुल स्थानकाकी सख्या ४०, अनुवाचनाकी १३, अनुवाकाकी ८४३, मन्त्राकी ३,०९१ *तथा मन्त्रब्राह्मणोकी सम्मिलित सख्या* १८ हजार है।

४—कपिष्ठल शाखा—

कपिष्ठल ऋषिके द्वारा प्रोक्त यजुपाका नाम कपिष्ठल है। कपिष्ठलका नाम पाणिनिने '**कपिष्ठला गोत्र**' (८। ३। ९१) सूत्रमे किया है। इसमे 'कपिष्ठल' शब्द गोत्रवाची है। सम्भवत *कपिष्ठल ऋषि ही इस गोत्रके प्रवर्तक थे।* निरुक्तके टीकाकार दुर्गाचार्यने अपनको कपिष्ठल वासिष्ठ बताया है—'**अह च कपिष्ठलो वासिष्ठ** (निरुक्त-टीका)।

कपिष्ठल सहिता आज पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं है। अत उसके स्वरूपके विषयमे जानकारी नहीं दी जा सकती। आचार्य बलदेव उपाध्यायकी पुस्तक 'वैदिक साहित्य और सस्कृति' के अनुसार वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालयके 'सरस्वतीभवन' पुस्तकालयमे इसकी एक ही अधूरी प्रति उपलब्ध होती है। इस प्रतिके आधारपर डॉ० श्रीरघुवीरजीने इसका एक सुन्दर सस्करण लाहौरसे प्रकाशित किया है। श्रीउपाध्यायके अनुसार काठक सहितासे इस सहितामे अनेक बातोमे पार्थक्य तथा वैभिन्न्य है। इसकी मूल सहिता काठक सहिताके समान होनेपर भी उसकी स्वराङ्कन-पद्धति ऋग्वेदसे मिलती है। ऋग्वेदके समान ही यह अष्टक तथा अध्यायामे विभक्त है।

कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण

कृष्णयजुर्वेदीय शाखाआमे अद्यावधि पूर्णरूपसे उपलब्ध तथा अधिक महत्त्वशाली एकमात्र ब्राह्मण 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' है। 'काठक ब्राह्मण' का भी नाम सुना जाता है, परतु वह उपलब्ध नहीं है। शतपथ-ब्राह्मणके सदृश तैत्तिरीय ब्राह्मण भी सस्वर है।

विभाग

तैत्तिरीय ब्राह्मणका विभाग तीन भाग या काण्डामे हुआ है। इसीको 'अष्टक' भी कहते हैं। प्रथम दो काण्डामे आठ-आठ अध्याय अथवा प्रपाठक हैं। तृतीय काण्डमे बारह अध्याय या प्रपाठक हैं। भट्टभास्करने इन्हे 'प्रश्न' भी कहा है। इसका एक अवान्तर विभाजन अनुवाकोका भी है, जिनकी सख्या ३५३ है।

प्रतिपाद्य

आचार्य सायणके अनुसार यजुर्वेदसे यज्ञशरीरकी निष्पत्ति होती है। अत यजुर्वेदीय होनेके कारण तैत्तिरीय ब्राह्मणमे अध्वर्युकर्तृक सम्पूर्ण क्रियाकलापाका वर्णन विस्तारसे हुआ है। सक्षेपमे इसके प्रतिपाद्य विषयोमे अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय आदि यागाका वर्णन प्रथम काण्डमे है। द्वितीय काण्डमे अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणी तथा बृहस्पतिसव प्रभृति विभिन्न सवाका निरूपण है। तृतीय काण्डमे नक्षत्रेष्टिया तथा पुरुषमेधसे सम्बद्ध विवरण है।

उपर्युक्त विषयोके अतिरिक्त भरद्वाज, नचिकेता, प्रह्लाद और अगस्त्य-विषयक आख्यायिकाएँ, सत्यभाषण, वाणीकी मधुरता, तपोमय जीवन, अतिथिसत्कार, सगठनशीलता सम्पत्तिका परोपकार-हेतु विनियोग, ब्रह्मचर्य-पालन आदि आचार-दर्शन तथा सृष्टिविषयक वर्णन इसका उल्लेख्य पक्ष है।

कृष्णयजुर्वेदीय अन्य उपलब्ध प्रमुख ग्रन्थ

कल्प—कृष्णयजुर्वेदीय कल्पग्रन्थोंमें बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, मानव, वैखानस, भारद्वाज और वाराह—इन सात श्रौतसूत्रा तथा बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, मानव और काठक—इन पाँच गृह्यसूत्रो एव बौधायन, आपस्तम्ब और सत्याषाढ—इन तीन धर्मसूत्रो तथा बौधायन, आपस्तम्ब और मानव—इन तीन शुल्बसूत्रोकी प्रभूत सख्या उपलब्ध होती है।

शिक्षा-ग्रन्थ—कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षा-ग्रन्थामे तैत्तिरीय शाखासे सम्बद्ध 'भरद्वाज-शिक्षा' उपलब्ध है। यह 'सहिता-शिक्षा' के नामसे भी व्यवहृत है। दूसरी 'व्यासशिक्षा' भी कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध है। प्रातिशाख्यामे 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' उपलब्ध है।

आरण्यक—आरण्यक ग्रन्थोमे 'तैत्तिरीय आरण्यक' प्रसिद्ध है। उपनिषदामे मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध ३२ उपनिषद् हैं। इनमे तैत्तिरीय उपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद, कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रमुख माने जाते हैं।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

(ऋक्० १०। ११७। ३)

वही दानी है जो अन्नके इच्छुक एव घर आये हुए निर्धन याचकको दान देता है। विपत्तिके समय इसके पास पर्याप्त धन होता है और अन्य विषम परिस्थितियामे (अन्य लोग) इसके मित्र हो जाते हैं।

सामवेदका परिचय एवं वैशिष्ट्य

पूर्वीय साहित्य, ज्ञान-विज्ञान और मानव-सभ्यताओंका अजस्र स्रोत वेद है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी हजारसे भी अधिक शाखाएँ महाभाष्यमें गिनायी गयी हैं। जिनमेंसे १० से अधिक शाखाएँ तो अभी भी मिलती हैं। माना गया है कि पहले समग्र वेद एक ही भागमें आबद्ध था। सभी लोग समस्त वेद ग्रहण करनेकी सामर्थ्य रखते थे। जब कालक्रमसे मनुष्यकी मेधाशक्ति क्षीण होती गयी, तब कृष्णद्वैपायन (व्यास)-ने लोकोपकारार्थ इसे अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये अलग-अलग नामके साथ वेदका विभाजन करके पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामके अपने चार शिष्योंको उपदेश किया। जैमिनिसे सामवेदकी परम्परा आरम्भ होती है। जैमिनिने अपने पुत्र सुमन्तु, सुमन्तुने अपने पुत्र सुन्वान् और सुन्वान्‌ने अपने पुत्र सुकर्माको पढ़ाया। इस प्रकार सामवेदकी अध्ययनपरम्परा चलती आ रही है। गद्य, पद्य और गीतिके स्वरूपगत भेदसे प्रसिद्ध वेदत्रयीमें गीतिभाग सामवेद कहलाता है।

महाभाष्यमें सामवेदकी हजार शाखाएँ होनेका उल्लेख मिलता है—'सहस्रवर्त्मा सामवेदः।' सामतर्पणके अवसरपर साम गानेवाले जिन तेरह आचार्योंको तर्पण दिया जाता है, वे निम्न हैं—

(१) राणायन, (२) सात्यमुग्रि-व्यास, (३) भागुरि-औलुण्डि (४) गोल्मुलवि (५) भानुमान, (६) औपमन्यव, (७) दाराल, (८) गार्ग्य, (९) सावर्णि (१०) वार्षगणि (११) कुथुमि, (१२) शालिहोत्र और (१३) जैमिनि।

—इनमेंसे आज राणायन, कुथुमि और जैमिनि आचार्योंके नामसे प्रसिद्ध राणायनीय, कौथुमीय और जैमिनीय—तीन शाखाएँ प्राप्त होती हैं। जिनमेंसे राणायनीय शाखा दक्षिण देशमें प्रचलित है। कौथुमीय विन्ध्याचलसे उत्तर भारतमें पायी जाती है। केरलमें जैमिनीय शाखाका अध्ययन-अध्यापन कराया जाता है। पूरे भारतमें ज्यादा-से-ज्यादा कौथुमीय शाखा ही प्रचलित है और इसके उच्चारणगत भेदसे नागरपद्धति और मद्रपद्धति करके दो पद्धतियाँ दिखायी पड़ती हैं। राणायनीयकी गोवर्धनीपद्धति काशीमें देखी जा सकती है। सामवेदकी हजार शाखाएँ न मानकर उच्चारणकी हजार पद्धतियाँ सत्यव्रत सामश्रमीने मानी हैं। कौथुमीय और राणायनीय शाखाओंके गान-ग्रन्थोंमें कुछ भिन्नता देखी जा सकती है। यद्यपि राणायनीय शाखाका गान आजतक कहींसे भी न छपनेके कारण दोनों शाखाओंका काम कौथुम शाखासे चलानेकी परम्परा चल पड़ी है, तथापि पृथक् लिखित गान होनेका दावा राणायनीय शाखावालोंका है।

सामवेदमें अनेक अवान्तर स्वरोंके अतिरिक्त प्रमुख सात स्वरोंके माध्यमसे गीतिका पूर्ण स्वरूप पाया जाता है। 'गीतिषु सामाख्या'—इस जैमिनीय सूत्रमें जैमिनि गीतिप्रधान मन्त्रको ही साम कहते हैं। **'ऋच्यध्यूढं साम गीयते'** (छा० उ० १। ६। १)-में स्वयं श्रुति ऋक् और सामका अलग सम्बन्ध दिखाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्में 'सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्' (१। ३। २२) वाक्यसे 'सा' का अर्थ ऋक् और 'अम' का अर्थ गान बताकर सामका व्युत्पादन किया गया है। इससे बोध होता है कि इन दोनोंको ही 'साम' शब्दसे जानना चाहिये। इसलिये ऋचाओं और गानोंको मिलाकर सामवेदका मन्त्रभाग पूर्ण हो जाता है। मन्त्रभागको संहिता भी कहते हैं। इसी कारण सामवेदसंहिता लिखी हुई पायी जाती है।

मन्त्रभागमें आर्चिक और गान रहते हैं। आर्चिक भी पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिकमें बँटा है। दोनोंमें कुल मिलाकर २७ अध्यायोंमें १८७५ मन्त्र पठित हैं। जिनमेंसे ७५ मन्त्रोंको छोड़कर अवशिष्ट सभी ऋग्वेदके शाकल शाखामें पाये जाते हैं। ७५ मन्त्रोंके भी शाखायन आदि लुप्त शाखाओंमें पाये जानेका मत विद्वानोंका रहा है। किसीके मतमें ये सामवेदके ही मन्त्र माने गये हैं। कुछ लोग सामवेदके मन्त्रोंको ऋग्वेदमें पाये जानेके कारण सामवेदीय ऋचाओंका स्वतन्त्र अस्तित्व न होनेका दावा करते हैं, परंतु व्यासने चारों वेदोंका उपदेश किया था। सबसे पहले किये हुए उच्चारणको ही उपदेश कहते हैं। यदि ऋग्वेदीय मन्त्र सामवेदमें ले आये गये हैं तो फिर सामवेदके पृथक् उपदेशकी क्या आवश्यकता थी। ऋग्वेद और सामवेदके मन्त्रोंमें पाठगत और स्वरगत बहुत भेद पाये जाते हैं। इसके आधारपर इन मन्त्रोंका स्वतन्त्र

अस्तित्व माननेवाले भी हैं। इन सामवेदीय ऋचाओंमें विविध स्वरों एवं आलापोंसे प्रकृतिगान और ऊह तथा ऊह्यगान गाये गये हैं। प्रकृतिगानमें ग्रामगेयगान और आरण्यकगान हैं। प्रथम गानमें आग्नेय, ऐन्द्र और पावमान—इन तीन पर्वोंमें प्रमुख रूपसे क्रमशः अग्नि, इन्द्र और सोमके स्तुतिपरक मन्त्र पढ़े गये हैं। आरण्यकमें अर्क, द्वन्द्व, व्रत, शुक्रिय और महानाम्नी नामक पाँच पर्वोंका संगम रहा है। सूर्यनमस्कारके रूपमें प्रत्येक रविवारको शुक्रिय-पर्व-पाठ करनेका सम्प्रदाय सामवेदीयोंका है। जंगलोंमें गाये जानेवाले सामोंका पाठ होनेसे इस गानभागको आरण्यक कहा गया है। ग्रामगेयगान और आरण्यक-गानके आधारपर क्रमशः ऊहगान और ऊह्यगान प्रभावित हैं। विशेष करके सोमयागोंमें गाये जानेवाले स्तोत्र ऊह और ऊह्यगानमें मिलते हैं। इन दोनोंमें दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्रसंज्ञक सात पर्वोंमें ताण्ड्य ब्राह्मणद्वारा निर्धारित क्रमके आधारपर स्तोत्रोंका पाठ है। जैसे कि ताण्ड्य ब्राह्मण अपने चतुर्थ अध्यायसे ही यागका निरूपण करता है और सर्वप्रथम गवामयन नामक सत्रात्मक विकृतियाग बतलाता है। प्रकृतिभूत द्वादशाह यागके प्रमुख दस दिनोंके अनुष्ठानसे इस गवामयन यागका समापन किया जाता है। इसलिये गवामयन यागके स्तोत्र ऊह तथा ऊह्यगानके प्रथम पर्व दशरात्रपर पढ़े गये हैं। अन्य सभी पर्व इसी प्रकार देखे जा सकते हैं।

पूरे गानभागमें तीन प्रकारके साम देखे जाते हैं। केवल ऋचाओंके पदोंमें ही गाया हुआ साम आवि संज्ञक कहा जाता है। ऋक्-पदों और स्तोभोंमें गाया हुआ साम लेशसंज्ञक और पूरे स्तोभोंमें गान किया हुआ साम छन्नसंज्ञक है। ऋक्के पदों वा अक्षरोंसे भिन्न हाउ, आहावा और इडा-जैसे पदोंका स्तोभ कहा गया है। सामवेदीय रुद्रमें 'अधिपताइ' प्रतीकवाले तीन साम पूरे स्तोभोंमें गाये गये हैं। सेतु साममें 'दाननादानम्', 'अक्रोधेन क्रोधम्', 'श्रद्धयाश्रद्धाम्', 'सत्येनानृतम्'—ये चार पद भी स्तोभ हैं। इन स्तोभोंको देखनेसे स्तोभोंके सार्थक और निरर्थक होनेका बोध होता है।

ब्राह्मणभाग—

कर्मोंमें मन्त्रभागका विनियोजन ब्राह्मण करते हैं। सामान्यतया सामवेदके आठ ब्राह्मण देवताध्याय ब्राह्मणके सायण-भाष्यके मङ्गलाचरण-श्लोकमें गिने गये हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रौढ (ताण्ड्य)-ब्राह्मण, (२) षड्विंशब्राह्मण, (३) सामविधानब्राह्मण (४) आर्षेयब्राह्मण, (५) देवताध्यायब्राह्मण, (६) छान्दोग्योपनिषद्-ब्राह्मण, (७) संहितोपनिषद्-ब्राह्मण और (८) वंशब्राह्मण।

ताण्ड्य ब्राह्मणका अध्यायसंख्याके आधारपर पञ्चविंश नाम पड़ा है तो सबसे बड़ा होनेसे महाब्राह्मण भी कहा जाता है। इन ब्राह्मणोंके अतिरिक्त जैमिनीय शाखाके जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद् और जैमिनीयार्षेय-ब्राह्मण भी देखनेमें आते हैं। इनसे भी अधिक ब्राह्मण होनेका संकेत मिलता है, परंतु पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं। ये ब्राह्मण विशेषतया औद्गात्र कर्मोंका प्रतिपादन करते हैं। प्रमुख रूपमें यागोंमें स्तोत्रोंका गान औद्गात्र कर्म है। सोमलता द्रव्य-प्रधान यागोंमें आहूत देवोंकी स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करना उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता नामक सामगायकोंका कार्य है। अपने प्रतिपाद्यका विधान करनेके लिये विविध आख्यायिकाओं और उपपत्तियोंको देना ब्राह्मणकी अपनी शैली है। जैसे 'वीङ्क' नामक सामगानसे च्यवन ऋषिके वृद्धावस्थासे युवा होनेकी आख्यायिका आयी है, जिससे वीङ्क सामका महत्त्व ताण्ड्य ब्राह्मण (१४। ६। १०)-में बताया गया है। यह वीङ्क साम 'यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति' ऋचामें ऊहके दशरात्र पर्वपर गाया गया है। इसी प्रकार वात्स सामके विषयमें एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। वत्स और मेधातिथि नामके दो काण्व ऋषि थे। मेधातिथिने वत्सको शूद्रपुत्र तथा अब्राह्मण कहकर अपमानित किया। फिर ब्राह्मणत्वनिर्णयके लिये वत्स 'वात्स साम' को और मेधातिथि 'मेधातिथ्य साम' को पढ़कर अग्निके पास चले गये। उसी समय वत्सने 'वात्स साम' को दोहराते हुए अग्निमें प्रवेश किया परंतु अग्निने उसको छुआ भी नहीं। इस प्रकार वत्सका ब्राह्मणत्व सिद्ध होनेसे 'वात्स साम' 'कामसनि' (इच्छा पूरा करनेवाला)-के नामसे प्रसिद्ध

हुआ। यह आख्यायिका ताण्ड्य-ब्राह्मण (१४। ६। ६)-म आयी है। प्रकृत 'वात्स साम' 'आतेवत्सा' ऋचापर ऊहके दशरात्र पर्व (७। १७)-मे पठित है।

छ अध्यायामे विभक्त षड्विशब्राह्मणके छठे अध्यायम विशेष बात बतायी जानेसे इस ब्राह्मणको ताण्ड्यका निरन्तर रूप मानकर २६ वाँ अध्याय माना गया। जिससे ब्राह्मणका नाम भी षड्विश रखा गया। ससारम स्वाभाविक रूपसे घटनेवाली घटनाआसे भिन्न अनेक अद्भुत घटनाएँ भी होती हैं। उससे निपटनेके लिये स्मार्त-यागा और सामाका विधान इस अध्यायम किया गया है। जैसे मकानपर वज्रपात हाना, प्रशासनिक अधिकारीस विवाद बढना तथा आकस्मिक रूपमे हाथिया और घोडोकी मृत्यु होना लोगोके लिये अनिष्ट-सूचक है। इससे शान्ति पानके लिये इन्द्रदेवता-सम्बद्ध पाककर्म और 'इन्द्रायेन्दो मरुत्वते' (४७२) ऋचाम 'इयो वृधीयम्' सामका विधान किया गया है। वैसे ही भूकम्प हाना, वृक्षासे खून बहना, गायम मानव या भैंस आदिके वच्चे पैदा होना, विकलाङ्ग शिशुका जन्म होना-जैसे अनक सासारिक अद्भुत कर्मोसे शान्ति पानेके लिये पाक-कर्मों और सामोका विधान है। इस अध्यायम पाये गये 'दण्डपाणये, चक्रपाणये, शूलपाणये' आदि ब्राह्मणवाक्यामें देवताआका शस्त्र धारण किया हुआ शरीरधारी स्वरूप होनेका सकेत मिलता है और आज बने हुए शरीरधारी देवाकी प्रतिमाएँ ब्राह्मणवाक्यापर आधारित मानी जा सकती हैं।

तीन अध्यायवाले सामविधानब्राह्मणके पहले अध्यायम वर्णित कथाके अनुसार सृष्टिक्रमम ब्रह्माने सततियाके आहारके रूपम सामाकी परिकल्पना की थी, जो सामके सात स्वरासे तृप्त होती गयी थी। जैसे क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार—इन सात स्वरासे क्रमश देवा, मानवो, पशुआ, गन्धर्वों, अप्सराओ, पितृगण एव पक्षियो, असुरा तथा पूरे स्थावर-जगमात्मक वस्तुआके तृप्त होनेका उल्लेख है, जो आज भी प्रासगिक है। इसी तरह मानव-जीवनके विविध पक्षासे जुडी हुई दृष्ट ओर अदृष्ट आकाक्षाओकी पूर्तिके लिये कर्मों और सामोका विधान करना इस ब्राह्मणका प्रतिपाद्य है। जैसे—

अभीष्ट	*सामनाम*	*गानसकेत*
१ धनसाधन	अङ्गिरसा हरिश्रानिधनम्	ग्रामगेयगान ५, ९, १
२ यशोलाभ	इन्द्रस्य यश	ग्राम० ६ २, १ २४८
३ सुन्दर दीर्घायुवाला पुत्र	अपत्यम्	आरण्यक गान ३, ४, १
४. अभाप्सित स्त्रीकी प्राप्ति	अश्विनो साम	ग्राम० ५, ६, २ १७२
५ रागशान्ति	काशातम्	ग्राम० १, ३, १ ३३
६ मोक्ष	पर्क	ग्राम० १, १, १, १
७. कन्याके लिये वरलाभ	शौन शेपे	ग्राम० १, १ १-२, ७

छ अध्यायाम विभाजित आर्षेयब्राह्मण सामाके नामसे सम्बद्ध ऋषियाका प्रतिपादन करता ह। मन्त्रद्रष्टा ऋषिक नामसे सामाका नाम बतलानेवाले ब्राह्मणका नाम आर्षेय पडा हे। चार खण्डाम विभक्त देवताध्यायब्राह्मण निधनके आधारपर सामाके देवताआको बतलाता है। निधन पाँच भक्तिवाला सामका एक भक्ति-विभाग ह।

दस प्रपाठकसे पूर्ण होनवाले छान्दाग्योपनिषद्-ब्राह्मणके प्रथम दो प्रपाठकाम विवाहादि-कर्मसे सम्बद्ध मन्त्राका विधान है। अवशिष्ट आठ प्रपाठक उपनिषद् हैं। इस उपनिषद्-खण्डम सामके सारतत्त्वको स्वर कहा गया है। जैसे शालावत्य और दाल्भ्यके सवादम सामकी गतिको 'स्वर होवाच' कहकर स्वराको ही सामका सर्वस्व माना गया है। देखा जाता है कि वृहद् रथन्तर आदि साम आर्षेयसे सम्बद्ध न होकर स्वरासे ही प्रसिद्ध हैं। अर्थात् ये साम क्रुष्ट-प्रथमादि स्वरोकी ही अभिव्यक्ति करते हे। इसी उपनिषद् (२। २२। २)-म उद्गाताद्वारा गाय गये एक स्तोत्रका देवाम अमृत दिलाने, पशुआमे आहार तय करने, यजमानको स्वर्ग दिलाने, स्वय स्तोताका अन्नोत्पादन करानेका उद्देश्य रखते हुए गान करनेका विधान बतलाया गया हे। इससे सामगानका महत्त्व देखा जा सकता है।

सहितोपनिषद्-ब्राह्मणके पाँच खण्डासे सामसहिताका रहस्य बतलाया गया है। इसक द्वितीय खण्डम भकारयाजनके साथ रथन्तर सामका स्वरूप बताकर भकारके प्रयोगसे चमकते हुए ऐश्वर्यके मिलनेकी बात बतायी गयी है। सबसे अन्तिम वशब्राह्मण तीन खण्डामे शर्वदत्तगार्ग्यसे ब्रह्मपर्यन्त सामवेदकी अध्ययनपरम्पराको बतलाता है। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मणको मिलाकर ही वेद पूर्ण हो जाता है।

वेदाङ्ग—

वेदाङ्गोंमेंसे कल्पशास्त्र चार प्रकारोंमें बँटा है—श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र। श्रौतसूत्र दो हैं—द्राह्यायण और लाट्यायन। वैसे ही खादिर और गोभिल दो गृह्यसूत्र मिलते हैं। इस तरह देश-प्रयोगके भेदसे श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रके दो-दो भेद किये गये हैं। अर्थात् जहाँ दक्षिणके सामवेदी अपने श्रौत और स्मार्त-कर्म क्रमशः द्राह्यायण श्रौतसूत्र और खादिर गृह्यसूत्रसे सम्पन्न करते हैं, तो वहीं कर्म उत्तरके सामवेदी लाट्यायन श्रौतसूत्र और गोभिल गृह्यसूत्रसे सम्पन्न करते हैं। धर्मसूत्रमें गौतम-धर्मसूत्र २८ अध्यायोंमें विभक्त होकर वर्णधर्म, राजधर्म नित्यकर्म आदिका प्रतिपादन करता है। सामवेदमें शुल्वसूत्रका अभाव देखा जाता है।

सामवेदकी उच्चारण-प्रक्रियाको बतलानेवाली प्रमुख तीन शिक्षाएँ हैं—नारदीयशिक्षा गौतमशिक्षा और लोमशशिक्षा। तीनों शिक्षाग्रन्थ दो प्रपाठकों और सोलह कण्डिकाओंमें विभाजित हैं। उपाङ्ग ग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध प्रातिशाख्य साहित्यमें सामवेदीय प्रातिशाख्योंका विशिष्ट स्थान रहा है। सामसंहिताके यथार्थ उच्चारणके लिये ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र और पुष्पसूत्र रचे गये हैं। ऋचाओंका अध्ययन करनेवाला ऋक्तन्त्र पाँच प्रपाठकों और तीस खण्डोंमें विभक्त है। वैसे ही प्रकृतिगानके स्वरोंका अध्ययन करनेवाला सामतन्त्र १३ प्रपाठकोंमें लिखा हुआ है। स्तोभोंका निरूपक अक्षरतन्त्र दो प्रपाठकोंमें बँटा है। इसको सामतन्त्रका अङ्ग माना गया है। ऊह ऊह्य साम-विवेचक पुष्पसूत्र, दस प्रपाठकों और सौ खण्डोंमें विभाजित है।

इस वेदका आरण्यक 'तवलकार' है। जिसको जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण भी कहा जाता है। चार अध्यायों और अनेक अनुवाकोंसे इसकी ग्रन्थाकृति बनी है। इसी प्रकार केन और छान्दोग्योपनिषद् इस वेदके उपनिषद् हैं। अपनी शाखाके आधारपर केनको तवलकार भी कहा जाता है। आठ प्रपाठकके आदिमें पाँच प्रपाठकोंमें उद्गीथ (ॐकार) और सामोंका सूक्ष्म विवेचन करनेवाला छान्दोग्योपनिषद् अन्तके तीन प्रपाठकोंमें अध्यात्मविद्या बतलाता है। सामवेदीय महावाक्य 'तत्त्वमसि'का निरूपण इस भागमें किया गया है।

सामवेदसे ही संगीतशास्त्रका प्रादुर्भाव माना जाता है। 'सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः' (१। २५) अर्थात् 'ब्रह्माने सामवेदसे गीतोंका संग्रह किया' ऐसा कहकर संगीतरत्नाकरके रचयिता शार्ङ्गदेवने स्पष्ट शब्दोंमें संगीतका उपजीव्य ग्रन्थ सामवेदको माना है। भरतमुनिने भी इसी बातको सिद्ध करते हुए कहा कि 'सामभ्यो गीतमेव च' अर्थात् 'सामवेदसे ही गीतकी उत्पत्ति हुई है।' इसी प्रकार विपुल सामवेदीय वाङ्मयको श्रीकृष्णने 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (गीता १०। २२) अर्थात् 'वेदोंमें मैं सामवेद हूँ' कहकर इसका महत्त्व बढ़ा दिया है। वेणुके अनुरागी, गुणग्राही और ब्राह्मणप्रिय होनेके कारण भगवान् कृष्ण स्वयं अपनी विभूति सामवेदको मानते हैं। देखनेमें आता है कि सामवेदमें पद्यप्रधान ऋग्वेदीय मन्त्रों, गद्यप्रधान यजुर्मन्त्रों और गीत्यात्मक मन्त्रोंका संगम है। इसलिये समस्त त्रयीरूप वेदोंका एक ही सामवेदसे ग्रहण हो जानेके कारण—इसकी अतिशय महत्ता और व्यापकताके कारण भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको साक्षात् सामवेद बताया है।

[श्रीराम अधिकारीजी, वेदाचार्य]

सारा परिवार ईश-भक्त हो

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥

(ऋक्० ८। ६९। ८)

हे प्रिय मेधावी जनो। ईशकी उपासना करो। उपासना करो॥ विशेषरूपसे उपासना करो॥। तुम्हारे बच्चे भी उसकी उपासना करें। अभेद्य नगर या किलेके तुल्य उस परमात्माकी तुम सभी उपासना करो।

अथर्ववेदका संक्षिप्त परिचय

चारो वेदामे ऋक्, यजु और साम—ये मन्त्रलक्षणके आधारपर प्रसिद्ध हैं, किंतु अथर्ववेद इन तीनोसे भिन्न नामसे जाना जाता है। चारो वेदोका समष्टिगत नाम 'त्रयी' भी है। मूलत इसीके आधारपर कुछ आधुनिक विद्वान् अथर्ववेदको अर्वाचीन कहते हैं, परतु इसके पीछे कोई ठोस आधार या युक्ति नहीं है।

वैदिक मन्त्राका उच्चारण तीन प्रकारसे किया जाता है—(१) जिस मन्त्रम अर्थके आधारपर पाद-व्यवस्था निश्चित है, उसे 'ऋक्' कहते हैं, (२) गीत्यात्मक मन्त्रको 'साम' तथा (३) इनसे अतिरिक्त जो मन्त्र हैं अर्थात् पद्यमय और गानमय मन्त्रासे अतिरिक्त जितने मन्त्र हैं, उन्ह 'यजु' कहते हैं। यजुर्मन्त्र गद्य-रूपम पढे जाते हैं। अथर्ववेदमे तीनो प्रकारके मन्त्र उपलब्ध हैं। अत इस वेदका नाम ऋक्, यजु और साम अर्थात् मन्त्रलक्षणके आधारपर नहीं, अपितु प्रतिपाद्य विषयवस्तुके आधारपर है। इसी कारण अथर्ववेदके अन्य विविध नाम भी हैं। इस प्रकार मन्त्र-लक्षणके आधारपर 'त्रयी' शब्दका प्रयोग हुआ है, तीन वेदाके अभिप्रायसे नहीं। भगवान् कृष्णद्वैपायनने श्रौतयज्ञकर्मोके आधारपर एक ही वेदको चार भागामे विभक्त किया है। इससे भी अथर्ववेदका अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता।

अथर्ववेदके विविध नाम

अन्य वेदोकी तरह अथर्ववेदका भी एक ही नाम क्यो नहीं रहा? अथर्ववेदको विभिन्न नाम देनेमे क्या प्रयोजन है? ऐसी जिज्ञासाकी शान्तिके लिये सक्षेपम कुछ विचार किया जा रहा है—

अथर्ववेद अनेक नामासे अभिहित किया जाता है, जैसे—अथर्ववेद, अथर्वाङ्गिरोवेद ब्रह्मवेद भिषग्वेद तथा क्षत्रवेद आदि।

अथर्ववेद—

पाणिनीय धातुपाठमे 'थुर्वी' धातु हिसाके अर्थमे पठित है। वैदिक शब्दाके परोक्षवृत्तिसाधर्म्यके आधारपर 'थुर्वी' धातु ही 'थर्व' के रूपम परिणत हो गया है। अत जिससे हिसा नहीं होती है उसको अथर्व[1] कहते ह।

वैदिक वाङ्मयमें 'हिंसा' शब्द किसीकी हानि या परस्पर होनेवाले असामञ्जस्य आदिके अर्थमे भी प्रयुक्त है। अत केवल प्राणवियोगानुकूल-व्यापार ही हिसा नहीं है। सामान्यत हिसा दो प्रकारकी होती है—(१) आमुष्मिकी और (२) ऐहिकी। जिस कर्म या आचरणसे पारलौकिक सुखम बाधा [हानि] होती है, उसका आमुष्मिकी हिसा कहते हैं। इस प्रकारकी हिसाका अथर्ववेदोक्त कर्मोसे दूर किया जा सकता है। दूसरी इहलौकिक सुखमे होनेवाली बाधा भी अथर्ववेदोक्त शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोसे दूर की जा सकती है। अत जिससे किसी प्रकारकी हिसा नहीं हो पाती है, उसके कारण 'अथर्ववेद' ऐसा नाम ह।

अथर्वाङ्गिरोवेद—

अथर्ववेदका दूसरा नाम अथर्वाङ्गिरस भी है। अथर्ववेद (१०। ७ । २०), महाभारत (३। ३०५। २), मनुस्मृति (११।३३), याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३१२) तथा आशनसस्मृति (३।४४) आदि ग्रन्थाम द्वन्द्वसमासके रूपमे 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द प्रयुक्त है। इस नामके सदर्भमें गोपथब्राह्मणमे एक आख्यायिका है—

'प्राचीन कालम सृष्टिके लिये तपस्या कर रहे स्वयम्भू ब्रह्माके रेतका जलम स्खलन हुआ। उससे भृगु नामके महर्षि उत्पन्न हुए। वे भृगु स्वोत्पादक ब्रह्माके दर्शनार्थ व्याकुल हो रहे थे। उसी समय आकाशवाणी हुई—'हे अथर्वा! तिरोभूत ब्रह्माके दर्शनार्थ इसी जलम अन्वेषण करो' [*'अथर्वाऽनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छ'* गो० ब्रा० १। ४]। तबसे भृगुका नाम ही 'अथर्वा' हो गया। पुन रेतयुक्त जलसे आवृत 'वरुण' शब्दवाच्य ब्रह्माके सभी अङ्गोसे रसाका क्षरण हो गया। उससे अङ्गिरा नामक महर्षि उत्पन्न हुए। उसके बाद अथर्वा और अङ्गिराके कारणभूत ब्रह्माने

(१) इस वेदके कुल ५९८७ मन्त्रमे २६९६ मन्त्र विशुद्ध अथर्वा ऋषिके द्वारा दृष्ट हैं। अथर्वाङ्गिराके द्वारा दृष्ट मन्त्र ४९ बृहद्दिव या अथर्वाद्वारा दृष्ट मन्त्र-२९ मृगार या अथर्वाके ७ अथर्वा या वसिष्ठके ७ अथर्वा या कृतिके ४ और भृगुराथर्वणक द्वारा दृष्ट मन्त्र ७ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २७९९ मन्त्र तथा २२० सूक्तोके द्रष्टा ऋषि अथर्वा होनेसे इस वेदका नाम अथर्ववेद है।

दोनाको तपस्या करनेके लिये प्रेरित किया। उन लोगाकी तपस्याके प्रभावसे एक अथवा दो ऋचाआके मन्त्रद्रष्टा बीस अथर्वा और अङ्गिरसाकी उत्पत्ति हुई। उन्हीं तपस्या कर रहे ऋषियाके माध्यमसे स्वयम्भू ब्रह्माने जिन मन्त्राके दर्शन किये, वही मन्त्रसमूह अथर्वाङ्गिरस वेद हो गया। साथ ही एक ऋचाके मन्त्रद्रष्टा ऋषियाकी सख्या भी बीस होनेके कारण यह वेद बीस काण्डाम बँटा है।

कुछ विद्वानाका मत यह है कि 'अथर्वन्' शब्द शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोका वाचक ह। इसके विपरीत 'अङ्गिरस्' पद घार [अभिचारात्मक] कर्मोका वाचक है। अथर्ववेदम इन दोना प्रकारके कर्मोका उल्लेख मिलता है। अत इसका नाम 'अथर्वाङ्गिरस' पडा। यह मत पूर्णत स्वीकार्य नहीं है, क्याकि अथर्ववदम सबस अधिक अध्यात्मविषयक मन्त्राका सकलन हे। उसके बाद शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोसे सम्बद्ध मन्त्र हैं, किंतु आभिचारिक कर्मसे सम्बद्ध मन्त्र तो नगण्यरूपमे ही हे।

ब्रह्मवेद—

अथर्ववेदके 'ब्रह्मवेद' अभिधानम मुख्यत तीन हेतु उपलब्ध होते हे—(१) यज्ञकर्मम ब्रह्मत्व-प्रतिपादन, (२) ब्रह्मविषयक दार्शनिक चिन्तन-गाथा तथा (३) ब्रह्मा नामक ऋषिसे दृष्ट मन्त्राका सकलन।

उपर्युक्त तीन हेतुआमे प्रथम कारण उल्लेख्य है। श्रौतयज्ञका सम्पादन करनेके लिये चारो वेदोकी आवश्यकता पडती हे। जिनमे ऋग्वेदके कार्य होताद्वारा, यजुर्वेदके कार्य अध्वर्युद्वारा, सामवेदके कार्य उद्गाताद्वारा और अथर्ववेदके कार्य ब्रह्मा नामके ऋत्विजाद्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञकार्यमे सम्भाव्य अनिष्टका दूरीकरण, प्रायश्चित्त-विधियाद्वारा यज्ञके त्रुटि-निवारण, यज्ञानुष्ठानके क्रमम अन्य ऋत्विजाके लिये अनुज्ञा-प्रदान ब्रह्माके प्रमुख कार्य हैं। इस प्रकार किसी भी श्रौतयज्ञकी सफलताके लिये ब्रह्माकी अध्यक्षता आवश्यक हाती है। अत यज्ञकर्मम ब्रह्मत्वप्रतिपादनके कारण अथर्ववेदका दूसरा नाम 'ब्रह्मवेद' युक्तिसगत ही है।

ब्रह्मवेदाभिधानका दूसरा कारण ब्रह्मविषयक दार्शनिक चिन्तन है। अथर्ववेदके विभिन्न स्थलापर विराट्, ब्रह्म, स्कम्भब्रह्म उच्छिष्टब्रह्म ईश्वर, प्रकृति जीवात्मा, प्राण व्रात्य वशा ब्रह्मोदन आदि विभिन्न स्वरूपाका विस्तृत वर्णन मिलता हे। अत अध्यात्मविषयक चिन्तनाधिक्यके कारण भी 'ब्रह्मवेद' यह नाम हो सकता है।

अथर्ववेदके मन्त्रद्रष्टा ऋषियाम ब्रह्मा ऋषिके द्वारा दृष्ट मन्त्राकी सख्या ८८४ है। इस आधारपर भी अथर्ववेदका नाम 'ब्रह्मवद' हा सकता है।

भिषग्वेद—

अथर्ववेदके लिये 'भिषग्वद' का प्रयोग भी मिलता है। इसम विभिन्न रागा तथा उनकी आषधियाका भरपूर उल्लेख किया गया है। अत यह नाम उपयुक्त है।

क्षत्रवेद—

अथर्ववदम स्वराज्य-रक्षाके लिये राजकर्मसे सम्बन्धित बहुतसे सूक्त उपलब्ध हैं। इसलिये अथर्ववेदको 'क्षत्रवद' नाम दिया गया हे।

अथर्ववेदकी शाखाएँ

अथर्ववेदकी नो शाखाएँ थीं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) पैप्पलाद, (२) ताद (३) मौद, (४) शौनक, (५) जाजल, (६) जलद (७) ब्रह्मवद, (८) देवदर्श, और (९) चारणवैद्य। इन शाखाआम आजकल प्रचलित शौनक-शाखाकी सहिता पूर्णरूपसे उपलब्ध है। पैप्पलादसहिता अभी अपूर्ण ही उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त अन्य शाखाआकी कोई भी सहिता उपलब्ध नहीं है।

शौनकसहिताका सक्षिप्त परिचय

मन्त्रोका सकलनक्रम—

अथर्ववेदमे २० काण्ड, ७३० सूक्त, ३६ प्रपाठक और ५९८७ मन्त्र हैं। इसमे मन्त्राका विभाजनक्रम एक विशिष्ट शैलीका है। पहले काण्डसे सातवे काण्डतक छाटे-छोटे सूक्त हैं। पहले काण्डमे प्राय ४ मन्त्राके सूक्त हैं। दूसरे काण्डम ५ मन्त्राके, तीसरे काण्डमे ६ मन्त्राके, चौथे काण्डम ७ या ८ मन्त्राके पाँचवे काण्डम ८ या उससे अधिक मन्त्राके सूक्त हैं। छठे काण्डम १४२ सूक्त हैं और प्राय सभी सूक्त ३ मन्त्राके है। सातव काण्डमे ११८ सूक्त हैं और प्रत्यक सूक्तमे प्राय एक या दो मन्त्र हैं। आठवें काण्डसे १२व काण्डतक विषयकी विभिन्नता और बडे-बडे सूक्ताका सकलन है। तेरहव काण्डसे २० काण्ड तक भी अधिक मन्त्रावाले सूक्त ह, परतु विषयकी एकरूपता है। जसे बारहव काण्डम पृथ्वीसूक्त हे, जिसम राजनीतिक तथा भागालिक सिद्धान्ताकी भावना दृष्टिगाचर होती है। इसी प्रकार १३व १५व आर १९वे काण्ड अध्यात्मविषयक

हैं। चौदहवेंमें विवाह, सोलहवेंमें दुःस्वप्ननाशनके लिये प्रार्थना, सत्रहवेंमें अभ्युदयके लिये प्रार्थना, अठारहवेंमें पितृमेध, उन्नीसवेंके शेष मन्त्रोंमें भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि आदि तथा बीसवेंमें सोमयागके लिये आवश्यक मन्त्रोंका संकलन है। २०वें काण्डमें अधिकांश सूक्त इन्द्रविषयक हैं।

प्रतिपाद्य विषय

१-ब्रह्मविषयक दार्शनिक सिद्धान्त—

इस वेदमें ब्रह्मका वर्णन विशेषरूपसे हुआ है। ब्रह्मका वर्णन इस वेदमें जितने विस्तार और सूक्ष्मतासे हुआ है, उतने विस्तारसे एवं सूक्ष्मतासे किसी वेदमें नहीं हुआ है। उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्याका जो विकसित रूप मिलता है, उसका स्रोत अथर्ववेद ही है, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी। विविध दृष्टिकोणसे इसमें ब्रह्मतत्त्वका विवेचन हुआ है। ब्रह्म क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्तिके साधन क्या हैं? वह एक है या अनेक? उसका अन्य देवोंके साथ क्या सम्बन्ध है? आदि सभी विषयोंके साथ-साथ जीवात्मा और प्रकृतिका भी विवेचन हुआ है। इसमें विराट्, ब्रह्म, स्कम्भ, रोहित, व्रात्य, उच्छिष्ट, प्राण, स्वर्गोदन आदि ब्रह्मके विविध स्वरूपोंके विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

इसमें संसारकी उत्पत्ति जलसे बतायी गयी है। प्रारम्भमें ईश्वरने जलमें बीज डाला। उससे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति हुई और उससे सृष्टिका प्रारम्भ हुआ (अथर्ववेद ४।२।६।८)।

इस प्रकार अध्यात्मविषयक दार्शनिक चिन्तन ही अथर्ववेदका मूल प्रतिपाद्य विषय है।

२-भैषज्यकर्म—

प्रतिपाद्य विषयोंकी दूसरी कोटिमें विविध रोगोंके उपचारार्थ प्रयोग किये जानेवाले भैषज्य सूक्त आते हैं। जिनके मन्त्रोंके द्वारा देवताओंका आह्वान तथा प्रार्थना आदि किये जाते हैं। साथमें विभिन्न रोगोंके नाम तथा उनके निराकरणके लिये विविध प्रकारकी औषधियोंके नाम भी उक्त सूक्तोंमें प्राप्त होते हैं। जल-चिकित्सा सूर्यकिरण-चिकित्सा और मानसिक चिकित्साके विषयोंपर इस वेदमें विस्तृत वर्णन मिलता है।

३-शान्तिक तथा पौष्टिक कर्म—

विभिन्न प्रकारकी क्षति, आपत्ति या अवाञ्छित क्रियाकलापोंसे मुक्त होनेके लिये किये जानेवाले कर्मोंको शान्तिक कर्म कहते हैं। दुःस्वप्ननाशन, दुःशकुन-निवारण आदिके लिये किये जानेवाले देव-प्रार्थनादि विभिन्न सूक्तोंके जप आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

ऐश्वर्यप्राप्ति और विपन्निवृत्तिके लिये प्रयोग किये जानेवाले सूक्त पौष्टिक कर्मके अन्तर्गत आते हैं। जैसे पुष्टिवर्धक, मणिबन्धन तथा देव-प्रार्थना आदि।

४-राजकर्म [राजनीति]—

अथर्ववेदमें राजनीतिक विषयोंका भरपूर उल्लेख मिलता है। राजा कैसा होना चाहिये? राजा और प्रजाका कर्तव्य, शासनके प्रकार, राजाका निर्वाचन और राज्याभिषेक, राजाके अधिकार एवं कर्तव्य, सभा और समिति तथा उनके स्वरूप, न्याय और दण्डविधान, सेना और सेनापति, सैनिकोंके भेद एवं उनके कार्य, सैनिक-शिक्षा, शस्त्रास्त्र, युद्धका स्वरूप, शत्रुनाशन, विजयप्राप्तिके साधन आदि विविध विषय इसके अन्तर्गत आते हैं।

५-सामनस्यकर्म—

अथर्ववेदमें राष्ट्रिय, सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सामञ्जस्यके लिये विशेष महत्त्व दिया गया है और परस्परमें सौहार्द-भावना स्थापित करनेके लिये विभिन्न सूक्तोंका स्मरण करनेका विधान किया गया है।

६-प्रायश्चित्त [आत्मालोचना]—

ज्ञात-अज्ञात-अवस्थामें किये हुए विभिन्न त्रुटिपूर्ण कर्मोंके कारण उत्पन्न होनेवाले सम्भावित अनिष्टोंको दूर करनेके लिये क्षमा-याचना, देव-प्रार्थना, प्रायश्चित्तहोम, चारित्रिक बदनामीका प्रायश्चित्त और अशुभ नक्षत्रोंमें जन्मे हुए बच्चोंके प्रायश्चित्त आदि विविध प्रायश्चित्तोंका उल्लेख इसमें मिलता है।

७-आयुष्यकर्म—

स्वास्थ्य तथा दीर्घायुके लिये देवताओंकी प्रसन्नतापर विश्वास करते हुए विभिन्न सूक्तोंके द्वारा दीर्घायुष्य-प्राप्ति-हेतु प्रार्थना की गयी है। इसके अतिरिक्त दीर्घायु-प्राप्तिके लिये हाथ तथा गलेमें रक्षासूत्र एवं मणियोंको बाँधनेका विधान है।

८-अभिचार-कर्म—

दैत्य-राक्षस तथा शत्रु आदिके उद्देश्यसे किये जानेवाले विभिन्न प्रयोग एवं विधियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि विषयोंको अभिचार कहते हैं। अथर्ववेदमें आभिचारिक मन्त्रोंकी संख्या बहुत कम

मात्राम उपलब्ध ह, परतु कतिपय पाश्चात्य विद्वान् अथर्ववदका अभिचारकर्म-प्रधान वदक रूपम भी स्वीकारत हैं। हमारी दृष्टिम तो यह बात बिलकुल युक्तिसगत नहीं है, क्योंकि अथर्ववदम कितने मन्त्र किस कर्मम विनियुक्त हैं, प्रथमत यह दखना चाहिय। इसक बाद कौन-कौनस मन्त्राम किन-किन विषयाका वर्णन है—यह दखनस पता चलता है कि अथर्ववेदम अधिकतम मन्त्र अध्यात्मदर्शन-विषयक हैं। इसी कारण अथर्ववदको 'ब्रह्मवेद' कहा जाता है।

इस प्रकार अथर्ववदके विषय-विवचनसे यह पता चलता है कि इसम धर्म, अर्थ, काम तथा माक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टयक सभी अङ्गाका वर्णन है। शास्त्राय दृष्टिस धर्मदर्शन, अध्यात्म और तत्त्वमामासास सम्बद्ध सभा तत्त्व इसम विद्यमान हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिसे राजनाति, अथशास्त्र, धर्मशास्त्र और ज्ञान-विज्ञानका यह भण्डार है। साहित्यिक दृष्टिस रस, अलकार, छन्द तथा भाव एव भाषासान्दर्य आदि विषय इनम विद्यमान हैं। व्यवहारापयागिताकी दृष्टिस भावात्मक प्रेरणा मनन-चिन्तन कर्तव्यापदश, आचारशिक्षा आर नीतिशिक्षाका इसम विपुल भण्डार है। सस्कृतिका दृष्टिसे इसम उच्च, मध्यम ओर निम्न—इन तीना स्तराका स्वरूप परिलक्षित हाता हैं। अत अथर्ववद वैदिक वाङ्मयका शिराभूषण है। विषयकी विविधता स्थूलस सूक्ष्मतम तत्त्वाका प्रतिपादन, शास्त्रीयताके साथ व्यावहारिकताका सम्मिश्रण इसकी मुख्य विशषता है।

कुछ आथर्वणिक ग्रन्थोका विवरण

अथर्ववदकी नौ शाखाओके ब्राह्मण-ग्रन्थाम आज एक 'गोपथ-ब्राह्मण' हो उपलब्ध ह। यह ग्रन्थ भी पैप्पलाद शाखासे सम्बद्ध है। इसक दा भाग ह—पूर्वभाग तथा उत्तरभाग। पूर्वभागमे ५ प्रपाठक तथा उत्तरभागम ६ प्रपाठक हैं। प्रपाठक कण्डिकाआम विभक्त ह। पूर्वभागके प्रपाठकाम १३५ तथा उत्तरभागके प्रपाठकाम १२३ कण्डिकाएँ हैं। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रौतयज्ञाका वर्णन ही है। इसम प्रतिपादित निर्वचन-प्रक्रिया भी अत्यन्त राचक हे।

अथर्ववेदसे सम्बद्ध श्रातसूत्राम एकमात्र श्रोतसूत्र 'वैतानसूत्र' के नामसे प्रसिद्ध ह। यह ग्रन्थ शौनक-शाखासे सम्बद्ध ह। इसमे श्रौतकर्मोका विनियोग बताया गया हे ओर इसम आठ अध्याय हैं। अथर्ववेदके गृह्यसूत्रामे 'सहिता-विधि'-के नामसे प्रसिद्ध कौशिक-गृह्यसूत्र' उपलब्ध है। यह ग्रन्थ शौनक-सहिताका प्रत्यक्ष विनियाग बताता है। श्रौतसूत्र भा इसाक आश्रित हैं। १४ अध्याय तथा १४१ कण्डिकाआमें विभक्त कौशिक-सूत्र आथर्वण साहित्यका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शिक्षाग्रन्थार्म 'माण्डूकी शिक्षा' उपलब्ध है। १७९ श्लोकास युक्त यह शिक्षाग्रन्थ अथर्ववदक स्वर तथा वर्णोक विषयर्म जानकारी दता ह।

इसी प्रकार अथर्ववेदसे सम्बद्ध ५ कल्पसूत्र तथा ५ लक्षणग्रन्थ हैं। पाँच कल्पसूत्र य हैं—(१) नक्षत्रकल्प, (२) वैतानकल्प (वैतान श्रौतसूत्र), (३) सहिताविधि (कौशिक-गृह्यसूत्र), (४) आङ्गिरस-कल्प और (५) शान्तिकल्प। इनमस आजकल कवल दो ही कल्पसूत्र उपलब्ध हैं। लक्षणग्रन्थाम 'शौनकीया चतुरध्यायिका' चार अध्यायाम विभक्त है। यह सवस प्राचीन अथर्ववदाय प्रातिशाख्य है। सन् १८८२ म अमरिकन विद्वान् डॉ० ह्विट्नीने इस सानुवाद प्रकाशित किया था। अभी १९९८में वाणी-मन्दिर, नई सडक वाराणसी 'निर्मल' और 'शशिकला' ने सस्कृत तथा हिन्दी दाना भाष्य-सहित इसको प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त 'अथर्वप्रातिशाख्य' नामक दूसरा प्रातिशाख्य भी उपलब्ध है। इसम १९२३ में श्रीविश्वबन्धु शास्त्रीजीद्वारा प्रकाशित केवल सूत्राका मूल पाठ आर डॉ० श्रीसूर्यकान्तजी शास्त्रीद्वारा १९४० म लाहौरसे प्रकाशित—इस प्रकार दो प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं। श्रीसूर्यकान्तजीद्वारा प्रकाशित प्रातिशाख्यम उदाहरण-सहित कुछ टिप्पणियाँ भी हैं। तीसर लक्षणग्रन्थम 'पञ्चपटलिका', चौथेम 'दन्त्योष्ठविधि' आर पाँचवम 'बृहत्सर्वानुक्रमणिका' भी आजकल उपलब्ध हैं। पञ्चपटलिकामे अथर्ववदके काण्डा तथा तद्गत मन्त्राकी सख्याका विवरण, दन्त्योष्ठविधिम बकार तथा वकारका उच्चारणगत नियम तथा बृहत्सर्वानुक्रमणिकाम अथर्ववेदके ऋषि, देवता तथा छन्दाका परिचय प्रस्तुत किया गया है।

अथर्ववेदके प्रमुख उपनिषदामे पैप्पलाद-शाखाका प्रश्नोपनिषद् उपलब्ध है और शौनक-शाखाके मुण्डक तथा माण्डूक्य दो उपनिषद् हैं। इनके अतिरिक्त अथर्ववेदसे सम्बद्ध अन्य उपनिषदाकी सख्या भी अधिक है। मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार १०८ उपनिषदामे ३१ उपनिषद् अथर्ववेदसे सम्बद्ध हैं।

[श्रीऋषिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य]

अथर्ववेदीयगोपथ ब्राह्मण—एक परिचय

अथर्ववेदकी नौ शाखाओंमें आज केवल दो ही शाखाएँ उपलब्ध होती हैं—शौनक शाखा तथा पैप्पलाद शाखा। इनमें शौनक शाखा ही आजकल पूर्णरूपसे उपलब्ध तथा प्रचलित है। पैप्पलाद शाखाकी संहिता पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं है। पातञ्जल-महाभाष्य (१। १। १) तथा गोपथब्राह्मण (१। १। २९)-के आधारपर यह ब्राह्मण पैप्पलाद शाखासे सम्बद्ध है, परंतु सम्प्रति उपलब्ध अथर्ववेदका एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' ही है।

नामकरण—

'गोपथ' के नामकरणके विषयमें विविध मत उपलब्ध होते हैं, परंतु इस लेखमें अधिक विश्वसनीय एकमात्र मत प्रस्तुत किया जाता है।

ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणग्रन्थोंकी प्रसिद्धि प्रवचनकर्ता आचार्योंके नामपर है। अतः गोपथ-ब्राह्मणकी प्रसिद्धि भी इसके प्रवचनकर्ता ऋषि 'गोपथ' के आधारपर हुई, क्योंकि अथर्ववेद शौनकसंहिता (काण्ड-१९के ४७—५० तक चार सूक्तों)-के द्रष्टा ऋषि गोपथ हैं। इस आधारपर गोपथब्राह्मणके प्रवचनकर्ता गोपथ ऋषिके होनेकी सम्भावना अधिक है।

स्वरूप—

यह ब्राह्मण 'पूर्व-गोपथ' और 'उत्तर-गोपथ'—इन दो भागोंमें विभक्त है। पूर्वभागमें पाँच तथा उत्तरभागमें छः प्रपाठक—इस प्रकार कुल ग्यारह प्रपाठक हैं। प्रपाठकोंका विभाजन कण्डिकाओंमें हुआ है। पूर्वभागके पाँच प्रपाठकोंमें १३५ और उत्तरभागके छः प्रपाठकोंमें १२३ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार इसमें कुल ग्यारह प्रपाठक और २५८ कण्डिकाएँ हैं।

अथर्ववेद-परिशिष्टके ४९वें परिशिष्ट 'चरणव्यूह' का कथन है कि किसी समयमें गोपथब्राह्मण १०० प्रपाठकोंमें विभक्त था।

प्रतिपाद्य विषय—

पूर्वभागके प्रथम प्रपाठकमें सृष्टि-प्रक्रियाका निरूपण है। तदनुसार स्वयम्भू-ब्रह्माका तप, जलकी सृष्टि, जलमें रेतःस्खलन, शान्त जलके समुद्रसे भृगु, अथर्वा आथर्वण ऋषि तथा अथर्ववेद ॐकार लोक और त्रयीका आविर्भाव वर्णित है। अशान्त जलसे वरुण, मृत्यु, अङ्गिरा, अङ्गिरस ऋषि, अङ्गिरस वेद, पाँच व्याहृति तथा यज्ञकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। तदनन्तर पुष्करमें ब्रह्मके द्वारा ब्रह्माकी सृष्टि ॐकारका महत्त्व, ॐकार-जपका फल, ॐकारके विषयमें ३६ प्रश्न तथा उनके उत्तर, गायत्री मन्त्रकी विशद व्याख्या एवं आचमनविधि आदि विषयोंका वर्णन है।

द्वितीय प्रपाठकमें ब्रह्मचारीके महत्त्व तथा उनके कर्तव्योंका निरूपण करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचारीको ऐन्द्रिक रागों तथा आकर्षणोंसे बचना चाहिये। इसके साथ ही स्त्रीसम्पर्क, दूसरोंको कष्ट पहुँचाने तथा ऊँचे आसनपर बैठनेका निषेध आदि विविध आचार-दर्शोके विषय इसमें प्रतिपादित हैं। तदनन्तर यज्ञमें होता प्रभृति चारों ऋत्विजोंकी भूमिका भी इसमें वर्णित है।

तृतीयसे लेकर पञ्चम प्रपाठकतक यज्ञसम्बन्धी विभिन्न विषयोंका वर्णन है। जैसे—ब्रह्माके महत्त्व, अथर्ववेदवित्‌को ब्रह्मा बनाना चाहिये, व्रतभङ्ग होनेपर प्रायश्चित्त करना चाहिये, दर्शपूर्णमास तथा अग्निहोत्रकी रहस्यमयी व्याख्या, ऋत्विजोंकी दीक्षाका विशेष वर्णन, अग्निष्टोम, सवनीय पशु, इष्टियाँ, गवामयन, अश्वमेध, पुरुषमेध आदि विभिन्न यज्ञोंका विवरण।

उत्तरभागमें भी विभिन्न यज्ञों तथा तत्सम्बद्ध आख्यायिकाओंका उल्लेख है। जैसे—प्रथम प्रपाठकमें कण्डिका १—१२ तक दर्शपूर्णमास, १३—१६ तक काम्येष्टियाँ, १७—२६ तक आग्रयण, अग्निचयन और चातुर्मास्योंका वर्णन है। द्वितीय प्रपाठकके प्रथम कण्डिकामें काम्येष्टि, २ से ४ तक तानूनप्त्रेष्टि, ५-६ तक प्रवर्ग्येष्टि ७—१२ तक यज्ञशरीरके भेद सामस्कन्द-प्रायश्चित्त, १३—१५ तक आग्नीध्रविभाग प्रवृत्ताहुतिओं, प्रस्थितग्रहों तथा १६—२३ तक दर्शपूर्णमासका निरूपण है। तृतीय प्रपाठकके प्रथमसे षष्ठ कण्डिका तक वषट्कार-अनुवषट्कार, ७—११ तक ऋतुग्रहादि, १२—१९ तक एकाह प्रातःसवन, २०—२३ एकाह माध्यन्दिनसवनका उल्लेख है। चतुर्थ प्रपाठकमें तृतीयसवन तथा षोडशी यागका विधान है। पञ्चमसे षष्ठ प्रपाठकमें अतिरात्र सौत्रामणि वाजपेय, आप्तोर्याम, अहीनयाग और सत्रयागका निरूपण है।

इस प्रकार अन्य ब्राह्मणग्रन्थाके समान गोपथब्राह्मणमे भी मुख्यरूपसे यज्ञकर्मोका प्रतिपादन हुआ है। इस ब्राह्मणकी जो अलग विशेषताएँ हैं, उनको भी संक्षिप्त रूपमे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

गोपथब्राह्मणकी विशेषताएँ—

१-पूर्वब्राह्मणके प्रारम्भमे ही सृष्टि-प्रक्रियाका निरूपण है (१। १। १—१५)।

२-ॐकारसे जगत्की सृष्टि (१। १। १६—३०)। यद्यपि पूर्ववर्णित सृष्टि-प्रक्रियासे यह भिन्न प्रतीत होता है, तथापि इसका अलग महत्त्व है।

३-इसमे ॐकारके विषयमे जितनी व्याख्या उपलब्ध होती है, उतनी व्याख्या अन्यत्र नहीं है। प्रत्येक वेदमे ॐकारोच्चारणका भेद (१।१।२५), प्रत्येक वेदमन्त्रके उच्चारणसे पूर्व ॐकारका उच्चारण (१।१।२८) करना चाहिये।

४-किसी अनुष्ठानके आरम्भ करनेके पहले तीन बार आचमन करना चाहिये (इसके लिये विशिष्ट मन्त्रका संकेत है—१। १। ३९)।

५-ब्राह्मणको गाना और नाचना नहीं चाहिये, 'आग्लागृध' नहीं कहलाना चाहिये (य एष ब्राह्मणो गायनो वा नर्तनो वा भवति तमाग्लागृध इत्याचक्षते, तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्नानृत्येन्माग्लागृध स्यात् १। २। २१)।

६-गायत्री-मन्त्रकी प्राचीनतम व्याख्या इसमे मिलती है।

७-व्याकरण महाभाष्यमे उपलब्ध अव्यय-कारिकाका प्रथम पाठ इसी ब्राह्मणमे दिखायी पडता है—'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्' (१।१।२६) इसके अतिरिक्त धातु, प्रातिपदिक, विभक्ति, विकार विकारी, स्थानानुप्रदान आदि व्याकरण-सम्बन्धी शब्दोका भी उल्लेख है (१। १। २५—२७)।

८-आथर्वणश्रुति (अ० ११।५)-का अवलम्बन करके ब्रह्मचारीके विभिन्न कृत्योका उल्लेख है (१।२।१—९)। वेदाध्ययनके लिये ४८ वर्षतक ब्रह्मचारी-व्रतमे रहनेके विधान (१। २। ५)-के साथ प्रत्येक वेदके लिये बारह-बारह वर्षोकी अवधि निर्धारित की गयी है।

निर्वचन-प्रक्रिया—

अन्य ब्राह्मणोकी तरह गोपथब्राह्मणमे भी शब्दोकी निर्वचन-प्रक्रिया अत्यन्त रोचक प्रतीत होती है। जैसे—

१-यज्ञार्थक 'मख' शब्दकी व्युत्पत्ति— छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मति प्रतिषेध , मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति।' (गोपथब्रा० २। २। ५)। 'ख' का अर्थ छिद्र है, इसका 'मा' शब्दके द्वारा निषेध किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि यज्ञमे कोई अशुद्धि या भूल नहीं होनी चाहिये।

२-'रथ' शब्दकी व्युत्पत्ति—'तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते' (१।२।२१) रसपूर्ण अर्थात् आनन्दमय होनेसे इसका नाम 'रथ' हो गया।

३-'दीक्षित' शब्दकी व्युत्पत्ति—'श्रेष्ठा धिय क्षियतीति— दीक्षित' (१।३।१९) श्रेष्ठ बुद्धिका निवास होनेके कारण 'दीक्षित' हो गया।

४-'स्वेद' शब्दकी व्युत्पत्ति—'सुवेद सन्तं स्वेद इत्याचक्षते' (१। १। १) वेदके अच्छे जानकार होनेसे ही पसीनेको 'स्वेद' कहा जाता है। इसपर एक आख्यायिका भी है।

५-'कुन्ताप' शब्दकी व्युत्पत्ति—'कुय भवति वै नाम कुत्सितं तद्यत्तपति, तस्मात् कुन्ताप' (२। ६। १२)। अथर्ववेदके २०।१२७—१३६ तकके सूक्तोका नाम 'कुन्ताप-सूक्त' है। इसीका अर्थ यहाँ दिया गया है। पापकर्मको जलानेवाले सूक्त या मन्त्रका नाम 'कुन्ताप' है।

इसके अतिरिक्त धारण करनेसे 'धरा', जन्म देनेके कारण 'जाया', वरणसे 'वरुण', मधुसे 'मृत्यु', भरण करनेके कारण 'भृगु' अथ+अर्वाक्='अथर्वा', अङ्ग+रस=अङ्गरस या 'अङ्गिरस' आदि विभिन्न प्रसंगामे विभिन्न शब्दोकी निरुक्ति है। इस तरह भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे भी गोपथब्राह्मणका अपना पृथक् महत्त्व है।

गोपथब्राह्मणका सम्बन्ध—

वैदिक वाङ्मयमे सामान्यत संहिता, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र ऐसा क्रम उपलब्ध होता है, किंतु आथर्वण वाङ्मयमे ऐसा क्रम न होकर इससे भिन्न क्रम या विपर्यस्त क्रम उपलब्ध होता है। आथर्वणिक वाङ्मयके अध्ययनसे यह पता चलता है कि इसका क्रम भिन्न है। अन्य वेदोके श्रौतसूत्र संहिता या ब्राह्मणग्रन्थोपर आश्रित हैं, और गृह्यसूत्र श्रौतसूत्रोपर। परंतु अथर्ववेदका वैतानश्रौतसूत्र कौशिकगृह्यसूत्रपर आधारित है और गृह्यसूत्र पूर्णत संहितापर आश्रित है। इसी प्रकार ब्राह्मण और श्रौतसूत्रके कुछ अंशोकी तुलना करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोपथब्राह्मण भी वैतानश्रौतसूत्रसे सम्बद्ध है।

[श्रीऋषिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य]

वेदाङ्गोका परिचय

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

वेद समस्त ज्ञानराशिके अक्षय भण्डार हैं। इतना ही नहीं हम भारतीयोकी प्राचीन सभ्यता, सस्कृति और धर्मके आधारभूत स्तम्भ है। अत समस्त जन-मानस इन्हे अतिशय आदर-सम्मान एव पवित्रताकी दृष्टिसे देखता है। इनकी महनीयता तो स्वत सिद्ध है।

ये वेद अनादि और अपोरुषेय हैं, साक्षात्कृतधर्मा ईश्वरके नि श्वासभूत हैं—'यस्य नि श्वसित वेदा ।' वस्तुत य ईश्वरप्रदत्त ज्ञानके निष्पादक ह। वेद शब्दकी व्युत्पत्ति ही **'विद ज्ञाने'** धातुसे हुई है। इनमे ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक समस्त पक्षाका प्रतिपादन है। ये तप पूत ब्रह्मनिष्ठ मन्त्रद्रष्टा ऋषियाद्वारा उनके अपने तपोबलसे अनुभूत हैं।

वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोके प्रतिपादक है। ये वेद भी अङ्गोके द्वारा ही व्याख्यात होते हैं, अत वेदाङ्गाका अतिशय महत्त्व है।

काव्यशास्त्रमे 'अङ्ग' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है उपकार करनेवाला—अर्थात् वेदाके वास्तविक अर्थका भलीभाँति दिग्दर्शन करानेवाला। जैसा कि कहा गया है—**'अङ्ग्यन्ते-ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि।'** अर्थात् जिन उपकरणोसे किसी तत्त्वके परिज्ञानमे सहायता प्राप्त होती है, वे 'अङ्ग' कहलाते हैं। निष्कर्ष यह है कि वेदाके अर्थ-ज्ञानमे और उनके कर्मकाण्डके प्रतिपादनमे भरपूर सहायता प्रदान करनेम जो सक्षम और सार्थक शास्त्र हैं, उन्हे ही विद्वान् 'वेदाङ्ग'के नामसे व्यवहृत करते हैं। वेदाङ्ग छ प्रकारके होते हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष।

वेद-मन्त्राका समुचित रूपसे उच्चारण करना प्रथमत परमावश्यक है। अत इस निमित्त जो व्यवहारम आनवाली पद्धति है, वही वदाङ्गकी 'शिक्षा' कही जाती है। वेदका मुख्य प्रयोजन है—वैदिक कर्मकाण्ड, जिससे यज्ञ-यागादिका यथार्थ अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रयाजनके लिये प्रवृत्त जो अङ्ग है, उसे 'कल्प' कहते हैं। कल्पका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—यज्ञ-यागके प्रयोगोका समर्थक शास्त्र। जैसा कि कहा गया है—

'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति कल्प ।'

इसी प्रकार व्याकरण शास्त्रका वेदाङ्गत्व-प्रयोजन इसलिये सिद्ध है कि वह पदाका, प्रकृतिका और प्रत्ययका विवरण प्रस्तुत कर पदके यथार्थ स्वरूपका परिचय देता है। साथ ही अर्थका विश्लपण भी करता है—

'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।'

—इस प्रयाजनके लिये व्याकरणकी उपयोगिता निर्विवाद है।

चौथे अङ्ग निरुक्तका कार्य है—पदाका निरुक्ति-कथन और व्युत्पत्ति-प्रदर्शन। निरुक्तिकी विभिन्नतासे अर्थम भी भिन्नता होती है। अत अर्थ-निरूपण-प्रसगमे इसकी वेदाङ्गता सिद्ध होती है।

दूसरी बात यह कि वेद छन्दोमयी वाणीम ह। अत छन्दके परिचयके बिना वदार्थका ज्ञान कैसे हो सकता है। परिज्ञान प्राप्त होनपर ही मन्त्राका समुचित उच्चारण और पाठका सुस्पष्ट ज्ञान होगा।

इसी प्रकार छठा वदाङ्ग ज्योतिष शास्त्र है, जिसे प्रत्यक्ष शास्त्र कहा गया है—**'प्रत्यक्ष ज्यौतिष शास्त्र चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ'** अर्थात् ज्योतिष शास्त्र प्रत्यक्ष है, चन्द्र और सूर्य इसके साक्षी हैं। यह शास्त्र यज्ञ-यागादिक समुचित समयका निरूपण करता है। जैसे—*श्रौतयाग*का अनुष्ठान किसी विशिष्ट ऋतु और किसी विशिष्ट नक्षत्रम करनेका विधान है। साथ ही विवाहादि गृह्यकर्मके लिय नक्षत्राका ज्ञान हम ज्यौतिष शास्त्रस ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार सक्षेपम यह कथन समाचान हागा कि मन्त्रोंके समुचित उच्चारणके लिये शिक्षाका, कर्मकाण्डाय यज्ञ-यागादि अनुष्ठानके लिय कल्पका, शब्दस्वरूप और व्युत्पत्ति-ज्ञानके लिय व्याकरणशास्त्रका, समुचित अथज्ञानक

लिये—शब्दाके स्फोटनपूर्वक निवचन एव निरुक्तिके लिये निरुक्तका, वेदिक छन्दाके यथार्थ ज्ञानक लिय छन्दका और विविध अनुष्ठानाके काल-ज्ञानके लिये ज्यौतिषका समुचित उपयोग होनेके कारण विद्वद्वर्ग इन्हे 'वेदाङ्ग' कहत हैं।

शिक्षा

वेदोके प्राणभूत वेदाङ्गामे शिक्षाका प्राथमिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। यह शिक्षा वेदपुरुषका घ्राण (नाक) है—'शिक्षा घ्राण तु वेदस्य।' जिस प्रकार पुरुष सभी अङ्गाके यथास्थिति रहनेपर एव मुख-सान्दर्य आदिसे परिपुष्ट होनेपर भी घ्राण (नाक)-के बिना चमत्कारपूर्ण स्वरूपको नहीं प्राप्त करता है, निन्दित ही होता है,उसी प्रकार वेदपुरुषका स्वरूप शिक्षारूपी घ्राणके बिना अत्यन्त अशोभनीय और विकृत आकारवाला दिखायी देगा।

शिक्षाका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए वद-भाष्यकार सायणाचार्यजी कहते हे—'**स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा**' अर्थात् स्वर एव वर्ण आदिके उच्चारण-प्रकारकी जहाँ शिक्षा दी जाती हो, उपदेश दिया जाता हा, उस 'शिक्षा' कहते हैं। इसस यह भी स्पष्ट हुआ कि वेदाङ्गामे उस शास्त्रको शिक्षा कहत हैं, जिससे ऋग्वेद आदि वेद-मन्त्रोंका अविकल यथास्थिति विशुद्ध उच्चारण हा।

इस महनीय शिक्षा-शास्त्रका प्रयोजन तैत्तिरीयोपनिषद्‌म इस प्रकार वर्णित है—'**अथ शीक्षा व्याख्यास्याम —वर्ण, स्वर, मात्रा, बलम्, साम, सतान इत्युक्त शिक्षाध्याय**' अर्थात् वर्ण इस पदसे अकारादिका, स्वरसे उदात्तादिका, मात्रासे ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतका बलसे स्थान-प्रयत्नका, सामसे निषाद आदि स्वरका और सतानसे विकर्षण आदिका ग्रहण होता है। सक्षेपम यही शिक्षाका प्रयाजन है। इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया ह कि वदाध्ययनकी अच्छी प्राचीन प्रणाली यह है कि प्रारम्भम गुरु (शिक्षक) किसी मन्त्रका सस्वर उच्चारण स्वय करे, तत्पश्चात् शिष्य सावधानीसे सुनकर और अवधारणा करक उसका उच्चारण—अनुसरण करे। अतएव वेदका एक नाम 'अनुश्रव' भी है अर्थात् अनु—पश्चात् जो सुना जाय वह ह 'अनुश्रव'। इसीलिय कहा गया—'**गुरोर्मुखाद् अनुश्रूयते इति अनुश्रवा वेद**।

वेदके समुचित उच्चारणके लिय स्वरका ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। मुख्यत स्वर तीन होते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वरम उच्चारणके कारण उदात्त मन्द स्वरम उच्चारण होनसे अनुदात्त ओर दानाके समावशस उच्चरित होनेक कारण स्वरित कहा गया है।

प्राय देखा जाता है कि वेदक प्रत्येक शब्दम उदात्त स्वर अवश्य रहता है, शष स्वर अनुदात हाते हैं। इन अनुदात्तामस कुछ अनुदात्त स्वर विशष अवस्थाम स्वरित हो जाते हैं। वदम स्वर-प्रधानताका मुख्य कारण है अर्थका नियमन। यहाँ तात्पर्य यह है कि शब्दके एकत्व हानेपर भी स्वरके भेदसे उनम अर्थ-भेद हा जाता है। स्वरमे एक सामान्य त्रुटि भी यदि हो जाती है ता अर्थान्तर अथवा अनर्थ हो जायगा। अतएव यज्ञका विधिपूर्वक निर्वाह करना कठिन हो जायगा। अत स्वरका सावधानीपूर्वक व्यवहार करना चाहिये, क्याकि यथार्थ उच्चारणके लिये प्रत्येक वेदकी अपनी-अपनी शिक्षा है। जिन शिक्षाआमे वेदानुकूल शिक्षाका विधान है।

कल्प

विपुल वेदाङ्ग-साहित्यम कल्पका दूसरा स्थान है। कहीं-कहीं इतिहासम यह तीसरे स्थानम भी चर्चित है। वैदिक साहित्यम इसका अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। कल्पकी प्रयाजनीयताका अनुभव तब हुआ, जब शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थामे यज्ञ-यागादिके कर्मकाण्डीय व्यवस्थामें विस्तार हानेसे उसके व्यवहारम कठिनताकी अनुभूति होने लगी। उसकी पूर्तिक लिये कल्पसूत्राकी प्रतिशाखामे रचना हुई। ऋग्वेद प्रातिशाख्यके वर्गद्वय-वृत्तिम कल्पके विषयमें कहा गया है—'**कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्**' अर्थात् कल्प वेद-प्रतिपादित कर्मोका भलीभाँति विचार प्रस्तुत करनवाला शास्त्र हे। इसीलिये इसे वेदका हाथ कहा गया हैं—'**हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।**'

निष्कर्ष यह है कि जिन यज्ञ-यागादि विधानोंका, विवाह-उपनयन आदि कर्मोंका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन वेदिक ग्रन्थाम किया गया है, उन सूत्र-ग्रन्थाका नाम है—'कल्प'। इसकी प्राचीनताक विषयम ऐतरयारण्यकमें विपुल प्रमाण हैं।

कल्पसूत्रकी व्युत्पत्ति और व्यापकता—

सामान्य नियमके अनुसार कल्प और सूत्र इन दोनो शब्दोमे सयोगसे कल्पसूत्रकी रचना होती है। कल्प वह विलक्षण शब्द है, जो किसी विशिष्ट अर्थको प्रकट करता है। वह विलक्षण अर्थ है—विधि, नियम, न्याय, कर्म और आदेशके अर्थमे प्रयुक्त परिव्याप्ति। इसी प्रकार 'सूत्र' शब्दका विशिष्ट अर्थ होता है—सक्षेप।

सूत्र-रचनाका उद्देश्य—

वैदिक वाङ्मयके इतिहासमे कल्पसूत्रोका आविर्भाव नवीन युगका सूत्रपात है। यह भी एक विशिष्ट उद्देश्य था कि प्राचीन वैदिक युगमे उसके साहित्यका विस्तार दुर्गम और रहस्यमय होनेसे उसका यथार्थ ज्ञान कठिन था, उसी दुरूहताको दूर करनेके लिये सूत्र-युगका आविर्भाव हुआ।

कल्पसूत्रोके भेद—

कल्पसूत्रोके मुख्यत तीन भेद होते हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। किन्हींके मतम चौथा भेद भी है। वे शुल्बसूत्रको भी कल्पसूत्रोंम ही मानते हैं, परतु इसम 'ज्यामिति आदि विज्ञान'के समन्वित होनके कारण इसे पृथक् कहा गया है।

श्रौतसूत्रोमें श्रुति-प्रोक्त चौदह यज्ञाका मुख्य रूपसे कर्तव्य-विधान है। इनमे ऋग्वेदके आश्वलायन और शाखायन दो श्रौतसूत्र हैं। इसी प्रकार गृह्यसूत्रोमे आश्वलायन और पारस्कर गृह्यसूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वैसे प्रत्येक वेदके अलग-अलग गृह्यसूत्र हैं। धर्मसूत्रोम चारों वर्णोंके कर्तव्यकर्म और व्यवहारके साथ राजधर्मका वर्णन मुख्य है। इनमे मानव-धर्मसूत्र, जिसके आधारपर मनुस्मृतिकी रचना हुई, अभी भी अनुपलब्ध है। प्राप्त धर्मसूत्रोमे—गौतमधर्मसूत्र बौधायन-धर्मसूत्र, आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र वसिष्ठ-धर्मशास्त्र, वैखानस-धर्मसूत्र और विष्णु-धर्मसूत्र आदि मुख्य हैं। ये वेदाके अनुपूरक हैं।

व्याकरण

वेदके छ अङ्गोमे व्याकरणशास्त्र तीसरा अङ्ग है और वह वेद्पुरुषका प्रमुख अङ्ग है। पाणिनीय शिक्षाम 'मुख व्याकरण स्मृतम्' कहा गया है। मुख होनेके कारण व्याकरणशास्त्रका मुख्यत्व स्वयसिद्ध है।

व्याकरणका प्रयोजन—

किसी भी शास्त्रके अध्ययनके लिये यह आवश्यक होता है कि उस शास्त्रका प्रयोजन जाने, क्योकि प्रयोजनके बिना किसी कार्यमे मन्द पुरुपकी भी प्रवृत्ति नहीं होती—'**प्रयोजनमनुद्दिश्य मूढोऽपि न प्रवर्तत।**' अत उस शास्त्रका प्रयोजन-ज्ञान आवश्यक होता है। आचार्य कुमारिल भट्टने अपने श्लोकवार्तिकम ठीक ही कहा है—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजन नोक्त तावत् तत् केन गृह्यते॥

अर्थात् सब शास्त्र या किसी कर्मका जबतक प्रयोजन न कहा जाय, तबतक उसम किसीकी प्रवृत्ति कैसे होगी? यह ठीक है, किंतु इस विपयमे श्रुति कहती है कि '**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म पडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**' अर्थात् ब्राह्मण (द्विजमात्र)-के द्वारा अनिवार्य सध्या-वन्दनादिकी तरह धर्माचरण तथा पडङ्ग वेदाका अध्ययन एव मनन किया जाना चाहिये। फिर भी मुनिवर कात्यायनने प्रयोजनका उद्देश्य बतलाते हुए कहा—'**रक्षोहागमलघ्वसदेहा व्याकरणप्रयोजनम्।**' अर्थात् रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असदेह—ये व्याकरण-अध्ययनके प्रयोजन हैं।

रक्षा—इस विषयमे भाष्यकार पतञ्जलिने कहा है कि 'वेदाकी रक्षाके लिये व्याकरण पढना चाहिये। लोप, आगम और वर्ण-विकारको जाननेवाला ही वेदोकी रक्षा कर सकेगा।' कहनेका अभिप्राय यह है कि व्याकरणक नियमानुसार वर्ण-लोपादिके ज्ञानके बिना शास्त्राके आकर-स्वरूप वेदका परिपालन नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, कात्यायन और पतञ्जलिका मत है कि व्याकरण-ज्ञानके अभावमे मन्त्राम विकार उत्पन्न होगा। निष्कर्ष यह है कि व्याकरण पुरुपार्थका साधक उपाय है, क्याकि वेदार्थ-ज्ञान, कर्मानुष्ठानजनित और उपनिषद्-जनित सुख वस्तुत व्याकरण-अध्ययनका ही फल है।

ऊह—ऊहका अर्थ होता है तर्क-वितर्क अर्थात् नूतन पदाकी कल्पना। मीमासकोका कहना है कि यह विषय तो मीमासा-शास्त्रका है। इस विषयम भाष्यकार पतञ्जलिका मत है कि 'वेदम जो मन्त्र कथित हैं, वे सब लिङ्गा एव विभक्तियाम नहीं हैं। अत उन मन्त्राम यज्ञम अपेक्षित रूपसे

लिङ्ग और विभक्तिका व्यतिहार करना चाहिय और यह दुष्कर कार्य वैयाकरणके द्वारा ही सम्भव है। अत व्याकरण अवश्य पढना चाहिये।'

आगम—व्याकरणके अध्ययनके लिये स्वय श्रुति ही प्रमाणभूत है। श्रुति कहती है कि ब्राह्मण (द्विज)-का अनिवार्य कर्तव्य हे कि वह 'निष्कारणधर्मका आचरण तथा अङ्गसहित वेदका अध्ययन कर। वेदके षडङ्गामे व्याकरण ही मुख्य है। मुख्य विषयमे किया गया प्रयत्न विशेष फलवान् होता है। अत श्रुति-प्रामाण्यको ध्यानमे रखकर व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।'

लघु—इस विषयमे श्रुति कहती है कि देवगुरु बृहस्पतिने इन्द्रको दिव्य सहस्र वर्ष-पर्यन्त अध्यापन किया, फिर भी विद्याका अन्त नहीं हुआ। सक्षेपीकरणकी आवश्यकता थी। अतएव महर्षि पतञ्जलिने कहा कि शास्त्रका लघुता-सम्पादन भी व्याकरणका प्रयाजन है।

असदेह—व्याकरण-प्रयोजनके विषयमे अन्तिम कारण है—असदेह। सदेहको दूर करनेके लिय व्याकरणका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। जैसे—'स्थूलपृषतीम्' यहाँ बहुव्रीहिसमास होगा अथवा तत्पुरुप ? यही सदेहका स्थान है। निष्कर्ष यह हे कि अवैयाकरण मन्त्राके स्वर-विचारमे कदापि समर्थ नहीं हो सकेगा, इसलिये व्याकरणशास्त्र सप्रयोजन है। भले ही मीमासक इस विषयम आक्षेप करते हों। वैयाकरण तो स्पष्टरूपसे कहते हैं—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजन श्वजनो मा भूत् सकल शकल सकृच्छकृत्॥

अर्थात् हे पुत्र। तुमने अनेक अन्य शास्त्रोका तो अध्ययन किया, फिर भी व्याकरणशास्त्र अवश्य पढो, जिससे तुम्हे शब्दोका यथार्थ ज्ञान हो सके।

महर्षि पतञ्जलिने ता उपर्युक्त प्रयाजनाके अतिरिक्त म्लेच्छता-निवारणको भी प्रयोजन कहा है, जिससे अपशब्दाका प्रयोग सम्भव न हो। इस विषयमे शतपथ-ब्राह्मण भी सहमत है। अत व्याकरणका अध्ययन सप्रयाजन है क्योकि कहा गया है— एक शब्द सम्यग् ज्ञात शास्त्रान्वित सुप्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।' अर्थात् एक शब्दका भी अच्छी तरहसे ज्ञान प्राप्त करके यदि शास्त्रानुसार उसका प्रयोग किया जाय तो स्वर्गलोकम तथा इस लोकमे सफलता प्राप्त होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐन्द्र आदि आठ व्याकरणामें कौन-सा व्याकरण वेदाङ्गका प्रतिनिधित्व करता है। आजकल प्रचलित ओर प्राप्त व्याकरणोम पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है। साथ ही अन्य व्याकरणामे पाणिनीय व्याकरण अधिक लोक-प्रचलित और लोकप्रिय है। अत प्राचीन तथा सर्वाङ्गपूर्ण होनेके कारण पाणिनीय व्याकरण ही वेदाङ्गका प्रतिनिधित्व करता है। इससे ऐन्द्र आदि व्याकरणोंकी प्राचीनताके विषयमे कोई सदेह नहीं करना चाहिये।

निरुक्त

छ वेदाङ्गोम निरुक्त चौथे स्थानपर है, जो कि वेद-पुरपका श्रोत्र (कान) कहा गया है—'निरुक्त श्रोत्रमुच्यते।' इस विषयमे वेद-भाष्यकार सायणाचार्य अपनी चतुर्वेद-भाष्य-भूमिकामे कहते हैं कि 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजात यत्रोक्त तन्निरुक्तम्' अर्थात् अर्थ-ज्ञानम निरपेक्षतासे पदोकी व्युत्पत्ति जहाँ कही गयी है, वह निरुक्त है। निरुक्तकी शाब्दिकी निरुक्ति होगी—नि शेषरूपसे जो कथित हो वह निरुक्त है। अत जहाँ शिक्षा आदि वेदाङ्ग वेदके बाह्य तत्त्वाका निरूपण करते हैं, वहीं निरुक्त वेद-विज्ञानके आन्तरिक स्वरूपको स्पष्टत उद्घाटित करता है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि दूसरे वेदाङ्ग प्राय विभिन्न सूत्रामें लिखे गये हैं, किंतु यह निरुक्त गद्य-शैलीमे लिखित है। दूसरी बात यह भी है कि वेदार्थको यथार्थरूपसे जाननेमें निघण्टुके अनन्तर निरुक्तका ही प्रमाण है। निरुक्त निघण्टुकी भाष्यभूत टीका है। निघण्टुम वेदके कठिन शब्दोका समुच्चय है। इसे वैदिक कोश भी कह सकते हैं। निघण्टुकी सख्याके विषयम पर्याप्त मतभेद है। अभी उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसके ऊपर महर्षि यास्क-विरचित निरुक्त है। कुछ विद्वान् ऋषिप्रवर यास्कको ही निघण्टुका भी रचयिता मानते हैं, किंतु प्राचीन परम्पराके अनुशीलनसे यह धारणा प्रमाणित नहीं होती। निरुक्तके प्रारम्भमे निघण्टुको 'समाम्नाय' कहा गया है। इस शब्दकी जो व्याख्या दुर्गाचार्य महाशयने की हे, उस व्याख्यासे तो उसकी प्राचीनता ही सिद्ध होती है। महाभारतके मोक्षधर्मपर्वम प्रजापति कश्यप

इस निघण्टुके रचयिता कहे गये है। निघण्टुमे पाँच अध्याय हैं। उनमे एकसे तीन अध्यायतक नैघण्टुककाण्ड, चौथा अध्याय नैगमकाण्ड और पाँचवाँ अध्याय दवतकाण्ड है। अभी निघण्टुकी एक ही व्याख्या प्राप्त होती है, जिसके व्याख्याकार हैं 'दवराजयज्वा'।

निरुक्तकाल—

ऐतिहासिक दृष्टिसे निघण्टुकालके बाद ही निरुक्तकाल माना जाता है। इसी युगमे निरुक्तका वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है। दुर्गाचार्यकृत दुर्गवृत्तिके अनुसार निरुक्तोकी सख्या चौदह थी। यास्कके उपलब्ध निरुक्तमे बारह निरुक्तकारोका उल्लेख है। सम्प्रति यास्क-विरचित यही निरुक्त वेदाङ्गका प्रतिनिधि-स्वरूप ग्रन्थ है। निरुक्तमे बारह अध्याय ह आर अन्तमे परिशिष्ट-रूप दो अध्याय हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायोमे विभक्त है।

यास्ककी प्राचीनताके विषयमे किसी प्रकारका सदेह नहीं है। ये महर्षि पाणिनिसे भी प्राचीन हैं। महाभारतके शान्तिपर्वमे निरुक्तकारके रूपमे यास्कका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

निरुक्तमे वैदिक शब्दोकी निरुक्ति है। निरुक्ति-शब्दका अर्थ है 'व्युत्पत्ति'। निरुक्तका यह सर्वमान्य मत है कि प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी धातुके साथ अवश्य सम्बद्ध रहता है। अत निरुक्तकार शब्दोकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर धातुके साथ विभिन्न प्रत्ययोका निर्देश देते है। निरुक्तके अनुसार सभी शब्द व्युत्पन्न ह। अर्थात् वे सभी शब्द किसी-न-किसी धातुसे निर्मित ह। वैयाकरण शाकटायनका भी यही मत है कि सभी शब्द धातुसे उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक सज्ञापदके धातुसे व्युत्पन्न होनेके कारण यह आधार नितान्त वैज्ञानिक है। आजकल इसीका नाम 'भाषा-विज्ञान' है। इस विज्ञानकी उन्नति पाश्चात्त्य जगत्मे लगभग सौ वर्षके भीतर ही हुई है। जबकि आजसे तीन हजार वर्ष-पूर्व वैदिक ऋषियोके द्वारा इस शास्त्रके सिद्धान्तोका वैज्ञानिक-रीतिसे निरूपण किया गया था।

निरुक्त और व्याकरणका सामञ्जस्य—

निरुक्त-प्रणेता यास्काचार्यने निरुक्तके प्रथम अध्यायमे कहा है कि 'तदिद विद्यास्थान व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्।' इसी कारण वेदोके सम्यक् ज्ञान और अध्ययनके लिये निरुक्त तथा व्याकरण—इन दोनोकी साहचर्यरूपसे आवश्यकता होती है। व्याकरणका मुख्य प्रयोजन है शब्दोका शुद्धीकरण। निरुक्त व्याकरणके सभी प्रयोजनोको तो सिद्ध करता ही है किंतु इसकी मुख्य विशेषता ह शब्दार्थका विवेचन करना। निरुक्त साधित शब्दो—धातुओकी एक विलक्षण कल्पना करके मौलिक अर्थके अन्वेषणमे सतत प्रयत्नशील रहता है। दूसरी बात यह है कि निरुक्तसे धातु-पाठके सभी अर्थ उत्पन्न होते हैं, किंतु धातुओके परिज्ञानके लिये निरुक्त भी व्याकरणके अधीन है। अत दोनोका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

छन्द

छन्द वेदका पाँचवाँ अङ्ग है। पाणिनीय शिक्षामे कहा गया है कि 'छन्द पादौ तु वेदस्य।' अर्थात् छन्द वेद-पुरुषके पैर है। जिस प्रकार पाद (पैर)-से हीन मनुष्य लँगडा कहा जाता है, उसी प्रकार छन्दोसे हीन वेद पुरुष लँगडा होता है। अत वद-मन्त्रोके उच्चारणके लिये छन्दोका ज्ञान आवश्यक है। छन्दोके ज्ञानके अभावमे मन्त्रोका उच्चारण और पाठ समुचित रूपसे नहीं हो पाता। प्रत्येक सूक्तमे देवता ऋषि और छन्दका ज्ञान आवश्यक होता है। महर्षि कात्यायनका यह सुस्पष्ट मत ह कि जो वेदपाठी अथवा याजक (यज्ञ करनेवाला) छन्द, ऋषि और देवताके ज्ञानसे हीन होकर मन्त्रका अध्ययन, अध्यापन या यजन करता है, उसका वह प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है। जैसा कि सर्वानुक्रमणी (१। १)-मे कहा गया है—

'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणु वर्च्छति गर्तं वा पात्यते वा पापीयान् भवति।'

वदाङ्गमे उपयुक्त मुख्य छन्दोके नाम सहिता और ब्राह्मणग्रन्थोमे उपलब्ध होते है। जिससे प्रतीत होता ह कि इस अङ्गकी उत्पत्ति वेदिक युगमे ही हुई। इस पाँचवे वदाङ्गका आधार-ग्रन्थ है पिङ्गलाचार्यकृत 'छन्द सूत्रम्'।

इस महनीय ग्रन्थ 'छन्द सूत्रम्'के रचयिता आचार्य पिङ्गल ह। यह ग्रन्थ सूत्ररूपमे ह और आठ अध्यायोमे विभक्त है। प्रारम्भसे चौथे अध्यायके सातवे सूत्रतक वैदिक छन्दोके लक्षण ह। तदनन्तर लौकिक छन्दोका वर्णन है।

प्रचलित लौकिक काव्याम छन्द और पादवद्धताका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हे कि पद्यामे ही छन्दाकी योजना होती है और गद्य छन्दरहित होते हैं, परतु वैदिक छन्दके विपयम यह धारणा नितान्त भ्रान्त हे। प्राचीन आर्य-परम्पराक अनुसार गद्य भी छन्दयुक्त माना जाता है। दुर्गाचार्यन निरुक्तकी वृत्तिम लिखा है कि छन्दके विना वाणी उच्चरित नहीं होती। यथा—'नाच्छन्दसि वागुच्चरति।'

भरतमुनि भी छन्दसे रहित शब्दको स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है—

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्द शब्दवर्जितम्।

कात्यायनमुनिने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि वेदका ऐसा कोई मन्त्र नहीं है, जो छन्दाके माध्यमसे न बना हो। फलत यजुर्वेदके मन्त्र भी जो निश्चय ही गद्यात्मक ह, वे छन्दासे रहित नहीं हैं। अतएव प्राचीन आचार्योंने एक अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरातकके छन्दाका विधान अपने ग्रन्थोमे किया है।

'छन्द' शब्दकी व्युत्पत्ति—

महर्पि यास्कने 'छन्द' शब्दकी व्युत्पत्ति 'छद्' धातुसे की है। 'छन्दासि छन्द ' इस कथनका अभिप्राय यह है कि ये छन्द वेदके आवरण हे, आवरणके साधन हैं।

वैदिक छन्द—

वैदिक छन्दाकी यह विशेपता है कि ये अक्षर-गणनाम नियत होते ह अर्थात् अक्षरासे गुरु-लघुके क्रमका कोई विशेप नियम नहीं रहता। अतएव कात्यायनने सर्वानुक्रमणीम इसका लक्षण किया है—'यदक्षरपरिमाण तच्छन्द ।' यहाँ यह ध्यातव्य है कि अनेक शताब्दियाके अनन्तर वैदिक छन्दासे ही लौकिक छन्दाका आविर्भाव हुआ। लौकिक छन्दामे चार पाद होते हैं ओर वेदिक छन्दाम एसा कोई नियम नहीं है। वेद-प्रयुक्त छन्दाम कहीं लघु-गुरु मात्राआका अनुगमन नहीं हे। वहाँ केवल अक्षराकी गणना हाता हे, जिससे समस्त वेदिक छन्द अक्षरापर ही आश्रित हैं। अक्षरसे यहाँ तात्पर्य स्वरस है।

वदिक छन्दाके मुख्य भेद—

वैदिक छन्दाके मुख्य भेदाके विपयम ऐकमत्य नहीं हे परतु समस्त वैदिक छन्दाकी सख्या २६ ह। इनम प्राथमिक ५ छन्द वेदम अप्रयुक्त ह। उनका छाडकर अवशिष्ट छन्दाको हम तीन सप्तकाम बाँट सकते हैं। प्रयुक्त छन्दामें गायत्री प्रथम छन्द है, जिसक प्रत्येक पादम ६ अक्षर हाते हैं। अत प्रथम सप्तक गायत्रीसे प्रारम्भ होता है। इसक पूर्वके पाँच छन्द 'गायत्री पूर्वपञ्चक' क नामसे विख्यात हैं। उनके नाम हैं—(१) मा (अ० स० ४), (२) प्रमा (अ० स० ८), (३) प्रतिमा (अ० स० १२), (४) उपमा (अ० स० १६) और (५) समा (अ० स० ३०)—ये नाम ऋक् प्रातिशाख्यके अनुसार ह। अन्य ग्रन्थाम इनसे भिन्न नाम हैं, जैसे—भरतमुनिके नाट्यशास्त्रम उनक क्रमानुसार नाम य हैं—उक्त, अत्युक्त, मध्यम, प्रतिष्ठा ओर सुप्रतिष्ठा। प्रथम सप्तकके सात छन्दाक नाम हैं—गायत्री (२४ अक्षर), उष्णिक् (२८ अक्षर), अनुष्टुप् (३२ अक्षर), बृहती (३६ अक्षर), पक्ति (४० अक्षर), त्रिष्टुप् (४४ अक्षर) और जगती (४८ अक्षर)।

इस प्रकार सक्षेपम वैदिक छन्दाका विवरण उपस्थित किया गया है। विस्तारस 'पिङ्गलछन्द सूत्र' म दखना चाहिये।

ज्योतिष

वेदाङ्गाम ज्योतिष छठा ओर अन्तिम वेदाङ्ग है। जिस प्रकार व्याकरण वेदपुरुपका मुख हे, उसी प्रकार ज्योतिषको उसका नेत्र कहा गया ह—'ज्योतिषामयन चक्षु ।' नत्रोंके बिना जिस प्रकार काई मनुष्य स्वयमेव एक पैर भी नहीं चल सकता, उसी प्रकार ज्योतिष शास्त्रक विना वेदपुरुषमें अन्धता आ जाती है। वेदकी प्रवृत्ति विशपरूपसे यज्ञ-सम्पादनके लिये होती है। यज्ञका विधान विशिष्ट कालकी अपेक्षा करता हे। यज्ञ-यागक सम्पादनक लिये समय शुद्धिकी विशेप आवश्यकता होती ह। कुछ कर्मकाण्डाय विधान ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध सवत्सरसे होता है आर कुछका ऋतुस। यहाँ आशय यह है कि निश्चित रूपसे नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु आर सवत्सरके समस्त अशाक साथ यज्ञ-यागके विधान वदाम प्राप्त होते हैं। अत इन नियमाक पालनक लिय आर निश्चितरूपसे निर्वाहके लिये ज्यौतिष शास्त्रका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये विद्वान् ज्योतिपका 'कालविज्ञापक शास्त्र' कहत हैं क्योंकि मुहूर्त निकालकर की जानवाली यज्ञादि-क्रिया-विशष फलदायिका हाती हैं। अतएव वदाङ्ग ज्योतिपका विशष आग्रह ह कि जा मनुष्य ज्योतिष शास्त्रका अच्छी तरह जानता

है, वही यज्ञके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान रखता है। वेदाङ्ग ज्यौतिपका यह डिण्डिम घोष मनुष्याको प्रेरित करता है कि—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता
कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञा।
तस्मादिद कालविधानशास्त्र
यो ज्योतिष वेद स वेद यज्ञम्॥

यज्ञकी सफलता केवल समुचित विधानसे ही नहीं होती, प्रत्युत उचित निर्दिष्ट नक्षत्रम और समुचित कालम प्रयोगसे ही हाती है।

ज्योतिपका वेदाङ्गत्व—

वैदिक यज्ञ-विधानके लिये ज्योतिषके अतिशय महत्त्वको स्वीकार कर सुविख्यात ज्योतिष-मार्तण्ड भास्कराचायन अपने 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामक ग्रन्थम स्पष्ट घापित किया कि—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञा
प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यत स्यात्
वेदाङ्गत्व ज्यातिपस्योक्तमस्मात्॥

अर्थात् वेद यज्ञकर्मम प्रवृत्त होते हे और यज्ञ कालके आश्रित होते ह तथा ज्योतिष शास्त्रसे कालज्ञान होता ह, इससे ज्योतिष शास्त्रका वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है।

प्राचीन समयम चारो वदाका अलग-अलग ज्यौतिष शास्त्र था, उनमे अभी सामवदका ज्योतिष उपलब्ध नही ह, अवशिष्ट तीन वदाक ज्यातिष प्राप्त हात ह, वे इस प्रकार हे—

(१) ऋग्वद-ज्यौतिष—आर्च ज्यातिष, ३६ पद्यात्मक।
(२) यजुर्वेद-ज्यातिष—याजुष ज्यातिष, ३९ पद्यात्मक।
(३) अथर्ववद-ज्यातिष—आथर्वण ज्यातिष, १६२ पद्यात्मक।

वस्तुत आर्च ज्यातिष आर याजुष ज्यातिषम समानता ही प्रतात होती ह, क्याकि दानाम अनेकत्र समता है। कहीं-कहीं इतिहासम दा ज्यातिषाका ही उल्लेख मिलता है। आथर्वण ज्यौतिषकी चर्चा ही नहीं ह। सख्याक विषयम भी मतैक्य नहीं है। याजुष ज्यातिषकी पद्य-सख्या ऊपर ३९ कही गयी है, कहीं-कहीं ४९ ह। इसी प्रकार आथर्वण ज्यौतिषके स्थानपर 'अथर्व ज्योतिष' यह नाम भी मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनस वदाक अध्ययन-मनन-चिन्तन एव वेदार्थके सम्यक् बाध तथा गूढ वदिक रहस्याक ख्यापनम वेदाङ्गाकी अपरिहार्य निरतिशय महत्ता स्वयमव प्रतिपादित है।

वैदिक साहित्यका परिचय
'कल्पसूत्र'

(पं० श्रीरामगोविन्दजा त्रिवेदी)

'कल्प' शब्दके कितने ही अर्थ हैं—विधि नियम और न्याय आदि। थोडे अक्षरावाले, साररूप तथा निर्दोष वाक्यका नाम सूत्र है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विधिया, नियमो अथवा न्यायाके जा सक्षिप्त सारवान् आर दोषशून्य वाक्यसमूह हैं, उनका नाम कल्पसूत्र है। कल्पसूत्राको वेदाङ्ग भी कहा जाता है। मतलब यह कि कल्पसूत्र वदाके अश या हिस्से हैं।

वस्तुत हिदुत्व हिदू-धर्म आर हिदू-सस्कृतिके प्राण कल्पसूत्र ही हैं। हिदू-धर्म ही क्या, ससारके सभी प्रसिद्ध धर्मोंकी जड कर्मकाण्ड है—उनका मूल क्रियात्मक रूप ही है। कल्पसूत्राकी तो आधारशिला ही कर्मकाण्ड ह तथा हिदू-धर्मके सारे कर्म, सब सस्कार निखिल अनुष्ठान और समूचे रीति-रस्म प्राय कल्पसूत्रोसे ही उत्पन्न हैं। इसलिये हिदू-जीवनके समस्त नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निष्काम कर्म, सारी क्रियाएँ, सम्पूर्ण सस्कृति तथा अशेष अनुष्ठान समझनेक लिये एकमात्र अवलम्ब ये सूत्र ही ह। प्राचीन हिदुआके सामाजिक आचार-विचार, उनकी जीवनचर्या और उनक कर्मानुष्ठान आदिका ये सूत्र बडी ही सुन्दरता और प्राञ्जलतासे बतात ह। धर्मानुष्ठानाम मानव-वृत्तियाको सलग्न करना तथा धार्मिक विधिया आर नियमाम व्यक्तिया ओर समाजका जावन सयत करना, इन सूत्राका खास उद्देश्य हे आर सचमुच नियमबद्ध एव सयत करके इन सूत्राने हिदू-जीवन और समाजको दिव्य तथा भव्य बनानेम बडी सहायता की ह।

कल्पसूत्र तीन तरहक हाते ह—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र ओर धर्मसूत्र। वैदिक सहिताआम कह गय यज्ञादि-विषयक

विधान और विवरण देनेवाले सूत्रोंको 'श्रौतसूत्र' कहा जाता है। गृहस्थके जन्मसे लेकर मृत्युतकके समस्त कर्तव्यों और अनुष्ठानोंका जिनमें वर्णन है, उन्हें 'गृह्यसूत्र' नाम दिया गया है। विभिन्न पारमार्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यों, आश्रमों, विविध जातियोंके कर्तव्यों, विवाह, उत्तराधिकार आदिका जिनमें विवरण है, उनकी संज्ञा 'धर्मसूत्र' है। पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक)-में लिखा है—ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १००, सामवेदकी १,००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं अर्थात् सब मिलाकर चारों वेदोंकी १,१३० शाखाएँ हैं, परंतु इन दिनों हमारी इतनी दयनीय दशा है कि इन शाखाओंके नामतक नहीं मिलते। प्राचीन साहित्यसे पता चलता है कि जितनी शाखाएँ थीं, उतनी ही संहिताएँ थीं, उतने ही ब्राह्मण और आरण्यक थे, उतनी ही उपनिषद् थीं और उतने ही कल्पसूत्र भी थे, परंतु आजकल इनमेंसे कोई भी पूरा-का-पूरा नहीं मिलता। किसी शाखाकी संहिता मिलती है, किसीकी नहीं, किसीका केवल ब्राह्मण-ग्रन्थ मिलता है तो किसीका कल्पसूत्रमात्र। आश्वलायन शाखावालोंकी अपनी कोई संहिता नहीं मिलती, उनके केवल कल्पसूत्र मिलते हैं। बेचारे शाकल-संहिताको ही अपनी संहिता मानते हैं और ऐतरेय शाखावालोंके ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदोंसे ही अपने काम चलाते हैं। शौनकके 'चरण-व्यूह' में चरक-शाखाको विशिष्ट स्थान दिया गया है, परंतु न तो इस शाखाकी कोई संहिता या ब्राह्मण ही मिलते हैं न उसकी उपनिषदें आदि ही उपलब्ध हैं। काठक शाखाकी संहिता तो मिलती है, परंतु ब्राह्मण, आरण्यक नहीं। मैत्रायणी और राणायणीय शाखाओंकी भी यही बात है। अथर्ववेदकी पिप्पलाद-शाखाकी तो केवल संहिता ही मिलती है। संक्षेपमें यह समझिये कि जैसे न्याय और वैशेषिक दर्शन तो मिलते हैं, परंतु उनके सम्प्रदाय नहीं मिलते तथा सौर और गाणपत्य सम्प्रदाय तो मिलते हैं परंतु उनके दर्शनशास्त्र नहीं मिलते, ठीक इसी तरह किसीकी केवल शाखा ही मिलती है किसीकी संहिता किसीका ब्राह्मण तथा किसीकी केवल संज्ञाभर मिलती है और किसीका तो नाम तक भी नहीं मिलता। कल्पसूत्र भी तो शाखाओंके अनुसार १,१३० उपलब्ध होने चाहिये, पर[ंतु इन] दिनों प्रायः ४० पाये जाते हैं।

कहनेको तो हम सभी गला फाड़कर अपनेको वै[दिक] धर्मानुयायी कहते नहीं अघाते, परंतु वैदिक साहित्यके [प्रति] जो हमारी उपेक्षा है, वेदाध्ययनके लिये जो हमारी निरा[शा-] बुद्धि है, उसको देखते हुए हम ऐसा विश्वास हो रहा है [कि] मिले हुए ग्रन्थ भी लुप्त और उच्छिन्न हो जायँगे। [...] वेदोंकी जो सब मिलाकर ११ संहिताएँ मिली हैं वे [...] यूरोपियनोंकी कृपासे। लाखों रुपये खर्च करके यूरोपिय[नोंने] ही यूरोपके विविध देशोंमें इन संहिताओंको छापा [...] भारतवर्षमें तो ११ मेंसे केवल ५ संहिताएँ ही छापी [गयी] हैं, तो भी कदाचित् विश्वसनीय पाठ नहीं हैं, स[र्वत्र] अशुद्धियाँ हैं। व्याकरण रट लिया और बन पड़ा तो [...] ज्योतिष तथा कुछ काव्यकी पोथियाँ देख डालीं और [...] महापण्डित या धर्मगुरु बननेकी इच्छा हुई तो न्या[य-] वेदान्तकी परीक्षाएँ दे दीं। बस, भोली जनतामें [...] वेदोंके वक्ता—ज्ञाता बन गये, वेद-विज्ञानकी घटा [...] छटा बाँधने लगे—'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ' 'वेदोऽखि[लो] धर्ममूलम्।' जनताको, शिष्यों और यजमानोंको क्या [...] कि, ये 'महापण्डित' 'धर्म-गुरु' वेद तो क्या, वेदका [...] भी नहीं जानते। मनुजीने तो स्पष्ट ही लिखा है कि [जो] वेद नहीं जानता, वह शूद्र है जो वेदज्ञ नहीं, उस[से] विवाह मत करो और जो वेद-ज्ञाता नहीं उस ब्राह्मणको [न] पूजो, न खिलाओ न उससे श्राद्ध कराओ।' परंतु यहाँ [...] धर्म और उस वेदकी ही परवा नहीं, जिसे हमारे शास्त्र [और] पूर्वज नित्य मानते हैं, तब मनु और याज्ञवल्क्यको [कौन] पूछता है? संक्षेपमें यह समझिये कि यदि कुछ वेद [और] धर्मके भक्त इस दिशामें महासाहस लेकर वेद-प्रचार [और] वेद-प्रकाशनकी ओर नहीं पड़ते तो उपलब्ध वैदि[क] साहित्यके भी लुप्त हो जानेका डर है।

यहाँ मुख्य बात यह समझिये कि यदि यूरोपि[यन] विद्वानोंकी कृपा नहीं हुई होती तो इन दिनों वैदि[क] साहित्यके अमूल्य ग्रन्थ इन कल्पसूत्रोंके दर्शन भी हम[ें] दुर्लभ होते। यूरोपियनोंके अथक परिश्रमके ही कारण इ[...]

सूत्रोके दर्शन हमे मिल रहे हैं। यदि विद्या-व्यसनी यूरोपीय भी इस क्षेत्रसे उदास रहते, तो हम कदाचित् एक भी कल्पसूत्र नहीं दिखायी देता और हिंदू-धर्मके प्रति हम भीषण अधकारमे ही रहते। तो वेदो और हिंदू-धर्मके सेवक हम हुए या यूरोपियन?

अब इस बातपर ध्यान दीजिये कि हिंदू-धर्म और हिंदू-सस्कृतिके प्राण ये कल्पसूत्र क्या हैं? श्रौत या वैदिक यज्ञ चौदह प्रकारके हैं—सात 'हविर्यज्ञ' और सात 'सोमयज्ञ'। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणी—ये सातो चरु पुरोडाशद्वारा हविसे सम्पन्न होते हैं, इसलिये ये 'हविर्यज्ञ' कहलाते हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यामको 'सोमयज्ञ' कहा जाता है। इन सातोमे सोमरसका प्राधान्य रहता है।

कई सहिताओ और आश्वलायन, लाट्यायन आदि श्रौत-सूत्रोमे इन चौदहो यज्ञोका विस्तृत विवरण मिलता है। इसमे सदेह नहीं कि इन दिनो इन यज्ञोका प्रचार नहीं है, परतु गृह्यसूत्रोके यज्ञ नित्यकर्म अर्थात् आवश्यक कर्तव्य माने जाते हैं, इसलिये उन्हे पाक या प्रधान यज्ञ कहा जाता है। पाक-यज्ञोमेसे कुछ तो ज्यो-के-त्यो हिंदू समाजमे प्रचलित हैं और कुछ रूपान्तरित होकर।

गृह्यसूत्रकारोने सात प्रकारके गृह्य या पाक-यज्ञ माने हैं जैसे—'पितृ-यज्ञ' या 'पितृ-श्राद्ध'—यह सभी हिंदुओंमे मूलरूपमे ही प्रचलित है। 'पार्वण-यज्ञ' अर्थात् पूर्णिमा और अमावस्याके दिन किया जानेवाला यज्ञ। इसे इस समय भी यथावत् किया जाता है। 'अष्टका-यज्ञ'—यह अवश्य ही बहुत रूपान्तर प्राप्त कर चुका है। 'श्रावणी-यज्ञ'—यह अबतक काफी प्रचलित है। 'आश्वयुजी-यज्ञ' अर्थात् आश्विन मासमे किया जानेवाला यज्ञ, जो कोजागरा लक्ष्मीपूजाका रूप धारण कर चुका है। 'आग्रहायणी यज्ञ'—यह अगहनमे किया जानेवाला यज्ञ 'नवान्न' का अनुकल्प बन चुका है। 'चैत्री-यज्ञ' अर्थात् चैत्रमे किया जानेवाला यज्ञ जो बिलकुल दूसरा रूप ग्रहण कर चुका है।

चौदह श्रौत-यज्ञो और सात पाक-यज्ञोके सिवा धर्म-सूत्रो और गृह्यसूत्रोमे इन पाँच महायज्ञोका वर्णन है—देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। हवनको 'देवयज्ञ', बलिरूपमे अन्न आदि दान करनेको 'भूतयज्ञ', पिण्ड-दान और तर्पणको 'पितृयज्ञ', वेदोके अध्ययन-अध्यापन अथवा मन्त्रपाठको 'ब्रह्मयज्ञ' तथा अतिथिको अन्न आदि देनेको 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता है। ये पाँचो महायज्ञ भी अबतक ज्यो-के-त्यो प्रचलित हैं।

उक्त सूत्रोमे इन सस्कारोका बहुत सुन्दर विवरण है—गर्भाधान, पुसवन अर्थात् पुत्रजन्मानुष्ठान, सीमन्तोन्नयन अर्थात् गर्भवती स्त्रीका केशविन्यास, जातकर्म अर्थात् सतान होनेपर आवश्यकीय अनुष्ठान, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, वेदाध्ययनके समय महानाम्नीव्रत, महाव्रत, उपनिषद्व्रत, गोदानव्रत, समावर्तन अर्थात् पठनके अन्तमे स्नानविशेष, विवाह, अन्त्येष्टि अर्थात् मृतसस्कार। ये सोलहो सस्कार भी प्रचलित हैं।

इस प्रकार १४ श्रौतयज्ञ, ७ पाकयज्ञ, ५ महायज्ञ और १६ सस्कार मिलकर ४२ कर्म हमारे लिये कल्पसूत्रकारोने बताये हैं। सूत्रोमे इन बयालीसोका विस्तृत विवरण पढनेपर अपने पूर्वजोकी सारी जीवन-लीला दर्पणकी तरह दिखायी देने लगती है। ससारकी सबसे प्राचीन आर्यजातिकी इस जीवन-लीलाका इतिहास जानने और उसका सम्यक् अध्ययन-परिशीलन करनेके लिये ही यूरोपकी जातियोने पानीकी तरह रुपये बहाकर इन समस्त सूत्रोको टीका-टिप्पणियोके साथ सुसम्पादित कर प्रकाशित किया है। कहाँ उनकी आदर्श ज्ञान-पिपासा तथा विद्या-प्रेम और कहाँ अपने बाप-दादाके धर्म-कर्म, सभ्यता-सस्कृति और स्वरूप-इतिहास जाननेके बारेमे हमारी घृणित उपेक्षा। धिग् जीवनम्॥

हाँ, तो हम कह रहे थे कि सूत्रकारोने ४२ कर्म बताये हैं, परतु साथ ही सूत्रकार ऋषियोने सत्य, सद्गुण और सदाचारपर भी बहुत जोर दिया है। धर्मसूत्रकार गौतम चत्वारिंशत् कर्मवादी हैं—उन्होने अन्त्येष्टि और निष्क्रमणको सस्कार नहीं माना है—सोलहमे १४ ही सस्कार माने हैं। अत उन्होने गौतमधर्मसूत्र (८। २४। २५)-मे लिखा है—'जो ४० सस्कारोसे तो युक्त है, परतु सद्गुणसे शून्य

हैं, वे न तो ब्रह्मलोक जा सकगे, न ब्रह्मको पा सकगे। हाँ, जो नित्य-नैमित्तिक यज्ञाका करते है आर काम्य-कर्मोंक लिये कोई चेष्टा नहीं करते अथवा चष्टा करनेम असमर्थ है, वे भी सद्‌गुणा (सत्य, सदाचार आदि)-से युक्त होनेपर ब्रह्मलाकको जा सकग तथा ब्रह्मको भी पा सकेंगे।' इसी तरह वसिष्ठधर्मसूत्र (६। ३)-म भी कहा गया हे—'जैसे चिडियाक वच्चे पख हो जानपर घासलको छोडकर चले जाते हैं, वैस ही वेद आर वदाङ्ग भी सद्‌गुण-शून्य मनुष्यका त्याग कर दत ह।' इन वचनासे मालूम हाता ह कि सत्य आर सदाचारका हमारे सूत्रकाराने कितना महत्त्व दिया है—एक तरहसे उन्हाने सत्य आर सदाचारको हिदू-धमकी भित्ति ही माना हे आर हमका उनसे यही महती शिक्षा भी मिलती है।

जैस ऋग्वदक ऐतरेय आर कापातकि नामक दा ब्राह्मण अत्यन्त प्रसिद्ध है, वसे ही इसक आश्वलायन आर शाखायन नामक दो कल्पसूत्र भी अतीव विख्यात ह। आश्वलायन श्रौतसूत्रमे १२ अध्याय हैं आर प्रत्येक अध्याय वदिक यज्ञोंके विवरणसे पूर्ण ह। कहा जाता ह कि आश्वलायन ऋषि शौनक ऋषिक शिष्य थ और एतरय आरण्यकक अन्तिम दो अध्याय गुरु और शिष्यन मिलकर वनाय थे। ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यकम जा वदिक यज्ञ विस्तृतरूपस विवृत किये गये हे, सक्षेपम उन्हींके विधान आदिका निर्देश करना इस श्रौतसूत्रका उद्दश्य हे। इसपर गाग्यनारायणिकी सस्कृत-वृत्ति है।

आश्वलायन-गृह्यसूत्र चार अध्यायाम विभक्त ह। प्रथम अध्यायम विवाह, पार्वण पशुयज्ञ चत्ययज्ञ गर्भाधान, पुसवन सीमन्तोन्नयन जातकर्म, नामकरण अन्नप्राशन चूडाकरण, गोदानकम उपनयन आर ब्रह्मचर्याश्रमकी विवृति है। द्वितायम श्रावणा आश्वयुजी, आग्रहायणी, अष्टका, गृहनिमाण आर गृहप्रवशका विवरण ह। तृतायम पञ्चमहायज्ञाका वर्णन हे। इन यज्ञाका प्रतिदिन सम्पन्न करक हमार पूवज अन्न-जल ग्रहण करते थे और इन दिना भी कुछ लाग एसा ही करत्त हैं। इसी अध्यायम ऋग्वदक विभिन्न मण्डलाक ऋषियाक नाम पाय जात हैं। इसक अतिरिक्त सुमन्तु, जैमिनि वैशम्पायन, पल तथा सूत्रा भाष्या आर भारत एव महाभारतक प्रणेताआके भा नाम पाये जाते हे। चतुर्थ अध्यायम अन्त्यष्टि आर श्राद्धका वणन ह।

आश्वलायन गृह्यसूत्रपर गार्ग्यनारायणि, कुमारिल भट्ट और हरदत्त मिश्रकी वृत्ति, कारिका और व्याख्या है। शाखायन श्रौतसूत्र अठारह अध्यायाम विभाजित ह। दर्शपूर्णमास आदि वदिक यज्ञाका इसमे भी विवरण हे, साथ ही वाजपय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमध ओर सवमध आदि विशाल यज्ञाकी विस्तृत विवृति भी है।

शाखायन गृह्यसूत्र छ अध्यायाम पूर्ण हुआ है। प्रथम अध्यायम पार्वण विवाह, गभाधान, पुसवन, गर्भरक्षण, सामन्तोन्नयन, जातकर्म अन्नप्राशन, चूडाकरण और गोदानकर्मका विवरण ह। द्वितायम उपनयन आर ब्रह्मचर्याश्रमका वर्णन है। तृतीयम स्नान, गृहनिमाण, गृहप्रवश, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणी और अष्टका आदिका विवरण ह। चतुर्थमं श्राद्ध, अध्यायोपाकरण, श्रावणी आश्वयुजा, आग्रहायणी आर चत्रीका उल्लेख है। पञ्चम और षष्ठ अध्यायाम कुछ प्रायश्चित्ताका वणन है। शाखायन-शाखाका सहिता नहीं पायी जाती। इस वदकी केवल शाकल्य-सहिता ही छपी है।

वहुत लोगाका मत ह कि वसिष्ठधर्मसूत्र ऋग्वदका ही धमसूत्र है। इसक टाकाकार गोविन्द स्वामीका भी एसा ही मत ह। यह तास अध्यायाम विभक्त ह। प्रथममें साधारण विधि आर्यावर्तकी सीमा पञ्चमहापातक और छ विवाह-पद्धतियाका वणन हे। द्वितीयम विविध जातियाके कर्तव्यका निर्देश ह। तृतीयमे वेद-पाठकी आवश्यकता और चतुर्थमें अशुद्धियाका विचार हे। चौथ अध्यायम सूत्रकारने मनुक अनक वचनाका उद्धृत किया हे जिसस विदित होता है कि अत्यन्त प्राचीन कालम कोई मनु-सूत्र भी था जिसक आधारपर हा वतमान मनुस्मृति वनी ह। पाँचवम स्त्रियाका कर्तव्य, छठमे सदाचार सातवम ब्रह्मचर्य आठवम गृहस्थ-धर्म नवमे वानप्रस्थ-धर्म और दसवम भिक्षुधर्म वर्णित है। ग्यारहवमे अतिथि-सवा श्राद्ध आर उपनयनकी वाते हैं। वारहवम स्नातक-धर्म तरहवम वेद-पाठ आर चौदहवमें खाद्य-विचार विवृत हैं। पद्रहवम दत्तक-पुत्र-ग्रहण, सोलहवम राजकार्य-विधि और सतरहवम उत्तराधिकारका वणन है। अठारहवम चाण्डाल वैण अन्त्यावसायी रामक, पुल्कस

सूत, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, पारशव आदि दस मिश्र या मिली हुई जातियोका विवरण है। उन्नीसवेमे राजधर्म विवृत है। बीसवेसे अट्ठाईसवेतकम प्रायश्चित्त और उनतीसव तथा तीसवे अध्यायोंम दान-दक्षिणाका विवरण है।

सामवेदकी दो शाखाओके दो श्रौतसूत्र अत्यन्त विख्यात हैं—कौथुमशाखाका लाट्यायन श्रौतसूत्र या मशक श्रौतसूत्र और राणायणीय शाखाका द्राह्यायण श्रौतसूत्र। दोनोमे वैदिक यज्ञोका खूब सुन्दर विश्लेषण और विवरण है।

सामवेद (कौथुमशाखा)-का गोभिलगृह्यसूत्र चार प्रपाठकोंमें विभक्त है। प्रथम प्रपाठकमे साधारण विधि, ब्रह्मयज्ञ, दर्शपूर्णमास आदिका विवरण है। द्वितीयमे विवाह, गर्भाधान, पुसवन, जातकर्म, नामकरण, चूडाकरण और उपनयन आदि विवृत हैं। तृतीयमें ब्रह्मचर्य, गोपालन, गोयज्ञ, अश्वयज्ञ और श्रावणी आदिका वर्णन है। चतुर्थमे विविध अन्वष्टका-काम्यसिद्धियाके उपयोगी कर्म गृहनिर्माण आदिकी विवृति है।

सामवेदका गौतमधर्मसूत्र अत्यन्त विख्यात है। यह अट्ठाईस अध्यायामे पूर्ण हुआ है। प्रथम और द्वितीय अध्यायामे उपनयन और ब्रह्मचर्य, तृतीयमे भिक्षु (सन्यासी) एव वैखानस (वानप्रस्थ)-का धर्म और चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायामे गृहस्थका धर्म विवृत है। इस प्रसगमे गौतमने इन आठ प्रकारके विवाहाका उल्लेख किया है—ब्राह्म प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। प्रथमके चार उत्तम हैं और अन्तके चार अधम हे। पञ्चम अध्यायम अठारह प्रकारकी मिली हुई जातियाका या मिश्र जातिका उल्लेख है। षष्ठमे अभिवादन, सप्तमम आपत्कालीन वृत्ति-समूह और अष्टममे चालीस सस्काराका उल्लेख है। नवमम स्नातक-धर्म, दशमम विभिन्न जाति-धर्म, एकादशमे राजधर्म, द्वादशमे राजकीय विधि, त्रयोदशमे विचार और साक्ष्य-ग्रहण, चतुर्दशम अशुद्धि-विचार, पञ्चदशमे श्राद्ध-नियम, षोडशमे वेद-पाठ, सप्तदशम खाद्य-विचार ओर अष्टादशम स्त्री-विवाह आदि हैं। उन्नीससे सत्ताईस अध्यायाम प्रायश्चित्त-विवरण है। अट्ठाईसवेमे उत्तराधिकारका विचार है।

यजुर्वेदके दो भेद हैं—कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण-यजुर्वेदके ग्रन्थ अन्य सभी वेदासे अधिक मिलते हैं। इसकी सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, प्रातिशाख्य आदि प्राय अधिकाश मिलते हैं। इस वेदकी मैत्रायणी शाखाका मानवधर्मसूत्र पाया जाता हे। इसके अतिरिक्त बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, काठक आदि कितने ही सूत्र-ग्रन्थ इस वेदके मिले हैं।

बौधायन-श्रौतसूत्र उन्नीस प्रश्नाम पूर्ण हुआ है। बौधायन गृह्यसूत्र और बौधायन-धर्मसूत्रम चार-चार प्रश्न या खण्ड हैं। बौधायन-कल्पसूत्रम कर्मान्तसूत्र, द्वैधसूत्र तथा शुल्बसूत्र (यज्ञवेदी-निर्माणके लिये रेखागणितके नियम) आदि भी पाये जाते हैं। बौधायनने लिखा है—'अवन्ती, मगध, सोराष्ट्र, दक्षिण, उपावृत, सिन्धु और सौवीरके निवासी मिश्रजाति है।' इससे विदित होता हे कि बोधायनके समय, १,२५० ख्रीष्टपूर्वमे इन प्रदेशामे अनार्य भी रहते थे। आगे चलकर लिखा गया है—'जिन्हाने आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सोवीर, बङ्ग, कलिङ्ग आदिका भ्रमण किया है, उन्हे पुनस्तोम और सर्वपृष्ठा यज्ञ करने पडते हैं।' इससे मालूम पडता है कि आर्य लाग इन प्रदेशाको हीन समझते थे।

बौधायन-धर्मसूत्रक प्रथम प्रश्नमें ब्रह्मचर्य-विवरण, शुद्धा-शुद्ध-विचार, मिश्रजाति-वर्णन, राजकीय विधि और आठ तरहके विवाहाकी बात हे। द्वितीय प्रश्नम प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार तथा स्त्रीधर्म, गृहस्थधर्म, चार आश्रम और श्राद्धका विवरण है। तृतीयमे वैखानस आदिके कर्तव्य और चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्ताका वर्णन है। चतुर्थमे काम्य-सिद्धि आदि विवृत हैं।

आपस्तम्बके भी सारे कल्पसूत्र पाये जाते हैं। आपस्तम्ब आन्ध्रमे उत्पन्न हुए थे। द्रविड और तेलङ्ग ब्राह्मण अपनेको आपस्तम्ब-शाखी ओर अपनी सहिताको तैत्तिरीय सहिता कहते हैं। आपस्तम्बकल्पसूत्र तीस प्रश्नामे परिपूर्ण हुआ है। प्रथम चौबीस प्रश्न श्रौतसूत्र हैं, पचीसवाँ प्रश्न परिभाषा है, छब्बीसवाँ और सत्ताईसवाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है। अट्ठाईसवाँ ओर उनतीसवाँ प्रश्न धर्मसूत्र हे और तीसवाँ शुल्बसूत्र है। आपस्तम्बगृह्यसूत्रम ब्रह्मचर्यद्वारा शास्त्रशिक्षा, गृह-निर्माण, मासिक श्राद्ध विवाह आदि सस्कार तथा श्रावणी, अष्टका

आदिका विवरण है। आपस्तम्बधर्मसूत्रके प्रथम प्रश्नम ब्रह्मचर्य, शास्त्रशिक्षा, खाद्य-विचार और प्रायश्चित्तकी बाते हैं। द्वितीयमे चार आश्रमा और राजकीय विधिकी बात हैं।

हिरण्यकेशी आपस्तम्बके पीछेक पुरुष हैं। हिरण्यकेशी-कल्पसूत्रोकी रचना आपस्तम्बक कल्पसूत्राको सामने रखकर की गयी है। ये सब तत्तिरीय शाखाके कल्पसूत्र हैं। हिरण्यकेशीका दूसरा नाम सत्याषाढ है। शुक्लयजुर्वेदक (माध्यन्दिन और काण्व दोनाके) दा कल्पसूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हे—कात्यायन-श्रौतसूत्र और पारस्कर-गृह्यसूत्र। कात्यायन-श्रौतसूत्रक अठारह अध्याय इस वेदके शतपथ-ब्राह्मणक ना काण्डोके क्रमानुवर्ती ह। अवशिष्ट अध्याय सौत्रामणी, अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदिके विवरणोसे पूर्ण हैं। व्रात्याके विवरणम मगधके ब्रह्मबन्धुआका भी उल्लेख है। ब्रह्मण्यानुष्ठानसे शून्य अधम ब्राह्मणाको ब्रह्मबन्धु कहा गया है।

पारस्कर-गृह्यसूत्र नौ काण्डामें पूर्ण हुआ है। प्रथममे विवाह गर्भाधान आदि सस्काराका विवरण है। द्वितीयमे कृषि-प्रारम्भ, विद्या-शिक्षा, श्रावणी आदिका विवेचन है। तृतीयम गृह-निर्माण, वृषोत्सर्ग, श्राद्ध आदिका वर्णन है। अन्य गृह्यसूत्राकी तरह ही इसके भी अन्यान्य काण्डाक विवरण हे।

अबतक जितने कल्पसूत्रोका उल्लेख हो चुका हे उनक अतिरिक्त भी कुछ कल्पसूत्र पाये जाते हैं, किंतु उनका प्रामाणिकतामे सदेह है। इसीलिये यहाँ इनका उल्लेख नहीं किया गया है। उल्लिखित कल्पसूत्रापर अनेकानेक खण्डित और अखण्डित भाष्य-टीकाएँ भी मिलती हैं, परतु अधिकाश हस्तलिखित और अप्रकाशित दशाम ब्रिटिश म्यूजियम (लदन), इम्पीरियल लाइब्रेरी (कलकत्ता और दिल्ली), भाडारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (पूना) तथा देश-विदशकी विभिन्न लाइब्रेरियामे पडी हैं। यदि उन्ह छापें तो यूरोपीय विद्वान् ही, हम हिंदुआको तो कुछ भी परवा नहीं।

वैदिक सहिताआका अर्थ तत्त्व और रहस्य समझनक लिये जैसे ब्राह्मण, आरण्यक, प्रातिशाख्य, निरुक्त निघण्टु मीमासा, बृहद्देवता अनुक्रमणी, शिक्षा, चरणव्यूह आदि-आदिका अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही, बल्कि कहीं कहीं इनसे भी अधिक आवश्यक कल्पसूत्राका पठन है। श्रौतसूत्रासे यज्ञ-रहस्य समझनेम आश्चर्यजनक सहायता मिलती है। गृह्यसूत्रोसे स्थल-विशेषमे अद्भुत साहाय्य प्राप्त होता है। प्राचीन हिंदू-जीवन, प्राचीन हिंदूसमाज और प्राचीन हिंदूधर्म समझनेके लिये तो ये सूत्र अद्वितीय हैं ही। धार्मिक नियमाम अपना और अपने समाजका जीवन सम्बद्ध तथा उन्नत करनेके लिये तथा नि श्रेयसकी प्राप्तिके लिये तो ये सूत्र अनूठे साधन हैं।

यहाँ यह भी ध्यान देनेकी बात है कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वसिष्ठस्मृति, पाराशरस्मृति आदि बीसों प्रसिद्ध स्मृतियाकी उत्पत्ति और रचना इन्हीं कल्पसूत्रासे हुई है। समस्त हिंदू-सस्कारो राजधर्मों, व्यवहार-दर्शनो, दाम्पत्य-धर्मों दाय-भागो सकर-जाति-विवरणो और प्रायश्चित्तोंके आधार भी ये ही कल्पसूत्र हैं। इनके बिना प्राचीन नियमों और प्रथाआका समझना दुरूह कठिन जटिल और विकट है। इसलिये इनका स्वाध्याय करना प्रत्येक हिंदूके लिये आवश्यक और अनिवार्य है।*

---

* शौनकके चरणव्यूहके महीदासके भाष्यम लिखा है—'कृष्णा तथा गोदावरीके तटापर और आन्ध्रप्रदेशम आश्वलायनी शाखा आपस्तम्बी शाखा और हिरण्यकेशी शाखा प्रचलित है गुजरातम शाखायनी शाखा और मैत्रायणी शाखा प्रचलित है तथा अङ्ग बङ्ग कलिङ्गमे माध्यन्दिनी शाखा और कौथुम-शाखा प्रचलित है। परतु इन दिनों प्रधानतया महाराष्ट्रम ऋग्वेदकी शाकल शाखा गुजरात और दक्षिणमें कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी शाखा दक्षिण तैलङ्ग और द्रविणमे कृष्णयजुर्वेदकी आपस्तम्बी या तैत्तिरीय शाखा उत्तर भारत मिथिला और महाराष्ट्रमे शुक्ल-यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखा दाक्षिणात्यमें इसी वेदकी काण्वशाखा गुजरात और बगालमें सामवेदकी कौथुम-शाखा दक्षिणमें (सेतुबन्ध रामेश्वरमें) सामवेदकी राणायणीय शाखा कर्णाटकमें सामवेदकी जैमिनीय शाखा और गुजरात (नागर ब्राह्मणा)-में अथर्ववेदकी शौनक शाखा प्रचलित है। जहाँ जो शाखा प्रचलित है वहाँ उसी शाखाके कल्पसूत्राके अनुसार सारे श्रौत-स्मार्त कार्य और सस्कार आदि होते हैं इसलिये विभिन्न प्रदेशाके ऐसे कार्यों और सस्कारामें भेद दिखायी देते हैं। किंतु ये भेद साधारण-से ही होते हैं।

वेदके विविध छन्द और छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थ

(डॉ० आचार्य श्रीरामकिशोरजी मिश्र)

छन्द वेदके छ अङ्गोमे एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जैसे वेदके अन्य अङ्गो—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष और व्याकरणका महत्त्व है, वैसे ही छन्दका महत्त्व भी किसी अङ्गसे कम नहीं है। छन्द वेदके चरण हैं[1]। जिस प्रकार चरणरहित व्यक्ति चलनेमे असमर्थ होता हे, उसी प्रकार छन्दोरहित वेदकी गति भी नहीं होती। जब छन्दाका विकास हुआ था, तब उनकी सुरक्षाके लिये छान्दस-आचार्योंने उनपर नियम लिखने प्रारम्भ किये।

ब्राह्मणग्रन्थोमे छन्दोके उल्लेखके बाद शाखायनश्रौतसूत्रम सर्वप्रथम छन्द शास्त्रीय चर्चा प्राप्त होती है। इस ग्रन्थम गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पक्ति, त्रिष्टुप् और जगती नामसे सात छन्दोंका उल्लेख मिलता है। छन्दोंके नामसे पूर्व त्रिपदा, पुर. ककुभ्, विराट्, सत , निचृत् और भुरिक् इत्यादि उपनामाके साथ किन्हीं छन्दाके पादो और वर्णोंकी गणना भी मिलती है[2]। इसके बाद पातञ्जलनिदानसूत्र, शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य तथा कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणीमे भी उक्त साता छन्दापर विचार किया गया है। कुछ छन्द -प्रवक्ताआ—ताण्डी क्रौष्टुकि, यास्क, सैतव, काश्यप, शाकल्य, रात तथा माण्डव्यका नामोल्लेख पिङ्गलीय छन्द सूत्रम मिलता है[3] किंतु उनके छन्द शास्त्रीय ग्रन्थोका विवरण प्राप्त नहीं होता।

वैदिक युगके प्रारम्भसे वैदिक युगकी समाप्तितक प्रसिद्ध छन्दोको छान्दस-आचार्योंने पादवर्णनियमासे बाँधकर नियन्त्रित किया। प्राचीन सस्कृत वाङ्मयमे छन्द शास्त्रके *अनेक नाम* [—छन्दोविचिति छन्दोनाम, छन्दोभाषा, छन्दोविजिनी, छन्दोविजिति तथा छन्दोव्याख्यान] मिलते हैं[4]। वदाङ्गाका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थाम प्राप्त होता है[5]। पिङ्गलने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ छन्द सूत्रम अनेक छन्द -प्रवक्ताओका उल्लेख किया है[6]। निदानसूत्र[7] तथा उपनिदानसूत्रम[8] सात और चार छान्दस-आचार्योंके मताका उल्लेख है। पिङ्गलसे पूर्व छन्द शास्त्रविषयक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ तो प्राप्त नहीं हाता, किंतु पिङ्गलसे पूर्व जिन चार आचार्योंने अपने-अपन ग्रन्थम छन्दापर विचार किया है, उनक नाम हैं—भरत, पतञ्जलि, शौनक और कात्यायन। पिङ्गलने अपन ग्रन्थमे जिन आठ छान्दस-आचार्योंका उल्लेख किया है, उनक छन्दोग्रन्थ तो प्राप्त नही हाते, किंतु उनके नामसे एक-एक छन्द अवश्य मिलता है, जिनका विवरण अधालिखित है—

१-क्रौष्टुकिकृत छन्द—स्कन्धोग्रीवी [छन्द सूत्रम् ३। २९]
२-यास्ककृत छन्द—उरोबृहती (न्यङ्कुसारिणी) [छन्द सूत्रम् ३। ३०]
३-ताण्डिकृत छन्द—सताबृहती (महाबृहती) [छन्द सूत्रम् ३। ३६]
४-सैतवकृत छन्द—विपुलानुष्टुप् और उद्धर्षिणी, [छन्द सूत्रम् ५। १८, ७। १०]
५-काश्यपकृत छन्द—सिंहोन्नता (वसन्ततिलका) [छन्द सूत्रम् ७। ९]
६-शाकल्यकृत छन्द—मधुमाधवी (वसन्ततिलका) [छन्द सूत्रम् ७। ११]
७-माण्डव्यकृत छन्द—चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक) [छन्द सूत्रम् ७। ३५]

१-'छन्द पादौ तु वेदस्य' (पाणिनीयशिक्षा ४१)।

२-शाखायनश्रौतसूत्रम् (६। ४। ५६ ७२। २२ २५—२८ ७। २७। १२ ३० १६। २७। २ १६। २८। २)।

३-छन्द सूत्रम् (६। २९ ३० ३४ ४। १८ ७। ९ ११ ३३-३४)।

४-पाणिनीयगणपाठ ४। ३। ७३ जैनेन्द्रगणपाठ ३। ३। ४७ जनशाकटायनगणपाठ ३। १। १३६ चान्द्रगणपाठ ३। १। ४५ गणरत्नमहोदधि ५। ३४४ सरस्वतीकण्ठाभरणम् ४। ३।

५-बौधायनधर्मसूत्रम् २। १४। २ गौतमधर्मसूत्रम् १५। २८, गोपथब्राह्मण १। १। २७ वाल्मीकीयरामायणबालकाण्डम् ७। १५।

६-छन्द सूत्रम् (३। २९-३० ३६ ५। १८ ७। ९—११ ३६)।

७-निदानसूत्रम् (१—७ पृष्ठपर 'पाञ्चाला एके उदाहरन्ति बह्वृचा आचक्षते ब्रुवत प्रतिजानीते' सकतस ७ मत)।

८-ज्योतिष्मतीति पाञ्चाला उरोबृहतीति यास्क महाबृहतीत्यके द्विपदाविस्तारपक्तिस्ताण्डिन ।

८-रातकृत छन्द—चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक)

[छन्द सूत्रम् ७। ३६]

इनमसे यास्क, काश्यप, ताण्डी और माण्डव्य मूलछन्द -प्रवक्ता ह और शेष हैं नामान्तरकर्ता। यास्कके छन्द उरोबृहतीको क्रौष्टुकि स्कन्धोग्रीवी नाम देते हे ओर पिङ्गल उसे न्यङ्कुसारिणी कहते हैं। ताण्डीके छन्द सतोबृहतीको पिङ्गलने महाबृहती नाम दिया है। काश्यपके छन्द सिहोनताको शाकल्यने मधुमाधवी नाम दिया है और पिङ्गलने उसे वसन्ततिलका कहा है। माण्डव्य रातसे प्राचीन हैं। अत चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक) माण्डव्यका है, रातका नहीं। छन्द -प्रवक्ता ऋषि नामान्तरकर्ता ऋषियासे प्राचीन हैं।

छन्दके दो अर्थ हैं—एक तो आच्छादन और दूसरा आह्लादन। छन्दकी व्युत्पत्ति 'छदि सवरणे' और 'चदि आह्लादने' से मानी जाती है[१]। यास्कने छन्दकी व्युत्पत्ति 'छद् सवरणे' से मानी है[२], जिसके अनुसार छन्द वेदोके आवरण अर्थात् आच्छादन हैं। आच्छादनसे आशय यह है कि छन्दके द्वारा रस, भाव तथा वर्ण्यविषयको आच्छादित किया जाता ह। जो विद्वान् छन्दकी व्युत्पत्ति 'चदि आह्लादने' से मानते हैं,[३] उनके अनुसार आह्लादनका अर्थ मनोरञ्जन होता है, अर्थात् छन्द मानव-मनका मनोरञ्जन करते हैं। अत छन्द वेदाक आवरण और मानव-मनके आह्लादनके साधन हैं।

वेदाम २६ छन्द प्राप्त होते हे, जिनका विवरण निम्नाङ्कित है—

ऋग्वेदके १३ छन्द

आचार्य शौनकके मतानुसार ऋग्वेदमे गायत्रासे अतिधृतितक १४ छन्दाका प्रयाग मिलता है[४], किंतु ऋग्वेदम किये गये अन्वेपणसे ज्ञात हुआ है कि उसम गायत्रीसे धृतितक १३ छन्दाका ही प्रयोग है। अतिधृति छन्दकी अक्षर-गणना तो ऋग्वेदके किसी भी मन्त्रम प्राप्त नहीं होती। समस्त ऋग्वेदमें केवल एक मन्त्रम ही अतिधृति छन्द माना जाता है और वह है ऋग्वेदके मण्डल १, सूक्त १२७ वेका छठा मन्त्र। इसी मन्त्रम शौनक, कात्यायन और वेंकटमाधवने अतिधृति छन्द माना है, किंतु इसम अतिधृति छन्दकी वर्ण-सख्या ७६ प्राप्त नहीं होती, अपितु ६८ वर्ण मिलते हैं, जो व्यूहद्वारा भी ७६ रूपम सगत नहीं होते। एक या दो अक्षरोसे न्यून छन्दकी वर्णपूर्ति तो व्यूहद्वारा सगत मानी जाती है, किंतु छह वर्णोंकी कमीको व्यूहद्वारा पूरा करना सर्वथा असगत ही है। अत ऋग्वेदम निम्नाङ्कित १३ छन्द प्राप्त होते हैं—

१-गायत्री [२४ वर्ण] (ऋक्० १। १। १)
२-उष्णिक् [२८ वर्ण] (ऋक्० १। ९२। १६)
३-अनुष्टुप् [३२ वर्ण] (ऋक्० १। १०। ७)
४-बृहती [३६ वर्ण] (ऋक्० १। ३६। ७)
५-पक्ति [४० वर्ण] (ऋक्० ९। ११३। ४)
६-त्रिष्टुप् [४४ वर्ण] (ऋक्० १। २४। १)
७-जगती [४८ वर्ण] (ऋक्० ९। ८४। ४)
८-अतिजगती [५२ वर्ण] (ऋक्० ४। १। २)
९-शक्वरी [५६ वर्ण] (ऋक्० ८। ३६। १)
१०-अतिशक्वरी [६० वर्ण] (ऋक्० १। १३७। १)
११-अष्टि [६४ वर्ण] (ऋक्० १। १२७। १)
१२-अत्यष्टि [६८ वर्ण] (ऋक्० १। १२७। ६)
१३-धृति [७० वर्ण, व्यूहसे ७२] (ऋक्० १। १३३। ६)

यजुर्वेदके ८ छन्द

पद्यक अतिरिक्त गद्य भी प्राचीन आर्य परम्पराके अनुसार छन्दोबद्ध माने जाते हैं, क्याकि विना छन्दके वाणी उच्चरित नहीं होती[५]। छन्दसे रहित कोई शब्द भी नहीं होता

१-युधिष्ठिर मीमासक वैदिक छन्दोमीमासा पृष्ठ ११—१३ अमृतसर १९५९।

२- छन्दासि छादनात् (यास्क निरुक्त ७। १२)।

३-अयोध्यानाथ पिङ्गलछन्द सूत्र २। १ की टिप्पणी।

४- सर्वादाशतमीप्यता उत्तरास्तु सुभेपजे (शौनक ऋक्प्रातिशाख्य १६। ८७-८८)।

५- नाच्छन्दसि वागुच्चरति (आचार्यदुर्गकृत निरुक्तवृत्ति ७। २)।

और शब्दसे रहित कोई छन्द भी नहीं होता[१]। सम्पूर्ण वाङ्मय छन्दोयुक्त है और छन्दके बिना कुछ भी नहीं है, जिससे स्पष्ट होता है कि गद्य भी छन्दोबद्ध होते ह। अत याजुषगद्यके मन्त्र भी छन्दाबद्ध हैं। यही कारण ह कि पतञ्जलि, शौनक और कात्यायन आदि आचार्योंने एक अक्षरसे १०४ अक्षरतकके छन्दोंके विधान अपने-अपन ग्रन्थाम किया है, जिनमसे गायत्रीसे धृतितक १३ छन्द ऋग्वेदम प्राप्त हैं और अतिधृतिसे उत्कृतिपर्यन्त ८ छन्दाके उदाहरण यजुर्वेदम मिलते हैं, जिनका विवरण निम्नाङ्कित है—

१-अतिधृति [७६ वर्ण] (यजु० २२। ५)
२-कृति [८० वर्ण] (यजु० ९। ३२)
३-प्रकृति [८४ वर्ण] (यजु० १५। १६)
४-आकृति [८८ वर्ण] (यजु० १५। ६४)
५-विकृति [९२ वर्ण] (यजु० १५। १५)
६-सकृति [९६ वर्ण] (यजु० २४। १-२)।
७-अभिकृति [१०० वर्ण] (यजु० २६। १)
८-उत्कृति [१०४ वर्ण] (यजु० ११। ५८)

अथर्ववेदके ५ छन्द

१-उक्ता [४ वर्ण] (अथर्व० २। १२९। ८)
२-अत्युक्ता [८ वर्ण] (अथर्व० २। १२९। १)
३-मध्या [१२ वर्ण] (अथर्व० २०। १२९। १३)
४-प्रतिष्ठा [१६ वर्ण] (अथर्व० २०। १३१। ५)
५-सुप्रतिष्ठा [२० वर्ण] (अथर्व० २०। १३४। २)

इनके अतिरिक्त सामवेद और अथर्ववेदम ऋग्वेद और यजुर्वेदम प्रयुक्त छन्दाका ही प्रयोग मिलता है, जिनके २६१ भेद-प्रभेद हैं।

छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थ

वैदिक छन्दाका विवरण तीन प्रकारके छन्दोग्रन्थाम प्राप्त होता है, उनमसे एक तो वे ग्रन्थ हैं, जो अन्य विषयाके साथ छन्दोके विषयापर भी विवेचन प्रस्तुत करत हैं। ऐसे ग्रन्थामें निदानसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य और अग्निपुराण मुख्य हैं। दूसरे प्रकारके वे ग्रन्थ हैं, जो अनुक्रमणी-साहित्यके अन्तर्गत आते हैं, जिनमें शौनककृत छन्दोऽनुक्रमणी, कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी, शुक्लयजु -सर्वाऽनुक्रमसूत्र, बृहत्सर्वानुक्रमणी, माधवभट्टकृत ऋग्वेदानुक्रमणी और वकटमाधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी प्रमुख हैं, किंतु इनमसे केवल दो ग्रन्था—कात्यायनकी ऋक्सर्वानुक्रमणी और वकटमाधवकी छन्दोऽनुक्रमणीम ही छन्दाके लक्षण मिलते हैं। तीसरे प्रकारक वे ग्रन्थ है, जो छन्दाके विषयपर स्वतन्त्ररूपसे लिखे गये है, जिनम छन्द सूत्र, उपनिदानसूत्र, जयदेवछन्द और श्रीकृष्णभट्टकृत वृत्तमुक्तावलि मुख्य हैं। अत इनका सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

१-निदानसूत्र

निदानसूत्रके रचयिता महर्षि पतञ्जलि है। इस ग्रन्थमे १० प्रपाठक ह और प्रत्येक प्रपाठकम १३, १३ खण्ड हैं। इसके प्रथम प्रपाठकके प्रथम सात खण्डामे छन्दाका वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम छ खण्डामे मूल २६ छन्दाके १४३ भेद-प्रभेदाके लक्षण मिलते ह और सप्तम खण्डम यति-विषयक वणन है।

२-ऋक्प्रातिशाख्य

ऋक्प्रातिशाख्यक रचयिता आचार्य शौनक हैं। इसम १८ पटल हैं, जिनम अन्तिम तीन १६ से १८ तकके पटलामे मूल २६ छन्दाके १८८ भेद-प्रभेदाक लक्षण प्राप्त होते है, जिनमे आचार्य शौनकके ६४ स्वतन्त्र लक्षित छन्द हैं, शेप १२४ छन्द निदानसूत्रम लक्षित हो चुके हैं।

३-ऋक्सर्वानुक्रमणी

ऋक्सर्वानुक्रमणीके रचयिता आचार्य कात्यायन हैं। यह सूत्ररूपम निबद्ध है। इसम ६८ छन्दोभेदाके लक्षण मिलते है, जिनम ९ छन्द कात्यायनके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित हे, शेष ५९ छन्द पूर्वरचनाआम लक्षित हा चुके हैं।

४-छन्द सूत्र

छन्द सूत्रके रचयिता महर्षि पिङ्गल हैं। यह सूत्रामे उपनिबद्ध है। इसम ८ अध्याय हैं जिनमे ३२९ सूत्र हैं। यह ग्रन्थ वदिक तथा लोकिक छन्दाका विवेचन करता है। इसमे प्रथमसे चतुर्थ अध्यायक सातव सूत्रतक ११९ वैदिक छन्दाक लक्षण मिलते हैं, जिनम महर्षि पिङ्गलके स्वतन्त्ररूपसे

१- छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्द शब्दवर्जितम् (नाट्यशास्त्रम् १५। ४०)।

लक्षित ११ छन्द हैं। शेष १०८ छन्द पूर्व-रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

५-उपनिदानसूत्र

उपनिदानसूत्रके रचयिता अज्ञात हैं। ग्रन्थके अन्तिम पद्यचतुष्टयके प्रथम पद्यमें पिङ्गलके[1] उल्लेखसे इस रचनाको छन्द सूत्रसे परवर्ती माना जाता है। इसमें ६६ वैदिक छन्दोभेदोंके लक्षण मिलते हैं, जिनमें उपनिदानकारके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित २ छन्द हैं। शेष ६४ छन्द पूर्वरचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

६-अग्निपुराण

अग्निपुराणमें ३८३ अध्याय हैं। इसमें पिङ्गलके[2] उल्लेखसे इस रचनाको छन्द सूत्रसे परवर्ती माना जाता है। इसके ३२८वें अध्यायसे ३३५वें अध्यायतक ८ अध्यायोंमें छन्दोविवरण प्राप्त होता है, जिनमेंसे प्रथम तीन (३२८—३३०) अध्यायोंमें वैदिक छन्दोंका विवरण है, जिसमें अग्निपुराणकारके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित ४ छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

७-जयदेवछन्द

जयदेवछन्द के रचयिता जयदेव हैं। इसमें ८ अध्याय हैं, जिनमेंसे द्वितीय और तृतीय अध्यायमें वैदिक छन्दोंका विवेचन है, जिसमें जयदेवके १३ स्वतन्त्र लक्षित छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती छन्दोग्रन्थोंमें लक्षित हो चुके हैं।

८-छन्दोऽनुक्रमणी

छन्दोऽनुक्रमणीके रचयिता वेंकटमाधव हैं। इन्होंने ऋग्वेद-संहितापर भाष्य लिखा है। इस भाष्यमें वैदिक छन्दोंका जो उल्लेख किया है, उसे ही 'छन्दोऽनुक्रमणी' कहते हैं। इसमें ५८ छन्दोभेदोंके लक्षण मिलते हैं, जिनमें इनका कोई भी स्वतन्त्रलक्षित छन्द नहीं है। समस्त छन्द पूर्व-रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

९-वृत्तमुक्तावलि

वृत्तमुक्तावलिके रचयिता श्रीकृष्णभट्ट हैं। इस रचनामें ३ गुम्फ हैं। प्रथम गुम्फमें २०५ वैदिक छन्दोभेदोंका विवेचन है, जिसमें इनके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित ४ छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

उपसंहार

इस प्रकार द्वापरयुगान्तके महर्षि पतञ्जलिकी छन्दोरचना निदानसूत्रसे लेकर विक्रम संवत् १,८०० के श्रीकृष्णभट्टकी छन्दोरचना वृत्तमुक्तावलितक ९ छन्दोऽनुशासन ग्रन्थोंमें ऋग्वेदके १३, यजुर्वेदके ८ और अथर्ववेदके ५—इस प्रकार कुल २६ वैदिक मूलछन्दोंके लक्षणोंके साथ, उनके २२४ भेद-प्रभेदोंका लक्षणसहित विवेचन किया गया है।

सकल जग हरि कौ रूप निहार।
हरि बिनु बिस्व कतहुँ कोउ नाहीं, मिथ्या भ्रम-संसार॥
अलख-निरंजन, सब जग ब्यापक, सब जग कौ आधार।
नहिं आधार, नाहिं कोउ हरि महँ, केवल हरि-बिस्तार॥
अति समीप, अति दूर, अनोखे, जग महँ, जग ते पार।
पय-घृत, पावक-काष्ठ, बीज महँ तरु-फल-पल्लव-डार॥
तिमि हरि ब्यापक अखिल बिस्व महँ, आनँद पूर्न अपार।
एहि बिधि एक बार निरखत ही भव-बारिधि हो पार॥
(पद-रत्नाकर १२५८)

१- ब्राह्मणात्ताण्डिनश्चैव पिङ्गलाच्च महात्मनः (उपनिदानसूत्रम् ८। १)।
२- छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम् (अग्निपुराणम् ३२८। १)।

वेदोमे ज्योतिष

(श्रीओमप्रकाशजी पालीवाल, एम्०ए०, एल्-एल्० बी०)

ज्योतिष क्या है? यह ज्योतिका शास्त्र है। ज्योति आकाशीय पिण्डा—नक्षत्र, ग्रह आदिसे आती है, परतु ज्योतिषमे हम सब पिण्डाका अध्ययन नहीं करते। यह अध्ययन केवल सौरमण्डलतक ही सीमित रखते हैं। ज्योतिषका मूलभूत सिद्धान्त है कि आकाशीय पिण्डाका प्रभाव सम्पूर्ण ब्रह्माण्डपर पडता है। इस प्रकार मानव-ससारपर भी इन नक्षत्रा एव ग्रहो आदिका प्रभाव पडता है। दूसरे शब्दामे आकाशीय पिण्डा एव मानव-ससारम पारस्परिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्धको अथर्ववेदके तीन मन्त्र स्पष्टरूपसे दर्शाते हैं—

पहला मन्त्र है—

चित्राणि साक दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
तुर्मिश सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भि सपर्यामि नाकम्॥

(अथर्व० १९। ७। १)

अर्थात् 'द्युलोक—सौरमण्डलम चमकते हुए विशिष्ट गुणवाले अनेक नक्षत्र हैं जो साथ मिलकर अत्यन्त तीव्र गतिसे टेढे-मेढे चलते हैं। सुमतिकी इच्छा करता हुआ में प्रतिदिन उनको पूजता हूँ, जिससे मुझे सुखकी प्राप्ति हो।' इस प्रकार इस मन्त्रमे नक्षत्राको सुख तथा सुमति देनेमे समर्थ माना गया है। यह सुमति मनुष्याको नक्षत्राकी पूजासे प्राप्त होती है। यह मनुष्यापर नक्षत्रोका प्रभाव हुआ जिसे ज्योतिष शास्त्र ही मानता है।

दूसरा मन्त्र है—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥

(अथर्व० १९। ८। १)

अर्थात् 'जिन नक्षत्रोको चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है वे सब नक्षत्र मर लिय आकाशम अन्तरिक्षमे, जलम, पृथ्वीपर, पर्वतोपर ओर सव दिशाआमे सुखदायी हा।'

अब प्रश्न उठता है कि चन्द्रमा किन नक्षत्राको समर्थ करता हुआ चलता है। वदोमे इन नक्षत्राकी सख्या २८ बतायी गयी है। इनक नाम अथर्ववेदक १९ व काण्डके ७व सूक्तम मन्त्र-सख्या २ से ५ तक (४ मन्त्रा)-मे दिये गये हैं। अश्विनी भरणी आदि २८ नाम वही हैं, जो ज्योतिषग्रन्थोमे हे। इस प्रकार नक्षत्राके नाम तथा क्रमम पूरी समानता हे। इस आधारपर हम कह सकते हैं कि ज्योतिषका मूल वदाम है।

तीसरा मन्त्र है—

अष्टाविशानि शिवानि शग्मानि सह योग भजन्तु मे।
योग प्र पद्ये क्षेम च क्षेम प्र पद्ये योग च नमोऽहोरात्राभ्याम स्तु॥

(अथर्व० १९। ८। २)

अर्थात् 'अट्ठाइस नक्षत्र मुझे वह सब प्रदान कर, जो कल्याणकारी ओर सुखदायक हैं। मुझे प्राप्ति-सामर्थ्य और रक्षा-सामर्थ्य प्रदान कर। दूसरे शब्दामे पानेक सामर्थ्यके साथ-साथ रक्षाके सामर्थ्यको पाऊँ आर रक्षाक सामर्थ्यके साथ ही पानेके सामर्थ्यको भी मे पाऊँ। दाना अहारात्र (दिवा और रात्रि)-को नमस्कार हा।'

इस मन्त्रम योग और क्षेमकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना है। साधारणतया जो वस्तु मिली नहीं है उसको जुटानेका नाम 'योग' है। जो वस्तु मिल गयी है, उसकी रक्षा करना ही 'क्षेम' है। नक्षत्रासे इनको दनेकी प्रार्थनासे स्पष्ट है कि नक्षत्र प्रसन्न होकर यह दे सकते हे। इस प्रकार इस मन्त्रका भी ज्योतिषसे सम्बन्ध हे।

इस मन्त्रम जा 'अहोरात्र' पद आया हे उसका ज्योतिषके हाराशास्त्रम अत्यन्त महत्त्व ह। यथा—

अहोरात्राद्यतलोपाद्धोरेति प्रोच्यत बुधै।
तस्य हि ज्ञानमात्रण जातकर्मफल वदेत्॥

(बृ० पा० हा० शा० पू० ३। २)

अर्थात् 'अहारात्र पदके आदिम (अ) आर अन्तिम (त्र) वर्णके लोपस 'होरा' शब्द बनता हे। इस हारा (लग्न)-क ज्ञानमात्रसे जातकका शुभाशुभ कर्मफल कहना चाहिये।'

आकाशीय पिण्डामे नक्षत्र ओर ग्रह दाना आते ह। ज्योतिषने इन दानामे कुछ अन्तर किया हे जा निम्न श्लाकासे स्पष्ट है—

तेजःपुञ्जा नु वीक्ष्यन्त गगने रजनीषु ये।
नक्षत्रसज्ञकास्ते तु न क्षरन्तीति निश्चला॥
विपुलाकारवन्तोऽन्य गतिमन्तो ग्रहा किल।
स्वगत्या भानि गृह्णन्ति यतोऽतस्ते ग्रहाभिधा॥

(बृ० पा० हो० शा० अध्याय ३। ४-५)

अर्थात् 'रात्रिके समय आकाशम जो तेज पुञ्ज दीखते ह, वे ही निश्चल तारागण नहीं चलनेके कारण 'नक्षत्र' कहे जाते हैं। कुछ अन्य विपुल आकारवाले गतिशील वे तज पुञ्ज अपनी गतिके द्वारा निश्चल नक्षत्राको पकड लेते हैं, अत व 'ग्रह' कहलाते ह।'

ऊपर तीन मन्त्राम नक्षत्रासे सुख, सुमति, योग, क्षम देनेकी प्रार्थना की गयी। अब ग्रहासे दा मन्त्राम इसी प्रकारकी प्रार्थनाका वर्णन हे। दाना मन्त्र अथर्ववेदके उन्नीसव काण्डके नवम सूक्तम हैं। इस सूक्तक सातवें मन्त्रका अन्तिम चरण '**श नो दिविचरा ग्रहा**' है, जिसका अर्थ है, आकाशमे घूमनेवाले सब ग्रह हमारे लिये शान्तिदायक हा। यह प्रार्थना सामूहिक हे। इस सूक्तका दसवाँ मन्त्र हे—

श नो ग्रहाश्चान्द्रमसा शमादित्यश्च राहुणा।
श नो मृत्युर्धूमकेतु श रुद्रास्तिग्मतेजस ॥

अर्थात 'चन्द्रमाके समान सब ग्रह हमारे लिये शान्तिदायक हा। राहुके साथ सूर्य भी शान्तिदायक हा। मृत्यु, धूम आर केतु भी शान्तिदायक हा। तीक्ष्ण तेजवाले रुद्र भी शान्तिदायक हा।' अब प्रश्न उठता हे चन्द्रके समान अन्य ग्रह कोन हैं? इसका उत्तर एक ही हे कि पाँच ताराग्रह—मगल, वुध, गुरु, शुक्र एव शनि हे, जो चन्द्रके समान सूर्यकी परिक्रमा करनस एक ही श्रेणीम आते हैं। सूर्य किसाकी परिक्रमा नहीं करता। इसलिये इसको भिन्न श्रेणीम रखा गया है। राहु और केतु प्रत्यक्ष दीखनेवाले ग्रह नहीं हैं। इसलिये ज्योतिषम इसे 'छायाग्रह' कहा जाता है, परतु वेदान इन्ह ग्रहकी श्रेणीम ही रखा हे। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, मगल वुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु आर केतुको ज्योतिषम 'नवग्रह' कहा जाता हे। कुछ भाष्यकाराने 'चान्द्रमसा' का अर्थ 'चन्द्रमाके ग्रह' भी किया है और उसम नक्षत्रा (कृत्तिका आदि)-की गणना की हे, परतु यह तर्क-सगत नहीं लगता। इस मन्त्रम आय हुए मृत्यु एव धूमको महर्षि पराशरने अप्रकाशग्रह कहा है। य पाप ग्रह हैं ओर अशुभ फल दनेवाले ह। कुछक अनुसार गुलिकको ही 'मृत्यु' कहत हैं। उपर्युक्त मन्त्रम इनकी प्रार्थनासे यह स्पष्ट है कि इनका प्रभाव भी मानवपर पडता है।

श्रीपराशरक अनुसार पितामह ब्रह्माजीन वेदासे लेकर ज्योतिष शास्त्रका विस्तारपूर्वक कहा है—

वेदेभ्यश्च समुद्धृत्य ब्रह्मा प्रोवाच विस्तृतम्।

(वृ० पा० हो० साराश उत्तरखड अध्याय २०। ३)

वेद-मन्त्रोके उच्चारण-प्रकार—प्रकृतिपाठ एवं विकृतिपाठ

अपारुपय एव ईश्वराक्त वाणी वेद-शब्दराशिका सुरक्षित तथा पूणत अपरिवर्तित-रूपम मानवसमाजके कल्याणक लिय अक्षुण्ण रखनहेतु ऋषियाने इमकी पाठ-विधियाका उपदश किया हे। ये सभी पाठ ऋषियाके द्वारा दृष्ट ह, अत अपारुपय हैं। इनम तीन प्रकृतिपाठ तथा आठ विकृतिपाठ ह। सहितापाठ पदपाठ तथा क्रमपाठ—य तीन प्रकृतिपाठ हैं। आठ विकृतिपाठाक नाम हैं—जटा माला शिखा रखा ध्वज दण्ड रथ आर घन। इन पाठाक द्वारा विविध प्रकारस अभ्यास किय जानक कारण वदका आम्नाय ('आसमन्तात् म्नायते अभ्यस्यत) कहा गया ह। इन विविध पाठाकी महिमाक कारण ही आज भा मूल वद-शब्दराशि एक भी वर्ण अथवा मात्राका विपयय न हात हुए हमका उपलब्ध हा रही ह। सम्पूर्ण विश्वम एसा काई अविच्छिन्न उच्चारण-परम्परा दृष्टिगाचर नहीं हाती। यह वैदिक शब्दराशिका वैशिष्ट्य हे।

वदके सहितापाठका जिन ऋषियाने दर्शन किया, उनका स्मरण विनियाग आदिम किया जाता है। वस्तुत सर्वप्रथम परमश्वरने ही वदशब्द-सहिताका दर्शन किया तथा उन्हाने इसका उपदश किया। इसी प्रकार पदपाठक आद्य द्रष्टा रावण और क्रमपाठके वाभ्रव्य ऋषि हैं। मधुशिक्षाका वचन है—

भगवान् सहिता प्राह पदपाठ तु रावण।
वाभ्रव्यर्षि क्रम प्राह जटा व्याडिरवोचत्॥

प्रत्यक शाखाके पृथक् पदपाठक ऋषि भी उल्लिखित हैं यथा—ऋग्वदकी शाकलशाखाक शाकल्य यजुर्वेदकी तैत्तिराय शाखाक आत्रय तथा सामवदकी कौथुमशाखाके

र्य ऋषि पदपाठक द्रष्टा हैं। इसी प्रकार प्रातिशाख्यमे कृतियोके सम्बन्धमे भी श्लोक है—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घन ।
अष्टौ विकृतय प्रोक्ता क्रमपूर्वा महर्षिभि ॥

इससे यह स्पष्ट होता ह कि महर्षियोन क्रमपाठ एव कृतिपाठोका दर्शन करनके अनन्तर उनका उपदेश किया। मधुशिक्षाके अनुसार जटापाठके ऋषि व्याडि, मालापाठके ऋषि वसिष्ठ, शिखापाठके ऋषि भृगु, रेखापाठके ऋषि अष्टावक्र, ध्वजापाठके ऋषि विश्वामित्र, दण्डपाठके ऋषि पराशर, रथपाठके ऋषि कश्यप तथा घनपाठके द्रष्टा ऋषि अत्रि हैं। इस प्रकार ये सभी पाठ ऋषिदृष्ट हानेके कारण अपौरुषेय हैं।

सहितापाठ तथा उसकी महिमा—'वर्णानामेकप्राणयोग सहिता' (कात्यायन), 'पर सन्निकर्ष सहिता' (पाणिनि), आदि सूत्रोके द्वारा सहिताका स्वरूप बतलाया गया है। वेदवाणीका प्रथमपाठ जो गुरुओकी परम्परास अध्ययनीय है और जिसमे वर्णों तथा पदोकी एकश्वासरूपता अर्थात् अत्यन्त सानिध्यके लिये सम्प्रदायानुगत सन्धियो तथा अवसानो (निश्चित स्थलापर विराम)-से युक्त एव उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित—इन तीन स्वराम अपरिवर्तनीयतास पठनीय वेदपाठको 'सहिता' कहते हैं। इसका स्वरूप है—

गुरुक्रमेणाध्येतव्य ससन्धि सावसानक ।
त्रिस्वरोऽपरिवर्त्यश्च पाठ आद्यस्तु सहिता॥

यह सहिता नामक वेदपाठ पुण्यप्रदा यमुना नदीका स्वरूप है तथा सहितापाठसे यमुनाके स्नानका पुण्य मिलता है—'कालिन्दी सहिता ज्ञेया', (या० शि०)। सहितारूप वेदका पाठ सूर्यलोककी प्राप्ति कराता है—'सहिता नयते सूर्यपदम्,(या०शि०)। सहिता-पाठ पदपाठका मूल है। 'पदप्रकृति सहिता' (यास्क), 'सहिता पदप्रकृति ' (दुर्गाचार्य) आदि वचनाके आधारपर यह प्रथम प्रकृतिपाठ है। ऋषियाने मन्त्रोके सहितारूप वेदपाठका ही दर्शन किया और यज्ञ, देवता-स्तुति आदि कार्योमे वेदके सहिता-पाठका प्रयोग किया जाता है। कहा भी गया है—'आचार्या सममिच्छन्ति पदच्छेद तु पण्डिता '। सहिता प्रथम प्रकृतिपाठ है।

पदपाठ तथा उसकी महिमा—'अर्थ पदम् '(वा०प्रा०), 'सुप्तिङन्त पदम्' (पाणिनि) आदि सूत्रोके द्वारा पदका स्वरूप बतलाया गया है। इसका तात्पर्य है कि किसी अर्थका बोध करानेके लिये पाणिनीय आदि व्याकरणक अनुसार 'सुप्-तिङ्' आदि प्रत्ययासे युक्त वर्णात्मक इकाईको 'पद' कहते हैं। वेदके सहितापाठकी परम्पराके अनुसार स्वरवर्णोकी सन्धिका विच्छेद करके वैदिक मन्त्राका सस्वर पाठ पदपाठ कहा जाता है। वदमन्त्राका पदपाठ द्वितीय प्रकृतिपाठ माना जाता है। यद्यपि पदपाठका आधार सहितापाठ है, तथापि अग्रिम क्रमपाठका आधार (प्रकृति) पदपाठ हानेके कारण यह प्रकृतिपाठ है। स्वरके सम्बन्धके अनुसार पदक ग्यारह प्रकार होते हैं। शिक्षा-ग्रन्थाम कहा गया है—

'नव पदशय्या एकादश पदभक्तय '

वेदमन्त्रोका पदपाठ पुण्यप्रदा सरस्वती देवनदीका स्वरूप है। पदपाठ करनेसे सरस्वतीक स्नानका फल प्राप्त होता है—'पदमुक्ता सरस्वती,' (या० शि०)। पदपाठका अध्ययन करनेवाला व्यक्ति चन्द्रलोककी प्राप्ति करता है—'पद च शशिन पदम्' (या० शि०)। विद्वज्जन अर्थज्ञानकी सुविधाक लिय पदपाठको विशयरूपसे ग्रहण करते हैं। वेदमन्त्राक पदपाठसे आराध्य देवके गुणोका गान किया जाता है।

तैत्तिरीय आदि अनेक शाखाआमे सहिताक प्रत्यक पदका पदपाठम साम्प्रदायिक उच्चारण है। ऋग्वेदमे भिन्न पदगर्भित पदाम अनानुपूर्वी सहिताको स्पष्ट पद-स्वरूप देकर पढा जाता है। शुक्लयजुर्वेदकी शाखाओम प्रातिशाख्यके नियमाके अनुसार एकाधिक बार आये हुए विशेष पदाको पदपाठमे विलुप्त कर दिया जाता ह। शास्त्रीय परिभाषाम ऐसे विलुप्त पदाको गलत्पद तथा ऐसे स्थलके पाठको सक्रम कहा जाता ह।

पदपाठम प्रत्येक पदका अलग करनके साथ यदि कोई पद दो पदाक समाससे बना हो तो उसे माध्यन्दिनीय शाखामे 'इतिकरण' के साथ दाहरा करके स्पष्ट किया जाता है। प्रातिशाख्यके नियमाके अनुसार कतिपय विभक्तियामे तथा वैदिक लोप, आगम, वर्णविकार, प्रकृतिभाव आदिम भी 'इतिकरण' के साथ पदका मूल स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। जैसे—'सहस्रशीर्षेति सहस्रशीर्षा।' इसे 'अवग्रह' कहते हैं।

पदपाठम स्वरवर्णोकी सन्धिका विच्छद तथा अवग्रह आदि विशप विधियाके प्रभावसे यह पाठ सहितासे भी अधिक कठिन हा जाता है। इन नियमाके कारण ही यह पदच्छेद नहीं है, किंतु पदपाठ कहा जाता है।

क्रमपाठ तथा उसकी महिमा—'द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरभावसानमपृक्तवर्जम्' (वा०प्रा०) आदि सूत्राके द्वारा क्रमपाठका स्वरूप बतलाया गया है। अपृक्त आदि विशेप स्थलाको छोडकर सामान्यत दो-दो पदाका सन्धियुक्त अवसानपर्यन्त सस्वर पाठ 'क्रमपाठ' कहलाता है। पाणिनिके धातुपाठके अनुसार एक-एक पेरका बढाना क्रम है। उसी भावसे क्रमपाठम भी एक-एक पदका आगे बढाकर पढत हैं। इस कारण इस पाठका क्रमपाठ कहा जाता है। क्रमपाठ यद्यपि पदपाठक आधारसे ही है, तथापि जटा आदि विकृतिपाठाका मूल क्रमपाठ हे। अत आठो विकृतिपाठाका प्रकृतिपाठ क्रमपाठ है तथा यह तृतीय प्रकृतिपाठ हे।

ऐतरेय आरण्यक (३। १। ३) तथा ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वयवृत्तिके अनुसार अन्नकामनाकी पूर्तिके लिये सहिता-पाठ, स्वर्गकामनाकी पूर्तिके लिये पदपाठ तथा अन्न-स्वर्ग दोनो कामनाआकी पूर्तिक लिये क्रमपाठका विधान ह। वाराहपुराणम कहा गया है कि सहितापाठसे दोगुना पुण्य, पदपाठसे तिगुना पुण्य तथा क्रमपाठसे एव जटादि विकृतियाके पाठसे छ गुना पुण्य प्राप्त हाता है—

सहितापाठत पुण्य द्विगुण पदपाठत ।
त्रिगुण क्रमपाठेन जटापाठेन षड्गुणम्॥

आठ विकृतिपाठ और उनकी महिमा—मन्त्रात्मक वैदिक शब्दराशिकी अक्षुण्ण तथा निर्भ्रान्त परम्पराकी सुरक्षा इन जटा आदि आठ विकृतिपाठासे ही हो सकी है। इसलिये जटादि विकृतिपाठामे निरत विद्वानाको 'पक्तिपावन' माना गया है—

जटादिविकृतीना ये पारायणपरायणा ।
महात्मानो द्विजश्रेष्ठास्ते ज्ञेया पङ्क्तिपावना ॥

यद्यपि कुछ व्यक्ति इन वचनोके आधारपर भी मात्र ऋग्वेदम अष्टविकृतिपाठ हाता है यह कहते हें परतु माध्यन्दिन आदि शाखाआक अध्यता वेदिक विद्वानाको अत्यन्त प्राचीन अविच्छिन्न परम्परास सभी विकृतिपाठाका अध्ययनाध्यापन प्रचलित है। कात्यायनीय चरणव्यूह आदि ग्रन्थाक (वारे शास्त्री प्रभृतिद्वारा सम्पादित) प्रामाणिक सस्करणाम विकृतियाका उल्लख हानेके कारण अन्य शाखाआम भी विकृतिपाठ करना अत्यन्त प्रामाणिक है। इसके लिये स्कन्दपुराणक ब्रह्मखण्डम जगत्का आधारभूता वेदात्मिका गौ जटा-घन आदि विकृतियास विभूपित है यह उल्लेख है—

सर्वस्याधारभूताया वत्सधेनुस्त्रयीमयी।
अस्या प्रतिष्ठित विश्व विश्वहेतुश्च या मता॥
ऋक्पृष्ठासौ यजुर्मध्या सामकुक्षिपयोधरा।
इष्टापूर्तविषाणा च साधुसूक्ततनूरुहा॥
शान्तिपुष्टि शकृन्मूत्रा वर्णपादप्रतिष्ठिता।
उपजीव्यमाना जगता पदक्रमजटाघनै ॥

इसके द्वारा चतुर्वेदात्मिका त्रयीवाणी जटा-घन आदि विकृतिपाठासे प्राणियोपर अनुग्रह करती है, यह स्पष्ट निर्देश है। विकृतिपाठ-सम्बन्धी इन वचनाका वैदिक परम्पराम प्रामाणिक माना जाता हे, क्याकि वदसम्मत स्मृतिवचना तथा आचाराका प्रामाण्य मीमासा एव धर्मशास्त्रम सर्वाशत माना गया है।

जटापाठ—इस प्रथम विकृतिपाठम दा पदाको अनुक्रम, व्युत्क्रम तथा सक्रम इस प्रकार तीन बार सन्धिपूर्वक अवसानरहित पढा जाता हे। जैसे—'विष्णो , कर्माणि विष्णोर्विष्णो कर्माणि।' इत्यादि। जटापाठ पञ्चसन्धियुक्त भी होता है। इसम अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम तथा सक्रम—ये पाँच क्रम होने हे। पदाको सख्याके साथ प्रदर्शित करते हुए इसका स्वरूप इस प्रकार है—'विष्णो कर्माणि (अनुक्रम), कर्माणि, कर्माणि (उत्क्रम), कर्माणि विष्णो (व्युत्क्रम), विष्णोर्विष्णो (अभिक्रम) और विष्णो कर्माणि (सक्रम)।'

मालापाठ—इसके दो भेद हैं—पुष्पमाला ओर क्रममाला। अधिक प्रचलित पुष्पमालापाठम जटाकी भाँति ही ताना क्रम पढे जाते हें, किंतु प्रत्येकके बीचम विराम किया जाता है। जैसे—'विष्णो कर्माणि। कर्माणि विष्णा । विष्णो कर्माणि।' इत्यादि।

शिखापाठ—जटापाठके त्रिविध क्रमोंके बाद एक आगेका पद ग्रहण करनेपर शिखापाठ हो जाता है। जैसे—'विष्णो कर्माणि कर्माणि विष्णोर्विष्णो कर्माणि पश्यत।' इत्यादि।

रेखापाठ—इसमे आधी ऋचा अथवा सम्पूर्ण ऋचाके दो पदोका क्रमपाठ, तीन पदोका क्रमपाठ, चार पदाका क्रमपाठ—इस प्रकार क्रमश किया जाता है। इसी प्रकार व्युत्क्रममे भी करनेके बाद सक्रमम दो-दो पदाका ही पाठ होता है। प्रत्येक क्रमके आरम्भम एक पूर्ववर्तिपद छोडते हुए अवसानपूर्वक यह पाठ होता है। जैसे—

ओषधय स। समोषधय। ओषधय स॥
स वदन्ते सोमेन। सोमेन वदन्ते स। स वदन्ते॥
वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। राज्ञा सह सोमेन वदन्ते।
वदन्ते सोमेन॥ सोमेन सह। सह राज्ञा। इत्यादि।

ध्वजपाठ—इसके अन्तर्गत प्रथम दो पदाका क्रम तथा अन्तिम पदोका क्रम, इस प्रकार साथ-साथ आदिसे अन्त और अन्तसे आदितक पाठ होता है। यह एक मन्त्रम अथवा एक वर्गमे आदिसे अन्ततक हा सकता है। जैसे—

ओषधय स। पारयामसीति पारयामसि। स वदन्ते। राजन् पारयामसि। वदन्ते सोमेन। त राजन्। इत्यादि।

दण्डपाठ—अनुक्रमसे दो पदांके पाठके अनन्तर व्युत्क्रमम क्रमश एक-एक पद बढाते हुए पाठ करना दण्डपाठ है। यह विधि अर्धर्च तक चलती है। जैसे—'**ओषधय स। समोधषय। ओषधय स। स वदन्ते॥ वदन्ते समोषधय। ओषधय स। स वदन्ते। वदन्ते सोमेन॥ सोमेन वदन्ते समोषधय।**' इत्यादि।

रथपाठ—इसके तीन भेद हैं—द्विचक्र, त्रिचक्र तथा चतुश्चक्र। द्विचक्र रथ अर्धर्चश होता है। त्रिचक्र रथ समानपद सख्यावाले तीन पदाकी गायत्री छन्दकी ऋचाम ही पादश होता है। चतुश्चक्र रथ भी पादश होता है। त्रिचक्र रथका उदाहरण यह है—

प्रथम अनुक्रम—विष्णो कर्माणि। यता व्रतानि। इन्द्रस्य युज्य।

व्युत्क्रम—कर्माणि विष्णो। व्रतानि यत। युज्य इन्द्रस्य।

द्वितीय अनुक्रम—विष्णो कर्माणि। यतो व्रतानि। इन्द्रस्य युज्य। कर्माणि पश्यत। व्रतानि पस्पशे। युज्य सखा।

व्युत्क्रम—पश्यत कर्माणि विष्णो। पस्पशे व्रतानि यत। सखा युज्य इन्द्रस्य। इत्यादि।

घनपाठ—वैदिक विद्वानामे सर्वाधिक समादृत घनपाठ भी चार प्रकारका ह। घनके दो भेद तथा घनवल्लभके भी दो भेद हैं। घनपाठमे शिखापाठ करके उसका विपर्यास करनेके बाद पुन उन तीन पदाका पाठ किया जाता हे। जैसे—'**ओषधय स समोषधय ओषधय स वदन्ते वदन्ते समोषधय ओषधय स वदन्ते॥**' इत्यादि। घनवल्लभम पञ्चसन्धियुक्त पाठ होता है। अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम और सक्रम—इन पाँच प्रकारकी सन्धियासे युक्त होनेके कारण इसे पञ्चसन्धियुक्त घन भी कहते ह। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

'**पावका न। नो न। न पावका। पावका पावका। पावकान। पावका नो न पावका पावका न सरस्वती सरस्वती न पावका पावका न सरस्वती।**' इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य भी अवान्तर भेद ह जो ज्यात्स्नावृत्ति आदि ग्रन्थासे ज्ञातव्य हे।

उपर्युक्त अष्टविकृतिके प्रकारासे यह स्पष्ट है कि महर्षियाने इन वैज्ञानिक पाठ-प्रकाराके आधारपर वदमन्त्राकी रक्षा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक की तथा इसमे एक भी स्वर-वर्ण अथवा मात्राकी त्रुटि न हो, इसका उपदेश दिया। इन पाठाके कारण आज भी विश्वकी धराहरके रूपम वेद शुद्ध रूपसे प्राप्त हो रह हैं।

[डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र]

जा नित सबमे देखता, चिन्मय श्रीभगवान्।
होता कभी न वह परे हरि-दृगसे विद्वान्॥
ले जाते हरि स्वय आ, उसको निज परधाम।
देते नित्य स्वरूप निज चिदानन्द अभिराम॥

माध्यन्दिनीय यजुर्वेद एव सामवेदकी पाठ-परम्परा

(गोलोकवासी प्रो० डॉ० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, भूतपूर्व वेदविभागाध्यक्ष वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

पूर्वकालम हमारे तप पूत साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-महर्षियाने अनन्त कष्ट सहकर भी जिस महान् वेद-साहित्यकी स्वाध्याय-परम्पराका अक्षुण्ण रखा, उसीका फल है कि आज हम कुछ थोडा-बहुत उस वेदभगवान्का भाग यथावत् सुरक्षित पा रहे है, किंतु आज हमारा समाज अपने धर्मके मूलभूत वेद-साहित्यकी उपेक्षा कर तत्-शाखा-साहित्य (वेदके अङ्ग-उपाङ्ग)-म ही अलबुद्धि मानकर वेद-साहित्यसे प्राय उदासीन हो गया है। सम्प्रति यह सनातन-धर्मका प्राण एव ज्ञान-भण्डार वेद-साहित्य क्षत्रिय, वैश्य तो क्या ब्राह्मण जातिके लिय भी प्राय अज्ञात-सा होकर दिनानुदिन केवल कुछ विशिष्ट स्थान एव पुस्तकालयामे दर्शनीय मात्र अवस्थामे पहुँच रहा है, यदि यही अवस्था रही तो इस धर्ममूल वेद-साहित्यका केवल नाम ही शेष रह जायगा। वर्तमान समयमे इसका पठन-पाठन तो क्या शिक्षिताम उदात्तादि स्वराका एव उनकी हस्तमुद्राआका यथावत् ज्ञान भी लुप्तप्राय होता जा रहा है। अत इस परिस्थितिम द्विजमात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) जा कि इसक अधिकारी हैं और विशेष करके ब्राह्मण-समाजका इस परम्पराकी रक्षा करनेके लिये अङ्गासहित वेदाध्ययनपर अवश्य ध्यान देना एव यत्न करना चाहिये, क्याकि कहा भी गया है—

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।'

तथा—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्य यथाकालमतन्द्रित ।
त ह्यस्याहु पर धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० ४।१४७)

अर्थात् आलस्य-रहित होकर यथासम्भव वेदका प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये, क्याकि यही मुख्य धर्म है, अन्य धर्म तो गोण हैं।

वेदपाठका फल

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयु प्राणं प्रजा पशु कीर्तिं द्रविण ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥
(अथर्ववेद १९।७१।१)

तात्पर्य यह कि यथेच्छ वर देनेवाली वेदवाणी, अपने स्वाध्याय करने (पाठ करने)-वाले द्विजमात्रको पाप (दु ख) रहित करती हुई पूर्ण आयु, रागादि क्लश-रहित जीवन पुत्र-पौत्रादि सतान, कीर्ति (यश), विपुल धन, बल एव तेज आदि इस लाकके सम्पूर्ण सुख देती हुई अन्तमे ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराकर ब्रह्मलाकका अनन्त सुख प्राप्त कराती है।

वेदपाठ-विधि

वेदपाठमे नीचे लिख नियमापर ध्यान रखना चाहिये—

वेदमन्त्रोच्चारणके लिये प्रसन्न-मन एव विनीतभावसे हस्तमुद्रापर दृष्टि रखते हुए चित्रमे दिखाये गय ढगके अनुसार शुद्ध आसनपर स्वस्तिक या पद्मासनसे बैठकर बाये हाथकी मुट्ठीपर दाहिना हाथ रख सब अँगुलियाँ मिलाकर गोकर्णाकृति हाथ रखते हुए बैठना चाहिये।

चित्र स० १

वेदपाठ करनेम न बहुत शीघ्रता करे, न मन्दता करे। शान्तभावसे स्वरको बिना ऊँचा-नीचा किये एक लयसे उच्चारण करे। मन्त्रपाठ आरम्भ करते समय प्रथम 'हरि-ॐ' का उच्चारण करे।

शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखामें उदात्तादि स्वराका हाथसे बोधन कराया जाता है। इन उदात्त, अनुदात्त, स्वरित

आदि स्वराका उच्चारण तथा हस्तमुद्रा दोनो एक साथ रहनी चाहिय। क्योकि लिखा है—

'हस्तभ्रष्ट स्वराद् भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।'

हस्त-स्वरकी वडी महिमा हे इसके ज्ञानक बिना वेद-पाठका यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता। आचार्योने कहा है कि—

ऋचो यजूषि सामानि हस्तहीनानि य पठेत्।
अनृचो ब्राह्मणस्तावद् यावत् स्वार न विन्दति॥

जो दिखावा मात्रके लिये अर्थात् स्वरज्ञानक विना हस्त-स्वरका प्रदर्शन करता है, वह पापका भागी होता है।

हस्तहीन तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजु सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति॥

हाथको ठीक गोकर्णाकृति रखना चाहिये।

उदात्त स्वरका कोई चिह्न नहीं हाता, स्वरितम वर्णक ऊपर खडी रेखा होती हे तथा अनुदात्तम वर्णक नीचे तिरछी रेखा होती है।

उदात्तम हाथ मस्तकतक तथा स्वरितम नासिकाग्र या मुखकी सीधम एव अनुदात्तम हृदयकी सीधम हाथ जाना चाहिये। जात्यादि स्वराम हाथ तिरछा जाना चाहिय। साधारणतया हाथ उदात्तम ऊपर (कन्धेक पास) स्वरितम मध्यम तथा अनुदात्तम नीचे रहना चाहिये।

माध्यन्दिनीय यजुर्वेदमे वर्णोच्चारण-सम्बन्धी कुछ नियम

१-'ऋ' कारका उच्चारण 'र' कारके समान करना चाहिये।

२-अनुस्वारके भेद—

१-जहाँपर 'ꣳ' यह चिह्न हो, वहाँपर लघु (एकमात्रिक) अनुस्वार जानना चाहिये।

२-उपर्युक्त चिह्नके बाद यदि सयाग (सयुक्त वण) हो तो गुरु जानना चाहिये।

३-'ꣴ' चिह्न हो ता वह भी दीर्घसज्ञक ह।

उपर्युक्त चिह्नित अनुस्वारका उच्चारण 'गु' इस ध्वनिसे (लघु या दीर्घानुसार) होना चाहिये, 'ग्व' रूपसे नहीं।

४-विसर्गका उच्चारण हकारके समान हाता हे, पर इसको हकार नहीं मानना चाहिये। यथा—

'दे॒वो व॑ – सविता' हकारक समान उच्चारण होगा।
'दे॒वी ' हिकारके समान उच्चारण हागा।
'आ॒खुस्त॑ पशु ' हुकारके समान उच्चारण होगा।
'अग्ने ' हकारके समान उच्चारण हागा।
'बा॒ह्वो ' होकारके समान उच्चारण होगा।
'स्वै ' हिकारके समान उच्चारण होगा।
'द्यौ ' हुकारके समान उच्चारण होगा।

५-'रग' अर्थात् अर्धानुस्वारके दो भेद हैं, यथा—

'शत्रूँ १॥', 'लोकाँ २॥' (इसम ह्रस्व या दीर्घ रगका उच्चारण पूर्वस्वरके साथ सानुनासिक होता हे)।

६-जहाँ दो स्वरके मध्य 'ऽ' चिह्न हो वहाँ एक मात्रा काल विराम होता हे।

७-जहाँ यकारके पेटम तिरछी रखा (य़) हो वहाँ जकारके समान उमका उच्चारण होता है।

८-हल् रकारका उच्चारण—

श ष आर ह वर्णकि पूर्वके हल् रकारको 'रे' उच्चारण करना।

९-मूधन्य षकारका उच्चारण—

यदि ट वर्ग= (ट ठ ड ढ ण)-से युक्त न हो तो क-वर्गीय 'ख'कारक समान उच्चारण हाता है।

१०-ज्ञकारका उच्चारण 'ज्ञ'=('ज् ञ')—मिश्रितके समान होना चाहिये, महाराष्ट्रीय सम्प्रदायम 'ग्न्य' भी कहा जाता हैं।

माध्यन्दिनीय यजुर्वेदमे प्रयुक्त विशेष चिह्न—

उदात्त—चिह्नरहित हाता है—क
स्वरित—वर्णक ऊपर खडी रेखा—क॑
अनुदात्त—वर्णक नाचे तिरछी रेखा—ख॒
अनुस्वार ह्रस्व—ꣳ
अनुस्वार दीर्घ याꣴ,ꣴ
विसर्ग उदात्तके आगे— ?
विसर्ग अनुदात्तक आग— ९
मध्यावर्ती स्वरित—L या ४
अर्धन्युब्ज तथा पूर्णन्युब्ज— ॰

उदात्तादि स्वरोकी मुद्राओका विवरण

उदात्तस्वरके दो भद—

उदात्तस्वरक मुख्य रूपसे दा भेद ह 'ऊर्ध्वगामी' और 'वामगामी' उदात्तवर्णका परिचायक कोई चिह्न नहीं होता।

प्रथम—

(क) स्वरित (ऊर्ध्व रखा-चिह्नित) वर्णसे पूर्व जा वर्ण चिह्नरहित हो तो हाथ ऊपर जायगा।

उदाहरण—'आहमजानि' (रुद्री १ । १)

चित्र स० २

(ख) न्युब्ज चिह्नवाले स्वरितसे आगे और ऊर्ध्व रेखायुक्त स्वरितसे पूर्व जो वर्ण चिह्नरहित हो तो हाथ ऊपर जायगा।

उदाहरण—'बृहत्युष्णिहा' (रुद्री १ । २)

द्वितीय—

वामगामी उदात्तके तीन अवान्तर भेद—

(क) दो अनुदात्ताके मध्यमे उदात्त (चिह्नरहित वर्ण) हो तो हाथ अपनी बाँयी आर जायगा।

उदाहरण—'गायत्री त्रिष्टुब्ज०' (रुद्री १ । २)
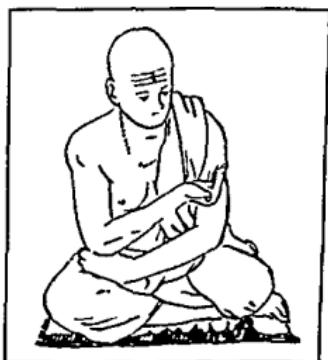
(ख) वामगामी उदात्त—

चित्र स० ३

मन्त्रके मध्यके निश्चित अवसान या समाप्तिके अवसानके चिह्नरहित वर्ण यदि अनुदात्तसे परे तथा अग्रिम मन्त्राश अनुदात्तसे प्रारम्भ हा ता हाथ बायीं तरफ जायगा।

उदाहरण—'गर्भधम्' (रुद्री १ । १)

(ग) वामगामी उदात्त—

मन्त्रारम्भका वर्ण जो अनुदात्त चिह्न (नीचे तिरछी रेखा)-से पूर्व हा तो हाथ बाँयी ओर जायगा।

उदाहरण—'य एतावन्तश्च' (रुद्री ५ । ६३)

इस प्रकार दो प्रकारका ऊर्ध्वगामी और तीन प्रकारका वामगामी उदात्त स्वर होता है, इसके ऊपर या नीचे कोई चिह्न नहीं रहता।

अनुदात्तके पाँच भेद

अनुदात्त स्वरके नीचे तिरछी रेखा (क इस प्रकार) रहती है। अनुदात्त स्वरके पाँच भेद हैं। यथा—१-निम्नगामी, २-अन्त्यदर्शी, ३-दक्षगामी, ४-अन्तर्गामी और ५-तिर्यग्दर्शी। इनका विवरण—

१-निम्नगामी अनुदात्त—'अनुदात्त, उदात्त और स्वरित'—इस क्रमसे वर्ण हा तो अनुदात्त चिह्नम हाथ नीचे जायगा।

उदाहरण—'गणानान्त्वा' (रुद्री १ । १)
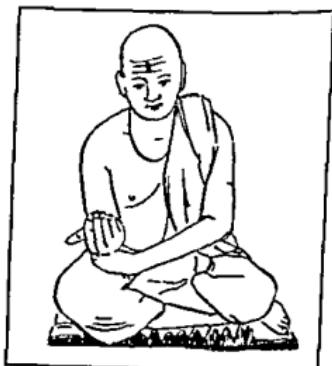
चित्र स० ४

२-अन्त्यदर्शी अनुदात्त—अनेक अनुदात्त स्वर (निम्न रेखावाले) हा तो अन्तिम अनुदात्तम हाथ नीचे जायगा।

उदाहरण—'यलविज्ञाय स्थविर' (रुद्री ३ । ५)

[निम्नगामी एव अन्त्यदर्शी—इन दोना अनुदात्ताका चित्र-स० ४ म ही अन्तर्भाव है।]

चित्र स० ५

३-दक्षगामी अनुदात्त—'अनुदात्त, उदात्त और अनुदात्त', इस क्रमसे स्वर हो तो प्रथम अनुदात्तम हाथ दाहिनी ओर जायगा।

उदाहरण—'**पुङ्क्त्या सुह**' (रुद्री १।२)

४-अन्तर्गामी अनुदात्त—यदि मध्यावर्ती स्वर (जिस स्वरके नीचे चार '४' अक अथवा 'L' यह चिह्न हो वह 'मध्यावर्ती' कहा जाता है)-से अव्यवहित पूर्व अनुदात्त स्वर हो ता हाथ पटकी तरफ घूम जायगा।

उदाहरण—'**च व्युप्तकेशाय**' (रुद्री ५।२९)

चित्र स० ६

५-तिर्यग्दर्शी अनुदात्त—यदि अनुदात्तसे पर 'न्युब्ज' चिह्न (ᵕ) हो तो अनुदात्तमे हाथ पिण्डदानक समान दाहिनी ओर झुकगा।

उदाहरण—'**बृहत्युष्णिहा**' (रुद्री १।२)

चित्र स० ७

स्वरितके पाँच भेद

स्वरित स्वरके निम्नलिखित पाँच भेद हाते ह—१-मध्यपाती २-मध्यदर्शी, ३-मध्यावर्ती ४-पूर्णन्युब्ज और ५-अर्धन्युब्ज। इसका मुख्य चिह्न (ˈ) वर्णके ऊपर खडी रेखा हाती है।

१-मध्यपाती स्वरित

जहाँ स्वरित चिह्न (ˈ खडी रेखा) हो, वहाँपर हाथ मध्यम (हृदयकी सीधम) जाता है।

उदाहरण—'**गुणानान्त्वा**' (रुद्री १।१)

चित्र स० ८

२-मध्यदर्शी स्वरित—स्वरित वर्णके वाद विना चिह्नके वर्ण 'प्रचय' सज्ञक हाते ह आर वे स्वरितके स्थानम ही दिखाय जाते ह इनपर काई चिह्न नही हाता।

उदाहरण—'**गणपति ६ हवामहे**' (रुद्री १।१)

३-मध्यावर्ती स्वरित—(चिह्न 'L' या '४' वर्णक नीच हाता है) जिस पदम वणके नीच 'L' अथवा '४' यह चिह्न हा उसक पूर्वम अनुदात्त चिह्न अवश्य रहगा। वहाँ हाथ

छातीके सामने रहकर अनुदात्त चिह्नम भीतरकी आर घूमेगा और मध्यावर्ती स्वरित चिह्नम पूरा घुमाव करके वाहर आयगा।

उदाहरण—'च व्युप्तकशाय' (रुद्री ५।२९)

४-पूर्णन्युब्ज त्वरित—(चिह्न '॒' यह है) अनुदात्त स्वरसे आगे वर्णक नीचे '॒' यह चिह्न हा तथा उसके आग अचिह्न वणक बाद 'मध्यपाती' स्वरित चिह्न '॑' हा ता न्युब्जबाधी चिह्न '॒' म हाथ नीचकी ओर उलटा किया जायगा।

उदाहरण—'बृहुत्युष्णिहा' (रुद्री १।२)

चित्र स० ९

५-अर्धन्युब्ज स्वरित—(चिह्न ॒) अनुदात्त चिह्नक आगे '॒' यह चिह्न हा आर उसक आग अचिह्न वर्णक बाद अनुदात्त चिह्न हा ता न्युब्ज-वाधा चिह्नम हाथ दाहिनी आर उलट जायगा।

उदाहरण—'रुश्मी न रुश्मीन्' (रुद्री १।४)
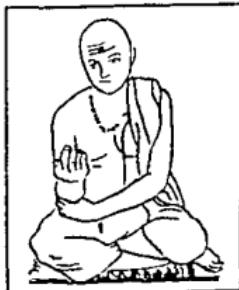
चित्र स० १०

विशप—'न्युब्ज' चिह्नम अग्रिम स्वराक सहयागस हाथ नाच या दाहिना आर जाता ह। (१) अधागामा पूर्णन्युब्जक उदाहरणक अनुदात्तम नीचकी आर पिण्डदानक समान हाथ झुकगा। (२) दक्षगामी अर्धन्युब्जक उदाहरणके अनुदात्तम हाथ दाहिनी आर जाकर पिण्डदानक समान झुकेगा।

विसर्गकी हस्तमुद्राएँ—

विसर्गम ये तीन चिह्न होते ह—

१-विसर्ग—[क] जहाँ विसगके मध्यकी रखा ऊपरका आर अकित हा आर ऊर्ध्वगामी उदात्त हा तो वहाँपर तर्जनी अँगुली ऊपरकी आर करना।

उदाहरण—'आुशु ः शिशानो' (रुद्री ३।१)
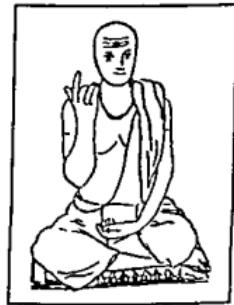
चित्र स० ११ (क)

[ख] आर यही विसर्ग यदि वामगामी उदात्तके बाद हा तो वाया आर हाथ रखते हुए तर्जनी अँगुली बाहर निकालना।

उदाहरण—'सहस्राक्ष ः' (रुद्री २।१)

चित्र स० ११ (ख)

२-विसग—जहाँ विसर्गक मध्यम तिरछी रखा हा वहाँपर कनिष्ठा आर तजनीका साधी रखत हुए मध्यमा और अनामिकाका हथलीकी तरफ माडना।

उदाहरण—'सूचीभिं-' (रुद्री १।२)

चित्र स० १२

३-विसर्ग—जहाँपर विसर्गके मध्यकी रेखा नीचेकी आर हो, वहाँपर कनिष्ठा अँगुलीको नीचेकी ओर करना।

उदाहरण—'**पुरुष९**' (रुद्री २।१)

चित्र स० १३

अनुस्वारकी मुद्राके दो भेद—

१-अनुस्वार—जहाँ अनुस्वारको '**ꣳ**' इस रूपम दिखाया गया हो, वह एकमात्रिक या लघु है, वहाँ तर्जनी अँगूठा मिलाना चाहिये।

उदाहरण—'**छन्दाꣳसि**' (रुद्री २।७)

चित्र स० १४

२-अनुस्वार जहाँपर '**ꣴ**' इस रूपम दिखाया गया हो वहाँपर केवल तर्जनी सीधी करके दिखाना चाहिये।

उदाहरण—'**सभूमिꣴ**' (रुद्री २।१)

चित्र स० १५

अन्तिम हल् वर्णोकी हस्तमुद्राके पाँच भेद

१-अवसान मन्त्रार्ध या मन्त्रान्त पदपाठम पदान्तम हल् 'क्, ट्, ङ्, ण्' हो ता तर्जनीका झुकाकर दिखाना चाहिये।

उदाहरण—पदपाठम—'**भिषक्, सम्राट्, प्राङ्, वृषण्**'

चित्र स० १६

२-अवसानम हल् 'त्' हो तो तर्जनीको अँगूठेसे मिलाकर कुण्डलको आकृति करना।

उदाहरण—'**सहस्रपात्**' (रुद्री २।१)

चित्र स० १७

३-अवसानमे हल् 'न्' हो तो तर्जनीके बगलसे अँगूठाके नखका स्पर्श करना।

उदाहरण—'रुश्मीन्' (रुद्री १।४)

चित्र सं० १८

४-अवसानके हल् 'म्' मे मुट्ठी बाँधकर दिखाना।

उदाहरण—'गर्भधम्।' (रुद्री १।१)

चित्र सं० १९

५-अवसानके हल् 'प्' मे पाँचो अँगुली मिलाना।

उदाहरण—पदपाठमे 'ककुप्'

चित्र सं० २०

वर्जित हस्तमुद्रा

आजकल प्राय देखा जाता है कि अधिकतर स्वरसञ्चालन शिक्षारहित कर्मठवृन्द मिथ्या-रूपाकृतियुक्त हस्तमुद्राका प्रदर्शन करते हैं अत ये कम-से-कम शुद्धरूपसे हस्तमुद्राके स्वरूपका ज्ञान होनेमे सहायक हो, इसलिये वर्जित हस्तमुद्राके स्वरूप भी बतलाये जाते हैं। जैसा कि शास्त्रमे उल्लेख है—

चुलुर्नौका स्फुटो दण्ड स्वस्तिको मुष्टिकाकृति।
परशुर्हस्तदाषा स्युस्तथाङ्गुल्या प्रदर्शनम्॥
(सम्प्रदायप्रबोधिनी शिक्षा)

१-चुलु (चुल्लू—आचमनमुद्रा)
२-नौका (नौकाके समान हाथ)
३-स्फुट (सीधा हाथ)
४-दण्ड (चपेटाके समान हाथ)
५-स्वस्तिक (अभय मुद्रा)
६-मुष्टिक (मुट्ठी बन्द हाथ)
७-परशु (फरसे-जैसा हाथ)
८-तर्जन (अँगुलीसे स्वरप्रदर्शन)

—इन ऊपर लिखे विवरणके अनुसार नीचे क्रमिकरूपसे हस्तदोषके चित्र दिखाये जाते हैं—

हस्तदोष १-चुलु

हस्तदोष २-नौका

हस्तदोष ३–स्फुट

हस्तदोष ४–दण्ड

हस्तदोष ५–स्वस्तिक

हस्तदोष ६–मुष्टिक

हस्तदोष ७–परशु

हस्तदोष ८–तर्जन

सामगानकी संक्षिप्त विधि

सामवेद संहिताके दो भाग हैं—प्रथम भाग आर्चिक या 'पूर्वार्चिक' है दूसरा 'उत्तरार्चिक' है। दोनोंमें मन्त्र-संख्या १,८१० है। यदि एक ही मन्त्र जो कि दो बार आया है, उसको छोड़ दें तो केवल १,५४९ ही मन्त्र हैं। सब मन्त्र ऋग्वेदके हैं, उनमें ७५ स्वतन्त्र हैं। पूर्वार्चिकमें ५८५ ऋचायें हैं। इसके बाद एक आरण्यकाण्ड है, उसमें ५५ मन्त्र हैं। उसके बाद 'महानाम्नी आर्चिक' है, तत्पश्चात् 'उत्तरार्चिक' है उसमें १,२३५ मन्त्र हैं।

सामका अर्थ है 'गान' या 'संगीत'। '**ऋचि अध्यूढं साम गीयते।**' ऋचाके आधारपर ही सामका गान होता है। उत्तरार्चिकमें प्रायः ४०० 'प्रगाथ' अर्थात् गेय सूक्त हैं। पूर्वार्चिकमें अग्नि, इन्द्र, सोम देवताओंकी ऋचाएँ हैं। इनमें ग्रामगेय (जो ग्राममें गाये जायँ) और आरण्यगेय (जो वनमें गाये जायँ)-का वर्णन है। आरण्यगेयको 'रहस्यगेय' भी कहते हैं।

दो ऋचाओंके समूहको 'प्रगाथ' कहते हैं। ऊहगान—ग्रामगेयके तथा ऊह्यगान—आरण्यगेयके विकृति-गान कहे जाते हैं। सामवेद आर्चिकमें स्वर उदात्त[१] अनुदात्त[३] और स्वरित[२] के अङ्कसे दिखाये जाते हैं। दो अनुदात्त (३) चिह्नोंके मध्यमें रहनेवाला उदात्त (२) अङ्कसे दिखाया जाता है तथा आकारको सामवेदी 'उद्गीथ' कहते हैं। इन गानोंमें अक्षरोंके ऊपर—१, २, ३, ४ ५—इन अङ्कोंसे संगीतके स्वरोंका निर्देश किया जाता है। प्रायः मन्त्रोंमें ५ ही स्वर लगते हैं। कुछ थोड़ी ऋचाओंमें ७ तक भी स्वर लगते हैं। इन सात स्वरोंका वंशीके ७ स्वरोंसे इस प्रकार सम्बन्ध है—

१-(म) मध्यम	२-(ग) गान्धार
३-(र) ऋषभ	४-(स) षड्ज
५-(नी) निषाद	६-(ध) धैवत
७-(प) पञ्चम	

इन्हीं स्वरोंके अनुसार उद्गाता लोग यज्ञोंमें सामगान करते हैं।

स्तोभ—ऋचामें जो वर्ण नहीं हैं उन्हें आलापके लिये जोड़कर गान करना ही 'स्तोभ' कहलाता है। स्तोभ अनेक हैं। यथा—'**औ हो वा। हा उ। ए हाऊ। होयि। औंहोइ। ओहाइ**' आदि।

अनेक ऋषियोंने मन्त्रोंका अपने ढंगसे या लयसे गान किया वे गातियाँ उन्हींके नामसे प्रसिद्ध हुईं। जैसे—वामदेव्य, माधुछन्दस, श्यैत, नौधस आदि इनके अनेक नाम हैं। सामगानका उदाहरण—

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥५९४॥

इस ऋचाके सामगानका विस्तार—

२र २र २र १र र २ १
हाउ हाउ हाउ सेतूं॰ स्तर। (त्रि)। दुस्त। रान् (द्वे त्रि)

१र२१र र २
दानेनादानम्। (त्रि)।

२र २र २र र र १ १ १ १ १ १
हाउ हाउ हाउ। अहमस्मिप्रथमाजाऋताऽ २ ३ स्या २ ३ ४ ५॥

२र २र १र २ १
हाउ हाउ सेतूः स्तर। (त्रि) दुस्त। रान्। (द्वे त्रि)।

१ र २र १र २ १ र २र १र २र २र
अक्रोधेनक्रोधम् (द्वि) अक्रोधेनक्रोधम्। हाउ हाउ

२र र र र र १ १ १ १ १ १
हाउ। पूर्वं देवेभ्या अमृतस्यनाऽ२३ मा २ ३ ४ ५॥

२र २र २र १र २ १
हाउ हाउ हाउ। सेतूं॰ स्तर। (त्रि)। दुस्त। रान्। (द्वे त्रि)।

२ १ र २ र
श्रद्धयाऽश्रद्धाम्। (त्रि)।

२र २र २र र र र र १ २ १ १ १ १
हाउ हाउ हाउ। यामा ददाति सईदेवमाऽ २ ३ वा २ ३ ४ ५ त्॥

२र २र २र १र र २
हाउ हाउ हाउ। सेतूं॰ स्तर। (त्रि)।

१ २ १ र २ २र २र २र
दुस्त। रान् (द्वे त्रि)। सत्येनानृतम्। (त्रि)। हाउ हाउ हाउ।

२ १ २ १ १ १ १ २र २र २र
अहमन्नमन्नमदन्तमाऽ २ ३ चोर ३ ४ ५। हाउ हाउ हाउ वा॥

२र१र
एपागति। (त्रि)।

२र१२१ १ २ १र २
एतदमृतम्। (त्र)। स्वर्गच्छ। (त्रि)। ज्यातिर्गच्छ। (त्रि)।

१र र र २१ १ १ १ १
सेतूं॰ स्तार्त्वा चतुरा २ ३ ४ ५॥

किसी भी मन्त्रका सामगानमें गानके उपयुक्त करनेके लिये नीचे लिखे आठ प्रकारके विकारोंका भी प्रयोग किया जाता है—

स० सज्ञा	विवरण उदाहरण
१-विकार—एक वर्णके स्थानमे दूसरा बालना	'अग्ने-ओग्नायि'
२-विश्लेष—सन्धिका विच्छेद करना	'वीतये-वोयि तोया २ यि'
३-विकर्षण—लम्बा खींचना	'ये-या २३ यि'
४-अभ्यास—बार-बार उच्चारण करना	तो या २ यि, तोया २ यि'
५-विराम—पदके मध्यमे भी ठहरना—	'गृणानो हाव्यदातये-गृणानोहा व्यदातये'
६-स्तोभ—निरर्थक वर्णका प्रयाग	'औ हो वा, हा उ, हावु
७-आगम—अधिक वर्ण-प्रयाग	'वरेण्यम्-वरणियोम्'
८-लोप—वर्णका उच्चारण न करना	'प्रचोदयात्-प्रचोऽ१२ऽ१२। हुम्।आ २।दायो।आ ३४५

नीचे लिखे मन्त्रम इन आठ विकाराके उदाहरण देखिये। मूल-मन्त्र ऋग्वेदम इस प्रकार है—

अग्न॒ आया॑हि वी॒तये॑ गृ॒णा॒नो ह॒व्यदा॑तये। निहोता॑ सत्सि ब॒र्हिषि॑॥

(ऋग्वेद ६।१६।१०)

सामगानके प्रयागम यही मन्त्र—

१ ४ २र र १ १
ओ।ओऽग्नाई॥आयाहिऽ३ वोइतोयाऽ२इ।तोयाऽ२इ गृणानोह।

१ १ १ २र १
व्यदातोयाऽ२इ। तोयाऽ २ इ॥ नाइहोता साऽ २ ३॥

५ र र ३ ५
त्साऽ२इबा २३४ औहोवा। ही ऽ२३४ षी

इस प्रकार सक्षेपमे सामगानकी रूपरेखा दिखायी गयी है।

ऋक् तथा यजुर्वेदमे उदात्त, अनुदात्त ओर स्वरित इनमसे उदात्तको चिह्नरहित रूपसे और अनुदात्तको वर्णके नीचे तिरछी रखा तथा स्वरितवर्णको ऊपर खडी रेखास अकित किया जाता है। किंतु सामवदम यही मन्त्र सहिताम इस प्रकार लिखा जाता है—

२ १ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥

(सामवेद ६६०)

सामगानके विशेष चिह्न

१-सामवेदम कहीं-कहीं वर्णोपर 'र' 'क' ओर 'उ'-के चिह्न देखे जाते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जब दो उदात्त एकत्र हो जाते ह, तब पहल उदात्तक ऊपर[१] का अङ्क लगता है और दूसरा बिना चिह्नके ही रहता है। परन्तु इस दूसरे उदात्तके आगेवालेपर रकार सहित[२] का अङ्क लगगा।

२-अनुदात्तक बादके स्वरितपर भी '२र' यही चिह्न होता है, किंतु तब स्वरितके पहले अनुदात्तपर '३क' यह चिह्न हाता है।

३-यदि दो उदात्त सनिकृष्ट हा और बादम अनुदात्त स्वर हो तो प्रथम उदात्तके ऊपर '२उ' यह चिह्न दिया जाता है और दूसरा स्वर चिह्नरहित होता है।

वेदपाठकी रक्षा एव आवश्यकता

वेदपाठके सम्बन्धमे हमारे धार्मिक कृत्य (कर्मकाण्ड)-म यजुर्वेदकी हस्तस्वर-प्रक्रिया और सामवेदकी गान-शैली—ये दाना प्रकार ही आजकल अति कठिन होनके कारण दिन-प्रतिदिन क्षीण होते जा रहे हैं। सम्प्रति इस कठिन समयम सर्वसाधारणको बड-बडे यज्ञ-यागादि देखनका अवसर ही यदा-कदा प्राप्त हाता है और कभी कदाचित् यदि देखते भी ह तो उनके लिये एक खल-सा ही रहता है। इसीलिये इस आजीविकासे जीवनयापन करनेवाले हमारे पूज्य कर्मठ याज्ञिकवृन्द भी इस अति आवश्यक शिक्षा-ग्रहणमे शिथिल होते जा रहे हैं। अत सर्वसाधारण चाह स्वय यथावत् शिक्षा ग्रहण न भी कर तो भी अपनी अमूल्य निधिका ज्ञान तो कम-से-कम होनी चाहिये, क्योकि वेदोच्चारणका यह आर्ष प्रकार है। यद्यपि वर्तमानमे बहुत श्रद्धालु नहीं हैं, जा इस कठिन परिपाटीमे पडना पसन्द कर पर सनातनधर्म महान् है, आज भी श्रद्धालुआकी कमी नहीं है। क्या बिना श्रद्धाके ही बदरी, केदार आदिकी महाकठिन एव अति व्ययसाध्य यात्रा प्रतिवर्ष लाखा मनुष्याद्वारा होना सम्भव हे? इसी प्रकार कुम्भ आदि पर्वपर पचासो लाख जनसमूहका समवेत होना भी इसका प्रमाण हे तथा दूसरा प्रयोजन यह भी है कि इस शिक्षाकी इच्छावाला विद्यार्थी गुरूपदिष्ट शिक्षाको इसकी सहायतासे सहजम हृदयङ्गम करता हुआ अभ्यास कर सके। इसके पाठक आर विद्यार्थी दानाको ही सरलता हागी, पाठका बारम्बार आलोडनके परिश्रमसे मुक्ति मिलेगी और विद्यार्थी इसक द्वारा अपने विस्मृत स्वरका ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। वदसाहित्य-विषयक ज्ञातव्य विषय तो महान् है, किंतु नित्य-नैमित्तिक ओर काम्य कर्म तथा देवपूजा आदिम व्यवहृत हानेवाले वेदमन्त्राका यथाविधि पाठ करनेका इच्छावाल श्रद्धालु धार्मिकाक लिये यह एक सरणि या दिग्दर्शन है।

हम चाहते यही है कि शिक्षाप्राप्त वेदपाठीका यथायाग्य सत्कार हा आर धार्मिक जनाका धमकी प्राप्ति हा। वदपाठक विषयम यह सर्वजन-विदित हे कि उपनीत द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य)-मात्र इसके अधिकारी हे, द्विजमात्रका यह परम धर्म है अत वेदज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

~~~~
~~~~

वेदोकी नित्यता

नित्य-पदार्थ दो प्रकारके होते हैं। एक अपरिणामी नित्य, जिसके स्वरूप अथवा गुणमे कोई परिवर्तन नहीं होता और दूसरा प्रवाह-नित्य, जो लाखो हेर-फेर होनेपर भी सदा रहता है। पहलेका उदाहरण परमात्मा है ओर दूसरेका उदाहरण प्रकृति अथवा जगत्। जगत् किसी-न-किसी रूपमे सर्वदा रहता है, चाहे उसमे लाखो हेर-फेर हुआ करे। सृष्टिके प्रारम्भम भी वह प्रकृति अथवा परमाणुके रूपम विद्यमान रहता है, अतएव वह प्रवाह-नित्य है। पर उसे अनित्य इसलिये कहते हैं कि उसका परिणाम होता है अथवा वह प्रकृति अथवा परमाणुका कार्य है, पर कारण-रूपसे नित्य है।

वेद शब्दमय हैं। न्याय और वैशेपिकके मतमे शब्द कार्य तथा अनित्य हैं, कितु वे भी मन्वन्तर अथवा युगान्तरमे गुरु-शिष्य-परम्परासे उनका पठन-पाठन स्वीकार कर उन्ह नित्य बना देते हैं। परमेश्वर प्रत्येक कल्पमे वेदाको स्मरण कर उन्हींको प्रकटित करते हें, वे वेद बनाते नहीं।

'ऋच सामानि जज्ञिरे। छन्दा:सि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' (यजुर्वेद ३१। ७)

इस मन्त्रने वेदाको ईश्वरकृत नहीं माना है, प्रत्युत उनको वेदोका प्रादुर्भाव-कर्ता माना है। वे उनके द्वारा प्रकटित हुए, इसीसे ईश्वरकृत कहलाते है। जैसे ईश्वर नित्य हें, वैसे ही उनके ज्ञान वेद भी नित्य हैं। वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है। जेसे माता-पिता अपनी सतानको शिक्षा देते ह वेसे ही जगत्के माता-पिता परमात्मा सृष्टिक आदिम मनुष्याको वैदिक शिक्षा प्रदान करते हैं, जिससे वे भलीभाँति अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह कर सक।

मीमासाकार जेमिनि तथा व्याकरण-तत्त्वज्ञ पतञ्जलिने शब्दाको नित्य सिद्ध करनेक लिये कई युक्तियाँ लिखी हैं। उनसे शब्दमय वदाकी नित्यता प्रतिपादित होती है। हम उनकी चर्चा न कर विद्वानाका ध्यान फानाग्राफ तथा रेडियाका आर आकृष्ट करते हैं जिनक द्वारा दूसराक शब्द ज्या-के-त्या सुन लेनपर किसीका यह सदह नहीं हा सकता कि शब्द अनित्य हैं।

वेदाम स्थाना, मनुष्या तथा नदियाके नाम मिलते हैं, जिनका वर्णन वर्तमान भूगोल तथा इतिहासम भी प्राप्त होता है। इससे वेद वर्तमान भूगोल-स्थान तथा ऐतिहासिक पुरुषोंके समयके बाद रचित हैं। अत वे नित्य नहीं हो सकते, यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि वेदोंमें रूढिवाले शब्द नहीं, जिनके द्वारा स्थान, नदी तथा राज्य और ऋषिके नाम दिखाकर कोई उनकी नित्यताका खण्डन करे। वैदिक शब्द व्याकरण—निरुक्तके अनुसार सामान्य अर्थोंको कहते हैं—

'पर तु श्रुतिसामान्यम्।' (जैमिनि-सूत्र १। १। ३१)

वेदाम लोक-प्रसिद्ध इतिहास अथवा भूगोलका वर्णन उपलब्ध नहीं होता। वे त्रिकाल-सिद्ध पदार्थ—ज्ञान तथा शिक्षाआके भडार हैं। उनसे लोक-परलोक दोनाका बोध होता है। वेदोंके वाच्य अर्थ तीनों कालाम एक-समान होते हैं। उनमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। लोग उनके ध्वनि-रूप अर्थोंसे इतिहास अथवा भविष्यत्कथाके अस्तित्वकी कल्पना करते हैं। उनस नित्यताकी हानि नहीं होती। वेदाङ्ग, निरुक्त और व्याकरण उनके वाच्य अर्थ बतलाते हैं। उनम कहीं इतिहास आदि नहीं है। ध्वनि-बलसे जो मन्त्रोंके विविध अर्थ प्रकाशित होते हैं, उनकी चर्चा निरुक्तकार यास्क महर्षिने 'इति याज्ञिका, इति ऐतिह्यम्' इत्यादि रूपसे की है। वे अर्थ सर्वमान्य नहीं कितु यह ईश्वरीय ज्ञानका चमत्कार ही है कि एक ही शब्दम कितने अर्थ भरे हुए हैं कि समय पाकर उनसे इतिहास-भूगालका तत्त्व भी ज्ञात होता रहता है। वेद महत्त्वके ग्रन्थ हैं। जो ईश्वरको नहीं मानते, वे भी वेदाको नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि कोई निरपेक्ष विद्वान् वेदाको किसीका बनाया हुआ नहीं कहते। वे पौरुषेय नहीं—

'न पौरुषेयत्व तत्कर्तु पुरुषस्याभावात्।' (साङ्ख्यसूत्र)

उपनिपदाका सिद्धान्त है कि मनुष्य जिस प्रकार अपने श्वासाको उत्पन्न नहीं करता पर उसका स्वामी कहलाता है, वैसे ही ब्रह्म भी वदाकी अध्यक्षता करते हैं, क्योंकि

उनमे एक ब्रह्मकी ही विचारधारा है।

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ।' (बृहदारण्यक २। ४। १०)

इसपर कुछ लोग सदेह करते हैं कि निराकार ब्रह्म शब्द-रूपमे अपनी विचारधारा कैसे प्रकट करते हैं ? यह बात बडी तुच्छ है। जिन्होने निराकार होकर साकार जगत् बनाया, वे क्या नहीं कर सकते! योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षुने लिखा है कि परमात्मा कभी-कभी करुणामय शरीर धारण कर लेते हैं—

'अद्भुतशरीरो देवो भावग्राह्य ।'

(योगवार्तिक)

यदि वेद नित्य हैं तो ब्रह्म तथा ऋषि-महर्षियाके नामसे उनकी प्रसिद्धि क्या हुई? इस प्रश्नका उत्तर निरुक्त तथा मीमासादर्शनने दिया है कि ऋषियोने उनकी व्याख्या भी लोगाको समझायी है, उनका प्रवचन भी किया है। यही कारण है कि लोग उनके नामसे वेदाको प्रसिद्ध करते हैं—

'आख्या प्रवचनात्।'

(जैमिनि १। १। ३०)

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ।'

(यास्क)

सृष्टिके आदिमे परमेश्वरने चारो वेद ब्रह्माको एव एक-एक वेद अग्नि, वायु, रवि तथा अथर्वाको सिखलाया—

'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं
यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।'

(श्वेताश्वतर उप० ६। १८)

'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद सूर्यात् सामवेद ।'

(शतपथ)

'अथर्वाङ्गिरस ।'

(गोपथ)

यदि वे एक साथ चाराकी शिक्षा ब्रह्माको नहीं देते तो लोग कह सकते थे कि वेदको अग्नि आदिने बनाया और भगवान्के नामसे प्रसिद्ध किया। जो वद ब्रह्माको प्राप्त थे, वे ही अग्नि आदि महर्षियाको मिले। इसीसे किसाको यह कहनेका अवसर नहीं मिल सकता कि उन्हाने ईश्वरके नामसे मनगढत बात लोगाको समझायीं। किसी-किसीका यह कहना है कि वेदाके भिन्न-भिन्न भागाम भिन्न-भिन्न प्रकारकी भाषा है जिससे अनुमान करना पडता है कि वे विविध समयाम बनाये गये हैं। किंतु यह तर्क बडा तुच्छ है, क्योकि एक ही सम्पादक अग्रलेख, टिप्पणी तथा समाचारोकी भाषा भिन्न-भिन्न प्रकारकी अपने समाचार-पत्रमे रखता है। तब विद्यानिधि सर्वज्ञ ब्रह्म अपने ज्ञानको कठिन तथा सरल भाषाम क्यो नहीं प्रकाशित कर सकते। उनके लिये क्या दो-चार शैलियोकी भाषाएँ प्रकट करना कठिन कार्य है ?

सृष्टिके आदिम कोई भाषा नहीं थी। इसलिये परमात्माने अपनी मनचाही बोलीम शिक्षा दी, जो परमात्माकी भाषा देववाणी कहलाती है। उन्हाने उसीके द्वारा लोगाको बोलना सिखलाया। माता-पिता अपने बच्चाको पानी शब्दका उच्चारण करना बतलाते हैं। उन्होने अशुद्ध उच्चारणके द्वारा अपभ्रश भाषा उत्पन्न की। उसे शुद्ध कर जो बोलने लगे, वे अपनी भाषाको सस्कृत—सुधारी हुई कहते थे। सुधारी हुई भाषाके लिय सस्कृत शब्द वाल्मीकिजीकी रामायणके पहले किसी साहित्यम नहीं मिलता। प्राचीन साहित्यमे वैदिक भाषा और विषय दोनाके लिये वेद, छन्द तथा श्रुति शब्द व्यवहृत होते थे। लौकिक भाषाके लिये केवल भाषा (सस्कृत) शब्द प्रयुक्त होता था। लौकिक सस्कृतसे वेद-वाणीकी कई अशाम एकता है, पर उनके व्याकरण, नियम और कोष भिन्न हैं—यद्यपि सस्कृतकी उत्पत्ति वद-वाणीसे हुई है।

कुछ लोगाकी यह आपत्ति है कि वेदकी नित्यता इसलिये सिद्ध नहीं होती कि वे त्रयी कहे जाते हैं, पर हैं चार। आरम्भमे वे तीन थे, पीछे वे चार हो गये। उनमे एक अवश्य नवीन होगा। उनकी दृष्टिमे अथर्ववेद नया ठहरता है, क्याकि ऋक्, यजु और साम इन्हींके नाम सस्कृत-साहित्यम बार-बार मिलते हैं, अथर्वके नहीं। जो छन्दोबद्ध हैं उनका नाम ऋक् है, जो गाने योग्य हैं उन्हे साम कहते हैं और अवशिष्ट यजु कहलाते हैं। अथर्वमे ऋक्, यजु —ये दोनो मिलते हैं, उसमे साम भी है। इसलिये वह ऋक्, यजु और साम-रूप हैं। वह उक्त नामासे प्रसिद्ध नहीं हुआ कि उसमे तीनोका सामञ्जस्य हो गया है। तब कौन-सी विशेष सज्ञा उसे दी जाय। ऋक्, यजु और सामवेद अपने प्रसिद्ध नामासे व्यवहृत होते हैं, क्याकि उन नामाके योग्य उनमें एक गुण विशेष रूपसे है—

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।' 'गीतिषु साम।' 'शेषे यजु शब्द ।' (जैमिनिसूत्र २। १। ३५—३७)

अर्थात् त्रयी कहनेसे ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद—इन चाराका बोध होता है और ये चारा ही नित्य हैं। इसम सदेहका कोई अवसर नहीं है।

मनुजीने कहा है कि वेदोसे सब कार्य सिद्ध होते हैं—'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'

ऐसे गौरवशाली लाभदायक वेदापर जनताकी श्रद्धा क्यो नही, जो उनके नित्यानित्यके विचारम प्रवृत्त होती है?

उक्त वेदाम परा और अपरा विद्याआकी चर्चा है। उनसे पदार्थविद्या और आत्मविद्या—दोनाका ज्ञान होता है। उनके अर्थ समझनेके प्रधान साधन व्याकरण और निरुक्त है। शाकपूणि तथा और्णनाभ आदिके निरुक्त अब नहीं मिलते। इस समय जो भाष्य मिलते हैं, उनम उपलब्ध यास्क-निरुक्तका विद्वानाने भी पूरा आदर नहीं किया। उन्होने गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्रपर अपनी दृष्टि रखी। इससे उनका अर्थ केवल यज्ञपरक हो गये। वैदिक महत्त्व लुप्त हो गया। वेद सब विद्याआकी जड है। वर्तमान भाष्य इस बातको सिद्ध नहीं कर सके। यदि विद्वन्मण्डली वैदिक साहित्यकी निरन्तर आलोचना करे तो अर्थशक्ति उन्हे पूर्व प्रतिष्ठा दिला सकती है। विदेशी विद्वान् नहीं चाहते कि वेदाकी मर्यादा अक्षुण्ण रहे। उसकी रक्षा भारतीयाको करनी चाहिये।

भारतीय महर्षि यास्ककी यह सम्मति याद रखे कि ईश्वरकी विद्या नित्य है, जो कर्तव्यशिक्षाके लिये वेदोंमें विद्यमान है—

'पुरुषविद्याया नित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिमन्त्रो वेदे।'

आशा है, पाठक यदि उपर्युक्त पंक्तियापर ध्यान दगे तो वे वेदाकी नित्यता स्वीकार करगे।

व्युत्पत्ति-मूलक वेद-शब्दार्थ

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय ।
वेदो नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥[1]

अर्थात् वेदाने जिन कर्मोका विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वय भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे उनके स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एव स्वयम्प्रकाश ज्ञान हैं—ऐसा हमने सुना है।

साक्षात्कृतधर्मा तपोलीन महर्षियाद्वारा वेद प्रत्यक्षदृष्ट हैं।[2] विद्यमान पदार्थ ही दृष्ट होता है, अत वेद पूर्वसे ही विद्यमान हैं। तपस्यमान ऋषि-विशेषको कालविशेषम वेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। यही उन ऋषियाका ऋषित्व है ऐसा जानना चाहिये।

'वेद' शब्दके व्युत्पत्तिमूलक अर्थोसे उपर्युक्त सभी विषय स्पष्ट होते हैं। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार विभिन्नार्थक पाँच 'विद' धातुआसे 'वेद' शब्द निष्पन्न हाता है, जो विभिन्न अर्थोंको अभिव्यक्त करता है।

(१) अदादिगणीय 'विद ज्ञाने' धातुसे करणमे 'घञ्' प्रत्यय करनसे निष्पन्न वदका अर्थ होता है—'वेत्ति—जानाति धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपायान् अनेन इति वेद ।' अर्थात् जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-रूप पुरुषार्थ-चतुष्टयको प्राप्त करनेके उपायोको जानते हैं, उसे 'वेद' कहा जाता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे अगम्य उपायाको चूँकि वेदके द्वारा जानत हैं, यही वेदका वेदत्व अर्थात् अज्ञातार्थज्ञापकत्व है[3]। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षादि प्रमाणासे भी जिन विषयाका ज्ञान नहीं हो सकता, उनका भी ज्ञान वेदके द्वारा हो जाता है।

(२) दिवादिगणमे पठित 'विद सत्तायाम्' धातुसे भावम 'घञ्' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न 'वेद' शब्द अपने सनातन सत्-रूपको वतलाता है। महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने वेद शब्दके इसी सत्-रूपका स्पष्ट प्रतिपादन

१-श्रीमद्भागवत (६। १। ४०)।
२ (क)-तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते (निरुक्त २। ११)।
(ख)-युगान्तेऽन्तर्हितान् वदान् सेतिहासान् महर्षय । लभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥
३-प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वदेन तस्माद् वदस्य वदता॥

करते हुए महाभारतमे कहा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तय ॥

(३) तौदादिक 'विद्लृ लाभे' धातुसे करणमे 'घञ्' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न 'वेद' शब्द 'विन्दति अथवा विन्दते लभते धर्मादिपुरुषार्थान् अनेन इति वेद ' इस तरह पुरुषार्थ-चतुष्टय-लाभरूप अर्थको व्यक्त करता है। अर्थात् वेदसे न केवल धर्मादि पुरुषार्थोंको जानते हैं, अपितु उनके उपायाको समझते हैं तथा वेदके द्वारा उन्हे प्राप्त भी करते हैं। वेद-निर्दिष्ट उपायोके द्वारा सविधि अनुष्ठान करनेसे पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है।

(४) रुधादिगणीय 'विद विचारणे' धातुसे करण-अर्थमे 'घञ्' प्रत्ययके योगसे निष्पन्न 'वेद' शब्द 'विन्ते-विचारयति सृष्ट्यादिप्रक्रियाम् अनेन इति वेद '—इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया-विचाररूप अर्थको अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि युगके आरम्भमे विधाता जब नूतन सृष्टि-निर्माणकी प्रक्रियाके विचारम उलझे रहते हैं, तव नारायण अपने वेद-स्वरूपसे ही उनकी समस्याका समाधान करत हैं और विधाता वेद-निर्देशानुसार पूर्वकल्पकी तरह नयी सृष्टि करते हैं[१]।

महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवतमे इस विषयको स्पष्ट करते हुए कहा है—

सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना ।
प्रजा सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते॥[२]

परमात्मयोगी भगवान् नारायणने अपने सर्ववेद-स्वरूपसे सृष्टि-प्रक्रियामे किंकर्तव्यविमूढ स्रष्टाको निर्देश दिया कि कल्पान्त-कालसे मेरे स्वरूपमे अवस्थित जो प्राणी हैं, उनकी यथापूर्व—पूर्वकल्पके अनुसार ही सृष्टि कर। ऐसा उपदेश कर भगवान्के अन्तर्हित हो जानेपर लोकपितामह ब्रह्माने दैहिक तथा मानसिक विभिन्न प्रकारकी प्रजाओकी सृष्टि की[३]। इससे स्पष्ट होता है कि वेदके द्वारा ही सृष्टि-प्रक्रियाका निर्देश मिलता है।

(५) चुरादिगणीय 'विद चेतनाख्याननिवासेषु' इस 'विद' धातुसे चेतन-ज्ञान, आख्यान तथा निवास—इन तीन अर्थोंका करण-अर्थम 'घञ्' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न 'वेद' शब्द सृष्टिके आदिम पूर्वकल्पके अनुसार कर्म, नाम आदिका आख्यान होना अर्थ प्रतीत होता है।

वेद शब्दके इसी अर्थको सुव्यक्त करते हुए महर्षि मनुने लिखा है—

सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्सस्थाश्च निर्ममे॥
(मनु० १। २१)

अर्थात् प्रलयके बाद नूतन सृष्टिके आरम्भमे विधाता वेदाख्यानके अनुसार वस्तु-जगत्के नाम, कर्म, स्वरूप आदिका विधान करते है, जिसस पूर्वकल्पके अनुसार ही इस कल्पम भी नामादिका व्यवहार होता है।

उपर्युक्त विभिन्नार्थक पाँच धातुआरे निष्पन्न वेद शब्दके अर्थोंमे सभी विषय समाविष्ट हो जाते हैं। विशेषत सत्तार्थक, ज्ञानार्थक तथा लाभार्थक 'विद' धातुआसे निष्पन्न वेद शब्दार्थसे सन्मयत्व, चिन्मयत्व एव आनन्दमयत्वका वोध होनसे वेदका सच्चिदानन्दमय—'वेदो नारायण साक्षात्'—यह रूप सिद्ध होता है। अतएव शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म दोनाके एकत्व-प्रतिपादक 'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म' तथा 'गिरामस्म्येकमक्षरम्'—ये भगवद्वचन[४] सुसगत ही होते हैं। इसी विषयकी ओर कठोपनिषद्का भी स्पष्ट सकेत है—

एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षर परम्।
एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥[५]

इस तरह मन्त्र-ब्राह्मणात्मक[६] वेद आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक त्रिविध अर्थोके प्रतिपादक हैं, पुरुषार्थचतुष्टयके साधक हैं, समस्त ज्ञान-विज्ञानके सवाहक हैं तथा भारतीय ऋषि-महर्षि-मनीषियाके प्रत्यक्षज्ञानके महान् आदर्श हैं।

१-धाता यथापूर्वमकल्पयत् (ऋक्० १०। १९०। ३)।
२-श्रीमद्भा० (३। ९। ४३)।
३-अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामह । प्रजा ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभु ॥ (श्रीमद्भा० ३। १०। १)
४-गीता ८। १३ तथा गीता १०। २५।
५-कठोपनिषद् (१। २। १६)।
६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

वैदिक ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग

(पं० श्रीयोगीन्द्रजी झा, वेद-व्याकरणाचार्य)

वेदका अध्ययन ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगके अर्थज्ञानके साथ करना चाहिये। ऋष्यादिज्ञानके विना वेदाध्ययनादि कर्म करनेसे शौनककी अनुक्रमणीमें दोष लिखा है—

'एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामम्भवत्यथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति' (अनुक्रमणी १।१)। 'जो मनुष्य ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको जाने बिना वेदका अध्ययन, अध्यापन, जप, हवन, यजन, याजन आदि करते हैं, उनका वेदाध्ययन निष्फल तथा दोषयुक्त होता है और वे मनुष्य अश्वगर्त नामक नरकमें पड़ते हैं अथवा मरनेपर शुष्क वृक्ष होते हैं (स्थावरयोनिमें जाते हैं) अथवा कदाचित् यदि मनुष्ययोनिमें भी उत्पन्न होते हैं तो अल्पायु होकर थोड़े ही दिनामें मर जाते हैं अथवा पापात्मा होते हैं।' जो मनुष्य ऋष्यादिको जानकर वेदाध्ययनादि करते हैं, वे फलभाक् होते हैं—

'अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित् तस्य वीर्यवत्तरम्भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते' (अनुक्रमणी १।१)। 'जो मनुष्य ऋष्यादिको जानकर वेदाध्ययनादि करते हैं, उनका वेद बलवान् (अर्थात् फलप्रद) होता है। जो ऋष्यादिके साथ वेदका अर्थ भी जानते हैं, उनका वेद अतिशय फलप्रद होता है। वे मनुष्य जप, हवन, यजन आदि कर्म करके उनके फलसे युक्त होते हैं।' याज्ञवल्क्य, व्यास आदिने भी ऋष्यादिकी आवश्यकता अपनी-अपनी स्मृतियोंमें बतलायी है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

> 'आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च।
> वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः॥
> अविदित्वा तु यः कुर्याद्याजनाध्यापने जपम्।
> होममन्तर्जलादीनि तस्य चाल्पफलम्भवेत्॥'

'मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग आदि ब्राह्मणको अवश्य जानना चाहिये। जो ब्राह्मण ऋष्यादिको बिना जाने याजन अध्यापन जप, होम आदि करते हैं, उनके कर्मोंका फल अल्प होता है।' व्यासने लिखा है—

> अविदित्वा ऋषिश्छन्दो दैवतं योगमेव च।
> योऽध्यापयेद् याजयेद् वा पापीयान् जायते तु सः॥

'जो ब्राह्मण ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको बिना जाने याजन तथा अध्यापन करते हैं, वे अतिशय पापी होते हैं।'

पाणिनीय व्याकरणके अनुसार गतिका अर्थ ज्ञान मानकर गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे 'इगुपधात्कित्' (उणादि ४।५६१) सूत्रसे 'इन्' प्रत्यय करनेपर ऋषि शब्द बनता है। मन्त्रके द्रष्टा अथवा स्मर्ता ऋषि कहलाते हैं। अतएव सर्वानुक्रम सूत्रमें महर्षि कात्यायनने लिखा है—'द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः।' ओपमन्यवाचार्यने भी निरुक्तमें इसी प्रकार 'ऋषि' शब्दका निर्वचन बतलाया है—

'होत्रमृषिर्निषीदन्नृषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव। तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।' (निरुक्त २। ११)। 'मन्त्र-समूहको देखनेवाले अर्थात् साक्षात्कार करनेवाले ऋषि कहलाते हैं। हिरण्यगर्भादिने सृष्टिके आदिमें आविर्भूत होकर पूर्वकल्पमें अनुभूत वेदपदार्थोंको कठिन तपश्चर्यासे संस्कार, सम्मान तथा स्मरणके द्वारा 'सुप्तप्रबुद्धन्याय'से पूर्ववत् प्राप्त किया, अतः वे वेदमन्त्रोंके ऋषि कहलाये। आज भी स्मरणार्थ वे मन्त्रोंके आदिमें दिये जाते हैं। श्रुतियोंमें भी ऋषि शब्दका (मन्त्रद्रष्टा) अर्थ प्रतिपादित है— 'तत एतम्परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपौर्णमासाविति।' 'तब दर्श-पौर्णमास यज्ञगत द्रव्य, देवता, मन्त्रादिको परमेष्ठीने देखा।' 'दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार' यहाँसे लेकर 'न तदुहाश्विनोरनुश्रुतमास' यहाँतकके इतिहाससे मालूम होता है कि प्रवर्ग्य-यागगत मन्त्रोंके दध्यङाथर्वण ऋषि हैं। याज्ञवल्क्यने भी ऋषि शब्दका अर्थ मन्त्रद्रष्टा ही माना है—

> 'येन यदृषिणा दृष्टो मन्त्रः सिद्धिश्च तेन वै।
> मन्त्रेण तस्य सम्प्रोक्त ऋषिभावस्तदात्मकः॥'

'जो मन्त्र जिस ऋषिसे देखा गया, उस ऋषिके स्मरणपूर्वक यज्ञादिमें मन्त्रका प्रयोग करनेसे फलकी प्राप्ति होती है।' मन्त्रादिमें ऋषि-ज्ञान आवश्यक है, यह विषय श्रुतिमें भी प्रतिपादित है—

'प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत् प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम्। देवा द्वितीयां चितिमपश्यन् देवा एव तस्या आर्षेयम्। इन्द्राग्नी विश्वकर्मा च तृतीयां चितिमपश्यंस्त एव तस्या आर्षेयम्। ऋषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन्नृषय एव तस्या आर्षेयम्। परमेष्ठी

पञ्चमीं चितिमपश्यत् परमेष्ठ्येव तस्या आर्षेयम्।'

अर्थात् 'अग्निचयन-यागमे पाँच चितियाँ होती हैं, उनमे प्रजापतिने प्रथम चितिको देखा, इसलिये वे प्रथम चितिके ऋषि हुए। देवगणने द्वितीय चितिको देखा, इसलिये वे द्वितीय चितिके ऋषि हुए। इन्द्राग्नी तथा विश्वकर्माने तृतीय चितिको देखा, इसलिये वे तृतीय चितिके ऋषि हुए। ऋषिगणने चतुर्थ चितिको देखा, इसलिये वे चतुर्थ चितिके ऋषि हुए। परमेष्ठीने पञ्चम चितिको देखा, इसलिये वे पञ्चम चितिके ऋषि हुए।' यह विषय शतपथब्राह्मणमे प्रतिपादित है। इसके बाद वहाँ ही लिखा है—'स यो हैतदेव चितीनामार्षेयं वेद' इत्यादि। 'जो इस प्रकार पाँचो चितियोके ऋषियोको जानते हैं, वे पूत होकर स्वर्गादिको प्राप्त करते हैं।'

अब 'देवता' पदका निर्वचन दिखलाया जाता है। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार क्रीडाद्यर्थक 'दिव्' धातुसे 'हलश्च' सूत्रसे 'घञ्' प्रत्यय करके देव शब्द बनता है। उससे 'बहुलं छन्दसि' इस वैदिक प्रकरणके सूत्रसे स्वार्थमे 'तल्' प्रत्यय करके तथा 'टाप्' करके देवता शब्द बनता है। निरुक्तकार यास्कने भी दानार्थक 'दा' धातुसे या 'द्युत्' धातुसे अथवा 'दीप्' धातुसे 'व' प्रत्यय करके वर्णका विकार तथा लोप करके 'देव' शब्द बनाया है—'देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद्वा।' देव और देवताका अर्थ एक ही है, क्योकि स्वार्थमे 'तल्' प्रत्यय किया गया है। जो तीनों लोकोंमे भ्रमण करे, प्रकाशित हो अथवा वृष्ट्यादिद्वारा भक्ष्य-भोज्यादि चतुर्विध पदार्थ मनुष्योको दे, उनका नाम देवता है। वेदमे ऐसे देवता तीन ही माने गये हैं—

'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता । अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः । तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।' (निरुक्त० ७।२।५) अर्थात् 'पृथिवीस्थानीय अग्नि, (२) अन्तरिक्षस्थानीय वायु या इन्द्र और (३) द्यु-स्थानीय सूर्य—ये तीन देवता वेदमे माने गये हैं। उन्हींकी अनेक नामसे स्तुतियाँ की गयी हैं। सारार्थ यह है कि मन्त्रके प्रतिपादनीय विषयको देवता कहते हैं। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः।' इस मन्त्रमे अग्नि देवता हैं। 'इषे त्वा' इस मन्त्रमे शाखाएँ देवता हैं। यहाँ पूर्व-पक्ष है—'महाभाग्यत्वात्' अग्नि देवता हो सकते हैं, परतु शाखाएँ तो स्थावर पदार्थ हैं, वे कैसे देवता हो सकती है ?' उत्तर सुनिये—'वेदमे रूढि देवता नहीं लिया जाता है, किंतु जिसको जिस मन्त्रमे हविके विषयमे कहा जाता है या जिसकी स्तुति की जाती है, वह पदार्थ उस मन्त्रका देवता होता है। इस प्रकारसे शाखादि अचेतन पदार्थको भी देवत्व प्राप्त हुआ। निरुक्तकारने भी ऐसा ही कहा है—'अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते, यथाश्वप्रभृतीन्यौषधिपर्यन्तानि।' (निरुक्त० ७।१।४) 'कहीं अदेवता भी देवताकी तरह स्तुत होते हैं, जैसे अश्व आदि, औषधि-पर्यन्त वस्तुएँ।' जो पूर्वपक्षीने कहा है कि स्थावर होनेके कारण शाखादिको देवत्व कैसे प्राप्त हुआ, वहाँ यह उत्तर है कि 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इस वैयासिक सूत्रसे तथा 'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्' इत्यादि श्रुतियोसे यहाँ शाखाद्यभिमानी देवता लिया जाता है। प्रतिमाभूत शाखादि पदार्थ फलका साधन करता है।*

आह्लादार्थक चौरादिक 'चदि' धातुसे 'चन्देरादेश्च छः' (३।४।६६८) सूत्रसे 'असुन्' प्रत्यय करके तथा चकारको छकारादेश करके छन्दः शब्द बनता है। अर्थ है—'छन्दयति आह्लादयति चन्द्यतेऽनेन वा छन्दः', 'जो मनुष्योको प्रसन्न करे, उसका नाम छन्द है' अथवा छादनार्थक चौरादिक 'छद्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादित्वात्' नुमागम करके छन्द पद बनता है। 'छादयति मन्त्रप्रतिपाद्ययज्ञादीनीतिच्छन्दः।' जो यज्ञादिकी असुरादिकोके उपद्रवसे रक्षा करे, उसे छन्द कहते हैं। निरुक्तकार यास्कने भी छन्द शब्दका ऐसा ही अर्थ बतलाया है—'मन्त्रा मननात्। छन्दांसि छादनात् (स्तोम स्तवनात्)। यजुर्यजतेरित्यादि।' (निरुक्त० ७।३।१२) 'मनन करनेसे त्राण करनेवाले शब्दसमूहको मन्त्र कहते हैं। जिससे यज्ञादि छादित हो (रक्षित हो), उसे छन्द कहते हैं, (जिससे देवताकी स्तुति की जाय, उसे स्तोम कहते हैं)। जिससे यज्ञ किया जाय, उसे यजुः कहते हैं।'

श्रुतिमे भी छन्दका यही अर्थ प्रतिपादित है—

* ऋग्वेद, प्रथम अष्टकके ३४वे सूक्तके ११वे मन्त्रमे और इसी अष्टकके ४५वें सूक्तके दूसरे मन्त्रमे ३३ देवोका उल्लेख है। ऐतरेयब्राह्मण (२।२८) और शतपथब्राह्मण (४।५।७।२)-मे भी ३३ देवोकी कथा है। तैत्तिरीयसंहिता (१।४।१०।१)-में स्पष्ट उल्लेख है कि आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्षमे ११-११ देवता रहते हैं। —सम्पादक

दक्षिणतोऽसुरान् रक्षांसि त्वाष्ट्रान्यपहन्ति त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुप्' इत्यादि। 'यज्ञमें कुण्डकी दक्षिण परिधिको त्रिष्टुप्-स्वरूप माना है और त्रिष्टुप् वज्रस्वरूप है, अत उससे असुराका नाश होता है।' मन्त्राका छन्दाज्ञान कात्यायनादिप्रणीत सर्वानुक्रम, पिङ्गल-सूत्रादि ग्रन्थासे करना चाहिय—

'छन्दांसि गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् बृहतीपङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यतिजगती शक्वर्यतिशक्वर्यष्ट्यत्यष्टिधृत्यतिधृतय कृतिप्रकृत्याकृतिविकृति-सङ्कृत्यभिकृत्युत्कृतयश्चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुरुत्तराण्यूनाधिके-नैकेन निचृद्भूरिजौ द्वाभ्यां विराट् स्वराजावित्यादि।' (अनु० अ० १। १) '२४ अक्षराका गायत्री, २८ का उष्णिक्, ३२ का अनुष्टुप्, ३६ का बृहती, ४० का पङ्क्ति, ४४ का त्रिष्टुप्, ४८ का जगती, ५२ का अतिजगती, ५६ का शक्वरी, ६० का अतिशक्वरी, ६४ का अष्टि, ६८ का अत्यष्टि, ७२ का धृति, ७६ का अतिधृति, ८० का कृति, ८४ का प्रकृति, ८८ का आकृति, ९२ का विकृति, ९६ का सङ्कृति, १०० का अभिकृति और १०४ अक्षरोका उत्कृति छन्द होता है। इस प्रकार २४ अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरतक गायत्री आदि २१ छन्द होते हैं। इनमे प्रत्येकमे एक अक्षर कम होनेसे 'निचृत्' विशेषण लगता है और एक अक्षर अधिक होनेसे 'भूरिज्' विशेषण लगता है। दो अक्षर कम होनेसे 'विराट्' विशेषण लगता है और दो अक्षर अधिक होनेसे 'स्वराट्' विशेषण लगता है। इस प्रकार उन पूर्वोक्त छन्दाके अनेक भेद सर्वानुक्रमसूत्र, पिङ्गल-सूत्रादिमें वर्णित हैं। विशेष जिज्ञासु वहाँ देख ले। लेख विस्तारके भयसे यहाँ उन सबका विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

जिस कामके लिये मन्त्राका प्रयोग किया जाता है, उसे विनियोग कहते हैं। इसके विषयमे याज्ञवल्क्यने कहा है—

पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्रा कर्मार्थमेव च।
अनेनेद तु कर्तव्य विनियोग स उच्यते॥

प्रत्येक मन्त्रका विनियोग तथा ऋष्यादि भी तत् तत् वेदके ब्राह्मण तथा कल्पसूत्रसे जानना चाहिये। विनियोग सबसे अधिक प्रयोजक है। मन्त्रमे अर्थान्तर अथवा विषयान्तर होनेपर भी विनियोगद्वारा उसका किसी अन्य कार्यमें विनियोग करना, कर्मपारवश्यसे पूर्वाचार्योंने माना है अर्थात् विनियोगके सामने शब्दार्थका कुछ आधिपत्य नहीं है। इसलिये मन्त्रोंमें मुख्य विनियोग है, जो कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियाके द्वारा समय समयपर विनियुक्त हुआ था।

वेद-रहस्य

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—इस मनुप्रोक्त वचनसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि निखिल धर्मोंका[1] मूल वेद है। वेद शब्द 'विद ज्ञाने' धातुसे निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान। वेद ज्ञान तथा विज्ञानका अनादि भण्डार है। भारतीय धर्म एव दर्शनके मूलभूत सिद्धान्ताका उद्गम-स्थल वेद ही है। वेद भारतीय संस्कृतिका प्राण है। यह भी सत्य है कि वेद-मन्त्र नितान्त ही गूढार्थक हैं, इसलिये उनके अर्थ-प्रकाशके लिये हमारे क्रान्तदर्शी ऋषि-महर्षियाने अनेक स्मृतियाका दर्शन, धर्मसूत्र तथा पुराणादि ग्रन्थाकी रचना करके उनका उपबृंहण किया है। यही कारण है कि भारतीय धर्ममे जो जीवन्त-शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका कारण भी वेद ही है। इसलिये कहा जाता है कि जिस ज्ञान-विज्ञानके कारण किसी समय भारत सर्वोच्च अवस्थाको प्राप्त हुआ था तथा जिस परम-तत्त्वका साक्षात्कार करके तत्त्वदर्शी ऋषियाने सब कुछ पाया था, जिसके प्रभावसे विश्वमे सुख-समृद्धि तथा शान्तिकी स्थापना की थी और इस पुण्यभूमि आर्यावर्त देशको 'स्वर्गादपि गरीयसी' बनाया था, वह सारी सम्पदा वेदमे ही सन्निहित है। वेद अपौरुषेय एव ईश्वरीय ज्ञान तथा समस्त विद्याओका मूल स्रोत है। मनुमहाराजने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा पृथक्।
भूत भव्य भविष्य च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥

(मनु० १२। ९७)

'वेदसे ही चारा वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और

१-यहाँ निखिल धर्मका तात्पर्य वेदकी ११३१ शाखाओमें कथित धर्म ही समझा जाता है न कि इतर धर्म-समूह।

शूद्र), तीनो लोक (भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक), चारों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम)- की व्यवस्था की गयी है। केवल यही नहीं, अपितु भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान-कालिक धर्म-कर्मोंकी व्यवस्था भी वेदके अनुसार ही की गयी है।' वेद-धर्म उस ईश्वरीय ज्ञानकोशसे ही प्रकट हुआ है, जो अनादि और अनन्त है। इसलिये बृहदारण्यक श्रुतिमे कहा गया है—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ॥ (बृहदारण्यकोप० ४। ५। ११)

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारो उस महान् परमेश्वरके श्वाससे ही प्रकट हुए हैं।' ऐतरेय ब्राह्मणमें भी कहा गया है—'**प्रजापतिर्वा इमान् वेदानसृजत्॥**' 'प्रजापतिने समस्त प्रजाओके कल्याणके लिये ही वेदोका सृजन किया है।' यहाँपर शका हो सकती है कि वह ईश्वरीय वेदज्ञान मनुष्योको कैसे प्राप्त हुआ? इसके लिये कहा जाता है कि सृष्टिके आदिकालमें कुछ उर्वर-मस्तिष्कवाले क्रान्तदर्शी ऋषि समाधिमे बैठकर उस दिव्य वेदज्ञानका प्रत्यक्ष दर्शन कर पाये थे। यास्काचार्यने निरुक्तमे लिखा है—

ऋषिर्दर्शनात्'''''''''स्तोमान् ददर्श॥

(निरुक्त० २। ३। ११)

अर्थात् ऋषियोने मन्त्राको देखा है, इसलिये उनका नाम ऋषि पडा है। जो मन्त्रद्रष्टा है, वही ऋषि है। कात्यायनने 'सर्वानुक्रमसूत्र'मे लिखा है—'**द्रष्टार ऋषय स्मर्तार ॥**' अभिप्राय यह है कि 'ऋषि लोग मन्त्राके द्रष्टा या स्मर्ता हैं, कर्ता नहीं।' मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी एक-दो नहीं, अपितु अनेक हुए हैं, जैसे गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ तथा भारद्वाज आदि। उनमें कुछ ऋषिकाएँ भी थीं, जैसे-ब्रह्मवादिनी घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, सूर्या तथा जुहू आदि। वेदज्ञान ईश्वरीय है, मन्त्रद्रष्टा ऋषि साक्षात्कृत जिस ईश्वरीय ज्ञानराशिको छोड गये हैं, वही वेद हैं। प्रारम्भम सगृहीत-रूपमे वेद एक ही था, बादमे महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासजीने ऋक्, यजु , साम तथा अथर्ववेदके रूपमे उसका चार विभाग किया और अपने चार शिष्योको पढाया। अर्थात् पैलको ऋग्वेद, जैमिनिको यजुर्वेद, वैशम्पायनको सामवेद और सुमन्तुको अथर्ववेद पढाया। उक्त महर्षियोने भी अपने-अपने शिष्या-प्रशिष्योको वेद पढाकर गुरु-शिष्यके मध्यकी श्रुति-परम्परासे वेदज्ञानको फैलाया है।

वेदकी प्राचीनता

'अनन्ता वै वेदा ' इस श्रुति-वचनसे ज्ञात होता हैं कि वेदज्ञान अनन्त है। कारण यह है कि वेदकी शाखाएँ ही इतनी विस्तृत हैं कि उनका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन एक ही जीवनमे सम्भव नहीं। इसीलिये 'महाभाष्य-पस्पशाह्निक' मे उल्लेख है—

एकशतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा सामवेद ।
एकविंशतिधा बाह्वृच्य नवधाऽऽथर्वणो वेद ॥

अर्थात् बह्वृच (ऋग्वेद)-की २१ शाखा, अध्वर्यु (यजुर्वेद)-की १०१ शाखा, सामवेदकी १००० शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं। इस प्रकारसे कुल मिलाकर वेदकी ११३१ शाखाएँ हैं। यद्यपि आज इन शाखाआमेसे अधिकाश भाग लुप्त हैं, फिर भी जो कुछ शेष बचे हैं, उनकी रक्षा तो प्रत्येक हिन्दूको किसी भी कीमतपर करनी ही चाहिये।

वेद गद्य, पद्य और गीतिके रूपमे विद्यमान हैं। ऋग्वेद पद्यमे, यजुर्वेद गद्यमे और सामवेद गीति-रूपमे है। वेदामे कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विशेष-रूपमे होनेके कारण इनको 'वेदत्रयी' या 'त्रयीविद्या' के नामसे भी अभिहित किया जाता है। आरम्भम शिष्यगण गुरुमुखसे सुन-सुनकर वेदोंका पाठ किया करते थे, इसलिये वेदोका एक नाम 'श्रुति' भी है। तभीसे भिन्न-भिन्न वेदपाठोका विधान भी किया गया है और मन्त्रामे एक-एक मात्राओकी रक्षा करनेके लिये ऐसा करना आवश्यक भी था। यथा—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घन ।
अष्टौ विकृतय प्रोक्ता क्रमपूर्वा महर्षिभि ॥

अर्थात् महर्षियोने वेद-पाठ करनेके आठ प्रकार बताये हैं—(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ और (८) घन—ये क्रमश आठ विकृतियाँ कही जाती हैं। इन्हीं भेदासे वेदपाठी वेदमन्त्राका उच्चारण किया करते हैं। वेद अनन्त होनेके साथ-साथ अनादि भी हैं। इसलिये कहा जाता है कि ईश्वरीय ज्ञान होनेके कारण किसी भी कालमे वेदका नाश

नहीं होता, क्योकि नित्य-अनादि परमेश्वरका ज्ञान भला अन्तवाला कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। इसीलिये कहा भी है—'नैव वेदा प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि॥' (मेधातिथि) अर्थात् 'महाप्रलयकालमे भी वेदका लोप (नाश) नहीं होता।' अन्यत्र भी इसका उल्लेख है—

प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशि स्थित ॥

(मनुस्मृति कुल्लूक भट्टकी व्याख्या)

अभिप्राय यह कि 'प्रलयकालमे भी वेदज्ञानका अभाव नहीं होता, प्रत्युत वेदोकी ज्ञानराशि परमात्मामे सूक्ष्मरूपसे पहले भी विद्यमान थी, अब भी है और आगे भी रहेगी—यह ध्रुव सत्य है।' अत वेदका प्रादुर्भाव-काल निश्चित करना असम्भव-सा ही है।

वैदिक वाड्मयका परिचय

वेद चार हैं—ऋक्, यजु, साम और अथर्व। इनको 'मन्त्रसहिता' भी कहते हैं। इन चार मूल वेदोके चार उपवेद भी हैं—स्थापत्यवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद। इनमसे ऋग्वेदका उपवेद स्थापत्यवेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद ओर अथर्ववेदका उपवेद आयुर्वेद है। वेदके प्राचीन विभाग मुख्य रूपमे दो हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणक अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिये कहा हे कि—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्॥' (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र)

आपस्तम्बके कथनानुसार मन्त्र ओर ब्राह्मण—ये दोनो वेद हैं। मन्त्रभागको 'सहिता' कहते हे और अर्थस्मारक वाक्योको 'ब्राह्मण'। वृक्ष और शाखाकी तरह जैसे शब्द और अर्थकी पृथक् सत्ता नहीं है ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण-भाग भी वेद ही है, वेदसे पृथक् नहीं। ब्राह्मणका तात्पर्य है ब्रह्मसे सम्बन्धित विचार। इस विचारका प्राचीन नाम है 'ब्रह्मोद्य'। याग-यज्ञाका विधि-विधान भी ब्राह्मण-ग्रन्थाके अनुसार ही होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ अनेक हैं, जिनमेसे बहुत ग्रन्थ आज लुप्त हैं। ऋग्वेदके ब्राह्मण हैं ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि (शाखायन) ब्राह्मण। शुक्लयजुर्वेदका शतपथब्राह्मण प्रसिद्ध है। कृष्णयजुर्वेदका भी तैत्तिरीय ब्राह्मण अत्यन्त प्रसिद्ध है। सामवेदके कई ब्राह्मण हैं, जैसे ताण्ड्यब्राह्मण, आर्षेय-ब्राह्मण षड्विंशब्राह्मण सामविधानब्राह्मण, वशब्राह्मण तथा जैमिनाय ब्राह्मण आदि। अथर्ववेदका गापथब्राह्मण अति प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त भी और अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। जैसे दैवतब्राह्मण, कादेयब्राह्मण, भाल्लविब्राह्मण, काठक ब्राह्मण, मैत्रायणी ब्राह्मण, शाट्यायनि ब्राह्मण, खाण्डिकय ब्राह्मण तथा पैङ्गायणि ब्राह्मण इत्यादि। ब्राह्मण-भागमें भी तीन विभाग हैं—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। तात्पर्य यह है कि जिस विभागम याग-यज्ञादिका विशेष विधान किया गया हो, वह ब्राह्मण है और जिस विभागमें ब्रह्मतत्त्वका विशेष विचार किया गया हो, वह आरण्यक और उपनिषद् है।

आरण्यक ग्रन्थ भी अनेक हैं, जिनम ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, कौषीतकि आरण्यक, शाखायन आरण्यक आदि प्रसिद्ध हैं। कुछ आरण्यक लुप्त हैं। वास्तवमे इनका आरण्यक नाम इसलिये पडा है कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पठन-पाठन करने योग्य हैं, ग्राम-नगर आदि कोलाहलयुक्त स्थानमे नहीं। इसलिये सायणाचार्यने तैत्तिरीय आरण्यकके पाठ्यश्लोकमे लिखा है—

अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते ।
अरण्ये तदधीयीतेत्येव वाक्य प्रवक्ष्यते॥

(तै० आर० भाष्य-मङ्गलश्लाक ६)

गहन अरण्यम ब्रह्मचर्य-व्रतमे प्रतिष्ठित आर्य ऋषिगण जिस ब्रह्मविद्याका गम्भीर रूपसे अनुशीलन अर्थात् पठन पाठन किये, वे ही ग्रन्थ आरण्यकके नामसे प्रसिद्ध है। अरण्यम ही निर्मित तथा पठित होनेके कारण इनका 'आरण्यक' नाम सार्थक ही है।

आरण्यकका ही दूसरा भाग उपनिषद् है। इसका अर्थ है ब्रह्मविद्या और प्राय इसी अर्थम यह शब्द रूढ है। विशरण, गति आर शिथिलीकरण जिसके द्वारा हो, वही ब्रह्मविद्या उपनिषद् हे। उपनिषद् भी सख्याम बहुत हैं। अबतकके अनुमधानसे दो सोसे भी अधिक उपनिषद् ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और प्रकाशित भी हो चुके हैं। उनमेंसे प्राचीन एकादश उपनिषद् अति प्रसिद्ध हैं। उनक नाम इस प्रकार हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। इन एकादश उपनिषदापर आचार्य शकरने भाष्य किया है।

वेदाङ्ग अथात् वेदके अङ्गभूत होनेसे या सहायक ग्रन्थ हानेसे इनको 'वदाङ्ग' कहते हैं। जैसे (१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द और (६)

ज्योतिष। इनके द्वारा वेदार्थका ज्ञान होता है या वेदार्थको समझा जाता है। इसीलिये इनका नाम वेदाङ्ग पडा। आर्ष वाड्मय बहुत विस्तृत है, परतु इस सदर्भम हम कतिपय प्रमुख वैदिक साहित्याका नामोल्लेख मात्र करके ही सताप करना पडा है।

वेदोके भाष्यकार

वेद-मन्त्रके अर्थ तीन प्रकारसे किये जाते हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। वेदाका भाष्य यद्यपि अति प्राचीन कालसे होता आया हे, परतु किसी भी प्राचीन भाष्यकारने चारा वेदाका पूर्ण भाष्य नहा किया है। प्राचीन वेद-भाष्यकारोम—स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, हरिस्वामी, वररुचि, भट्टभास्कर, वेकटमाधव, आत्मानन्द, आनन्दतीर्थ, माधव तथा भरतस्वामी आदिका नाम उल्लेखनीय है, परतु इनमसे किसीका भी चारा वदोका पूर्ण भाष्य नहीं मिलता। वेदाका पूर्ण भाष्य तो सायणाचार्यके कालमे ही हुआ हे, उसके पूर्व नहीं। वेद-भाष्यकाराम सायणाचार्य ही एक ऐसे प्रौढ भाष्यकार हुए हैं, जिन्होने चारो वेदा, ब्राह्मणग्रन्था तथा कुछ आरण्यक-ग्रन्थाका महत्त्वपूर्ण सुविस्तृत भाष्य लिखा है। अन्य अनेक विषयापर भी व ग्रन्थ लिखे हैं। सायणाचार्य वेदक मूर्धन्य विद्वानामसे एक थे, इसम किचिन्मात्र सदेह नहीं है।

सायणके वेदभाष्याम व्याकरण आदिका प्रयोग बहुल रूपम हुआ है। सायण-भाष्यके आधारपर ही कुछ भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानाने वेदभाष्याकी रचना की ह। यास्काचार्यने 'निरुक्त' म वेदभाष्यक मार्गको प्रशस्त तो किया है, कितु कतिपय मन्त्रार्थके अतिरिक्त किसी भी वेदका भाष्य उन्हाने नहीं किया है। सायणन 'निरुक्त' का भी अपने वेदभाष्याम बहुल रूपम प्रयाग किया है तथा प्राचीन परम्परागत अर्थ-शैलीको ही अपनाया है और उसकी पुष्टिक लिये श्रुति, स्मृति पुराण तथा महाभारतादि ग्रन्थोका ही प्रमाण उद्धृत किया है।

यज्ञ

'यज' धातुसे यज्ञ शब्द बनता हे, जिसका अर्थ है—देवपूजा, सगतिकरण और दान। इसलिये कहा गया है कि—'अध्वरा वै यज्ञ ॥' (शतपथ० १। २। ४। ५) इन शब्दाक द्वारा यज्ञका महत्त्व प्रकट किया गया है। अथर्ववदम भी कहा गया है—'अय यज्ञो भुवनस्य नाभि ॥' अर्थात् भुवनकी उत्पत्तिका स्थान यह यज्ञ ही है। शतपथब्राह्मण (१। ७। ४। ५)-म कहा गया है कि समस्त कर्मोंमे श्रेष्ठ कर्म यज्ञ ही है। इसी कारण यज्ञको ईश्वरीय यज्ञ भी बताया गया है—'प्रजापतिर्वै यज्ञ ॥' एतरेय ब्राह्मण (१। ४। ३)-ने कहा है कि यज्ञ करनवाले सभी पापासे छूट जाते है।

यज्ञमे देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र (ऋचाएँ), ऋत्विज् (होता), अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और दक्षिणा आदिका ही विशेष प्राधान्य माना जाता है। यज्ञ और मन्त्रोच्चारणसे वायुमण्डलमे परिवर्तन हो जाता है, अखिल विश्वमे धर्मचक्र पूर्ववत् चलने लगता है। यज्ञम मन्त्रोच्चारणसे चित्त शान्त और मन सबल होता है। यज्ञाग्निमे दी हुई आहुति वायुमण्डलके साथ मिलकर समस्त अन्तरिक्ष-मण्डलमे व्याप्त हो जाती है। उससे पर्जन्य उत्पन्न होता है। पर्जन्यसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी वृद्धि होती हे। यज्ञसे देवता प्रसन्न होते हैं, जिससे देवता यज्ञ करनेवालेको मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं।

आर्य लोग यज्ञप्रमी थे। छाटे-छोटे यज्ञासे लेकर महारुद्रयाग, महाविष्णुयाग तथा महीनोतक चलनेवाले अश्वमेधादिक बड-बडे यज्ञोको अत्यन्त धैर्यके साथ सम्पन्न करते थे। यथासमय उसका फल भी प्राप्त करते थे। अत आर्यावर्त-दशवासियाके लिये आज भी यज्ञका महत्त्व है ही, इसमे किचिन्मात्र सदेह नहीं हे।

परमात्मतत्त्वका विचार

वेदम तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन काण्डोंमेसे अन्तिम ज्ञानकाण्डका महत्त्व सर्वोपरि है। ज्ञानकाण्डम केवल ब्रह्म या परमात्मतत्त्वका ही विचार किया गया है। वेदाके अनुशीलनसे ज्ञान होता है। वेदाम केवल ब्रह्मवादका ही प्रतिपादन हुआ है। इसलिये वेद ब्रह्मवादसे ओतप्रोत है, क्योकि वेदमे यत्र-तत्र-सर्वत्र ब्रह्मवादकी ही उद्घापणा की गयी है। वेदम अनेक सूक्त हैं जो ब्रह्मवादक ही पोषक हैं। इनमे पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, अस्यवामीय सूक्त तथा नासदीय सूक्त आदि उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेदका नासदीय सूक्त एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है, जो ससार-बीजकी ओर सकेत करता है। यथा—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीद्गहन गभीरम्॥

न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत।
आनीदवात स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न पर कि चनास॥
(ऋक्० १०। १२९। १-२)

'उस समय प्रलयकालम न असत् था न सत्। प्राणधारी जीवादि भी नहीं थे। पृथिवी भी नहीं थी और आकाश तथा आकाशम स्थित भूरादि सातो लोक भी नहीं थे। तब कौन कहाँ विद्यमान था? ब्रह्माण्ड कहाँ था? क्या दुर्गम तथा गम्भीर जल-समूह उस समय था? कुछ भी नहीं था। उस समय न मृत्यु थी और न अमरता, रात और दिनका भी भेद नहीं था। उस समय प्राण एव क्रियादिसे रहित केवल एकमात्र सर्वशक्तिमान् ब्रह्म मात्र था, ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।'

वेदमे आये 'स्वधा' शब्दका अर्थ माया है, जो शक्तिमान्मे रहती है। स्वतन्त्र न होनेके कारण उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है, इसलिये शक्ति और शक्तिमान्मे अभेद है। इसीलिये 'तदेकम्' शब्दसे 'एकमात्र ब्रह्म था' ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सृष्टिके मूलमे जगत्का कारण अनेक नहीं प्रत्युत एक ही है। अत वेदका ब्रह्मवाद या अद्वयवाद उक्त ऋचाओसे स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है।

आचार्य शकरको कुछ लोग मायावादी मानते हैं, परतु शकराचार्य मायावादी नहीं प्रत्युत ब्रह्मवादी हैं। वह ब्रह्मवाद उनका अपना नहीं, बल्कि वेदका है। पुरुषसूक्तमे स्पष्ट कहा गया है—'पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च भव्यम्।' (ऋक्० १०। ९०। २) अर्थात् 'जो भूतकालमे उत्पन्न हुआ है तथा भविष्यत्कालम उत्पन्न होगा और जो कुछ वर्तमान कालमे है, वह सब पुरुषरूप ही है।' अत वह ब्रह्मवाद नहीं तो और क्या है? ऋग्वेद (१। १६४। ४६)-मे उल्लेख है—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥

सत् ब्रह्म एक ही है। मेधावी लोग उस एक सत्-तत्त्वको ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि अनेक नामोंसे अभिहित करते हैं। सुन्दर पखवाले तीव्रगामी गरुड भी वही हैं। उसी तत्त्वको यम तथा मातरिश्वाके नामसे भी कहते हैं। क्या वह सत् (ब्रह्म)-तत्त्व एक ही है या अनेक? नहीं वह एक ही है। और उसीके अनेक नाम तथा रूप हैं। इस ऋचामे एकत्वमे बहुत्व और बहुत्वमें एकत्वका दर्शन होता है। एकेश्वरवाद भी वहाँपर स्पष्ट परिज्ञात हो जाता है। हसवती ऋचा (४। ४०। ५)-मे सम्पूर्ण प्राणियाके भीतर विद्यमान और समस्त उपाधियोसे रहित हस (आदित्य)-के रूपमे परमात्माका वर्णन हुआ है।

ऋग्वेद (४। २६। १-२)-म 'अह मनुरभव०' आदि ऋचाओमे ऋषि वामदेवजी कहते हैं कि—'हम ही प्रजापति हैं, हम सबके प्रेरक सविता हैं, एक ही दीर्घतमाके पुत्र मेधावी कक्षीवान् ऋषि हैं। हमने ही अर्जुनीके पुत्र कुत्सको भलीभाँति अलकृत किया था। हम ही उशना कवि हैं। हे मनुष्यो! हमे अच्छी तरहसे देखो। हमने ही आर्यको पृथ्वी दान किया था। हमने हव्यदाता मनुष्यके सत्यकी अभिवृद्धिके लिये वृष्टि-दान किया था। हमने शब्दायमान जलका आनयन किया था। देवगण हमारे सकल्पका अनुगमन करते हैं।' ऋषि वामदेवके इन उद्गारोसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वेदका ब्रह्मवाद ऋषियोकी वाणीमे किस प्रकार मुखरित हो उठा था।

ऋग्वेदके १०वे मण्डलके १२५ वें सूक्तकी ऋचाओमें अम्भृण ऋषिकी पुत्री वागाम्भृणी (वाग्देवी)-की उक्ति भी ब्रह्मवादसे ओतप्रोत है। वे स्वय कहती हैं—'मैं रुद्रो और वसुओके साथ विचरण करती हूँ। मैं आदित्यो और देवोको तथा मित्र और वरुण एव इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनीकुमारोंको धारण करती हूँ।' इस सूक्तम ८ ऋचाएँ हैं और सभी ऋचाआमे डिण्डिमघोषसे केवल एक ब्रह्मवादकी ही उद्घोषणा की गयी है, अर्थात् सर्वात्मभावको ही अभिव्यक्त किया गया है।

ऋग्वेद (१। १६४। २०)-के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मन्त्रमे शरीररूपी वृक्षमे जीवात्मा एव परमात्मारूप दो पक्षियोके विद्यमान होनेकी बात कही गयी है। उनमेंसे एक फलभोक्ता है और दूसरा साक्षी। दोनोको परस्पर अभिन्न-सखा भी बताया गया है। इसका वास्तविक तत्त्व-रहस्य वस्तुत विम्बस्थानीय अधिष्ठान चेतन या कूटस्थ चेतन और प्रतिविम्बस्थानीय चिदाभास अथवा जीव-चेतनमे घटित हो जाता है। अत वहाँ जीव और ब्रह्ममें वैसे ही भेद सिद्ध नहीं होता जैसे प्रतिविम्ब विम्बसे भिन्न सिद्ध नहीं होता। इसलिये श्रुतिमे कहा गया है—'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥' वह ब्रह्म एक भी है और बहुधा

भी, जैसे चन्द्रमा विम्बरूपमे एक ही है, किंतु प्रतिविम्ब-रूपमे अनेक भी है। वेदमे भी कहा गया है—'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते॥' (ऋक्० ६। ४७। १८) 'इन्द्र अर्थात् ब्रह्म अपनी मायाशक्तिके द्वारा अनेक रूपामे हो जाते हैं।' वहाँ एकसे अनेक हो जानेका तात्पर्य परिणाम-भावको प्राप्त हो जाना नहीं है, अपितु औपाधिक मात्र है। श्वेताश्वतर-श्रुतिमे भी वर्णित है—'एको देव सर्वभूतेषु गूढ ।' (श्वेता० ६। ११) 'वह एक देव (ब्रह्म) ही समस्त प्राणियामे छिपा हुआ विद्यमान है।' यजुर्वेदमे भी कहा गया है—'योऽसावादित्ये पुरुष सोऽसावहम्॥' (यजु० माध्यन्दिनीय० ४०। १७) 'आदित्यमे जो वह पुरुष है, वह मैं ही हूँ।' वही वैदिकोका अद्वयवाद या ब्रह्मवाद है। अथर्ववेदमे भी इसका वर्णन प्राप्त है—

'स एति सविता महेन्द्र ', 'स धाता स विधर्ता स वायु ', 'सोऽर्यमा स वरुण स रुद्र स महादेव । सोऽग्नि स उ सूर्य स उ एव महायम ॥' (अथर्व० १३। ४। ५)

'भाव यह कि वह इन्द्र अर्थात् महान् ब्रह्म ही सविता है, वही धाता तथा विधाता हे, वही वायु है। वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है। वह अग्नि है, वही सूर्य है और वही महायम भी है। तात्पर्य यह कि जगत्मे सब कुछ वही हे।' इससे बढकर वैदिक ब्रह्मवादका प्रमाण और क्या हो सकता है? इसलिये ऋग्वेदमे एक तत्त्वदर्शी ऋषि अपने इष्टदेवके साथ एकरूपताकी प्राप्तिके लिये उत्कट अभिलाषाको व्यक्त करते हुए कहते हे—

यदग्ने स्यामह त्व त्व वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥ (ऋक्० ८। ४४। २३)

'हे अग्ने। यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय (द्वैतभाव सदाके लिये मिट जाय) तो इसी जीवनमे तेरे आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।' वही वेदाका ब्रह्मवाद है और वह ब्रह्मवाद सहिता-भागसे लेकर ब्राह्मणग्रन्था, आरण्यको, उपनिषदा, स्मृति-ग्रन्थो, धर्मसूत्रा महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थो तथा समस्त पुराण-ग्रन्थामे आतप्रोत होकर विद्यमान है। यदि एक शब्दमें कहा जाय तो हमारे समस्त आर्ष वाङ्मयमे ही वैदिक ब्रह्मवादकी उद्घोषणा तत्त्वदर्शी ऋषि-महर्षियाने बहुत पहले ही कर रखी है, यह निर्विवाद सत्य है।

'स वेदैतत् परम ब्रह्मधाम'—ऐसा कहकर वैदिकाने कैवल्य-मोक्षको भी स्वीकारा है और उसीको ही ब्रह्मधामके नामसे भी कहा है। उस ब्रह्मधाम या मोक्षपदको प्राप्त होकर वहाँसे पुन न लौटनेको ही वैदिकोने परम मोक्ष माना है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥
(गीता १५। ६)

वैदिक सप्त मर्यादा

वेदोंमे मानव-जीवन-सम्बन्धी असख्य उपयोगी उपदेश भरे पडे हैं, परतु इस सदर्भमे हम केवल दो मन्त्रोका उपदेशमात्र प्रस्तुत करके सतोष करगे। यथा—

सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथा विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥
(ऋक्० १०। ५। ६)

तात्पर्य यह कि हिसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, असत्य-भाषण तथा बारम्बार पापकर्ममे लिप्त होना—ये साता ही महापातक हैं। बुद्धिमान् मनुष्योको चाहिये कि वे इनका सर्वथा परित्याग कर द। इनमसे प्रत्येक ही मानव-जीवनके लिये महान् घातक हैं। यदि कोई एकमे भी फँस जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता ह, किंतु जो इनसे निकल जाता है, वह नि सदेह आदर्श मानव बन जाता है, यह निश्चित है।

उलूकयातु शुशुलूकयातु जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातु दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥
(ऋक्० ७। १०४। २२)

भाव यह कि 'हे परमात्मन्! उलूककी भाँति जिन लोगाको दिनके दोपहरमे भी न दीखता हो तथा जो भेडियकी तरह हर समय निर्बलोको दबोच कर खा जानेकी घात लगाये रहता हो, जो चकवा पक्षीके समान सदा स्त्रैण रहता हो एव जो गरुडके समान अभिमानमे चूर रहता हो और गीधके समान सर्वभक्षी हो तथा श्वान (कुत्त)-की तरह परस्पर गृहयुद्धमे ही लगा रहता हो—ऐसे आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यासे हमारी रक्षा करो, उन दुष्टाको पत्थरसे मार डालो।' प्रत्येक मनुष्यको वेदके इन दिव्य उपदेशाका पालन अवश्य करना चाहिय, इसीमे सबका कल्याण है।

वेद ज्ञानका अगाध समुद्र है। उसका थाह पाना भला किसक लिये सम्भव हो सकता है? अर्थात् किसीके लिये भी नहीं। इसीलिये वेदकी अनन्तता सिद्ध हाती है।

वेदोकी रचना किसने की?

(शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

'वेदाका आविर्भाव कब हुआ?' इस प्रश्नकी भाँति 'वेदाकी रचना किसने की?' यह जिज्ञासा भी पाश्चात्य एव पौरस्त्य सभी वेदानुसधाताआको अनादि-कालसे आकुल किय हुए है। भारतीय दार्शनिक भी वेदाके अनिर्वचनीय माहात्म्यके सम्मुख जहाँ एकमतस नतमस्तक हैं, वहीं उनक कर्तृत्वक विषयम पयाप्त विवादग्रस्त दिखायी पडते हैं। पाश्चात्य वेदज्ञाने तो ईसासे ५ स ६ हजार वर्ष पूर्वकी रचना मानकर उनकी पौरुषेयताका स्पष्ट प्रतिपादन कर दिया है। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार रामायण, महाभारत, रघुवश आदि लौकिक सस्कृत-ग्रन्थ वाल्मीकि, व्यास एव कालिदास आदिक द्वारा प्रणीत हे, उसी प्रकार वेदाकी काठक, कौथुम, तैत्तिरीय आदि शाखाएँ भी कठ आदि ऋषियोद्वारा रचित हैं। इसलिय पुरुषकर्तृक होनेके कारण वेद पौरुषेय एव अनित्य हैं।

कुछ विद्वान् वेदाका पौरुषेय होना दूसरे प्रकारसे सिद्ध करते हैं। उनका कहना हे कि वेदामे यत्र-तत्र विशषकर नाराशसी गाथाआके अन्तगत एतिहासिक सम्राटा एव व्यक्तियोके नाम आते हैं। जैसे—

बबर प्रावाहणिरकामयत (तै०स० ७।१।१०।२)

कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत (तै०स० ७।२।२।२)

—इत्यादि प्रमाणासे स्पष्ट है कि बबर कुसुरुबिन्द आदि ऐतिहासिक व्यक्तियोके बाद ही वेदोका निमाण हुआ होगा। उससे पूर्व वेदाकी सत्ताका प्रश्न ही नही होता। इस प्रकार वेदामे इतिहास स्वीकार करनेवालाकी दृष्टिम भी वेद पौरुषेय हैं।

—इस सम्बन्धम एक तीसरी विचारधारा और भी है। इस विचारधाराके विद्वानाका कथन है कि वेदोमे कई परस्पर असम्बद्ध एव तथ्यहीन वाक्य उपलब्ध हाते हैं। उदाहरणके लिय निम्न वाक्य देख जा सकत हैं—

(क) वनस्पतय सत्रमासत।

(ख) सर्पा सत्रमासत।

(ग) गवा मण्डूका ददत शतानि।

—इन वाक्याम वर्णित जड वनस्पतियाद्वारा एव चतन होते हुए भी ज्ञानहीन सर्प मण्डूक प्रभृति जीवाद्वारा यज्ञानुष्ठान किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसलिय उक्त वाक्य उन्मत्तके प्रलापकी भाँति जिस-किसीक द्वारा रचे गये हैं। अत वेद नित्य अथवा अपौरुषय कथमपि नहीं हो सकते।

इस विषयम भारतीय दर्शनशास्त्राने जो विचार किया, वह बहुत ही क्रमबद्ध और सोपपत्तिक है। उन विश्लेषणोंकी छायाम देख तो उपर्युक्त तर्क बहुत ही सारहीन एव तथ्यहीन प्रतीत होते हैं।

पूर्वमीमासाम महर्षि जैमिनिने 'वेदाश्चैके सन्निकर्ष पुरुषाख्या' और 'अनित्यदर्शनाच्च' (जैमिनिसूत्र १।१।२७-२८)—इन दो सूत्राके अन्तगत वेदाको अनित्य तथा पौरुषय माननेवालाके तर्कका उपस्थापन करके फिर एक-एकका युक्तिप्रमाण-पुरस्सर खण्डन किया है। रामायण, महाभारतकी भाँति काठक, तैत्तिरीय आदि वेदशाखाओंको भी मनुष्यकृत माननेवालाके लिये जैमिनि ऋषि कहते हैं कि वेदाकी जिन शाखाआके साथ ऋषियाका नाम सम्बद्ध है वह उन शाखाआके कर्तृत्वके कारण नहीं, अपितु प्रवचनके कारण है—'आख्या प्रवचनात्' (जैमिनिसूत्र १।१।३०)। प्रवचनका तात्पर्य है कि उन ऋषियोने उन मन्त्र-सहिताओंका उपदेश किया था पणयन नहीं। इसलिये मन्त्राका साक्षात्कार करनेके कारण विश्वामित्र प्रभृतियाका 'ऋषि' कहा जाता है, मन्त्राका 'निर्माता' नहीं। निरुक्तकार यास्कने भी 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु ॥' 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त १।६।२०, २।३।१२)—एसा कहकर उक्त अथकी उपादेयता स्वीकार की हैं।

वेदोमे इतिहास माननेवालाक सम्बन्धमे जैमिनिका कहना है कि तैत्तिरीयसहितामे जो बबर कुसुरुबिन्द आदि नाम उपलब्ध होते हैं वे सब एतिहासिक व्यक्तियाके ही हो यह आवश्यक नहीं है। वहाँ बबर नामक किसी पुरुषविशेषका वर्णन नहीं है, अपितु ब-ब-र ध्वनि करनेवाले प्रवहणशील वायुका ही यहाँ निर्देश है। इसी प्रकार अन्य भी जा शब्द हैं वे सब शब्द-सामान्यमात्र ही समझने चाहिय—'पर तु श्रुतिसामान्यम्' (जैमिनिसूत्र १।१।३१)।

परतु वेदामे 'इतिहासका सर्वथा अभाव है', जैमिनिकी

यह स्थापना यास्क आदि पुरातन वेद-व्याख्याताओके मतसे विरुद्ध है। यास्क वेदोमे इतिहास स्वीकार करते हैं। 'कुशिकस्य सूनु ' (ऋक्० ३। ३३। ५)-की व्याख्या करते हुए यास्क स्पष्ट कहते हैं—'*कुशिको राजा बभूव*' (नि०अ० २, ख० २५)। किंतु वेदोमे इतिहास स्वीकार करते हुए भी यास्क वेदाको पौरुषय अथवा अनित्य नहीं मानते। उनका अभिप्राय है कि वेदोमे तत्तत् ऐतिहासिक व्यक्तियाके होनेके कारण वेदोको उनके बादकी वस्तु नहीं कहा जा सकता। वेदोका ज्ञान त्रिकालाबाधित है। कर-बदरके समान भूत-भव्य-भविष्य—तीनो कालोके सूक्ष्म वर्णनकी शक्ति है। अत लौकिक दृष्टिसे भविष्यमे हानेवाले व्यक्तियोके वर्णन वेदोंकी नित्यता अथवा अपौरुषेयताके विरुद्ध नहीं है। व्यास-सूत्रामें वेदव्यासजीने भी यही पक्ष स्थापित किया है कि वेदामे आये ऐतिहासिक पुरावृत्त-सम्बन्धी पदाको भावी अर्थका ज्ञापक समझना चाहिये। '**भूत भव्य भविष्य च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।**' '**वनस्पतय सत्रमासत**'—इत्यादि वाक्योंको उन्मत्त-वाक्योकी भाँति अनर्थक और मनुष्यकर्तृक बतलानेवालाके लिये मीमासाका उत्तर है कि उक्त वाक्य उन्मत्त-प्रलापकी तरह अर्थहीन नहीं हैं, अपितु उनमे अर्थवाद होनेके कारण यज्ञकी प्रशसामे तात्पर्य है। वहाँ केवल इतना ही अभीप्सित अर्थ है कि जब जड वनस्पति और अज्ञानी सर्प भी यज्ञ करते हैं, तब चेतन, ज्ञानवान् ब्राह्मणाको तो यज्ञ करना ही चाहिये।

यज्ञ-प्रशसापरक इन वाक्योको मनुष्यकर्तृक भी नहीं कहा जा सकता, क्याकि यदि ज्योतिष्टोमादि यज्ञाके विधायक वाक्याको मनुष्यनिर्मित मान भी लिया जाय तो भी '**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**'—इत्यादि वाक्यामे ज्योतिष्टाम यज्ञको स्वर्ग-साधन-स्वरूपमे जो वर्णित किया है, यह विनियोग किसी मनुष्यद्वारा निर्मित नहीं हो सकता। अर्थात् तत्तत् यज्ञोसे तत्तत् फल होते हैं—यह साध्य-साधन-प्रक्रिया किसी साधारण पुरुषके द्वारा ज्ञात नहीं हो सकती। इसलिये वनस्पत्यादि सत्र-वाक्य भी ज्योतिष्टोमादि-विधायक वाक्याके समान ही हैं—

'**कृते वा नियोग स्यात् कर्मण सम्बन्धात्**' (जैमिनिसूत्र १। १। ३२)। अत ये सभी वेद-वाक्य पुरुषकर्तृक न होनेके कारण अपौरुषेय ही हैं।

उत्तरमीमासामें व्यासजाने भी वेदाको नित्य तथा अपौरुषय बताया है। वस्तुत है भी यही बात।

वेदाकी शाश्वतवाणी नित्य एव अपौरुषेय हे। उसके प्रणयनमे साक्षात् परमेश्वर भी कारण नहा हैं, जहाँ श्रुति '*वाचा विरूप नित्यया*' (ऋक्० ८। ७५। ६) कहकर अपनी नित्यताका स्वय उद्घोष करती है, वहीं स्मृतियाँ भी '**अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**' कहकर वेदाके नित्यत्वका प्रतिपादन करती हैं। जिस प्रकार साधारण प्राणोको भी श्वास-प्रश्वास-क्रियामे किसी विशेष प्रयत्नका आश्रय नहीं लेना पडता, जैसे निद्राके समय भी श्वास-क्रिया स्वाभाविक रूपसे स्वत सम्पन्न होती रहती है, उसी प्रकार वेद भी उस महान् भूतके नि श्वासभूत हैं—**अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ।** (बृहदारण्यकोप० ४। ५। ११)

महाप्रलयके बाद तिरोभूत हुए वेदोको क्रान्तदर्शी ऋषि अपने उदात्त तपोबलसे पुन साक्षात्कार करक प्रकट कर देते हैं—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥

पूर्व-पुण्यके द्वारा जब मनुष्य वेद-ग्रहणकी योग्यता प्राप्त करते हैं, तब ऋषियाम प्रविष्ट उस दिव्य वेद-वाणीको वे खोज पाते हैं—

यज्ञेन वाच पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
(ऋक्० १०। ७१। ३)

—इस मन्त्रमे पहलेसे ही विद्यमान वेदवाणीका ऋषियाम प्रविष्ट होना तथा उसका मनुष्याद्वारा पुन ढूँढ पाना वर्णित है। अत वेद नित्य ह। प्रलयके समय भी उसका विनाश नहीं होता, प्रत्युत तिरोधान मात्र हाता हे।

वेद अपौरुषेय हैं। दृष्टके समान अदृष्ट वस्तुम भी बुद्धिपूर्वक निर्माण हानेपर ही पौरुषेयता हाती है—'**यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्** (सा० सूत्र ५। ५०), परतु महाभूतके नि श्वास-रूप वेद ता अदृष्टवश स्वत आविर्भूत होत हैं, उनमे बुद्धिपूर्वकता नहीं हाती। अत वद किसी पुरुषद्वारा रचित कदापि नहीं हा सकते।

मीमासकाने शब्दकी नित्यता बताते हुए नित्य एव स्वत प्रमाण कहकर उनकी अपौरुषयता सिद्ध की थी, परतु उनके शब्द-नित्यत्वका नैयायिकोने प्रबल तर्कोंसे खण्डित कर दिया है। नैयायिक शब्दको नित्य नहीं अनित्य मानते

हैं। तब क्या वेद भी अनित्य हैं? नहीं, वद तो नित्य ही हैं। नैयायिक कहते हैं कि शब्दकी नित्यताके कारण वेद तो नित्य नहीं हैं, अपितु नित्य, सर्वज्ञ परमेश्वरद्वारा प्रणीत होनेके कारण नित्य हैं।

आजके वैज्ञानिकोंने न्यायविदोके शब्दकी अनित्यता-सम्बन्धी तर्कोंको निराधार सिद्ध कर दिखाया है और मीमासकोंके मतको अर्थात् शब्दकी नित्यताको प्रमाणित किया है। आजका भौतिक विज्ञान भी कहता है कि उच्चरित होनेके बाद शब्द नष्ट नहीं होता, अपितु वायुमण्डलमे बिखर जाता है। वैज्ञानिक यन्त्रोके सहारे उसे पुन प्रकट किया जा सकता है। रेडियो टेलीफोन आदि यन्त्रोंने उनके इस कथनको प्रत्यक्ष भी कर दिखाया है।

आजका विज्ञान तो यहाँतक दावा करता है कि भविष्यमें इस प्रकारके यन्त्रोंका आविष्कार हो जानेपर वायुमण्डलमे तैरते उन शब्दोंको भी पकडना सम्भव हो सकेगा, जिन शब्दोंमे भगवान् श्रीकृष्णने आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुनको गीताका उपदेश दिया था। वैज्ञानिकोंका विश्वास है कि वे शब्द विनष्ट कदापि नहीं हुए हैं, अपितु वायुमण्डलमे कहीं दूर निकल गये हैं। शान्त जलमे ककड फेकनेपर जैसे लहरोंका क्रम परिधियाँ बनाता चलता है उसी प्रकार वायुमण्डलमे भी शब्द-लहरियाँ बनती हैं। अभिप्राय यह है कि आजके विज्ञानके अनुसार भी शब्द नित्य होता है। ऐसी स्थितिमे मीमासकोंका जो अभिमत है कि नित्य-शब्दोंका समुदाय होनेके कारण वेद भी नित्य हैं और नित्य होनेके कारण अपौरुषेय भी हैं। वे विज्ञानमूलक होनेके कारण सुतरा प्रमाण-सगत ही हैं।

उपर्युक्त विवेचनका मथितार्थ यही है कि सभी भारतीय दार्शनिकोंने एकमतसे वेदोंको स्वत आविर्भूत होनेवाला नित्य-अपौरुषेय पदार्थ माना है। नैयायिक भी नित्य-सर्वज्ञ-पुरुष-परमेश्वरद्वारा प्रणीत होनेके कारण पौरुषेय कहते हैं, किसी साधारण पुरुषद्वारा निर्मित होनेके कारण नहीं। अपने तप-पूत हृदयोमे क्रान्तदर्शी महर्षियोंने अपनी विलक्षण मेधाके बलपर वेदोका दर्शन किया था। उस दिव्य शाश्वत वेदवाणीमें लोकोत्तर निनादका श्रवण किया था। तथ्य यह है कि वेद अपौरुषेय हैं, नित्य है, भारतीय दर्शनों एव वेदानुरागियोंका यही अभिमत और यही शाश्वत सत्य भी है।

वैदिक धर्म-दर्शनका मूल प्रणव (ॐ)

(डॉ० सुश्री आभा रानी)

वेद सम्पूर्ण मानव जातिकी अमूल्य सम्पत्ति है। हमारे साहित्यमे वेदका जो स्थान है वह अन्य किसी ग्रन्थका नहीं है। मनुकी दृष्टिमें वेद सनातन चक्षु है। उसमे जो कुछ भी कहा गया है, वही धर्म है। उसके विपरीत आचरण करना अधर्म है। वेदके किसी भी मन्त्रके प्रारम्भमे 'ॐ' का उच्चारण होता है। 'ॐ' ब्रह्मका वाचक है। 'ॐ' शब्द ब्रह्मका सर्वश्रेष्ठ रूप है। 'ॐ' का 'अ' कार वैश्वानर है। इसकी उपासनासे समस्त लौकिक कामनाएँ पूर्ण होती हैं। 'उ' कार तैजस् है इसका अर्थ वैश्वानर है तथा इसकी क्रिया तेजमे है, अर्थकी पुष्टि क्रियामे होती है। क्रियासे ही अर्थका परिपाक होता है। क्रियाके बिना मन भी निर्बल रह जाता है। तेजस् उत्कर्षको बताता है। तैजस् वैश्वानर और प्रज्ञा दोनोंसे जुडकर उनका सचालन करता है। जो तैजस्की उपासना करता है, उसके सब मित्र हो जाते हैं। उसके वशमे कोई मूर्ख नहीं होता। तीसरा वर्ण 'म्' है। 'म्' का अर्थ सीमा है। जो 'म्' की उपासना करता है वह समस्त वैभवको पा लेता है। अ-उ तथा म्—इनके अतिरिक्त एक चतुर्थ मात्रा है जो अखण्ड और अव्यवहार्य है, वही तुरीय स्थिति है।

इस प्रकार 'ॐ' मे हमारे व्यक्तित्वके चारो स्तरोंका प्रतिनिधित्व हो जाता है। जो 'ॐ' को जानता है, वह अपनेको जान लेता है और जो अपनेको जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है। अतएव 'ॐ' का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। कठोपनिषद्में वर्णित है कि समस्त वेद इसी 'ॐ' की व्याख्या करते हैं। समस्त तपस्या इसीकी प्राप्तिके लिये की जाती है और इसीकी इच्छामे ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳ सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(कठोपनिषद् १।२।१५)

वैदिक विचारधारामे प्रभुके सर्वोत्तम नाम 'ॐ' की मान्यता थी। परवर्तीकालमे इससे भिन्न विचारधाराएँ चल पडीं। बौद्ध तथा जैन विचारधाराओमे 'ॐ' की प्रतिष्ठा बनी रही। शैव-सम्प्रदायमे 'ॐ नम शिवाय' मन्त्रका प्रचार है, जो वेदके अनुकूल है। शाक्त-सम्प्रदाय भी 'ॐ' का परित्याग नहीं कर सका। शक्तिकी प्रधानता होते हुए भी तान्त्रिक मन्त्रोमे सर्वत्र 'ॐ' का प्रथम उच्चारण विहित है। 'ॐ' यह मूल ध्वनि है। यह ध्वनि अ+उ+म् नामकी तीन ध्वनियोमे फैल जाती है। 'अ' आविर्भाव है, 'उ' उठना या उडना है और 'म्' चुप हो जाना या अपनेमे लीन हो जाना है। ऋक्-यजु -सामकी वेदत्रयी इन्हीं तीन मात्राओका उपबृहण है। तीन महाव्याहृतियाँ—भू, भुव और स्व इन्हीं तीन मात्राओसे निकली हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलयका प्रकाशन भी इन्हीं तीन मात्राओसे होता है। सत्, चित्, आनन्दकी तीन सत्ताएँ भी इन्हींसे प्रकट हो जाती हैं।

'ॐ' ब्रह्मका वाचक है, इसम तीन वर्ण हैं—अ, उ तथा म्—इनके अनन्तर एक चतुर्थ वर्ण भी है, जो अर्धमात्रा-रूप है, इसलिये वह सुनायी नहीं पडता। 'ॐ' कारके ये चार वर्ण ब्रह्मके चारो पादोके सूचक हैं, जैसे—

'अ'-अव्यय पुरुष, 'उ'-अक्षर पुरुष, 'म्'-क्षर पुरुष और अर्धमात्रा-परात्पर पुरुष है।

इस प्रकार 'ॐ' ब्रह्मके चारो पादोके सूचक हैं। इनमे प्रथम 'अ' को लें। 'अ' का ऊष्मा-भाग विकासको बतलाता है, स्पर्श-भाग सकोचको बतलाता है। विकास अग्नि है तथा सकोच सोम। इन दोनोके मिश्रणसे पूरी सृष्टि बनी है। जिस प्रकार अर्थसृष्टि अग्नि और सोमसे बनी है, उसी प्रकार सारी शब्द-सृष्टि भी स्पर्श तथा ऊष्माके सयोगसे बनी है। ऐतरेय आरण्यकमे कहा गया है कि 'अ'- से ही सब शब्द बने हैं—'अकारो वै सर्वा वाक्।' 'अ'की इसी महिमाके कारण गीतामे भगवान्ने स्वयको 'अ' कार बताया है—'अक्षराणामकारोऽस्मि।' 'अ' वर्ण असग है, इसलिये इसे अव्यय पुरुषके रूपम माना गया है। 'उ' में मुखका सकोच होता है। यह ससगासग है। यह न तो 'अ' की तरह पूरी तरह असग है और न 'म्' की तरह पूरी तरह ससग है। यह अक्षर पुरुषका वाचक है। 'म्' क्षर पुरुष है। इसमे मुखका सर्वथा सकोच हो जाता है। इसके अनन्तर अर्धमात्रा परात्परकी सूचक है। इसमे शास्त्रकी गति नहीं। इस प्रकार 'ॐ' समस्त वेदोका सार है, क्योकि यह पूर्ण ब्रह्मका वाचक है। समस्त तप और ब्रह्मचर्यका पालन इस 'ॐ' की प्राप्तिके लिये ही किया जाता है।

ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

परब्रह्मके वाचक 'ॐ' की व्याख्या करत हुए शास्त्र कहते हैं—'वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है और पूर्णमेसे पूर्ण निकल जानेके बाद पूर्ण ही शेष रह जाता है।' यहाँ 'वह' परोक्षको बताता है 'यह' प्रत्यक्षको। ईश्वर परोक्ष है, जीव प्रत्यक्ष है। ईश्वरकी पूर्णता तो प्रसिद्ध है, किंतु जीव भी पूर्ण ही है—इसका कारण यह है कि जीव ईश्वरका ही अश है और यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसका अश जीव भी अपूर्ण नहीं हो सकता। पूर्णसे जो भी उत्पन्न होगा, वह पूर्ण ही होगा। अत जीव भी पूर्ण है। पूर्णमसे पूर्ण निकाल लेनेसे पूर्ण ही शेष रहता है। गणितका सिद्धान्त है कि पूर्णमसे पूर्णको निकाल लेनेपर पूर्णमे कोई अपूर्णता नहीं आती। हमारा व्यक्तित्व विश्वका प्रतिविम्ब है। विश्वमे पृथिवी है, हममे शरीर। विश्वमे चन्द्रमा है, हमम मन। विश्वमे सूर्य है, हमम बुद्धि। विश्वमे परमेष्ठी है, हममें महत्। विश्वम स्वयम्भू है, हमम अव्यक्त। इस प्रकार हममे पूरे विश्वका प्रतिनिधित्व हो रहा है। विश्व पूर्ण है इसलिये हम भी पूर्ण हैं। जैसे ही हमे अपनी पूर्णताका ज्ञान होता है, वैसे ही त्रिविध शान्ति सामने आ जाती है, क्याकि अशान्ति अपूर्णतामे होती है, पूर्णतामे नहीं। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इस तीन प्रकारकी शान्तिका सूचक मन्त्र है—ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि 'ॐ' प्रणव वैदिक धर्म-दर्शनका मूल है।

भगवान्‌के साक्षात् वाङ्मय स्वरूप है 'वेद'

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी पिलखुवा)

हमारे भगवान् वद कोई पुस्तक नहीं हैं, किताब या ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि वे साक्षात् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान्‌के श्रीवाड्मय-स्वरूप हैं। वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाके सम्बन्धमे जब साक्षात् श्रीब्रह्माजी, श्रीविष्णु, भगवान् श्रीशकरजी, भगवान् शेप और शारदा भी कहने-लिखनेमे असमर्थ हैं, तब फिर भला मुझ-जैसा तुच्छ व्यक्ति वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाके विषयमे क्या कह सकता है और क्या लिख सकता है?

भगवान् श्रीवेद सनातन धर्मके, मानवमात्रके और भारतके प्राण हैं। यदि भारतके पास वेदभगवान् नहीं हैं तो फिर इस देशकी न कोई कीमत है और न ही कोई मूल्य। भगवान् वेदकी एकमात्र अद्भुत विशेषता यही है कि वेदानुसार चलने और वेदाज्ञा शिरोधार्य करनेके कारण ही भारत आजतक जगद्‌गुरु माना जाता रहा है तथा वेदोके कारण ही हिन्दू जाति सर्वश्रेष्ठ जाति मानी जाती रही है। वेदाके कारण ही सत्य सनातन धर्म सारे विश्वका सच्चा ईश्वरीय धर्म और सिरमौर माना जाता रहा है। जो भी देश अथवा जाति वेदभगवान्‌की आज्ञापर नहीं चले और वेदभगवान्‌की कृपासे वचित रह गये, वे देश तथा जाति जगलियाकी श्रेणीम चले गय और सभ्य होनेस वचित हो गये तथा वास्तविक उन्नति भी नहीं कर सके। वेदभगवान्‌की ऐसी विलक्षण महिमा है कि उनके समक्ष किसी भी अन्य वेद-विरुद्ध बातको सनातनधर्मी हो अथवा अन्य कोई बड-से-बडा नेता या चक्रवर्ती सम्राट् ही क्या न हो, साक्षात् अपने अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परात्पर ब्रह्म भगवान् तककी भी बात माननेके लिये तैयार नहीं हा सकता। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि हम सनातनधर्मियाने भगवान् बुद्धको साक्षात् भगवान्‌का अवतार माना है, पर वेद-विरुद्ध बात कहनके कारण हमने स्वीकार नहीं किया और भगवान् जगद्‌गुरु श्रीशकराचार्यजी महाराजने भी बुद्ध-भगवान्‌की बातको स्वीकार नहीं किया। जगद्‌गुरु श्रीशकराचार्यजी महाराजने विरोधी बौद्धासे शास्त्रार्थ करके उन्ह परास्त किया तथा सनातन वैदिक धर्मकी पताका बड गर्वसे फहरायी। साक्षात् भगवान् बुद्धकी भी बात जब वेदाके सामने नहीं मानी जा सकती तो इससे बढकर वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाका प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा? बादमें जो भी जगद्‌गुरु श्रीरामानुजाचार्य, जगद्‌गुरु श्रीशकराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीमाधवाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य आदि पूज्य आचार्यचरण हुए हैं, सभी वेदाके सामने नतमस्तक हुए हैं और वेदाको सभीने माना है। किसी भी धर्माचार्य, सत-महात्माने बौद्धमतकी बातको स्वीकार नहीं किया और एक स्वरसे वेदभगवान्‌की आज्ञाको ही सर्वोपरि माना है। वेदभगवान् ही हमारे लिये सब कुछ हैं।

वेदभगवान् साक्षात् परात्पर ब्रह्म हैं। इनके समान न कोई हुआ है और न होगा—'न भूतो न भविष्यति' यह एक अकाट्य सत्य सिद्धान्त है। ३३ करोड देवी-देवता वेदभगवान्‌के सामने नतमस्तक होते हैं और साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भी वेदाज्ञाका पालन करते हैं। वे सनातन वैदिक धर्मकी रक्षाके लिये ही तो अपना अवतार ग्रहण करते हैं तथा वैदिक सत्कर्तव्याका पालन कर इसे महिमामण्डित करते हैं। वेदभगवान्‌का अवतार भी होता है।

जिस प्रकार भगवान् निराकार हैं और वे समय-समयपर भगवान् श्रीराम, कृष्णके रूपमे अवतार लेते हैं, जिस प्रकार श्रीगङ्गा जलके रूपमे हैं, पर समय-समयपर अपने भक्तोको चतुर्भुजी-रूपमे दर्शन देती हैं। इसी प्रकार परब्रह्म भगवान् श्रीरामके राज्याभिषेकके समय भगवान् वेदने देवताआके रूपम प्रकट होकर उनकी स्तुति की थी। वेदभगवान्‌ने साकाररूपमे श्रीकृष्णावतारके समयमे भी अवतरित होकर उनकी स्तुति की थी। वेदभगवान्‌का अवतार श्रीवाल्मीकिरामायणके रूपमे हुआ था। वेदाके वास्तविक अर्थों एव रहस्याको सनातनधर्मियाके अतिरिक्त आजतक सारे विश्वका कोई भी व्यक्ति समझ ही नहीं सका है और न समझ सकेगा। वेदभगवान् पूर्ण हैं। इसीलिये वे साक्षात् धर्मप्राण दिव्य देश भारतमे और देववाणी संस्कृतमें विराजमान रहकर जगत्‌का परम कल्याण किया करते हैं। हम भारतवासी सनातनधर्मी हिन्दू परम सौभाग्यशाली हैं कि हम वेदभगवान् मिले हैं, जिनकी छत्रच्छायाम रहकर हम

अपना परम कल्याण किया करते हैं। वेदभगवान्‌की कृपा और वेदाके दिव्य प्रकाशके कारण ही सारा विश्व भारतको जगद्गुरु मानकर, भारतके सामन नतमस्तक हुआ करता है और घोर विपत्ति पडनेपर भारतसे प्रकाश प्राप्त करता है।

वेदभगवान्‌के विना विश्वका कल्याण कभी भी नहीं हो सकता और वेदोसे बढकर सारे विश्वमें कल्याणका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यह हम नहीं कह रहे हैं बल्कि इसे ता २५ सौ वर्ष पूर्व अरबी भाषी कवि लाबाने ही कह दिया था। लखनऊके एक पत्र 'आर्यमित्र'में अक्टूबर १९६८ म उनकी वह कविता छपी थी, जिसमें वेदोंकी अद्भुत महिमाका वर्णन इस प्रकार है—

मूल अरबी कविता*

अया मुबारकल अर्जे योशेय्ये नुहामिनल्।
हिन्दे फाराद कल्ला हो मैय्यो नज्जेला जिक्रतुन॥ १॥
वहल तजल्ले यतुन् एनाने सहबी अखातुन्।
हाज ही युनज्जेलर रसोजिकतार मिनल हिन्दुतुन॥ २॥
यकलून स्लाहया अहलल् अजे आलमीन कुल्लहम्।
फत तिऊ जिक्र तुल वेदहक्कन् मालम् युनज्जे लहुन॥ ३॥
वहो आलम् नुस्र साभवल मुजर मिन ल्लहेतन जीलन्।
फ़ ऐनमा अखैयो मुत्तवे अस्याँ वशरेयाँ न जातुन्॥ ४॥
व अस् नैने हुआ ऋक न अतर या सदीनक अखुव्वतुन्।
न अस्नात अला अदन व होन मश अरतुन्॥ ५॥

१-हे हिन्दुस्तानकी धन्य भूमि! तू आदर करने योग्य है, क्योकि तुझम ही ईश्वरने सत्य-ज्ञानका प्रकाश किया।

२-ईश्वरीय ज्ञानरूपी ये चारो वेद हमारी मानसिक नेत्राकी किस आकर्षक और शीतल उषाकी ज्योतिको देते हैं। परमेश्वरने पैगम्बरा अर्थात् ऋषियाके रूपाम इन चारा वेदाका प्रकाश किया।

३-पृथ्वीपर रहनेवाली सब जातियाको ईश्वर उपदेश करता है कि मैंने वेदाम जिस ज्ञानको प्रकाशित किया है, उसे तुम अपन जीवनम क्रियान्वित करो। उसके अनुसार आचरण करो! निश्चयरूपसे परमेश्वरने ही वेदाका ज्ञान दिया है।

४-साम् आर यजु वे खजाने (कोष) हैं, जिन्ह परमेश्वरने दिया है। ह मेरे भाइयो! तुम इनका आदर करो, क्योकि वे हम मुक्तिका शुभ समाचार देते हैं।

५-चारा वेदाम ऋक् और अतर (अथर्व०) हम विश्व-भ्रातृत्वका पाठ पढाते हैं। ये दो ज्योति-स्तम्भ हैं, जो हम उस लक्ष्य—विश्वभ्रातृत्वकी ओर अपना मुँह मोडनेकी चेतावनी देते है। [प्रेषक—*श्रीशिवकुमारजी गोयल*]

वेदोका स्वरूप और पारमार्थिक महत्त्व

(प्रो० डॉ० श्रीश्याम शर्माजी वाशिष्ठ)

'वेद' शब्द ज्ञानार्थक 'विद' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होकर बना है। अत वेदका सामान्य अर्थ है ज्ञान। इस ज्ञानमे ज्ञानका विषय ज्ञानका महत्त्व तथा ज्ञेय आदि सभी कुछ समवेत-रूपम समाहित हैं। ज्ञानके अतिरिक्त 'विद' धातु सत्ता-अर्थम, लाभ-अर्थम तथा विचारणा आदि अर्थोंमे भी प्रयुक्त होता है। अतएव वेदका अर्थ अत्यन्त व्यापक हो जाता है। इस व्यापक अर्थको लक्ष्यम रखकर ही वेदकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेद ।' अर्थात् धर्मादिपुरुषार्थ जिसम हैं, जिससे ज्ञात होते हैं तथा जिससे प्राप्त होते ह, वे 'वेद' हैं।

भारतीयाके लिये वेद चरम सत्य है। यह सामान्य ज्ञान या विद्यामात्र ही नहीं, अपितु लौकिक-अलौकिक समस्त ज्ञानस्वरूप या ज्ञानका बोधक है। अतएव कहा गया है—'सर्वज्ञानमयो हि स ' (मनु० २। ७)। बादम यही वेद शब्द ज्ञानके सग्रहभूत ग्रन्थके लिये भी प्रयुक्त होने लगा, जिसे भारतीय आस्थाका प्रतीक माना जाता है।

वेदका प्रादुर्भाव

वेदक प्रादुर्भावके सम्बन्धमे अनेक मत हैं। पाश्चात्त्य एव पाश्चात्त्य-दृष्टिकोणसे प्रभावित लोग विभिन्न आधारापर वेदाका समय निर्धारित करते है, जबकि भारतीय सस्कृति एव परम्पराआम आस्था रखनेवाले लोग वेदोको अपौरुषेय

* मूल अरबी कविता आबुके विद्वान् कवि लाबीने लिखी थी। यह कविता हारुन रशीदके दरबारी कवि 'अस्माइ मिले कुशरा' द्वारा सगृहीत 'सिहल उकुल नामक पुस्तकके पृष्ठ ११८ पर अकित है।

तथा सनातन मानते हैं। इनमे भी कुछ वेदाको स्वत आविर्भूत एव अपौरुपेय मानते हैं, कुछ ईश्वररूप मानते हैं, कुछ ईश्वरके अनुग्रहसे महर्षियोका प्राप्त (अर्थात् सर्वप्रथम प्रजापति ब्रह्माको या अग्नि, वायु तथा सूर्यको प्राप्त) हुआ—ऐसा मानते हैं। सम्प्रति, आस्थावादी समस्त भारतीय यही मानते हैं कि वेदका प्रादुर्भाव ईश्वरीय ज्ञानके रूपमे हुआ है। अतएव वेद अपौरुपेय, नित्य तथा सनातन हैं। जिस प्रकार ईश्वर अनादि-अनन्त तथा अविनश्वर है, वैसे ही वेद भी अनादि-अनन्त तथा अविनश्वर है। स्वय वेदमे इसे ईश्वरकृत बताते हुए लिखा गया है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक्० १०। ९०। ९)

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ (-रूप परमात्मा)-से ऋग्वेदके मन्त्र तथा सामगान बने, अथर्ववेदके मन्त्र उसीसे उत्पन्न हुए और उसीसे यजुर्वेदके मन्त्र भी उत्पन्न हुए। उपनिषद्ने कहा है कि सृष्टिके आदिमे परमात्माने ही ब्रह्माको प्रकट किया तथा उन्हे समस्त वेदोका ज्ञान प्राप्त कराया—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतर० ६। १८)

बृहदारण्यकोपनिषद्मे भी वेदोंको परमात्माका नि श्वास कहा गया है—

एव वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस। (बृ० उ० २। ४। १०)

वेदको ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें ही साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-महर्षियोने अपने अन्तश्चक्षुआसे प्रत्यक्ष दर्शन किया और तदनन्तर उसे प्रकट किया। इसी कारण महर्षि यास्कने ऋषियोको मन्त्रद्रष्टा कहा है—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार।'

सामान्य लोग जिस वैखरी वाक्को वेदके रूपमे जानते हैं और अनुशीलन करते हैं, वे वैदिक सूक्तोके द्रष्टा ऋषि-महर्षियोको ही वेदोका कर्ता मानते है। इसीलिये कहा गया है—**'इमे सर्वे वेदा निर्मिता सकल्पा सरहस्या।'** जबकि इन ऋषियोने वेदाको प्राप्त किया है, यही इनका ऋषित्व है—**तद्यदेनास्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् ....तद् ऋषीणामृषित्वम्॥** (निरुक्त २। ३। ११)

तपस्वी ऋषियाके हृदयमे जा ज्ञान प्रकट हुआ, उसे ही उन्हाने वैखरी वाक्के रूपम पढाया एव प्रचार किया—

यो वै ज्ञातोऽनूचान स ऋषि॥

(श० प० ब्रा० ४। ३। १)

महर्षि यास्कने इसी तथ्यको प्रकट करते हुए लिखा है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु। ते अवरेभ्याः साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु। (निरुक्त १। ६। २०)

वेद-सख्या

ऋषियाने वेदका मनन किया, अत वे 'मन्त्र' कहलाये, छन्दोंमे आच्छादित होनेसे 'छन्द' कहलाये ('मन्त्रा मननात्', 'छन्दासि छादनात्।')। वह ज्ञान मूलत एक था, किंतु शाखाआके भेदसे विभिन्न सहिताआमे सगृहीत हुआ—'वेद तावदेक सत अतिमहत्तत्त्वात् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषु।' (निरुक्त)

यद्यपि 'वेदास्त्रयस्त्रयी' तथा 'चत्वारो वेदा' दोनों मान्यताएं प्रचलित हैं। अत कुछ तीन वेद तो कुछ चार मानते हैं। वस्तुत रचनाभेद अर्थात् गद्य-पद्य एव गान-रूपके कारण तीन वेद माने गये हैं। अर्थवश पाद-व्यवस्थित छन्दोबद्ध मन्त्र ऋक् कहलाये—'तेषामृक् यत्रार्थवशेषपादव्यवस्था।' (जै० सू०), ऋचाएँ साम कहलायीं 'गीतिषु सामाख्या।' (जै० सू०), गद्य-प्रधान होनेसे यजुष् कहलाये 'गद्यात्मको यजु।' अत यजुर्वेदमे जो भी छन्दोबद्ध मन्त्र हैं, वे ऋक् ही कहलाते हैं और अथर्वका गद्य-भाग यजु कहलायेगा।

किंतु यज्ञके कार्य-सम्पादनमे चार विशिष्ट वेद-मन्त्रज्ञ ऋत्विक् होते हैं—होता, अध्वर्यु और उद्गाता तथा ब्रह्मा। वेद भी चार होते हैं। माना जाता है कि वेदके ये विभाग वेदव्यासने किये ('वेदान् विव्यास वेदव्यास')।

वेद भारतीयाके लिये परम पवित्र पारमार्थिक ग्रन्थ हैं, किंतु ये गहन एव गूढ है। वेद-ज्ञानके द्रष्टा ऋषि महर्षियोको इनका तात्त्विक ज्ञान था परतु कालक्रमसे ये जब और भी कठिन तथा पहुँचके बाहर होते गये तो उनके व्याख्याग्रन्थ रचे गये। कुछ लोग मन्त्रभागको ही वेद मानते हैं तथा वेदाके सर्वप्रथम रचे गये व्याख्याग्रन्थ-ब्राह्मणोको पृथक् ग्रन्थ मानते हैं जबकि विस्तृत अर्थमे मन्त्र और ब्राह्मण दोनो ही वेद कहे जाते हैं। अत कहा भी है—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।' धीरे-धीरे ये भी दुरूह होते गये, बादमे आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग आदि भी व्याख्याक्रमसे अस्तित्वमे आये। अतएव आचार्य यास्कने लिखा—'उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इम ग्रन्थ समाम्नासिषुर्वेद च वेदाङ्गानि च॥' यही नहीं, परवर्ती कालमे इतिहास-पुराण भी इनके रहस्योद्घाटनके क्रमम रचे गये। इसीलिये माना जाता है कि इतिहास-पुराणोके अनुशीलनद्वारा ही सम्प्रति वेदोका वास्तविक ज्ञान सम्भव है, अन्यथा वेद स्वय डरते हैं कि कहीं अल्पश्रुत व्यक्ति (अर्थात् भारतीय साहित्य-परम्परासे अनभिज्ञ व्यक्ति) हमपर प्रहार (अनर्थ) न कर दे—

इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेद मामय प्रहरिष्यति॥

तात्पर्य यही है कि जो लोग भारतीय साहित्य और परम्पराओसे अनभिज्ञ हैं या आस्था नहीं रखते, वे वेदोके साथ न्याय नहीं कर सकते।

वस्तुत वेद अज्ञात-पुराकालकी ऐसी सारस्वत रचना है, जो भारतीयोके आस्तिक-नास्तिक धर्मदर्शन, तन्त्र-पुराण, शैव-शाक्त एव वैष्णव, यहाँतक कि बौद्ध एव जैन-मान्यताओ एव प्रेरणाओका भी स्रोत रहा है। वेद-रूपा विग्रहवती पय स्विनी सरस्वतीके ज्ञानामृतमय पयोधरोका पान करके ही परवर्ती युगोमे निरन्तर भारतवर्षकी सततियाँ निरपेक्षभावसे अपनी ज्ञान-ऊर्जा एव मनीषाको समृद्ध करती रही हैं।

पाश्चात्य विद्वानोने भी नि सदेह वेदानुशीलनमे पर्याप्त रुचि ली है और उन्होने एकमतसे वेदोके महत्त्वको स्वीकार किया है। किंतु यूरोपीय भौतिकवादी व्याख्या-पद्धतिसे उनकी शाब्दिक विसगतियाँ, स्वच्छन्द कल्पनाएँ तथा पूर्वाग्रहोसे विजडित बौद्धिक नि सारता ही प्रमाणित हुई है, वैदिक सत्य बाह्य आवरणसे आवृत ही रहा है। विश्वभरके विद्वान् अपने-अपने प्रयासोसे प्राप्त तथाकथित सत्यपर भले ही मुग्ध रहे हो, पर आधारभूत पारमार्थिक सत्य उनकी पहुँचसे बहुत दूर ही रहा है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।' क्योकि उस सत्यधर्मको अधिगत करनेके लिये भारतीय परम्परागत पद्धतिसे अनुशीलन करना ही सुतरा आवश्यक है।

वेद भारतीयोकी आस्थाके आधार, जीवनके सर्वस्व तथा परम पवित्र और परम सम्मान्य हैं। मनुमहाराजने इन्हे देव, पितृ एव मनुष्योका सनातन चक्षु कहा है—'देवपितृमनुष्याणा वेदश्चक्षु सनातन ।' मनुके अनुसार इनकी उपयोगिता त्रैकालिक है—'भूत भव्य भविष्य च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'

वेदोका भारतमे जैसा शीर्ष—सम्मान्य स्थान है, विश्वके किसी भी देशमे किसी भी ग्रन्थको वैसा नहीं है। वेद भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति हैं। भारतके विद्वानो एव ऋषि-महर्षियोने सहस्रो वर्षोसे बडी निष्ठा एव साधनाके साथ इन्हे कण्ठस्थ-परम्पराद्वारा पूर्ण शुद्ध रूपमे सुरक्षित रखा है। वेदोके स्वर, मात्रा एव ध्वनि तकमे लेशमात्र अन्तर न पड जाय, इसी भावनासे गुरुपरम्परा एव कुलक्रमसे पीढी-दर-पीढी पदपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदिके क्रममे, लोमाम विलोम-रीतिसे बिन्दुसे विसर्ग तककी शुद्धिको सुरक्षित रखते हुए सम्पूर्ण भारतमे वेदोका अनुशीलन होता रहा है। यहाँतक कि व्याकरण, ज्योतिष आदि भी वेदज्ञानके लिये अपरिहार्य मानकर पढे-लिखे जाते रहे हैं। फिर भी कालक्रमसे वेद दुर्गम तथा दुरूह होते गये, जिसके परिणाम-स्वरूप इनका सूक्ष्म पारमार्थिक गुह्य विषय अज्ञेय होता गया। सौभाग्यसे फिर भी नि स्पृह भारतीय विद्वान् निरन्तर ही वैदिक अनुसधान एव सत्यानुशीलनमे लगे रहे हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थोके व्याख्याक्रममे आशिक सत्यान्वेषण होनेके कारण ही कर्मकाण्डोन्मुखताका चरम विकास हुआ। इसी कालखण्डमे वेदार्थको जाननेका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास महर्षि यास्कने किया, किंतु यह प्रयास भी शब्दोकी सगति एव अर्थको समझनेकी सीमातक सीमित था। इन्होने यथाप्रसग ऋचाओ एव शब्दोके सामान्य अर्थके साथ-साथ अनेकश आध्यात्मिक अर्थके उद्घाटनका भी बहुमूल्य प्रयास किया है। इनके भी बहुत बाद आचार्य सायण और माधवने वेदभाष्यके रूपमे वेदार्थको समझनेकी बहुमूल्य कुजी दी, किंतु उन्होने जहाँ-तहाँ वेदब्रह्मके आध्यात्मिक तत्त्वके उद्घाटनके सार्थक प्रयास करनेपर भी मुख्यत समग्र रूपमे देववादकी ही स्थापना की है। फलत परवर्ती कालमे वेदके तात्त्विक ज्ञानको समझना और भी दुरूहतर होता गया।

पारमार्थिक स्वरूप

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद ब्रह्मविद्याके ग्रन्थमात्र नहीं स्वयं ब्रह्म है, शब्द-ब्रह्म है। ब्रह्मानुभूतिके बिना वेद-ब्रह्मका ज्ञान सम्भव ही नही है। कहा भी है कि वेद-ब्रह्मके साक्षात्कर्ता ही वेदकी स्तुति (व्याख्या)-के अधिकारी होते हैं—'अथापि प्रत्यक्षकृता स्तोतारो भवन्ति' (निरुक्त ७। १। २)। जो ऋषि नही है उनको वेदमन्त्र प्रत्यक्ष (स्पष्ट) नही होते हैं—'न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्' (बृ० देवता ८। १२६)। स्वयं ऋग्वेदमें उल्लेख है कि ब्रह्मज्ञानी ही ऋचाओंके अर्थको साक्षात् कर सकता है, अन्यथा ऋचाओंसे उसे कोई लाभ नहीं है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
(ऋक्० १। १६४। ३९)

अर्थात् ऋचाओंका प्रतिपाद्य अक्षर और परम व्योम है, जिसमे सारे देवता समाये हुए हैं। जो उसे नहीं जानता, वह ऋक्से क्या करेगा। जो उसे जान लेता है, वह उसमें समाहित हो जाता है। तात्पर्य है कि जिन्हें तप पूत आर्ष-दृष्टि प्राप्त है, वे ही वेद-ब्रह्मके सत्यका दर्शन कर सकते हैं और वे ही वैदिक प्रतीको, संकेताको समझ सकते हैं तथा वैदिक अलंकृत-शैली एवं अर्थगुम्फित वैदिक भाषाके रहस्य-गर्भित सत्यका दर्शन कर सकते हैं।

वैदिक ज्ञान-विज्ञानका स्वरूप—सामान्यत जिस विद्यासे परमात्माकी व्यापकताको देखा या जाना जाता है वह ज्ञान है और जिससे उस एकके प्रपञ्चात्मक विस्तारका ज्ञान होता है, वह विज्ञान है। दूसरे शब्दोंमे अनेक रूपोंमें व्याप्त एक-तत्त्वका जानना ज्ञान है, तो एक-तत्त्वकी बहुविध व्यापकताको समझना विज्ञान है। वेदोंमे ब्रह्मतत्त्व ज्ञान है और यज्ञ-प्रक्रिया विज्ञान है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अमृतमय तथा आनन्दमय है, जबकि विज्ञानका तात्पर्य है सृष्टिके लिये कल्याणकारी होना।

वैदिक यज्ञ एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें सजातीय और विजातीय पदार्थोंके मिश्रणसे नये पदार्थकी उत्पत्ति होती है। यज्ञमें अधिभूत अधिदैव और अध्यात्मका समन्वय आवश्यक है। प्रकृति ब्रह्मका व्यक्त रूप है। यज्ञसे प्रकृतिकी प्रतिकूलता भी अनुकूल हो जाती है। यज्ञ जीवनका अभिन्न अङ्ग है। यज्ञके अनेक रूप हैं। पञ्चतत्त्वोंका मिश्रण भी यज्ञ है। भौतिक दृष्टिसे यज्ञ प्रक्रिया पूर्णत वैज्ञानिक है। यज्ञ वेदका केन्द्रिय विषय है। अग्नि-विद्या अर्थात् शक्तितत्त्व, संवत्सर-विद्या अर्थात् कालतत्त्व—इन दोनोंका संयुक्त रूप ही यज्ञ-विद्या है। वेद-विद्यामें यज्ञ-विद्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। विश्व-रचना तथा पुरुषकी अध्यात्म-रचनाको जाननेके लिये यह आवश्यक है।

वेदमे भूत-विज्ञान एवं दृष्टि-विज्ञानका ही विस्तार है। वेद-विद्या ही सृष्टि-विद्या है। वेद-विद्याके अनुसार विश्वके दो मूल तत्त्व हैं—देवतत्त्व और भूततत्त्व। एक सूक्ष्म है, दूसरा दृश्य। सूक्ष्म देवतत्त्व ही शक्तितत्त्व है। प्रजापति ही वह मूल शक्तितत्त्व है। यही अनिरुक्त-निरुक्त, अमूर्त-मूर्त, ऊर्ध्व-अध आदि रूपोंसे सृष्टिमे परिव्याप्त है। इसलिये प्रजापतिको 'अजायमान' तथा 'बहुधा वि जायते' के रूपमें कहा गया है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (यजु० ३१। १९)

अर्थात् प्रजापालक परमात्मा सब पदार्थोंके अंदर विचरता रहता है, वह अजन्मा होकर भी अनेक प्रकारसे (वेदादिरूपोमे) प्रकट होता है, उसके मूलस्वरूपको ज्ञानीजन देखते हैं, उसीसे सभी भुवन व्याप्त हैं।

सृष्टि-विद्यामे भूततत्त्व ही क्षरतत्त्व है। क्षरसे ही अक्षर जन्म लेता है—'तत क्षरत्यक्षरम्।' अर्थात् क्षरके अंदर ही अक्षर निवास भी करता है। कहा है—'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।' यह क्षर-अक्षर ही सृष्टि है। क्षर भूततत्त्व है तो अक्षर प्राणतत्त्व है, इसे ही अग्नि आदि कहा जाता है। सृष्टिमें त्रिकका अर्थात् त्रिगुण, त्रिलोक, त्रिदेव, त्रिमात्रा, छन्दत्रय, त्रिलिङ्ग एवं त्रिकाल आदिका सविशेष महत्त्व है। मन, प्राण एवं पञ्चभूत भी त्रिकके रूपमें आत्मतत्त्व या जीवनतत्त्व है। कहा गया है—'वाङ्मय प्राणमयो मनोमय एष आत्मा।' विराट् ब्रह्माण्ड भी इस त्रिक-प्रपञ्चका विस्तार है।

विराट् और अणु अर्थात् 'अणोरणीयान्' और 'महतो

महीयान्'—इन दोनोका मूल अक्षर-तत्त्व है। वेद-विद्यामे सृष्टि-विद्याके रूपम इसीका विवेचन है। अक्षर-ब्रह्म *अयौगिक है ओर यज्ञ यौगिक। अयोगिक तत्त्व ही सृष्टिका* आधार है। अयौगिक ब्रह्म ही सृष्टिमे अनेक रूपोमे व्यक्त है। यही सहस्रात्मा अनन्त है। वेदिक ज्ञान-विज्ञानके रूपम *व्याख्यायित* इस गुह्य वेद-*विद्या तथा* वेद-ब्रह्मकी अनुभूति एव अभिज्ञानके लिये आर्ष-पद्धतिका अनुसरण अपरिहार्य है। आर्ष-पद्धतिके अनुरूप मानसिकतासे ही अर्थगूढ आलकारिक शैली एव प्रतीको *तथा* साकेतिक *मिथकोके* रहस्योद्घाटन होनेपर वेदके गुह्य अर्थकी सगति बैठती है और वेद-ब्रह्म तथा वेद-विद्याके सत्यदर्शनसे आधुनिक भौतिकवादसे कुण्ठित तथा पाश्चात्य भोगवादी सस्कृतिसे आक्रान्त लोगाके विरोध-अन्तर्विरोध, आरोप-प्रत्यारोप एव आक्षेपोका स्वत समाधान हो जाता हे। जैसे—वेदम पशु, रश्मि एव प्रकाशवाचक 'गो' शब्दका बहुश प्रयोग हुआ है, किंतु इसका अर्थ आत्मज्योति करनेपर ही सर्वत्र सगति बैठनेके साथ अर्थकी गरिमा भी प्राप्त होती है। 'अश्व' का अर्थ आत्मशक्ति करनेपर गोमेध और अश्वमेधको लेकर किये जानेवाले कुतर्क स्वत शान्त हो जाते हैं।

वेद-प्रयुक्त इन्द्र-अग्नि आदिका परमात्मशक्ति, वृत्रका मलिनतासे आवृत करनेवाला, अर्णव शब्दका तेज पुज, *क्षीरसागरका अमृतमय अनन्तसत्ता आदि अर्थ* करनेपर वेदके गुह्यार्थकी अनुभूति होती है। इसी प्रकार 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्……' तथा 'अग्निमीळे पुरोहित……'—आदि *मन्त्राका लौकिक-शाब्दिक ही नहीं आध्यात्मिक अर्थ* करनेपर वैदिक ऊर्जा एव वेद-ब्रह्मकी अनुभूति होती है और वेदार्थको आध्यात्मिक आयाम मिलता है तथा 'चत्वारि शृगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य……' एव 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते' आदि मन्त्राके आध्यात्मिक अर्थ करनेसे ही इनक सम्बन्धमे कुतर्क करनेवाले स्वत निरुत्तर हो जाते हैं।

निष्कर्षत वेदोमे लौकिक जीवनोपयोगी विविध सामग्री प्राप्त होनेपर भी वेद मानव-जातिकी सास्कृतिक धरोहर हैं और सनातन ज्ञानगर्भित आध्यात्मिक सुमेरु हैं। अत इनके अनुशीलनसे प्राप्त ज्ञान-विज्ञान-सम्मत तत्त्वज्ञानसे ही मानव-जातिका अमृतत्व और दिव्यत्व प्राप्त हो सकता है तथा विश्वभरका सुतरा कल्याण हो सकता है। यही इनका पारमार्थिक महत्त्व है।

वेद-महिमा

(महाकवि डॉ० श्रीयोगेश्वरप्रसादजी सिंह 'योगेश')

वेद मूल है सब धर्मोंका, अखिल विश्वकी थाती,
इसके पृष्ठोपर सस्कृतिकी गरिमा है लहराती।
पहला महाकाव्य सस्कृतका, धरतीपर प्राचीन,
शब्द-शब्दम भाव भर है, अनुपम और नवीन,
ज्ञान-किरण अक्षर-अक्षरम, मोहक लौ फैलाती॥ १॥

सृष्टि-चक्रके साथ वेदका है अटूट सम्बन्ध,
काट रहा युग-युगसे भवरोगोका दारुण बन्ध,
वेद मन्त्र पढ़ बार-बार रसना है नहीं अघाती॥ २॥

जिसने इसको जान लिया, फिर उसको क्या है शेष?
वेद बनाता है इस धरतीका पावन परिवेश,
भारत क्या, यह सारी दुनिया, इसको शीश झुकाती॥ ३॥

अपौरुषेय रही जो रचना, गरिमासे भरपूर।
मानवताके पथकी बाधाओको करती दूर,
जहाँ विद्वत्ता, ज्ञान-दक्षता सुखसे आदर पाती॥ ४॥

वेद वृक्षकी शाखाएँ है ब्राह्मण औ आरण्यक,
उपनिषद जिसके मन्त्रोकी *व्याख्या करती सम्यक्*
ज्ञान-दीपकी जलती रहती जहाँ हमेशा बाती॥ ५॥

अमर ज्योति फैलानेवाला है यह वेद महान्
ऋषि-मुनि, देव और भूपाका शिक्षाप्रद आख्यान
नारीका सम्मान जहाँ ऋषिकाएँ खूब बढाती॥ ६॥

वन्दनीय यह वेद, ज्ञेय है, जन-जनका यह धन है,
मुझको लगता, सारी वसुधाका ही यह दर्पण है,
मौन आज विज्ञान, वेदकी महिमा कही न जाती॥ ७॥

'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्'

[वेदार्थकी सरस अभिव्यक्ति—श्रीमद्भागवत]

(डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय')

वेद समग्र आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ज्ञानकी निधि हैं। भारतीय परम्परामे वेदोके मथितार्थ-रूपमे निर्भ्रान्त-रूपसे 'ब्रह्म' या 'परमात्मतत्त्व' की ही अभिस्वीकृति, श्रुति-स्मृति-उभय प्रमाणोसे सिद्ध है।

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'[१] अथवा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य'[२]—प्रभृति वचनोंके प्रकाशमे इस सिद्धान्तमे तनिक भी विप्रपत्ति माननेवाला 'परम्परा-बाह्य' अथवा 'वेद-बाह्य' होनेसे सर्वथा उपेक्षा-योग्य है, किंतु वेदके इस मथितार्थ-तक पहुँचनेके लिये 'सोपानक्रम'से अनेक प्रणालियाँ तथा सम्प्रदायादिके भेद, परम्पराको भी मान्य रहे हैं। इतिहास-पुराणोकी पद्धति उन्हींमेसे एक तथा अन्यतम पद्धति रही है। महाभारतके अनुसार 'इतिहास और पुराण वेदार्थके ही उपबृहण है।[३] जो इन्हे सम्यक् रूपसे नही जानता, वह (अन्य क्षेत्रोमे 'बहुश्रुत' होनेपर भी) 'अल्पश्रुत' अर्थात् सीमित ज्ञानवाला माना जाता है और स्वय वेद उससे शकित या भीत रहते हैं कि यह अज्ञ कहीं हमपर प्रहार न कर दे—हमारे मूल अर्थको ही तिरोहित न कर दे।'

यो तो समग्र पुराण तथा महाभारत भी वस्तुत वेदार्थ निरूपण-परक ही हैं[४], किंतु पुराणमुकुटमणि श्रीमद्भागवत तो निगमकल्पतरुका पूर्ण परिणत रसरूप फल ही है[५]। दूसरे शब्दोमे यह समस्त वेदार्थका 'रसप्रस्थान' है। सृष्टिके आदि (ब्राह्मकल्प)-मे अपने नाभिकमलपर किंकर्तव्यविमूढताकी स्थितिमे खिन्न आदिकवि ब्रह्माको जिस तत्त्वरूप-ब्रह्म (वेद)-का, हृदयकी भावात्मक एकतानताके द्वारा परमपुरुष नारायणने उपदेश दिया था[६], श्रीमद्भागवत—श्रीवेदव्यासके माध्यमसे प्रबन्धरूपताको प्राप्त उसी वेदार्थकी पुनरभिव्यक्ति है। इसके वक्ता व्यासनन्दन श्रीशुकदेव इसे 'ब्रह्मसम्मित (वेदतुल्य) पुराण' की समाख्यासे मण्डित करते हैं—

इद भागवत नाम पुराण ब्रह्मसम्मितम्।

(श्रीमद्भा० २।१।८)

वेदसार 'गायत्री' के भाष्यरूपमें[७] प्रसिद्ध यह महापुराण स्वयको सम्पूर्ण वेदो और इतिहासोका 'सार-सर्वस्व'[८], 'सर्ववेदान्तसार'[९] तथा 'सात्वतीश्रुति'[१०] के अभिधानोसे मण्डित करता है। इसके अनुसार सारे वेदोके निसृष्टार्थ भगवान् वासुदेव ही हैं[११], हृदयेश्वर प्रभुके जन्म-कर्मादि लीलाचरित्र वेदोमे गुप्तरूपसे विराजमान हैं[१२]। श्रीमद्भागवतमें पदे-पदे वेदो, ब्राह्मणो, आरण्यक और उपनिषदोंके मन्त्रोका यथावसर अनुवाद, व्याख्यान एव तत्त्वनिरूपण प्राप्त होता है। वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादिका तात्त्विक विवेचन, वेदोके प्राकट्य, शाखाविभाग तथा प्रवचन-परम्परा आदिके साथ इसमे वेदाङ्गोके सूक्ष्मतत्त्वोका सनिवेश, वेदविषयक अनेक अनुसन्धेय तथ्यो और रहस्योका सकेत देता है। दशमस्कन्धके सत्तासीवे अध्यायकी 'वेदस्तुति' तो साक्षात् श्रुति-मन्त्रोका, ज्ञान-भक्ति और वैराग्यपरक, रस-रहस्यात्मक सुललित भाष्य ही है। श्रीमद्भागवतके प्रमुख एव सर्वमान्य टीकाकार श्रीश्रीधरस्वामीने इस अध्यायमे वर्णित स्तुतिके प्रत्येक श्लोकपर समानार्थक श्रुति-मन्त्रोको उद्धृत कर इस तथ्यको प्रमाणित किया है।

यहाँ अत्यन्त सक्षेपमे श्रीमद्भागवतमे वैदिक सूक्तोके निर्देश, उनके अर्थसनिवेश और व्याख्याके साथ, ब्राह्मणवचनोंकी व्याख्या, विभिन्न उपनिषदोके मन्त्रोका शब्दान्तर सनिवेश आदि प्रदर्शित कर 'वेदस्तुति' मे अभिव्यक्त वेदार्थका सकेत

१-कठोपनिषद् (१। २। १५)। २-श्रीमद्भगवद्गीता (१५। १५)।
३-इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयत्॥ (महाभारत आदिपर्व १। २६७)
४-भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शित (श्रीमद्भा० १। ४। २९)। ५-निगमकल्पतरोर्गलित फलम् (श्रीमद्भा० १। १। ३)।
६-तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये० (श्रीमद्भा० १। १। १)। ७- गायत्रीभाष्यरूपोऽयम् ।
८-सर्ववेदेतिहासाना सार सार समुद्धृतम् (श्रीमद्भा० १। ३। ४२)।
९-सर्ववेदान्तसार यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् (श्रीमद्भा० १२। १३। १२)।
१०-यत्रैषा सात्वता श्रुति ॥ (श्रीमद्भा० १। ४। ७) ११-वासुदेवपरा वेदा (श्रीमद्भा० १। २। २८)।
१२-एव जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च। वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पते ॥ (श्रीमद्भा० १। ३। ३५)

मात्र करके इस तथ्यके प्रति विद्वज्जनोके ध्यानाकर्षणका प्रयास किया जा रहा है।

(क) श्रीमद्भागवतम विभिन्न वैदिक सूक्तोका नामत निर्देश अनेकत्र शब्दान्तरसमन्विति तथा व्याख्या—

वेदचतुष्टयम समुपलभ्यमाण तथा अत्यन्त प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त'के नाम्ना उल्लेखके साथ श्रीमद्भागवतकी अधिसख्य भगवत्स्तुतियोम इसका व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है, जैसे—

पुरुष पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहित ॥

(श्रीमद्भा० १०। १। २०)

अर्थात् पुरुषसूक्तके द्वारा उन्हीं परम पुरुष सर्वान्तर्यामी प्रभुकी स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गये। तथा—

पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभि ॥

(श्रीमद्भा० ११। २७। ३१)

भाव यह कि पुरुषसूक्तादि मन्त्रासे राजनादि-सज्ञक सामका गायन करना चाहिये।

यहाँ तो साक्षात् सकेत है ही, अन्यत्र श्लोकामे विभिन्न मन्त्रोका अर्थसाम्य इस प्रकार देखा जा सकता है—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।

(यजुर्वेद ३१। १)

अर्थात् वह परम पुरुष हजारा शिरा, नेत्रों और पादोवाला है। इसीका भावानुवाद श्रीमद्भागवतमे इस प्रकार किया गया है—

पुरुष सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम्।

(३। ७। २२)

स भूमि॰ सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(यजुर्वेद ३१। १)

अर्थात् वह परमात्मा अपने हृदयदेशमे ही सारे विश्वको धारण कर रखा है। इसका भावानुवाद श्रीमद्भागवतमे इस प्रकार द्रष्टव्य है—

तेनेदमावृत विश्व वितस्तिमधितिष्ठति॥

(२। ६। १५)

पुरुष एवेद॰ सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यम्।

(यजुर्वेद ३१। २)

अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान जो कुछ (दीख रहा) है, वह सब परम पुरुष ही है। श्रीमद्भागवतम इसका भावसाम्य देखिये—

सर्वं पुरुष एवेद भूत भव्य भवच्च यत्।

(२। ६। १५)

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुष।

(यजुर्वेद ३१। ३)

अर्थात् 'इस परमात्म पुरुषकी महिमा अत्यन्त विशाल है।' श्रीमद्भागवतमं इसीका तत्त्वानुवाद प्रस्तुत करते हुए कहा गया कि 'अमृत एव अभयपदका स्वामी होनेके कारण उस (परम पुरुष)-की महिमाका पार लगाना मानवमात्रके लिये दुष्कर है'—

महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्यय ॥

(२। ६। १७)

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि॥

(यजुर्वेद ३१। ३)

'सम्पूर्ण भूतमात्र जो इस विश्वमे है, वह सब इस श्रेष्ठ पुरुषका चतुर्थ भाग ही है। इसके तीन भाग दिव्य लोकमे अमृतरूप हैं।' श्रीमद्भागवत (२। ६। १८)-मे इसको इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

पादेषु सर्वभूतानि पुस स्थितिपदो विदु ।
अमृत क्षेममभय त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु॥

अर्थात् 'सम्पूर्ण लोक भगवान्‌के एक पादमात्र (अशमात्र) हैं तथा उनके अशमात्र लोकामे समस्त प्राणी निवास करते हैं। भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकके ऊपर महर्लोक है। उसके भी ऊपर जन, तप और सत्य लोकाम क्रमश अमृत, क्षेम एव अभयका नित्य निवास है।'

ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

(यजुर्वेद ३१। ४)

भाव यह कि उस परम पुरुषने अन्न खानेवाले (सकाम कर्म करनेवाले) और अन्न न खानेवाले (निष्काम कर्म करनेवाले) विश्वको चारो ओरसे व्याप्त कर रखा है। इसीका भावात्मक अर्थ प्रस्तुत करते हुए श्रीमद्भागवत (२। ६। २०)-मे कहा गया है—

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।

अर्थात् अविद्यारूप कर्म-मार्ग और उपासनारूप विद्या-मार्ग दोनाको उस परम पुरुषने व्याप्त कर रखा है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्०। (यजुर्वेद ३१। ११)

इस मन्त्रमे बताया गया कि ब्राह्मणोकी उत्पत्ति उस परम पुरुषके मुखसे हुई है। इसी भावको श्रीमद्भागवतके कई स्थलापर प्रदर्शित किया गया है—

ब्रह्माननम् (२।१।३७), विप्रो मुखम् (८।५।४१)।

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद् वर्णाना मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरु ॥
(श्रीमद्भा० ३।६।३०)

अर्थात् वेद और ब्राह्मण भगवान्के मुखसे प्रकट हुए। मुखसे प्रकट होनेके कारण ही ब्राह्मण सब वर्णोंमे श्रेष्ठ और सबका गुरु है।

"बाहू राजन्य कृत ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्याः शूद्रो अजायत॥
(यजुर्वेद ३१।११)

'उक्त प्रकारसे उस पुरुषके बाहुसे क्षत्रिय अर्थात् शूर उत्पन्न हुए, ऊरू भागसे वैश्य और पादोसे शूद्र उत्पन्न हुए।' श्रीमद्भागवतके निम्न प्रसगामे भी ठीक इसीका विस्तार किया गया है—

" क्षत्रभुजो महात्मा विड्रूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्ण ।
(२।१।३७)

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्र क्षत्रियस्तदनुव्रत ।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुष कण्टकक्षतात्॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभो ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्ता नृणा य समवर्तयत्॥
पद्भ्या भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्या जात पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरि ॥
(३।६।३१—३३)

स्पष्ट है कि इन वचनामे केवल मन्त्रार्थका अनुवाद मात्र नहीं किया गया, अपितु भगवान् वेदव्यासने प्रत्यक मन्त्रपर अपनी सार्थक व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है। इसी प्रकार कुछ और भी उद्धृतियाँ द्रष्टव्य हैं—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षा सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥
(यजुर्वेद ३१।१२)

अर्थात् उस परम पुरुषके मनसे चन्द्रमाकी, नेत्रासे सूर्यकी, श्रवणेन्द्रियोस वायुकी, नासिकासे प्राणकी और मुखसे अग्निकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रसिद्ध मन्त्रका अर्थसादृश्य इन श्लोकामे सहजरूपसे दिखलायी पडता है—

सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते॥ (श्रीमद्भा० ८।७।२७)

अर्थात् हे प्रभो! चन्द्रमा आपका मन और स्वर्ग सिर है।

साम मनो यस्य समामनन्ति (श्रीमद्भा० ८।५।३४)।

(श्रुतियाँ कहती हैं कि चन्द्रमा उस प्रभुका मन है।)

अग्निर्मुख यस्य तु जातवेदा
जात क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।
(श्रीमद्भा० ८।५।३५)

(अग्नि प्रभुका मुख है। इसकी उत्पत्ति ही इसलिये हुई है कि वेदके यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड पूर्णरूपस सम्पन्न हो सके।)

और भी—

अग्निर्मुख तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षण
सूर्यो नभो नाभिरथो दिश श्रुति ।
(श्रीमद्भा० १०।४०।१३)

(अर्थात् अग्नि आपका मुख है। पृथ्वी चरण है। सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं। आकाश नाभि है। दिशाएँ कान हैं।)

इसी प्रकार विष्णुसूक्त (ऋग्वेद १।१५४।१)-के इस मन्त्रकी छाया भी श्रीमद्भागवतमे अवलोकनीय है—

मन्त्र—विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोच
य पार्थिवानि विममे रजासि।

श्रीमद्भागवतस्थ श्लोक—

विष्णोर्नु वीर्यगणना कतमोऽर्हतीह
य पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजासि।
(२।७।४०)

भाव यह कि 'अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके एक-एक धूलिकणको गिन चुकनेपर भी जगत्मे ऐसा कौन पुरुष है जा परम पुरुषकी शक्तियाकी गणना कर सके।'

ऋग्वेदके दशममण्डलके ९५वे सूक्तकी 'उर्वशी-कथा' श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धमे न केवल वर्णित हुई है, अपितु यहाँ इसकी पौराणिक (प्रतीकवादकी) रीतिसे सुन्दर व्याख्या भी की गयी ह। मन्त्रवर्णोंका श्लोकम अनुसरण, अत्यन्त आवर्जक और सहज उन्नेय हे, यथा—

'हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे' इस मन्त्रका श्लोकानुवाद इस प्रकार है—

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ (श्रीमद्भा० ९।१४।३४)।

(अर्थात् प्रिये! तनिक ठहर जाओ।)

इसी प्रकार प्रसिद्ध 'सरमासूक्त[1]' की समन्विति भी श्रामद्भागवतक पञ्चम स्कन्धम दखी जा सकती है।[2]

१-ऋग्वेद (१।६२।३ १।७२।२८ १०।१०८ तथा अथर्ववेद ९।४।१६ एव २०।७७।८)।
२-श्रीमद्भा० (५।२४।३०)।

(ख) ब्राह्मणों, आरण्यको तथा उपनिषदाके मन्त्रोकी समन्विति और व्याख्या—

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध (दशम अध्यायके बारहवे श्लोक)-म आचार्य तथा अन्तेवासीको 'अरणिरूप' बतलाया गया है तथा प्रवचनको दोनाका 'सधान' कहा गया है। यह पूरी व्याख्या तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] का प्रसङ्गोपात्त अनुवाद है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत[2] म सत्यानृतकी व्याख्याका प्रसङ्ग ऐतरेय आरण्यकके एक अशकी मार्मिक व्याख्या है। उपनिषदाके अनेक मन्त्र श्रीमद्भागवतम शब्दान्तरसे उद्धृत तथा व्याख्यात हुए हैं, जैसे—

ॐ ईशा वास्यमिदःसर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद् धनम्॥

(ईशावास्योपनिषद् १)

अर्थात् इस अखिल ब्रह्माण्डमे जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक (इसे) भोगते रहो, (इसम) आसक्त मत होओ, क्योकि भोग्य-पदार्थ किसका है? अर्थात् किसीका नहीं है।

इस मन्त्रकी शब्दान्तर-सन्निविष्टि श्रीमद्भागवत (८। १। १०)-म ज्या-की-त्या इस प्रकार की गयी है—

आत्मावास्यमिद विश्व यत् किचिज्जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद् धनम्॥

इसी प्रकार—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १ श्वेताश्वतर० ४। ६)

तात्पर्य यह कि 'सदा साथ रहनेवाल (तथा) परस्पर सख्य-भाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा एव परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)-का आश्रय लेकर रहते हैं उन दोनोमेसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके फला (कर्मफला)-को स्वाद ले-लेकर खाता है, (किंतु) दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ, केवल देखता रहता है।'

—इस प्रसिद्ध जीवेश्वरसम्बन्धके प्रतिपादक मन्त्रकी व्याख्या भागवतकारने अत्यन्त सुन्दर रीतिसे की है, जिसम शब्दश उपर्युक्त अर्थ ही प्रतिपादित है, तनिक भी अर्थभेद नहीं है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयो खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। ६)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

मुण्डकोपनिषद्म परमात्म-ज्ञानके सम्बन्धमे कहा गया है कि 'कार्यकारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवात्माके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण सशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् यह जीव सब सम्बन्धोसे सदा मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है)।' ठीक यही बात कठोपनिषद् (२। ३। १५)-मे इस प्रकार कही गयी है—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय।

इन औपनिषदिक् मन्त्राका अक्षरश श्लोकानुवाद प्रस्तुत करते हुए श्रीमद्भागवत (१। २। २१)-मे लिखा गया—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

तथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥

(११। २०। ३०)

उपर्युक्त दाना श्लाकोका प्राय एक ही अर्थ है—अर्थात् 'हृदयम आत्मस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार होते ही हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सदेह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है।'

वदार्थोकी इतनी सटीक साम्यता तो अन्यत्र दुर्लभ ही है।

तैत्तिरीयोपनिषद्‌के नवम अनुवाकमे वर्णन किया गया कि मनके साथ वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ उसे न पाकर जहाँसे लौट आती हैं, उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भय नहीं करता। जैसे—

१-तैत्तिरीय ब्रा० (१। ३)।
२-श्रीमद्भा० (८। १९। ३८—४२)।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥

इस मन्त्र एव मन्त्रार्थकी साम्यता श्रीमद्भागवत (३। ६। ४०)-मे देखिये—

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।

अर्थात् जहाँ न पहुँचकर मनके साथ वाणी भी लौट आती है। (उन श्रीभगवान्‌को हम नमस्कार करते हैं।)

कठोपनिषद् (१। २। २०)-ने इस जीवात्माके हृदयरूप गुफामे रहनेवाले परमात्माको सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और महान्‌से भी महान् बतात हुए कहा—

'अणारणीयान्महतो महीयान्।'

श्रीमद्भागवत (८। ६। ८)-म इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया—

'अणारणिम्नेपरिगण्यधाम्ने०॥'

अर्थात् वह परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अनन्त स्वरूपावाला है।

ऐतरेयोपनिषद् (१। १)-म कहा गया कि इस जगत्‌क प्रकट होनेसे पहले एकमात्र परमात्मा ही था—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।

इसीका श्लोकानुवाद करते हुए श्रीमद्भागवत (३। ५। २३)-मे कहा गया—

भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मना विभु।

अर्थात् सृष्टि-रचनाके पूर्व समस्त आत्माओके आत्मा एक पूर्ण परमात्मा ही थे।

परब्रह्म परमात्माके परमधामम कौन साधक पहुँच सकता है, इस बातको रथ एव रथीके रूपकको कल्पना करके कठोपनिषद् (१। ३। ३-४)-म समझाया गया—

आत्मान॰ 'रथिन विद्धि शरीर॰ रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाःस्तेषु गोचरान्।

अर्थात् 'जीवात्मा तो रथका स्वामी है और शरीर ही रथ है, बुद्धि सारथी है तथा मन लगाम है। ज्ञानीजन (इस रूपकमे) इन्द्रियाको घोड बतलाते हैं और विषयोंको उन घोडाके विचरनेका मार्ग।'

श्रीमद्भागवतमे इसका छायानुवाद देखिये—

आहु शरीर रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा धिषणा च सूत
सत्त्व बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम्॥
अक्ष दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमान रथिन च जीवम्।
(७। १५। ४१-४२)

अर्थात् 'उपनिषदामे कहा गया है कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोडे हैं, इन्द्रियोका स्वामी मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथि है, चित्त ही भगवान्‌के द्वारा निर्मित बाँधनेकी विशाल रस्सी हैं, दस प्राण धुरी हैं, धर्म-अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जाव रथी कहा गया है।'

इसके अतिरिक्त अन्य प्रसङ्गोमे गर्भोपनिषद्‌मे वर्णित डिम्भके विकासकी प्रक्रिया, श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें ज्यो-की-त्यो देखी जा सकती है[1]।

(ग) वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञ-यागादिका तात्त्विक विवेचन—

महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवतमे अनेक स्थानोपर वेदके कर्मकाण्डीय पक्ष तथा यज्ञविधानका शास्त्रीय विश्लेषण किया है, निबन्ध-कलवरके विस्तार-भयसे यहाँ केवल स्थल-निर्देशमात्र किया जा रहा है। जैसे—

(१) वैदिककर्म, यज्ञ, इष्टापूर्त आदिक लक्षण—७। १५। ४७ से ५२ मे।

(२) अङ्गिरागोत्रीय ऋषियोके सत्रमे वैश्वदेवसूक्तके द्वारा हीनाङ्गपूर्ति तथा यज्ञिय उच्छिष्टतत्त्वका निरूपण—९। ४। ३ स ८ तक।

१-ऋतुकाले सम्प्रयोगादेकरात्रोषित कलल भवति। ससरात्रोषित बुद्बुद भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति। ××××× सप्तमे मासे जीवेन सयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति (गर्भोपनिषद् ३)।

कर्मणा दैवनत्रेण जन्तुर्देहापपत्तये। स्त्रिया प्रविष्ट उदर पुसो रेत कणाश्रय॥
कलल त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्।
× × ×
आरभ्यसप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वपित।
(श्रीमद्भा० ३। ३१। १—१०)

(३) 'यज्ञो वै विष्णु', 'विष्णुर्वै यज्ञ' प्रभृति ब्राह्मणवचनाकी भगवान् यज्ञ वराहके स्वरूप वर्णनमे श्रीमद्भा० ३। १३। ३४ से ३९ तक सगति।

(४) यज्ञके 'अध्वर' अभिधानकी सगतिहेतु हिंसात्मक पशुयागाकी निन्दा ४। २५। ७-८ तथा ४। २९। ४५ से ४९ तक—इन प्रसगामे द्रष्टव्य है।

(घ) वेदांके प्राकट्य, शाखाविभाग और प्रवचनपरम्परा तथा उपवेदा एव वदाङ्गाका सूक्ष्म विवेचन—यथा—

(१) वेदाका प्राकट्य—द्वादशस्कन्धके षष्ठ अध्यायमे श्लोक ३७ से ४६ तक।

(२) शाखाविभाग और प्रवचनपरम्परा—द्वादशस्कन्धके षष्ठ अध्यायमे श्लोक ४९ से ८० (अध्यायान्त) तक तथा द्वादशस्कन्धके ही सप्तम अध्यायमे।

(३) उपवेदोंका वर्णन—तृतीयस्कन्ध तथा द्वादश अध्यायके ३८ वे श्लोकमे।

(४) वेदाङ्गाके सन्दर्भ—श्रीमद्भागवतमे षड्वेदाङ्गाकी भी सम्यक् समन्विति इस प्रकार देखी जा सकती है—

शिक्षा—११। २१। ३७ से ३९ तक।

कल्प—११। २७। ३६ तथा ५० से ५२ श्लोकोतक।

निरुक्त—३। १२। २०।

व्याकरण—११। २१। ३६।

छन्द—११। २१। ४१।

ज्योतिष—१०। ८। ५, १२। २। २४, १२। २। २७-२८ तथा १२। २। ३१-३२ मे।

(ङ) वेदाके परम तात्पर्यकी प्रतिपादिका वेदस्तुति—

जैसा कि आरम्भमे ही निवेदन किया जा चुका है, श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध (अध्याय ८७)-मे वर्णित 'वेदस्तुति' तो समस्त श्रुतिसिद्धान्तके परम रस और परम रहस्य दोनोंका ही मणिकाञ्चनसयोग है। 'अनिर्देश्य, गुणातीत और सद्-असद् दोनासे अतीत परब्रह्ममे त्रिगुणविषयिणी श्रुतियाँ कैसे चरितार्थ होती हैं[1] ?'—महाराज परीक्षित्के इस गम्भीर प्रश्नके उत्तरमे इस प्रसङ्गका प्रवचन भगवान् शुकने किया है—

'जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणाम्'[2] इस श्लोकसे आरम्भ करके—

> ख इव रजासि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
> स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधना ॥[3]

—यहाँतक अट्ठाइस श्लोका (नकुर्टक छन्दा)-मे मायागुणसवलित परमात्माके तटस्थलक्षण, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'[4] इत्यादिसे आरम्भ करके 'यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूत च भवच्च भविष्यच्च'[5] आदि श्रुति साराशसे उपलक्षित ब्रह्मके 'परमार्थलक्षणके' प्रतिपादन तकका यह प्रसङ्ग अत्यन्त गहन, तात्त्विक एव ज्ञान, भक्ति, वैराग्यकी साधनाआसे ही अनुभवगम्य है। यह सब अत्यन्त वैदुष्य एव विस्तारकी अपेक्षा रखता है तथा एक विस्तृत निबन्धका विषय है।

वस्तुत इसका सार यही है कि श्रीमद्भागवत वेदके परमार्थतत्त्वके रूपमे एकमात्र श्रीहरिको ही व्यवस्थापित करता है। वे ही श्रीहरि, सगुण-साकार सच्चिदानन्दघन-विग्रह धारण कर भक्ताके भावालम्बन 'रसरूप' नारायण, श्रीराम, नृसिंह, वामन या नन्दनन्दन श्रीकृष्ण बनकर लीलाएँ करनेके लिये धराधाममे युग-विशेषके अनुसार अवतीर्ण हाते हैं। उनका यह रसस्वरूप काल और देशकी सीमासे आगे बढकर भक्तोके हृदयमे शाश्वत प्रेमाराधना बनकर प्रतिफलित हो, इस हेतु भगवान् व्यासदेवने परम मनोहर श्रीमद्भागवतमे वेदार्थनिष्पन्दके रूपमे उनके चरित्र एव लीलाआको निर्णीत किया है। इस दृष्टिसे श्रीमद्भागवत-महापुराणको वेदाका 'रस-भाष्य' और वेदान्तका 'रस-प्रस्थान' मानना असमीचीन नहीं है।

सारे वेद परमार्थत ब्रह्मात्म-विषयक है, व्यवहारत उनमे कर्म, उपासना और ज्ञानके काण्डत्रय पृथक्-पृथक् परिलक्षित होते हैं। समग्र श्रुतियाँ परमात्मा श्रीहरिका ही विधान करके अपने मन्त्राद्वारा उन्हींको अभिहित करती है,

---

१-ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तय । कथ चरन्ति श्रुतय साक्षात् सदसत परे॥ (श्रीमद्भा० १०। ८७। १)

२-श्रीमद्भागवत (१०। ८७। १४)। ३-श्रीमद्भा० (१०। ८७। ४१)।

४-तैत्तिरीय० भृगुवल्ली अध्याय। ५-बृहदारण्यक० (३। ८। ७)।

उनके विकल्प और अपोहन (निषेध)-की शैलीमें भी उन्हीं प्रभुका गुणगान व्याप्त है। वेदोंका परम तात्पर्य भी यही है, श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवद्वचन भी तो इसीका समर्थन करते हैं—

'वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।'

(११। २१। ३५)

अर्थात् वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों काण्डोंके द्वारा ब्रह्म एवं आत्माकी एकता ही प्रतिपादित है।

और भी—

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति॥

(११। २१। ४३)

तात्पर्य यह है कि 'सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें परमात्माका ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें उन परब्रह्मका ही वे वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें आकाशादिरूपसे उन्हींमें अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियोंका बस, इतना ही तात्पर्य है कि वे परम प्रभु परमात्माका ही आश्रय लेकर उन्हींमें भेदोंका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके उन्हींमें शान्त (समाहित) हो जाती हैं, तत्पश्चात् केवल वे परम पुरुष ही अधिष्ठानरूपमें शेष रह जाते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें वेदस्तुति

(मानसमराल डॉ० श्रीजगेशनारायणजी 'भोजपुरी')

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें रामराज्यके पावन प्रसंगमें वेदोंने वन्दीवेष धारण कर भगवान् श्रीराम (राजा राम)-की प्रशस्त स्तुति की है। जिसे पूज्यपाद गोस्वामीजी इस प्रकार लिखते हैं—

भिन्न भिन्न अस्तुति करि गए सुर निज निज धाम।
बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम॥
प्रभु सर्बग्य कीन्ह अति आदर कृपानिधान।
लखेउ न काहूँ मरम कछु लगे करन गुन गान॥

(रा०च०मा० ७। १२ ख-ग)

वेद वन्दीवेषमें आये; क्योंकि वेदोंको भगवान्‌का भाट कहा गया है। वन्दीका काम राजाका यशोगान करना है। राजाके समीप जानेकी वन्दियोंको छूट होती है। जब रामका राज्याभिषेक सम्पन्न हो गया तो वेदोंने सोचा कि सद्यः-सिंहासनारूढ भगवान्‌का दर्शन करना चाहिये; किंतु दरबारमें इतनी भीड़ है कि प्रभुतक पहुँच पाना कठिन कार्य है। अतः उन्होंने निश्चय किया कि यदि वन्दीका वेष धारण कर लिया जाय, तब कोई रोक नहीं पायेगा। अतः वे वन्दीवेषमें आये इसलिये भगवान् श्रीरामके अतिरिक्त अन्य कोई उन्हें पहचान नहीं पाया। प्रभु सर्वज्ञ हैं, अतः उन्होंने पहचान लिया और वेदोंको समुचित आदर दिया।

चारों वेदोंने सम्मिलित स्वरमें जो स्तुति की वह अति मङ्गलमयी है—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज बल हने॥
अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० १)

वेदोंने भगवान् श्रीरामको सगुण और निर्गुणका समन्वित रूप कहा है। व्यापक ब्रह्म होनेके कारण श्रीराम सगुण भी हैं और निर्गुण भी। दोनोंकी पृथक् सत्ता होनेपर भी वे दोनोंके समुच्चय हैं। इतना ही नहीं, निर्गुण-सगुण और समन्वयके अतिरिक्त भी वे हैं, इसीलिये अनूप-रूप (अपूर्व एवं दिव्य रूपवाला) भी कहा गया।

उपनिषदोंमें छः हेयगुणोंसे रहित होनेके कारण ब्रह्मको

अगुण अथवा निगुण कहा गया है और दो दिव्यगुण-विशिष्ट होनेसे सगुण कहा गया है—'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः०।' (छान्दोग्य० ८। ७। १)

अर्थात् ब्रह्म पापशून्य, जराहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित एवं पिपासारहित—इन छः हेय-गुणोंसे रहित और सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प—इन दो गुणोंसे युक्त है।

श्रीरामचरितमानसके उक्त *'जय सगुन निगुन'* छन्दमें परमात्माको पहले सगुण पुनः निगुण कहा गया, क्योंकि प्राप्तिके बिना त्याग नहीं बनता। पुनः दोनोंसे भिन्न भी कहा गया, जो साकेतवासी परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी हैं।

श्रीरामने नर-अवतार ग्रहण कर पृथिवीको भाररहित कर दिया। तात्पर्य यह कि रावण आदि पापियोंका वध कर पृथिवीको भारमुक्त कर दिया। ऐसे प्रणतपाल दयालु परमात्माको वेद सम्मिलतरूपसे नमस्कार कर रहे हैं। राज्याभिषिक्त हो जानेपर राजाकी स्तुति करनेकी परम्परा है—

तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिधि दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥
(रा०च०मा० ७। १३ छं० २)

वेदोंने कहा कि हे हरि! आपकी विषम मायाके वशीभूत होकर सुर-असुर, नर-नाग और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही रात-दिन काल-कर्म और गुणोंके अधीन भ्रमित हो रहा है। जिसपर आपकी कृपा-दृष्टि होती है, वही मायासे मुक्त होता है। संसारके कष्टोंका छेदन करनेमें (निर्मूल करनेमें) आप दक्ष हैं, प्रभो! हमारी रक्षा कीजिये।

वेदोंके कहनेका तात्पर्य यह है कि सारा संसार ही मायाके अधीन है—*'सुर नर मुनि कोउ नाहि जेहि न मोह माया प्रबल।'* परंतु माया भगवान्‌की दासी है। अतः वे ही मायासे मुक्त कर सकते हैं—

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥
(रा०च०मा० ७। ७१ ख)

जो शरणागत हो जाता है उसे भगवान् अवश्य मायामुक्त कर देते हैं। इतिहास-पुराण इसके साक्षी हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥
(रा०च०मा० ७। १३ छं० ३)

—वेदोंने स्तुति करते हुए कहा—जो ज्ञानके अभिमानमें डूबे हैं तथा जिन्होंने भगवान्‌की भक्तिका आदर नहीं किया, वे सुर-दुर्लभ पदको पाकर भी भवकूपमें गिर जाते हैं। ऐसा हमने देखा है। वेद स्वतः परम प्रमाण हैं, उनकी बातोंकी सत्यताके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

अतः जो संसारकी आशाका त्याग करके केवल परमात्माका दास बन जाता है, वह मात्र आपका नाम जप कर बिना किसी परिश्रमके संसार-सागरको पार कर जाता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानमें अहंकारकी सम्भावना है, इसलिये दासभावकी भक्तिका आश्रय लेना अनिवार्य है। जो ऐसा नहीं करता उसका पतन होता है—

जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥
(रा०च०मा० ७। १३ छं० ४)

प्रभु! आपके चरण शिव-ब्रह्मादिद्वारा पूजित हैं। आपके पावन पद-रजको पाकर मुनि-पत्नी अहल्या तर गयी। आपके नखसे निर्गत सुरसरि त्रैलोक्य-पावन बन गयी। आपके पावन चरणोंमें ध्वज, कुलिश, अंकुश, कंज आदि दिव्य चिह्न अंकित हैं, परंतु आप इतने भक्तवत्सल हैं कि भक्तोंके उद्धार और दुष्टोंके संहारके लिये कंटकित वनके मार्गोंपर चल पड़े, जिससे आपके चरण लहू-लुहान हो गये। वेदोंके कहनेका तात्पर्य यह कि एक ओर जहाँ भगवान्‌में ऐश्वर्य है, वहीं दूसरी ओर परम कृपालुता भी है—

अब्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥
(रा०च०मा० ७। १३ छं० ५)

वदशास्त्र कहते ह कि ससाररूपी वृक्षका मूल अव्यक्त (प्रकृति) हे। यह वृक्ष अनादि-कालसे हं। इसम चार त्वचाएँ (खाल या छिलका), छ स्कन्ध (तना), पच्चीस शाखाएँ, अनेक पत्ते ओर अनन्त पुष्प हें। इस विटपके आश्रित एक बेल हे, जिसम कटु ओर मधु दो प्रकारक फल फूलते-फलते रहते हें—ऐसे ससाररूपी वृक्ष (परब्रह्म श्रीराम)-को हम नमस्कार करते है।

वेदाने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको ही अनादि वृक्ष कहकर उनकी स्तुति की। सताने अनक प्रकारसे इसकी विशद व्याख्या की हे—

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावही।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर दव यह बर मागहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥
(रा०च०मा० ७। १३ छ० ६)

जो आपको अज-अद्वैत, अनुभवगम्य कहते हैं और आपका ध्यान भी करते हें, वे वैसा ही कहें, करं, हमें कोई आपत्ति नही है। परतु हम तो नित्य-निरन्तर आपके सगुण यशका गान कर, ऐसी कृपा कीजिये। अन्तमे वदाने करुणानिधान तथा सद्गुणोके भण्डार भगवान् श्रीरामसे यह वरदान माँगा कि हम मन, वाणी तथा क्रियाजनित विकारोको त्याग कर आपके चरणामे अनुराग कर।

वेदाकी इस स्तुतिस स्पष्ट होता है कि भगवान्के चरणाम अनुरागके बिना जावका कल्याण नहीं। क्योंकि—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
(रा०च०मा० ७। ६२। १)

वेद ज्ञानके चरम रूप तथा अन्तिम प्रमाण हैं, परतु चारा वेदाका यही मत है कि भगवान्के चरणकमलोमे अनुरागके बिना ज्ञान-विज्ञान, स्वाध्याय, जप-तप आदि सारे साधन अधूरे हे।

सर्वाधाररूपा, कल्याणस्वरूपा वेद-कथा

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी)

भक्ति-मुक्ति और शाश्वत शान्ति तथा अखण्ड आनन्दकी प्राप्तिके प्रमुख तीन मार्ग—भक्तिकी गङ्गा कर्मकी यमुना और ज्ञानकी सरस्वतीका उद्गम एव आधार-स्थान वेद और वेद-कथाआको ही माना जाता ह।

वेद-कथाएँ ही ज्ञान-विज्ञानके धाम सम्पूण आर्य-वाङ्मयके प्राण तथा भारतीय सभ्यता आर हिन्दू-सस्कृतिका मूलाधार—सर्वाधार मानी जाती हैं।

जो स्थान बाद्ध आर जेनाम अहिसाका ईसाइयाम दयाका ओर इस्लामम नमाजका हे उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दुआम वेद आर वेद-कथाआम वर्णित रीति-नीति आचार-विचार, सयम-साधना भाषा-भाव सभ्यता-सस्कृतिको मानने अपनाने ओर तदनुसार चलनपर दिया जाता ह।

ईश्वरकी सत्ता-महत्ताका नकारनेवाला भी हिन्दू हो सकता है कितु वेदाकी सत्ता-महत्ता उपयोगिता-आवश्यकता और मान्यताका स्वाकार न करनवाला हिन्दू नहीं माना जा सकता। इसालिये तिलकजान वदाक स्वत -प्रामाण्यम अडिग निष्ठा होनेको ही हिन्दू होनेकी कसौटी माना है—'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु'। अनेन कारणेन वेदाना वेदकथानाञ्च महत्त्वमनादिकालादद्यावधि भगवत्या सुरसर्या स्रात इव निरवच्छिन्न वरीवर्ति।

वदाके नित्यत्वपर मनुस्मृतिके टीकाकार कुल्लूकभट्टकी ता स्पष्ट धारणा है कि प्रलयकालम भी वेद और वेद-कथाएँ परमात्माम अवस्थित रहती हैं। यथा—

'प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशि स्थित ।'

ईश्वरका खण्डन करनेवाला साख्यशास्त्र भी वेदाके अपारुषेयत्वका प्रतिपादन करता हुआ कहता है—

'न पारुषयत्व तत्कर्तु पुरुषस्याभावात्' अर्थात् वेदकर्ताका कहीं भी वर्णन न हानसे वेदाकी अपौरुषेयता स्वत सिद्ध होती है।

भारतीयाकी तो मान्यता है कि तपश्चरणद्वारा पवित्र एव अत्यन्त निर्मल महर्षियाक हृदयम वेद स्वत प्रकाशित हुए—'वदा भारतीयाना महर्षीणामतिनिर्मले तप पूते हृदि स्वत प्रतिभाता ।'

इसी भावको निरुक्तके नैघण्टुककाण्ड (२। ३। ११)-में निरुक्तकार यास्कने लिखा है कि ऋषियाने मन्त्राको देखा— 'ऋषिर्दर्शनात्'''''स्तोमान् ददर्श' इसीलिये उनका नाम 'ऋषि' पडा।

सर्वानुक्रमसूत्रम कात्यायनने भी लिखा है—'द्रष्टार ऋषय स्मर्तार , न कर्तार ' ये ऋषि वेदमन्त्रोंके द्रष्टा और स्मर्ता हैं, कर्ता नहीं।

वेदों और वेद-कथाआके प्रति अटूट श्रद्धा तथा निष्ठा इस देशके जनमानसमे इतने भीतरतक समा गयी है कि मनुस्मृतिमें वर्णित 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' की सूक्ति, सदुक्ति हमारी भारतीय जीवनमालाका सुमेरु बन गयी है।

इस देशमे, गृहकार्यसम्पादनमें लगी हुई एक साधारण महिलासे लेकर सर्वशक्ति-सम्पन्न राजाधिराजकी अति स्नेहिल राजकुमारी तक वेदोकी उच्छिन्नताको सम्भावना-मात्रसे आकुल-व्याकुल होकर पुकार उठती है—'को वेदानुद्धरिष्यति।' वेदाका उद्धार कौन करेगा? वेदाकी रक्षा और उनके प्रचार-प्रसारके प्रति उच्च उदात्त-भाव केवल भारतवासियामे ही नहीं, अपितु मैक्समूलर, मैक्डॉनल, ग्रिफिथ, विल्सन और राथ आदि पाश्चात्य विदेशी विद्वानोम भी देखनेको मिलते हैं। इन विद्वानाने तो वेद और वेद-कथाआके रहस्योद्घाटनम अपना सम्पूर्ण जीवन ही लगा दिया।

ऋग्वेदकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए विदेशी विद्वान् मैक्समूलरने लिखा है कि—

यावत् स्थास्यन्ति गिरय सरितश्च महीतले।
तावद् ऋग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

यद्यपि यह श्लोक मौलिक रूपसे मैक्समूलरका बनाया हुआ नहीं है। वाल्मीकि-रामायणके इस श्लोकम कुछ शब्दोका परिवर्तन कर मैक्समूलरने इस श्लोकके द्वारा ऋग्वेदकी प्रशसामे अपना हृदयोद्गार प्रकट किया है, जो विदेशियोक हृदयम भी वेदाके प्रामाण्य और वैशिष्ट्यका जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करता है।

सर्वाधार स्वय निराधार अथवा स्वाधाराधृत ही होता है, क्याकि एसा न होनेपर अनवस्थादोष उत्पन्न हो जायगा। यही कारण है कि वेद और वेद-कथाआका रचयिता किसी भ्रम, प्रमाद, करुणापाटव और विप्रलिप्सा आदि पुदोपयुक्त तथाकथित आप्तपुरुषकी कौन कहे, स्वय सर्वदोपरहित भगवान्को भी नहीं माना गया है। वेदो और वेद-कथाओको भगवान्का नि श्वास कहा गया है। श्वासकी गति स्वाभाविक होती है, इसमे प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं होती। इसीलिये वेद और वेदकथाआकी अपौरुषेयताका प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है—

'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।'

(रा०च०मा० १। २०४। ५)

वैदिक कथाएँ देश, काल और घटनाआका अनुसरण नहीं करतीं, अपितु किसी अशमे घटनाक्रम ही वैदिक आख्यायिकाआ और कथाआका अनुसरण करते हैं।

भगवान् वदव्यासने भी कहा है—

'शब्द इति चेन्नात प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥'

(वेदान्तसूत्र १। ३। २८)

अर्थात् प्रत्यक्ष (वेद) और अनुमान (स्मृति)—इन दोनो प्रमाणासे सिद्ध होता है कि वेदोक्त शब्दसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है।

आगेके सूत्रम वे वेदका नित्यत्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

'अतएव च नित्यत्वम्॥' (वेदान्तसूत्र १। ३। २९)

इसीसे वेदाकी स्वत सिद्ध-नित्यता प्रतिपादित हो जाती है। मनुजीने भी इसी वेदानुसारी सृष्टि-सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए कहा है—

सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्सस्थाश्च निर्ममे॥

(मनु० १। २१)

अर्थात् उन सृष्टिकर्ता परमात्माने सृष्टिके प्रारम्भमे सबके नाम, कर्म तथा उन सबकी व्यवस्था अलग-अलग वेदोक्त शब्दाके अनुसार ही बनायी।

सम्पूर्ण विश्वम एकता, अखण्डता और भ्रातृभावनाको बढानेवाली वदाम वर्णित बहुदेववादकी कथाओम एक ही

परमात्माकी भिन्न-भिन्न ढगसे पुकार की गयी है। इस सम्बन्धमे वेदभाष्यकार सायणाचार्यकी यह उक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते॥

यास्कने भी इसी बातको सिद्ध किया हे, जिसे ऋग्वेद (१। १६४। ४६)-मे 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' कहा गया है। अर्थात् एक ही परमात्माका विद्वानोने बहुत प्रकारसे वर्णन किया हे।

जिस प्रकार घटाकाशका मूल महाकाश, विन्दुका मूलाधार सिन्धु, आभूषणाका स्वर्ण और शरावादिक पात्राका मूलाधार मृत्तिकाको माना जाता है, उसी प्रकार उपवेद, वेदाङ्ग, दर्शन, मन्त्र, तन्त्र, सूत्र, काव्य, गीत, पद्यात्मक-गद्यात्मक-आख्यान, व्याख्यान, कथादि सम्पूर्ण परवर्ती वाङ्मय (साहित्य)-का आधार वेद और वेद-कथाआको ही माना जाता है। धर्म ओर ब्रह्मक सम्बन्धमे तो एकमात्र वेद-प्रमाण ही स्वीकार्य माना गया हे।

देश, काल, परिस्थितिके अनुसार समय-समयपर वेद-कथाआने ही विविध रूप धारण कर कुछ लोगाको एक नयी ज्योति, नयी जागृति, नयी स्फुरणा, नयी प्रेरणा और नयी चेतना प्रदान की है।

'इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्' के अनुसार इतिहास-पुराणाकी रचना कर वेदका ही विस्तार और सरलार्थ किया गया है।

वेदपुरुष भगवान् रामके नरोत्तम, पुरुपोत्तम-रूप धारण करनेपर वेद-कथाको ही आदिलाकिक काव्य वाल्मीकि-रामायणके रूपम प्रकट हाना माना जाता है। यथा—

वेदवेद्ये परे पुसि जाते दशरथात्मज।
यद प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

कुछ लागाकी यह भी मान्यता है कि वाल्मीकिरामायणके २४ हजार श्लाक वेदाम वर्णित गायत्री-छन्दक २४ अक्षराकी प्रत्यक अक्षरपर एक-एक हजार श्लोकाद्वारा की गयी व्याख्या है।

इसी प्रकार-गीताकी भी प्रामाणिकता एव मा भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे नि सृत होनेके साथ ही रूपसे गीताका वेदमूलक होना ही है।

'सर्वोपनिपदो गावो ""दुग्ध गीतामृत महत्' उद्घोषणाके पश्चात् ही गीताकी इतनी व्यापकता हुई प्रस्थानत्रयीम उसे प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ।

वेदव्यास-जैसे सर्वज्ञ महर्षिके द्वारा रचित श्रीमद्भाग महापुराणकी भी मान्यता वेद-कथारूपी कल्पवृक्षका होनेके कारण ही हुई है—'निगमकल्पतरोगलित फल

सतशिरोमणि श्रीतुलसीदासजीकी श्रीरामचरितमा कथा आज जन-जनम व्याप्त है, किंतु इसकी भी मान्यत प्रचारका मूल कारण एव आधार इसका वेद-कथा- होना ही है। इसीलिये तुलसीदासजीको कथाके प्रारम्भ लिखना पडा—

'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्"" इद रामचरितमा

तभी लोगोने उसे ललकपूर्वक अपनाया।

इस प्रकार 'सर्वाधाररूपा एव कल्याणस्वरूपा कथा' के विभिन्न रूपोमे विस्तार तथा निष्ठापूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासनके परिणामपर सत्पुरुषा, साधु महापुरुषा, आचार्यों और शास्त्राकी सम्मति प्रकट करते इस सक्षिप्त लेखका उपसहार निम्नलिखित पद्यके प्रस्तुत किया जा रहा है—

वेद-कथा मेटती कलकन के अंकन को
वेद-कथा रकन को रिद्धि-सिद्धि देनी है।
वेद-कथा मेटती सकल जग-ताप शाप
वेद-कथा पापपुञ्ज काटन को छेनी है॥
वेद-कथा गग-यमुना की है तीजी बहन
वेद-कथा जगमें सुखमय त्रिवेनी है।
वेद-कथा धर्म अर्थ काम मोक्ष देती सब,
(यह) वेद-कथा-अंक ब्रह्मज्ञान की निसेनी है॥

वेद-दृष्टि और दृष्टि-निष्ठा

(प्रो० श्रीसिद्धेश्वरप्रसादजी, राज्यपाल—त्रिपुरा)

(१)

दो तटाके मध्य जिस प्रकार नदीकी धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार वेद-दृष्टि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋक्० १। १६४। ४६) और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (ऋक्० ९। ६३। ५)-रूपी इन दो मन्त्र-तटाके बीच उद्भावित हो अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको आलोकित करती है, जिसमे सम्पूर्ण सृष्टिका समस्त रहस्य समाहित है। हिन्दू-धर्म या सनातन-धर्म अथवा वैदिक धर्मकी सञ्ज्ञासे जिस धर्मको जाना जाता है, उसके मूल वेद ही हैं, जिन्हे श्रुति, सहिता, मन्त्र या छन्दस् नामस भी जाना जाता है और परम्परासे जिन्हे अपौरुषेय माना जाता रहा है। ब्राह्मणो, आरण्यको, उपनिषदो, स्मृतियो, धर्मसूत्रो, पुराणों तथा रामायण-महाभारत आदि सम्पूर्ण भारतीय परम्पराकी मूल धाराके आधार-स्तम्भ वेद ही हैं, यहाँतक कि जैन, बौद्ध, सिख आदि परम्पराएँ भी वैदिक परम्पराके ही रूप-रूपान्तरण हैं, वैष्णव, शैव, शाक्त भी इसी मूल धाराकी शाखाएँ हैं और वेदाङ्ग, उपवेद, षड्दर्शन आदि वेदको ही विभिन्न रूपाम समझने-समझानेके युगासे चले आ रहे प्रयासके अङ्ग हैं।

'वेद-दृष्टि' पश्चिमी अर्थम दर्शन नहीं है। पाश्चात्य-परम्पराम दर्शनका अर्थ है जानकारी (इन्फॉरमेशन), जो मूलत तर्कपर आश्रित है, अन्तर्दर्शनपर नहीं। भारतीय परम्पराम दर्शनका अर्थ है रूपान्तरण (ट्रासफॉरमेशन), यह मूलत उस अन्तर्दर्शनपर आधारित है, जो द्रष्टाकी दृष्टिको ही नहीं, प्रत्युत जीवनको भी रूपान्तरित कर देता है। 'जानकारी' की परम्पराके कारण ही पश्चिमम भौतिक विज्ञानका और भारतम धर्मकी उस धारणाका विकास हुआ है, जो जीवन और जगत्‌को उनकी सम्पूर्णताम ग्रहण कर उनके रूपान्तरणके लिये सतत सचेष्ट रहता है। पिछली दो शताब्दियामे यातायात और सचारके साधनाके अभूतपूर्व विकासके कारण यद्यपि सभी परम्पराआके मूल रूप मिश्रित होते आ रहे हैं, फिर भी मूल धाराएँ अभी भी अपने मूल स्रोतास ही जुडी हुई हैं। अत वेदका अध्ययन आज भी उतना ही प्रासगिक एव सार्थक है।

श्रुति-स्मृति एव विज्ञानकी एकात्मता [मात्र एकवाक्यता नहीं] न तो आज कोरी कल्पनाकी वस्तु रह गयी हे, न वे सर्वथा परस्पर-विरोधी हैं। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन जीवनके अन्तिम अमूल्य चालीस वर्षोंमे जिस 'एकीकृत क्षेत्र-सिद्धान्त' (यूनीफाइड फील्ड थियरी)-की खोज करते रहे—वह उस 'वेद-दृष्टि' म निहित है, जिसे आजकी शैलीमे 'दृष्टि-निष्ठा' कहा जायगा। 'दृष्टि-निष्ठा' वस्तुपरक [निरपेक्ष—अनासक्त] होती है और 'व्यष्टि-निष्ठा' व्यक्तिके राग-द्वेषासे सीमित और प्रभावित हाती है। विज्ञानकी शक्ति उसकी वस्तुपरकता, निरपेक्षता अर्थात् 'दृष्टि-निष्ठा' मे है और 'वेद-दृष्टि' भी मूलत इसी सत्यकी स्थापना तथा स्वीकृति है [परतु प्रक्रिया भिन्न है]। अन्य धर्मोके ग्रन्थाकी तरह वेद 'व्यष्टि' नहीं, अपितु 'दृष्टि' के प्रति निष्ठाके प्रतिपादक हैं। अत वैदिक प्रवक्ता कोई अवतार, नबी अथवा पैगबर नहीं, प्रत्युत शताधिक ऋषि हैं, जिन्होने 'सत्' के विभिन्न रूपाके साक्षात्कार किये, उनकी वही 'दृष्टि' वेदके मन्त्र हैं, जिनकी 'श्रुति' उन्हे आत्माकी उच्चतम अवस्थाम ग्रहण किये हुई थी। 'दृष्टि-निष्ठा' मे व्यक्ति माध्यम तो हे, पर उस दशाम उसकी स्थिति निर्वैयक्तिक हो जाती है, 'व्यष्टि-निष्ठा' का धरातल उठकर जब 'दृष्टि-निष्ठा' मे रूपान्तरित हो जाता है, तब उस दशामे व्यष्टि और समष्टिके भेदका विलय हो जाता है, 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' और 'अह ब्रह्मास्मि' तथा 'सोऽहम्' मे अद्वैतकी एकात्मताकी प्रतीति होती है। यह कल्पना अथवा भावुकता नहीं, अपितु मानव-जीवनका सर्वोपरि मनोवैज्ञानिक यथार्थ है। अत 'वेद-दृष्टि' वस्तुत 'दृष्टि-निष्ठा' का पर्याय है और ऋचाआके मन्त्रद्रष्टा 'ऋषि' शब्दके पूर्णतम अर्थमे वैज्ञानिक हैं, जिन्हाने अपनी विशिष्ट साधना-पद्धतिके बलपर अपने जीवनको ही आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रसे भी अधिक निर्वैयक्तिक बना लिया था। इसीलिये ऋचाएँ प्राचीनतम हाकर भी आधुनिकतम हे, सनातन और शाश्वत हे।

'दृष्टि-निष्ठा' आर 'व्यष्टि-निष्ठा' के इस मूल अन्तरको ध्यानम न रखनेके कारण ही उनकी सही व्याख्या नहीं हो

पा रही है। आजकलके लोगाके गले यह बात उतरती ही नहीं कि इतिहासके उस आरम्भ-कालमे वैसी निर्वैयक्तिकताका विकास सम्भव था, जो आधुनिक विज्ञानके लिये भी अभी पूरी तरहसे सुलभ नहीं है। 'दृष्टि-निष्ठा' और 'व्यष्टि-निष्ठा'-म एक ओर महत्त्वपूर्ण अन्तर भाषाके प्रयागकी दृष्टिसे है। 'दृष्टि-निष्ठा' मे भाषाका प्रयोग यौगिक है, 'व्यष्टि-निष्ठा' म रूढ। जैसे दृष्टि सीमित-सकुचित होनेपर सिमट-चिमट जाती है, वैसे ही 'दृष्टि-निष्ठा' से 'व्यष्टि-निष्ठा' के धरातलपर उतरनेसे शब्द भी यौगिकरूपसे रूढ हा जाते हैं, उनकी शक्ति व्यापकताको खो देती है और कवि भी मात्र शिल्पी रह जाता है, क्याकि शब्दके नैरुक्तिक अर्थका विस्मरण कर उनके प्रचलित रूढ अर्थसे ही भाषाको बाँध दिया जाता है।

(२)

आधुनिक भौतिक विज्ञान 'बहुधा वदन्ति' के रूपमे अभी हमारे सामने है, पर वह 'एक सद्' तक नहीं पहुँचा है, क्याकि इस निष्पत्तिकी दार्शनिक एव सामाजिक परिणतिको ग्रहण करनेके लिये अभी पश्चिमी मानस तैयार नहीं है। वैदिक ऋषिका मानस इससे भिन्न था। वे 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के साथ-साथ 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'-के भी द्रष्टा थे, जिसके लिये अन्य धार्मिक एव सास्कृतिक परम्पराओम आज भी मानसिक तैयारी नहीं है। 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' भौतिकशास्त्र (फिजिक्स)-का पराभौतिकशास्त्र (मेटाफिजिक्स) है और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उसका (भौतिक विज्ञानका) पूरक समाजविज्ञान है, जो पूरे मानव-समाजको श्रेष्ठतम स्तर तकके विकासका अधिकारी मानकर सबके लिय एक ऐसे निर्वैयक्तिक मार्गको सुलभ करता है, जो आधुनिक विज्ञानके पूर्ण अर्थमे वैज्ञानिक है। इसलिये 'वेद-दृष्टि' सनातन ही नहीं सर्वजनीन है, क्याकि यह 'व्यष्टि-निष्ठा' का मार्ग नहीं, अपितु 'दृष्टि-निष्ठा' का मार्ग है।

वैदिक ऋषियाने तथा सनातन धर्मने 'दृष्टि-निष्ठा' किस प्रकार विकसित की—प्राप्त की? ध्यानयोगके द्वारा। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१। ३)-ने इसे 'ध्यानयोगानुगता' कहा है। ध्यानयोग 'दृष्टि-निष्ठा' की पद्धति है, प्रक्रिया है क्रियायाग है। यद्यपि योगपर भारतम विशाल साहित्य उपलब्ध है, परतु पतञ्जलिकृत 'योगसूत्र' इनमें सर्वाधिक प्रामाणिक एव लोकप्रिय है। जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् (२। १। २०)-म 'सत्यस्य सत्यम्' कहा गया है। ध्यान योग जिसकी प्राप्तिकी प्रक्रिया है, यही वह मार्ग है जिसका अवलम्ब लकर काई भी व्यक्ति 'आर्यत्व' प्राप्त कर सकता है। इसी मार्गके अनुसरणसे अर्जित शक्तिके भरासे वैदिक ऋषियाने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का उद्घोष किया था। इस मार्गके अनुसरणके बिना 'यत्र विश्व भवत्येकनीडम्' (यजुर्वेद ३२। ८)-की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

आज विश्वम जो बेचैनी, छटपटाहट और पीडा है तथा व्याकुलता और व्यथा है, वह भेद-भावमूलक सकार्ण जीवन-दृष्टिके कारण है। वेदमे इस जीवन-दृष्टिसे भिन्न 'सत्य बृहदृतम्' (अथर्व० १२। १। १)-की बात कही गयी है। इसी परम्पराम 'भूमा' (छान्दोग्य० ७। २३। १)-को सुखका कारण बताते हुए कहा गया है कि 'अल्प' में सुख नहीं है, भूमा अमृत है और अल्प मर्त्य।

'वेद-दृष्टि' सम्पूर्ण मानव-जीवन ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको उच्चतर चेतनाके विकासके माध्यमसे उन्नत और समृद्ध बनानेके लिये मार्गको सुलभ बनाती है। वह ससारके अन्य धर्मोंकी तरह मात्र मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आचार-शास्त्रीय, सामाजिक या आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि जैवी विकासकी सम्भावनाओको भी ध्यानमे रखकर विकसित की गयी है। योगकी साधनासे सुप्त कुडलिनीशक्ति जाग्रत् होती है, जो एक जैवी प्रक्रिया है। इस योग-साधनामे मेरुदण्डकी तीन नाडियो (इडा, पिगला और सुषुम्ना)-का विशेष योग होता है। यह योग-साधना ऋषियोतक ही सीमित नहीं थी, बल्कि जन-साधारणमें भी प्रचलित हो चुकी थी, इसका सबसे प्राचीन प्रमाण यह है कि मोहनजोदडो और हडप्पा ही नहीं, अपितु सरस्वती-सिन्धु-घाटी-सभ्यताकी खुदाईके अन्य स्थानोसे भी योगध्यानमग्न मूर्तियाँ प्रचुर मात्रामे पायी गयी हैं। याग-साधनासे मूलाधारमें कुडलीके आकारम स्थिर प्राण-रस उत्थापित होकर जब मस्तिष्कमे पहुँचता है, तब उससे मस्तिष्कको जो अतिरिक्त ऊर्जा प्राप्त होती है उसीसे हर प्रकारके रचनात्मक कार्य

सम्भव होते हैं और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न उच्चतर अन्तश्चेतनाका विकास होता है [जिसे तृतीय नेत्र कहा गया है]। अन्य धर्मोंमे यह अत्यन्त विरल रही है, क्याकि भारतके अतिरिक्त कहीं और योग-साधनाका आविष्कार नहीं हो पाया। इसीलिये अन्य परम्पराआमें जबकि धर्म 'व्यष्टि-निष्ठा' तक ही सीमित रह गया, भारतमे यह 'दृष्टि-निष्ठा' के उच्च स्तरतक विकसित हो सका। पतञ्जलिने योगसूत्रमे याग-साधनासे प्राप्त होनेवाली जिन विभूतियाका विवरण दिया, उन्हे यहाँ गिनानेकी आवश्यकता नही है, परतु जिसे प्राप्त कराना पतञ्जलिकी योग-साधनाका लक्ष्य था, वह है विवेक-ख्याति अर्थात् प्रकृति एव पुरुषके विवेकको प्राप्त करना और तत्पश्चात् 'स्वरूप' को प्राप्त करना।

(३)

'वेद-दृष्टि' एव 'दृष्टि-निष्ठा' की तरह 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' भी एक समीकरण है—एकीकृत सूत्र है। जिसकी गहराईमे गये बिना न वेदकी समुचित व्याख्या सम्भव है, न अध्यात्म एव विज्ञानकी और न मानव-समाजकी वर्तमान चुनौतियाका समाधान ही ढूँढ पाना सम्भव है। अध्यात्म-विज्ञान ओर भौतिक विज्ञानके समन्वय तथा सामञ्जस्यसे ही समाज-विज्ञानकी रचना होती है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' यदि अध्यात्म-विज्ञान और भौतिक विज्ञानके 'सत्' को सूत्ररूपमे अभिव्यक्त करता है तो 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उसके आधारपर विकसित समाज-विज्ञानको सूत्ररूपमे अभिव्यक्ति प्रदान करता हे। 'एकं सद्' मे 'एक-से अनेक' की जो प्रवृत्ति लक्षित होती है, उस वैदिक समाज-विज्ञानका यह सूत्र पुन 'अनेकसे एक' की ओर उन्मुख करता है, जिसकी परिणति 'यत्र विश्वं भवत्यकनीडम्' मे होती है। इस आत्मसाक्षात्कारके लिये किसी अन्य लोकमे जानेकी आवश्यकता नहीं है, अपितु इसी लोकमे इसे प्राप्त करना होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वय न चेदवेदिर्महती विनष्टि ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दु खमेवापियन्ति॥

(४। ४। १४)

अर्थात् 'हम इस शरीरमे रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गये, यदि उसे नहीं जाना तो बडी हानि है। जो उसे जान लेते है, वे अमृत हो जाते हैं, किंतु दूसरे लोग तो दु खको ही प्राप्त होते हैं।'

'वेद-दृष्टि' कितनी व्यापक थी, कितनी यथार्थपरक थी, इसकी कल्पना भी आज आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। किसी अन्य परम्परामे वेदकी इस उदात्तताको ढूँढ पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है—

यथेमा वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य ।
ब्रह्मराजन्याभ्याः शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।

(यजुर्वेद २६। २)

कुछ लोगाकी इस धारणाका निराकरण आवश्यक है कि 'वेद-दृष्टि'के अनुरूप जीवन मात्र कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्थापर ही आधारित हो सकता है। इसे स्वीकार करनेका अर्थ यह होगा कि वेद नित्य और सनातन सत्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं। ऋत या सनातन नियम अर्थात् वेद (श्रुति) कालातीत हे। इसलिये कोई आर्षवचन भी यदि श्रुति-विरुद्ध हो तो उन्हे मान्यता नहीं दी जा सकती, क्याकि इस परम्परामे वेदका सर्वोपरित्व निर्विवाद है। इसीलिये भारतीय परम्परामे वेदमन्त्राकी अक्षर-रक्षा ही नहीं, बल्कि स्वर-रक्षाके लिये हजारो वर्षोंसे जो प्रयत्न किये जाते रहे—वैसे प्रयत्न ससारमे कहीं और किसीके लिये नही किये गये।

वेद-दृष्टि और सनातन-धर्मके नव-जागरणके लिये आज ऐसे ऋषियाकी आवश्यकता है, जिसके लिये यास्कने 'ऋषीणा मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' (निरुक्त ७। १। ३) कहा है। इसके लिये साधनाका मार्ग अपनानेके बदले आन्दोलनोमे शक्तिका अपव्यय किया जा रहा है। धर्म तो वेदके ज्ञानके ऊपर टिका है, किसी औरपर नहीं।

ज्ञान, कर्म और भक्ति सनातन-धर्मके आयाम हो सकते हैं, पर ये 'वेद-दृष्टि' के सम्पूर्ण सत्यको उजागर नहीं करते, क्याकि उसमे इन तीनाके योगके अतिरिक्त भी और बहुत कुछ समाविष्ट है। आधुनिक लोकतन्त्र बहुमतपर आधारित शासन-पद्धति है। यजुर्वेद (२६। २)-का '**इमा वाच कल्याणीम्** '**जनेभ्य** ' सबके लिये है, इसीलिये वैदिक ऋषिने '**सह चित्तमेषाम्**' (ऋक्० १०। १९१। ३)-की ऊँची बात कही है। यह '**सहचित्तता**' '**समानो मन्त्र समिति समानी समान मन** ' (ऋक्० १०। १९१। ३)-के विना सम्भव नहीं हे। परतु आज ससारकी समितियोमे, लोक-सभाओ और विधान-सभाओमे, समान मन्त्र कहीं

दृष्टिगोचर हो रहा है क्या? और जब समितिम समान मन्त्र न हो तो जन-मन कैसे समान हा सकता हे?

वेद-दृष्टि मध्य कालम जिसे प्राप्त नहीं कर सकी, अब प्राप्त कर सकती है। आधुनिक विज्ञान और टेक्नालाजीक सहयागसे यह सम्भव है। भारतकी स्वतन्त्रताका प्रयाजन यही है। भारत इस दायित्वको निभानेसे मुकर या भाग नहीं सकता। 'तृष्णा' के भयसे सृष्टिकी उपेक्षा 'अज्ञान' है। इस 'अज्ञान' को 'वेद-दृष्टि'के 'ज्ञान' से ही दूर किया जा सकता है।

(४)

भारतने श्रद्धा क्या खो दी है, अपना इतना अवमूल्यन क्या कर दिया है? छान्दोग्योपनिषद् (५। ३। २)-म कहा गया है कि 'यह (ज्ञान) एकाध सूखे ठूँठको भी यदि कहा जाय तो उसमे शाखाएँ और पत्ते निकल सकते ह तो भारत और सनातन-धर्मका कायाकल्प क्या नहीं हो सकता? यदि इसे प्राप्त करना हो तो इस 'महत्'की प्राप्तिके लिये दीक्षित होकर तपस्या करनी पडेगी, व्रत लेना पडेगा—'व्रतेन दीक्षामाप्नोति' (यजुर्वेद १९। ३०), साथ ही श्रद्धा करनी पडेगी, क्योकि श्रद्धा करनेपर ही सत्यताकी प्राप्ति होती है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुर्वेद १९। ३०)।

विश्व वेदकी ओर या सनातन-धर्मकी आर तबतक उन्मुख नहीं हागा, जबतक हम पुन 'वेद-दृष्टि और दृष्टि निष्ठा' का नहीं प्राप्त करते। हम ब्रह्मज्ञान, आत्मविद्या या अध्यात्मके महत्त्वकी चाह जितनी बात कर। आधुनिक विश्वम तबतक हमारी बात कोई नहीं सुनेगा, जबतक भारत अपनेका स्वय उस ऊँचाई तक नहीं उठाता। दूसरा ओर पश्चिमी दशाकी हू-बहू नकलकी हम चाह जितना कोशिश कर—विश्व हमारी आर कभी आकृष्ट नहीं होगा, बल्कि हमारी नकलची प्रवृत्तिका मजाक ही उडायगा। हर राष्ट्रको अपनी परम्परा और परिस्थितिक आधारपर अपन विकासका मार्ग तय करना होता है। अत भारतका 'वद-दृष्टि' एव 'दृष्टि-निष्ठा'के अनुरूप ही अपने विकासको दिशा एव मार्गका निर्धारण करना होगा।

वैदिक दृष्टि-निष्ठाने सरस्वती-घाटी, सिन्धु-घाटीमें जिस काटिकी आध्यात्मिक सस्कृति और भौतिक सभ्यताका विकास किया, वह ससारक इतिहासम अनुपम है। वह विश्व-इतिहासकी एकमात्र सर्वाङ्गीण सस्कृति और सभ्यता थी, जिसकी नींव इतनी मजबूत थी कि हजारो थपडाके बावजूद आज भी भारत अद्वितीय और अप्रतिम है। यह स्वतन्त्र विषय है और इसका उल्लेख यहाँ इसलिये आवश्यक प्रतीत हुआ कि इसका अक्सर विस्मरण कर दिया जाता हे।

रूसमे वेदका अध्ययन और अनुसंधान

(श्रीउदयनारायण सिहजी)

वैदिक धर्म भारतम धार्मिक विश्वासाकी सबस प्राचीन प्रणाली है, जिसने इस उपमहाद्वीपम प्रकट होनेवाली धार्मिक प्रवृत्तिया और दार्शनिक शिक्षाआपर गहनतम प्रभाव डाला है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्त तथा बासवी शताब्दीक प्रारम्भमे रूसी अध्येताआ आर विद्वानाका ध्यान वेदाकी आर आकर्षित हुआ ओर उन्होने उसका अध्ययन प्रारम्भ किया। इस बृहद् ओर महत् कार्यका समारम्भ सुप्रसिद्ध रूसी साहित्यकार ओर मानवतावादी लियो टालस्टॉयने किया, जिनका भारतके राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीसे सम्पर्क—व्यवहार भा था आर महात्मा गाँधीके प्रारम्भिक जीवनको उन्हाने बहुत कुछ प्रभावित भी किया था। गाँधीजी उन्ह अपना गुरु मानते थे। लियो टालस्टॉय एक दार्शनिक और मानवतावादी विचारक भी थे, जिन्हाने रूसकी जनतामें भारतीय साहित्य, दर्शन ओर सस्कृतिम गहरी अभिरुचि पैदा की थी। इस महान् सतका ध्यान सर्वप्रथम वेदाके समृद्ध ज्ञान-भडारकी ओर आकृष्ट हुआ। टालस्टायने वदाका अध्ययन यूरोपाय भाषाआके माध्यमस नहीं, वरन् उस समय भारतके 'गुरकुल काँगडी' नामक स्थानसे प्रकाशित उस वैदिक मेगजिन (मासिक पत्रिका)-के माध्यमसे किया, जा नियमित रूपसे भारतसे उनक निवास स्थान 'यास्थाना पाल्याना' पहुँचा करती थी। पत्रिकाके प्रकाशक तथा सम्पादक प्राफसर रामदेव टालस्टायके भारतीय मित्राम थ।

टालस्टॉयका योगदान

लियो टालस्टॉयने वेदामे सनिहित गहन ज्ञानकी सराहना करते हुए इस गौरव-ग्रन्थके उन अशाको विशेष महत्त्व दिया, जिनमे नीतिशास्त्रकी बाते बतायी गयी हैं। मानवतावादी होनेके नाते टालस्टॉयने मानव-प्रेमसे सम्बन्धित वेदकी ऋचाओका भी अत्यधिक रुचिके साथ अध्ययन किया तथा उनकी अनेक बातोको स्वीकार भी किया। भारतीय पौराणिक ग्रन्थोकी कलात्मकता तथा काव्य-सौन्दर्यने उन्हे विशेष प्रभावित किया। वेद तथा उपनिषद्की प्रशसामे उन्हाने अपनी अमर कृतियोमे अनेक स्थानापर किसी-न-किसी रूपमे अवश्य ही कुछ पक्तियाँ लिखी है। उदाहरणार्थ 'कला क्या है'? शीर्षक-निबन्धमे उन्होने लिखा है—'शाक्य मुनिके इतिहास तथा वेदमन्त्रामे अत्यधिक गहरे विचार प्रकट किये गये हैं, ओर चाहे हम शिक्षित हो अथवा नहीं, ये हमे अब भी प्रभावित करते हैं।' टालस्टॉयने न केवल वेदाका अध्ययन ही किया, वरन् उनकी शिक्षाआका रूसमे प्रचार भी किया। उन्होने अपनी कृतियोमे यत्र-तत्र इसके उद्धरण भी प्रस्तुत किये है। उनकी कुछ उक्तियाके भावानुवाद इस प्रकार हैं—

'उस प्रकारके धन (ज्ञान)-का सग्रह करो, जिसे न तो चोर चुरा सके और न जुल्म करनेवाले छीन ही सके। दिनमे इस प्रकार काम कर कि रातमे नींद आरामसे ले सके। जो कुछ भी नहीं करता, वह केवल बुराई करता है। वास्तवमे वही व्यक्ति शक्तिशाली है, जो अपनेपर विजय प्राप्त कर लेता है।'

—टालस्टॉयकी ये उक्तियाँ वदकी गहन शिक्षाओके अधिक निकट हैं। टालस्टॉयने जीवनपर्यन्त भारतीय साहित्य और सस्कृतिमे रुचि प्रकट की। 'ललित-विस्तर' तथा गीता और शकराचार्यकी दार्शनिक रचनाआका उन्हाने अध्ययन किया। 'ऋग्वेद' क सम्बन्धमे उन्होंने लिखा—'वेदाम उदात्त भावनाएँ निहित हैं।' भारतके अनेक लेखकापर टालस्टॉयका गहरा प्रभाव पडा था। प० जवाहरलाल नेहरूने लिखा है—'टालस्टॉय उन लेखकामसे हैं, जिनका नाम और जिनकी रचनाएँ भारतम सवाधिक प्रसिद्ध हैं।'

परवर्ती साहित्यपर प्रभाव

रूसके अन्य अनेक अध्यताओने वेदाका अध्ययन एव मनन किया है, जिनमे मि० म० बोगर्द लेविनका प्रमुख रूपसे उल्लेख किया जा सकता है। वैदिक साहित्यके बारेमे उन्होने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—'वेद भारतके प्राचीन ग्रन्थ हैं, यद्यपि इनकी विषय-वस्तु बहुत व्यापक है और उसम समाविष्ट अश भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक कालाके हैं, तथापि प्राचीन परम्पराके अनुसार उन्हे अनेक समूहोमे विभाजित किया जाता है। यथा—'ऋग्वेद' (ऋचा-सकलन), 'सामवेद' (मन्त्र-सकलन), 'यजुर्वेद' (स्तुति तथा यज्ञ-विधि-सकलन) और 'अथर्ववेद' (मन्त्र एव जादूमन्त्र-सकलन)। इनम सबसे प्राचीन 'ऋग्वेद' है, इसम विश्वोत्पत्ति तथा विवाह-विषयक ऋचाआसहित अनेक विषयापर १०२८ ऋचाएँ हैं। रूसी विद्वान्ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वेदामे नाट्य-तत्त्व पाये जाते हैं, जिनका साहित्यके उत्तरवर्ती कालामे अधिक पूर्णताके साथ परिष्करण होता है। इसका एक अत्यन्त रोचक उदाहरण 'ऋग्वद' का तथाकथित 'सवाद-स्तोत्र' है। इसके सम्बन्धम यह कहा जाता है कि ये मात्र धार्मिक मन्त्र नहीं थ, वरन् नाट्य-प्रस्तुतियाके लिये रचे गये थे। 'ऋग्वेद' की कुछ कथाआने उत्तरवर्ती कालके लेखकाको नाट्य-रचनाआके लिये सामग्री प्रदान की। उदाहरणके लिये महाकवि कालिदासने अपने नाटक 'विक्रमोर्वशीय'-का आधार पुरूरवा और उर्वशीके प्रेमकी वैदिक कथाको बनाया है। इससे यह निष्कर्ष सहजम ही निकाला जा सकता है कि वैदिक साहित्यका भारतके परवर्ती साहित्यपर गहरा प्रभाव पडा था।

भारत-विद्या-सम्बन्धी अनुसधान

भारतकी विद्याके सम्बन्धम अध्ययन और अनुसधान करनेवालामे रूसी भाषाविद् अकादमीशियन फोर्तुनातोव (सन् १८४८—१९१४)-का विशेष रूपसे उल्लेख किया जा सकता है। मास्को विश्वविद्यालयकी पढाई पूरी करनेके बाद सन् १८७२-७३ म उन्हाने यूरोपके जाने-माने सस्कृतविदा ट्यूबिगनम रोथ बर्लिनमे वेबर एव पेरिसम बर्गेनस शिक्षा पायी। मध्ययुगीन भाषाआका भी उन्हाने अध्ययन किया। सन् १८७५म प्रकाशित उनका शोधकार्य—'सामवेद-

आरण्यक-सहिता' के पाठका प्रकाशन था, जिसक साथ रूसी-अनुवाद, व्यापक टिप्पणियाँ, अनुसधान-कार्य तथा यूरोपीय भापाआके तुलनात्मक व्याकरणकी कुछ समस्याआपर परिशिष्ट भी था। यूरोपम 'सामवद' सदा उसके 'आरण्यका'के विना छापा जाता था। इम प्रकार फोर्तुनातोव 'सामवद'के आरण्यकाके प्रथम रूसी प्रकाशक थे। उनक इस ठोस एव गहन अनुसधान-कार्यम वेदिक साहित्यका सिहावलाकन तथा उसक इतिहासक कुछ प्रश्नापर प्रकाश डाला गया था। विशपत यजुर्वेदके मन्त्रामे ओर यज्ञ-कृत्याके वीच सह-सम्वन्धक प्रश्नपर लखकने यह निप्कर्प निकाला हे कि यज्ञ-कृत्य सदा ही उच्चरित मन्त्रासे अधिक पुराने नहीं हाते थे। उलटे कतिपय कृत्याकी व्याख्या वेदिक पाठाके आधारपर ही की जा सकती है। उन्होने 'सामवद' की टीकाआ ओर उसके भाप्याकी ओर विशेष ध्यान देते हुए इगित किया हैं कि कुछ मामलामे 'सामवद' क मन्त्र 'ऋग्वद' के मन्त्रासे अधिक पुराने है। फार्तुनातावन यह लिखा हे—'वर्तमान समयमे वेदिक ग्रन्थाके प्रकाशनका कार्यभार उस पाठको प्रस्तुत करना हे जा वास्तवम हे और जहाँतक हम पता लगा सकते ह, प्राचीन युगम भी वह अस्तित्वमे था।'

वेदिक समाज

एक अन्य रूसी भारतीय विद्याविद् अकादमीशियन व्सवोलार्दमिल्लेर (सन् १८४८—१९१३)भी पेजोवक शिष्य थे, जिन्होने अपनी शिक्षा वर्लिनक वेबेरे ओर ट्यूविगनक रॉथक निर्देशनम वेदा ओर 'अवस्ता' का अध्ययन करते हुए जारी रखा। प्राग नामक नगरम काम कर रह 'ऋग्वेद'-के प्रसिद्ध विशपज्ञ अल्फ्रेड लुडविगक साथ विशेपत उनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। मिल्लेरका शोध-प्रबन्ध 'आर्य मिथक ओर प्राचीनतम सस्कृतिक साथ उनका सम्वन्ध—एक रूपरेखा भाग—१' शीर्पकसे सन् १८७६ मे प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थकी याजना व्यापक थी जिसम न कवल वादक साहित्य ओर मिथकोंपर, वरन् वेदिक समाजपर भी सामग्री थी। कुछ हदतक मिल्लेरका यह ग्रन्थ जर्मन विद्वान् हनरिक जिमरकी प्रसिद्ध पुस्तक प्राचीन भारतीय जीवनकी पूर्वगामी थी। रूसी विद्वान्‌न वदिक पाठाके आधारपर आर्योक सामाजिक जीवन उनक परिवार शिल्प शस्त्र-अस्त्र आदिका विवरण प्रम्तुत किया। वदाम प्रतिविम्वित अवधारणाआपर उन्हान यूनानी, रामन ओर ईरानी मिथकाम तुलना की हं। मिल्लेरक ग्रन्थम कतिपय वदिक श्लोकाका अनुवाद ओर उनकी विवेचना की गयी है। यह स्मरणीय हे कि अनक वर्पोंतक मिल्लेर मास्का विश्वविद्यालयम सस्कृत पढाते रहे।

ऋचाओंकी विशेपता

एक अन्य रूसी भारताय विद्याविद् दमात्री ओव्स्यानको कुलिकाव्स्की (सन् १८५३—१९२०)-ने भी वैदिक साहित्यके क्षेत्रम कार्य किया है। उन्हाने आदसाम इ० यागिच, पीटर्सवर्गमे प्रोफेसर मिनाएव तथा परिसम वेर्गेनसे सस्कृत सीखी। उन्हाने 'अवेस्ता' का भी अध्ययन किया। वे खार्कोव विश्वविद्यालयम सस्कृतक अध्यापक भी थे। उन्हाने वैदिक साहित्यपर कई पुस्तके लिखीं, यथा—'सामपुष्प लानवाले गरुडका वैदिक मिथक—वाणी आर उन्मादकी अवधारणाके प्रसगम', 'भारोपीय युगक सुरादवापासना पथाके अध्ययनका प्रयास' ओर 'प्राचान भारतम वेदिक युगमे सोमदेवकी उपासना आदस्सा' (सन् १८८४)। अन्तिम पुस्तकम लेखकद्वारा वदिक सोमदेवकी ईरानी पथाक अहोम (होम) आर यूनानी डायानिशसका उपासनासे व्यापक तुलना की गयी है तथा मिथकाक अध्ययनम सार और ऋतु-सम्वन्धी धाराआके प्रमुख प्रतिनिधियाके विचाराकी आलाचना की गया है। कुलिकोव्स्कीका मान्यता थी कि वेदिक ऋचाआमे वाणी अपनी लयवद्धताक कारण द्रव-सी प्रवाहित हाती थी। लयबद्ध वाणीका आदिम मानवके मानसपर प्रबल प्रभाव पडता था ओर इसस उसकी चिन्तन आर सृजन-शक्ति जाग्रत् होती थी। लखकने 'ऋग्वद'-की ऋचाआके भाषा वज्ञानिक विश्लेपणकी सहायतासे पुरातन भाषा और चिन्तनकी विशिष्टताआका पता लगानेकी चेष्टा की थी। सन् १८८७ म कुलिकाव्स्कीन एक अन्य पुस्तक 'वैदिक युगम हिन्दुआकी अग्निपूजाके इतिहासपर कुछ विचार' शार्पकसे प्रकाशित की। इसम उन्हाने वेदाम अग्निके तीन रूप निधारित किये—गृहपति विशाम्पति और वैश्वानर। उनके विचारम यह विभदन केवल मिथकीय लक्षणाके अनुसार नहीं हुआ, वरन् इसका सामाजिक आधार था। गृहपति एक अलग परिवारक गृहका अग्निदव था विशाम्पति ग्राम एव समुदायका ओर वश्वानर समुदायाक सघका

अग्निदेव था। पुस्तकका जो भाग तीन अग्नियाकी पूजाको समर्पित है, उसका मुख्य निष्कर्ष यही है कि पथा आर धार्मिक अवधारणाआका विकास आर्योके नागरिक गठनके विकासके साथ-साथ ही हुआ। इस पुस्तकके दूसर भागमे उन्होने वैदिक साहित्यम अग्निकी उपमाआकी सूची दी है, जिसम ८०० उपमाएँ सकलित है। इसकी सहायतासे वेदिक धर्म और साहित्यम अग्निके महत्त्व, कार्यों और लक्षणाका सही-सही पता लगाया जा सकता है। इस ग्रन्थका फ्रासीसा अनुवाद भी पेरिससे प्रकाशित हुआ है।

वेदिक भापाका व्याकरण

कुलिकोव्स्कीक शिष्य पावल रित्तर (सन् १८७२—१९३९)-ने खार्कोव विश्वविद्यालयके स्लाव-रूसी सकायम शिक्षा प्राप्त की। उनकी प्रथम ऐतिहासिक कृति 'विष्णुको समर्पित ऋग्वदकी ऋचाआका अध्ययन' हे। रितेरने जर्मनीमे 'ऋग्वेद' के प्रसिद्ध ज्ञाता कार्ल गेल्डनरसे भी शिक्षा प्राप्त कर सस्कृतके अतिरिक्त पालि और बँगला-भाषा भी सीखी। उन्हाने ऋग्वदसे लेकर बोसवीं शताब्दीके बँगला कवियोकी कृतियाका अनुवाद भी किया है। वर्तमान समयम रूसी महिला भारत-विद्याविद् त० यलिजारेन्कावा वैदिक साहित्यपर कार्य कर रही हे। उन्हान वदिक भापा—'ऋग्वेद' की शैली और 'अथर्ववद' क मन्त्रा आदिपर कई लेख प्रकाशित किया है। उन्हाने सन् १९८२ म 'वैदिक भापाका व्याकरण' लिखा है, जिसम मन्त्राकी भापाका सभी स्तरापर एककालिक वर्णन किया गया है। इसम वैदिक पाठाकी शब्द तथा अर्थ-रचनाका अध्ययन किया गया हे। इस समय वे 'ऋग्वेद' का विस्तृत टीकासहित पूर्ण अनुवाद तयार कर रही ह। एक अन्य विद्वान् एर्मनकी पुस्तक 'वैदिक साहित्यके इतिहासकी रूपरेखा' म ऋग्वदसे उपनिषदो ओर वदाङ्गा तकका सविस्तार सिहावलोकन किया गया है। सरेब्रयाकोव नामक एक अन्य रूसी भारत-विद्याविद्ने 'प्राचीन भारतीय साहित्यकी रूपरखा' पुस्तक सन् १९७१ म प्रकाशित करायी, जिसम वेदिक युगसे लेकर क्षमन्द्र आर सामदव-जेसे मध्ययुगीन लेखकातकके भारतोय साहित्यके इतिहासकी परिघटनाआका विवरण हे।

इस प्रकार हम दखत हैं कि रूसी भारत-विद्याविद् कितने लगन, कठोर परिश्रम आर गहन अध्ययनके साथ वेदाका चिन्तन-मनन कर रहे हे। वे वदम सनिहित ज्ञानके अथाह भडारकी न केवल खाज कर उसका विश्लेपण ही कर रह ह, वरन् रूसम निवास करनवाली करोडा जनताको भी इसस सुपरिचित करानेका प्रयास कर रहे हैं, जा वेदाके बारम वहुत कुछ जानने-समझनेके लिय उत्सुक हैं। निस्सदह यह भारतक प्राचीन ग्रन्थ वदक प्रति रूसी जनताकी गहरी आस्था ज्ञान-पिपासा एव अभिरुचिका द्योतक है।

वेदविद्या—विदेशोमे

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररजनजी चतुर्वेदी डा०लिट्०)

शोपेन हावर, मेक्समूलर, हेनरिक जिमर, हर्मन आल्डेनवग, अल्फ्रड हिलब्राट, के० एफ० गल्डनर, हरमेन लोमस, हरमैन बरमर, हरमेन ग्रासमैन, अल्फ्रड लुडविग वाल्टरवुस्ट, स्कर्ट, पालड्यूसेन आदि जर्मन विद्वानाकी सुदीर्घ परम्परा है, जिन्हाने वेदविद्याक अध्ययनकी महत्ता प्रतिपादित की। सन् १८४६ म मेक्समूलरने आचार्य सायणक भाष्यसहित सम्पूर्ण ऋग्वेदसहिताका सम्पादन कर उसे प्रकाशित किया था। इस दिशामे मैक्समूलरको प्ररित करनवाले फ्रासासी विद्वान् थे यूजीन वर्नाफ।

रूडोल्फ फान रॉथका कृति 'वदाक साहित्य आर इतिहासक विपयम' मेक्समूलरस तीन वर्ष पहल हा आ चुकी था। रॉथक शिष्याम कार्ल एफ गल्डनर (सन् १८५२—१९२९)-ने ऋग्वदका अनुवाद किया था। वादम इसका अनुवाद अल्फ्रेड लुडविग (सन् १८३२—१९११)-ने प्रकाशित कराया।

जमनाम सबस पहले सामवदका सम्पादन ओर अनुवाद किया गया था। थिआडर बन्फ (सन् १८०९—१८८१)-न सन् १८४८ म उसका प्रकाशन किया था। अल्ब्रख्त वेवरन शुक्ल-यजुर्वेदका मूल पाठ (सन् १८५२—५९ क बीच) प्रकाशित कराया था। लीओपाल्ड श्राएडर (सन् १८५१—१९२०)-न (सन् १८८१—१८८६ म) मत्रायणी-सहिताका सम्पादन किया। यूलियुस गिल (सन् १८४०— १९१८)-न अथवयदक

सौ मन्त्राका अनुवाद किया।

अल्फ्रेड हिलब्राट (सन् १८५३—१९२७)-ने दो खण्डाम 'वैदिक-पुराण-कथा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। हर्मन ओल्डनवर्ग (सन् १८५४—१९२०)-ने वदाके धर्मपर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की थी और ऋग्वेदपर जो व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ लिखा, वदिक अध्ययनक क्षेत्रम उन्ह महत्त्वपूर्ण माना जाता ह। हेनरिक जिमरने 'प्राचीन भारतम जीवन' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसम वैदिक भारतके सामाजिक तथा सास्कृतिक पक्षाका चित्रण हे।

मक्समूलर वदविद्याक अनुसधानद्वारा भारतवर्षके उस स्वरूपको पहचान सके थे, जिसक सम्बन्धम उन्होने लिखा है कि 'यदि मुझसे पूछा जाय कि सम्पूर्ण मानव-समाजम सवसे अधिक बोद्धिक विकास कहाँ हुआ? कहाँ सबस बडी जटिल समस्याआपर विचार हुआ? तो म भारतवर्षकी ओर सकेत करूँगा। यदि मुझसे यह पूछा जाय कि वह कौन-सा साहित्य है, जो हमार आन्तरिक जीवनको पूर्ण और सार्वभोम बना सकता है, तो मं वैदिक साहित्यकी आर सकेत करूँगा।' हनरिक जिमरने (सन् १८७९ म) 'ऐंसियट लाइफ—द कल्चर ऑफ द वैदिक आर्यन्स' प्रकाशित किया था। स्कर्टने अथर्ववेदका अनुवाद सन् १९२३ म प्रकाशित किया। पालड्यूसेनन सन् १९०७ म 'द सीक्रेट टीचिग ऑफ द वेद' ओर सन् १८८३ म 'द सिस्टम ऑफ वद' प्रकाशित किया था।

ओवस्यानिको कुलिकाव्स्की एक रूसी विद्वान् थे, जिन्हान (सन् १८८४) साम-उपासनापर कार्य किया था। वे पहल रूसी विद्वान् थे, जिन्हान वदक मिथका एव दर्शनशास्त्रका अध्ययन किया ओर भारतीय सभ्यताक विकासका एकल सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्हाने पी-एच्०डा०क लिये 'वेदकालीन भारतम अग्निपूजा' विपयपर अनुसधान किया, वेदिक अनुष्ठाना आर अन्य जातियाके अनुष्ठानाम अनक समानताआका उल्लख किया तथा भारताय एव यूरापाय जातियाकी सस्कृतियाक मूल उद्गमाको खाजा।

वदिक उपाख्यानापर रूसा विद्वान् व्लादामिर तापारावकी कृति ग्रिगारी इलिनकी वदिक सस्कृतिक भातिक आधाराकी खाज आर ग्रिगारी बानाड लविनका वदिक दशन-विपयक कृतियाँ उच्च अकादमिक स्वरकी ह। लेनिनग्राद राज्य विश्वविद्यालयक प्रोफेसर व्लादीमिर एमनिन 'वेदिक साहित्यक इतिहास-सम्बन्धी निवन्ध' नामक कृति प्रकाशित की है। पुस्तकक प्रारम्भम वे लिखते हैं कि भारतम अतीत और वर्तमानके अटूट सम्बन्ध तथा इसकी प्राचीन सस्कृतिक विचार आदर्श जनताकी चेतनाम आज भी जीवित हैं और समाजके आत्मिक जीवनका प्रभावित करते हैं। ब्लादामिर तिखामिरोवन 'सुना पृथ्वी, सुनो आकाश' नामक कृतिम ऋग्वद और अथर्ववदके पद्याका रूसा भापाम अनुवाद किया है।

तात्याना यलिजारेन्कोवाने रूसा भापाम ऋग्वेदका सम्पादन प्रकाशन किया है। व ऋग्वदके मिथक शास्त्र एव वरुण आदि दवी-दवताआकी छविपर अनक निवन्ध प्रकाशित करा चुकी ह। यलिजारेन्कावाद्वारा प्रकाशित ऋग्वदक अनुवादका पहला खण्ड मास्को तथा लेनिनग्रादम हाथो हाथ विक गया था, उसकी चालीस हजार प्रतिया छापी गयी था।

इसी भारी माँगक कारणापर प्रकाश डालते हुए यलिजारन्कोवाने कहा कि 'हमे वेदिक साहित्यकी आवश्यकता इसलिये हे कि उसका हमार जनगणक इतिहासस सम्बन्ध है।' उन्हान काला सागर क्षेत्र-स्थित स्थाना और नदियाक नामामे, काकेशससे प्राप्त रथाके आलेखाम तथा मध्य एशियाक पवित्र पात्राम वदिक कालक अवशाप चिह्नित किय ह। रूसी पुरातत्त्वविज्ञानी इस आशास वेदिक पाठाका अध्ययन कर रहे ह कि उनके सहार वे धरतीम समायी हुई प्राचीन सभ्यताक इडाआयन मिथक शास्त्रीय एव आनुष्ठानिक पटनको खाज पानम सफल हा। डॉ० वासिल्कावके अनुसार 'ऋग्वेद वास्तवम भारतीय सस्कृतिकी महान् शुरुआत है, इतिवृत्तात्मक दृष्टिस इसका प्राचानतम स्मारक है, जिसम धर्म एव दशनशास्त्रके क्षेत्रम विकासक अपक्षाकृत ऊँचे चरणका तथा आध्यात्मिक पराकाष्ठाका उल्लख मिलता है। इसक साथ ही इसम स्लावजनक साथ साथ सल्ट, ग्रीक, जर्मन तथा अन्य इडायूरापीय जातियाकी सस्कृतिका प्राचीन आधार-शिलाआक साथ सादृश्य भी दिखाया पडता ह।'

तुलसी-साहित्य और वेद

(श्रीरामपदारथ सिंहजी)

वेद सभ्यता और संस्कृतिका केन्द्र है। काव्यमीमांसाकार श्रीराजशेखरजीने ठीक ही कहा है कि 'उस श्रुतिको प्रणाम है, जिसका मन्त्रद्रष्टा ऋषि, शास्त्रकार और कविजन पद-पदपर आश्रय ग्रहण करते हैं'—

नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये या दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥

विश्वके साहित्यमें अनुपम स्थान रखनेवाला गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका साहित्य भी वेदोंके अवदानपर अवलम्बित है। उनके साहित्यका वर्ण्य-विषय भगवान् श्रीरामका सुयश है, जो वेदमूलक है। अपने साहित्यके वर्ण्य-विषयकी वेदमूलकताकी बात स्वयं कविने श्रीरामचरितमानसकी उत्पत्ति, स्वरूप और उसके प्रचारके प्रसंगका वर्णन करते हुए कही है—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

× × ×

मेधा महि गत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥

× ×

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥

(रा०च०मा० १। ३६। ३-४ ८-९ १। ३९। ९—११)

श्रीरामचरितमानसमें विन्यस्त बृहत् रूपकसे उद्धृत इस संक्षिप्तांशका सारांश यह है कि गोस्वामीजीके मनमें श्रीरामचरितमानसरूपी सरोवरका निर्माण साधु-मुखसे वेद-पुराणोंकी कथाएँ सुननेसे ही हुआ। उसकी मानसिक रचना हो जानेपर कविने मनकी आँखोंसे उसका अवलोकन किया और बुद्धिको उसमें अवगाहन कराया अर्थात् कविने श्रवणोपरान्त मन-बुद्धिसे क्रमशः मनन और निदिध्यासन किया। कविकी बुद्धि श्रीराम-सुयशरूपी मधुर, मनोहर मङ्गलकारी वर-वारिमें गोता लगानेसे निर्मल हो गयी। उनके मनमें आनन्दोत्साहका उद्रेक हुआ। प्रेम और प्रमोदकी बाढ़ आ गयी, जिससे श्रीराम-सुयशरूपी जलवाली कविता-सरिता बह चली। यथार्थतः जब वेदार्थका मनन किया जाता है, तब वह श्रीरामचरितरूपमें परिणत हो जाता है। इसीलिये कहा गया है—

'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना'

गोस्वामीजीकी भी समाधिलीन बुद्धिमें वेदार्थ श्रीरामचरित-रूपमें झलक उठा। उनकी उक्तिसे सिद्ध होता है कि उनके साहित्यके वर्ण्य-विषयका स्रोत वेद-पुराण है। पुराण वेदोंके उपबृंहण हैं, इसलिये यह कहना अनुचित नहीं कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके साहित्यका मुख्य स्रोत वेद ही है।

सम्भवतः वेदोंके अमूल्य अवदानके कारण ही गोस्वामीजीके सभी ग्रन्थोंमें वेदोंके प्रति अपार आदर अर्पित किया गया है। श्रीरामचरितमानसमें महाकविकी वेद-वन्दना अवलोकनीय है—

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥

(रा०च०मा० १। १४ ङ)

प्रस्तुत सोरठामें वेदोंकी वन्दनाके साथ वेदविषयक तीन महत्त्वपूर्ण बातें हैं—(१) वेद चार हैं, (२) वेद भववारिधिके लिये जहाजके समान हैं और (३) वेद श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी नहीं थकते। इन बातोंमें वेदोंकी संख्या, स्वरूप तथा उनके स्वभावके सूचक सारगर्भित सूत्र सन्निविष्ट हैं।

वेद अनन्त हैं—'अनन्ता वै वेदाः।' वे मन्त्र-रचनाकी दृष्टिसे पद्यात्मक, गद्यात्मक और गेय तीन प्रकारके हैं, जो क्रमशः ऋक्, यजुः और साम कहे जाते हैं। पहले तीनोंका मिला-जुला संग्रह था। द्विज उसे याद करके वैदिक सिद्धान्तोंकी प्रयोगशालारूप यज्ञमें प्रयोग करते थे। काल-प्रभावसे लोगोंकी धारणाशक्ति क्षीण होने लगी। अतः जब वेदके मिले-जुले सम्पूर्ण संग्रहको याद करना कठिन लगने लगा, तब भगवान् वेदव्यासने कृपा करके यज्ञमें काम करनेवाले होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा नामक चार ऋत्विजोंकी सुविधाके लिये वेदोंका चार भागोंमें विभाजन किया, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी चार संहिताओं तथा चारोंके ब्राह्मण-ग्रन्थोंके रूपमें विद्यमान हैं। अतः वेद रचनाकी दृष्टिसे तीन और व्यवहारकी दृष्टिसे चार हैं।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् वेदव्यासके व्यावहारिक वर्गीकरणको महत्त्वपूर्ण मानकर कहा गया है—*'बदउँ चारिउ बेद'*। वेदोकी चार सख्याका दृढतापूर्वक उल्लेख करके उनकी वन्दना करनेका अभिप्राय यह हे कि वेद चार हें और चारो समान-भावसे वन्दनीय हैं। यहाँ सकेत हं कि चौथा वेद अथर्ववेद भी अनादि वेद है। वह स्वतन्त्र होते हुए भी वेदत्रयीके अन्तर्गत ही है।

'भव बारिधि बोहित सरिस'—इस उल्लिखित सोरठाका यह चरण वेदाका स्वरूप-ज्ञापक सूत्र है। वेदाका ससार-सागरके लिये जहाज कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जहाजपर चढकर यात्रा करनेवाले लोग महासागराको भी पार कर जाते ह, उसी प्रकार जन्म-मरणकी अविच्छिन्न परम्परारूप ससार-सागरको वे लाग अनायास पार कर जाते हैं, जो वेद-प्रतिपादित ज्ञान-कर्मोपासनापर आरूढ हो जीवन-यात्रा करते हैं। एसा होनेका कारण यह है कि वेद सामान्य शब्द-राशि नहीं ह, वे श्रीभगवान्‌की निज वाणी हैं—*'निगम निज बानी'* (रा०च०मा० ६। १५। ४) और उनके सहज श्वास हैं—*'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'* (रा०च०मा० १। २०४। ५)। अत वद परम प्रमाण और अपौरुपेय हैं। अपोरुपेय होनेसे उनमे जीव-सम्भव राग-द्वेप नहीं हैं। राग-द्वेपसे पक्षपात पैदा होता हे। वेद-वचन बिलकुल निष्पक्ष है। अतएव उनम जगत्‌का उद्धार करनेकी शक्ति निहित है। इसीलिये कहा गया कि राग-द्वेपरहित जन उद्धारक होते हैं—

सो जन जगत जहाज है जाके राग न दाप।

(वैराग्य-सदापनी १६)

जैसे जहाजका कोई-न-कोई सचालक हाता हे वैसे ही शब्दसमूहरूप वेदाके भी अभिमानी देवता हें, जा काम-रूप हैं। उनकी अव्याहत गति है। श्रीरामचरितमानसम वर्णित है कि वेदभगवान् श्रीसीतारामक विवाहके अवसरपर विप्रवेषम जनकपुरम आकर विवाहकी विधियाँ बताते हैं—*'बिप्र बेप धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं'* (रा०च०मा० १। ३२३) और श्रारामराज्याभिपकक समय वन्दीवेपम विनती करने अयाध्या पहुँच जात ह— *बदी बेप बेद तब आए जहँ श्रीराम'* (रा०च०मा० ७। १२ (ख))। इन बातासे यह भी विदित होता है कि वदाक अभिमाना दवता वैदिक विधिके निर्वाहकाक लिय सहायक-स्वरूप हैं।

वेदाको श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नम भी खेद नहीं होता। यह कथन वेदाका स्वभाव दर्शाता है। सम्पूर्ण वेदाका मुख्य तात्पर्य परात्पर ब्रह्म श्रीभगवान्मे ही है। यह तथ्य श्रुति-स्मृतियामे अनेकत्र उल्लिखित है, यथा—**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य '** (गीता १५। १५), **'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'** (कठोप० १। २। १५)। श्रीभगवान् ही वेद-प्रतिपादित सम्पूर्ण ज्ञान-कर्मोपासनाद्वारा प्रधानत प्रासव्य हैं। वेदामे वर्णित ब्रह्मेन्द्रादि अनेक नाम उन्हींके हैं। प्रमाणके लिये यजुर्वेदका एक मन्त्र पर्याप्त होगा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापति॥

(यजु० ३२। १)

अर्थात् 'वे ही अग्नि, आदित्य वायु और निश्चयरूपसे वे ही चन्द्रमा भी हे तथा वे ही शुक्र, ब्रह्म, अप् और प्रजापति भी है।' इसका निष्कर्ष है कि वैदिक देवताओंके नाम परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीरामके भी बोधक हैं। अत उन नामासे वदामे उनका हा यश वर्णित हुआ है।

यह भी ध्यातव्य है कि ऋक्, यजु, साम शब्द मन्त्रके वाचक हैं। मात्र मन्त्र ही वेद नहीं हैं। वेद शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनोका वाचक है—**'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'**। ब्राह्मणाके ही भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं। अनेक उपनिपदामे विस्तृत श्रीराम-कथाएँ मिलती हैं। इसलिये श्रीरामचरितमानसकी इस उक्तिसे कि चारो वेदोंको श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नम भी खेद नहीं होता, आश्चर्य नहीं हाना चाहिये। महाराज श्रीदशरथके चारो पुत्र वदके तत्त्व हे—*'बेद तत्व नृप तव सुत चारी'* (मानस १। १९८। १)। इसलिये उनका चरित्र वेदोम होना ही चाहिये। श्रीरामचरितमानसका *'बदउँ चारिउ बद'*—यह सारठा वेदाका स्वरूप-स्वभावादि दर्शानवाला दर्पण है।

गोस्वामीजीके साहित्यमें वेदाकी महिमा विविध विधियोंसे निरूपित है। उनम प्रकरणाक प्रमाणम प्राय वदाका साक्ष्य दिया गया है। अयोध्याम रघुवशशिरामणि श्रीदशरथ नामक राजा हुए। व वेदाम विख्यात हैं—

अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ। बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ॥

(रा०च०मा० १। १८८। ७)

श्रारामचरितमानस विनय-पत्रिका आदि ग्रन्थोंमें सामाजिक मयादाआका वदक अनुरूप स्थापित करनका प्रयत्न है। वहाँ

बताया गया है कि वेदबोधित मार्गके अनुसरणसे सकल सुखाकी प्राप्ति सम्भव है—

जो मारग श्रुति-साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥

(विनय-पत्रिका १३६। १२)

श्रीरामराज्यमे लोग वर्णाश्रमके अनुकूल धर्मोंम तत्पर हुए सदा वेदमार्गपर चलते थे। परिणामस्वरूप वे सुख पाते थे तथा निर्भय एव नि शोक और नीरोग थे—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

(रा०च०मा० ७। २०)

तर्क-वितर्क करके वेदापर दोषारोपण करनेवालाकी दुर्गति बतायी गयी है—

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥

(रा०च०मा० ७। १००। ४)

वेद पूर्ण हैं। सभी मतावलम्बी वेद-प्रमाणसे अपने मताकी पुष्टि करते हैं—

बुध किसान सर बेद निज मते खेत सब सींच।

(दोहावली ४६५)

अत जब वेद साक्षात् परमात्मस्वरूप ही है, तब उनके निरतिशय महिमाका गुणगान ही कहाँतक किया जा सकता ह ?—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी किएँ बिचार।

(दोहावली ४६४)

इससे वेदाकी अतुलित महिमा सिद्ध होती है।

श्रीगुरुग्रन्थ साहिब और वेद

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

श्रीगुरुग्रन्थ साहिबके वाणीकाराम वेदाक प्रति अपार श्रद्धा है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिबम वेद-ज्ञानकी परम्परासे सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय सच्चा बोलना माना गया है।

सिख साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० तारण सिहने अपनी पुस्तक 'भक्तिते शक्ति' (पृष्ठ १९)-म लिखा है—'सिख धर्म अपनी धर्म-पुस्तकम बिलकुल भारतीय हे और राष्ट्रिय दृष्टिकोणको धारण करनेवाला है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब अपने-आपम एक वद है।'

इतना ही नहीं डॉ० तारण सिह अपनी एक अन्य पुस्तक(श्रीगुरुग्रन्थ साहिबका साहित्यिक इतिहास-पृष्ठ ३१)-म लिखते हैं—'वेद प्रभुके बारेमे परम्परागत ज्ञानका स्रोत है। जबतक किसी मनुष्यको भारतीय धर्मग्रन्थाका सम्यक् ज्ञान नहीं, जो हमारी परम्परागत निधि ह तबतक वह इस वेद (गुरुग्रन्थ)-को नहीं समझ सकेगा। यह महान् ग्रन्थ उसी प्राचीन सनातन ज्ञानस आविर्भूत हुआ हे तथा उसी परम्पराको विकास प्रदान करता ह। इस तरह यह नयी कृति भी है, परतु सर्वथा नयी नहीं हे क्याकि इसकी जड वेदमे है। भारतीय ब्रह्मविद्याका सम्यक् ज्ञान ही किसी मनुष्यको श्रीगुरुग्रन्थ साहिबकी वाणीका बोध प्राप्त करनेके लिये सहायक सिद्ध हा सकता है। इसके बिना इस ग्रन्थके रहस्यमय भेदाको समझना कठिन है।'

सही बात ता यह हे कि श्रीगुरुग्रन्थ साहिबम वेद-ज्ञानकी परम्परासे सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय सच बोलना कहा गया है। इसीलिये तो गुरु नानकदवजीने वदाकी महिमाका बखान करत हुए कहा है—

केहा कचन तुटै सारू अगनी गढु पाए लाहारू।
गोरी सेती तुटै भतारू, पुतीं गढु पवै ससारि।
राजा मगै दिते गंढ पाई, मुखिया गढु पवैजा खाई।
काला गढु नदी आ मोह झाल, गढु परीती मीटे बोल।
वेदा गढु बोले सचु कोई मुइआ गढु ने की सतु होई।

अर्थात् यदि कासी, लाहा, स्वर्ण टूट जाय तो सोनार अग्निसे गाँठ लगा देते हे, यदि पत्नीके साथ पति टूट जाय तब ससारम पुत्रासे गाँठ बँध जाती हें। यदि राजा कुछ माँग तब दनसे सम्बन्ध बनता है। भूख प्राणाका सुख-साथ तब बनता है, यदि कुछ खाय। अकालसे टूटे हुए जीवाका सम्बन्ध तब होता हे, यदि अत्यन्त वर्षा हो जाय और नदियाँ उतरा कर चलें। प्रीतिमे गाँठ मीठे बोलनेसे बँधती है। यदि कोई सत्य बाले तो उसका वदाके साथ सम्बन्ध बन जाता हे।

वेदाके प्रति श्रीगुरुग्रन्थ साहिबक वाणीकारा—सिख

धर्मगुरुओंकी अपार श्रद्धा है। वे तो ऊँचे स्वरसे घोषणा करते हैं कि वेदशास्त्र तो पुकार-पुकार कर मनुष्यको सीधे मार्गपर आनेको कहते हैं, परंतु यदि कोई बहरा सुने ही न, तो इसमें वेदशास्त्रोंका क्या दोष है?

सिख-पंथके पञ्चम गुरु अर्जुनदेवकी वाणी श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृ० ४०८)-में इस प्रकार है—

वेद सास्त्रन जन पुकारहि सुनै नाही डोरा।
निपटि बाजी हारि मूका पछताइओ मनि भोरा।

अर्थात् वेदशास्त्र, संत-जन आदि पुकार-पुकार कर बतलाते हैं, पर मायाके नशेके कारण बहरा हो चुका मनुष्य उनके उपदेशको सुनता नहीं। जब बिलकुल ही जीवन-बाजी हारकर अन्त समयपर आ पहुँचता है तब यह मूर्ख अपने मनमें पछताता है।

सिख-धर्मके नवम गुरु तेग बहादुरजीने वेदोंके श्रवण-मननको भी साधु मार्ग अथवा संत-मतमें अनिवार्य माना है। इसीलिये तो वे गुरुमति-साधना-मार्गमें वेदोंको महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृ० २२०)-में उनकी वाणी इस प्रकार है—

कोऊ माई भूलिओ मनु समझावै।
वेद पुरान साध मग सुनि करि निमख न हरि गुन गावै।

वेद कहता है कि जो उस अक्षर-ब्रह्मको नहीं जानता वह ऋचाओंके पाठसे क्या प्राप्त कर सकता है? ब्रह्मवेत्ता ही ब्रह्मके आनन्दधाममें समासीन होता है।

श्रीगुरु तेगबहादुरजीका कहना है कि वेद-पुराण पढ़नेका यही लाभ होना चाहिये कि प्रभुका नाम-स्मरण किया जाय, क्योंकि रामशरणमें ही सुख-शान्ति है—

(१) साधो राम सरनि बिसरामा।
वेद पुरान पढ़े को इह गुन सिमरे हरि को नामा।
(२) वेद पुरान जास गुन गावत ता को नामु हीऐ मो धरू रे।
(श्रीगुरुग्रन्थ साहिब—पृ० २२०)

श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेदको त्रैगुण्य कहा गया है और उसके बिना बूझे पाठ करनेके कारण दुःखी होनेकी बात इस ग्रन्थमें कही गयी है। इस सम्बन्धमें सिख-धर्मके तृतीय गुरु अमरदासकी वाणी श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृष्ठ १२८)-में इस प्रकार है—

वेद पुकारै त्रिबिध माइआ।
मन मुख न बूझहि दूजै भाइआ।
त्रै गुन पड़हि हरि एकु।
न जाणहि बिनु बूझे दुखु पावणिआ।

त्रिगुणात्मक मायाके लिये वेद पढ़ते हैं। मन एवं मुख द्वैतभावके कारण परमेश्वरको नहीं समझते। त्रैगुणी मायाके लिये वेदोंका पठन-पाठन करते हुए एक हरिको नहीं जानते, इसीलिये ज्ञान बिना दुःख पाते हैं।

गीताके सातवें अध्यायमें वर्णन आया है कि सब वेदोंमें मैं 'ॐ' नाम हूँ, आकाशमें मैं शब्द हूँ और पुरुषोंमें पौरुष हूँ। इस विचारकी ध्वनि श्रीगुरु अमरदासकी वाणी (श्रीगुरुग्रन्थ साहिब पृ० ११९)-में भी सुनायी देती है, जो इस प्रकार है—

वेदा महि नामु उतमु सो सुणहि, नाही फिरहि जिउ बेतालिआ।

श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृ० १३५०)-में भक्त कबीरकी भी एक वाणीमें वेदोंकी महिमा पूर्णरूपसे देखी जा सकती है—

वेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न बिचारै।

सच तो यह है कि इसके अतिरिक्त भी श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें सिख-धर्म-गुरुओंकी विविध वाणियाँ संकलित हैं, जिनके माध्यमसे उन लोगोंने वेदकी महिमा मुक्तकण्ठसे स्वीकार की है और वेदविहित सत्योंके कारण उन्हें महान् ज्योतिपुञ्ज माना है—

(१) चारे वेद होए सचिआर। पड़हि गुणहि तिनु चार विचार।
(पृ० ४७० श्रीगुरु नानकदेव)
(२) वेद पुरान सिम्रिति हरि जपिआ। मुखि पंडित हरि गाइआ।
नाम रसालु जिन मनि वसिआ ते गुर मुखि पारि पाइआ।
(पृ० ९९५ श्रीगुरु रामदास)
(३) दीवा बले अंधेरा जाई। वेद पाठ मति पापा खाई।
उगवै सूरु न जापै चंदु। जह गिआन प्रगासु अगिआनु मिटंतु।
वेद पाठ संसार की कार। पढ़ि पढ़ि पंडित करहि बीचार।
बिनु बूझे सभ होई खुआर। नानक गुर मुखि उतरसि पार।
(पृ० ७९१ श्रीगुरु नानकदेव)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिख-धर्मके श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेदोंकी महिमा अपरम्पार है, जिसको सिख-धर्म-गुरुओंने मुक्तकण्ठसे अपनी वाणीके द्वारा स्वीकार किया है।

जम्भेश्वरवाणीमे वेद-मीमांसा

(आचार्य सत श्रीगोवर्धनरामजी शिक्षा-शास्त्री, व्याकरणाचार्य, एम्० ए०, स्वर्णपदक-प्राप्त)

प्राचीन भारतीय सभ्यता और सस्कृतिकी मान्यताके अनुसार सृष्टिके आदिमे परमपिता परमात्माने मनुष्योके कल्याणार्थ चार ऋषियोके माध्यमसे उन्हे वेदका ज्ञान प्रदान किया था। सृष्टिके प्रारम्भसे इस ज्ञानके आलोकमे मानवीय गुणोका, उसके ज्ञान-विज्ञानका विकास होता रहा, परतु कालक्रमसे मनुष्य अपने स्वभावके वशीभूत हो उस ज्ञानसे विरत हो गया, तब विभिन्न ऋषियो तथा आचार्योने उस मार्गको पुन प्रशस्त किया। ऋषियोकी यह परम्परा महाभारत-कालतक अविच्छिन्न-रूपसे प्राप्त होती है।

महाभारत-कालके अनन्तर एक दीर्घ कालावधितक ऋषियोकी वह परम्परा समाप्त होनेके बाद वेदके विभिन्न चिन्तको और आचार्योंका क्रम दिखायी देता है, जिन्होने बार-बार वेदोकी ओर चलनेकी बात कही है और ज्ञान, कर्म एव उपासनाके आधारभूत ग्रन्थ वेदोको प्रतिपादित किया है।

गुप्तकालके अनन्तर यह परम्परा भी समाप्त हो गयी और सम्पूर्ण राष्ट्र अनेक प्रकारके अज्ञान एव सामाजिक दुर्व्यवस्थामे डूब गया, परिणामत एक लबी अवधिका कालखण्ड परतन्त्रताकी स्थितिमे बिताना पडा। प्रशासनिक अत्याचार अपनी चरम सीमापर था, इस अवधिमे भी निराश एव हताश हिन्दू जातिमे अनेक प्रकारके विचारक हुए, जिन्होने समय-समयपर हिन्दू जातिका मार्ग प्रशस्त किया। इन विचारकोमे एक नाम आता है जाम्भोजीका।

यवनोके शासन-कालमे भारतीय सस्कृति, परम्परा तथा तत्त्व-चिन्तन सर्वथा लुप्त हो चुका था। अन्याय-अनाचार, और पाखडका साम्राज्य था। ऐसे समयमे सतोकी एक परम्परा जाग्रत् हुई, जिसने इस सुप्त जातिको जगानेका प्रयास किया।

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजका सक्षिप्त जीवन-परिचय

मध्यकालीन १५वीं शताब्दीके प्रारम्भमे निर्गुणोपासक महापुरुषोमे वैदिक धर्मके सम्प्रसारमे अक्षुण्ण योगदान करनेवाले श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजका प्रादुर्भाव वि०स० १५०८ के भाद्रपद मासके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथिको कृत्तिका नक्षत्रमे राजस्थानके तत्कालीन नागौर परगनेके पीपासर नामक ग्रामके ग्रामाधिपति क्षत्रिय-परिवारमे हुआ था। उनके पिताका नाम श्रीलोहटजी पँवार और माताका नाम हसादेवी (अपर नाम केसर) था।

जाम्भोजी जन्मसे ७ वर्षतक मौन रहे एव २७ वर्षोंतक उन्होंने गोचारण-लीला की तथा ५१ वर्षोंतक वैदिक ज्ञानका उपदेश किया। उनकी मान्यताओके अनुसार वेद-ज्ञानके वे मान-सरोवर हैं, जहाँसे ज्ञानकी विमल धाराएँ विभिन्न मार्गोसे बहकर भारतके ही नहीं समस्त जगत्के प्रदेशोको उर्वर बनाती हैं।

इसी ज्ञान-राशि वेदकी परम्पराका अनुपालन करनेवाले सतोकी भारतभूमिमे एक लबी शृखला मिलती है। इसी शृखलामे श्रीगुरु जाम्भोजीद्वारा प्रस्तावित 'जम्भवाणी' मिलती है। वैदिक सहिताओके अनुरूप ही सतोकी वाणियोके सकलन प्राय उनके नामसे प्राप्त होते हे। 'जम्भवाणी' भी एक ऐसा ही अनोखा वेद-सम्मत विचारो, उपदेशो एव विषयोका उपदेश करनेवाला परम सम्मानित ग्रन्थ है।

वेदोका रचना-काल

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजके अनुसार यह एक ऐसा पारावार हे, जो परमपिता—परमात्माके मुखारविन्दसे नि सृत होनेके प्रमाण-स्वरूप अपौरुषेय है, अनादि है, ईश्वरीय कृति है। उनकी दृष्टिमे वेद मनुष्यकृत हे ही नहीं, प्रत्युत इनका प्रकाश सृष्टिके आरम्भमे उत्कृष्ट आचार-विचारवाले, शुद्ध और सात्त्विक, शान्त-चित्तवाले, जन-जीवनका नेतृत्व करनेवाले, अलौकिक, आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न ऋषियोकी ध्यानावस्थामे हुआ। यथा—

सरै न बैठा सीख न पूछी।
निरत सुरत सब जाणी॥

(जम्भवाणी १२०। ६। ४)

उनके मतानुसार ऋषि वेदोके कर्ता न होकर द्रष्टा हैं—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ।' ऐसे मन्त्र-द्रष्टाओके हृदयमे जिन सत्योका जिस रूप और भाषामे प्रकाश हुआ, उसी रूप एव भाषामे उन्होने दूसरोको सुनाया, इसीलिये वेदोको 'श्रुति' भी कहते ह।

वदोके ईश्वरीय ज्ञान एव अपौरुषेय होनेमे वेदो और उसके बादके साहित्यमे पर्याप्त प्रमाण मिलते हे। यथा—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक्० १०। ९०। ९ यजु० ३१। ७)

वेदोंके पश्चात् जिस साहित्यकी रचना हुई, उसमें भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। जिनमें वेदोंका अपौरुषेय, नित्य एवं ईश्वरकृत प्रतिपादित किया गया है। यथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
(श्वेताश्वतर० ६। १८)

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ (बृहदारण्यक० २। ४। १०)

परंतु वेदोंका अध्ययन करनेवाले पाश्चात्त्य विद्वानोंने एवं इन्हींका अनुकरण करनेवाले वर्तमान भारतीय आलोचकोंने वेदोंको ईश्वरकृत और नित्य होनेके सिद्धान्तको स्वीकार नहीं किया। पाश्चात्त्य विद्वान् मेक्समूलरने १२०० ई० पूर्व ऋग्वेदका रचनाकाल माना है। जबकि भारतीय विद्वान् लोकमान्य तिलकने ऋग्वेदमें आये नक्षत्रोंकी स्थितिके आधारपर गणना करके ४००० ई० से ६००० ई० पूर्वके मध्य इसका रचनाकाल माना है। वेदोंमें जो भूगर्भ-विद्या-सम्बन्धी सिद्धान्त पाये जाते हैं, उनके आधारपर डॉ० अविनाशचन्द्र गुप्तका यह मत है कि वेदोंकी रचना लाखों वर्ष पूर्व हुई होगी।

सभी विद्वानोंने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं, परंतु यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि वेदोंका प्रादुर्भाव कब हुआ। श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजने अपनी वाणीमें परमात्माके प्रथम उपाख्यानको वेदकी संज्ञा प्रदान करते हुए कहा है—

ओ३म् मोरा उपाख्यान वेदूं
(जम्भवाणी १२०। १४। १)

इसी प्रकार ऋग्वेदमें वेद-वाणीके स्वरूपका निम्न प्रकारसे अभिव्यक्ति दी गयी है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
(ऋक्० १०। ७१। १)

परमात्माका एकत्व

वेदके 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋग्वेद १०। १२१। १, यजुर्वेद १३। ४, २३। १ २५। १० अथर्ववेद ४। २। ७)—इस मन्त्रके अनुसार परमेश्वरकी एकताका जो प्रतिपादन किया गया है। उसीकी परिपुष्टि श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजकी वाणीमें *'तद होता एक निरजन शिम्भू'* (ज० वा० १३०। ४। १३)-के उल्लेखसे होता है।

यज्ञ

यज्ञ निःसंदेह सब प्राणियोंका सब देवताओंकी आत्मा (जीवन) है। उस यज्ञकी समृद्धिसे यज्ञ करनेवालेकी प्रजा और पशुओंमें वृद्धि होती है (शत० १। ७। ३। ५)। जो विद्वान् अग्निहोत्र करता रहता है, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है (शत० २। ३। १। ६)। यज्ञ-विषयक वाणीका अभिलेख विचारणीय है—

'होम हित चित प्रीत सूं होय बास बैकुण्ठ पावो'
(ज० वा० २९। ६)

अर्थात् श्रद्धा-विश्वास एवं निष्ठाके साथ सायं-प्रातः अच्छी तरहसे किया गया यज्ञ वैकुण्ठ तककी ज्योति है। यज्ञ-त्यागके सम्बन्धमें जम्भेश्वर-वाणीमें कहा गया है कि जब किसी कामधेनुको यह पता चलता है कि मेरे पालकने आज जप-तप-रूप यज्ञ नहीं किया है, उसी समय वह उसका द्वार छोड़कर चली जाती है—

'जो दिन तेरे होम न जाप न तप न किरिया।
जान के भागी कपिला गाई॥'
(ज० वा १२०। ७। ५)

दान

वेदोंमें दानको यज्ञका आधार कहा गया है। दानसे शत्रु दब जाते हैं। दानसे द्वेषी मित्र हो जाते हैं। दानमें सब प्रतिष्ठित हैं। इसलिये दानको सर्वश्रेष्ठ कहते हैं (तै०आ० १०। ६३)।

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराज दानकी महत्ता बतलाते हुए कहते हैं कि कुपात्रको दान नहीं देना चाहिये, कुपात्रको दिया गया दान निष्फल होता है। यथा—

ओ३म् कुपात्र कूं दान जु दीयो।
जाणे रैण अन्धेरी चोर जु लीयो॥
(ज० वा० १२०। ५६। १)

सुयोग्य पात्रको दिये गये दानकी प्रशंसामें भी जम्भवाणी कहती है कि सुपात्रको ही दिया गया दान और सुक्षेत्रमें ही बोया गया बीज सार्थक एवं सफल होता है—

दान सुपाते बीज सुखेते अमृत फूल फलीजै।
काया कसोटी मन जो गूटो जरणा ठाकण दीजै॥
(ज० वा० १२०। ५६। ३-४)

अपनी शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये, शक्ति ज्यादा हो तो अधिक दान करे—यदि कम हो तो कम ही करे, पर करे अवश्य।

ऋग्वेद एवं अथर्ववेदमें भी दानकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'जिसके दानमें कभी भी कमी नहीं होती ऐसा धनदाता इन्द्रकी स्तुति करे, क्योंकि इन्द्रके प्रति किये गये दान कल्याण करनेवाले हैं। अतः मनको

दानके लिये प्रेरित कर। इन्द्रके अनुकूल कार्य करनेवालेपर वह कदापि रोष नहीं करता—

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातय ।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्॥
(ऋक्० ८। ९९। ४, अथर्व० २०। ५८। २)

ब्रह्म

समस्त जगत्का आदि कारण और नियामक परब्रह्म हमारे भीतर आत्मरूप होकर स्थित है, उसका अनुभव करना ही हमारा परम कर्तव्य है। इस विषयमें जम्भेश्वर-वाणीमें पर्याप्त विचार विद्यमान है। यथा—

ओ३म् रूप अरूप रमूं पिण्डे ब्रह्मण्डे।
घट-घट अघट रहायो॥
(ज० वा० १२०। १९। १-२)

अर्थात् उस परम सत्तासे यह सम्पूर्ण जगत् सदा व्याप्त है, जो ज्ञान-स्वरूप परमेश्वर निश्चय ही कालका भी महाकाल, सर्वगुणसम्पन्न और सबको जाननेवाला है, उसके द्वारा ही शासित हुआ यह जगत्-रूप व्यापार विभिन्न प्रकारसे चल रहा है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश भी उसीके द्वारा शासित होते हैं। यथा—

तिल में तेल पहुप में बास,
पाँच तत्त्व में लियो प्रकाश॥
(ज० वा० १२०। १०१। ८)

उपर्युक्त जम्भेश्वर-वाणी, निम्नलिखित उपनिषद्-वचनका रूपान्तरण जान पडता है, जिसमें परब्रह्मकी परम सत्ताका स्वरूप प्रतिपादित किया गया है—

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्॥
(श्वेताश्वतर० ६। २)

मुक्ति

जम्भेश्वर-वाणीके अनुसार साधकको जब सबसे परे और सबसे श्रेष्ठ आत्माका ज्ञान हो जाता है, तब उसके हृदयमें पडी अज्ञानकी ग्रन्थिका छेदन हो जाता है तथा वह समस्त संशयासे निवृत्त हो मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। यथा—

सतगुरु ऐसा तंत बतावै।
जुग-जुग जीव बहुरि न आवै॥
(ज० वा० १२०। १०१। ११)

ऐसा ही उल्लेख ऋग्वेदमें मिलता है—

'मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्यते' (ऋक्० १। १४०। ४)।

ऐसी विकट परिस्थितिमें श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजने सामाजिक चेतना जगायी, जिनका मूल आधार परम्परासे प्राप्त वेद-ज्ञान था।

वेदार्थका उपबृंहण

(पं० श्रीजानकीनाथजी कौल 'कमल')

पुराणोंमें वेदके अर्थका उपबृंहण अर्थात् किसी तथ्यकी पुष्टि करना तथा उसका विस्तार करनेका उपदेश है। यह तथ्य महाभारत-कालमें अवश्य प्रादुर्भूत हो गया था, क्योंकि महाभारतमें इस तथ्यके साधक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। जैसे—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता ।
(आदिपर्व १। ८६)

वह प्रख्यात श्लोक, जिसमें इतिहास-पुराणके द्वारा वेदार्थके उपबृंहण करनेका उपदेश है कि अल्पश्रुत व्यक्तिसे वेद सर्वदा डरा करते हैं कि कहीं वह मुझपर प्रहार न कर दे—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।
(महा० आदिपर्व १। २६७-२६८)

'बृह' धातुका मुख्य अर्थ वर्धन है। वेदके मन्त्रोंद्वारा प्रतिपादित अर्थका, सिद्धान्तका तथा तथ्यका विस्तार एवं पोषण पुराणोंमें किया गया है। श्रीमद्भागवतने (१। १। ३ में) अपनेको निगम-कल्पवृक्षका गलित सुपरिपक्व, अतएव मधुरतम फल माना है—'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्।' ग्रन्थके अन्त (१२। १३। १५)-में वह अपनेको 'सर्ववेदान्तसारम्' बतलाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य पुराणोंकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतमें विशेषरूपसे वेदार्थका उपबृंहण किया गया है।

उपबृंहणके प्रकार

(१) विष्णुस्तुतियोंमें विष्णु-मन्त्रोंके विशिष्ट पद तथा शिवस्तोत्रोंके विशिष्ट पद एवं समग्र भाव अक्षरशः सचित

किये गये है। उदाहरण—वायुपुराणके ५५ वें अध्यायम दी गयी दार्शनिक शिवस्तुति वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेद-सहिताके रुद्राध्यायम १६व अध्यायके मन्त्राके भाव तथा पद बहुश परिगृहीत हैं। वैष्णवाम पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०। ९०)-की महिमा अपरिमय तथा असीम है। श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्ध (अ० ६, श्लोक १५—३० तथा १०। १। २०)-मे नारायणकी स्तुतिके अवसरपर पुरुषसूक्तका विस्तारसे उपयोग किया गया है। इस सूक्तके 'पुरुष' का समीकरण कभी 'नारायण' के साथ ओर कभी 'कृष्ण' के साथ किया गया है। द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत—२। ५। ३५—४२, विष्णुपुराण १। १२। ५६—६४, ब्रह्मपुराण १६१। ४१—५०, पद्मपुराण ५।४।११६—१२४ तथा ६। २५४। ६२—८३। श्रीमद्भागवतम विष्णुक लिये प्रयुक्त 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेपण पूर्णत वैदिक हैं—द्रष्टव्य ऋग्वेद १। १५४ सू०।

पुराणोमे वेदिक मन्त्रोकी व्याख्या

मूल अर्थकी असदिग्ध तथा परिबृहित व्याख्या पुराणाका निजी वैशिष्ट्य है—

(१) विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोचम्०

(ऋग्वेद १। १५४। १)

—इस मन्त्रकी विशद व्याख्या श्रीमद्भागवत (२।७।४०)-मे की गयी है, जिससे मूल तात्पर्यका स्पष्टीकरण नितान्त श्लाघ्य और ग्राह्य है—

विष्णोर्नु वीर्यगणना कतमोऽर्हतीह
य पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजासि।
चस्कम्भ य स्वरहसास्खलता त्रिपृष्ठ
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्॥

अर्थात् अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके एक-एक धूलि-कणको गिन चुकनपर भी जगत्मे ऐसा कौन पुरुष है, जो भगवान्की शक्तियाकी गणना कर सके। जब वे त्रिविक्रम-अवतार लकर त्रिलोकीको नाप रहे थे उस समय उनके चरणोके अदम्य वेगसे प्रकृतिरूप अन्तिम आवरणसे लेकर सत्यलोकतकका सारा ब्रह्माण्ड काँपने लगा था। तव उन्हाने ही अपनी शक्तिसे उसे स्थिर किया था।

(२) ईशा वास्यमिदःसर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।

(ईशावास्य० १)

अर्थात् जगत्मे जा कुछ स्थावर-जगम ससार है वह सब ईश्वरके द्वारा आच्छादनीय है।

इसो उपनिषद्-मन्त्रका साकेतिक अर्थ श्रीमद्भागवत-महापुराण (८। १। १०)-म मिलता है—

आत्मावास्यमिद विश्व यत् किञ्चिज्जगत्या जगत्।

अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व और इस विश्वमें रहनेवाले समस्त चर-अचर प्राणी, उन परमात्मासे ही ओतप्रोत हैं। इसलिये ससारके किसी भी पदार्थम मोह न करके उसका त्याग करते हुए ही जीवन-निर्वाहमात्रके लिये उपभोग करना चाहिये। भला ये ससारकी सम्पत्तियाँ किसकी हैं?

(३) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परि षस्वजाते।

(ऋग्वेद १। १६४। २०, अथर्व० ९। ९। २०)

भाव यह कि सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले जीवात्मा-परमात्मारूप दो पक्षी एक ही वृक्षरूपी शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। (उन दोनामसे जीवात्मा तो उस वृक्षके फलाको स्वादपूर्वक खाता है, जबकि परमात्मा उसका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।)

श्वेताश्वतर (४। ६)-के इस विख्यात मन्त्रकी व्याख्या श्रीमद्भागवत (११। ११। ६)-मे बडे वैशद्यसे की गयी है। वायुपुराणम भी इसका साकेतिक अर्थ इस प्रकार किया गया हे—

दिव्यौ सुपर्णौ सशाखौ वटविद्रुमौ।
एकस्तु यो द्रुम वेत्ति नान्य सर्वात्मनस्तत॥

(४) तत् सवितुर्वरेण्यम्

(ऋग्वेद ३। ६२। १०)

अग्निपुराण (२१३। १—८)-मे इस प्रसिद्ध गायत्री मन्त्रकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शिव, शक्ति, सूर्य तथा अग्नि-जैसे विविध विकल्पाका परिहार कर विष्णुको ही गायत्री-मन्त्रद्वारा साकेतिक देव माना गया है।

(५) प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मुण्डक० २। २। ४)

मुण्डकोपनिषद्के इस श्लोकको व्याख्या इस प्रकार है—प्रणव धनुष है, (सोपाधिक) आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। उसका सावधानतापूर्वक वेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये।

इसी श्लोककी व्याख्या श्रीमद्भागवत (७। १५। ४२)-म इस प्रकार की गयी है—

धनुर्हि तस्य प्रणव पठन्ति
शर तु जीव परमेव लक्ष्यम्॥

अर्थात् ॐकार ही उस रथीका धनुष है, शुद्ध जीवात्मा बाण है और परमात्मा लक्ष्य है।

यह व्याख्या मूलगत सदेहको दूर करती है कि शर यहाँ जीव है, प्रत्यगात्मा ही है, परमात्मा नहीं। श्रीमद्भागवतम ही एक दूसर (७। १५। ४१) श्लोकमे 'रथ-शरीर' की कल्पना कठोपनिषद्के आधारपर की गयी है।

(६) आत्मान चेद् विजानीयात् पर ज्ञानधुताशय ।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देह पुष्णाति लम्पट ॥
(श्रीमद्भा० ७। १५। ४०)

अर्थात् आत्माके द्वारा जिसकी सारी वासनाएँ निर्मूल हो गयी हैं और जिसने अपने आत्माको परब्रह्म-स्वरूप जान लिया है, वह किस इच्छा तथा किस भोक्ताकी तृप्तिहेतु इन्द्रियलोलुप होकर अपने शरीरका पोषण करेगा?

श्रीमद्भागवत-महापुराणके इसी श्लोकमें बृहदारण्यकोपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रके अर्थका परोक्षरूपेण स्पष्टीकरण है—

आत्मान चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुष ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्॥
(४। ४। १२)

अर्थात् यदि पुरुष आत्माको 'यह मैं हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जाने, तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके पीछे सतप्त हो?

(७) मुण्डकोपनिषद् (१। २। ४)-मे अग्निकी सप्त जिह्वाओका समुल्लेख है—

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥

अर्थात् काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची देवी—ये सात अग्निकी लपलपाती हुई जिह्वाएँ हैं।

इसकी विशद व्याख्या मार्कण्डेयपुराण (९९।५२—५८)-मे भी की गयी है।

(८) चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
(ऋग्वेद ४। ५८। ३)

—यह बडा ही गम्भीरार्थक मन्त्र माना गया है। इस रहस्यार्थक मन्त्रकी विविध व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। महाभाष्यके पस्पशाह्निकमे पतञ्जलिने इसे शब्दकी स्तुति माना है, मीमासासूत्र (१। २। ४६)-म यज्ञकी स्तुति तथा राजशेखरके काव्यमीमासाम काव्यपुरुषकी स्तुति मानी गयी है। गोपथ-ब्राह्मण (१। २। १६)-मे यागपरक अर्थ ही माना गया हे, जो निरुक्तम भी स्वीकृत है। इस मन्त्रकी दो प्रकारकी व्याख्याएँ पुराणामे मिलती हैं। स्कन्दपुराणके काशीखण्ड (अ० ७३,श्लोक ९३—९६)-म इसका शिवपरक अर्थ किया गया है। श्रीमद्भागवत (८। १६। ३१)-म इस मन्त्रकी यज्ञपरक व्याख्या कर माना इसी अर्थके प्राधान्यकी घोषणा की है—

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतु शृङ्गाय तन्तवे।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नम ॥

अर्थात् आप वह यज्ञ हैं, जिसके प्रायणीय और उदयनीय—ये दो कर्म सिर हे। प्रात, मध्याह्न और साय—ये तीन सवन ही तीन पाद ह, चारा वेद चार सींग हे। गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ है। यह धर्ममय वृषभरूप यज्ञ वेदाके द्वारा प्रतिपादित है और इसकी आत्मा स्वय आप हैं। आपको मेरा नमस्कार हे।

'यज्ञो वै विष्णु ' क अनुसार विष्णु-भक्तिके पुरस्कर्ता श्रीमद्भागवतकी दृष्टिमे यह व्याख्या स्वाभिप्रायानुकूल तो है ही, साथ-ही-साथ मूल तात्पर्यकी भी द्योतिका है। यज्ञ ही वेदके द्वारा मुख्यतया प्रतिपाद्य होनेसे इस मन्त्रकी यज्ञिय व्याख्या ही नितान्त समीचीन तथा ऐतिहासिक महत्त्वशाली प्रतीत होती है।

(९) त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
(ऋक्० ७। ५९। १२ शुक्लयजु० ३। ६०)

यह महामृत्युञ्जय भगवान् शिवका नितान्त प्रख्यात मन्त्र है। इस मन्त्रकी व्याख्या लिङ्गपुराणम दो बार की गयी है। वहाँ मन्त्रके पदाकी विस्तृत व्याख्या-दर्शनीय तथा मननीय हे।

उपर्युक्त विवचन-प्रसगाम 'इतिहास और पुराण वेदाके उपबृहण हैं अथवा वेदार्थोके प्रतिपादक हें'—इस उक्तिकी अक्षरश तर्कसगतता सिद्ध हाती हे।

अनन्ता वै वेदाः

(डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी 'रत्नमालीय' एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

महान् गो भक्त, स्वाध्यायनिष्ठ, वेदविद्याव्रती, बृहस्पतितनय, ब्रह्मचारी 'भरद्वाज' ब्राह्म-मुहूर्तमे गम्भीर चिन्तन-मुद्राम बैठे थे। इधर अनेक दिनोसे उनके मानस-क्षितिजपर अहर्निश, आर्ष आदर्श वाक्य—'**नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते**' (इस ससारमे ज्ञानके समान पवित्र कोई अन्य वस्तु नहीं है)-की आँधी उमड रही थी। सोते-जागते, उठते-बैठते बारबार वे शोकमे पड जाते थे—'मेरे श्रेष्ठातिश्रेष्ठ, सुरदुर्लभ मानव-जीवन धारण करनेकी सार्थकता क्या है? मुझे अपने चिर-अभिलषित लक्ष्यकी प्राप्ति किस प्रकार होगी?' वे विचारते—'यह सही है कि वेदकी अनेक ऋचाएँ मुझे कण्ठाग्र है, अनेक गूढ सूक्तोका अति गोपनीय रहस्य भी गुरुकृपासे मेरे लिये हस्तामलकवत् सुस्पष्ट है, किंतु अभी भी अनन्त आकाशकी तरह असख्य वैदिक विज्ञान मेरी पकडके बाहर हैं। जिधर भी दृष्टि जाती है, उधर ही सब कुछ अविज्ञात, अनवाप्त ही नजर आता है। अभी तो मैं अगाध रत्नाकरके मुट्ठीभर रत्नकण ही चुन पाया हूँ।' वे विलखते—'कैसे कृतकृत्य होऊँगा मैं अपनी महत्त्वाकाक्षाकी पूर्तिमे? क्या उपाय है अपनी अल्पज्ञता दूर करनेका? कैसे मैं अक्षुण्ण रख पाऊँगा तेजोनिधान पितृदेवकी गौरवमयी परम्पराको?'

ऊहापोह एव असमञ्जसकी इस कुहेलिकाको चीरती अन्तरात्माकी आवाज आयी—'हे सौम्य! हे अमृतपुत्र! तुम तप और स्वाध्यायकी शरण लो। तपस्यासे सभी दुर्लभ वस्तुओकी प्राप्ति सम्भव है। इस वृत्तिका आश्रयण कर देवोने मृत्युपर भी विजय प्राप्त की है—'**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत**' घबराओ मत। जहाँ चाह वहीं राह है। आशिष्ठ और तपोनिष्ठ बने रहो। तुम वेद, व्याकरण, धनुर्वेद, आयुर्वेदके विश्वविश्रुत विद्वान् बनोगे। शिल्प, प्रौद्योगिकी, वैमानिकीमे भी तुम निष्णात होओगे।'

ब्रह्मचारीको वैसे ही नया आलोक प्राप्त हुआ, जैसे अंधेको नयी आँख ही प्राप्त हो गयी हों। दृढव्रत भरद्वाज तपश्चर्यामे लीन हो गये। क्षण-प्रतिक्षण बीतने लगे। दिन-पर-दिन बीते। कितनी रातें आयीं और चली गयीं। तन सूख कर काँटा हो गया, किंतु उनका विनिश्चय दृढसे दृढतर होता गया। उनकी ज्ञाननिष्ठा अविचल थी—'**कार्य साधयामि शरीर पातयामि वा**'—कार्य सिद्ध करूँगा या शरीर ही समाप्त हो जायगा—यह उनका जीवन-मन्त्र बन गया। उनके जीवन-घटकी एक-एक बूँद, उनकी एक एक साँस लक्ष्य-प्राप्तिका पावन पाथेय बन गयी। २४ घटेमें एक बार थोडा-सा दुग्धाहार कर वे ज्ञान-साधना एव तपस्यामें निमग्न हो जाते थे। कालान्तरमे एक दिन एकाएक ब्राह्मवेलामे ही उनके नेत्रोके समक्ष दिव्य आलोक फैल गया। दिव्यवसनधारी, तेजोमूर्ति, अनुपम मुकुटयुक्त, वज्रबाहु, वज्रपाणि इन्द्रदेव साक्षात् सम्मुख खडे थे। वे मुसकरा रहे थे और कह रहे थे—'**वर ब्रूहि वत्स! वर ब्रूहि! प्रसन्नोऽस्मि**'—'वर माँगो वत्स! वर माँगो! मैं प्रसन्न हूँ!' अमृत-मधुर, मेघ-मन्द्र-गिरा गूँज उठी। आँखे खोलते ही ऋषि भरद्वाज साष्टाङ्ग प्रणाम-मुद्रामे चरण-नत हो गये। उन्होने निवेदन किया—'हे अन्तर्यामिन्! हे भक्तवाञ्छा कल्पतरु! हे देवाधिप! मेरी महत्त्वाकाक्षा तो आपको विदित ही है। मेरे हृदयका कौन-सा कोना आपका निहारा हुआ नहीं है? मेरी एकमात्र इच्छा वेदोका समग्र ज्ञान प्राप्त करनेकी है। मुझे भौतिक अभ्युदयकी अभिलाषा नहीं है। मुझे मोक्ष-अवाप्तिकी कामना भी नहीं है। अत आप मुझे वेद-विद्याकी साधनाके लिये सौ वर्षोंकी अतिरिक्त आयु प्रदान करे।'

इन्द्रदेवने वत्सलतापूर्वक कहा—'साधु वत्स! साधु! तुम्हारा उद्देश्य अति पवित्र है।' '**तथास्तु**' कहकर वे अन्तर्धान हो गये। ऋषि भरद्वाज फूले नहीं समाये। वे अनन्य उत्साहसे जुट गये अपनी ज्ञान-साधनामे। जीवनका प्रत्येक क्षण उनके लिये ज्ञान-अवाप्तिका शुभ मुहूर्त बन गया। उनके तपोनिरत कलेवरसे ज्ञानकी विमल आभा बिखरने लगी। उनके ज्ञानार्जनमे व्यस्त जीवनके १०० वर्ष कब बीत गये कुछ पता ही नहीं चला।

इसी क्रममे एक दिन अकस्मात् अपराह्ण-कालमें आलोकमूर्ति देवाधिप इन्द्रदेव पुन प्रकट हुए। भरद्वाजजीको कुशल-क्षेम पूछकर उन्होने उनसे उनकी ज्ञान-साधनाके

विषयमे प्रश्न किया—'वत्स! तुम्हारा तप एव स्वाध्याय निर्विघ्न चल रहा है न?'

ऋषि भरद्वाजने सकोचपूर्वक कहा—'भगवन्! वद-विद्या-सचयनम मेरी साँस-साँस सलग्न रही है। एकनिष्ठ मनसे, बरसोसे मैं इस साधनामे निरत हूँ। आपके आशीर्वादसे मैंने महत्त्वपूर्ण ज्ञानराशि भी अर्जित कर ली है, किंतु व्यापक-दृष्टिसे विचार करनेपर यह उपलब्धि अत्यल्प आभासित होती है। इस निमित्त कृपया आप मुझे २०० वर्षोंकी अतिरिक्त आयु प्रदान करनेका अनुग्रह कर।' इन्द्रदेवने कहा—'साधु वत्स! साधु! तुम्हारा प्रस्ताव अभिनन्दनीय है। मैं तुम्हारी प्रगतिसे सतुष्ट हूँ। मैं तुम्हे सौ वर्षोंकी अतिरिक्त आयु सहर्ष प्रदान करता हूँ।'—इतना कहकर इन्द्रदेव तिरोहित हो गये। ऋषि भरद्वाजकी ज्ञानोपासना तीव्रतम वेगसे चल पडी। उन्हाने वैदिक मन्त्रोके रहस्य अधिदैवत, बीज-सहित सम्पूर्ण वैदिक विज्ञानको आयत्त एव आत्मसात् करनेमे कोई कसर नहीं रखी। उनकी देहयष्टि कान्तिमयी होती गयी, उनका मस्तिष्क उर्वरतर होता गया। किंतु २०० वर्षोंकी यह परिवर्तित कालावधि किस प्रकार बीत गयी, इसका कुछ पता नहीं चला। ऋषिकी ज्ञान-पिपासा तीव्रतर होती जा रही थी। ऋषिवर कुछ अधीर भी हो रहे थे कि जीवनकी साध्य-वेला चली आयी। अभी भी ज्ञान-साधना अधूरी ही है।

इसी मन स्थितिम वे पडे थे कि उनके सम्मुख तेजोमूर्ति इन्द्रका दिव्य विग्रह पुन प्रकट हुआ। श्रद्धालु कृतज्ञ ऋषिने पाद्य अर्घ्य, आचमनीयादि यथोपलब्ध उपचारासे उनका सविधि पूजनपूर्वक स्वागत-सत्कार किया। स्वागतादिसे सतृप्त देवराजने आत्मीयतापूर्वक पूछा—'वत्स! तुम्हारी वेद-विद्योपासनाम कितनी प्रगति हुई? इस पुण्य प्रयासम किसी प्रकारकी बाधा तो नहीं ह?'

ऋषिने भावविह्वल-कण्ठस कहा—'भगवन्! आपकी कृपासे अभी भी मैंने ज्ञानक थाडे ही कण बटार पानेम सफलता पायी है। कालचक्रकी गति अत्यन्त तीव्र है ओर मानव-क्षमता कितनी सीमित!' देवराज मुसकराये। उन्हाने कहा—'चिन्ता न करो वत्स! मैं तुम्हारी ज्ञान-निष्ठासे प्रसन्न हूँ। सामनकी ओर दखा।'

चकित-नयन ऋषिने निहारा। उनके नेत्रोके समक्ष अत्यन्त उन्नत शिखरवाले तीन पर्वत खडे थे। उनसे प्रतिफलित होनेवाले तेज-प्रकर्षसे आँख चौंधिया रही थीं। पुन देवराजने एक मुट्ठी धूल हाथमे लेकर भरद्वाजसे प्रश्न किया—'वत्स! मेरी मुट्ठीमे क्या है?'

ऋषिने हँसते हुए उत्तर दिया—'भगवन्! मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार आपकी मुट्ठीम तो थोडी-सी धूलमात्र है। वैसे महात्माओके निगूढ अभिप्रायको भला मैं कैसे जान सकता हूँ!' इन्द्रने समर्थन किया—'साधु वत्स! मेरी मुट्ठीमे थोडी-सी धूलमात्र है। उत्तुग पर्वताकी तुलनाम यह नगण्य-सी है। इसी प्रकार तुम्हारा अद्यावधिपर्यन्त अर्जित ज्ञान अत्यल्प है। ज्ञानकी कोई सीमा नहीं, उसका कोई अन्त नहीं,' 'अनन्ता वै वेदा'—वेद अनन्त हैं (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। १०। ११। ४)।

'तुम्हारा उत्तम प्रयास अनवरत एव अविच्छिन्न है। अत तुम्हारी साधनाका फल मिलेगा ही, किंतु इसक निमित्त तुम्हे सवितृदेवकी आराधना करनी पडगी। सकल-ज्ञान-निधान वे 'त्रयी रूप' ही हैं। वे वेदमूर्ति हैं। उनकी प्रसन्नता-हेतु तुम्ह 'सावित्र-अग्निचयन-यज्ञ' करना चाहिये। तुम यथाशीघ्र इस पुण्य आयोजनम लग जाओ।'

नयी दिशा पाकर ऋषि दून उत्साहस सविताकी साधनाम लग गये। तपोवनम स्थल-स्थलपर यज्ञवेदियाँ बनायी गयीं। हवन कुण्डाम मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुतियाँ डाली जाने लगीं।—'ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्र तन्न आ सुव॥'—हे सवितादेव! आप हमार सम्पूर्ण दुरिताका विनाश करके हमारे लिये मङ्गलका विस्तार-विधान कर। इस होमयज्ञक कारण पर्यावरण दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण एव परिपूत हा गया। कुछ महीनाकी मनोयोगमयी साधनाके फलस्वरूप भगवान् सवितादव प्रकट हुए।

'वर ब्रूहि, वर ब्रूहि' के रूपम मङ्गल-वाणी गूँज उठी। ऋषि भरद्वाज श्रद्धा-समन्वित हा उठ खडे हुए। यथाप्राप्त उपचारपूर्वक उन्हान 'सवितादव' का पूजन किया। उन्हाने करुणापूर्वक ऋषिका आश्वस्त किया—'वत्स! तुम निष्ठापूर्वक मरी आराधनाम कुछ दिन और लगे रहो। मरे अनुग्रहस तुम्ह समग्र वदज्ञान प्राप्त हागा। कृतज्ञ जगत् तुम्ह ऋषि-

समूहमे अग्रगण्य सप्तर्षि-मण्डलम स्थान देकर सादर स्मरण करेगा। तुम कुछ दिन और निष्ठापूर्वक गायत्री-पुरश्चरण करो। यदि तुम्हे कहीं विप्रतिपत्ति एव सशय हो तो तुम मेरे अन्यतम शिष्या—हनुमान् एव याज्ञवल्क्यसे भी परामर्श कर लेना। तुम यशस्वी बनोगे। कर्म, ज्ञान, भक्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित करनेम तुम्हारी भूमिका अन्यतम रूपसे महत्त्वपूर्ण रहेगी।'

श्रद्धान्वित तथा आशान्वित ऋषि 'ज्ञानेष्टि' म पुन लीन हो गये। विपुल वैदिक ज्ञान-राशि उनके सम्मुख अपनी विराटताम प्रतिफलित होने लगी। ऋग्वेदके षष्ठ मण्डलके अनेक सूक्तोके द्रष्टा—सकलयिताके रूपमें उन्हें अक्षय कीर्ति प्राप्त हुई।

ऐसी ही दिव्य सततियाको जन्म देकर भारत-भूमि—'भारत'—(ज्योतिकी साधनाम लीन) सज्ञाको चरितार्थ कर सकी है। वेद, व्याकरण प्रौद्योगिकी, धनुर्वेद, आयुर्वेदके लब्धकीर्ति विद्वान्, 'वैदिक सूक्तो', 'भरद्वाज-स्मृति', 'यन्त्रसर्वस्व', 'अशुमतन्त्र', 'आकाशतन्त्र', 'भारद्वाज श्रौतसूत्र' एव 'भारद्वाज गृह्यसूत्र' के यशस्वी प्रणेताको शतश नमन।
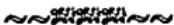
वेदोमे राष्ट्रियताकी उदात्त भावना

(डॉ० श्रीमुरारीलालजी द्विवेदी एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

'वेद' भारत ही नहीं, अपितु विश्वके समस्त मनीषियोके लिये ज्ञान-स्रोत है। ज्ञानार्थक 'विद' धातुसे 'वेद' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है ज्ञान प्राप्त करना। किसी विषयका ज्ञान उसे जानकर ही किया जा सकता है। इस प्रकार 'वेद' शब्द ज्ञानका पर्याय है।

वेदोकी महिमा अपार है। वे ज्ञानके भण्डार, धर्मके मूल स्रोत और भारतीय सस्कृतिके मूल आधार है। वेद-वाक्य स्वत प्रमाण हैं तथा अनादि और अपौरुषेय हैं, अत वेद ब्रह्मस्वरूप हैं।

वैदिक साहित्यमे मुख्यत चार वेद है—ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेदमे १०५५२ मन्त्र है, इनका लक्ष्य मनुष्यको ज्ञान देना ही है। यजुर्वेदम १९७५ मन्त्र हैं, जो उत्तम कर्मोंकी ओर प्रेरित करते हैं। सामवेदमे १८७५ मन्त्र हैं, जिनम ईश्वर-स्मरण और साधनाका वर्णन है। अथर्ववेदका विषय योग है। 'अथर्व' शब्दका शाब्दिक अर्थ (अ+थर्व) एकाग्रतासे है। इस वेदके ५९७७ मन्त्रोमे राष्ट्रधर्म, समाजव्यवस्था गृहस्थधर्म अध्यात्मवाद प्रकृतिवर्णन आदिका विस्तृत एव व्यावहारिक ज्ञान समाहित है।

वेद-वाक्य राष्ट्रप्रेम, देशसेवा और उत्सर्गके प्रेरक हैं, इसलिये वेद आर्योंके सर्वप्रधान तथा सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ हैं। इसी कारण वेदोका आज भी राष्ट्रव्यापी प्रचार है। हमारे देवालयो एव तीर्थस्थानोमे आज भी उनका प्रभाव अक्षुण्ण है। वेदोम अपने गौरवशाली अतीतकी झाँकी देखकर आज भी हम अपना मस्तक गर्वोन्नत कर सकते हैं।

वेदोंमें राष्ट्रियताकी उदात्त भावनाका भरपूर समावेश है। ऋग्वेद (१०।१९१।२)-मे जगदीश्वरसे प्रार्थना की गयी है—

स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥

अर्थात् 'हे जगदीश्वर! आप हमे ऐसी बुद्धि दे कि हम सब परस्पर हिलमिल कर एक साथ चले, एक-समान मीठी वाणी बोले और एक-समान हृदयवाले होकर स्वराष्ट्रम उत्पन्न धन-धान्य और सम्पत्तिको परस्पर समानरूपसे बाँटकर भोगें। हमारी हर प्रवृत्ति राग-द्वेषरहित परस्पर प्रीति बढानेवाली हो।'

ऋग्वेदके 'इन्द्र-सूक्त' (१०।४७।२)-मे जगदीश्वरसे स्वराष्ट्रके लिये धन-धान्यवान् पुत्रोसे समृद्ध होनेकी कामना की गयी है—

स्वायुध स्ववस सुनीथ चतु समुद्र धरुण रयीणाम्।
चर्कृत्य शस्य भूरिवारमस्मभ्य चित्र वृषण रयि दा॥

तात्पर्य यह कि 'हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! आप हमें धन-धान्यसे सम्पन्न ऐसी सतान प्रदान कीजिये, जो उत्तम एव अमाघ शस्त्रधारी हो, अपनी और अपने राष्ट्रकी रक्षा करनेम समर्थ हो तथा न्याय, दया-दाक्षिण्य और सदाचारके

साथ जन-समूहका नेतृत्व करनेवाली हो, साथ ही नाना प्रकारके धनोको धारण कर परोपकारमे रत एव प्रशसनीय हो तथा लोकप्रिय एव अद्भुत गुणासे सम्पन्न होकर जन-समाजपर कल्याणकारी गुणाकी वर्षा करनेवाली हो।'

राष्ट्रकी रक्षाम और उसकी महत्तामे ऐसी ही अनेक ऋचाएँ पर्यवसित हैं, जिनमेसे यहाँ कुछका उल्लेख किया जा रहा है, जैसे—

उप सर्प मातर भूमिम्।

(ऋग्वेद १०।१८।१०)

'मातृभूमिकी सेवा करो।'

निम्न मन्त्रसे मातृभूमिको नमन करते हुए कहा गया है—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या।

(यजुर्वेद ९।२२)

अर्थात् 'मातृभूमिको नमस्कार है, मातृभूमिको नमस्कार है।' यहाँ 'पृथ्वी' का अर्थ मातृभूमि या स्वदेश ही उपयुक्त है। अत हमे अपने राष्ट्रमे सजग होकर नेतृत्व करने-हेतु एक ऋचा यह उद्घोष करती है—

वय॰राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता ॥

(यजुर्वेद ९।२३)

अर्थात् 'हम अपने राष्ट्रमे सावधान होकर नेता बने।'

क्रान्तदर्शी, शत्रुघातक अग्निकी उपासना-हेतु निम्न मन्त्रम प्रेरित किया गया है—

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

(सामवेद १।१।३२)

'हे स्तोताओ! यज्ञमे सत्यधर्मा, क्रान्तदर्शी, मेधावी, तेजस्वी और रोगाका शमन करनेवाले शत्रुघातक अग्निकी स्तुति करो।'

अथर्ववेदके 'भूमि-सूक्त' म ईश्वरने यह उपदेश दिया है कि अपनी मातृभूमिके प्रति मनुष्याको किस प्रकारके भाव रखने चाहिये। वहाँ अपने देशको माता समझने और उसक प्रति नमस्कार करनेका स्पष्ट शब्दाम उल्लेख किया गया है—

सा नो भूमिर्वि सृजता माता पुत्राय मे पय ॥

(अथर्व० १२।१।१०)

'पृथ्वीमाता अर्थात् मातृभूमि, मुझ पुत्रके लिये दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करे।'

माता भूमि पुत्रो अह पृथिव्या ।

(अथर्व० १२।१।१२)

'भूमि (स्वदेश) मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।'

भूम मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।

(अथर्व० १२।१।६३)

'हे मातृभूमि! तू मुझे अच्छी तरह प्रतिष्ठित करके रख।'

सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३।३०।१)

'परस्पर हृदय खोलकर एकमना होकर कर्मशील बने रहो। तुरत जन्मे बछडेको छेडनेपर गो जैसे सिंहिनी बनकर आक्रमण करनेको दौडती है, ऐसे तुम लोग सहृदयजनाकी आपत्तिम रक्षाके लिये कमर कसे रहो।'

अतएव हमे चाहिये कि अपनी मातृभूमिकी रक्षा-हेतु आत्मबलिदान करनेके लिये हम सदा तत्पर रह—

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्य सन्तु पृथिवि प्रसूता ।
दीर्घं न आयु प्रतिबुध्यमाना वय तुभ्य बलिहृत स्याम॥

(अथर्व० १२।१।६२)

'हे मातृभूमि! तेरी सेवा करनेवाले हम नीरोग और आरोग्यपूर्ण हो। तुमसे उत्पन्न हुए समस्त भोग हम प्राप्त हो, हम ज्ञानी बनकर दीर्घायु हो तथा तेरी सुरक्षा-हेतु अपना आत्मोत्सर्ग करनेके लिये भी सदा सनद्ध रह।'

इस प्रकार वेद ज्ञानक महासागर हैं तथा विश्व-वाङ्मयकी अमूल्यनिधि एव भारतीय आयसस्कृतिक मूल आधार हैं। उनम राष्ट्रियताकी उदात्त भावनाका भरपूर समावेश है। अत हम सभी राष्ट्रवासियाको चाहिय कि हम राष्ट्ररक्षाम समर्थ हो सक, इसके लिये वेदकी शिक्षाओको समग्ररूपस ग्रहण कर।

सभी शास्त्र वेदका ही अनुसरण करते हैं

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री)

समस्त शास्त्र, पुराण, इतिहास, रामायण, गीता और महाभारत आदि जो भी हमारे धर्मग्रन्थ हैं, उनके मूल आधार भगवान् वेद ही हैं। क्योंकि वेदके पश्चात् ही ये सब ग्रन्थ लिखे गये एवं इन ग्रन्थोंमें जो धर्मकी व्याख्या हुई उनके आधार वेद ही हैं—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।' भगवान् वेदकी भाषा सर्वगम्य न होनेके कारण आर्षग्रन्थोंके द्वारा ही वेदार्थ प्रकट किया गया। वेदार्थ-ज्ञापक हमारे धर्मग्रन्थ ये हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञ०स्मृ० १। ३)

'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्राङ्गोंसे युक्त चारों वेद—ये धर्म और विद्याओंके चौदह स्थान हैं।' इसी कारण वेदार्थ निश्चय करनेके लिये इनका अनुशीलन तथा परिशीलन अनिवार्य एवं अपरिहार्य है—

वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः ।

वेदार्थका निश्चय स्मृति, इतिहास एवं पुराणोंके द्वारा ही किया जाना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराणोंका उपबृंहण वेदार्थोंकी बोधगम्यताके लिये ही हुआ है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥

(महाभारत आदिपर्व १। २६७)

वाल्मीकिरामायण, महाभारत, समस्त पुराण, उपपुराण और धर्मशास्त्र आदि आर्षग्रन्थोंमें सर्वत्र ही वेदका अनुसरण किया गया है। यही आर्षग्रन्थोंकी महत्ता है। जिन्होंने वेदोंको नहीं माना, उनका ग्रन्थ अप्रामाण्य ही माना गया—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी किएँ बिचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥

(दो० ४६४)

वेद अनादि, अपौरुषेय तथा नित्य शाश्वत और त्रैकालिक घटनाओंके दर्पण एवं हमारे पथ-प्रदर्शक हैं, अतएव सनातन सत्य हैं। उपनिषद्का कहना है कि वेद भगवान्‌के निःश्वासभूत हैं— यस्य निःश्वसितं वेदाः तथा गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी उक्ति है—'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'।

वेदकी शाखाओंका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः ।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा॥
ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परंतप।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद् भेदतो हरे॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।

ये ही वेद भगवान्‌की इच्छा एवं प्रेरणासे रामायणके रूपमें महर्षि वाल्मीकिजीके श्रीमुखसे प्रकट हुए, क्योंकि भगवान्‌को जब धराधामपर प्रकट होना होता है तो अपने अवतारकी पृष्ठभूमि वे स्वयं ही बना लेते हैं। यहाँ भगवदवतारके साथ वेदावतार भी कैसे हुआ? यह स्पष्ट किया जा रहा है। अगस्त्य-संहितामें इसका स्पष्ट वर्णन है—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

वेदोंके द्वारा जानने योग्य भगवान् जब दशरथनन्दनके रूपमें धराधामपर पधारे तो वेदोंने भी प्राचेतस भगवान् वाल्मीकिजीके श्रीमुखसे स्वयं रामायणके रूपमें अवतार लिया। इस कारण भगवान् शंकरजी भगवती पार्वतीजीसे कहते हैं—'देवि! इस प्रकारसे रामायण स्वयं वेद है इसमें संशय नहीं है'—

तस्माद् रामायणं देवि वेद एव न संशयः ।

उस रामायणके परम विशिष्ट पात्रोंका भी वर्णन किन किन रूपोंमें किया, उसका भी स्पष्ट संकेत कर दिया है—

तासां क्रिया तु कैकेयी सुमित्रोपासनात्मिका।
ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या वेदो दशरथो नृपः॥
क्रियायां कलहो दृष्टो दृष्टा प्रातिरुपासने।
ज्ञानात्मसुखं नित्यं दृष्टं निर्हेतुनिर्मलम्॥

(शिवसंहिता १८। ४६-४७)

'वेदोकी क्रिया कैकेयी, उपासना सुमित्रा तथा ज्ञानशक्ति कौसल्या हैं एव महाराज श्रीदशरथजी साक्षात् वेद हैं। क्रियाम कलह, उपासनामे प्रीति, निर्हेतुक ज्ञानमे निर्मल आत्मसुख देखा—पाया गया। इसी क्रमसे रामायणका स्वरूप भी है। क्रिया महारानी कैकेयी ही श्रीरामावतारके समस्त प्रयोजनको सिद्ध करानेके लिये महाराज दशरथजीसे हठपूर्वक रामको वनवास दिलाती हैं, क्योकि ये सभी कार्य क्रियाके ही हैं। सुमित्रा उपासना एव प्रेम हैं।' वे लक्ष्मणजीसे कहती हैं—

राम दशरथ विद्धि मा विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

(वा० रा० २। ४०। ९)

ज्ञानशक्ति कौसल्या हैं। समस्त परिस्थितियाके बिगड जानेपर भी वे स्पष्ट आत्माके वास्तविक स्वरूपको पहचान कर परम शान्त, दान्त एव गम्भीर-मुद्रामे किसीपर भी दोषारोपण न करके स्वात्माराम हैं, क्योकि—

ब्रह्मणा निर्मित यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्।
वाल्मीकिना च यत् प्रोक्त रामोपाख्यानमुत्तमम्॥

(स्कन्दपुराण)

इसीके आधारपर यह भी वर्णन किया गया कि साक्षात् ब्रह्माजीने कहा—'महर्षे! मरी ही प्ररणासे तुम्हार मुखसे 'मा निषाद प्रतिष्ठा०' इस श्लोकके रूपम रामायण ग्रन्थ वेदके रूपमे प्रकट हुआ। तुमने महर्षि नारदजीक मुखस जैसा श्रवण किया है, वैसा ही वर्णन करो। आगका सारा चरित तुम्हारी ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा तुम्हे स्वय ही ज्ञात हो जायगा। तुम्हारी कोई भी वाणी इस काव्यम मिथ्या नहीं होगी।' ब्रह्माजीने कहा—

तच्चाप्यविदित सर्वं विदित ते भविष्यति।
न ते वागनृता काव्य काचिदत्र भविष्यति॥

(वा० रा० १। २। ३५)

इस प्रकार ब्रह्माजीसे आदेश पाकर महर्षि वाल्मीकिजीन अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा समस्त रामचरितका जैसा साक्षात्कार किया, वैसा ही वर्णन कर दिया है।

स्कन्दपुराणम तो ऐसा भी वर्णन किया गया है कि—

वाल्मीकिरभवद् ब्रह्मा वाणी वक्तृत्वरूपिणी।
चकार रामचरित पावन चरितव्रत॥

'स्वय ब्रह्मा ही वाल्मीकि हुए, सरस्वती ही उनकी वाणी—वक्ता बनकर स्फुटित हुई जिसस वद-रूप श्रीरामायणकी रचना सम्पन्न हुई।'

फिर भगवान् शकर पार्वतीजीसे कहते है—

वाल्मीकिस्तुलसीदास कलौ देवि भविष्यति।
रामचन्द्रकथा साध्वी भाषारूपा करिष्यति॥

(शिवसहिता)

पुन —

वाल्मीकिस्तुलसीदासो भविष्यति कलौ युगे।
शिवनात्र कृतो ग्रन्थ पार्वतीं प्रतिबाधितुम्॥
रामभक्तिप्रवाहार्थं भाषाकाव्य करिष्यति।
रामायण मानसाख्य सर्वसिद्धिकर नृणाम्॥

(ब्रह्मरामायण)

अर्थात् 'दवि! वाल्मीकिजीन वद-रूप जो रामायण लिखी सस्कृतमे हानेके कारण उससे भविष्यम समस्त समाज लाभान्वित नहीं हो पायगा। इसलिये स्वय वाल्मीकिजीने कलियुगी प्राणियाका कल्याण करानके लिये श्रीरामचरितमानसके रूपम तुलसीदास बनकर उसी वेद-रूप रामायणकी रचना 'भाषा'म की। जिससे आबाल-वृद्ध नर-नारी, जन-सामान्यसे लकर सुयोग्य विद्वान्तक लाभ उठा सक।'—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥
भाषा बद्ध करबि म सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

नाभादासजीने भी अपने भक्तमाल नामक ग्रन्थम इसीको पुष्ट किया हे—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो।

इस प्रकारसे ब्रह्माजी ही प्राचतस मुनि हुए और उनके द्वारा लिखा रामायण श्रीमद्वाल्मीकिरामायण ह। जिसके सम्बन्धम स्कन्दपुराणम कहा गया है—

रामायणमादिकाव्य सर्ववेदार्थसम्मतम्।
सर्वपापहर पुण्य सर्वदु खनिवर्हणम्॥

महर्षि वाल्मीकिकृत आदिकाव्य रामायण साक्षात् वेदरूप ही है अतएव परवर्ती समस्त रामायण-लेखकाने अपनी-अपना भाषा एव परम्परानुसार इसी वद-रूप रामायणका

अनुकरण एव अनुसरण किया है। वदव्यासजीकी घोपणा है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

इसीलिये कहा गया—'व्यासाच्छिष्ट जगत्सर्वम्।' फिर जितने शास्त्र-पुराणादि लिखे गये, तत्तद् ग्रन्थोंके उन सभी लेखकोंने श्रीव्यास एव वाल्मीकिजीकी ही रचनाओंको आधार मानकर अपने-अपन ग्रन्थोंको लिखा है। श्रीमद्भागवतके वेदान्त-निरूपण एव वर्षा, शरद्-वर्णनक प्रसगको लेकर गोस्वामी श्रीतुलसादासजीन भी कहीं-कहीं तो अक्षरश तथा अन्यत्र आधाररूपम आलकारिक वणन किया है। श्रीमद्भगवद्गीता तो सभी उपनिषदोंका सार ही है, उसके श्लोक (१८। ६६)-का अनुवाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने ज्यों-का-त्यों किया है, जैसे—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

गोस्वामीजीका अनुवाद—

नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥

पुन —

मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

गोस्वामीजीका अनुवाद—

पुरुष नपुंसक नारि या जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

उपनिषद्में—

यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्र-
ऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ८)

गोस्वामीजीका अनुवाद—

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥

गीता (१५। ४)-में जैसे 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूय ' कहा गया है, इसी प्रकार वेद एव वेदार्थका ही अनुकरण अनुवर्णन अद्यावधि सभीने अपनी-अपनी भाषा एव परम्परानुसार किया है। भगवान् वेदके अतिरिक्त क्या कहेगा भी क्या? अत —

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरि सर्वत्र गीयते॥

गोस्वामीजी—

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

—इस प्रकार वेद हमारे आर्ष मूल, अपौरुषेय अनादि अनन्त, धर्ममूल, सर्वाधार, साक्षात् नारायणरूप, सर्वगुणगण सम्पन्न, सर्वाभीष्टदायक, सर्वारिष्टनिवारक एव सर्वज्ञान विज्ञान-प्रदाता हैं और सभी वेद भगवान्का ही प्रतिपादन करते हैं। इसीलिये शास्त्रका वचन है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य वै पुन पुन ।
इदमेक सुनिष्पन्न ध्येयो नारायण सदा॥

अत यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त शास्त्र वेदका ही अनुसरण करते हैं। यह सर्वविध प्रमाणित, स्वत सिद्ध एवं शाश्वत सत्य है।

यत्र देवा स्यारूरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तत्र गच्छ सुकृतस्य लोक धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यव ॥

(अथर्व० ६। ११। ६)

जिस परमात्माकी कृपासे विद्वान् लोग अपना शरीर त्यागकर अमृतके केन्द्र-रूप मोक्षको प्राप्त हुए हैं उन प्रकाशपूर्ण परमात्माके व्रत और तपस्यासे धर्मके इच्छुक हम उस पुण्यलोकको (मोक्षको) प्राप्त करें।

वैदिक आख्यान, लक्षण और स्वरूप

(डॉ० श्रीविद्यानिवासजी मिश्र)

'आख्यान' शब्दका अर्थ है किसी पूर्वज्ञात (प्रत्यक्ष या प्रामाणिक रूपसे या परम्परागत) घटना या अवस्थितिको समझानेकी क्रिया। 'ख्या' का अर्थ होता है प्रकट करना और 'आ' जोड़नेसे उसका अर्थ हाता है भलीभाँति प्रकट करना। अभिनवगुप्तने आख्यानका लक्षण बतलाते हुए कहा कि आख्यान दृष्टार्थकथन है। 'अर्थ' शब्द वस्तुआ और घटनाओकी तथ्यता है। वस्तुत जो वस्तु दिखायी पडती है या जो घटना घटती है, उसका आधा ही ज्ञान होता है। इन्द्रियोसे या मनसे आधा ही ज्ञात हा पाता है। उसकी वास्तविकताका पूरा ज्ञान नहीं होता, क्याकि वह वास्तविकता केवल इन्द्रियगोचर या केवल मनोगोचर नहीं है। कभी-कभी वह बुद्धिगोचर भी नहीं होती। वह चेतनाके सबसे भीतरके प्रकाशसे उन्मीलित होती है। इसलिये दृष्टार्थ-कथनकी परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और इस परिभाषाम यह निहित है कि वह न तो किसी घटनाका इतिहास है और न किसी घटनाका आधिभौतिक विवरण। हमारी प्रवृत्ति हर विषयको उसकी समग्रतासे समझनेकी रही है। इतिहास इस समझका अशमात्र है। जब आख्यायिकाका सस्कृतम लक्षण यह किया जाता है कि वह प्रसिद्ध इतिवृत्तापर आधारित होता है, तब उसका अर्थ यह हाता है कि यह प्रसिद्धि केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे नहीं है। यह आभ्यन्तर चक्षुसे प्रमाणपुरुषाके द्वारा की गयी अपरोक्ष अनुभूतिका परिणाम है। वैदिक आख्यान वैसे तो सहिता भागमे ही मिलने लगते हैं, पर ब्राह्मणो आरण्यको और उपनिषदोमे आये आख्यान विशेष महत्त्व रखते है। ब्राह्मणाम जब किसी अनुष्ठानकी प्रक्रियाको समझाना होता था तो एक आख्यान सुनाया जाता था। वह आख्यान क्रियाकी अभिव्याप्ति स्पष्ट करता था। इस प्रकारसे यह आख्यान प्रत्येक आनुष्ठानिक सोपानको समझनेके लिये एक बडा चौखटा प्रदान करता था। कभी यह आख्यान सादृश्य-मूलक है, कभी प्रतीकात्मक है कभी अन्योक्तिपरक है, कभी कार्य-विशेषमें घटी घटनाको दशातीत और कालातीत प्रस्तुत करनेवाला है। ऐसे ही आख्यानाका उपबृहण पुराणामे हुआ है। ये ही हमारे काव्य-साहित्य और नाट्यशास्त्रके बीज बनते हैं और य ही हमारी कलाआक सदर्भ बनते हैं। वैदिक आख्यानाका सौन्दर्य तीन बाताम है। एक तो ये अत्यन्त सक्षिप्त हैं, इनम नाटकीय चढाव-उतार है और मुख्य प्रतिपाद्य ही दिया गया है। उसको सजानेकी कोशिश नहीं की गयी है। भाषा बडी ही पारदर्शी है, पर उसके साथ-साथ वडी गहरी हे, बहुस्तरीय है। उसमे प्रवेश करते ही पटल-पर-पटल खुलते चले जाते ह। कहीं भी शब्दका अपव्यय नहीं है। हर आख्यानका अन्त किसी-न-किसी प्रकारकी पूर्णताके भावसे होता है, इसीलिये ये आख्यान कालातीत हैं आर परिणामत इतिहाससे भी बाहर हैं। एक प्रकारसे सनातन हैं। इन आख्यानामे इतिवृत्ताका विस्तार सीधी रेखामे नहीं है। जैसे—इस घटनाके बाद यह घटना आदि। न इनका विस्तार एक वृत्तके रूपमे होता है, जहाँसे घटना शुरू हो वहींपर लौट आये। यहाँ जो कुछ भी है, वह एक खुला वृत्त है अर्थात् ऐसा विवरण हे जिसम आगे बढानेकी गुजाइश मौजूद है। शखवलय-जैसे होता है। उसमे छोटे वृत्तका विस्तार बडे-से-बडे वृत्ताम होता चला जाता है। वैसे ही इन आख्यानाका विस्तार सम्भव होता है। ३-४ पक्तियोका आख्यान एक बहुत बडी कथा बन जाती है। दौ पन्ति—भरतका आख्यान अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक बना। पुरूरवा-उर्वशीके आख्यानम अरणि-मन्थन (आग धधकानेके लिये जिन लकडियाका प्रयाग होता है, उन्ह 'अरणि' कहते ह)-के प्रसगमे और विस्तृत होकर मनुष्य और प्रकृतिके बीच रूपान्तरकी सम्भावनाओका अत्यन्त सश्लिष्ट रूपक बन जाता है। उत्तरवर्ती साहित्यको पूरी तरह समझनेके लिये ये वैदिक आख्यान चाभी हैं। उदाहरणके लिय छान्दोग्योपनिषद्के घोर आगिरस और देवकीपुत्र कृष्ण-सवादका आख्यान ही गीताकी आधारपीठिका है। यहाँ इस आख्यानको पूरा दना सगत हागा। आख्यान इस प्रकार हे—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ॥ अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति॥ अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुन चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति॥ अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ॥ तस्मादाहु सोष्यत्यसाष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवावभृथ ॥ तद्धैतद्घोर आङ्गिरस कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रय प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवत ॥ आदित्प्रत्नस्य रेतस । उद्वय तमसस्परि ज्योति पश्यन्त उत्तरंस्व पश्यन्त उत्तर देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥

(छान्दोग्य० ३। १७। १—७)

इसका अर्थ यह है कि इस आभ्यन्तर पुरुषको जब भूख लगी होती है, प्यास लगी होती हे, कहीं उसे चैन नहीं पडता, कहीं वह रम नहीं पाता, तभी जीवन-यज्ञम उसकी दीक्षा होती हे। जीवन-यज्ञके लिये वह अपनको सौंपता है, क्योकि यह व्याकुलता उसे दीखती है। यह सबकी व्याकुलता है। अकेली उसकी नहीं है। दीक्षाका अर्थ ही है अपनेको पूरी तरह खाली करना और भरे जानेके लिये प्रस्तुत करना।

जो वह खाता है, पीता है और रमता है, वही जीवन-यज्ञकी यज्ञ-वेदीके पास पहुँचना होता है। वही उपसद् मन्त्राका उपयोग हाता है। जब वह खा-पीकर रमकर प्रसन्न होता है, हँसता है, जब वह विविध प्रकारक भोगको आत्मसात् करता है, जब वह अत्यन्त निजत्वको सम्पूर्णत्वम विलीन करता, होता है, जब वह मिथुनीभावके साथ अद्वैतात्मक क्षणमे प्रविष्ट होता रहता है। अमावस्याकी इष्टिके सम्बन्धम उसकी जा बात कही गयी है, उससे रूपक-शब्दावली लेकर कह सकते हैं कि अग्नि-सोमस्वरूपमं वह निगार्ण होता रहता है और सामाभिषव होता रहता है। यह स्थिति ही शास्त्रमन्त्राके उपयोगकी स्थिति है, जिनक द्वारा अन्तिम आहुति दी जाती है। वषट्कारके उच्चारणके साथ अन्तिम आहुति दी जाती है कि यह हम सबकी ओरसे सर्वात्मक देवताके लिये आहुति दे रहे हैं। हम सबके लिये यह आहुति कर्मोंका सूक्ष्म रूप है। समस्त जीवाका साररूप है। समस्त सृष्टिका बीजरूप है। इस यज्ञसे जो तप, दान, आर्जव (निश्छल व्यवहार), अहिसा और सत्यके आचरणका सस्कार उत्पन्न होता है, वही इस जीवन-यज्ञकी दक्षिणा है। इस यज्ञ-भावनासे जिया गया जीवन मानो अहकारकी मृत्यु है और यह यज्ञ मृत्युके बाद पुनरुत्पादन है। सृष्टिका पुन अनुकीर्तन है। इस यज्ञके बाद अवभृथ-स्नान किया जाता है, वह देहकी मृत्यु है। इसके बाद और अधिक स्फूर्तिके साथ नये यज्ञकी तैयारी होती है। इस यज्ञपुरुष-रूप विद्याका उपदेश घोर आङ्गिरसने देवकीपुत्र श्रीकृष्णको दी ता उनकी तृष्णा-रूप प्यास बुझ गयी। वे इस भावमे आजीवन भरे रहे। इस उपदेशसे भी रहे कि अनिकेतन हो, तुम्हारे लिये कोई घरका घेरा नहीं है। तुम अच्युत हो, तुम्हारा कुछ भी नहीं घटता। तुम अव्यय हो और तुम्हार प्राण निरन्तर सानपर चढकर नये नये रूपमे ओजस्वी होते रहते हैं। तुम प्राण-सचित हो। यही तुम अनुभव करते रहो। इस सम्बन्धम दो ऋचाएँ हैं—

प्राचीन बीजका अकुरण होता रहता है। एक जीवनदीप दूसरे जीवनदीपका प्रदीपक होता है। कुछ भी मूलरूपसे नष्ट नहीं होता। हम अन्धकारके पार जात रहे। बराबर अपने अङ्ग-ज्योतिका दर्शन करते रहें। अपने आगे प्रकाशात्मका देखते रह—यही देवताको देखना है। यही स्वय द्युतिमान् होना है। यही उत्तम-से-उत्तम ज्योतिकी ओर अभिमुख होना है। इसी मार्गसे देवता भी परम प्रकाशके पास पहुँचते रहे हैं और उनमे प्रकाश पाते रहे हैं।

यज्ञके अर्थका विस्तार देते हुए इस छोटेसे आख्यानमें भारतीय जीवनका मूलमन्त्र बडे ही क्रमबद्ध ढगसे समझाया गया है—यह अपने-आप स्पष्ट है। जो इस उपदेशको नहीं समझेगा वह श्रीकृष्णके बालजीवन, कैशोरजीवनकी लीलाओंका रहस्य और उनके उत्तरवर्ती जीवनके नि सग कर्म-शृखलाको तथा उनक चुपचाप जराके तीरसे आबद्ध होकर एकान्त 'रूप' म महाप्रयाणके रहस्यको नहीं समझ सकता।

यह आख्यान तो एक इतिहास-पुरुषके स्वरूप और

उनके सदेशको समझनके लिये बीजके रूपम है। एक दूसरा आख्यान हम दे रहे है, जो मनुष्यक स्वभावकी पहचानसे सम्बद्ध है। वह आख्यान बृहदारण्यकोपनिषद् (५। २। १—३)-मे इस प्रकार है—

त्रया प्राजापत्या प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूपुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥

अथ हैन मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रयꣳशिक्षेद्दम दान दयामिति॥

तात्पर्य यह है कि प्रजापतिके तीन सतान—देवता मनुष्य और असुर अपने पिता प्रजापतिके आगे ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर तप करने गये। ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेके बाद देवताओने कहा—'अब हम उपदश कर'। उनके लिये एक अक्षर पिता बाले—'द' आर पूछा—'तुमने समझा'। हाँ, हमने समझा। हम 'दमन' करना चाहिये (अपने भोगपर नियन्त्रण करना चाहिये)—यही आपने कहा। 'हाँ तुमने ठीक समझा।' यह पिताने कहा।

इसक बाद मनुष्य व्रत करके गय और बोले—'हमे उपदश करे'। उनको भी ब्रह्माने एक ही अक्षरका उपदेश दिया—'द' और पूछा—'तुमने समझा'? हाँ, हमने समझा कि आपने कहा 'दान करो'। हाँ, तुमने ठीक समझा।

अब इसके बाद असुर व्रत करक पहुँचे। आप हम उपदेश करे। उनको भी एक अक्षरका उपदेश दिया—'द'। पूछा—'तुमने क्या समझा?' हाँ, हमने समझा, आपन कहा—'दया करा'। हाँ तुमने ठीक समझा।

यह उपदेश दैवी वाणीक रूपम बराबर होता रहता है। जब बादल गरजता है और उसमे 'द-द-द' का स्वर निकलता है। यही ध्वनि निकलती है—'दमन करा', 'दान करो', 'दया करो'। इससे शिक्षा लेनी चाहिये कि ये तीनो आवश्यक हैं। ये तीना जीवनके मन्त्र हैं। अब इसका व्याख्यान करने बैठे तो मनुष्यके लिय दान ही व्रतका फल है। यह बीजमन्त्र है। इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि दानकी परिभाषा है ममत्वका त्याग करना। अपनेपनका दावा छाडना, किसी वस्तुके साथ ममत्व न रखना ओर रखना तो यह समझ कर कि यह वस्तु जितनी मेरी है, उतनी ही दूसरेकी भी और जितनी ममता मेरी है, उतनी ही दूसरेकी भी। यह दान अपने-परायेको जोडनेवाला व्यापार है। यही मानवका उसकी दुर्बलताआसे उद्धार है। दान देकर मनुष्य एकदम बडा हो जाता है। दानका कण वह पारसमणि है, जो लोहेको भी साना बना देती हे, पर शर्त यह है कि अपनपनका नि शेष-भावसे समर्पण होना चाहिये। उसके बिना दान दान नहीं। हमारे यहाँ दानपात्रोसे पीढी-दर-पीढीको बाँधा गया हे। उससे यह पता चलता है कि दानकी नींव हमारी सस्कृतिकी कितनी गहराईम पडी हे। जो दान ऋणके रूपमे ब्याजके लिये दिया जाता हे—वह दान दान नहीं, दानका उपहास है। मनुष्यके लिये 'दान', असुरोके लिये 'दया' और देवताआके लिये 'दमन' क्या इतना महत्त्वपूर्ण है? इसका कारण है कि मनुष्यके स्वभावम ममता है। इसलिये दान उस ममताका स्वाभाविक विस्तार होता है, जो मनुष्यके उन्नयनका कारण है। देवताकी यानि भोगयोनि हे। उसम केवल सुख-भोग है। यदि उस भागका स्वभाव इस रूपम परिवर्तित न किया जाय कि हम दूसरेके भागकी बात सोचते हुए भोग कर तो वह भाग देवताकी कमजारी हो जाता है। उसी प्रकार असुर-वृत्तिका स्वभाव हे दूसरेको दु ख देकर सुख पाना। अत उसके लिये यह आवश्यक हे कि वह दूसरेके दु खसे दु ख भी पाय। उसक लिये वहाँ दयाका उपदेश है। दानवृत्तिका विस्तार ही मानव-सस्कृतिमात्रका विस्तार हे, केवल भारतीय सस्कृतिका नहीं।

इन दा उदाहरणास वैदिक आख्यानकी व्याप्तिका कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता ह आर यह भी सकेत मिल

सकता है कि सरल तथा सीधी भाषाम गहरे-से-गहरे सत्यका प्रकाशन जितना हो सकता है, उतना लबे-चौडे व्याख्यानसे नहीं। आज भी लोकजीवनम जो व्रतकथाएँ प्रचलित हैं, उनका साँचा भी इन्हीं आख्याना-जैसा सारात्मक और प्रश्नोत्तरके रूपम मिलता है। वहाँपर अनावश्यक विवरण नहीं है। आख्यानाकी सरचनामे जो एक ही शब्दकी बार-बार पुनरावृत्ति मिलती है, एक ही वाक्यविन्यासकी बार-बार पुनरावृत्ति मिलती हे, उसस उक्तिम अपने-आप बल पेदा होता है, उक्ति पुष्ट होती हे, उसका प्रभाव अनुरणन या बीजके रूपमे होता है।

वैदिक आख्यानाको किसी गोटीम बाँधना चाहे तो नहीं बाँध सकते। माटे रूपम कह तो सकते हैं कि कुछ आख्यान मनुष्य और देवताके सम्बन्धको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान सृष्टिके क्रमको समझानेवाले हैं, सृष्टिक रहस्यको समझानेवाले ह, कुछ आख्यान प्रकृतिमे घट रहे विभिन्न परिवर्तनाके अनुभवको समझानेवाले है, कुछ आख्यान देवताआ और असुराक प्रतिस्पर्धासे सम्बद्ध हैं, कुछ आख्यान देवताआके परस्पर तारतम्य-सम्बन्धको और तारतम्यसे अधिक परस्पर अवलम्बनके सम्बन्धको स्थापित करनेवाले है और अनेक आख्यान ऐसे भी ह, जिनम कई उद्देश्याका सश्लेप है।

वाक्तत्त्वसे सम्बद्ध आख्यान ऐस ही सश्लिष्ट आख्यान हे ओर सृष्टितत्त्वक भी ख्यापक ह। मनुष्य आर दवताके सम्बन्धके भी ख्यापक हे। विभिन्न सत्ताआक परस्पर अवलम्बनक भी ख्यापक हे। उदाहरणके लिये प्रजापति आर वाक्का प्रसिद्ध आख्यान हे, जिसम कहा गया हे कि प्रजापतिने वाक्की रचना की ओर वे वाक्पर मोहित हा गये। यह मोह रुद्रसे सहन नहीं हुआ। उन्हाने एसे प्रजापतिका सिर काटना चाहा ओर वाण लेकर दाड। प्रजापतिन मृगका रूप धारण किया। रुद्र व्याध बन आर मृगका सिर काट कर रख दिया। वही 'मृगशिरा' नक्षत्र हुआ। ब्रह्माका वह शरार सध्याक रूपम रूपान्तरित हुआ। ऊपरस दखनपर यह आख्यान एक वर्जित सम्बन्धकी वात करता है और साधारण लोगाको इससे बडा धक्का लगता है, पर यह किसी बडी घटनाको समझनेका प्रयासमात्र है। समझानेके लिये ही धक्कामार भाषाका उपयोग किया गया है। रचना या सृष्टि दूसरके लिये होती है। उसपर आधिपत्य करना रचनाकारके लिये सर्वथा अनुचित है और उतना ही अनुचित हे, जितना उपर्युक्त वर्जित सम्बन्ध। अनौचित्यकी तीव्रताको द्योतित करनेके लिये यह बात कही गयी है।

यह बात केवल ब्रह्माकी सृष्टिपर ही लागू नहीं है, प्रत्येक रचनाके लिये लागू होती हे। यदि रचनाकारका सिर, उसका अहकार अलग नहीं हो जाता और रचना अपने कर्तासे विच्छिन्न नहीं हो जाती, वह कोई अथ नहा रखती। रचनाकारका भोक्ताके रूपम मृत्यु ही रचनाका धर्म हे। इस प्रकार यह आख्यान एक सनातन सत्यका ख्यापन है। ऐस ही सैकडा आख्यान वैदिक वाङ्मयमें ह। उनके गहरे अर्थका अन्वेषण जितना भी करे, उतना कम है, क्याकि उसमे असीम अर्थकी सम्भावनाएँ हैं। जो लोग उसे तर्ककी कसौटीपर या अवधारणाओंकी नूतन कसौटीपर कसते हैं, वे इन आख्यानाके भीतर निहित अत्यन्त सघन आध्यात्मिक उत्साहको नहीं पकड पाते। वस्तुत ये आख्यान अपर्याप्त भाषाको पर्याप्त करनेवाले हैं। इनमे केवल सामाजिक, ऐतिहासिक और भौतिक अर्थ ढूँढना इनके समग्र सौन्दर्यको खण्डित करना है। वेदाख्यानको समझनेके लिये—'ये किस व्यापारसे सम्बद्ध हैं, किन किन ब्राह्मणा तथा आख्यानाम आये है'—इस सम्बन्धसे कटकर समझनेका प्रयत्न ठीक प्रयत्न नहीं कहा जायगा। उसी प्रकार जिस प्रकार विवाहके अवसरपर मधुबनामें जा राम-सीताक विवाहकी विविध छवियाँ भीतपर अकित हाती है। उन छवियाको यदि उत्सवके क्षणसे काटकर देखगे और उत्सव-देशसे काट कर देखगे तो हम उसकी सजीवता नष्ट कर दगे। निष्कर्ष-रूपसे हम यह कह सकते ह कि वेदाख्यान उक्तिमात्र नहीं ह, कथामात्र नहीं ह अपितु ये आख्यान एक वडे व्यापारके अविभाज्य अङ्ग ह।

वेदोंमें शिक्षाप्रद आख्यान

[वेदामे यत्र-तत्र कुछ आख्यान प्राप्त होते हैं, जो भारतकी सास्कृतिक धरोहरके रूपमे हमारी अमूल्य निधि हैं। इनम मानव-जीवनको ऊँचा उठानेवाली अनेक सारगर्भित सरल तथा विचित्र कथाएँ भरी पडी है। वैदिक मन्त्रो, ब्राह्मणा, आरण्यको एव उपनिपदोमे हमारे ऋषियोने ऋचाओ, सूत्रो, सूक्तियो तथा कथाओके माध्यमसे ऐसे मानदण्ड निर्धारित किये, जिनका आधार प्राप्त कर भारतीय सस्कृति विकसित हुई।

वेदो, शास्त्रो एव उपनिपदाकी ये कथाएँ केवल कथाएँ ही नही हैं जो मनोरञ्जन करती हो, इनमे एक ऐसी दृष्टि है जो हमे जीवन-दर्शनका ज्ञान कराती है, भले-बुरेका विवेक देती है। जीवनकी अनेक ऊहापोहकी ि्लष्ट परिस्थितियोमे जब हम किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं, हमारी विवेकशक्ति भ्रमित हो जाती है, तब ये कथाएँ हमारा मार्गदर्शन करती हैं, सही निर्णय लेनेकी शक्ति प्रदान करती हैं, साथ ही सत्कार्य करने तथा सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देती है।

इन कथाओमे देवा, दानवो, ऋषियो, मुनिया तथा राजाआकी ही नहीं, प्रत्युत समस्त जड-चेतन, पशु-पक्षी, नदी-पर्वत तथा समुद्र आदिसे सम्बन्धित कथाएँ हैं, जो हमे कर्तव्याकर्तव्यका बोध कराती हुई सुखद जीवन जीनेकी प्रेरणा प्रदान करती हैं। अत वेदाके कुछ शिक्षाप्रद आख्यान पाठकाके लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते है। —सम्पादक]

वेद-कथामृत-कुञ्ज

(डॉ० श्रीहृदयरजनजी शर्मा)

अपौरुषयरूप वेदामे ऋग्वेदकी महत्ता, प्रामाणिकता तथा प्रधानताको विशेषरूपसे मान्यता प्रदान की गयी है। ईश्वरके नि श्वाससे प्रकाशित चारा वेदकि क्रमम भी ऋग्वेदकी प्रथम आविर्भावरूप श्रुति प्राप्त होती है। यथा—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
(ऋक्० १०। ९०। ९)

अर्थात् (साध्यदेवाने सृष्टिके आरम्भम जो मानसिक दिव्य यज्ञ सम्पन्न किया) उस सर्वहोमरूप यज्ञसे ऋचाएँ एव सोम उत्पन्न हुए। उस यज्ञसे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए तथा उससे यजुर्मन्त्र उत्पन्न हुए।

वैदिक वाङ्मयके ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिपद् आदि ग्रन्थाम किसी बातकी महत्ता एव प्रामाणिकताकी पुष्टिके लिये 'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्' अर्थात् 'यह बात ऋक्-मन्त्रके द्वारा निरूपित होनेके कारण मान्य है'—ऐसा विशेषरूपसे कहा गया है। सायणाचार्य आदि प्रामाणिक आचार्योंने भी ऋग्वेदके प्राथम्यको सर्वत्र स्वीकार किया है। केवल श्रौत आदि यज्ञोके प्रयोग (अनुष्ठान)-कालमे पूर्वापर-व्यवस्थाके निर्धारण-हेतु यजुर्वेदका प्राथम्य निर्दशित हुआ है।

इस प्रकारके सर्वातिशायी ऋग्वेदमे अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाप्रद आख्यान एव कथा-प्रसगोका वर्णन प्राप्त होता है। इन आख्यान-प्रसगाके माध्यमसे ईश्वरकी बात 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' अर्थात् अप्रतिहत दिव्य-शक्तिका तथा वेदोक्त धर्म-रूप कर्मकी महत्ताका तात्पर्यरूप प्रतिपादन अधिगत हाता है, इस कथामृतरूप सरोवरके कतिपय पुष्पराग यहाँ निम्नलिखितरूपसे अभिव्यञ्जित हुए हं—

१-नाभानेदिष्ठ-आख्यान

सदर्भ—

यह आख्यान ऋग्वेद सहिताके दशम मण्डलके अन्तर्गत ६१वे एव ६२वे—इन दो सूक्ताम वर्णित हुआ है। इसके माध्यमसे यह बतलानेका प्रयास हुआ है कि इस सृष्टिम चेतन-अचेतनरूप जितने भी पदार्थ हे, उनके स्वामित्व एव उपभागका सम्बन्ध तथा कार्य-क्षेत्रका विस्तार केवल मनुष्यतक ही सीमित नही है, अपितु सूक्ष्मरूपसे तत्तद् दवता भी उसके स्वामी एव अधिकारी ह। अत उनकी आज्ञा लेकर ही इन पदार्थोका ग्रहण एव उपभोग करनेपर हानिरहित परिपूर्णताकी प्राप्ति होती है।

आख्यान—

नाभानदिष्ठ मनुके पुत्र थे। वे ब्रह्मचर्य-आश्रमके अन्तर्गत विधीयमान सस्कारासे युक्त हाकर अपने गुरुके समीप

वेदाध्ययनमे रत रहते। जब पिताकी सम्पत्तिके बँटवारेका समय आया तो नाभानेदिष्ठके अन्य भाइयोंने आपसमें सारी सम्पत्तिका भाग बाँट लिया और उन्हें कुछ भी नहीं दिया। जब उन्हें इस बातका पता लगा तो उन्होंने अपने पिता मनुके पास जाकर पूछा कि क्या आपने मेरे लिये अपनी सम्पत्तिका कोई भी भाग स्वीकृत नहीं किया है? उसके उत्तरमें मनुने उनसे कहा कि यदि पैतृक सम्पत्तिमेंसे तुम्हें भाग नहीं मिला तो कोई बात नहीं, तुम उससे बड़ी एवं उत्कृष्ट सम्पत्तिको पानेके अधिकारी हो। इस उत्तम सम्पत्तिको प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हुए उन्होंने उनसे कहा कि आंगिरस ऋषिगण स्वर्गफलकी कामनासे सत्रयाग (बारह दिनसे अधिक चलनेवाला सोम-याग)-का संकल्प लेकर आरम्भके छः दिनका अनुष्ठान पूरा कर चुके हैं। इसके आगे अवशिष्ट दिनोंके विधि-सम्मत अनुष्ठानको सम्पन्न करनेमें वे दिग्भ्रमित एवं मोहित हो रहे हैं। तुम उन ऋषिगणोंके पास जाओ और उनके सत्र-यागका पूर्ण करनेमें सहायक बनो—'**इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ। क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत् पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन्**'—इस मन्त्रसे प्रारम्भ कर अड़तीस मन्त्र युक्त दो सूक्तों (ऋक्० १०। ६१-६२)-का पाठ वहाँ शस्त्ररूपमें करो। (श्रौत यागोंमें होता नामक ऋत्विक्‌द्वारा यज्ञसे सम्बन्धित देवताओंकी दिव्य स्तुतिरूप शंसना (प्रशंसा)-को 'शस्त्र' के नामसे अभिहित किया जाता है।) श्रीमनुने आगे कहा कि इस शस्त्र-पाठके बदलेमें वे ऋषिगण तुम्हें एक हजार गायोंसे युक्त उत्तम सम्पत्तिको प्रदान करेंगे।

अपने पिताकी प्रेरणासे उत्साहित नाभानेदिष्ठ आंगिरसोंके पास गये और उनकी यथाविधि सहायता की। वे आंगिरस इन (ऋक्० १०। ६१-६२) दो सूक्तोंके दिव्य सामर्थ्यसे यज्ञकी पूर्णताको प्राप्त किये और स्वर्ग जानेकी सफलतासे युक्त होकर उन्हें सहस्र गोरूप-सम्पत्ति प्रदान की।

इस सम्पत्तिको लेनेके लिये नाभानेदिष्ठ जब तत्पर हुए तो उसी समय एक कृष्णवर्णका अत्यन्त बलशाली पुरुष यज्ञस्थलके उत्तर तरफसे उत्पन्न हुआ और उनसे बोला कि 'यज्ञके समस्त अवशिष्ट भागका अधिकारी मैं हूँ। अतः इन गायोंको तुम स्वीकार न करो।' इसपर नाभानेदिष्ठने यह कहा कि 'आंगिरसोंने ये गायें मुझे प्रदान की हैं।' यह सुनकर उस कृष्ण-पुरुषने नाभानेदिष्ठसे कहा कि 'हे ब्रह्मवेत्ता! तुम अपने पिता श्रीमनुसे ही इसका समाधान पूछो कि यह भाग किसे मिलना चाहिये?'

इस समस्याके समाधान-हेतु नाभानेदिष्ठ अपने पिताके पास आये और उनसे न्याय-सम्मत निर्णय देनेका निवेदन किया। इसके उत्तरमें श्रीमनुने कहा कि न्यायतः यज्ञके शेष-भागपर उस कृष्ण-पुरुष (रुद्र)-का ही अधिकार बनता है। इस न्याययुक्त समाधानको नाभानेदिष्ठने सहजरूपमें स्वीकार किया और पुनः यज्ञस्थलपर जाकर उस कृष्ण पुरुषसे निवेदन किया कि इस यज्ञ-भागपर आपका ही अधिकार बनता है। उनके इस सहज-भाव एवं सत्यनिष्ठाको देखकर कृष्ण-पुरुष-रूप रुद्रदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने वह समस्त गो-सम्पत्ति उन्हें आशीर्वादके साथ प्रदान कर दी।

(यहाँ यह विशेषरूपसे ध्यातव्य है कि कृष्ण वर्णके रूपमें उपस्थित रुद्रदेव ही वस्तुतः वास्तु-देवता (वास्तुपुरुष) हैं। ये वास्तु-विज्ञानके मूल आधार हैं। विद्वान् पाठकोंकी जिज्ञासा-शान्ति-हेतु इनके मौलिक-स्वरूप एवं शान्ति प्रक्रियाके संकेतको द्वितीय कथामृतके रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—)

२-वास्तुपुरुष-आख्यान

संदर्भ—

वेदोंमें वास्तुपुरुषके सम्बन्धमें अनेक स्थलोंपर सारगर्भित विवेचन उपलब्ध होता है। इसके अनुसार वे इस पृथिवीके समस्त भू-भागके अभिमानी (अधिकारी) देवता हैं। वे अत्यन्त शक्तिशाली एवं तेजस्वी देव हैं। प्राकृतिक एवं मानवीय समस्त रचनाओंमें उनका उग्र तेज प्रभावी रहता है। उनके इस उग्र तेजको शान्त करके जब किसी वस्तुका उपयोग तथा उपभोग किया जाता है तो वह सबके लिये लाभकारी एवं कल्याणकारी सिद्ध होता है। इस प्रक्रियाके अभावमें किसी वस्तुका उपयोग छोटेसे बड़े स्तरतककी हानिका कारण बन सकता है। भवन-निर्माण, उसमें रहने तथा उसके लाभकारी होनेके संदर्भमें इसका विचार इसलिये और आवश्यक हो जाता है क्योंकि मनुष्यके प्रकाशित एवं अप्रकाशित (ज्ञात-अज्ञात) समस्त जीवन वृत्तों (प्रतिदिनके क्रिया-कलापों)-का यह भवन साक्षी तथा आश्रय-स्थल बनता है। किसी भी भवनका अन्तः एवं बाह्य रूप आकार एवं प्रकार व्यक्तित्वके विकास तथा

सुख-समृद्धि-हेतु अत्यन्त प्रभावकारी माना गया है। वेदोमे इस रहस्यमय कडीका सुलझाने एव अनुकूल बनानेकी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रक्रिया आज भी सुरक्षित है।

आख्यान—

सृष्टि-प्रक्रियाके सतत क्रममे परमेश्वर अपने लीला-जगत्‌के विस्तारको सस्नेह दिशा प्रदान करते हैं। इसमे सर्वप्रथम आधिदैविक सत्ता-क्रममे पृथिवीके भू-भागपर उष कालकी लालिमामय पवित्र-आस्थाकी उत्तम वेलामे भूमिके अधिपति वास्तोष्पति (वास्तुपुरुष)-का आविर्भाव होता है।

उपर्युक्त ईश्वरीय सदेशको ऋग्वदकी यह ऋचा निदर्शित कर रही है—

पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेत सजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पति व्रतपा निरतक्षन्॥
(ऋक्० १०। ६१। ७)

वस्तुत ईश्वरकी सृष्टि-प्रक्रियाका दिव्य स्वरूप ही यज्ञ-प्रक्रिया है। इस ससारमे स्थूलरूपसे जो भी सृष्टि-क्रम घटित होता है, वह आधिदैविक स्तरपर पहले ही पूर्णतया सकल्पित तथा घटित हो जाता है। जैसे कोई मूर्तिकार या कोई अन्य कलाकार अपनी स्थूल रचनाको, मानसिक स्तरपर सूक्ष्मरूपसे बहुत पहले ही एक आकार प्रदान करनेमे समर्थ होता है, वैसे ही आधिभौतिक सत्तासे पहले आधिदैविक सत्तापर प्रत्येक सृष्टिक्रम घटित होता है। अत वास्तुपुरुषकी सत्ता एव प्रतिष्ठाकी प्रक्रियाका शुभारम्भ यहींसे (आधिदैविक स्तरसे) ही शुरू हो जाता है। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥
(ऋक्० १०।९०।१६)

अर्थात् देवताओंने आधिदैविक स्तरपर मानसिक सकल्पके द्वारा सृष्टि-प्रक्रियाके सूक्ष्म स्वरूपको सम्पन्न किया। इस मानसिक यज्ञ-प्रक्रियाको सम्पन्न करनेके लिये जो उपाय 'इतिकर्तव्यता' (दोषरहित क्रियात्मक तकनीक या तरीका)-के साथ अपनाये गये, वही स्थूल सृष्टि-प्रक्रियाके मुख्य धर्म (आचरण-योग्य कर्तव्य) स्वीकृत हुए। इस दोषरहित प्रक्रियाका अन्वेषण तथा निर्धारण करके महान् देवगण द्यावापृथिवी (द्युलोक-सूर्य तथा पृथिवी)-की सीमाके ऊर्ध्वभागमे स्थित अमृतमय नाक (स्वर्गलोक)-को प्राप्त हुए। स्वर्गलोकका एक नाम 'नाक' भी है, क्योकि 'नास्ति अक दु ख यत्र' अर्थात् जहाँ किसी प्रकारका दु ख न हो वह नाक—स्वर्ग है। इस अमृतमय दिव्य स्थानम सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि अनेक कल्पोके साध्यदेव महात्मा सदा निवास करते हैं।

उपर्युक्त आधिदैविक यज्ञ-प्रक्रियाके दोष-रहित अन्वेषण एव निर्धारणका तात्पर्य यज्ञादि कार्योंमे उस 'वास्तुपुरुष'-की सत्ताको पहचानना तथा उसकी उग्रताको शान्त करनेकी वैज्ञानिक प्रक्रियाको सनिहित करना है। इस मूल कडीका समाधान निम्नलिखित आख्यान-चर्चा (शतपथ ब्राह्मण १। ६। १। १—२०)-के माध्यमसे और अधिक स्पष्ट होता है। यथा—

आधिदेविक यज्ञ-प्रक्रियाके माध्यमसे देवगण अपने अभीष्ट स्वर्गलोकको प्राप्त किये और पशुओ (सासारिक-बन्धनोसे आबद्ध जीवो)-का अधिपति देवता यहीं रह गया। अर्थात् यज्ञरूपी वास्तु (भूमि)-पर वास करनेके कारण वह रुद्ररूप देव द्युलोकके स्वर्ग-फलसे वचित रह गया। इस प्रकार वास्तु अर्थात् भूमिपर रहनेके कारण वह 'वास्तव्य' कहलाया। इसके बाद जिस यज्ञ-प्रक्रियाके माध्यमसे देवगण स्वर्ग-फलको प्राप्त किये, उसी यज्ञ-प्रक्रियाको उन्होने पुन सम्पन्न किया, परतु अत्यन्त परिश्रम करनेपर भी वे इस बार यज्ञ-फलका प्राप्त नहीं कर सके, क्योकि वास्तु (भूमि)-के अधिपति देवने जब यह देखा कि देवगण उसे छोडकर यज्ञ कर रहे हैं तो उसने यज्ञ-भूमि (वेदि)-के उत्तर भागसे सहसा उत्क्रमण (बाहर निकल) कर उस यज्ञ-प्रक्रियासे स्वयको अलग कर लिया। यज्ञ-प्रक्रियाके अन्तर्गत 'स्विष्टकृत्' आहुति प्रदान करनेका यह महत्त्वपूर्ण समय था। 'स्विष्टकृत्' आहुतिका मतलब है, वह आहुति जिसको देनेसे यज्ञमे दी गयी समस्त आहुतियाँ अच्छी प्रकारसे इस याग-प्रक्रियाद्वारा देवताओके भक्षण-याग्य बन जाती हैं, अर्थात् रुद्रदेवद्वारा स्वीकृत होती हैं। यज्ञमे 'स्विष्टकृत्' आहुतिका विधान जबतक दोषरहित रूपसे सम्पन्न नहीं होता, तबतक यज्ञम दी गयी समस्त आहुतियाँ देवताओको प्राप्त नहीं होतीं और जबतक देवताओंको आहुतियाँ प्राप्त नहीं होतीं, तबतक यज्ञ अपूर्ण तथा फलरहित ही रहता है।

देवताओंने यज्ञकी इस बाधाके विषयमें जब सूक्ष्मतासे विचार किया तो उन्होंने देखा कि 'स्विष्टकृत्' आहुतिका अधिपति 'अग्निदेव' अपने यज्ञ-स्थानपर उपस्थित नहीं है। यह 'स्विष्टकृत्' विशेषणसे युक्त अग्निदेव सामान्यतया वर्णित वैदिक 'अग्नि' देवतासे सर्वथा भिन्न हैं और यहाँ वास्तुदेवताके विशेष स्वरूपको प्रकाशित करता है। इसे भव, शर्व, पशुपति तथा रुद्र आदि नामोंसे भी जाना जाता है, परंतु इसका (वास्तुपुरुषका) अग्निमय स्वरूप शान्ततम माना गया है। अतः देवगणोंने इस 'स्विष्टकृत्' आहुतिके अभिमानी वास्तुदेवसे प्रार्थना की कि वह उनके यज्ञसे अलग न हो। इसपर वास्तुदेवने कहा कि यज्ञकी पूर्णता एवं फलप्रदान-सामर्थ्य-हेतु देवताओंको दी जानेवाली प्रत्येक आहुतिमें वास्तुदेवके अंशकी स्वीकृतिका विधान आवश्यकरूपसे किया जाय तथा सभी आहुतियोंके अन्तमें एवं पूर्णाहुतिके पूर्व 'स्विष्टकृत्' आहुति भी दी जाय, तभी यज्ञकी सफलता निश्चित होगी। आप सभी देवगण वास्तुदेवताके लिये अनिवार्यरूपसे देय इस अंशकी स्वीकृतिके बिना ही उपयुक्त यज्ञ कर रहे हैं, जिससे यज्ञ सफल नहीं हो पा रहा है। देवगणोंने भी यज्ञ-प्रक्रियाके इस सूक्ष्म किंतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंशके दोषको पहचान कर इसे दूर किया तथा वास्तुदेवताके अस्तित्वको स्वीकार कर प्रत्येक आहुतिके साथ उनकी सहभागिता सम्पन्न की और अपने उद्देश्यमें सफल हुए।

लोकमें व्यवहृत वास्तु-विज्ञानके संदर्भमें वैदिक यज्ञ-प्रक्रियाके इस सूक्ष्म स्वरूपको कुछ युगानुरूप परिवर्तनके साथ निरूपित किया जाता है। इसके अन्तर्गत भवन-निर्माणकी अन्तः एवं बाह्य संरचनाको कुछ इस प्रकारसे दिशा प्रदान की जाती है, जिससे वास्तुपुरुषका वह रुद्ररूप—उग्र-तेज परिवर्तित होकर 'अग्नि' रूप शान्ततम भावके साथ सदा सुख-शान्ति तथा समृद्धिकी प्रतिष्ठा प्रदान करता रहे। एतावता वास्तु-विज्ञानका मूल उद्देश्य अग्नि-रूप वास्तुपुरुषकी यज्ञ, गृह आदि स्थानोंपर अन्तः-बाह्यरूप प्रतिष्ठा ही है।

३-ऋषिभाव-प्राप्ति-आख्यान

संदर्भ—

वेदोंमें ऋषिभावको सर्वोत्तम भावके रूपमें निदर्शित किया गया है। कहा भी गया है—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' अर्थात् ऋषि वे हैं जो वैदिक मन्त्रवाक्योंका साक्षात् दर्शन करते हैं। निरुक्त-शास्त्रमें भी ऋषि शब्दका निर्वचन करते हुए कहा गया है—'ऋषिर्दर्शनात्' अर्थात् ऋषि वह है जो अतीत, अनागत तथा वर्तमानकालको एक ही समयमें समग्ररूपसे देख सके। इस स्थितिको 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के रूपमें भी निरूपित किया जाता है। 'ऋत' का अर्थ है सार्वकालिक सत्य और इस सार्वकालिक सत्यसे परिपूरित प्रज्ञा-विशिष्ट ज्ञान-शक्ति जब समग्र-भावसे जगत्‌को देखने तथा समझनेमें समर्थ हो जाती है, तो वह ऋषिभावकी प्रतिष्ठाके साथ व्यवहृत होती है। वेदोंमें यह ऋषिभाव सबसे बड़े सम्मानके रूपमें समादृत हुआ है। इसे निम्नलिखित कथा (ऋक्० ५। ६१। १—१९)-के माध्यमसे देखा जा सकता है—

आख्यान—

किसी समय अत्रिवंशज दार्भ्य ऋषि अपने पुत्रके साथ रथवीति नामक राजाके यहाँ यज्ञ सम्पन्न कराने गये। यज्ञानुष्ठानके क्रममें उन्होंने राजाकी सुशील एवं गुणवती पुत्रीको देखा। उसे देखकर ऋषिने विचार किया कि यह उनकी पुत्रवधू होने योग्य है। अतः यज्ञ समाप्त होनेपर उन्होंने राजासे अपने मनकी इच्छा व्यक्त की। राजाने उनके इस प्रस्तावपर अपनी पत्नीके साथ विचार-विमर्श किया। इसपर राजाकी पत्नीने निवेदन किया कि अबतक हमारे वंशकी कन्याएँ 'ऋषिभाव'-प्राप्त महापुरुषोंको ही प्रदान की गयी हैं। अतः यह ऋषिपुत्र उस परम भावको यदि प्राप्त कर ले, तो उन्हें इसमें आपत्ति न होगी। इस युक्तियुक्त समाधानको सुनकर ऋषिपुत्र श्यावाश्व दृढ़ संकल्पके साथ घोर तपस्या तथा सत्यनिष्ठ आचरण सम्पन्न करनेमें मन, वाणी तथा कर्मकी समरसताके साथ प्रवृत्त हुए। उनके इस परम भावसे प्रसन्न होकर यथासमय मरुद्गणोंने उन्हें 'ऋषि भाव'-प्राप्तिका आशीर्वाद प्रदान किया। ऋषिभावके प्रभावसे श्यावाश्वका मुखमण्डल शोभायमान हो उठा। वे अपने पिताके पास वापस आये, इसके पहले ही उनकी यश कीर्ति सर्वत्र पहुँच चुकी थी। राजा रथवीतिने भी सपरिवार 'ऋषि'-सम्बोधनके साथ उनका सम्मान किया और उन्हें गृहस्थ-धर्ममें प्रवेश-हेतु सविधि अपनी सुयोग्य कन्या प्रदान की। ऋषि श्यावाश्व भी कालक्रमकी मर्यादाके साथ अन्ततः परम पुरुषार्थको प्राप्त हुए।

'ऐतरेय ब्राह्मण' की कथा

[बचपनसे नाम-जप]

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

हारीत ऋषिके वशमे एक ऋषि हुए। स्कन्दपुराणने उनका नाम माण्डूकि दिया है। उनकी पत्नीका नाम इतरा था। इतरामे वे सभी सद्‌गुण विद्यमान थे जो एक साध्वीमे हुआ करते हैं[1]। हारीत ऋषि भक्तिके महान् आचार्य थे। उनकी वशपरम्पराम होनेके कारण दम्पतिमे सहज ही भक्तिकी भावना लहराती रहती थी। पति एव पत्नी दोना अनुकूल और पावन जीवन बिता रहे थे। उनके जीवनमे एक ही कमी थी, वह कमी थी सतानका न होना। साध्वी इतरासे कोई सतान नहीं हो रही थी। इसलिये ऋषिने घोर तपका आश्रय लिया। फलस्वरूप उनके घरमे एक पुत्रका जन्म हुआ। जिसे माँके नामपर सब लोग 'ऐतरेय' कहकर पुकारते थे। महान् वशमे महान् तपके प्रभावसे जिस शिशुने जन्म लिया, वह भी महान् ही था। ऐतरेय ब्राह्मणका आगे चलकर यही द्रष्टा हुआ। इसके अतिरिक्त बिना पढे ही एतरेयमे सारे वेद प्रतिभासित हो गये। *'होनहार बिरवानके होत चीकने पात'*— इस कहावतके अनुसार ऐतरयम बचपनसे ही चमत्कारपूर्ण घटनाएँ घटने लगीं। जब बोलनेका समय आया, तो उसके मुखसे पहला शब्द निकला—'वासुदेव[2]'। उच्चारण बिलकुल स्पष्ट था और मिठाससे भरा था। लोगोके लिये यह विस्मयकी बात थी। लोगाम यह विस्मय तब ज्यादा बढ गया, जब आठ वर्षोतक यह बालक निरन्तर 'वासुदेव-वासुदेव' जपता चला गया। आँख बद करके भगवान्‌को देखता, मुखपर भगवत्प्रेमकी चमक होती और मुखसे 'वासुदेव-वासुदेव'—इस नामका कीर्तन होता रहता। आठ वर्षतक 'वासुदेव' शब्दको छोडकर और किसी शब्दका उसने उच्चारण नहीं किया।

ऐतरेयकी इस स्थितिने लोगामे तो कुतूहल भर दिया और माता-पिताके हृदयमे आनन्द। माता-पिता सोचते रहे कि हमारे कुलम एक महाभागवतने जन्म लिया है, जो अनेक पीढियोको तार देगा, किंतु पीछे चलकर यह कीर्तन पिताके लिये चिन्ताका विषय बन गया। आठवे वर्षमे पिताने पुत्रका यज्ञोपवीत-सस्कार कराया और उसे वेद पढाना चाहा, परतु वह बालक 'वासुदेव' को छोडकर न कुछ सुनता था और न बोलता ही था। वेदका पढना तो दूर रहा। पिता पढाते-पढाते थक गये। उनके सारे उपाय व्यर्थ सिद्ध हुए। अन्तमे वे इस निश्चयपर पहुँचे कि ऐतरेय जड है। इसके बाद वे अपने पुत्रसे बहुत निराश हुए।

विवश होकर उन्हाने दूसरा विवाह किया। इस स्त्रीसे उन्हे सतानाकी प्राप्ति हुई। ये सभी सतान वेदके पारगत विद्वान् हुए और कर्मकाण्डमे बहुत ही कुशल। ऋषिकी इन सतानाकी सर्वत्र पूजा होने लगी। साथ-साथ इनके पिता भी उन लडकोको और उनकी माँको भरपूर प्यार और सम्मान देते। धीरे-धीरे ऐतरेय और उसकी माँ—ये दोना घरमे ही उपेक्षित होते चले गये।

पतिकी उपेक्षाने इतराका जीना दूभर कर दिया। एक दिन भारी हृदय लेकर वह मन्दिरमे जा पहुँची। उसका पुत्र ऐतरेय सारा समय मन्दिरमे ही व्यतीत करता था। उसका एक ही काम था 'वासुदेव-वासुदेव' रटना। उसने पुत्रकी तल्लीनता भग करते हुए कहा कि 'तुम्हारे चलते हम उपेक्षित हैं और तुम तो उपेक्षित हो ही। अब बताओ हमारे जीनेका क्या प्रयोजन है?'

पुत्रने समझाया कि 'माँ! अब तुम ससारमे आसक्त होती जा रही हो। ससार तो नि सार है, सार केवल भगवान्‌का नाम है। मान और अपमान—ये दोना ही माया हैं, फिर भी मैं तुम्हारी अभिलाषाको पूर्ण करूँगा। तुम दु खी न होओ। मैं तुम्हे उस पदपर पहुँचाऊँगा, जहाँ सैकडा यज्ञ करके भी

१-तस्यासीदितरा नाम भार्या साध्वी गुणैर्युता (स्क० पु० माहे० ख० ४२। ३०)।
२-वासुदेवेति नियतमैतरेयो वदत्यसौ (लिङ्गपु० २। ७। १९)।

नहीं पहुँचा जा सकता' (स्क० पु० मा० कुमा०)।

बच्चेका विवेकपूर्ण आश्वासन पाकर माँको बहुत संतोष हुआ। इस बीच भगवान् विष्णु अर्चा-विग्रहसे साक्षात् प्रकट हो गये। भगवान्के दर्शन पाकर माता विह्वल हो गयी और अपना जन्म लेना सफल समझने लगी। उस दर्शनका ऐतरेयपर बडा गहरा प्रभाव पडा। वह रोमांचित हो गया। आनन्दसे उसकी आँखामे आँसू छलक आये। उसने गद्गद-स्वरसे भगवान्की वह स्तुति की, जो इतिहासमे प्रसिद्ध है।

भगवान्ने ऐतरेयको अपने आशीर्वादसे प्रफुल्लित कर दिया। अन्तमे उसकी माताकी इच्छाकी पूर्ति भी करनी चाहिये, यह सोचकर भगवान्ने ऐतरेयको आदेश दिया कि 'तुम अब सभी वैदिक धर्मोंका आचरण करो। सभी काम निष्काम-भावसे करो और मुझे समर्पित करते जाओ। माताकी इच्छाकी पूर्तिमे बाधक न बनो। विवाह करो। यज्ञाद्वारा भगवान्की आराधना करो और माताकी प्रसन्नताको बढाओ। यद्यपि तुमने वेदाका अध्ययन नहीं किया है, फिर भी सम्पूर्ण वेद तुम्हे प्रतिभासित हो जायँगे। अब तुम कोटितीर्थमे जाओ। वहाँ हरिमेधाका यज्ञ हो रहा है। वहाँ जानेपर तुम्हारी माताकी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी हो जायँगी।'

भगवान्के दर्शन और अपने ऊपर उनका स्नेह दे[खकर] इतराका हृदय गद्गद हो गया। जिस पुत्रको वह जड म[ानती] थी, उसका महान् प्रभाव देखकर वात्सल्यकी जगह उ[समें] श्रद्धाका भाव भर गया।

भगवान्के आदेशके अनुसार माता और पुत्र हरिमे[धाके] यज्ञमे पहुँचे। वहाँ ऐतरेय बोले—

नमस्तस्मै भगवते विष्णवेऽकुण्ठमेधसे।
यन्मायामोहितधियो भ्रमाम कर्मसागरे॥

इस श्लोकके गम्भीर आशयसे हरिमेधा आदि [सभी] विद्वान् चमत्कृत हो गये। सभीने ऐतरेयको ऊँचे आसन[पर] बैठाकर उनकी विधिवत् पूजा की। ऐतरेयने वेदके उ[स] भागको भी निर्भ्रान्त सुनाया जो वहाँके विद्वानोको उपस्थि[त] (ज्ञात) थे और वेदके उस भागको भी सुनाया, जो अ[भी] पृथ्वीपर उपलब्ध नहीं थे। हरिमेधाने ऐतरेयसे अपनी पुत्री[का] विवाह कर दिया। सारे विद्वानोने ऐतरेयकी माताको ऐतरेय[से] बढकर सम्मानित किया (स्क० पु० मा० कुमा०)।

सायणने अपनी भूमिकामे किसी अन्य कल्पकी रोचक घटना दी है। जब पिताने यज्ञ-सभाके बीचमे ऐतरेयका घो[र] अपमान किया और उसको झटककर पिङ्गाके पुत्रोंको अपने गोदमे बैठाया, तो माताका हृदय इसको सह न सका। माता भगवान्को पृथ्वीमाताके रूपमे भजती ही थी। उसने अपनी उसी कुल-देवताका स्मरण किया। पृथ्वी देवी दिव्यमूर्ति धारण कर उस सभामे आ गयीं। उन्होंने वहाँ एक ऐसा सिंहासन रखवाया जिसे किसीने कभी देखा न था। उसी दिव्य आसनपर पृथ्वीमाताने ऐतरेयको बैठाया और सबके सामने घोषित किया कि ऐतरेयके पाण्डित्यके समान किसीका पाण्डित्य नहीं है। इसको मैं वरदान देती हूँ कि यह 'ऐतरेय ब्राह्मण' का द्रष्टा हो जाय। वरदान देते ही ऐतरेयको ४० अध्यायोवाला ब्राह्मण प्रतिभासित हो गया। तभीसे इस ब्राह्मण-भागका नाम 'ऐतरेय ब्राह्मण' पडा।[१]

---

१ तदानीं खिन्नवदनं महिदासमवगत्य इतराख्या तन्माता स्वकीयकुलदेवतां भूमिमनुसस्मार। सा च भूमिर्देवता दिव्यमूर्तिधरा तस्यां यज्ञसभायां समागत्य महिदासाय दिव्यं सिंहासनं दत्त्वा तत्र एनमुपवेश्य सर्वेष्वपि कुमारेषु पाण्डित्याधिक्यमवगम्य एतद् (ऐतरेय) ब्राह्मणप्रतिभासमानरूपं वरं ददौ। तदनुग्रहात् तस्य मनसा चत्वारिंशदध्यायोपेतं ब्राह्मणं प्रादुरभूत्।

धर्ममे विलम्ब अनुचित

इन्द्रने अगस्त्य ऋषिके साथ सवादमे धर्मका गूढ रहस्य बताते हुए कहा है कि किसी भी धार्मिक कार्यको करनेमे कभी विलम्ब न करे। कारण, चित्त बडा चचल होता है। अभी धर्म करनेका निश्चय करनेवाला चित्त दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है—

विलम्ब नाचरेद् धर्मे चल चित्त विनश्यति।
इन्द्रेणागस्त्यसवाद एष धर्म उदाहृत ॥

अपने यहाँ 'शुभस्य शीघ्रम्' जो कहा जाता है, यह उपदेश उसीकी छाया है। यहाँ तो चित्तकी चचलताको लक्ष्य कर वैदिक कथा (ऋक्० १।१६९।१, १।१७०।१) भी इसी बातको पुष्ट करती है, पर अन्यत्र मृत्युको भी लक्ष्य कर ऐसा उपदेश है। कहा गया है कि कलका काम आज करो और *अपराह्णका काम पूर्वाह्णमे। मृत्यु आपकी कभी* प्रतीक्षा नहीं करेगी कि आपने यह काम पूरा किया है या नहीं। मरणधर्मा मानवके लिये यह कहना उचित नहीं कि 'आज यह कर ले, कल उसे करगे।' माना कि यह काम कल हो जायगा, पर उसके करनेवाले आप ही रहेगे या नहीं यह कैसे कह सकते हे? अवश्य ही जिसने मृत्युके साथ मित्रता जोड ली हे या जो अमृत पिये हुए हे, वे यदि कह कि 'यह काम तो कल किया जायगा' तो उचित भी होगा। ध्यान रहे कि कर्तव्य-कर्मका आदान या प्रदान शाघ्र नहीं किया जाता ता मृत्यु उसका सारा रस पी जाती है, चूस लेती है और वह कर्म सीठी-सा निरुपयागी बन जाता है। इसीलिये प्राणिमात्रका कर्तव्य है कि जा शुभ कार्य है जिससे धर्म और पुण्य होनेवाला हे, उसे आज ओर अभी पूरा करे। अन्यथा पहल तो आपका चित्त ही आपको धोखा देगा और उससे बचे तो मृत्यु आपका घात करेगी, फिर आप हाथ मलते, कलपते ही रह जायँग कि हाय मैंने यह काम भला क्या नहीं कर डाला।

इसके निदर्शनम वैदिक कथा इस प्रकार ह—एक बार अगस्त्य ऋषि कोई यज्ञ कर रहे थे। उस समय उन्हाने 'महश्चित्' (ऋक्० १।१६९।१)—इस मन्त्रसे पहले इन्द्रकी स्तुति कर उनके लिये हवि आगे किया, पर राज्याभिमानवश इन्द्रके आनेमे विलम्ब हो जानेपर उन्हाने वही हवि मरुतोको देनेकी ठान ली। देरसे पहुँचनेपर इन्द्रने जब यह रहस्य जाना तो वे शोकाकुल हो बिलखने लगे। अगस्त्यने समझाया—'घबराये नहीं, आगे मिल जायगा।'

इसपर इन्द्र कहने लगे—'ऋषे! जो आज उपस्थित है, जब वही हमे नहीं मिल पाता तो आगामी दिनामे वह मिलेगा, इसका क्या निश्चय? जो अभूतपूर्व है उसे कौन जानेगा? भला क्षण-क्षण सहस्रो विषयामे भटकनेवाले किसीके चित्तको कोई जान सकता है?'

इसपर अगस्त्य ऋषिने कहा—'देवन्द्र! मरुद्गण तो आपके भाई हैं। आप उनसे समझ लीजिये।'

इन्द्र फिर भी क्रुद्ध ही रहे और उन्ह उपालम्भ देने लगे। *अगस्त्यने पुन उन्हे शान्त किया, विश्वास दिलाया।* इस प्रकार वह हवि मरुद्गणोको दे दिया गया। ऋग्वेदमे वर्णित इस कथाकी सूचक ऋचा इस प्रकार है—

न नूनमस्ति नो श्व कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीत वि नश्यति॥
(ऋक्० १।१७०।१)

अर्थात् इन्द्र कहते हैं कि जो अद्यतन है, वह निश्चय ही आज नहीं। कल भी उसका निश्चय नहीं। जा अभूतपूर्व है अर्थात् दूसरेके लिये रखा ओर दिया दूसरेका, उसे कौन जानेगा? तव भावीकी आशा ही क्या? चारा आर भटकनेवाल परचित्तका भला कौन जान सकता हे? फिर, जा चिरकालसे साचा-समझा भी नष्ट हो जाता हे ता अचानक सोच हुएकी बात ही क्या?

ऋग्वेदके अतिरिक्त वृहद्देवता (४।४९—५३) एव निरुक्त (१। ५)-मे भी इस कथाक सकेत प्राप्त हाते ह।

इस वदिक कथासे मानवमात्रको यही शिक्षा मिलती है कि वह आलस्य-प्रमादसे रहित होकर शास्त्रविहित समस्त अवश्यकरणीय कर्तव्य-कर्मोक सम्पादनम सदैव तत्पर रह, क्षणमात्रक लिये भी उसम शिथिलता न बरते।

[वदापदेश-चन्द्रिका]

इस प्रकार पायु ऋषिने युद्धके समस्त उपकरणाके अभिमन्त्रणके साथ उन्ह देवत्वशक्तियुक्त बना दिया ओर दोनो राजाआको लेकर पिता भग्द्वाज ऋषिके निकट पहुँचे। ऋषिकुमारने पिताको उनके द्वारा आदिष्ट कार्य पूर्ण होनेकी सूचना दी।

भरद्वाज-ऋषिने राजाआसे कहा—'चिरजीव अभ्यावर्तिन् और प्रस्तोक! अब आप लोग निर्द्वन्द्व होकर शत्रुपर चढाई कर दे। आपकी विजय सुनिश्चित है। मुझे पता चला है कि आपके शत्रु वारशिख आपको पराजित करनेके पश्चात् निश्चिन्त हो विश्राम कर रहे हैं। उन्ह कल्पना ही नहीं कि आप उनपर आक्रमण कर सकते हैं। रणनीतिकी दृष्टिसे यह स्थिति किसी प्रहर्ताके लिये स्वणसुयोग होती है। इसलिये अब तनिक भी दर न कर।'

ऋषिने आगे कहा—'एक बात और। कदाचित् शत्रुसे कडा मुकाबला पड जाय तो उसकी भी व्यवस्था किये देता हूँ। देवराज इन्द्रस अनुरोध करता हूँ कि वे अभ्यावर्तीके सहायतार्थ रणाङ्गणमे स्वय उतर आये'—'शुभास्ते पन्थान सन्तु।'

ऋषिका आदेश शिरसा धारण कर अभ्यावर्ती और प्रस्तोक राजाओने अपने शत्रु वारशिखापर जोरदार आक्रमण कर दिया। भरद्वाज ऋषिके कथनानुसार सचमुच शत्रु विजयके गर्वमे अचेत पडे थे। उन्ह इस आकस्मिक आक्रमणने चक्करम डाल दिया, किंतु कुछ ही समयम वे सावधान हो गये तथा पूर जोर-शोरके साथ जूझन लगे। लडाईका समाचार पा शीघ्र ही असुराके अन्य साथी भी अपनी-अपनी तैयारीके साथ कुछ ही समयम रणागणम उतर आये।

इधर भरद्वाज ऋषिने 'एतत् त्यत् ते०' आदि चार ऋचाआ (६।२७।४—७)-द्वारा राजा चायमान अभ्यावर्तीके सहायतार्थ देवराज इन्द्रकी स्तुति की। ऋषिकी स्तुतिसे प्रसन्न हो दवराज उसके सहायतार्थ हर्युपीया नदीके तटपर जहाँ इन दोना राजाआका वारशिखाके साथ युद्ध चल रहा था, आ पहुँचे।

मन्त्राभिमन्त्रित दिव्यास्त्र तो युद्धम अपना तज दिखा ही रह थे। अतिशाघ्र पूरी तैयारीसे असुराक आ कूदनेपर भी असुरोके प्रहार इस बार मोघ हो चले, जबकि राजवर्गका एक-एक अस्त्र लक्ष्यसे अधिक काम करने लगा, फिर जब स्वय देवराज पहुँच गये तो पूछना ही क्या? उनके वज्रके निर्घोषसे ही वारशिखाके सर्वप्रमुख योद्धाका हृदय विदीर्ण हो गया। देखते-देखते सारे असुराका सफाया हो गया।

असुराका वध कर देवराजने उनकी सारी सम्पदा राजाआको सौंप दी। दोनाने आकर कुलगुरु भरद्वाज एव इन्द्रका अभिवादन किया और शत्रुसे प्राप्त सम्पत्तिका विपुल भाग गुरुके चरणामे निवेदित कर उनसे विदा ली।

ऋग्वेदकी निम्न ऋचाआमे इस कथाका इस प्रकार सकेत किया गया है—

एतत् त्यत् त इन्द्रियमचेति येनावधीर्वरशिखस्य शेव।
वज्रस्य यत् ते निहतस्य शुष्मात् स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार॥
(६।२७।४)

अर्थात् भरद्वाज ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'हे इन्द्र! हम आपके उस पराक्रमको जानते हैं, जिसके बलपर आपने वारशिख असुरके पुत्रोंका वध कर डाला। आपद्वारा प्रयुक्त वज्रके निर्घोष-मात्रसे वारशिखोके सर्वश्रेष्ठ बलीका हृदय विदीर्ण हो गया।'

जीमूतस्येव भवति प्रतीक यद् वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्व स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु॥
(६।७५।१)

अर्थात् पायु ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे वर्मकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'सग्राम छिडनेपर जब यह राजा कवच धारण कर आता है तो लोहमय वर्मसे सनद्ध इस राजाका रूप मेघ-सा दीखने लगता है। हे राजन्! आप शत्रुसे अवाधित-शरीर होकर उन्ह जीते। वर्मकी वह अपूर्व महिमा आपका रक्षण करे।'

ऋग्वेदकी इन कथासूचक ऋचाआके अतिरिक्त 'बृहद्देवता' (५। १२४—४०)-म भी इस कथाका स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है।

[वेदोपदेश-चन्द्रिका]

ऐतरेयब्राह्मणकी एक सदाचार-कथा

(डॉ० श्रीइन्द्रदेवसिंहजी आर्य, एम्०ए०,एल्-एल्०बी०, साहित्यरत्न, आर०एम्०पी०)

ब्राह्मणग्रन्थाेम सदाचारके अनेक प्रेरणा-स्रोत हैं, ऐतरेयब्राह्मणका हरिश्चन्द्रोपाख्यान वैदिक साहित्यका अमूल्य रत्न है। इसमे इन्द्रने रोहितको जो शिक्षा दी है, उसका टेक (Refrain) है—'चरैवेति', 'चरैवेति'—चलते रहो, बढते रहो। इस उपाख्यानके अनुसार सैकडा स्त्रियाके रहते हुए भी राजा हरिश्चन्द्रके कोई सतान न थी। उन्हाने पर्वत और नारद—इन दो ऋषियासे इसका उपाय पूछा। देवर्षि नारदने उन्हे वरुणदेवकी आराधना करनेकी सलाह दी। राजाने वरुणकी आराधना की और पुत्र-प्राप्तिपर उससे उनके यजनकी भी प्रतिज्ञा की। इससे उन्ह पुत्र प्राप्त हुआ और उसका नाम रोहित रखा। कुछ दिन बाद जब वरुणने हरिश्चन्द्रको अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण कराया तो उन्हाने उत्तर दिया—'जबतक शिशुके दाँत नहीं उत्पन्न होते, वह शिशु अमेध्य रहता है, अत दाँत निकलनेपर यज्ञ करना उचित होगा' (ऐतरेय० ७। ३३। १-२)।

वरुणने वच्चेके दाँत निकलनेपर जब उन्ह पुन स्मरण दिलाया, तब हरिश्चन्द्रने कहा—'अभी ता इसके दूधके ही दाँत निकले हैं, यह अभी निरा बच्चा ही है। दूधके दाँत गिरकर नये दाँत आ जाने दीजिये, तब यज्ञ करूँगा।' फिर दाँत निकलनेपर वरुणने कहा—'अब तो बालकके स्थायी दाँत भी निकल आये, अब तो यज्ञ करो।' इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—'यह क्षत्रियकुलोत्पन्न बालक है। क्षत्रिय जबतक कवच धारण नहीं करता, तबतक किसी यज्ञिय कार्यके लिये उपयुक्त नहीं होता। बस, इसे कवच-शस्त्र धारण करने योग्य हो जाने दीजिये, फिर आपके आदेशानुसार यज्ञ करूँगा।' वरुणने उत्तर दिया—'बहुत ठीक।' इस प्रकार रोहित सोलह-सत्तरह वर्षोका हो गया और शस्त्र-कवच भी धारण करने लगा। तब वरुणने फिर टोका। हरिश्चन्द्रने कहा—'अच्छी बात है। आप कल पधारें। सब यज्ञिय व्यवस्था हो जायगी' (ऐतरेय० ७। ३३। १४)।

हरिश्चन्द्रने रोहितको बुलाकर कहा—'तुम वरुणदेवकी कृपासे मुझे प्राप्त हुए हो, इसलिये मैं तुम्हार द्वारा उनका यजन करूँगा।' किंतु राहितने यह बात स्वीकार नहीं की और अपना धनुप-बाण लेकर वनम चला गया। अब वरुणदेवकी शक्तियाने हरिश्चन्द्रको पकडा और वे जलोदर-रोगसे ग्रस्त हा गये। पिताकी व्याधिका समाचार जब रोहितने अरण्यम सुना, तब वह नगरकी ओर चल पडा। परतु बीच मार्गमे ही इन्द्र पुरुपका वेप धारण कर उसके समक्ष प्रकट हुए आर प्रतिवर्ष उसे एक-एक श्लोकद्वारा उपदेश देते रहे। यह उपदेश पाँच वर्षोमे पूरा हुआ और तबतक रोहित अरण्यम ही निवास करते हुए उनके उपदेशका लाभ उठाता रहा। इन्द्रके पाँच श्लोकाका वह उपदेश-गीत इस प्रकार है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरत सखा चरैवेति॥

'रोहित! हमने विद्वानासे सुना है कि श्रमसे थककर चूर हुए बिना किसीको धन-सम्पदा प्राप्त नहीं होती। बैठे-ठाले पुरुपको पाप धर दबाता हे। इन्द्र उसीका मित्र हे, जो बराबर चलता रहता है—थककर, निराश होकर बैठ नहीं जाता। इसलिये चलते रहो।'

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहि ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मान श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति॥

'जो व्यक्ति चलता रहता है, उसकी पिडलियाँ (जाँघ) फूल देती है *(अन्यद्वारा सेवा हाती है)। उसकी आत्मा* वृद्धिगत होकर आरोग्यादि फलकी भागी होती है तथा धर्मार्थ प्रभासादि तीर्थोम सतत चलनेवालेके अपराध और पाप थककर सो जाते हे। अत चलते ही रहो।'

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठत ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥

'बैठनेवालेकी किस्मत बैठ जाती है, उठनेवालकी उठती, सोनेवालेकी सो जाती आर चलनवालका भाग्य प्रतिदिन उत्तरोत्तर चमकने लगता है। अत चलते ही रहा।'

कलि शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरश्चरैवेति॥*

'सोनेवाला पुरुष मानो कलियुगमे रहता है अँगडाई लेनेवाला व्यक्ति द्वापरम पहुँच जाता हे और उठकर खडा हुआ व्यक्ति त्रेतामे आ जाता है तथा आशा और उत्साहसे भरपूर होकर अपने निश्चित मार्गपर चलनेवालेके सामने

* यह मन्त्र स्वल्पान्तरसे मनुस्मृति (९। ३०२)-म भी प्राप्त होता है।

भगवान्‌की असीम दयालुता

मानव-मानसे ब्रह्माके ४ लाख ३२ हजार वर्ष बीत चुके थे। उनके दिनका अवसान हो चला था। रात आ गयी थी। ब्रह्माजीको नींद भी आ रही थी। इस तरह ब्राह्म-नामक नैमित्तिक प्रलयका काल आ पहुँचा था। कुछ ही दिनामे ससारको समाप्त हो जाना था, किंतु विश्वके लागाका ध्यान इधर नहीं जा रहा था। महाराज मनुको भी प्रलयका कोई भान न था। वे सदाकी भाँति अपने नित्य-कृत्यको दुहराने जा रहे थे। शतपथने लिखा है कि प्रात कालका समय था। हाथ-मुख धोनेके लिये उनके नौकर जल ले आये थे। शिष्टाचारक अनुसार जलपात्र उनक दोना हाथाम थ। मनुजाने जब हाथमे जल लिया तो उसक साथ एक मत्स्य आ गया। मत्स्यने मनुसे करुणाभरे स्वरमे कहा—'तुम मेरा भरण-पोषण करो, मैं भी तुम्हारा भरण-पोषण करूँगा।' मनुन पूछा—'तुम मेरा भरण-पोषण किस प्रकार करोगे?' मत्स्यने कहा—'एक भयानक बाढ आनेवाली है, जो सारी प्रजाको बहा ले जायगी। कोई न बचेगा। उस समय में तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

मनुने पूछा 'अब यह बताओ कि तुम्हारा रक्षाके लिये मुझे कौन-कौन कार्य करने होगे।' मत्स्यने कहा कि 'जबतक में छोटा हूँ, तबतक मुझे नष्ट करनेवाले बहुत-से जीव-जन्तु हैं। अपनी ही जातिकी बडी मछली भी मुझे निगल सकती है। इसलिये मुझे पाल-पोषकर बडा बना देना होगा। पहले मुझ घडम रखो। जब उसमे न आ सकूँ ता गड्डा खोदकर जलाशय बनाकर उसम रखो। इस तरह जैसे-जैसे मैं बढता जाऊँ, वैसे-वैसे बडे-बड बनावटी जलाशय बनाकर मेरा पालन-पोषण करो। अन्तमे समुद्रमे पहुँचा देना, फिर मुझे किसीसे भय न होगा।'

मत्स्यकी बात मीठी-मीठी और बहुत मोहक थीं। मत्स्य जो-जो कहता, वह कार्य करनेको मनुका मन करता अत उन्हाने उसकी सुरक्षाकी सभी व्यवस्थाएँ कीं। श्रीमद्भागवत (९।८)-से पता चलता है कि मनुकी आँख तब खुलीं, जब वह मत्स्य एक ही दिनमे ४ सौ कासाम विस्तृत सरावरके बराबर हो गया था। तब वे समझ गये कि भगवान् ही कोई लीला कर रह हैं। शतपथक 'उपासासै' (मरो उपासना करते रहो)—इस अशके कथनका बीज निहित है। मनुका जब यह समझमें आ गया तो भगवान्‌की उस कृपापर उनका हृदय गद्गद हो गया। साचने लगे कि जिनके दर्शन पानेक लिये मुनियोको कई जन्म बिताने पडते हैं, वे भगवान् मुझे निरन्तर दर्शन देते जा रहे हैं, मुझसे मिठास-भरी बातें कर रह हैं, सर्वसमर्थ होते हुए भी मुझसे सुरक्षा माँगकर मेरा मान बढा रहे हे, निरन्तर अपना सुखद स्पर्श प्रदान कर रहे हैं और मेरी सुरक्षाके लिये लबी-लबी योजनाएँ भी बना रहे हैं। मनुका गद्गद-हृदय अब आँकने लगा कि जितने देवता आदि पूज्य वर्ग हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी कृपा कर तो भगवान्‌की कृपाके दस हजारवे अशके भी बराबर नहीं हो सकते।[1]

शतपथने आगे लिखा कि मत्स्यके कहनेपर मनुने उन्हें समुद्रम पहुँचा दिया। मत्स्यभगवान्‌का रहस्य प्रकट हो गया था। उन्हाने कहा कि इतने समयमे वह बाढ आयेगी। उस बाढके आनेसे पहले ही एक नौका बनवा लो, मेरी उपासना भी करते रहना—

नावमुपकल्प्योपासासै। (श० ब्रा० १।८।१।४)

बाढ आनेपर उसी नौकापर चढ जाना। मैं तुझे पार कर दूँगा।

मनु महाराजने मत्स्यभगवान्‌की आज्ञाके अनुसार नाव बनाकर मत्स्यभगवान्‌की उपासना करने लगे—स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीꣳ समां नावमुपकल्प्योपासाञ्चक्रे।

समयपर वह बाढ आयी। मनु महाराज नौकापर चढ गये। ठीक उसी समय मत्स्यभगवान् इस विचारसे कि मनुका मैं समीप खींच लूँगा, नौकाके समीप आये। मनु महाराजने नावको मत्स्यके सींगमे बाँध दिया। मत्स्यभगवान् उस नावको उत्तर हिमालय पहाडपर ले गये। निरापद जगहपर पहुँचाकर भगवान् मत्स्यने मनुको याद दिलायी—'मने तुम्हारी रक्षा कर दी। तुम डूबनेसे बच गये। अब नौकाको वृक्षमे बाँध दो। आगे ध्यान देना कि जैसे-जैसे जल घटे, वैसे-वैसे तुम भी पहाडकी ऊँचाईको ओर बढते जाना, ताकि जल तुमका पहाडसे अलग न कर सके।' हिमालय पर्वतपर जिस मार्गसे मनु महाराज गये थे वह स्थान मनुका 'अवसर्पण' कहलाता है। वह इतनी प्रचण्ड बाढ थी कि सब कुछ बहाकर ले गयी। केवल मनु ही शेष रह गये।

(ला० बि० मि०)

१-न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जना स्वयम्। कर्तुं समेता प्रभवन्ति पुस०॥ (श्रीमद्भागवत ८।२४।५१)

असुरोका भ्रम

महाराज पृथुने जब पृथ्वीको धन-धान्य देनेवाली बनाया, पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियाके लिये जब अन्न, जल, कृषि, वनस्पति, धन-धान्यकी व्यवस्था उन्हाने अपने पराक्रमसे की, तब सर्वप्रथम पृथ्वीपर नर-राज्यकी स्थापना हुई। देवो-ऋषियोने महाराज पृथुसे एक बहुत बडे यज्ञका आयोजन करनेके लिये कहा।

पृथुने यज्ञ प्रारम्भ किया। सभी प्रमुख ऋषिया तथा इन्द्रादि देवोने उसमे भाग लिया। यज्ञकी सफलताके लिये देवताआ तथा इन्द्रको भाग लेते देखकर असुराने यज्ञको सफल न होने देनेके लिये एक योजना बनायी। क्योकि असुर तो चाहते थे कि इन्द्रकी प्रतिष्ठा बढे नहीं, इसलिये सोचा कि अगर इन्द्रको मार दिया जाय या अपहरण कर लिया जाय तो अन्य देवता भी यज्ञमे भाग न लेकर चले जायँगे। पृथुपर भी कलक लगेगा कि वे इन्द्रकी रक्षा न कर सके। इस प्रकार यज्ञ पूरा न होगा।

यज्ञ प्रारम्भ हो चुका था। इन्द्र-समेत सभी देवता यज्ञमे हविष्य डाल रहे थे। यज्ञके प्रधान पुरोहित ऋषि गृत्समद थे। हविष्य डालनेके लिये मन्त्र-पाठ करते समय उन्हे लगा कि वातावरणमे कुछ ऐसा है, जो यज्ञमे बाधा डालनेका प्रयास कर रहा है। उन्होने ध्यान लगाया ता देखा कि कुछ असुर इन्द्रको लक्ष्य कर द्वेष-भावसे देख रहे है। वे समझ गये कि ये असुर इन्द्रको यज्ञसे अपहृत कर या मार कर यज्ञको नष्ट करगे ही, देव-प्रतिष्ठा भी नहीं रहने देगे।

उन्होने इन्द्रसे कहा—'देवेन्द्र! आप निश्चिन्त होकर यज्ञम भाग लेते रह, मैं अपने शिष्यको प्रधान ऋत्विज्का भार सौंपकर अभी थोडी देरमे आता हूँ।' ऐसा कहकर गृत्समद यज्ञ-वेदीसे उठे और उठते ही उन्होने इन्द्रका रूप धारण कर लिया। उनको उठकर जाते देख घात लगाये असुरोने समझा कि इन्द्र जा रहे हैं। बस, उन्हाने इन्द्ररूपधारी गृत्समदका पीछा किया। गृत्समदने असुरोको अपने पीछे आते देख डरके मारे भागना शुरू किया। जब असुरोने इन्द्रको भागते देखा, तब वे यह समझे कि इन्द्रने शायद हमे देख लिया है, इसी कारण डरकर तेजीसे भाग रहे हैं, फिर तो वे और भी तेजीसे उनका पीछा करने लगे।

इन्द्ररूपधारी गृत्समद भागते गये और असुर उनका पीछा करते गये। ऋषिने उन्हे भगा-भगाकर खूब छकाया, परतु उनके हाथ न आये। दौडते-भागते असुर थककर हाँफने लगे। गृत्समदने जब देखा कि असुर असमर्थ हो गये हैं तो वे भी थकनेका बहाना कर बैठ गये और अपने तपोबलसे तत्काल अपने असली रूपमे आ गये।

असुराने इन्द्रके स्थानपर ऋषिको देखा तो चकित हो कहने लगे—'हमारे आगे-आगे तो इन्द्र भाग रहे थे, यह तुम कौन हो?'

गृत्समदने कहा—'मैं तो वनवासी ऋषि हूँ। इन्द्र यहाँ कहाँ? इन्द्र तो महाराज पृथुके यज्ञमे देवोके साथ भाग ले रहे हैं। वे तो देवाके देव परम पराक्रमी तेजस्वी देवता हैं। भूमण्डलपर अच्छे कल्याणकारी तथा पुण्यके काम उन्हींके तेज-प्रतापसे सम्पन्न होते हैं। इन्द्रसे तुम्हे क्या काम है?'

असुराने कहा—'हम उनका अपहरण करके मारगे। यज्ञमे भाग नहीं लेने दगे।'

गृत्समदने कहा—'इतना गर्व है तो जाओ, यज्ञ तो पूरा होनेवाला होगा। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ यज्ञ-स्थलतक।'

गृत्समद उठे और रास्तेम इन्द्रके तप-तेज एव प्रतापकी इतनी बडाई करते रहे कि असुरोका मनोबल टूट गया। यज्ञ-स्थलपर पहुँचे तो ऋषिने इशारेसे दिखाया कि वह देखो इन्द्र यज्ञवेदीपर बैठे हे। फिर इन्द्रको आवाज देकर बुलाया कि आओ, ये असुर तुम्हे मारने आये हैं।

इन्द्रने पलटकर देखा तो ऋषि असुराके पास खडे थे। इन्द्रने आते ही अपनी गदासे उन असुरापर जब प्रहार किया तो वे असुर थके तो थे ही, उनका मनोबल भी टूट चुका था, अत वे इन्द्रका सामना न कर सके और वहीं धराशायी हो गये।

इन्द्रने कहा—'ऋषिवर! आप कहाँ चले गये थे?'

गृत्समदने जवाब दिया—'यज्ञ निरापद समाप्त हो जाय और ये असुर भी मारे जायँ, इसलिये असुराको भ्रमम डालनेके लिये तुम्हारा रूप बनाकर में यहाँसे चला गया और इन्हे छकाता रहा। यज्ञ तो पूरा करना ही था। हम ऋषि-तपस्वी इसी प्रकार सबके कल्याणकारी कामोम लगे रह, इसी भावनासे भूमण्डलपर रहते हैं।' [ऋग्वेद]

(श्रीअमरनाथजी शुक्ल)

भगवान्की असीम दयालुता

मानव-मानस ब्रह्माके ४ लाख ३२ हजार वर्ष बीत चुके थे। उनके दिनका अवसान हो चला था। रात आ गयी थी। ब्रह्माजीको नींद भी आ रही थी। इस तरह ब्राह्म-नामक नैमित्तिक प्रलयका काल आ पहुँचा था। कुछ ही दिनोंमें संसारको समाप्त हो जाना था, किंतु विश्वके लोगोंका ध्यान इधर नहीं जा रहा था। महाराज मनुका भी प्रलयका कोई भान न था। वे सदाकी भाँति अपने नित्य-कृत्यको दुहराने जा रहे थे। शतपथने लिखा है कि प्रातःकालका समय था। हाथ-मुख धोनेके लिये उनके नौकर जल ले आये थे। शिष्टाचारके अनुसार जलपात्र उनके दोनों हाथोंमें थे। मनुजीने जब हाथमें जल लिया तो उसके साथ एक मत्स्य आ गया। मत्स्यने मनुसे करुणाभरे स्वरमें कहा—'तुम मेरा भरण-पोषण करो, मैं भी तुम्हारा भरण-पोषण करूँगा।' मनुने पूछा—'तुम मेरा भरण-पोषण किस प्रकार करोगे?' मत्स्यने कहा—'एक भयानक बाढ़ आनेवाली है, जो सारी प्रजाको बहा ले जायगी। कोई न बचेगा। उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

मनुने पूछा 'अब यह बताओ कि तुम्हारी रक्षाके लिये मुझे कौन-कौन कार्य करने होंगे।' मत्स्यने कहा कि 'जबतक मैं छोटा हूँ, तबतक मुझे नष्ट करनेवाले बहुत-से जीव-जन्तु हैं। अपनी ही जातिकी बड़ी मछली भी मुझे निगल सकती है। इसलिये मुझे पाल-पोषकर बड़ा बना देना होगा। पहले मुझे घड़ेमें रखो। जब उसमें न आ सकूँ तो गड्ढा खोदकर जलाशय बनाकर उसमें रखो। इस तरह जैसे-जैसे मैं बढ़ता जाऊँ, वैसे-वैसे बड़े-बड़े बनावटी जलाशय बनाकर मेरा पालन-पोषण करो। अन्तमें समुद्रमें पहुँचा देना, फिर मुझे किसीसे भय न होगा।'

मत्स्यकी बात मीठी-मीठी और बहुत मोहक थी। मत्स्य जो-जो कहता, वह कार्य करनेको मनुका मन करता, अतः उन्होंने उसकी सुरक्षाकी सभी व्यवस्थाएँ कीं। श्रीमद्भागवत (९।८)-से पता चलता है कि मनुकी आँख तब खुलीं, जब वह मत्स्य एक ही दिनमें ४ सौ कोसोंमें विस्तृत सरोवरके बराबर हो गया था। तब वे समझ गये कि भगवान् ही कोई लीला कर रहे हैं। शतपथके 'उपासासै' (मेरी उपासना करते रहो)—इस अंशके कथनका बीज निहित है। मनुको जब यह समझमें आ गया तो भगवान्की उस कृपापर उनका हृदय गद्गद हो गया। सोचने लगे कि जिनके दर्शन पानेके लिये मुनियोंको कई जन्म बिताने पड़ते हैं, वे भगवान् मुझे निरन्तर दर्शन देते जा रहे हैं, मुझसे मिठास-भरी बातें कर रहे हैं, सर्वसमर्थ होते हुए भी मुझसे सुरक्षा माँगकर मेरा मान बढ़ा रहे हैं, निरन्तर अपना सुखद स्पर्श प्रदान कर रहे हैं और मेरी सुरक्षाके लिये लंबी-लंबी योजनाएँ भी बना रहे हैं। मनुका गद्गद-हृदय अब आँकने लगा कि जितने देवता आदि पूज्य वर्ग हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी कृपा करें तो भगवान्की कृपाके दस हजारवें अंशके भी बराबर नहीं हो सकते।[1]

शतपथने आगे लिखा कि मत्स्यके कहनेपर मनुने उन्हें समुद्रमें पहुँचा दिया। मत्स्यभगवान्का रहस्य प्रकट हो गया था। उन्होंने कहा कि इतने समयमें वह बाढ़ आयेगी। उस बाढ़के आनेसे पहले ही एक नौका बनवा लो, मेरी उपासना भी करते रहना—

नावमुपकल्प्योपासासै। (श० ब्रा० १।८।१।४)

बाढ़ आनेपर उसी नौकापर चढ़ जाना। मैं तुझे पार कर दूँगा।

मनु महाराजने मत्स्यभगवान्की आज्ञाके अनुसार नाव बनाकर मत्स्यभगवान्की उपासना करने लगे—स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीꣳ समां नावमुपकल्प्योपासाञ्चक्रे।

समयपर वह बाढ़ आयी। मनु महाराज नौकापर चढ़ गये। ठीक उसी समय मत्स्यभगवान् इस विचारसे कि मनुको मैं समीप खींच लूँगा, नौकाके समीप आये। मनु महाराजने नावको मत्स्यके सींगमें बाँध दिया। मत्स्यभगवान् उस नावको उत्तर हिमालय पहाड़पर ले गये। निरापद जगहपर पहुँचाकर भगवान् मत्स्यने मनुको याद दिलाया—'मैंने तुम्हारी रक्षा कर दी। तुम डूबनेसे बच गये। अब नौकाको वृक्षमें बाँध दो। आगे ध्यान देना कि जैसे-जैसे जल घटे, वैसे-वैसे तुम भी पहाड़की ऊँचाईकी ओर बढ़ते जाना ताकि जल तुमको पहाड़से अलग न कर सके।' हिमालय पर्वतपर जिस मार्गसे मनु महाराज गये थे, वही स्थान मनुका 'अवसर्पण' कहलाता है। वह इतनी प्रचण्ड बाढ़ थी कि सब कुछ बहाकर ले गयी। केवल मनु ही शेष रह गये। (ला० बि० मि०)

१-न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम्। कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस०॥ (श्रीमद्भागवत ८।२४।४९)

असुरोका भ्रम

महाराज पृथुने जब पृथ्वीको धन-धान्य देनेवाली बनाया, पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियाके लिये जब अन्न, जल, कृषि, वनस्पति, धन-धान्यकी व्यवस्था उन्हाने अपने पराक्रमसे की, तब सर्वप्रथम पृथ्वीपर नर-राज्यकी स्थापना हुई। देवा-ऋषियोने महाराज पृथुसे एक बहुत बडे यज्ञका आयोजन करनेके लिये कहा।

पृथुने यज्ञ प्रारम्भ किया। सभी प्रमुख ऋषिया तथा इन्द्रादि देवोने उसमे भाग लिया। यज्ञकी सफलताके लिये देवताओ तथा इन्द्रको भाग लेते देखकर असुराने यज्ञको सफल न होने देनेके लिये एक योजना बनायी। क्योकि असुर तो चाहते थे कि इन्द्रकी प्रतिष्ठा बढे नहीं, इसलिये सोचा कि अगर इन्द्रको मार दिया जाय या अपहरण कर लिया जाय तो अन्य देवता भी यज्ञमे भाग न लेकर चले जायँगे। पृथुपर भी कलक लगेगा कि वे इन्द्रकी रक्षा न कर सके। इस प्रकार यज्ञ पूरा न होगा।

यज्ञ प्रारम्भ हो चुका था। इन्द्र-समेत सभी देवता यज्ञमे हविष्य डाल रहे थे। यज्ञके प्रधान पुरोहित ऋषि गृत्समद थे। हविष्य डालनेके लिये मन्त्र-पाठ करते समय उन्हे लगा कि वातावरणमे कुछ ऐसा है, जो यज्ञमे बाधा डालनेका प्रयास कर रहा है। उन्होने ध्यान लगाया तो देखा कि कुछ असुर इन्द्रको लक्ष्य कर द्वेष-भावसे देख रहे हे। वे समझ गये कि ये असुर इन्द्रको यज्ञसे अपहृत कर या मार कर यज्ञको नष्ट करेगे ही, देव-प्रतिष्ठा भी नहीं रहने देगे।

उन्होने इन्द्रसे कहा—'देवेन्द्र! आप निश्चिन्त होकर यज्ञमें भाग लेते रह, मैं अपने शिष्यको प्रधान ऋत्विज्का भार सौंपकर अभी थोडी देरमे आता हूँ।' ऐसा कहकर गृत्समद यज्ञ-वेदीसे उठे और उठते ही उन्हाने इन्द्रका रूप धारण कर लिया। उनको उठकर जाते देख घात लगाये असुरोने समझा कि इन्द्र जा रहे हैं। बस, उन्हाने इन्द्ररूपधारी गृत्समदका पीछा किया। गृत्समदने असुराको अपने पीछे आते देख डरके मारे भागना शुरू किया। जव असुरोने इन्द्रको भागते देखा, तव वे यह समझे कि इन्द्रने शायद हमे देख लिया है, इसी कारण डरकर तजीसे भाग रहे हैं, फिर तो वे और भी तेजीसे उनका पीछा करने लगे।

इन्द्ररूपधारी गृत्समद भागते गये और असुर उनका पीछा करते गये। ऋषिने उन्हे भगा-भगाकर खूब छकाया, परतु उनके हाथ न आये। दौडते-भागते असुर थककर हाँफने लगे। गृत्समदने जव देखा कि असुर असमर्थ हो गये हैं तो वे भी थकनेका बहाना कर बैठ गये और अपने तपोबलसे तत्काल अपने असली रूपमे आ गये।

असुराने इन्द्रके स्थानपर ऋषिको देखा तो चकित हो कहने लगे—'हमारे आगे-आगे तो इन्द्र भाग रहे थे, यह तुम कौन हो?'

गृत्समदने कहा—'मैं तो वनवासी ऋषि हूँ। इन्द्र यहाँ कहाँ? इन्द्र तो महाराज पृथुके यज्ञम देवाके साथ भाग ले रहे हैं। वे तो देवोके देव परम पराक्रमी तेजस्वी देवता हैं। भूमण्डलपर अच्छे कल्याणकारी तथा पुण्यके काम उन्हींके तेज-प्रतापसे सम्पन्न होते हैं। इन्द्रसे तुम्हे क्या काम है?'

असुरान कहा—'हम उनका अपहरण करके मारगे। यज्ञमे भाग नहीं लेने दगे।'

गृत्समदने कहा—'इतना गर्व है तो जाओ, यज्ञ तो पूरा होनेवाला होगा। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ यज्ञ-स्थलतक।'

गृत्समद उठे ओर रास्तमे इन्द्रके तप-तेज एव प्रतापकी इतनी बडाई करते रहे कि असुरोका मनोवल टूट गया। यज्ञ-स्थलपर पहुँचे तो ऋषिने इशारेसे दिखाया कि वह देखा इन्द्र यज्ञवेदीपर बैठे हैं। फिर इन्द्रको आवाज देकर बुलाया कि आओ, ये असुर तुम्हे मारने आये हैं।

इन्द्रने पलटकर देखा तो ऋषि असुराके पास खडे थे। इन्द्रने आते ही अपनी गदासे उन असुरापर जब प्रहार किया तो वे असुर थके ता थे ही, उनका मनोबल भी टूट चुका था, अत वे इन्द्रका सामना न कर सके और वहीं धराशायी हो गये।

इन्द्रने कहा—'ऋषिवर! आप कहाँ चले गये थे?'

गृत्समदने जवाब दिया—'यज्ञ निरापद समाप्त हो जाय और ये असुर भी मारे जायँ, इसलिय असुराका भ्रमम डालनेके लिये तुम्हारा रूप बनाकर में यहाँसे चला गया और इन्हे छकाता रहा। यज्ञ ता पूरा करना ही था। हम ऋषि-तपस्वी इसी प्रकार सवके कल्याणकारी कामाम लगे रह, इसी भावनासे भूमण्डलपर रहते हैं।' [ऋग्वेद]

(श्रीअमरनाथजी शुक्ल)

निर्मल मनकी प्रसन्नता

कनिष्ठा पुत्रवत् पाल्या भ्रात्रा ज्येष्ठेन निर्मला ।
प्रगाथो निर्मलो भ्रातु प्रागात् कण्वस्य पुत्रताम्॥

महर्षि घोरके पुत्र कण्व और प्रगाथका गुरुकुलसे लौटे कुछ ही दिन हुए थे। दोनो ऋषिकुमारोका एक-दूसरेके प्रति हार्दिक प्रेम था। प्रगाथ अपने बडे भाई कण्वको पिताके समान समझते थे, उनकी पत्नी प्रगाथसे स्नेह करती थी। उनकी उपस्थितिसे आश्रमका वातावरण बडा निर्मल और पवित्र हो गया था। यज्ञकी धूमशिखा आकाशको चूम-चूमकर निरन्तर महती सात्त्विकताकी विजयिनी पताका-सी लहराती रहती थी।

एक दिन आश्रमम विशेष शान्तिका साम्राज्य था। कण्व समिधा लेनके लिये वनके अन्तरालम गये हुए थे। उनकी साध्वी पत्नी यज्ञवेदीके ठीक सामने बैठी हुई थी। उससे थोडी दूरपर ऋषिकुमार प्रगाथ साम-गान कर रहे थे। अत्यन्त शीतल और मधुर समीरणके सचारसे ऋषिकुमारके नयन अलसाने लगे और वे ऋषिपत्नीके अङ्कम सिर रखकर विश्राम करते-करते सो गये। ऋषिपत्नी किसी चिन्तनमे तन्मय थी।

× × ×

'यह कौन है, इस नीचने तुम्हारे अङ्कमे विश्राम करनेका साहस किस प्रकार किया?' समिधा रखते ही कण्वके नेत्र लाल हो गये, उनका अमित रुद्ररूप देखकर ऋषिपत्नी सहम गयी।

'देव!' वह कुछ और कहने ही जा रही थी कि कण्वने प्रगाथकी पीठपर पद प्रहार किया। ऋषिकुमारकी आँखे खुल गयीं। वह खडा हो गया। उसने कण्व ऋषिको प्रणाम किया।

'आजसे तुम्हारे लिये इस आश्रमका दरवाजा बद है प्रगाथ!' कण्व ऋषिकी वाणी क्रोधकी भयकर ज्वालासे प्रज्वलित थी, उनका रोम-रोम सिहर उठा था।

'भैया! आप तो मेरे पिताके समान हैं और ये तो साक्षात् मेरी माता हैं।' प्रगाथने ऋषिपत्नीके चरणोमे श्रद्धा प्रकट कर कण्वका शका-समाधान किया।

कण्व धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहे थे, पर उनके सिरपर सशयका भूत अब भी नाच रहा था।

'ऋषिकुमार प्रगाथने सच कहा है देव! मैंने तो आश्रममे पैर रखते ही उनका सदा पुत्रके समान पालन किया है। बडे भाईकी पत्नी देवरको सदा पुत्र मानती है, इसको तो आप जानते ही हैं, पवित्र भारत देशका यही आदर्श है।' ऋषिपत्नीने कण्वका क्रोध शान्त किया।

'भाई प्रगाथ! दोष मेरे नेत्रोका ही है, मैंने महान् पाप कर डाला, तुम्हारे ऊपर व्यर्थ शका कर बैठा।' ऋषि कण्वका शील समुत्थित हो उठा, उन्होने प्रगाथका आलिङ्गन करके स्नेह-दान दिया। प्रगाथने उनकी चरणधूलि मस्तकपर चढायी।

'भाई नहीं, ऋषिकुमार प्रगाथ हमारा पुत्र है। ऋषिकुमारने हमारे सम्पूर्ण वात्सल्यका अधिकार पा लिया है।' ऋषिपत्नीकी ममताने कण्वका हृदय-स्पर्श किया।

'ठीक है, प्रगाथ हमारा पुत्र है। आजसे हम दोनो इसके माता-पिता है।' कण्वने प्रगाथका मस्तक सूँघा।

आश्रमकी पवित्रताम नवीन प्राण भर उठा—जिसम सत्य वचनकी गरिमा निर्मल मनकी प्रसन्नता और हृदयकी सरलताका सरस सम्मिश्रण था।

—[बृहद्देवता अ० ६। ३५—३९]

निर्गुण-निराकार है वे ही, निर्विशेष वे ही पर-तत्त्व।
वही सगुण है निराकार सविशेष सृष्टि-सचालक तत्त्व॥
वही सगुण-साकार दिव्य लीलामय शुद्ध-सत्त्व भगवान।
अगुण-सगुण-साकार सभी है एक अभिन्न रूप सुमहान॥
(पद-रत्नाकर)

सुकन्याका कन्या-धर्म-पालन

सुकन्या राजा शर्यातिकी पुत्री थी। एक बार राजा गाँवोंका दौरा कर रहे थे। उन्होंने जहाँ अपना शिविर लगाया था, वहाँ च्यवन ऋषि घोर तपस्यामें लीन थे। उनके देहपर मिट्टी जम गयी थी। इसलिये महर्षिका शरीर स्पष्ट दीखता न था। कुमारोंने समझा कि यह कोई अनर्थकारी तत्त्व है, जिससे प्रजाका अहित होगा। ऐसा सोचकर उन लोगोंने ढेला मार-मारकर ऋषिको ढक दिया।

इस पापसे राजाके शिविरमें मतिभ्रम उत्पन्न हो गया। पिता-पुत्रसे लड़ने लगा और भाई-भाईसे। प्रत्येक व्यक्ति उपद्रवी हो उठा था। शिविरमें घोर अशान्ति फैल गयी थी। राजा शर्याति समझ गये कि यहाँपर हम लोगोंमेंसे किसीके द्वारा कोई अपराध हो गया है। पूछनेपर पता चला कि कुमारोंने ढेला मार-मारकर किसीको बहुत चोट पहुँचायी है। अन्तमें यह भी पता चला कि जिनको आहत किया गया है, वे च्यवन ऋषि हैं। उनको प्रसन्न करनेके लिये राजा ऋषिके पास पहुँचे। उनके साथ उनकी लाडली कन्या सुकन्या भी थी। अपराधके लिये क्षमा-याचना करते हुए राजाने कहा—'महर्षि अनजानसे हम लोगोंके द्वारा आपका तिरस्कार हो गया है। आप हम लोगोंपर प्रसन्न हो जायँ।' महर्षिने कहा कि 'अपनी कन्याको मुझे दे दो, सेवाकी आवश्यकता आ पड़ी है। मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा।' 'स होवाच—सु वै मे सुकन्यां देहीति।' राजा विवश थे। सबके हितके लिये उन्होंने अपने हृदयके टुकड़ेको बूढ़े च्यवनके हाथमें दे दिया। उनको अपनी कन्यापर विश्वास था कि उदात्त विचारवाली उनकी लाडली कन्या प्रजाके हितके लिये अपना बलिदान स्वीकार कर लेगी।

सुकन्याको देते ही सब प्रकृतिस्थ हो गये। सर्वत्र पहलेकी तरह शान्ति छा गयी। सबका चित्त प्रसन्न हो गया। परस्पर एक-दूसरेके प्रति जो राग-रोष उत्पन्न हो गया था, उनकी याद भी उन्हें न रही।

उन दिनों दोनों अश्विनीकुमार रोगियोंकी चिकित्साके लिये पृथ्वीपर घूम रहे थे।[1] उन्होंने सुकन्याको देखा। सुकन्या बहुत सुन्दरी थी। दोनों अश्विनीकुमारोंने उसे देखा और कहा—'सुकन्ये! इस जीर्ण-शीर्णको अपना पति क्या बनाना चाह रही हो?' हम दोनोंमेंसे एकको पति बना लो।[2] सुकन्याने नम्रताके साथ हाथ जोड़कर कहा—'पिताजीने जिस व्यक्तिको मुझे दे दिया है, उसे मैं जीते जी कभी नहीं छोड़ूँगी'—(क) 'नेति होवाच। यस्मा एव मा पिताऽदात् तस्य जाया भविष्यामीति' (जै० ब्रा०)। (ख) 'सा होवाच यस्मै मा पिताऽदान्नैवाहं तं जीवन्तः हास्यामीति' (श० ब्रा० ४।१।५।९)।

इस तरह सुकन्याने अपने पिताके वचनका पालन किया। जैसे पुत्रका कर्तव्य पिताके वचनका पालन करना होता है, वैसे ही कन्याका भी कर्तव्य होता है कि सभी परिस्थितियोंमें अपने पिताके वचनका पालन करे। सुकन्याने बहुत धीरताके साथ अपने धर्मका पालन किया।

इसका परिणाम बहुत ही अच्छा हुआ। ऋषि दयालु होते हैं। उनसे सबका हित ही होता है। सुकन्याके जीवनको सरस बनानेके लिये एक उपाय बताया। वह उपाय सफल हो गया। अश्विनीकुमार भी सुकन्याके धर्म-पालनसे बहुत संतुष्ट थे। उन्होंने च्यवन ऋषिको युवा बना दिया, केवल युवा ही नहीं बना दिया, अपितु अपने-जैसा रूप और चिर-यौवन प्रदान किया।

(ला० बि० मि०)

१-एतस्मिन् समये भुवं विचरन्तौ 'भिषज्यतौ' (श० ब्रा० ४।१।५।८ की व्याख्या)।
२-कुमारो स्थविरो वा अयम् असर्वो नाकं पतित्वेनायावयोर जयैधीति (जै० ब्रा०)।

मनुष्य होकर भी देव कौन ?

जो यज्ञिय कर्म करते हैं, वे मनुष्य नहीं, देव होते हैं। और वे भी दूसरे देव हैं, जिन्हें याचक पूछने आते हैं कि वह उदार मनुष्य कहाँ है ? कारण, वसिष्ठ ऋषि उनकी देववत् स्तुति करते हैं—

न ते मनुष्यास्ते देवा यज्ञिय कर्म कुर्वते।
याचकश्चैति य पृष्ट्वा वसिष्ठ स्तौति देववत्॥

यज्ञिय कर्म करनेवाला और दान देनेवाला व्यक्ति मनुष्य होता हुआ भी देववत् स्तुतिपात्र होता है। कारण, भारतीय सस्कृतिम मनीषियाके पावन कर्मोंम तीन ही कसौटीके प्रमुख कर्म माने गये हैं—

यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(गीता १८। ५)

अर्थात् गीताकार भगवान् श्रीकृष्ण प्रमाणित करते है कि यज्ञ दान और तप मनीषियाके पावन कर्म हैं। बात भी ठीक है, यज्ञ एक ऐसा रचनात्मक कार्य है, जो सर्ग और स्थिति दोनो काम करता है। जहाँ उसका एक पक्ष 'यज्ञाद्भवति पर्जन्य ' आदि कार्य-कारणभावद्वारा गीताकारने प्रस्तुत किया है, वहीं दूसरा पक्ष जागतिक वस्तुआका उपयोगजन्य ह्रास (छीजन) दूर कर सोमादिसे आप्यायन भी विज्ञजन मानते आय हैं। अतएव उभयथा उपकारक यह यज्ञिय कर्म जा लोग किया करते हैं, वे निश्चय ही देववत् पूज्य होने चाहिये। यहाँ प्रसिद्ध उपमानकी दृष्टिसे देव प्रस्तुत हैं। भारतीय प्राचीन वाङ्मयकी तन्मयता रही है कि देव सदैव मानवका पोषण किया करते हैं। अत हमें भी देव बनना हो ता सदैव यज्ञादि कर्मों एव दानम तत्पर रहना चाहिये। वसिष्ठ ऋषिने इन्हीं मानवरूपधारी द्विविध दवोकी इस ऋचासे स्तुति की है—

स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवानमर्त्ये य आजुहोति हव्यम्।
स देवता वसुवनि दधाति य सूरिरर्थी पृच्छमान एति॥
(ऋक्० ७।१।२३)

अर्थात् वसिष्ठ ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे अग्निकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे सुतजा अग्ने! वही मनुष्य धनवान् है, जो निर्धन हाकर भी देवस्वरूप आपमे हविका हवन करता है। वही मानव देवताआका धनवान् बनाता है जिसके लिये विद्वान् याचक यह पूछता जाता है कि 'कहाँ है वह उदारमना, क्या कर रहा है वह मुक्तहस्त ?' वही अपर देवता है।

[वेदोपदेश-चन्द्रिका]

आपद्धर्म

एक समय कुरुदेशमे ओलोकी बडी भारी वर्षा हुई। इससे सारे उगते हुए पौधे नष्ट हा गये और भयानक अकाल पड गया। दुष्कालसे पीडित प्रजा अन्नके अभावसे देश छाडकर भागने लगी। वहीं एक उषस्ति नामके ब्राह्मण भी रहते थे। उनकी पत्नीका नाम आटिकी था। वह अभी बालिका ही थी। उसे लेकर उषस्ति भी देश छाडकर इधर-उधर भटकने लगे। भटकते-भटकते वे दोनो एक महावताके ग्राममे पहुँचे। भूखके मारे बेचारे उषस्ति उस समय मरणासन्न दशाको प्राप्त हो रहे थे। उन्होने देखा कि एक महावत उबाले हुए उडद खा रहा है। वे उसके पास गये और उससे कुछ उडद देनेको कहा। महावतने कहा—'मैं इस बर्तनमें रखे हुए जा उडद खा रहा हूँ, इनके अतिरिक्त मेरे पास और उडद हैं ही नहीं तब मैं कहाँसे दूँ ?' उषस्तिने कहा—'मुझे इनमसे ही कुछ दे दो।' इसपर महावतने थोडा-सा उडद उषस्तिको दे दिया और सामने जल रखकर कहा कि 'लो, उडद खाकर जल पी लो।' उषस्ति बाले—'नहीं, मैं यह जल नहीं पी सकता क्योकि इसके पीनेसे मुझे उच्छिष्ट-पानका दोष लगेगा।'

महावतको इसपर बडा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि 'ये उडद भी तो हमारे जूठे हैं फिर जलम ही क्या रखा है, जा इसमे जूँठनका दोष आ पडा ?'

उषस्तिने कहा—'भाई! मैं यदि यह उडद न खाता तो मेरे प्राण निकल जाते। प्राणाकी रक्षाके लिये आपद्धर्मकी व्यवस्थानुसार ही मैं उडद खा रहा हूँ, पर जल ता अन्यत्र भी मिल जायगा। यदि उडदकी तरह ही मै तुम्हारा जूठा जल भी पी लूँ, तब तो वह स्वेच्छाचार हो जायगा। इसलिये भैया! मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा।' या कहकर उषस्तिने कुछ उडद स्वय खा लिये और शेष अपनी पत्नीको दे दिये। ब्राह्मणीको

पहले ही कुछ खानेको मिल गया था, इसलिये उन उड़दोंको उसने खाया नहीं, अपने पास रख लिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्तिने नित्यकृत्यके बाद अपनी पत्नीसे कहा—'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी अन्न कहींसे खानेको मिल जाय तो मैं अपना निर्वाह होने योग्य कुछ धन प्राप्त कर लूँ, क्योंकि यहाँसे समीप ही एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह ऋत्विक्‌के कार्यमें मेरा भी वरण कर लेगा।'

इसपर उनकी पत्नी आटिकीने कहा—'मेरे पास कलके बचे हुए उड़द हैं, लीजिये, उन्हें खाकर आप यज्ञमें चले जाइये।' भूखसे सर्वथा अशक्त उषस्तिने उन्हें खा लिया और वे राजाके यज्ञमें चले गये। वहाँ जाकर वे उद्गाताओंके पास बैठ गये और उनकी भूल देखकर बोले—'प्रस्तोतागण! आप जानते हैं—जिन देवताकी आप स्तुति कर रहे हैं, वे कौन हैं? याद रखिये, आप यदि अधिष्ठाताको जाने बिना स्तुति करेंगे तो आपका मस्तक गिर पड़ेगा।' और इसी प्रकार उन्होंने उद्गाताओं एवं प्रतिहर्ताओंसे भी कहा। यह सुनते ही सभी ऋत्विज् अपने-अपने कर्म छोड़कर बैठ गये।

राजाने अपने ऋत्विजोंकी यह दशा देखकर उषस्तिसे पूछा—'भगवन्! आप कौन हैं? मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा—'राजन्! मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ।' राजाने कहा—'ओहो, भगवन् उषस्ति आप ही हैं? मैंने आपके बहुत-से गुण सुने हैं। इसीलिये मैंने ऋत्विज्‌के कामके लिये आपकी बहुत खोज करवायी थी, पर आप न मिले और मुझे दूसरे ऋत्विजोंका वरण करना पड़ा। यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आप किसी प्रकार स्वयं पधार गये। अब ऋत्विज्-सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करनेकी कृपा करें।'

उषस्तिने कहा—'बहुत अच्छा। परंतु इन ऋत्विजोंको हटाना नहीं, मेरे आज्ञानुसार ये अपना-अपना कार्य करें और दक्षिणा भी जो इन्हें दी जाय, उतनी ही मुझे देना (न तो मैं इन लोगोंको निकालना चाहता हूँ और न दक्षिणामें अधिक धन लेकर इनका अपमान ही करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेखमें ये सब काम करते रहेंगे)।' तदनन्तर सभी ऋत्विज् उषस्तिके पास जाकर तत्त्वोंको जानकर यज्ञकार्यमें लग गये और विधिपूर्वक वह यज्ञ सम्पन्न हुआ।

[छान्दोग्य० १। १०-११]

अग्नियोंद्वारा उपदेश

कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहण करके अध्ययन करता था। बारह वर्षोंतक उसने आचार्य एवं अग्नियोंकी उपासना की। आचार्यने अन्य सभी ब्रह्मचारियोंका समावर्तन-संस्कार कर दिया और उन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी। केवल उपकोसलको ऐसा नहीं किया।

उपकोसलके मनमें दुःख हुआ। गुरुपत्नीको उसपर दया आ गयी। उसने अपने पतिसे कहा—'इस ब्रह्मचारीने बड़ी तपस्या की है, ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करते हुए विद्याध्ययन किया है। साथ ही आपकी तथा अग्नियोंकी विधिपूर्वक परिचर्या की है। अतएव कृपया इसको उपदेश कर इसका भी समावर्तन कर दीजिये। अन्यथा अग्नि आपको उलाहना देंगे।' पर सत्यकामने बात अनसुनी कर दी और बिना कुछ कहे ही वे कहीं अन्यत्र यात्रामें चले गये।

उपकोसलको इससे बड़ा क्लेश हुआ। उसने अनशन आरम्भ किया। आचार्यपत्नीने कहा—'ब्रह्मचारी! तुम भोजन क्यों नहीं करते?' उसने कहा—'माँ, मुझे बड़ा मानसिक क्लेश है, इसलिये भोजन नहीं करूँगा।'

अग्नियोंने सोचा—'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने मन लगाकर हमारी बहुत सेवा की है। अतएव उपदेश करके इसके मानसिक क्लेशको मिटा दिया जाय।' ऐसा विचार करके उन्होंने उपकोसलको ब्रह्मविद्याका यथोचित उपदेश दे दिया। तदनन्तर कुछ दिनों बाद उसके आचार्य सत्यकाम यात्रासे लौटे। इधर उपकोसलका मुखमण्डल ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था। आचार्यने पूछा—'सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता-जैसा दीख रहा है, बता तुझे किसने ब्रह्मका उपदेश किया?' उपकोसलने बड़े संकोचसे सारा समाचार सुनाया। इसपर आचार्यने कहा—'यह सब उपदेश तो अलौकिक नहीं है। अब मुझसे उस अलौकिक ब्रह्मतत्त्वका उपदेश सुन, जिसे भली प्रकार जान लेनेपर—साक्षात् कर लेनेपर पाप-ताप प्राणीको उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर पाते, जैसे कमलके पत्तेको जल।'

इतना कहकर आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मतत्त्वका रहस्यमय उपदेश किया और समावर्तन-संस्कार करके उसे घर जानेकी आज्ञा दे दी।

पूज्य सदैव सम्माननीय

वेद-शास्त्रादि विभिन्न ग्रन्थोंमें पूज्योंका आदर करने तथा उनका कभी अपमान न करनेके अनेक वचन और कितने ही उदाहरण मिलते हैं। इसीलिये नीति-वचनमें कहा गया है—

अभ्युन्नतपदारूढः पूज्यान् नैवापमानयेत्।
इक्ष्वाकूणां ननाशाग्निस्तेजो वृशायमानतः॥

अर्थात् कोई कितने ही ऊँचे पदपर पहुँच जाय भूलकर भी पूज्योंका अपमान न करे, क्योंकि इक्ष्वाकुवंशीय त्रैवृष्ण त्र्यरुण राजाने अपने पुरोहित वृशऋषिका अपमान किया तो उनके राज्यमें अग्निका तेज ही नष्ट हो गया। यह अद्भुत वैदिक कथा इस प्रकार है—

(१)

सप्तसिन्धवके प्रतापशाली सम्राटोंमें इक्ष्वाकुवंशीय महाराज त्रैवृष्ण त्र्यरुण अत्यन्त प्रतापी और उच्च कोटिके विद्वान् राजा हुए हैं। सत्यनिष्ठा प्रजावत्सलता उदारता आदि सभी प्रशंसनीय सद्गुण मानो उन-जैसे सत्पात्रमें बसनेके लिये अहमहमिकासे लालायित रहते। समन्वयके उस सेतुको पाकर संसारमें प्रायः दीखनेवाला लक्ष्मी-सरस्वतीका विरोध भी मानो सदाके लिये मिट गया।

महाराजकी तरह उनके पुरोहित वृशऋषि भी उच्च कोटिके अद्वितीय विद्वान्, मन्त्रद्रष्टा, आभिचारिकादि कर्मोंमें अतिनिष्णात ब्रह्मवेत्ता थे। साथ ही वे अत्यन्त शूर-वीर भी थे।

प्राचीन भारतीय राजनीतिमें पुरोहित राजाकी मन्त्रि-परिषद्का प्रमुख घटक माना जाता था। जहाँ राजाकी क्षात्र-शक्ति प्रजामें आधिभौतिक सुख-सुविधा और शान्तिके प्रस्थापनार्थ समस्त लौकिक साधनोंका संयोजन और बाधक तत्त्वोंका विघटन करती थी, वहीं पुरोहितकी ब्राह्मशक्ति आध्यात्मिक एवं आधिदैविक सुख-शान्तिके साधन जुटाने और आधिदैविक बाधाओंके मिटा देनेके काम आती। इस तरह 'इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रम्' दोनों प्रकारसे पोषित महाराज त्रैवृष्णकी प्रजा सर्वविध सुख-सुविधाओंसे परिपूर्ण रहा करती। वृशऋषि-जैसे सर्वसमर्थ पुरोहितके मणि-काञ्चन-योगसे त्रैवृष्णके राज्यशकटके दोनों चक्र सुपुष्ट सुदृढ बन गये थे। फलतः प्रजावर्गमें सुख-शान्तिका साम्राज्य छाया हुआ था।

एक बार महाराजने सोचा कि दिग्विजय-यात्रा की जाय। इसमें उनका एकमात्र अभिप्राय यही था कि सभी शासक एक राष्ट्रिय भावमें आबद्ध हो कार्य करें। वे किसी राजाको जीत करके उसकी सम्पत्तिसे अपना कोष भरना नहीं चाहते थे। प्रत्युत उनका यही लक्ष्य था कि इस अभियानमें विजित सम्पत्ति उसी विजित राजाको लौटाकर उसे आदर्श शासनपद्धतिका पाठ पढ़ाया जाय और उसपर चलनेके लिये प्रेरित किया जाय। इस प्रसंगमें जो सर्वथा दुष्ट, अभिमानी, प्रजापीडक शासक मिलें, उनका कण्टकशोधन भी एक आनुषंगिक लक्ष्य मान लिया गया।

तुरंत पुरोहित वृशऋषिको बुलाकर उन्होंने सादर प्रार्थना की कि 'प्रभो! मैं दिग्विजय-यात्रा करना चाहता हूँ। इसमें स्वयं आपको मेरा सारथ्य स्वीकार करना होगा।'

ऋषिने कहा—'जैसी महाराजकी इच्छा! क्या आप बता सकते हैं कि मैंने अपने यजमानकी कभी किसी इच्छाका सम्मान नहीं किया?'

महाराजने कहा—'ऋषे, इस कृपाके लिये मैं अनुगृहीत हूँ।'

(२)

आज महाराज ऐक्ष्वाक त्रैवृष्ण त्र्यरुणकी विजय-यात्राका सुमुहूर्त है। इसके लिये कई दिनोंसे तैयारियाँ चली आ रही हैं। चतुरंगवाहिनी पूरे साज-सामानके साथ सज्ज है। सुन्दर भव्य रथ अनेकानेक अलंकरणोंसे सजाया गया है। महाराज त्र्यरुणने प्राचीन वीरोंका बाना पहन लिया है—सिरपर शिप्रा (लौहनिर्मित शिरस्त्राण) और शरीरमें द्रापि (कवच)। वामहस्तमें धनुष तो दक्षिण हस्तमें कुन्त (भाला) एवं बाणखचित तूणीर पीठपर लटक रहा है तथा पैरोंमें पड़े हैं वाराहचर्म निर्मित पादत्राण (जूते)। पुरोहित वृशऋषि भी जो कभी वलकल वसनोंमें विराजते, आज कवच-शिरस्त्राणसे सुशोभित हो घोड़ोंकी रास पकड़े रथके अग्र भागपर विराजते दीख पड़े। विशां (प्रजा)-के आश्चर्यका ठिकाना न रहा, फिर देर क्या थी? रण-दुन्दुभि बज उठी और सवारी निकल पड़ी विजयके लिये।

महाराज त्र्यरुणकी सवारी जिधर जाती उधर ही विजयश्री हाथमें जयमाला लिये अगवानी करने लगती।

एक नहीं, दो नहीं—दसियो, शतिया, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओके जनपदोके सामन्त और पुराके राजा बहुमूल्य भेटोके साथ हृदयके भावसुमन महाराजके चरणापर चढाते, स्वागतके लिय पलक-पाँवडे बिछाते, ता कुछ ऐसे भी मिलते जो अपने-अपने सुरक्षित बलसे महाराज त्र्यरुणकी सेनाके साथ दो-दा हाथ करनेको तैयार रहते। महाराज जहाँ प्रजापाडक, मदमत्त शासकाका गर्व चूर कर उन्हे सन्मार्गका पथिक बनाते, वहीं पुत्रकी तरह प्रजाके पालक शासकोका अभिनन्दन करते और उन्हे सन्मार्गनिष्ठ बने रहनेके लिये प्रोत्साहित करते।

महाराज त्र्यरुणकी यह विजय-यात्रा किसीके लिये उत्पीडक नहीं हुई। उन्हाने प्रत्येक सत्पथ-पथिकका आप्यायन ही किया। यही कारण है कि इस विजय-यात्रासे सर्वत्र जनसाधारणम उत्साहकी अपूर्व बाढ आ गयी। यात्रा जहाँ प्रस्थान करती, वहीं जनसाधारण नागरिक एव जनपदवासी सहस्राकी सख्याम उसकी शोभा देखने जुट जाते।

कुछ ही दिनामे सर्वत्र विजय-वैजयन्ती फहराते हुए महाराज त्र्यरुण बडे उल्लासके साथ अपनी राजधानीकी ओर लौट रहे थे। राज्यकी सारी जनता उनके दर्शनार्थ उमड पडी। व्यवस्थापकाके लिये जनतापर नियन्त्रण पाना कठिन हो रहा था। सर्वत्र उत्साह और उल्लासका वातावरण छाया था कि अकस्मात् रगम भग हो गया। लाख ध्यान देने और बचानेपर भी शोभायात्राक दर्शनार्थ उतावला एक अबोध ब्राह्मण-बालक रथ-चक्रक बीचमे आ गया और सारा मजा किरकिरा हो गया। सर्वत्र **'अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्'** की ध्वनि गूँज उठी।

राजकीय रथसे कुचलकर एक ब्राह्मण-बालककी हत्या हो जाय, जिसपर आरूढ हा सम्राट् और जिसे हाँकनेवाले हा साम्राज्यके पुरोहित। अब अपराधी किसे माना जाय? प्रजाके लिये यह बहुत बडा यक्ष प्रश्न उपस्थित हो गया। वादी थे उनके सम्राट् त्रैवृष्ण आर प्रतिवादी थ ब्रह्मवर्चस्वी पुरोहित ऋषि वृश।

उपस्थित जनसमुदाय ही न्यायकर्ता बना। उसके प्रमुख नायकके समक्ष दोनाने अपने-अपने तर्क रखे। महाराजने कहा—'पुराहित रथक चालक थे। उन्हे इसकी सावधानी रखनी चाहिये थी। ब्राह्मण-बालककी हत्याका दोष उनपर भी है।'

पुराहितने कहा—'वास्तवम रथके स्वामी रथी तो महाराज है ओर म ता हूँ सारथि। वे ही मुख्य हैं और मैं गाण। अवश्य ही रथकी बागडार मेरे हाथमे रही, पर फलके भागी ता महाराज ही हैं। जब सैनिकाके युद्ध जीतनेपर भी विजयफल, विजयका सेहरा राजाके ही सिरपर रखा जाता है, तो रथी होनेके कारण ब्राह्मण-बालककी हत्याका दोष भी उनपर ही मढा जाना चाहिये।'

निर्णायकाकी समझम कुछ नहीं आ रहा था। पुरोहितका कहना न्यायसगत तो लगता, पर महाराजका मोह और प्रभाव उन्हे न्यायसे विचलित करने लगता। अन्तत वही हुआ। निर्णायक सत्ताके प्रभावम आ गये और उन्हाने महाराजको निर्दोष और पुरोहितको दोषी घोषित कर दिया।

पुरोहित राष्ट्रिय हितकी दृष्टिसे मोन रह गये। उन्हाने प्रतिवादम एक भी शब्द नहीं कहा।

सभी उपस्थित जन स्तब्ध थे। इसी बीच पुरोहितने वार्ष सामका मजुल गान गाया। फलस्वरूप अकस्मात् मृत ब्राह्मण-बालक जी उठा। सभी यह देख आश्चर्यचकित रह गये, पर पुरोहित यह कहते चले गये कि ऐसे राज्यमे रहना किसी मनस्वी पुरुषके लिये उचित नहीं। सबने रोकनेका बहुत प्रयत्न किया, परतु ऋषिने किसीकी एक न सुनी।

(३)

ब्राह्मण-बालकके जी जानेसे लोगाके आनन्दका ठिकाना न रहा पर पुरोहितको ही अपराधी घोषित करना और उनका राज्यसे चले जाना सबको खटकने लगा। कारण, यह समस्त राज्यके लिये खतरसे खाली नहीं था, क्योकि पुराहितको 'राष्ट्रगोप' माना गया है। वे अपने तपाबल और मन्त्रशक्तिसे सारे राष्ट्रकी सब प्रकारसे रक्षा किया करते हैं। वे पाँच ज्वालाआसे युक्त वैश्वानर कहे गये हैं। उनकी वाणी-स्थित प्रथम ज्वाला स्वागत एव सम्मानपूर्ण वचनासे शान्त की जाती है। पाद्यके लिये जल लानेसे पादस्थित ज्वाला शान्त हाती है। शरीरको नाना अलकरणासे अलकृत कर देनपर त्वक्-स्थित ज्वालाका शमन हाता है, नितान्त

तर्पणसे हृदयस्थित ज्वाला और घरमे पूर्ण स्वातन्त्र्य देनेसे उनकी उपस्थकी ज्वाला शान्त होती है। अत राजाका कर्तव्य है कि वह पुरोहित-रूप वैश्वानरकी इन पाँचो ज्वालाओको उन-उन वस्तुओके सयोजनसे शान्त रखे। अन्यथा वह आग राष्ट्रको भस्म कर डालती है।

यहाँ तो ऋषि वृश पुरोहितके अपमान और उससे क्रुद्ध हो उनके चले जानेसे राष्ट्रको उनकी ज्वालाओने नहीं जलाया। कारण, वे स्वभावत बडे दयालु थे, पर उनके चले जानेके साथ पूरे राज्यसे ही अग्नि उठ गया।

सायकाल होते-होते राजभवनके बाहर प्रजाजनोका समुद्र उमड पडा और एक ही आक्रोश मचा—'हमे आग दो। सारे परिवार दिनभरसे भूखे हैं। आग सुलगाते-सुलगाते पूरा दिन बीत गया, पर उसमे तेज ही नहीं आता। चूल्हा जलता ही नहीं, रसोई पके तो कैसे? हमारे बाल-बच्चे भूखसे छटपटा रहे हैं।'

महाराज त्रैवृष्ण बरामदेमे आ गये। अपनी प्रजाकी यह दशा देख उन्हे भी अत्यन्त दु ख हुआ। यह समझते देर न लगी कि यह पूज्य पुरोहितके अपमानका ही दुष्परिणाम है। उन्होने प्रजाजनोसे थोडा धैर्य रखनेको कहा और अपने प्रमुख अधिकारियोको आदेश दिया कि 'जहाँ-कहीं पुरोहितजी मिले, उन्हे बडे आदर और नम्रताके साथ मेरे पास शीघ्र-से-शीघ्र लाया जाय।'

सम्राट्का कठोरतम आदेश! उसके पालनमे देर कहाँ? चारो ओर चर भेजे गये और अन्तत पुरोहितको ढूँढ ही निकाला गया। वे निकटवर्ती दूसरे किसी सामन्तके राज्यमे एक उद्यानमे बैठे हुए थे।

राजकीय अधिकारी पुरोहितको ले आये तो महाराज उनके चरणोपर गिर पडे और कहने लगे—'महाराज! क्षमा करे और किसी तरह प्रजाको उबारे। आपके चले जानेसे अग्निदेव भी क्रुद्ध हो राज्यभरसे लुप्त हो गये।'

ब्राह्मण-हृदय किसीकी पीडा देखते ही पिघल जाता है। प्रजाकी यह दुरवस्था देख ऋषि विचारमे पडे कि आखिर हुआ क्या? उन्होने पाँच मिनट ध्यान किया और महाराजसे कहा कि 'अन्त पुरमे चले।'

महाराज आश्चर्यमे पडे कि ऋषि क्या कर रहे हैं! फिर भी चुपचाप वे उनके साथ अन्त पुरमे पधारे। ऋषिने एक खाटके नीचे छिपा रखा एक शिशु महाराजको दिखाया। महाराज कुछ समझ न पाये।

ऋषिने कहा—'महाराज, आपकी पत्नियोमे एक पिशाचिनी बन गयी है। मेरे रहते उसे अपना उत्पात मचानेका अवसर नहीं मिल पाता था। परतु मेरे यहाँसे जाते ही उसने चट राज्यभरके अग्निसे सारा तेज उठाकर यहाँ शिशुरूपमे छिपा दिया है। यही कारण है कि पूरे राज्यके अग्निसे तेज जाता रहा।'

महाराज स्तब्ध रह गये। वे पुरोहितकी ओर देख करुणाभरी आँखोसे इस सकटसे उबारनेकी विनम्र प्रार्थना करने लगे।

वृशऋषि शिशुरूपधारी अग्नि-तेजको सम्बुद्ध कर आर्ष-वाणीमे स्तुति करने लगे—

'अग्नि-नारायण! आप बृहत् ज्योतिके साथ प्रदीप्त होते और अपनी महिमासे समस्त सासारिक वस्तुओको प्रकाशित करते हैं। प्रभो, आप असुरोद्वारा फैलायी हुई मायाको दग्ध कर प्रजाजनोको उसके कष्टोसे बचाते हैं। राक्षसोके विनाशार्थ शृङ्गो-सी ऊपर उठनेवाली अपनी ज्वालाएँ तीक्ष्ण करते हैं।'

'जातवेदा! आप अनेक ज्वालाओसे युक्त हो निरन्तर बढते हुए अपने उपासकोकी कामनाएँ पूरी करते हैं और उन्हे निष्कण्टक धन-लाभ कराते हैं। स्वय अन्य देव आपकी स्तुति करते हैं। भगवन् वैश्वानर! हविको सिद्ध करनेवाले आप मानवमात्रका कल्याण करे। प्रभो, आपके तेजके अभावमे आज सारी प्रजा विपन्न हो बिलख रही है। दयामय, दया करे।'

ज्यो ही पुरोहित वृशऋषिकी स्तुति पूर्ण हुई, त्यो ही वह शिशु अदृश्य पिशाचिनीके बाहुपाशसे छूट सामने अग्निरूपमे प्रकट हो गया। पुन जैसे ही पिशाचिनी उसे पकडने चली, वैसे ही ऋषिके मन्त्र-प्रभावसे भस्म हो उसकी राखका ढेर वहाँ लग गया। इस प्रकार अग्निशिशुके मुक्त होनेके साथ घर-घरकी अग्नि प्रज्वलित हो उठी। प्रजावर्गके आनन्दका ठिकाना न रहा।

महाराजने अपने ब्रह्मवर्चस्वी पुरोहित वृशऋषिको

साष्टाङ्ग नमस्कार किया और क्षमा माँगने लगे—'प्रभो, अपने सम्राट् पदके गर्वमे आकर मैंने अन्यायपूर्वक आपका घोर अपमान किया, फिर भी आपने कुछ नहीं कहा, चुपचाप ब्राह्मण-बालकके जीवनदानका मुझपर अनुग्रह करते हुए चले गये। परतु मैंने जो पाप किया, उसका फल मेरी प्रजाको बुरी तरह भुगतना पडा, इसका मुझे भारी खेद है। धन्य है आपकी क्षमाशीलता और प्रजावत्सलता, जो आज आपने मुझे और मेरी प्रजाको पुन उबार कर कृतार्थ किया।'

पुरोहितने राजाको यह कहकर उठाया और गले लगाया कि 'महाराज, इसमे मैंने क्या विशेष किया? आपके राज्यका पुरोहित होनेके नाते प्रजाका कष्ट-निवारण मेरा कर्तव्य ही है।'

महाराजके नेत्रासे दो अश्रु ऋषिके चरणोपर लुढक पडे।

ऋग्वेदमे इस कथाका इस प्रकार सकेत किया गया है—

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्माया सहते दुरेवा शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥
(ऋक्० ५।२।९)

अर्थात् वृशऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे अग्निकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'हे अग्निदेव, आप अत्यन्त महत् तेजसे विद्योतित होते हैं और अपनी इसी महिमासे सारे विश्वको प्रकाशित करते हैं। प्रदीप्त अग्नि दुस्सह आसुरी (अदेवी) मायाको नष्ट कर देते हैं। आप राक्षसोके विनाशार्थ अपनी शृगसदृश ज्वालाओको तीक्ष्ण करते हैं।'

ऋग्वेदके अतिरिक्त बृहद्देवता (५।१४—२३), शाट्यायन ब्राह्मण एव ताण्ड्य महाब्राह्मण (१३। ३। १२)-मे भी इस कथाका निदर्शन हुआ है।

(श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज)

संगतिका फल

(१)

वासनाका राज्य अखण्ड है। वासनाका विराम नहीं। फल मिलनेपर यदि एक वासनाको हम समाप्त करनेमे समर्थ भी होते हैं, तो न जाने कहाँसे दूसरी और उससे भी प्रबल अनेकानेक वासनाएँ पनप जाती हैं। प्रबल कारणोसे कतिपय वासनाएँ कुछ कालके लिये सुप्त अवश्य हो जाती हैं, परतु किसी उत्तेजक कारणके आते ही वे जाग पडती हैं। भला, कोई स्वप्नमे भी सोच सकता था कि महर्षि सोभरि काण्वका दृढ वैराग्य मीनराजके सुखद गार्हस्थ्य-जीवनको देख वायुके एक हलके-से झकोरेसे जडसे उखडकर भूतलशायी बन जायगा।

महर्षि सोभरि कण्व-वशके मुकुट थे, उन्हाने वेद-वेदाङ्गका गुरु-मुखसे अध्ययन कर धर्मका रहस्य भली-भाँति जान लिया था। उनका शास्त्र-चिन्तन गहरा था, परतु उससे भी अधिक गहरा था उनका जगत्के प्रपञ्चासे वैराग्य। जगत्के समग्र विषय-सुख क्षणिक हैं। चित्तको उनसे असली शान्ति नहीं मिल सकती। तब कोई विवेकी पुरुष अपने अनमोल जीवनको इन कौडीके तीन विषयाकी ओर क्यो लगायेगा? आजका विशाल सुख कल ही अतीतकी स्मृति बन जाता है। पलभरमे सुखकी सरिता सूखकर मरुभूमिके विशाल बालूके ढेरके रूपमे परिणत हो जाती है, तब कौन विज्ञ पुरुष इस सरिताके सहारे अपनी जीवन-वाटिकाको हरी-भरी रखनेका उद्योग करेगा? सोभरिका चित्त इन भावनाओकी रगडसे इतना चिकना बन गया था कि पिता-माताका विवाह करनेका प्रस्ताव चिकने घडेपर जल-बूँदके समान उसपर टिक न सका। उन्हाने बहुत समझाया, 'अभी भरी जवानी है, अभिलाषाएँ उमडी हुई हैं, तुम्हारे जीवनका यह नया वसन्त है, कामना-मञ्जरीके विकसित होनेका उपयुक्त समय है, रस-लोलुप चित्त-भ्रमरको इधर-उधरसे हटाकर सरस माधवीके रसपानमे लगाना है। अभी वैराग्यका बाना धारण करनेका अवसर नहीं।' परतु सोभरिने किसीके शब्दापर कान न दिया। उनका कान तो वैराग्यसे भरे, अध्यात्म-सुखसे सने, मजुल गीताको सुननेमे न जाने कबसे लगा हुआ था।

पिता-माताका अपने पुत्रको गार्हस्थ्य-जीवनमे लानेका उद्योग सफल न हो सका। पुत्रके हृदयमे भी देरतक द्वन्द्व मचा रहा। एक बार चित्त कहता—माता-पिताके वचनाका अनादर करना पुत्रके लिये अत्यन्त हानिकारक है। परतु

दूसरी बार एक विरोधी वृत्ति धक्का देकर सुझाती— '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।**' आत्म-कल्याण ही सबसे बडी वस्तु ठहरी। गुरुजनाके वचनो और कल्याण-भावनाम विरोध होनेपर हमे आत्म-कल्याणसे पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। सोभरि इस अन्तर्युद्धको अपने हृदयके कोनेम बहुत देरतक छिपा न सके और घरसे सदाके लिये नाता तोडकर उन्होने इस युद्धको भी विराम दिया। महर्षिके जवानीमे ही वैराग्य और अकस्मात् घर छोडनेसे लोगाके हृदय विस्मित हो उठे।

(२)

पवित्र नदीतट था। कल्लोलिनी कालिन्दी कल-कल करती हुई बह रही थी। किनारेपर उगे हुए तमाल-वृक्षाकी सघन छायामे रग-बिरगी चिडियोका चहकना कानोमे अमृत उडेल रहा था। घने जगलके भीतर पशु स्वच्छन्द विचरण करते थे और नाना प्रकारके विघ्नासे अलग रहकर विशेष सुखका अनुभव करते थे। सायकाल गोधूलिकी भव्य वेलाम गाये दूधसे भरे थनाके भारसे झुकी हुई जब मन्द गतिसे दूरके गाँवोकी ओर जाती थीं, तब यह दृश्य अनुपम आनन्द उत्पन्न करता था। यमुनाकी सतहपर शीतल पवनके हलके झकोरास छोटी-छोटी लहरियाँ उठती थीं और भीतर मछलियाके झुण्ड-के-झुण्ड इधर-से-उधर कूदते हुए स्वच्छन्दताके सुखका अनुभव कर रहे थे। यहाँ था शान्तिका अखण्ड राज्य। इसी एकान्त स्थानको सोभरिने अपनी तपस्याके लिये पसन्द किया।

सोभरिके हृदयम तपस्याके प्रति महान् अनुराग तो था ही, स्थानकी पवित्रता तथा एकान्तताने उनके चित्तका हठात् अपनी ओर खींच लिया। यमुनाके जलके भीतर वह तपस्या करने लगे। भाद्रपदमे भयकर बाढके कारण यमुना-जल बडे ही वेगसे बढने और बहने लगता, परतु ऋषिके चित्तमे न तो किसी प्रकारका बढाव था और न किसी प्रकारका बहाव। पौप-माघकी राताम पानी इतना ठडा हो जाता कि जल-जन्तु भी ठडके कारण काँपते परतु मुनिके शरीरम जल-शयन करनपर भी किसी प्रकारकी जडता न आती। वर्षाके साथ-साथ एसी ठडी हवा चलती कि प्राणिमात्रके शरीर सिकुड जात परतु ऋषिके शरीरम तनिक भी सिकुडन न आती। ऐसी विकट तपस्याका क्रम बहुत वर्षोंतक चलता रहा। सोभरिको वह दिन याद था, जब उन्होने तपस्याके निमित्त अपने पिताका आश्रम छोडकर यमुनाका आश्रय लिया था। उस समय उनकी भरी जवानी थी, परतु अब? लबी दाढी और मुलायम मूँछापर हाथ फेरते समय उन्हे प्रतीत होने लगता कि अब उनकी उम्र ढलने लगी है। जो भी उन्हे देखता, आश्चर्यचकित हो जाता। इतनी विकट तपस्या! शरीरपर इतना कठोर नियन्त्रण! सर्दी-गर्मी सह लेनेकी इतनी अधिक शक्ति! दर्शकाके आश्चर्यका ठिकाना न रहता। परतु महर्षिके चित्तकी विचित्र दशा थी। वह नित्य यमुनाके श्यामल जलमे मत्स्यराजकी अपनी प्रियतमाके साथ रतिक्रीडा देखते-देखते आनन्दसे विभोर हो जाते। कभी पति अपनी मानवती प्रेयसीके मानभजनके लिये हजारा उपाय करते-करते थक जानेपर आत्मसमर्पणके मोहनमन्त्रके सहारे सफल होता और कभी वह मत्स्यसुन्दरी इठलाती, नाना प्रकारसे अपना प्रेम जताती, अपने प्रियतमकी गोदका आश्रय लेकर अपनेको कृतकृत्य मानती। झुड-के-झुड बच्चे मत्स्य-दम्पतिके चारो ओर अपनी ललित लीलाएँ किया करते और उनके हृदयमे प्रमोद-सरिता बहाया करते।

ऋषिने देखा, गार्हस्थ्य-जीवनमे बडा रस है। पति-पत्नीके विविध रसमय प्रेम-कल्लोल! बाल-बच्चाका स्वाभाविक सरल सुखद हास्य! परतु उनके जीवनम रस कहाँ? रस (जल)-का आश्रय लेनेपर भी चित्तम रसका नितान्त अभाव था। उनकी जीवन-लताको प्रफुल्लित करनेके लिये कभी वसन्त नहीं आया। उनके हृदयकी कलीको खिलानेके लिये मलयानिल कभी न बहा। भला, यह भी कोई जीवन है। दिन-रात शरीरको सुखानेका उद्योग, चित्तवृत्तियोको दबानेका विफल प्रयास। उन्हे जान पडता मछलियाके छोटे-छोटे बच्चे उनके नीरस जीवनकी खिल्ली उडा रहे हैं।

सगतिने सोई हुई वासनाको जोरासे झकझोर कर जगा दिया। वह अपनेको प्रकट करनेके लिये मार्ग खोजने लगी।

(३)

तपका उद्देश्य केवल शरीरको नाना प्रकारके साधनासे तप्त करना नहीं है प्रत्युत मनको तप्त करना है। सच्चा तप मनमे जमे हुए कामके कूड-करकटको जलाकर राख बना

देता है। आगमे तपाये हुए सोनेकी भाँति तपस्यासे तपाया गया चित्त खरा उतरता है। तप स्वय अग्निरूप है। उसकी साधना करनेपर क्या कभी चित्तम अज्ञानका अन्धकार अपना घर बना सकता है? उसकी ज्वाला वासनाआको भस्म कर देती है और उसका प्रकाश समग्र पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है। शरीरको पीडा पहुँचाना तपस्याका स्वागमात्र है। नहीं तो, क्या इतने दिनोकी घोर तपस्याके बाद भी सोभरिके चित्तमे प्रपञ्चसे विरति (ससारसे वैराग्य) और भगवान्के चरणोम सच्ची रति न होती?

वैराग्यसे वैराग्य ग्रहण कर तथा तपस्याको तिलाञ्जलि देकर महर्षि सोभरि प्रपञ्चकी ओर मुडे और गृहस्थी जमानेमे जुट गये। विवाहकी चिन्ताने उन्हे कुछ बेचैन कर डाला। गृहिणी घरकी दीपिका है, धर्मकी सहचारिणी है। पत्नीकी खोजमे उन्हे दूर-दूर जाना पडा। रत्न खोज करनेपर ही प्राप्त होता है, घरके कोनेमे अथवा दरवाजेपर बिखरा हुआ थोडे ही मिलता है। उस समय महाराज त्रसद्दस्युके प्रबल प्रतापके सामने सप्तसिधुके समस्त नरेश नतमस्तक थे। वह पुरुवशके मणि थे, पुरुकुत्सके पुत्र थे। उनका 'त्रसद्दस्यु' नाम नितान्त सार्थक था। आर्योंकी सभ्यतासे सदा द्वेष रखनेवाले दस्युओके हृदयमे इनके नाममात्रसे कम्प उत्पन्न हो जाती थी। वह सप्तसिधुके पश्चिमी भागपर शासन करते थे। महर्षिको यमुनातटसे सुवास्तु (सिधुनदकी सहायक स्वात नदी)-के तीरपर राजसभामे सहसा उपस्थित देखकर उन्हे उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना उनके राजकुमारीसे विवाह करनेके प्रस्तावपर। इस वृद्धावस्थाम इतनी कामुकता। इनके तो अब दूसरे लाकमे जानेके दिन समीप आ रहे हैं, परतु आज भी इस लोकमे गृहस्थी जमानेका यह आग्रह है। परतु सोभरिकी इच्छाका विघात करनेसे भी उन्हे भय मालूम होता था। उनके हृदयम एक विचित्र द्वन्द्व मच गया। एक आर तो वे अभ्यागत तपस्वीकी कामना पूर्ण करना चाहते थे, परतु दूसरी ओर उनका पितृत्व चित्तपर आघात देकर कह रहा था—इस वृद्ध जरद्गवके गलेमें अपनी सुमन-सुकुमार सुताको मत बाँधो। राजाने इन विरोधी वृत्तियाको बडी कुशलतासे अपने चित्तक कानेमे दबाकर सोभरिके सामने स्वयवरका प्रस्ताव रखा। उन्हाने कहा, 'क्षत्रिय-कुलकी कन्याएँ गुणवान् पतिका स्वय वरण किया करती हैं। अत आप मेरे साथ अन्त पुरम चलिये। जो कन्या आपको अपना पति बनाना स्वीकार करेगी, उसे मै आपके साथ विधिवत् विवाह दूँगा।' राजा वृद्धको अपने साथ लकर अन्त पुरम चले, परतु उनके कौतुककी सीमा न रही, जब वह वृद्ध अनुपम सवागशाभन युवकके रूपम महलम दीख पडा। रास्तेम ही सोभरिने तपस्याके बलसे अपना रूप बदल डाला। जो दखता वही मुग्ध हो जाता। स्निग्ध श्यामल शरीर, ब्रह्मतेजसे चमकता हुआ चेहरा, उन्नत ललाट, अङ्गाम योवनसुलभ स्फूर्ति, नेत्रामे विचित्र दीप्ति, जान पडता था मानो स्वय अनग अङ्ग धारण कर रतिकी खोजमे सजे हुए महलाके भीतर प्रवेश कर रहा हो। सुकुमारी राजकन्याआकी दृष्टि इस युवक तापसपर पडी। चार आँखे हाते ही उनका चित्तभ्रमर मुनिके रूप-कुसुमकी माधुरी चखनेके लिये विकल हो उठी। पिताका प्रस्ताव सुनना था कि सबने मिलकर मुनिको घेर लिया ओर एक स्वरसे मुनिको वरण कर लिया। राजाने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

सुवास्तुके सुन्दर तटपर विवाह-मण्डप रचा गया। महाराज त्रसद्दस्युने एक साथ अपनी पचास पुत्रियोका विवाह महर्षि सोभरि काण्वके साथ पुलकितवदन हाकर कर दिया और दहेजम विपुल सम्पत्ति दी—सत्तर-सत्तर गायाके तीन झुण्ड, श्याम वर्ण वृषभ, जो इन सबके आगे-आगे चलता था, अनेक घोडे, नाना प्रकारके रग-बिरगे कपडे, अनमोल रत्न। गृहस्थ-जीवनको रसमय बनानेवाली समस्त वस्तुआको एक साथ एक ही जगह पाकर मुनिकी कामना-वल्ली लहलहा उठी। इन चीजासे सज-धजकर रथपर सवार हो मुनि जब यमुना-तटकी आर आ रहे थे, उस समय रास्तेम वज्रपाणि भगवान् इन्द्रका देवदुर्लभ दर्शन उन्हे प्राप्त हुआ। ऋषि आनन्दसे गद्गद स्वरम स्तुति करने लगे—

'हे भगवन्! आप अनाथाके नाथ हैं और हम लाग बन्धुहीन ब्राह्मण हैं। आप प्राणियाकी कामनाआकी अति शीघ्र पूर्ति करनेवाले हैं। आप सामपानके लिये अपने तेजके साथ हमारे यहाँ पधारिये।'

स्तुति किसको प्रसन्न नहीं करती। इस स्तुतिको सुनकर दवराज अत्यन्त प्रसन्न हुए ओर ऋषिसे आग्रह करने लगे कि वर माँगो। सोभरिने अपने मस्तकको झुकाकर विनयभरे शब्दोम कहना आरम्भ किया, 'प्रभो! मेरा योवन सदा बना

दूसरी बार एक विरोधी वृत्ति धक्का देकर सुझाती— **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।'** आत्म-कल्याण ही सबसे बडी वस्तु ठहरी। गुरुजनाके वचना और कल्याण-भावनामे विरोध होनेपर हमे आत्म-कल्याणसे पराड्मुख नहीं हाना चाहिये। सोभरि इस अन्तर्युद्धको अपने हृदयके कोनेम बहुत देरतक छिपा न सके और घरसे सदाके लिये नाता तोडकर उन्हाने इस युद्धको भी विराम दिया। महर्षिके जवानीम ही वैराग्य और अकस्मात् घर छोडनेसे लोगाके हृदय विस्मित हो उठे।

(२)

पवित्र नदीतट था। कल्लोलिनी कालिन्दी कल-कल करती हुई बह रही थी। किनारपर उगे हुए तमाल-वृक्षाकी सघन छायामे रग-बिरगी चिडियाका चहकना कानामे अमृत उडेल रहा था। घने जगलके भीतर पशु स्वच्छन्द विचरण करते थे और नाना प्रकारके विघ्नासे अलग रहकर विशेष सुखका अनुभव करते थे। सायकाल गोधूलिकी भव्य वेलामे गाये दूधसे भरे थनोके भारसे झुकी हुई जब मन्द गतिसे दूरके गाँवाकी ओर जाती थीं, तब यह दृश्य अनुपम आनन्द उत्पन्न करता था। यमुनाकी सतहपर शीतल पवनके हलके झकारासे छोटी-छाटी लहरियाँ उठती थीं और भीतर मछलियाके झुण्ड-के-झुण्ड इधर-से-उधर कूदते हुए स्वच्छन्दताके सुखका अनुभव कर रहे थे। यहाँ था शान्तिका अखण्ड राज्य। इसी एकान्त स्थानका साभरिने अपनी तपस्याके लिये पसन्द किया।

साभरिके हृदयमे तपस्याक प्रति महान् अनुराग तो था ही, स्थानकी पवित्रता तथा एकान्तताने उनक चित्तका हठात् अपनी ओर खींच लिया। यमुनाक जलके भीतर वह तपस्या करने लगे। भाद्रपदमे भयकर बाढके कारण यमुना-जल बड ही वेगसे बढने और वहने लगता, परतु ऋषिके चित्तम न तो किसी प्रकारका बढाव था और न किसी प्रकारका बहाव। पौष-माघकी रातामे पानी इतना ठडा हा जाता कि जल-जन्तु भी ठडके कारण काँपते परतु मुनिक शरीरम जल-शयन करनेपर भी किसी प्रकारकी जडता न आती। वर्षाक साथ-साथ ऐसी ठडी हवा चलती कि प्राणिमात्रक शरीर सिकुड जाते, परतु ऋषिके शरीरम तनिक भी सिकुडन न आती। ऐसी विकट तपस्याका क्रम बहुत वर्षोंतक चलता रहा। साभरिको वह दिन याद था, जब उन्हाने तपस्याके निमित्त अपने पिताका आश्रम छोडकर यमुनाका आश्रय लिया था। उस समय उनकी भरी जवानी थी, परतु अब? लवी दाढी और मुलायम मूँछापर हाथ फेरते समय उन्हे प्रतीत हाने लगता कि अब उनकी उम्र ढलने लगी है। जो भी उन्हे देखता, आश्चर्यचकित हा जाता। इतनी विकट तपस्या! शरीरपर इतना कठोर नियन्त्रण! सर्दी-गर्मी सह लेनेकी इतनी अधिक शक्ति! दर्शकाके आश्चर्यका ठिकाना न रहता। परतु महर्षिके चित्तकी विचित्र दशा थी। वह नित्य यमुनाके श्यामल जलम मत्स्यराजकी अपनी प्रियतमाके साथ रतिक्रीडा देखते-देखते आनन्दसे विभोर हो जाते। कभी पति अपनी मानवती प्रेयसीके मानभजनक लिये हजारा उपाय करते-करत थक जानेपर आत्मसमर्पणके मोहनमन्त्रके सहारे सफल होता और कभी वह मत्स्यसुन्दरी इठलाती, नाना प्रकारसे अपना प्रम जताती, अपने प्रियतमकी गोदका आश्रय लेकर अपनेको कृतकृत्य मानती। झुड-के-झुड बच्चे मत्स्य-दम्पतिके चारा ओर अपनी ललित लीलाएँ किया करते और उनके हृदयमे प्रमोद-सरिता बहाया करते।

ऋषिने देखा, गार्हस्थ्य-जीवनम बडा रस है। पति-पत्नीके विविध रसमय प्रेम-कल्लोल! बाल-बच्चाका स्वाभाविक सरल सुखद हास्य! परतु उनके जीवनम रस कहाँ? रस (जल)-का आश्रय लेनेपर भी चित्तमे रसका नितात अभाव था। उनकी जीवन-लताको प्रफुल्लित करनेके लिये कभी वसन्त नहीं आया। उनके हृदयकी कलीको खिलानेके लिये मलयानिल कभी न बहा। भला, यह भी कोई जीवन है। दिन-रात शरीरको सुखानेका उद्योग चित्तवृत्तियोको दबानेका विफल प्रयास। उन्हे जान पडता मछलियाके छोटे-छोटे बच्चे उनक नीरस जीवनकी खिल्ली उडा रहे हैं।

सगतिने साई हुई वासनाको जोरास झकझोर कर जगा दिया। वह अपनको प्रकट करनक लिय मार्ग खोजने लगी।

(३)

तपका उद्देश्य केवल शरीरको नाना प्रकारके साधनासे तप्त करना नहीं है प्रत्युत मनका तप्त करना है। सच्चा तप मनम जमे हुए कामक कूड-करकटको जलाकर राख बना

देता है। आगमे तपाये हुए सोनेकी भाँति तपस्यासे तपाया गया चित्त खरा उतरता है। तप स्वय अग्निरूप है। उसकी साधना करनेपर क्या कभी चित्तम अज्ञानका अन्धकार अपना घर बना सकता है? उसकी ज्वाला वासनाआको भस्म कर देती है और उसका प्रकाश समग्र पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है। शरीरको पीडा पहुँचाना तपस्याका स्वागमात्र है। नहीं तो, क्या इतने दिनाकी घार तपस्याके बाद भी सोभरिके चित्तम प्रपञ्चसे विरति (ससारसे वैराग्य) और भगवान्‌के चरणाम सच्ची रति न हाती?

वैराग्यसे वैराग्य ग्रहण कर तथा तपस्याको तिलाञ्जलि देकर महर्षि सोभरि प्रपञ्चकी ओर मुड और गृहस्थी जमानेमे जुट गये। विवाहकी चिन्ताने उन्ह कुछ बेचैन कर डाला। गृहिणी घरकी दापिका है, धर्मकी सहचारिणी है। पत्नीकी खोजमे उन्ह दूर-दूर जाना पडा। रत्न खोज करनेपर ही प्राप्त होता है, घरके कोनेम अथवा दरवाजेपर बिखरा हुआ थोडे ही मिलता है। उस समय महाराज त्रसद्दस्युके प्रबल प्रतापके सामने सप्तसिधुके समस्त नरेश नतमस्तक थे। वह पुरुवशक मणि थे, पुरुकुत्सके पुत्र थे। उनका 'त्रसद्दस्यु' नाम नितान्त सार्थक था। आर्योंकी सभ्यतासे सदा द्वेष रखनेवाले दस्युआके हृदयम इनके नाममात्रसे कम्प उत्पन्न हो जाती थी। वह सप्तसिधुके पश्चिमी भागपर शासन करते थे। महर्षिको यमुनातटसे सुवास्तु (सिधुनदकी सहायक स्वात नदी)-के तीरपर राजसभामें सहसा उपस्थित देखकर उन्हे उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना उनके राजकुमारीसे विवाह करनेके प्रस्तावपर। इस वृद्धावस्थामें इतनी कामुकता! इनके तो अब दूसरे लाकम जानेके दिन समीप आ रह हैं, परतु आज भी इस लाकम गृहस्थी जमानेका यह आग्रह है! परतु सोभरिकी इच्छाका विघात करनेसे भी उन्ह भय मालूम हाता था। उनके हृदयम एक विचित्र द्वन्द्व मच गया। एक ओर तो वे अभ्यागत तपस्वीकी कामना पूर्ण करना चाहते थे, परतु दूसरी ओर उनका पितृत्व चित्तपर आघात देकर कह रहा था—इस वृद्ध जरद्गवके गलेम अपनी सुमन-सुकुमार सुताको मत बाँधो। राजाने इन विरोधी वृत्तियाको बडी कुशलतासे अपने चित्तक कानेम दबाकर सोभरिके सामने स्वयवरका प्रस्ताव रखा। उन्हाने कहा, 'क्षत्रिय-कुलकी कन्याएँ गुणवान् पतिका स्वय वरण किया करती हैं। अत आप मेरे साथ अन्त पुरम चलिय। जो कन्या आपको अपना पति बनाना स्वीकार करेगी, उसे मैं आपके साथ विधिवत् विवाह दूँगा।' राजा वृद्धको अपने साथ लकर अन्त पुरम चले, परतु उनक कौतुककी सीमा न रही, जब वह वृद्ध अनुपम सर्वांगशोभन युवकके रूपमे महलमे दीख पडा। रास्तेम ही सोभरिने तपस्याके बलसे अपना रूप बदल डाला। जा दखता वही मुग्ध हो जाता। स्निग्ध श्यामल शरीर, ब्रह्मतेजसे चमकता हुआ चेहरा, उन्नत ललाट, अङ्गोंम योवनसुलभ स्फूर्ति, नेत्राम विचित्र दीप्ति, जान पडता था मानो स्वय अनग अङ्ग धारण कर रतिकी खोजम सजे हुए महलाके भीतर प्रवेश कर रहा हो। सुकुमारी राजकन्याआकी दृष्टि इस युवक तापसपर पडी। चार आँख हाते ही उनका चित्तभ्रमर मुनिके रूप-कुसुमकी माधुरी चखनेके लिये विकल हो उठी। पिताका प्रस्ताव सुनना था कि सबन मिलकर मुनिका घेर लिया आर एक स्वरसे मुनिको वरण कर लिया। राजान अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

सुवास्तुके सुन्दर तटपर विवाह-मण्डप रचा गया। महाराज त्रसद्दस्युने एक साथ अपनी पचास पुत्रियाका विवाह महर्षि साभरि काण्वक साथ पुलकितवदन होकर कर दिया ओर दहेजम विपुल सम्पत्ति दी—सत्तर-सत्तर गायाके तीन झुण्ड, श्याम वर्ण वृषभ, जो इन सबके आगे-आगे चलता था, अनेक घाडे, नाना प्रकारके रग-बिरगे कपडे, अनमोल रत्न। गृहस्थ-जीवनको रसमय बनानेवाली समस्त वस्तुआको एक साथ एक ही जगह पाकर मुनिकी कामना-वल्ली लहलहा उठी। इन चीजासे सज-धजकर रथपर सवार हो मुनि जब यमुना-तटकी आर आ रहे थे, उस समय रास्तेम वज्रपाणि भगवान् इन्द्रका दवदुर्लभ दर्शन उन्ह प्राप्त हुआ। ऋषि आनन्दसे गद्गद स्वरम स्तुति करने लगे—

'हे भगवन्! आप अनाथाक नाथ हैं और हम लाग बन्धुहीन ब्राह्मण है। आप प्राणियाकी कामनाआकी अति शीघ्र पूर्ति करनेवाले ह। आप सामपानक लिय अपने तेजक साथ हमारे यहाँ पधारिये।'

स्तुति किसका प्रसन्न नहीं करती। इस स्तुतिको सुनकर देवराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऋषिसे आग्रह करने लगे कि वर माँगा। सोभरिन अपने मस्तकको झुकाकर विनयभरे शब्दोम कहना आरम्भ किया 'प्रभो! मरा यावन सदा बना

रहे, मुझमें इच्छानुसार नानारूप धारण करनेकी शक्ति हो, अक्षय रति हो और इन ५० पत्नियोंके साथ एक ही समय रमण करनेकी सामर्थ्य मुझमें हो जाय। वह विश्वकर्मा मेरे लिये सोनेके महल बना दे, जिनके चारों ओर कल्पवृक्षसे युक्त पुष्प-वाटिकाएँ हों। मेरी पत्नियोंमें किसी प्रकारकी स्पर्धा, परस्पर कलह कभी न हो। आपकी दयासे मैं गृहस्थीका पूरा-पूरा सुख उठा सकूँ।'

इन्द्रने गम्भीर स्वरमें कहा, 'तथास्तु!' देवताने भक्तकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। भक्तका हृदय आनन्दसे गद्गद हो उठा।

(४)

वस्तुके पानेकी आशामें जो आनन्द आता है, वह उसके मिलनेपर नहीं। मनुष्य उसे पानेके लिये बेचैन बना रहता है, लाखों कोशिश करता है, उसकी कल्पनासे ही उसके मुँहसे लार टपकने लगती है, परंतु वस्तुके मिलते ही उसमें विरसता आ जाती है, उसका स्वाद फीका पड़ जाता है, उसकी चमक-दमक जाती रहती है और रोज-रोजकी गले पड़ी वस्तुओंके ढोनेके समान उसका भी ढोना दूभर हो जाता है। गृहस्थीमें दूरसे आनन्द अवश्य आता है, परंतु गले पड़नेपर उसका आनन्द उड़ जाता है, केवल तलछट बाकी रह जाता है।

महर्षि सोभरिके लिये गृहस्थीकी लता हरी-भरी सिद्ध नहीं हुई। बड़ी-बड़ी कामनाओंको हृदयमें लेकर वे इस घाट उतरे थे, परंतु यहाँ विपदाके जल-जन्तुओंके कोलाहलसे सुखपूर्वक खड़ा होना भी असम्भव हो गया। विचारशील तो वे थे ही। विषयों—सुखोंको भोगते-भोगते वैराग्य—ओर अब सच्चा वैराग्य—उत्पन्न हो गया। सोचने लगे—'क्या यही सुखद जीवन है, जिसके लिये मैंने वर्षोंकी साधनाका तिरस्कार किया है? मुझे धन-धान्यकी कमी नहीं है, मेरे पास अतुलनीय गो-सम्पत्ति है, भूखकी ज्वालाके अनुभवका अशुभ अवसर मेरे सामने कभी नहीं आया, परंतु मेरे चित्तमें चैन नहीं। कल-कण्ठ कामिनियोंके कोकिल-विनिन्दित स्वरने मेरी जीवन-वाटिकामें वसन्त लानेका उद्योग किया, वसन्त आया भी, पर उसकी सरसता टिक न सकी। बालक-बालिकाओंकी मधुर काकलीने मेरे जीवनोद्यानमें पावसको ले आनेका प्रयत्न किया, परंतु मेरा जीवन सदाके लिये हरा-भरा न हो सका। हृदय-वल्ली कुछ कालके लिये जरूर लहलहा उठी, परंतु पतझड़के दिन शीघ्र आ धमके, पत्ते मुरझाकर झड़ गये। क्या यही सुखमय गार्हस्थ्य-जीवन है? बाहरी प्रपञ्चमें फँसकर मैंने आत्मकल्याणको भुला दिया। मानव-जीवनकी सफलता इसीमें है कि योगके द्वारा आत्मदर्शन किया जाय—'यद्योगेनात्मदर्शनम्', परंतु भोगके पीछे मैंने योगको भुला दिया, अनात्माके चक्करमें पड़कर मैंने आत्माको बिसार दिया और प्रेयोमार्गका अवलम्बन कर मैंने 'श्रेय'—आत्यन्तिक सुखकी उपेक्षा कर दी। भोगमय जीवन वह भयावनी भूल-भुलैया है, जिसके चक्करमें पड़ते ही हम अपनी राह छोड़ बेराह चलने लगते हैं और अनेक जन्म चक्कर काटनेमें ही बिता देते हैं। कल्याणके मार्गमें जहाँसे चलते हैं, घूम-फिरकर पुनः वहीं आ जाते हैं। एक डग भी आगे नहीं बढ़ पाते।'

'कच्चा वैराग्य सदा धोखा देता है। मैं समझता था कि इस कच्ची उम्रमें मेरी लगन सच्ची है, परंतु मिथुनचारी मत्स्यराजकी संगतिने मुझे इस मार्गमें ला घसीटा। सच्चा वैराग्य हुए बिना भगवान्‌की ओर बढ़ना प्रायः असम्भव-सा ही है। इस विरतिको लानेके लिये साधु-संगति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। बिना आत्मदर्शनके यह जीवन भार है। अब मैं अधिक दिनोंतक इस बोझको नहीं ढो सकता।'

दूसरे दिन लोगोंने सुना—महर्षि सोभरिकी गृहस्थी उजड़ गयी। महर्षि सच्चे निर्वेदसे यह प्रपञ्च छोड़ जंगलमें चले गये और सच्ची तपस्या करते हुए भगवान्‌में लीन हो गये। जिस प्रकार अग्निके शान्त होते ही उसकी ज्वालाएँ वहीं शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार पतिकी आध्यात्मिक गतिको देखकर पत्नियोंने भी उनकी संगतिसे सद्गति प्राप्त की। संगतिका फल बिना फले नहीं रहता। मनुष्यको चाहिये कि वह सज्जनोंकी संगतिका लाभ उठाकर अपने जीवनको धन्य बनावे। दुष्टोंका संग सदा हानिकारक होता है। विषयी पुरुषके संगमें विषय उत्पन्न न होगा तो क्या वैराग्य उत्पन्न होगा? मनुष्यको आत्मकल्याणके लिये सदा जागरूक रहना चाहिये। जीवनका यही लक्ष्य है। पशु-पक्षीके समान जीना, अपने स्वार्थके पीछे हमेशा लगे रहना मानवता नहीं है।

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

वेदोंमें देवता-तत्त्व

[वेदोम सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही 'देव' शब्दसे वाच्य है। यद्यपि धातुकोश, निरुक्त आदिमे सर्वशक्तिमान् दीपकी कान्ति, आभा लावण्य, ऐश्वर्य एव अनन्त तथा अक्षय शोभायुक्त, नित्य अजर-अमर आनन्द एव सुखमे निमग्न अलौकिक व्यक्तित्वको 'देव' या 'देवता' कहकर निर्दिष्ट कराया गया है, तथापि इतने मात्रसे ही देवता-तत्त्वका सम्पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त होता।

दवताका रहस्य वृहद्देवता बताती है उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोका (६१—६५)-से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डके मूलमे एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे ईश्वर कहा जाता ह। वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। उस एक ब्रह्मकी नानारूपाम—विविध शक्तियाकी अधिष्ठातृरूपाम स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है, इसी मूल सत्ताके विकास सारे देव हैं। इसलिये जिस प्रकार एक ही धागेमे मालाकी सारी मणियाँ ओतप्रोत रहती ह आर उसे केवल माला ही कहा जाता है, इसी तरह सूर्य, विष्णु, गणेश वाग्देवी, अदिति या जितने देवता है—सबको परमात्मरूपसे माना जाता है।

ऋषियाने जिन प्राकृतिक शक्तियोकी प्रशसा की है—वह उनके स्थूलरूपकी नही है, प्रत्युत उनकी अधिष्ठातृ-चेतन-शक्तिकी की है। इस चेतन-शक्तिको वे ऋषि परमात्मासे पृथक् या स्वतन्त्र नही मानते—परमात्मरूप ही मानते थे। ऋग्वदके प्रथम मन्त्रमे ही अग्निकी स्तुति की गयी है, किंतु अग्निको परमात्मासे पृथक् मानकर नही। ऋषि स्थूल अग्निरूपके ज्ञाता होते हुए भी सूक्ष्म अग्नि—परमात्म-शक्तिरूपके स्तोता आर प्रशसक थे। वे मरणशील अग्निमे व्याप्त अमरताके उपासक थे। इसी तरह इन्द्रको भी देवता मानते हुए इन्द्रकी सूक्ष्म शक्तिको परमात्म-शक्तिसे पृथक् नहीं समझते थे—परमात्मरूप समझते थे।

परमात्मा एक हैं। विद्वान् लोग उनकी अनेक प्रकारसे कामना करते हैं। जो कुछ हुआ हे, जो कुछ होनेवाला ह—वह सब कुछ ईश्वर हैं। ईश्वर देवताओके स्वामी हैं। जसे—जावात्माके स्वामी होते हुए भी परमात्मा ओर जीवात्मा एक हैं, उसी तरह देवाके स्वामी होते हुए भी ईश्वर ओर देवता एक हैं। इससे 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' का वदिक उद्घोष सार्थक होता है।

वेदोके प्रत्येक मन्त्रमे देवता-तत्त्व समाहित है। अत इस स्तम्भमे देवतासे सम्बन्धित तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।—सम्पादक]

वैदिक मन्त्रोमे देवताका परिज्ञान

वैदिक ऋषियाने दवताआके महाभाग्यका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। महाभाग्यशाली हानेके कारण ही वे एक देवताका अनेक रूपाम प्रत्यक्ष अनुभव कर उनके रूपानुरूप विविध कार्य-कलापाका वर्णन किये हैं, जैस—

देवताआका यह ऐश्वर्य ऋषियाको भलीभाँति ज्ञात था, इसलिये जिस कामनासे जो ऋषि जिस मन्त्रम जिस देवताकी स्तुति करते ह, उस मन्त्रके वे ही दवता माने जाते हैं[1]। तात्पर्य यह ह कि 'अमुक देवताके प्रसादसे अमुक अर्थका स्वामी बनूँगा' इस बुद्धिके साथ जिस मन्त्रम जिस देवताकी स्तुति की गयी, उस मन्त्रक वे देवता हुए। यह स्तुति चार प्रकारासे की गयी है—१-नामसे, २-बन्धुआसे, ३-कर्मसे और ४-रूपसे। अर्थात् जिन मन्त्राम अग्नि, इन्द्र, वरुण आदिके नामोल्लेखपूर्वक उनकी स्तुति की गयी ह, उन मन्त्राके अग्नि इन्द्र आदि देवता ह। जिन मन्त्राम अग्नि इन्द्र आदिके बन्धुआका नाम लेकर स्तुति की गयी है, उन मन्त्राके भी प्राधान्यत अग्नि, इन्द्र आदि दवता हागे। जिन मन्त्राम अग्नि, इन्द्र आदिके क्रिया-कलापाकी वर्णनात्मक स्तुति की गयी है, उन मन्त्राके भी वे ही अग्नि, इन्द्र आदि देवता माने जायँगे ओर जिन मन्त्राम अग्न्यादि देवाके रूपाके आधारपर स्तुति की गयी हे उन मन्त्राके भी व ही अग्न्यादि देवता हागे। इस प्रकार नाम, बन्धु, कर्म ओर रूप—इनम किसी प्रकारस जिस मन्त्रम जिनकी स्तुति की गयी, उस मन्त्रक वे दवता हुए।

उपर्युक्त विवचनसे यह स्पष्ट होता हे कि नाम, बन्धु, कर्म ओर रूपस जिस मन्त्रम जिस देवताका लक्षण प्रतीत होता है, उस मन्त्रका वही देवता होता है। परतु जिस मन्त्रम नाम-रूपादिके वर्णन नही होनेसे देवताके स्वरूपका निर्देश नहा होता, उस मन्त्रका देवता किस माना

१-यत्काम ऋषिर्यस्या देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङ्के। तद्दैवत स मन्त्रो भवति॥ (निरुक्त ७। १। १)

जाय[१]? इस जिज्ञासाका समाधान करते हुए महर्षि यास्कने बतलाया है—'यद्देवत स यज्ञो वा यज्ञाङ्ग वा, तद्देवता भवति।'[२] अर्थात् जिस यज्ञका जो देवता है उस यज्ञमे विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट देवतालिङ्गक मन्त्रोका वही यज्ञिय देवता होगा। जैसे अग्निष्टोम-यज्ञ आग्नेय—'अग्नि-दवताक' है, वहाँ (अग्निष्टोम-यज्ञम) विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट देवताक मन्त्र आग्नेय हागे। प्रकरणसे वहाँ देवताका निर्णय किया जायगा[३]।

अथवा प्रात सवनमे विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट देवताक मन्त्र आग्नेय, माध्यन्दिनसवनमे विनियुक्त होनेवाले एन्द्र तथा सायसवनम विनियुक्त होनेवाले मन्त्र आदित्य देवताक होगे।

उपर्युक्त विवेचनसे यज्ञ या यज्ञाङ्ग (प्रात , माध्यन्दिन तथा सायसवना)-म विनियुक्त मन्त्राका देवता-परिज्ञान तो होता हे, परतु यज्ञसे भिन्न स्थलमे विनियुक्त अनादिष्ट-देवताक मन्त्रोमे देवताका परिज्ञान कैसे होगा[४]?

'अनिरुक्तो हि प्रजापति '—इस सिद्धान्तके अनुसार वैसे मन्त्र प्राजापत्य[५] माने जायँगे, अर्थात् उन मन्त्राके देवता प्रजापति होगे। यह याज्ञिकाका मत है।

उपर्युक्त याज्ञिक मतसे भिन्न नैरुक्तोका सिद्धान्त है कि अनादिष्ट-देवताक मन्त्र 'नाराशस'[६] होते हैं। अर्थात् उन मन्त्राके देवता नराशस माने जाते है। वैदिक वाड्मयमे नराशसके अर्थ होते हैं—यज्ञ[७] और अग्नि[८]।

यज्ञका अर्थ है विष्णु—**'यज्ञो वै विष्णु ।'** इससे स्पष्ट होता है कि इन मन्त्राके देवता विष्णु अथवा अग्नि ह। अग्नि सर्वदेवस्वरूप है, उनमें सभी देवताआका वास है। इस सिद्धान्तके अनुसार वे मन्त्र आग्नेय माने जाते हैं।

अनादिष्ट-देवताक मन्त्रामे देवताके परिज्ञानके लिये पक्षान्तरका प्रतिपादन करते हुए महर्षि यास्कने लिखा है—'अपि वा सा कामदेवता स्यात्[९]।' अर्थात् 'कामकल्प्या देवता यस्याम् ऋचि सा कामदेवता ऋक्।' उन मन्त्रोंम इच्छासे देवताकी कल्पना की जाती है, अत वे 'कामदेवताक' मन्त्र हैं।

अथवा वे अनादिष्ट-देवताक मन्त्र 'प्रायादेवत'[१०] होते हैं। 'प्राय ' का अर्थ है अधिकार और बाहुल्य। अधिकार-अर्थम प्रायोदेवत मन्त्रका तात्पर्य हुआ कि जिस देवताके अधिकारम वह मन्त्र पढा गया है, वही उसका देवता माना जायगा।

'प्राय 'का बाहुल्य अर्थ माननेपर वैसा मन्त्र 'बहुलदेवत' माना जायगा। लोकमे भी ऐसा व्यवहार होता है कि अमुक द्रव्य देवदेवत्य अमुक द्रव्य अतिथिदेवत्य और अमुक द्रव्य पितृदेवत्य है[११]। किंतु जिस द्रव्यमे किसीका निर्देश नहीं होता, वह देव-अतिथि और पितर सबके लिये होता है, उसी प्रकार अनादिष्ट-देवताक मन्त्र सर्वसाधारण हानेके कारण बहुलदेवत होते हे।

इन उपर्युक्त विभिन्न मताका उपसहार करते हुए महर्षि यास्कने कहा—'याज्ञदैवतो मन्त्र [१२] इति।' अर्थात् अनादिष्ट-देवताक मन्त्र याज्ञ अर्थात् यज्ञदेवत होते हैं। **'यज्ञो वै विष्णु '**के अनुसार वे मन्त्र विष्णुदेवत माने जाते हैं। नैरुक्तसिद्धान्तम विष्णु द्युस्थानीय आदित्य हैं, अत वे मन्त्र परमार्थत 'आदित्यदेवत' हैं।

यदि वे मन्त्र 'दैवत' हैं (देवता देवता अस्य असौ दैवत) अर्थात् उनके देवता 'देवता' हे तो **'अग्निर्वै सर्वा दवता '**, **'अग्निर्वै देवाना भूयिष्ठभाक्'** इत्यादि सिद्धान्तोसे यहाँ 'देवता' का अर्थ है अग्नि। फलत दैवत मन्त्रका तात्पर्य हुआ आग्नेय मन्त्र। इस प्रकार निरुक्तानुसार देवताका परिज्ञान होता है, जो देवता अपने महाभाग्यके कारण अनुष्ठाताके अभीष्टको पूर्ण करनेमे समर्थ होते हैं।

१-२-तद् येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा (निरुक्त ७। १। ४)।
३-प्रकरणाद्धि सदिग्धदेवतेषु देवतानियम (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।
४-अथान्यत्र यज्ञात्? (निरुक्त ७। १। ४)।
५-प्राजापत्या इति याज्ञिका (निरुक्त ७। १। ४)।
६-नाराशसा इति नैरुक्ता (निरुक्त ७। १। ४)।
७-यज्ञ इति कात्थ । विष्णुर्वै यज्ञ ' इति ह विज्ञायते (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।
८-'अग्निरिति शाकपूणि । 'अग्निर्हि भूयिष्ठभाग्देवतानाम्। अग्निर्वै सर्वा दवता अत्र वै सर्वा वसति दवता (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।
९-१०-प्रायो दवता वा (निरुक्त ७। १। ४)।
११-१२-अस्ति ह्याचारो बहुल लाक। दवदवत्यमतिथिदवत्य पितृदवत्यम् (निरुक्त ७। १। ४)।

देवता-विचार

सिद्धान्तकौमुदीमें 'साऽस्य देवता' (४।२।२४) सूत्रकी त्तिमें 'देवता' शब्दके दो लक्षण दिये गये हैं—) 'त्यज्यमानद्रव्य उद्देश्यविशेषो देवता।' तथा) 'मन्त्रस्तुत्या च।' प्रथम लक्षणका अर्थ है—'जिसके देश्यसे आज्य आदि हविर्द्रव्यका त्याग किया जाय उसे वता कहते हैं।' यह लक्षण कल्पश्रौतसूत्रके अनुसार है। तीय लक्षण निरुक्तके अनुसार है, जिसका अर्थ है— न्त्रसे जिसकी स्तुति की जाय वह देवता है।' प्रथम क्षणका केवल यज्ञोंमें उपयोग होता है। देवता-स्वरूपके रिचायक द्वितीय लक्षणका ही सर्वत्र उपयोग होता है।

जिस-किसीकी स्तुति की जाय, उसे 'देवता' मान नेपर मन्त्रद्वारा प्रतिपाद्य जड-चेतन सभी पदार्थ देवता-क्षमें निविष्ट होंगे। मन्त्र-पदाद्यनुक्रमणिकामें अकारादि-र्णानुक्रमसे २७२ देवताओंका निर्देश है। उस सूचीमें तुनिन्दा, दान, विवाहादि सब लौकिक पदार्थोंका भी वताके रूपमें उल्लेख है।

उक्त सूचीके आधार कात्यायनकृत 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' था सायण-भाष्यादि हैं। निघण्टुके ५वें अध्याय तथा रुक्तके दैवत-काण्डके ७वेंसे १२वें तक ६ अध्यायोंमें ५१ देवताओंका निरूपण है। निघण्टुके ५वें अध्यायमें ६ करण हैं, जिनकी यास्कने क्रमशः एक-एक अध्यायमें याख्या की है। निघण्टुके पाँचवें अध्यायके आरम्भके ३ करणोंमें क्रमशः ३+१३+३६=५२ पृथिवीस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं। चतुर्थ तथा पञ्चम प्रकरणमें क्रमशः ३२+३६=६८ अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंका निर्देश है। षष्ठ प्रकरणमें ३१ द्युस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं।

प्रश्न उठता है कि संख्याकी इस विषमताका क्या कारण है? सुस्पष्ट है कि देवताके लक्षणोंका संकुचित और प्रसारित स्वरूप ही इसका कारण है। ऋक्सर्वानुक्रमणीकी दृष्टिमें देवताका व्यापक लक्षण है—'या स्तूयते सा देवता, यन स्तूयते स ऋषिः।' निष्कर्ष यह कि स्तोता ऋषि और स्तुत देवता है। इसीलिये दान तथा विवाहादिको भी अनुक्रमणीकारने देवताओंमें स्थान दिया है। निरुक्तकारका अभिप्राय सम्भवतः 'देवता' शब्दके लक्षणको सीमित रखनेका प्रतीत होता है। अर्थात् केवल स्तुतिसे ही देवता नहीं माना जा सकता, अपितु स्तोताकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर जो उसकी अभीष्टसिद्धिमें समर्थ हो, वही देवता-पदका वाच्य है—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' (निरुक्त ७।१।१)। यहाँ 'यत्काम' का ही विवरण 'यस्यां देवतायाम्' इत्यादि वाक्य है। तात्पर्य यह कि जिस देवताके प्रसन्न होनेपर अभीष्ट-लाभकी इच्छासे स्तोता ऋषि स्तुति-मन्त्रका प्रयोग करता है, उस मन्त्रका वह देवता होता है। अर्थात् जो देवता अपने भक्तकी अभीष्ट-सिद्धि करनेमें अपूर्व शक्ति रखता हो, वह मन्त्र-स्तुत अग्नि आदि देव उस मन्त्रका देवता कहा जायगा। इस प्रकार देवता शब्दका लक्षण होगा—'अभीष्टसिद्धिहेतुदिव्यशक्तिसम्पन्नत्वे सति मन्त्रस्तुत्यत्वम्।' इस आशयकी पुष्टि निम्ननिर्दिष्ट मन्त्र कर रहा है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
(ऋक्० १०।१२१।१०)

अर्थात् हे जगत्स्वामी परमात्मन्! यह सब आपसे ही उत्पन्न हुआ है। आपसे भिन्न इनका कोई पालक या अधिष्ठाता नहीं है। अतः जिस फलकी कामनावाले हम आपको उद्दिष्ट करके हवन (आज्यादि आहुतिका प्रक्षेप) करते हैं या आपका स्तवन करते हैं, आपकी कृपासे हमें वह अभीष्ट फल प्राप्त हो।

इस मन्त्रसे सूचित होता है कि जिसके उद्देश्यसे हवन-स्तवन आदि किये जायँ और जो प्रसन्न होकर आराधककी अभीष्ट-सिद्धिका कारण बने, वही देवता है।

देवताका लक्षण ही नहीं, अपितु 'देव'-शब्दकी निरुक्ति भी स्तवन-मात्रके सादृश्यसे संगृहीत लौकिक द्यूत-निन्दा आदि उपदेवोंके संग्रहका परिहार करती है। यथा—'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता इति' (निरुक्त ७।४।१५)। वेदार्थभास्कर यास्कमुनि लोकोत्तर-चातुरीद्वारा 'देव' शब्दका क्या ही चमत्कारपूर्ण निर्वचन कर रहे हैं, ताकि 'देव'-शब्दद्वारा द्यूत-निन्दा आदि लौकिक पदार्थोंका संग्रह न हो। निर्वचनका तात्पर्य है—'दाता, वरप्रदाता, द्योतमान दिव्यमान' अर्थात् तेजःपुञ्जमूर्ति द्युलोक-निवासी व्यक्तिविशेष। वे इन्द्रादि दिव्य-शक्तिसम्पन्न लोकानुग्राहक देव ही हो सकते हैं।

वेदान्तदर्शनके 'देवादिवदपि लोके' (२।१।२५)—

इस सूत्र तथा इसके शांकरभाष्यादिके अवलोकनसे भी 'देव' शब्दकी प्रयोगभूमि वही दिव्यपुरुष प्रमाणित होते हैं जो किसी भौतिक साधनकी सहायताके बिना अपनी संकल्पशक्तिसे मनोवाञ्छित विविध कार्य कर सकें।

यदि निरुक्तका अभिप्राय वरप्रदाता लोकोत्तर, द्युलोक-निवासी इन्द्रादि देववर्गको ही देवता स्वीकार करनेका है, तो देवताभिन्न अश्व, शकुनि एवं मण्डूक क्रमशः पशु-पक्षी जल-जन्तु एवं जड-पाषाण, रथ आदि तथा उलूखल-मुसलादि द्वन्द्व पदार्थोंका देवकोटिमें संग्रह कैसे होगा? निघण्टु तथा निरुक्त दोनों ही इनका देव-कोटिमें उल्लेख कर रहे हैं। इसका समाधान निरुक्त (७। १। ४)-में 'आत्मैवैषां रथो भवति, आत्मा अश्वः, आत्माऽऽयुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य' इस उक्तिद्वारा किया गया है। अर्थात् देवोंके रथ-घोड़ा, शस्त्र-बाण किं बहुना, समस्त उपकरण उन्हींके आत्मस्वरूप होते हैं। देवगण अपेक्षित रथादि साधन-सामग्रीके लिये भौतिक काष्ठादि साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखते। उनका स्वरूप ही संकल्पवश पदार्थोंके रूपमें परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें—'बहु स्याम् प्रजायेय' इस संकल्पके होते ही ब्रह्मका सब कुछ विश्वाकारमें विवर्त हो जाता है। अर्थात् समस्त विश्व ब्रह्मके सृजनविषयक संकल्पका कार्य उसका विवर्त है, अतएव उससे पृथक् नहीं, अपितु उसका स्वरूप है, क्योंकि कल्पित वस्तुकी सत्ता अधिष्ठानसे पृथक् हो ही नहीं सकती। इसी तरह देवसंकल्प-प्रभाव रथादि देवोपकरण देवका विवर्त होनेके कारण वरप्रदाता देवसे भिन्न नहीं, फिर उन देवोपकरण रथादिका 'देव' शब्दसे संग्रह होनेमें आपत्ति ही क्या?

यास्कने इससे सूचित किया कि समस्त देव-प्रपञ्चके मूलमें एक ही परब्रह्म तत्त्व है। उसीकी विचित्र एवं भिन्न-भिन्न शक्तियोंके प्रतीक स्थान-भेदसे अग्नि, वायु तथा सूर्य—ये तीन विभिन्न देव हैं। अन्य समस्त देव उन्हींकी विभूतिमात्र हैं। जब तीन देव हैं और त्रित्व-संख्याका एकत्वसे विरोध है तो फिर वेदाभिमत 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ११)—इस देव-एकत्वकी उपपत्ति कैसे होगी?

इसका समाधान यह है कि जैसे समष्टि-दृष्टिसे 'वन' यह एकत्व-व्यवहार और व्यष्टिसे 'वृक्षाः' यह अनेकत्वका व्यवहार एवं समष्टि-दृष्टिसे 'राष्ट्र' और व्यष्टि-दृष्टिसे 'मनुष्याः' यह व्यवहार दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही व्यष्टि-दृष्टिसे 'अग्निर्वायुरादित्यस्त्रयो देवाः' और समष्टि-दृष्टिसे 'आत्मा एको देवः' इस व्यवहारमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसी अभिप्रायसे यास्कने कहा है—'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः' (७। २। ५)।

'अपि वा कर्मपृथक्त्वात्॥ यथा होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः॥ तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव' यह भी वचन है। निष्कर्ष यह कि देवोपकरण दिव्य रथादि वरप्रदाता देवके ही स्वरूप हैं, अतः उनके देवत्वमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। किंतु उनमें द्यूत-निन्दादि लौकिक पदार्थोंका संग्रह कदापि सम्भव नहीं। जड नदी आदिके संवाद-स्थलोंमें भी नदी आदि पदोंसे उनके अभिमानी देवतारूप अर्थ लेनेपर ऋषियोंसे उनका संवाद (ऋक्० ३। ३३) अनुपपन्न नहीं होता। अतएव आपाततः जड प्रतीत होनेवाले प्राण-इन्द्रियादिके संवादोंमें तत्तदभिमानी देवोंका ही वार्तालाप मान लेनेपर प्राण-कलह-कथाकी उपपत्ति ठीक बैठती है। वेदान्तदर्शनके 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (२। १। ५) इस सूत्रका यही आशय है।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने ब्रह्माद्वैतप्रतिपादक वेदोंमें बहुदेवतावादका कलंक लगानेकी व्यर्थ ही कुचेष्टा की है। वेदमें तथा वेदानुगामी 'बृहद्देवता' आदि वैदिक निबन्धोंमें एकदेवतावादका ही सुस्पष्ट प्रतिपादन है। निदर्शनके लिये ऋग्वेदके 'चित्रं देवानाम्०' (१। ११५। १) इस मन्त्रके चतुर्थ चरण 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' में स्थावर-जङ्गम समस्त विश्वका आत्मा एक सूर्य ही कहा गया है। 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्०' (यजु० १३। ३) इस मन्त्रमें भी प्रजापतिरूप एक ही देवता वर्णित है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० १। १६४। ४६) अर्थात् एक सच्चिदानन्द परब्रह्म तत्त्वको मेधावी विद्वान् यम, वरुण आदि अनेक देवताओंके रूपमें कह रहे हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदमें एकदेवतावादका ही प्रतिपादन है।

बृहद्देवता (१। ६२। ६३)-में शौनकाचार्य स्पष्टरूपसे सूर्य और प्रजापतिको एक देवताके रूपमें उद्घोषित कर रहे

हैं। यास्क 'एकस्य सत ' (नि० ७। २। ५) इस उक्तिसे एकदेवतावादका ही मुक्तकण्ठसे समर्थन करते हैं। उनके 'एकस्य सत ' कथनका तात्पर्य यह है कि वस्तुत ब्रह्मात्मतत्त्व ही एक देवता है, उसमे त्रित्वव्यपदेशका कारण पृथिव्यादि स्थानभेद एव दाह-वृष्टि-प्रकाशलक्षण भिन्नकार्यकारिता है।

एकदेवतावादकी पुष्टिमे एक-दो वेदवाक्य और भी देख लेना असगत न होगा—

रूपरूप मघवा बोभवीति माया कृण्वानस्तन्व परि स्वाम्।
(ऋक्० ३। ५३। ८)

तात्पर्य यह कि मघवा इन्द्रदेव जो-जो रूप धारण करनेकी कामना करते हैं, उसी-उसी रूपको तत्काल प्राप्त कर लेते हैं। कारण, वे अनेक शरीरधारकत्वशक्तियुक्त अपनी मायाका विस्तार करते हुए अपने शरीरसे अनेक प्रकारके शरीराका निर्माण कर लेते हैं। (परिशब्दोऽत्र पञ्चम्यर्थे)। अर्थात् एक ही इन्द्रदेव अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे अनन्त देवाके रूपमे व्यक्त होते हैं।

'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते'॥ (ऋक्० ६। ४७। १८)
—इस मन्त्रमे मायाशक्तिके प्रभावसे इन्द्रका बहुरूप-धारण स्पष्ट प्रतिपादित है। इन मन्त्रामे क्रमश मधुच्छन्दाके पिता विश्वामित्र तथा गर्ग भारद्वाज एकदेवतावादका ही अनुमोदन कर रहे हैं। अत एकदेवतावादको बहुदेवताका विकास मानना असगत ही है।

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेक सन्त बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋक्० १०। ११४। ५)

जैसे आर्त भक्ताकी पुकार सुनकर उनकी रक्षाके लिये शीघ्र दौडनेवाला शोभनगति-युक्त आरम्भम एक ही है, फिर भी मेधावी विद्वान् उसकी अनेक प्रकारसे विविध देवताआके रूपमें कल्पना करते हें। अर्थात् विद्वानोके कल्पना-राज्यमे वे एकदेवता ही बहुदेवता-रूपमे अनुभूत होने लगते हैं।

इस मन्त्रम प्रथम एकदेवतावाद, पश्चात् बहुदेवता-कल्पनाका स्पष्ट उल्लेख है।

यो देवाना नामधा एक एव॥ (ऋक्० १०। ८२। ३)
—जो परमात्मा एक ही देव है, बादम वही अनेक देवताआके नामको धारण करता है।

यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे। (ऋक्० १०। ८२। ६)
—समस्त देव जिस एक देवम सगत (अन्तर्गत) हैं।

इसके अतिरिक्त एक ओर बात विचार करनेकी है। कारणसे कार्यका विकास सर्वसम्मत है। कार्यसे कारणका विकास कहनेकी भूल काई विवेकी नहीं कर सकता। सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, स्मृति आदि प्राचीन समस्त शास्त्र एकमतसे सृष्टिका मूल कारण आरम्भम एक ही स्वीकार करते हैं। उस एकसे जैसे सृष्टिरूपमे विविध पदार्थोका विकास हुआ, ठीक उसी तरह एक देवस अनेक देवताआका विकास तो बुद्धिग्राह्य है, पर अनेक देवताओसे एक देवताका विकास कदापि विद्वन्मान्य नहीं।

देवताके विषयमे अन्य ज्ञातव्य विषयोका निरूपण बृहद्देवताके प्रथम अध्याय तथा द्वितीय अध्यायके २५ वर्गोमे विस्तारसे है। यास्कके निरुक्तम ७वे अध्यायके आरम्भके तीन पाद भी विशेष द्रष्टव्य हैं।

लक्षण एव निर्वचनके आधारपर 'देव'-शब्दके अर्थपर उपर्युक्त विचार किया गया। 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' म चित्सुखाचार्यका वचन है—

अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य न।
सम्भवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासम्भव कुत॥

मादका अर्थ क्षणभगुर विषयानन्द नहीं, अपितु नित्य-निरतिशयानन्द है। अत देव शब्दका अर्थ सत् (त्रिकालाबाध्य), चित् (स्वप्रकाश) एव आनन्दस्वरूप (नित्य निरतिशयानन्द) ब्रह्मतत्त्व हुआ। वह एक है। मायाके सम्पर्कसे उसमे अनेकत्वकी कल्पना हाती है। तब 'दव' शब्दका अर्थ होता है '**मायावशात् दिव्यति क्रीडति विविधसृष्टिरचनालक्षणा क्रीडा कुरुते इति देव**' अर्थात् मायाशबल ब्रह्म तथा सच्चिदानन्द ब्रह्म ईश्वर है। वह ईश्वर एक है, अनेक नहीं, अत 'देव' शब्दके यौगिकार्थके अनुसार भी एकदेवतावाद ही प्रमाणित होता है। विभिन्न वेदाद्वारा स्तुत्य अग्नि आदि देव उसकी विभूति या विभिन्न विचित्र शक्तियाके प्रतीकमात्र हैं।

वैदिक देवता—सत्ता और महत्ता

(डॉ० श्रीराजीवजा प्रचण्डिया एम्०ए० (संस्कृत) बी०एस् सी०, एल्-एल्०बी०, पी-एच्०डी०)

आराध्य देवी-देवता आदिकी परिकल्पना आर धारणा आस्थापरक मनोवृत्तिपर केन्द्रित है। आस्थावादी सस्कृतियाम वैदिक सस्कृति एक है, जिसके मूलम वद प्रतिष्ठित ह। वेदामे अध्यात्मकी प्राचीनता तथा मौलिकताकी अनुगूँज है। भारतीय सभ्यता ओर सस्कृति अर्थात् रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, नियम-उपनियम, आचारिक-वैचारिक सहिताएँ, शिक्षाएँ तथा मान्यताएँ आदि सभी कुछ वेदापर ही आश्रित है—ऐसा वेदापर आस्था-श्रद्धा रखनेवाले लोगाका वैचारिक आलाडन है, जो सर्वथा सत्य ओर सार्वभौम हे।

चूँकि भक्त समुदायम जीवनक लिये आराध्य एक अनिवार्य आलम्बन होता है। आराध्य उनम सदा रचते-बसते हैं। अत वेदाम सम्यक्रूपसे आराध्य देवाकी चर्चा हुई है। जहाँतक वैदिक देवताआका प्रश्न है, वहाँ एक-दो नहीं, अनेक देवताआका वर्णन हे। जैसे इन्द्र, अग्नि एव वरुण आदि। ये सभी देवता आदिशक्तिका ही प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रद्धालु जन अपनी-अपनी सुख-सुविधा और मन कामनाआक आधारपर इनमसे ही किसी एक देवताको अपना आराध्य मानकर पूजते हैं।

देवता और सृष्टि परमात्माकी ही विभूति हैं। चाह वह देवता वरुण हा या इन्द्र, अग्नि, सूर्य मित्रावरुण अश्विनीकुमार, सोम (चन्द्रमा) पृथ्वी, विष्णु और रुद्र आदि कोई भी क्यो न हो। सभीम सर्वव्यापी परमात्माका एक-एक गुण विद्यमान रहता है। जैस वदोने वरुणको शान्तिप्रिय दवता कहा है। इसकी मर्यादा वैदिक युगम सर्वाधिक मानी गयी है। वरुणको प्रसन्न रखनके लिये लागाको सदाचारपरक जीवन अर्थात् पवित्रपूर्ण आचरण व्यतीत करना होता है, क्योकि वरुणको इस जगत्का नियन्ता और शासक माना गया है। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमाका सरक्षक है। इसका नैतिक नियम 'ऋत' सज्ञासे अभिहित होता है, जिसका पालन करना दवताआके लिये भी परमावश्यक बताया गया है। इसी प्रकार 'इन्द्र' ऋग्वेदका योद्धा देवता हे। वह जगत्की उत्पत्ति प्रलय आदिका सचालन करता है। इन्द्र बलिष्ठ एव पराक्रमी देवता है। वह 'अन्तरिक्ष' और 'द्यौ'को धारण करता है। इसके भयसे पृथ्वी और आकाश काँपते दिखायी दते हैं। बिना इस देवताकी सहायताके कोई भी शक्ति युद्ध नहीं जीत सकती। इसी आधारपर वीर योद्धा समरमे जानेसे पूर्व इसकी स्तुति करते हैं। इसी प्रकार 'अग्नि' ऋग्वेदका देवता होनेके साथ-साथ यज्ञका पुरोहित भी है। वह देवताआको यज्ञमे समर्पित हवि सुलभ कराता है। ऋग्वेदके अधिकाश मण्डल अग्निकी स्तुतिसे ही आरम्भ होते हैं। वैवाहिक सस्कारमे अग्निदेवताका प्राधान्य रहता है। यजुर्वेदम सर्वाधिक प्रतिष्ठित दवता है 'रुद्र'। जिसे अत्यन्त उग्र स्वभावका माना गया है। यजुर्वेदम इसकी प्रतिष्ठा इसी बातसे है कि इस वेदका सम्पूण सोलहवाँ काण्ड इसीपर केन्द्रित हे। एक देवता है अश्विनीकुमार। इसकी स्तुति और चर्चा भी वेदाम पर्याप्तरूपसे परिलक्षित है। यह देवता आयुर्वेदका अधिष्ठाता हे। ऐसे ही अनेक देवताओंकी शक्ति और महत्ताका प्रतिपादन वेदामे द्रष्टव्य है।

वेदामे अग्नि, सोम, पृथ्वी आदि पृथ्वी-स्थानीय देवता एव इन्द्र, रुद्र, वायु आदि अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता तथा वरुण, मित्र, उषस्-सूर्य आदि द्यु-स्थानीय देवताआमे परिगणित हैं। इन देवताओमे ऋग्वेदक सूक्तामे इन्द्र सर्वाधिक चर्चित देवता हे। अग्नि और साम क्रमश द्वितीय और तृतीय स्थानपर आते हैं। यम, मित्र, वरुण, रुद्र और विष्णु आदि देवताओकी स्तुति इन तीनाकी तुलनाम तो सामान्य ही है।

इतने सारे देवताआ और उनके कार्योको देखते हुए मनम यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि ये समस्त देवता एक साथ रहते हुए अपने कार्यका सम्पादन कैसे करते हैं? इसका उत्तर यह है कि वैदिक देवता परस्पर केवल अविरोध-भावसे ही नहीं, अपितु उन्नायक-भावसे भी चराचर-जगत्के जो शाश्वत नियम है, उनके अनुसार सत्य और ऋतका पालन करते हुए अपने कर्तव्याका विधिपूर्वक निर्वहन करते हैं और हमे प्रेरणा देते हैं कि सम्पूर्ण मानव-जाति शाश्वत नियमाका विधिवत् पालन करत हुए समग्र द्वन्द्व तथा द्वषको मिटाकर एक साथ मिल-जुलकर सत्कर्म

करते हुए पवित्रतापूर्ण जीवनयापन करे। यथा—'देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते' (ऋक्० १०। १९१। २)। इन देवताओंकी समग्र प्रवृत्तियाँ जगत्के कल्याणार्थ हैं। वे अज्ञान और अन्धकारसे दूर प्रकाशरूप हैं, सतत कर्मशील हैं। अत मानवमात्रका कल्याण देवताओंके साथ सायुज्य स्थापित करनेम ही है। वास्तवम वैदिक देवतावादसे प्राकृतिक शक्तियाके साथ मनुष्य-जीवनकी समीपता तथा एकरूपताकी आवश्यकताका भी हमे परिज्ञान होता है।

अथर्ववेद और ऋग्वेदमे कहा गया है कि 'सत्' तो एक ही है, किंतु उसका वर्णन विद्वद्वर्ग अग्नि, यम, वायु आदि अनक नामोसे करता है। यह एक 'सत्' परमात्मा है, जो इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि अनेक देवताओमे समाया हुआ है—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥

(अथर्ववद ९। १०। २८ ऋग्वेद १। १६४। ४६)

इस प्रकार वेदामे जिन विविध दवताआका गान हुआ है, वे सभी एकदेवतावादम अन्तर्भुक्त हैं। वेदाके इस एकदेवतावाद या एकेश्वरवादम अद्वैतवादी, सर्वदेवतावादी तथा बहुदेवतावादी दृष्टियाँ भी समाहित है, किंतु वेदाका यह एकदेवतावाद आधुनिक ईश्वरवादके स्वरूपसे यत्किंचित् भिन्न है।

अन्तम यही कहा जा सकता है कि वेदाम अभिव्यक्त विभिन्न देवताआका जो स्वरूप है, वह आदिशक्ति और सत्ताके केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं, रूप हैं, शक्तियाँ हैं। जो लोगाको प्रभावित कर उनके हृदयम आराध्य-रूपमे अवस्थित है।

श्रीगणेश—वैदिक देवता

(याज्ञिकसम्राट् प० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य)

शास्त्रोम जिस प्रकार एक ही ब्रह्म (परमात्मा)-के ब्रह्मा, विष्णु और महेश—ये तीनो रूप कहे गये हैं, उसी प्रकार 'गणेश' को भी ब्रह्मका ही विग्रह कहा गया है। जिस प्रकार एक ब्रह्मके होते हुए भी ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं, उसी प्रकार 'गणेश' की भी हैं।

समस्त देवताओमे गणेश ही एक ऐसे देवता हैं, जिनका समस्त शुभ कार्योंके प्रारम्भमं सर्वप्रथम पूजन किया जाता है। इनकी पूजा किये बिना किसी भी शास्त्रीय तथा लौकिक शुभ कर्मका प्रारम्भ नहीं होता। अतएव वेदभगवान्ने भी कहा है—

न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे॥

(ऋक्० १०। ११२। ९)

'हे गणेश! तुम्हारे बिना कोई भी कर्म प्रारम्भ नहीं किया जाता।'

जिन गणेशका प्रत्येक शुभ कार्यके प्रारम्भम सर्वप्रथम पूजन करना अनिवार्य है, उन्हे पूज्य वैदिक देवता मानकर ही उनका प्रत्येक शुभ कार्यमे पूजनके समय सर्वप्रथम स्मरण करते हुए भक्तगण कहते ह—

गणाना त्वा गणपति*हवामहे प्रियाणा त्वा प्रियपति*हवामहे निधीना त्वा निधिपति*हवामहे।

(शुक्लयजुर्वेद २३। १९)

'हे गणश! तुम्हीं समस्त देवगणाम एकमात्र गणपति (गणाके पति) हो, प्रिय विषयोके अधिपति होनेसे प्रियपति हो और ऋद्धि-सिद्धि एव निधियाके अधिष्ठाता होनेसे निधिपति हो, अत हम भक्तगण तुम्हारा नाम-स्मरण, नामोच्चारण और आराधन करते ह।'

भगवान् गणेश सत्त्व, रज और तम—इन तीना गुणोके ईश ह। गुणाका ईश ही प्रणवस्वरूप 'ॐ' हे। प्रणवस्वरूप 'ॐ' मे गणेशजीकी मूर्ति सदा स्थित रहती है। अत 'ॐ'—यह गणशजीकी प्रणवाकार मूर्ति है, जो वेदमन्त्रोके प्रारम्भम रहती है। इसीलिये 'ॐ' को गणशकी साक्षात् मूर्ति मानकर वेदाक पढनेवाल सर्वप्रथम 'ॐ' का उच्चारण करके ही वेदका स्वाध्याय करते हैं। वेदके स्वाध्यायके प्रारम्भमे 'ॐ' का उच्चारण करना गणेशजीका ही नाम-स्मरण अथवा नामोच्चारण करना है। अत सिद्ध है कि प्रणवस्वरूप 'ॐ'कार ही भगवान् गणेशकी आकृति (मूर्ति) है जो वदमन्त्राके प्रारम्भम प्रतिष्ठित है।

'गणशपुराण' म भी लिखा है—

ओंकाररूपी भगवान् यो वेदादौ प्रतिष्ठित ।
य सदा मुनयो देवा स्मरन्तीन्द्रादयो हृदि॥
ओंकाररूपी भगवानुक्तस्तु गणनायक ।
यथा सर्वेषु कार्येषु पूज्यतेऽसौ विनायक ॥

'ओंकाररूपी भगवान् जो वदाके प्रारम्भम प्रतिष्ठित हे,

जिनको सर्वदा मुनि तथा इन्द्रादि देवगण हृदयमें स्मरण करते हैं। वे आकाररूपी भगवान् गणनायक कहे गये हैं। वे ही विनायक सभी कार्योंमें पूजित होते हैं।'

गणेशजीके अनन्त नाम हैं, जिनका उल्लेख समस्त श्रुति-स्मृति-पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे मिलता है।

पुराणादिमें जिस प्रकार गणेशजीके अनेक नामोंका उल्लेख है, उसी प्रकार गणेशजीके अवतार, स्वरूप एवं महत्त्व आदिका भी वर्णन है, जो वेदोंके आधारपर ही भगवान् वेदव्यासजीने किया है।

अब हम वैदिक-संहिता तथा वैदिक वाङ्मयके कुछ महत्त्वपूर्ण मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनसे गणेशजीकी वैदिकता और महत्ता स्पष्ट सिद्ध है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥[1]
(ऋक्० २। २३। १)

'तुम देवगणोंके प्रभु होनेसे गणपति हो, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ ज्ञानी हो, उत्कृष्ट कीर्तिवालोंमें श्रेष्ठ हो। तुम शिवके ज्येष्ठ पुत्र हो, अतः हम तुम्हारा आदरसे आह्वान करते हैं। हे ब्रह्मणस्पते गणेश! तुम हमारे आह्वानको मान देकर अपनी समस्त शक्तियोंके साथ इस आसनपर उपस्थित होओ।'

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥
(ऋक्० १०। ११२। ९)

'हे गणपते! आप देव आदिके समूहमें विराजमान होइये, क्योंकि विद्वज्जन आपको ही समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कहते हैं। आपके बिना समीपका अथवा दूरका कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता। हे पूज्य एवं आदरणीय गणपते! हमारे सत्कार्योंको निर्विघ्न पूर्ण करनेकी कृपा कीजिये।'

'गणानां त्वा०' इत्यादि मन्त्रका उल्लेख तो पहले किया ही गया है।

'गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्' में गणेशके विभिन्न नामोंका उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है—

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः।

'व्रातपति अर्थात् देवसमूहके नायकको नमस्कार, गणपतिको नमस्कार, प्रमथपति अर्थात् शिवजीके गणोंके अधिनायकको नमस्कार, लम्बोदरको, एकदन्तको, विघ्नविनाशकको, शिवजीके पुत्रको और श्रीवरदमूर्तिको नमस्कार, नमस्कार।'

'यजुर्विधान' में 'गणानां त्वा०' (शुक्लयजुर्वेद २३। १९)—इस मन्त्रको गणपति-देवतापरक कहा गया है, अतः इस मन्त्रका गणेशके पूजन और हवनादिमें विनियोग होता है।

'शुक्लयजुर्वेद' (२२। ३०)-में 'गणपतये स्वाहा' से गणेशजीके लिये आहुति देनेका विधान है।

'कृष्णयजुर्वेदीय काण्वसंहिता' (२४। ४२)-में 'गणपतये स्वाहा' के द्वारा गणेशजीके निमित्त आहुति देनेके लिये कहा गया है।

'कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी-संहिता' (३। १२। १३)-में 'गणपतये स्वाहा' से गणेशजीको आहुति प्रदान करनेके लिये लिखा है।

'बौधायन-गृह्यशेषसूत्र' (३। १०। १)-के विनायककल्पमें लिखा है—

मासि मासि चतुर्थ्यां शुक्लपक्षस्य पञ्चम्यां वा अभ्युदयादौ सिद्धिकामः ऋद्धिकामः पशुकामो वा भगवतो विनायकस्य बलिं हरेत्।

अर्थात् 'प्रत्येक महीनेके शुक्लपक्षकी चतुर्थी अथवा पञ्चमी तिथिको अपने अभ्युदयादिके अवसरपर सिद्धि, ऋद्धि और पशु-कामनावाला पुरुष भगवान् विनायक (गणेश)-के लिये बलि (मोदकादि नैवेद्य) प्रदान करे।'

महर्षि पराशरने 'गणानां त्वा०' (शुक्लयजुर्वेद २३। १९)—इस मन्त्रके अन्तमें 'स्वाहा' जोड़कर गणेशजीके लिये हवन और पूजन करनेके लिये कहा है—

विनायकाय होतव्या घृतस्याहुतयस्तथा॥
सर्वविघ्नोपशान्त्यर्थं पूजयेद् यत्नतस्तु तम्।
गणानां त्वेति मन्त्रेण स्वाहाकारान्तमादृतः॥
चतस्रो जुहुयात् तस्मै गणेशाय तथाऽऽहुतीः।
(बृहत्पाराशरस्मृति ४। १७६—१७८)

आचार्य आश्वलायनने 'गणानां त्वा०'—इस मन्त्रसे गणेशजीका पूजन करनेके लिये कहा है।

भगवान् वेदव्यासजीने गणेशजीका मन्त्र 'गणानां त्वा०' लिखा है—

१-यह मन्त्र कृष्णयजुर्वेदसंहिता (२। ३। १४) और त्रिपुरातापिन्युपनिषद् (३)-में भी है।

गणाना त्विति मन्त्रेण विन्यसेदुत्तरे ध्रुवम्।

(भविष्यपुराण मध्यपर्व द्वितीय भाग २०। १४२)

बृहत्पाराशरस्मृति (११। ३३९)-मे—

आतून इन्द्रवृत्रह सुरेन्द्र सगणेश्वर ।

—इस मन्त्रको गणेश्वरपरक कहा है। ऋग्वेद (८। ८१। १) मे—

आ तू न इन्द्र क्षुमन्त चित्र ग्राभ स गृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन॥

—इस मन्त्रको गणेश्वरपरक माना है। शुक्लयजुर्वेद (३३। ६५—७२)-मे—

'आ तू न इन्द्र वृत्रहन्०' इत्यादि आठ मन्त्रोको गणपतिपरक कहा गया है। अत इन आठ मन्त्रासे गणेशजीका स्मरण, पूजन ओर हवन करनेका विधान है।

सामवेदीय रुद्राष्टाध्यायीमे 'विनायकसहिता' है, जिसम 'अदर्दरूत्०' इत्यादि आठ मन्त्र (३१५ से ३२२) गणपतिपरक कहे गये हैं। जिनका गणपति-पूजन और गणपति-हवनमे उपयोग हाता है।

उपर्युक्त प्रमाणासे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गणेशजी वैदिक देवता हैं। अतएव ऋषि-महर्षियाने 'गणानां त्वा०' आदि वैदिक मन्त्रासे गणेशजीके निमित्त पूजन हवन आदि करनेके लिये कहा है।

वेदों और उपनिषद् आदिमें गणेशजीकी विविध गायत्रियोंका उल्लेख है, जिनमे गणशजीके कराट, हस्तिमुख, तत्पुरुप, एकदन्त, वक्रतुण्ड, दन्ती, लम्बोदर, महोदर आदि अनक नाम आये हैं, जो गणेशजीके ही पर्यायवाचक नाम हैं और वे सभी नाम गणेशजीके स्वरूप और महत्त्वको व्यक्त करनेवाले हैं एव भक्ताके लिये शुभ और लाभप्रद हे। ये गणेश-गायत्रियाँ इस प्रकार हैं—

ॐ तत्करादाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(कृष्णयजुर्वेदाय मैत्रायणीसहिता २। ९। १। ६)

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचादयात्॥

(नारायणोपनिषद्)

ॐ एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्)

ॐ लम्बोदराय विद्महे महोदराय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(अग्निपुराण ७१। ६)

ॐ महोल्काय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचादयात्॥

(अग्निपुराण १७९। ४)

उपर्युक्त समस्त वैदिक प्रमाणास स्पष्ट है कि वेदादिमे तथा समस्त शास्त्राम गणेशजीका विशिष्टरूपमे वर्णन है। अत गणेशजी वेदिक देवता हैं, यह निर्विवाद है। गणेशजीको वैदिक देवता मानकर ही भक्तगण अपने प्रत्येक कार्यके प्रारम्भमे सर्वप्रथम गणेशजीका पूजन करते हैं और उनका स्मरण करते हैं।

जिस प्रकार गणेशजी वैदिक देवता हैं, उसी प्रकार वे अनादिसिद्ध, आदिदेव, आदिपूज्य ओर आदि-उपास्य हैं। 'गणेशतापिन्युपनिपद्'के 'गणेशा वै ब्रह्म' एव 'गणपत्यथर्वशीर्पोपनिषद्'के 'त्व प्रत्यक्ष ब्रह्मासि' के अनुसार गणेशजी प्रत्यक्ष ब्रह्म ही हैं। गणेशजीक 'ब्रह्म' होनके कारण ही उन्ह कर्ता, धर्ता एव सहर्ता कहा गया है। गणेशजी जीवात्माके अधिपति हैं। 'गणपत्यथर्वशीर्पोपनिषद्' में 'त्व ब्रह्मा त्व विष्णु ' इत्यादि मन्त्राद्वारा गणेशजीको 'सर्वदेवरूप' कहा गया है। अतएव गणेशजी सभीक वन्दनीय और पूजनीय हैं। प्राणिमात्रका मङ्गल करना गणेशजीका प्रमुख कार्य है, अत वे 'मङ्गलमूर्ति' कहे जाते हैं। इसलिये जा मनुष्य मङ्गलमूर्ति गणेशजीका श्रद्धा-भक्तिसे प्रतिदिन स्मरण, पूजन और उनके स्तोत्रादिका पाठ तथा गणपतितन्त्रका जप एव 'गणेशसहस्रनाम'-से हवन करता है, वह निष्पाप होकर धर्मात्मा वन जाता है। उसके यहाँ समस्त प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धिका भण्डार भरा रहता हे और वह गणशजाकी कृपास अपना ऐहलौकिक एव पारलौकिक जीवन सुखद बना लेता है। अत मनुष्यमात्रको आत्मकल्याणार्थ ऋद्धि-सिद्धि-नवनिधिक दाता मङ्गलमूर्ति गणशजीका सर्वदा समाराधन करना चाहिये।—

वैदिक देवता 'अग्नि'

(डॉ० श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे)

यह सर्वविदित है कि क्षिति, जल, पावक, गगन एव समीर—ये पञ्चमहाभूत सृष्टि सरचनामे मुख्य कारण हे। सृष्टिमे कोई ऐसा प्राणधारी जीव नहीं है, जिसक शरीर-पिण्डकी सरचनामे उक्त पञ्चतत्त्वाका योग न हो। शरीरान्त होनेपर ये पञ्चतत्त्व (तन्मात्राएँ) पञ्च महाभूताम विलीन हो जाते हैं।

यद्यपि अग्निके स्वरूपके विषयमें सब लोग जानते हैं कि अग्नि शब्द 'आग' का पर्याय है। वैदिक मन्त्राम आग्नेय मन्त्र सबसे अधिक हैं, किंतु सभी आग्नेय मन्त्रामे 'आग' वाचक अग्नि शब्द नहीं है। वेदम अग्निका वैदिक देवताके रूपम स्तवन किया गया हे। वेदम अग्निका वैदिक स्वरूप पौराणिक एव लौकिक अग्निस कुछ भिन्न है। 'आग' क अतिरिक्त अग्नि शब्दके अन्य बहुतसे अर्थ हैं, जो 'आग' के अर्थम कदापि घटित नहीं होते हैं।

वेदम अग्निके विभिन्न पर्यायवाचक शब्द हैं—जातवेदा., सप्तार्चि , सप्तजिह्व, वैश्वानर, तनूनपात्, सहसस्पुत्र इत्यादि। यास्काचार्यने अग्निके पर्यायवाचक जातवदा, वैश्वानर आदि शब्दाका भी निर्वचन किया है। नैरुक्ताके सिद्धान्तको प्रदर्शित करते हुए यास्कने मुख्यरूपसे तीन ही देवताआका उल्लेख किया है, जिनमे पृथिवी-स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु या इन्द्र एव द्यु-स्थानीय सूर्य हैं। इन तीना देवताआका अन्य किन-किन देवता तथा पदार्थोंसे सम्बन्ध तथा साहचर्य है, इसका विस्तारसे वर्णन भी किया है। इस प्रकार भक्ति (सम्बन्ध) एव साहचर्यकी दृष्टिसे पृथिवी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय एव द्यु-स्थानीय रूपोमें देवताओको विभक्त किया गया है। विवेच्य अग्नि देवता पृथिवी-स्थानीय हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोके अनुसार ही यास्कने अग्नि-पदका निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अग्निका अग्नि नाम इसलिये है, क्योकि वह अगुआ (प्रधान) होता है। अग्नि सब देवोमे पहले उत्पन्न हुआ है अत वह 'अग्नि' है। अग्नि ही परोक्ष नामसे अग्नि है[१]। वह सब जगह, सब बातोमे, ऐसा उपकार करता है कि स्वत ही अगुआ हो जाता है। वह अग्नि इसलिये भी है कि उसे यज्ञ-यागादिमे सबसे पहले ले जाया जाता है। वह सभी तृण-काष्ठादि पदार्थोंका आश्रय पाकर उनको अपने अधीन (आत्मसात्) कर लेता है। यह स्निग्ध नहीं होता है, अपितु सभी रसाको सुखा देता है। जहाँ जाता है वहाँके सब पदार्थोंको विरूक्ष कर देता है—इसलिये भी यह अग्नि अग्नि कहा जाता है। शाकपूणि आचार्यने तीन क्रियाओ (गति, दहन तथा प्रापण)-के योगसे अग्नि-पदकी सिद्धि की है। अग्निके पर्यायवाचक शब्दाका जो पहले उल्लेख किया है, उन पर्यायवाचक शब्दाम भी अग्निके व्यापक रूपका वर्णन किया गया है। अग्निके पर्यायवाचक वैश्वानर शब्दको लेकर यास्कने कई आचार्योंके मताका उल्लेख किया है। कोई आचार्य इस वैश्वानरको मध्यमधर्मा विद्युत् एव कोई आदित्य मानता है। शाकपूणि आचार्यने अग्निको ही वैश्वानर माना है।

स्वरूप

अग्नि मुख्य वैदिक दवता है, अत इसके स्वरूपको जानना भी अत्यावश्यक है। निरुक्तशास्त्रके अनुसार देवताओंके आकार चिन्तनमे यह सशय होता है कि क्या इन अग्नि आदि देवताआका कोई आकार है कि नहीं? आकारवाले पदार्थ चेतन एव अचेतन दो प्रकारके होते हैं। मनुष्यादि चेतन हैं एव पाषाणादि अचेतन हैं। कुछ आचार्योका मत है कि देवताआका आकार मनुष्याकी आकृति-जैसा है, क्योकि मन्त्राम चेतनावालोकी तरह देवताओकी स्तुति की गयी है। चेतनावाले मनुष्योकी तरह इन देवताओके परस्पर अभिधान होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थोमे मनुष्याकी तरह देवताओमें परस्पर सवाद एव वाद-विवाद आदि उपलब्ध होता है। कर-चरणादि अङ्ग, सुख-सुविधाके लिये रथ, घोडे, स्त्री आदि साधन तथा खाना-पीना आदि कार्य मनुष्योकी तरह देवताआके भी होते हैं। अत देवता मनुष्याकी तरह ही होते

१- तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत। तस्मादग्निरग्निर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति (श०ब्रा० २। २। ४। २)।

हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि देवताओंकी आकृति मनुष्याकी तरह नहीं होती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा आदिका मनुष्याकार नहीं है। यह जो कहा गया है कि चेतनावालोकी तरह इन देवताओकी स्तुति है, वह तो अचेतनम भी घटित होता है। पाषाण खण्ड (सोमलताको कूटनेसे हरित वर्णवाले पत्थर) सोमलताको कूटनेसे ध्वनित होकर मानो अपने हरित वर्णवाले मुखासे बुला रहे हे[1]। सिन्धु नदी व्यापक पानीरूपी रथको जोडे हुए अर्थात् धारण किये हुए हैं[2]। ग्रावस्तुति (पत्थरोकी स्तुति)-मे आलकारिक वर्णन किया गया है कि शिलाओ (सोमलताको कूटनेवाले पाषाण एव आधारभूत पाषाण-खण्ड)-ने होता (ऋत्विक्)-से पहले हविका भक्षण कर लिया[3]। अत यह सिद्ध हुआ कि देवता मनुष्य-सदृश हैं और नहीं भी हैं। अर्थात् अचेतन दवता कर्मस्वरूप है तथा चेतन उसका अधिष्ठातृ देवता हे। जैसे यज्ञ अचेतन रूपसे यजमानके अधीन है, किंतु यज्ञका अधिष्ठातृ देव (यज्ञनारायण) चेतन एव स्वतन्त्र है। वह यजमानका आराध्य है। महाभारतम आख्यानोद्वारा इसी सिद्धान्तको प्रदर्शित किया गया है कि पृथिवीने स्त्री-रूप धारण कर ब्रह्माजीसे अपना भार हलका करनेके लिये याचना की। अग्निने ब्राह्मणका रूप धारण कर वासुदेव एव अर्जुनसे खाण्डव-वन-दहनकी याचना की। मन्त्रार्थ, वर्ग-दृष्टिसे यास्कने देवतावादको चार प्रकारोम प्रस्तुत किया है—(१) पुरुषविध, (२) अपुरुषविध, (३) नित्य उभयविध और (४) कर्मार्थ आत्मोभयविध।

प्रस्तुत अग्निदेवता नित्य उभयविध है। अर्थात् अपुरुषविध तथा पुरुषविध। अपुरुषविध अग्निके द्वारा दाह, पाक, प्रकाश एव यज्ञ-यागादिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञ-यागादिक धर्म-कर्ममे अग्नि देवताके नित्य उभयविधा (दानो प्रकार)-को ही स्वीकार किया गया है। अन्यथा कर्म (कर्मफल) तथा मन्त्रार्थ दोनो ही सम्पन्न नहीं हागे। मन्त्रामे अधिष्ठातृ अग्निदेवताकी ही स्तुति की गयी। यह अग्नि पुरुषविध भी है तो यह अग्निपुरुष कैसा है? यह जिज्ञासा होती है। अत इस अग्निपुरुषके स्वरूपको समझ लेना चाहिये।

यज्ञ-यागादि कर्ममे अग्निका पूजन कर उसके ध्यानम बतलाया गया है कि अग्निदेवके सात हाथ, चार सींग, सात जिह्वा[4], दो सिर और तीन पैर हैं[5]। उस अग्निक दाहिने पार्श्वम स्वाहा तथा बाय पार्श्वमे स्वधादेवी विराजमान हैं। वह दाहिने चार हाथोम क्रमश शक्ति (आयुध), अन्न, स्रुक् एव स्रुवेको तथा बाय तीन हाथामे तोमर (गँडासा), व्यजन (पखा) एव घृतपात्रको धारण किये हुए सुखपूर्वक यजन करनेवालेके सन्मुख पवित्र, प्रसन्नमुद्रामे विराजमान है। इस अग्निदेवका शाण्डिल्य गोत्र तथा शाण्डिल्य, असित एव देवल—ये तीन प्रवर हैं। भूमि इसकी माता, वरुण पिता तथा इसकी ध्वजामे मेष (भेडा) अकित है। कहीं-कहीं इसका वाहन भी मेष बतलाया गया हे। उपर्युक्त वर्णनमे अग्निक आलकारिक स्वरूपको समझना चाहिये।

कर्मकाण्डकी दृष्टिसे अग्निके अनेक नाम

श्रौत, स्मार्त एव गृह्य-कर्मकी दृष्टिसे एक ही अग्निके कई भेद एव उसके विविध नाम हो जाते हैं।

सोमयागकी अग्निष्टाम आदि सात सस्थाआ एव अन्य श्रौतयागामे मुख्यरूपसे (१) आहवनीय, (२) गार्हपत्य एव (३) दक्षिणाग्नि—ये तीन श्रौताग्नियाँ कही जाती हैं। सौमिक वेदीमे स्थित आहवनीय एव गार्हपत्य अग्नि कर्म तथा स्थानके भेदसे शालाद्वार्य और प्राजहितक नामसे भी अभिहित होता है। उक्त आहवनीय अग्निको अरणिमथनके द्वारा उत्पन्न किया जाता हे। मथनद्वारा बलपूर्वक मथकर निकाले जानेके कारण यह सहसस्पुत्र या 'बलपुत्र' कहा

१-'अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभि ' (ऋक्० १०। ९४। २)।
२-'सुख रथ युयुजे सिन्धुरश्विनम् (ऋक्० १०। ७५। ९)।
३- होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत'॥ (ऋक्० १०। ९४। २)
४-काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥ (मुण्डक० १। २। ४)
५-'चत्वारि शृङ्गा०' (शुक्लयजु० १७। ९१)।

वैदिक देवता 'अग्नि'

(डॉ० श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे)

यह सर्वविदित है कि क्षिति, जल, पावक, गगन एव समीर—ये पञ्चमहाभूत सृष्टि सरचनामें मुख्य कारण हैं। सृष्टिमे कोई ऐसा प्राणधारी जीव नहीं है, जिसके शरीर-पिण्डकी सरचनाम उक्त पञ्चतत्त्वाका योग न हो। शरीरान्त होनेपर ये पञ्चतत्त्व (तन्मात्राएँ) पञ्च महाभूताम विलीन हो जाते हैं।

यद्यपि अग्निके स्वरूपके विषयमे सब लोग जानते हैं कि अग्नि शब्द 'आग' का पर्याय है। वैदिक मन्त्राम आग्नेय मन्त्र सबसे अधिक हैं, किंतु सभी आग्नेय मन्त्राम 'आग' वाचक अग्नि शब्द नहीं है। वेदमे अग्निका वैदिक देवताके रूपमे स्तवन किया गया हे। वेदम अग्निका वैदिक स्वरूप पौराणिक एव लौकिक अग्निसे कुछ भिन्न है। 'आग' के अतिरिक्त अग्नि शब्दके अन्य बहुतसे अर्थ हैं, जो 'आग' के अर्थमे कदापि घटित नहीं होते हैं।

वेदमें अग्निके विभिन्न पर्यायवाचक शब्द हैं—जातवेदा, सप्तार्चि, सप्तजिह्व, वैश्वानर, तनूनपात्, सहसस्पुत्र इत्यादि। यास्काचार्यने अग्निके पर्यायवाचक जातवेदा, वैश्वानर आदि शब्दाका भी निर्वचन किया है। नैरुक्तोके सिद्धान्तको प्रदर्शित करते हुए यास्कने मुख्यरूपसे तीन ही देवताआका उल्लेख किया है, जिनमे पृथिवी-स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु या इन्द्र एव द्यु-स्थानीय सूर्य हैं। इन तीनो देवताओका अन्य किन-किन देवता तथा पदार्थोंसे सम्बन्ध तथा साहचर्य है, इसका विस्तारसे वर्णन भी किया है। इस प्रकार भक्ति (सम्बन्ध) एव साहचर्यकी दृष्टिसे पृथिवी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय एव द्यु-स्थानीय रूपोमे देवताओको विभक्त किया गया है। विवेच्य अग्नि देवता पृथिवी-स्थानीय हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोके अनुसार ही यास्कने अग्नि-पदका निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अग्निका अग्नि नाम इसलिये है, क्योकि वह अगुआ (प्रधान) होता है। अग्नि सब देवोम पहले उत्पन्न हुआ है अत वह 'अग्रि' है। अग्नि ही परोक्ष नामसे अग्नि है[१]। वह सब जगह, सब बाताम, ऐसा उपकार करता है कि स्वत ही अगुआ हो जाता है। वह अग्नि इसलिये भी है कि उसे यज्ञ-यागादिम सबसे पहले ले जाया जाता है। वह सभी तृण-काष्ठादि पदार्थोंका आश्रय पाकर उनको अपने अधीन (आत्मसात्) कर लेता है। यह स्निग्ध नहीं होता है, अपितु सभी रसोको सुखा देता है। जहाँ जाता है वहाँके सब पदार्थोंको विरूक्ष कर देता है—इसलिये भी यह अग्नि अग्नि कहा जाता है। शाकपूणि आचार्यने तीन क्रियाओ (गति, दहन तथा प्रापण)-के योगसे अग्नि-पदकी सिद्धि की है। अग्निके पर्यायवाचक शब्दाका जो पहले उल्लेख किया है, उन पर्यायवाचक शब्दाम भी अग्निके व्यापक रूपका वर्णन किया गया है। अग्निके पर्यायवाचक वैश्वानर शब्दको लेकर यास्कने कई आचार्योके मताका उल्लेख किया है। कोई आचार्य इस वैश्वानरको मध्यमधर्मा विद्युत् एव कोई आदित्य मानता है। शाकपूणि आचार्यने अग्निको ही वैश्वानर माना है।

स्वरूप

अग्नि मुख्य वैदिक देवता है, अत इसके स्वरूपको जानना भी अत्यावश्यक है। निरुक्तशास्त्रके अनुसार देवताओंके आकार चिन्तनमे यह सशय होता है कि क्या इन अग्नि आदि देवताओका कोई आकार है कि नहीं? आकारवाले पदार्थ चेतन एव अचेतन दो प्रकारके होते हैं। मनुष्यादि चेतन हैं एव पाषाणादि अचेतन हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि देवताओका आकार मनुष्योकी आकृति-जैसा है, क्योकि मन्त्राम चेतनावालोकी तरह देवताओकी स्तुति की गयी है। चेतनावाले मनुष्योकी तरह इन देवताओके परस्पर अभिधान होते हे। ब्राह्मणग्रन्थोम मनुष्योकी तरह देवताओमे परस्पर सवाद एव वाद-विवाद आदि उपलब्ध होता है। कर-चरणादि अङ्ग, सुख-सुविधाके लिये रथ घोडे, स्त्री आदि साधन तथा खाना-पीना आदि कार्य मनुष्योकी तरह देवताओके भी होते हैं। अत देवता मनुष्योकी तरह ही होते

१- तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत। तस्मादग्निरग्निर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति (श०ब्रा० २। २। ४। २)।

हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि देवताओंकी आकृति मनुष्योंकी तरह नहीं होती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा आदिका मनुष्याकार नहीं है। यह जो कहा गया है कि चेतनावालोंकी तरह इन देवताओंकी स्तुति है, वह तो अचेतनमें भी घटित होता है। पाषाण खण्ड (सोमलताको कूटनेसे हरित वर्णवाले पत्थर) सोमलताको कूटनेसे ध्वनित होकर मानो अपने हरित वर्णवाले मुखोंसे बुला रहे हैं[१]। सिन्धु नदी व्यापक पानीरूपी रथको जोड़े हुए अर्थात् धारण किये हुए हैं[२]। ग्रावस्तुति (पत्थरोंकी स्तुति)-में आलंकारिक वर्णन किया गया है कि शिलाओं (सोमलताको कूटनेवाले पाषाण एवं आधारभूत पाषाण-खण्ड)-ने होता (ऋत्विक्)-से पहले हविका भक्षण कर लिया[३]। अतः यह सिद्ध हुआ कि देवता मनुष्य-सदृश हैं और नहीं भी हैं। अर्थात् अचेतन देवता कर्मस्वरूप है तथा चेतन उसका अधिष्ठातृ देवता है। जैसे यज्ञ अचेतन रूपसे यजमानके अधीन है, किंतु यज्ञका अधिष्ठातृ देव (यज्ञनारायण) चेतन एवं स्वतन्त्र है। वह यजमानका आराध्य है। महाभारतमें आख्यानोंद्वारा इसी सिद्धान्तको प्रदर्शित किया गया है कि पृथिवीने स्त्री-रूप धारण कर ब्रह्माजीसे अपना भार हलका करनेके लिये याचना की। अग्निने ब्राह्मणका रूप धारण कर वासुदेव एवं अर्जुनसे खाण्डव-वन-दहनकी याचना की। मन्त्रार्थ, वर्ग-दृष्टिसे यास्कने देवतावादको चार प्रकारोंमें प्रस्तुत किया है—(१) पुरुषविध, (२) अपुरुषविध, (३) नित्य उभयविध और (४) कर्मार्थ आत्मोभयविध।

प्रस्तुत अग्निदेवता नित्य उभयविध है। अर्थात् अपुरुष-विध तथा पुरुषविध। अपुरुषविध अग्निके द्वारा दाह, पाक, प्रकाश एवं यज्ञ-यागादिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञ-यागादिक धर्म-कर्ममें अग्नि देवताके नित्य उभयविधा (दोनों प्रकार)-को ही स्वीकार किया गया है। अन्यथा कर्म (कर्मफल) तथा मन्त्रार्थ दोनों ही सम्पन्न नहीं होंगे। मन्त्रोंमें अधिष्ठातृ अग्निदेवताकी ही स्तुति की गयी। यह अग्नि पुरुषविध भी है तो यह अग्निपुरुष कैसा है? यह जिज्ञासा होती है। अतः इस अग्निपुरुषके स्वरूपको समझ लेना चाहिये।

यज्ञ-यागादि कर्ममें अग्निका पूजन कर उसके ध्यानमें बतलाया गया है कि अग्निदेवके सात हाथ, चार सींग, सात जिह्वा[४], दो सिर और तीन पैर हैं[५]। उस अग्निके दाहिने पार्श्वमें स्वाहा तथा बायें पार्श्वमें स्वधादेवी विराजमान हैं। वह दाहिने चार हाथोंमें क्रमशः शक्ति (आयुध), अन्न, स्रुक् एवं स्रुवेको तथा बायें तीन हाथोंमें तोमर (गँडासा), व्यजन (पंखा) एवं घृतपात्रको धारण किये हुए सुखपूर्वक यजन करनेवालेके सन्मुख पवित्र, प्रसन्नमुद्रामें विराजमान है। इस अग्निदेवका शाण्डिल्य गोत्र तथा शाण्डिल्य, असित एवं देवल—ये तीन प्रवर हैं। भूमि इसकी माता, वरुण पिता तथा इसकी ध्वजामें मेष (भेड़ा) अंकित है। कहीं-कहीं इसका वाहन भी मेष बतलाया गया है। उपर्युक्त वर्णनमें अग्निके आलंकारिक स्वरूपको समझना चाहिये।

कर्मकाण्डकी दृष्टिसे अग्निके अनेक नाम

श्रौत, स्मार्त एवं गृह्य-कर्मकी दृष्टिसे एक ही अग्निके कई भेद एवं उसके विविध नाम हो जाते हैं।

सोमयागकी अग्निष्टोम आदि सात संस्थाओं एवं अन्य श्रौतयागोंमें मुख्यरूपसे (१) आहवनीय, (२) गार्हपत्य एवं (३) दक्षिणाग्नि—ये तीन श्रौताग्नियाँ कही जाती हैं। सौमिक वेदीमें स्थित आहवनीय एवं गार्हपत्य अग्नि कर्म तथा स्थानके भेदसे शालाद्वार्य और प्राजहितके नामसे भी अभिहित होता है। उक्त आहवनीय अग्निको अरणिमथनके द्वारा उत्पन्न किया जाता है। मथनद्वारा बलपूर्वक मथकर निकाले जानेके कारण यह सहसस्पुत्र या 'बलपुत्र' कहा

१-'अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः' (ऋक्० १०। ९४। २)।
२-'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' (ऋक्० १०। ७५। ९)।
३-'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत ॥ (ऋक्० १०। ९४। २)
४-काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥ (मुण्डक० १। २। ४)
५-'चत्वारि शृङ्गा०' (शुक्लयजु० १७। ९१)।

जाता है। शवको जलानेवाली अग्निका नाम 'क्रव्याद' है। श्रौत या स्मार्त अग्निमे सूक्ष्मरूपसे कहीं 'क्रव्याद' एव आमाद अग्नि छिपे न हो, अत स्थण्डिल (वेदी) या कुडम स्थापित करनेके पहले नैर्ऋत्यकोणमे 'क्रव्याद' एव आमाद अग्निके अशको बाहर कर दिया जाता है[१]।

श्रौतकर्मके बाद स्मार्तकर्मका क्रम आता है। प्राय सभी गृह्यकर्म 'गृह्य-आवसथ्य' अग्निम किये जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति विवाहके समयम 'आवसथ्य' अग्निका आधान (ग्रहण) नहीं कर पाता है तो सभी गृह्यकर्म लौकिक अग्निमें करने चाहिये। षोडश-सस्कार एव अन्य स्मार्तकर्मोंमे इस लौकिक अग्निके भिन्न-भिन्न नाम हैं। लौकिक होमम जिस अग्निका स्थापन होता है, उसका सामान्य रूपसे 'पावक' नाम होता है। तत्तत् कर्मविशेषम जिन-जिन अग्नियोंका स्थापन किया जाता है, उन-उन अग्नियोंके अलग-अलग नाम हे, जिनका 'सग्रह' एव 'प्रयोगरत्न' नामक ग्रन्थम उल्लेख किया गया है।

अग्निदेवताका बीज मन्त्र 'र' तथा मुख्य मन्त्र 'र वह्निचैतन्याय नम ' है।

ध्यान एव नमस्कार-मन्त्र

प्रपञ्चसार, शारदातिलक तथा श्रीविद्यार्णव आदि तन्त्र-ग्रन्थोमे उनके ध्यान एव नमस्कारके कई मन्त्र मिलते ह, जिनका आशय प्राय समान ही है। यहाँ शारदातिलकके कुछ ध्यान उद्धृत किये जाते हैं—

इष्ट शक्ति स्वस्तिकाभीतिमुच्चै-
दीर्घैर्दोर्भिर्धारयन्त जवाभम्।
हेमाकल्प पद्मसस्थ त्रिनेत्र
ध्यायेद्वह्नि बद्धमौलि जटाभि ॥

(५। ३४)

'अग्निदेव अपनी बडी-बडी चार भुजाओमे क्रमश वरमुद्रा, अभयमुद्रा, शक्ति एव स्वस्तिकको धारण किये हुए हैं। इनके तीन नेत्र हैं और शिरोभागम जटाएँ सुशोभित हैं। ये कमलके आसनपर विराजमान हैं तथा इनकी कान्ति जपापुष्पके समान लाल है।'

अग्नि प्रज्वलित वन्दे जातवेद हुताशनम्।
सुवर्णवर्णममल समिद्ध विश्वतोमुखम्॥

(५। १९)

'मैं जाज्वल्यमान अग्निदेवकी वन्दना कर रहा हूँ, जो धन-धान्यको देनेवाले हैं तथा समस्त देवताओंके हविर्भागको यथास्थान पहुँचा देते हैं। इनकी कान्ति प्रज्वलित स्वर्णकी-सी है तथा इनकी ज्वालाएँ दसो दिशाओमे व्याप्त हैं। ये पूर्णरूपसे अपने तेजोमय रूपम स्थित हैं।'

वैदिक वाङ्मयमे इन्द्रका चरित्र

(श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

वेदोमे लगभग ३३ करोड देवी-देवताओंकी अभिव्यक्ति की गयी है। उन देवताओको तीन वर्गोंम विभक्त किया गया है—(१) द्यु-स्थानीय (आकाशवासी) देवता, (२) अन्तरिक्ष (मध्य)-स्थानीय देवता तथा (३) पृथिवी-स्थानीय देवता।

इनम अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओमे 'इन्द्र'-का नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। भारतीय आर्योंके सर्वाधिक प्रिय वैदिक देवता 'इन्द्र' की स्तुतिमे ऋग्वेदमे लगभग २५० सूक्त कहे गये हैं तथा आंशिक स्तुतिके सूक्तोको मिलानेपर इनकी सख्या लगभग ३०० तक पहुँचती है। अत वेदोके सर्वाधिक स्तोतव्य इन्द्रदेवके चरित्रका अध्ययन करना आवश्यक दीखता है।

इन्द्र शत्रुसहारक-रूपमे—ऋग्वेदम इन्द्रको वृत्रासुरका विनाशक, शत्रुपुरीका विध्वसक[२], शम्बर नामक दैत्यके पुराका नाश करनेवाला[३], रथियोमे सर्वश्रेष्ठ, वाजिपतियोका स्वामी[४], दुष्ट-दलनकर्ता[५], शत्रुओको पर्वतकी गुफाओमे खदेडनेवाला[६] तथा वीरोके साथ युद्धम विजयी बतलाया गया है[७]। वहाँ ऐसा भी उल्लेख हे कि इन्द्र मात्र अपने आयुध वज्रसे ही सम्पूर्ण शत्रुओको पराजित करनेकी अद्भुत क्षमता रखते हे। परतु अथर्ववेदके एक स्थानपर वज्रके आयुधके स्थानपर हाथोम बाण एव तरकस लेकर उनके

१- निष्क्रव्याद ७ सधा (शुक्लयजु० १। १७) २-ऋग्वेद २। २०। ७ ३-ऋक्० ६। ३१। ४ ४-ऋक्० १। ११। १ ५-ऋक्० ३। ३०। १७ ६-ऋक्० २। १२। ४ ७-ऋक्० १। १७८। ३।

युद्ध करनेका उल्लेख भी मिलता है[१]। ब्राह्मणग्रन्थाम इन्द्रको वृत्रासुर नामक दैत्यका नाश करनेवाला[२], नमुचि नामक दैत्यका सहार करनेवाला[३], महान् बलवान्[४] तथा देवताआम अत्यन्त बलशाली कहा गया है[५]। उपनिषदोमें इन्द्र त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपका, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रद्वारा सहार करनेवाला कहा गया है। इन्द्रने आश्रमोचित आचरणसे भ्रष्ट अनेक सन्यासियाके अङ्ग-भङ्ग कर उनके टुकडे शृगालोंको बाँट दिये थे। उन्हे प्रह्लादके परिचारक दैत्याको मौतके घाट उतारनेवाला भी कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्र पुलोमासुरके परिचायक दानवो तथा पृथ्वीपर रहनेवाले कालकाश्य नामक दैत्यका सहार करनेवाला भी कहा गया है[६]।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मयमे ऋग्वेदसे उपनिषद्‌तक इन्द्रका एक महान् शत्रुसहारकके रूपमे विशद वर्णन मिलता है। आभिचारिक पूजन-हेतु इन्द्रकी प्रतिमाका निर्माण भी होता था। युद्धके देवताके रूपमे, शत्रुका पराजित करनेवाले स्वरूपको व्यक्ति पूजते थे तथा कामना करते थे कि इन्द्र उन्हे उनके शत्रुओके विरुद्ध युद्धम विजय प्राप्त कराते। वैदिक साहित्यमे इन्द्रकी राष्ट्रिय देवता या युद्धके देवताके रूपमे ख्याति सतत बनी हुई देखी जा सकती है।

इन्द्र महान् सत्ताधारी-रूपमे—ऋग्वेदमे इन्द्रके प्रभावको आकाशसे भी अधिक श्रेष्ठ, उनकी महिमाको पृथ्वीसे भी अधिक विस्तीर्ण तथा भीषण, बलमे सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ कहा गया है[७]। उल्लेख है कि उन्होने आकाशमे द्युलोकको स्थिर किया। द्यावा-पृथ्वी-अन्तरिक्षको अपने तेजसे पूर्ण किया तथा विस्तीर्ण पृथ्वीको धारण कर उसको प्रसिद्ध किया[८]। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थोम इन्द्रको सूर्य[९], वाणी[१०] तथा मन[११]-का राजा[१२] कहा गया है। उपनिषदामे इन्द्रको अन्य देवताआसे श्रेष्ठ कहा गया है[१३]। स्वरोको इन्द्रकी आत्मा[१४] तथा प्राणको स्वय इन्द्र कहा गया है[१५]। इन्द्रके आश्रित होकर ही समस्त रुद्रगण जीवन धारण करते है[१६]। इन्द्रका स्पष्टरूपसे देवता मानते हुए उनकी स्तुति करनेका निर्देश दिया गया है[१७]। गर्भाधानके समय इन्द्रको देवता मानत हुए उनका यजन करनेका उल्लेख है[१८]। देवलाकको इन्द्रलोकसे ओतप्रोत बताते हुए[१९] कहा गया है कि दक्षिण नेत्रमे विद्यमान पुरुप इन्द्र ही है[२०]। इन्द्रको आत्मा, ब्रह्मा एव सर्वदेवमय कहा गया है[२१]। इन्द्रका प्रिय धाम स्वर्ग है[२२] तथा वायुमण्डलम विद्यमान पुरुष भी इन्द्र ही है[२३]।

इस प्रकार इन्द्र महान् सत्ताधारीके रूपम सार्वभौमिक स्वरूपको अग्रसर करते हुए अपनी सत्ताको विद्यमान रखनेम पूर्णरूपसे सफल रहे। वैदिक कालम उनकी सत्ता, प्रभुता एव सम्पन्नता निश्चितरूपसे उनकी सार्वभौमिकताका प्रस्तुत करती है। उनका प्रत्येक स्थलपर उपस्थित रहना, सर्वत्र विद्यमान रहना, निश्चितरूपसे उनकी लोकप्रियताको प्रस्तुत करता है।

इन्द्र महाप्रज्ञावान्-रूपम—ऋग्वेदम इन्द्रकी बुद्धिकी प्रशसा की गयी है[२४]। ब्राह्मणग्रन्थाम इन्द्रको श्रुति[२५] एव वीर्य[२६] कहा गया है। पाणिनिने अपने 'अष्टाध्यायी' म इन्द्रको इन्द्रियोका शासक बताते हुए कहा कि इन्द्रसे ही इन्द्रियाको शक्ति मिलती है[२७]। उपनिषदाक अनुसार इन्द्रने प्रजापतिके समीप १०१ वर्षोंतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए ज्ञान प्राप्त किया था[२८]। उन्हाने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना था[२९] तथा दिवादासका पुत्र प्रतर्दन उनके समाप ज्ञान प्राप्त करने गया था, जिसे उन्हाने ज्ञान प्रदान किया[३०]। इन्द्रको ब्रह्ममन्दिरके द्वारका रक्षक कहा गया ह[३१] तथा प्रज्ञाका

१-अथर्ववेद १९। १३। ४, २-तैत्तिरीयब्राह्मण २। ४। ३, ३-वही १। ७। १, ४-शतपथब्रा० ११। ४। ३। १२ तैत्तिरीयब्रा० २। ५। ७। ४ मैक्डानल-'वैदिक माइथालोजी' ५३—६३, ५-कौपीतकिब्राह्मण ६। १४, ६-कौपीतकि-उप० ३। १ ७-ऋग्वेद १। ५५। १ ८-वही २। १५। २ ९-शतपथब्राह्मण ८। ५। ३। २ १०-जैमिनीयब्राह्मण १। ३३। २ ११-गोपथब्राह्मण ४। ११, १२-तैत्तिरीयब्रा० ३। ८। २३। २ कौषीतकिब्राह्मण ६। ९ १३-केनोपनिषद् ४। १-२ १४-छान्दोग्योपनिषद् २। २२। २ १५-कठोपनिषद्, १६-छान्दोग्याप० ३। ७ १७-बृहदारण्यक० १। ४। ५-६ १८-छान्दोग्य०, १९-बृहदारण्यक० ३। ६। १ २०-वही ४। २। २ २१-एत० उप० १। ३। १४ ३। १। ३ २२-कौपीतकि-उप० ३। १ २३-वही २४-ऋग्वेद १। ५४। ८, २५-तैत्तिरीयब्राह्मण २। ३। १ २६-ताण्ड्यब्राह्मण ९। ७। ५ ऐतरेयब्राह्मण ८। ७ २७-पाणिनिका अष्टाध्यायी सूत्रपाठ ५। २। ९३ २८-छान्दोग्योपनिषद् ८। ११। ३ २९-केनापनिषद् ४। २ ३०-कौषीतकि-उपनिषद् ३। १ ३१-कौपीतकि-उप० १। ३।

साक्षात् रूप प्राण कहा गया है[१]। एक स्थानपर तो उनको आयु एव अमृत भी कहा गया है[२]।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि 'इन्द्र' की प्रसिद्धि उनकी अपरिमित अजेयता, वीरता, सार्वभौमिकता एव ज्ञान आदिकी पराकाष्ठाके सारभूत तत्त्वाकी अधिकताके कारण ही रही। इसी कारण उनका चरित्र आज भी एक उल्लेखनीय व्यक्तित्वके रूपम उपस्थित है। उनकी लाकप्रियताको बनाये रखनमे उनके चरित्रका विशेष योगदान रहा है, जिसके कारणस्वरूप वे आज भी एक महान् देवताके रूपमे जाने जाते है। यद्यपि कालके प्रभावसे देवताओके महत्त्व घटते-बढते रहे, किंतु इनके चरित्र एव महत्त्व आज भी उल्लेखनीय हैं। वे आज भी स्वर्गक राजा हैं ओर उन्ह दवताआका सहयोग सदा रहा है।

आख्यान—

मरुद्गणोका देवत्त्व

दैत्योकी माता दितिने अपने पति कश्यप ऋषिसे कहा—'देवगण हमेशा हमारी सतानाको मारनेके लिये तरह-तरहके उपाय करते रहते हैं। हमारी एक एसी सतान होनी चाहिये, जो इन्द्रका वध कर सके।'

पति-पत्नी दानाने ऐसा सकल्प किया। कुछ दिनोके बाद दिति गर्भवती हुई। इन्द्रको पता लगा कि दितिने ऐसी सतानकी कामना करके गर्भ धारण किया है, जो पैदा होनेके बाद उसका वध कर सके।

इन्द्रका सदासे अपना पद, अपनी प्रतिष्ठा तथा अपना प्राण प्यारा रहा है। इसको बचानेके लिये वे काई भी उचित-अनुचित कदम उठा सकते थे। इसके लिये वे किसी नीति-अनीतिका विचार नहीं करते थे।

दितिके प्रसवस पूर्व एक दिन इन्द्र छलपूर्वक सूक्ष्मरूपसे दितिके पटम घुस गये और उस गर्भस्थ शिशुके सात टुकड कर दिय। टुकडाम बँट जानेपर भी वह बच्चा रोता रहा तो इन्द्रने उन्ह चुप करनक लिये उन साताके सात-सात टुकडे कर दिय। इस प्रकार उनचास टुकडे हो जानेपर कहा—'मा रुदत, मा रुदत' अर्थात् मत रोओ, मत राआ।

वह बच्चा ऋषि-शक्तिसे सम्पन्न था, अत टुकडामें बँटनपर भी मरा नहीं, वल्कि उनचास खण्डाम जन्मा। उतने बच्चाको एक साथ रोते देखकर माँ दिति घवरा गयी और उसने भी 'मा रुदत', 'मा रुदत' कहकर चुप कराया। इस तरह उन बच्चाका नाम ही 'मरुत्' हो गया। वे सब सख्याम उनचास थे।

जब इन्द्रका पता चला कि दितिको यह ज्ञात हो गया है कि उसके बच्चका इस प्रकार उनचास टुकडाम बाँट देनेका जघन्य कार्य इन्द्रने किया है ता डरके मारे वह कश्यप ओर दितिके पास आया तथा उसने हाथ जोडकर क्षमा माँगी। अपने इस पापके प्रायश्चित्तके लिये इन मरुताको दवश्रेणी प्रदान करने तथा यज्ञभाग पानेका अधिकारी बनाया। दिति और कश्यपको इससे सतोष हुआ। व सब मिलकर 'मरुद्गण' कहलाये।

बडे होनेपर मरुद्गणाको द्युलोक तथा अन्तरिक्षम स्थान दिया गया। ये इन्द्रकी वडी सहायता करते थे। जिस ओर भी ये चलते थे वायुम प्रकम्प पैदा होता था तथा वायुकी वक्रतासे उसमे विद्युत् पैदा होती थी। ऐसे अवसरपर कहा जाता था कि *'चले मरुत उनचास।'*

एक बार इन्द्र तथा मरुद्गणामे किसी प्रकारका विवाद हो गया। इन्द्र रुष्ट हो गये और उन्होने व्यवस्था की कि अब यज्ञम मरुद्गणाको दवा-जैसा यज्ञभाग नहीं मिलेगा। मरुद्गणाको इन्द्रके इस निणयका पता नहीं चला, परतु एक बार महर्षि अगस्त्यन एक यज्ञ शुरू किया तो उसम देवा तथा मरुद्गणाको हविष्य डालनेको कहा।

इन्द्रने कहा—'ऋषिवर मरुद्गणाको यज्ञभागसे वचित कर दिया गया है। अब इन्ह यज्ञम भाग लेनेका अधिकार नहीं और न ही ये यज्ञाग्निम हविष्य डाल सकग।'

इन्द्रका यह निर्णय सुनकर महर्षि अगस्त्यने कुछ नहीं कहा पर मरुद्गणाने इस अपना अपमान तथा पराभव समझा। क्रोधित होकर वे यज्ञवेदीसे उठ गये। मरुद्गणाक इस प्रकार यज्ञवेदीसे क्रोधित हो उठकर जाते देख महर्षि अगस्त्यने इन्द्रस कहा—'इन्द्र! तुम्हारी शक्ति पद प्रतिष्ठा तथा पूजा समस्त देवाके सहयोग

१-कौषीतकि-उप० ३। २ २-कौषीतकि-उप० १। ३।

तथा कार्यसे होती है। चूँकि तुम देवताओंके राजा हो, इसलिये सारा यश और प्रतिष्ठा तुम्हें मिलती है और सर्वत्र सबसे बढ़कर तुम्हारी ही पूजा होती है। यह मत भूलो कि यदि ये देवगण एक-एक कर तुमसे असहयोग करने लगेंगे तो तुम्हारी शक्ति शून्य हो जायगी। इन मरुद्गणोंकी शक्ति नहीं जानते और यह भी नहीं जानते कि इन्हींके सहयोगसे भूमण्डलमें तुम्हें सर्वपूज्य देवता माना गया है।'

'ये मरुद्गण भूमिधर्मा जलको अपने बलसे आकाशमें उठाकर फिर उन्हें वर्षाके रूपमें पृथ्वीपर भेजकर अन्न, फल, फूल तथा वनस्पतियोंके उत्पादनमें सहयोग देते हैं। ये सामान्यरूपसे चलकर समस्त जीवोंको प्राणवायु प्रदान करते हैं। यदि ये रुष्ट हो गये और भूमण्डलमें अकाल पड़ा तो इसके दोषी तुम होओगे और तुम्हारी पूजा तथा प्रतिष्ठाकी हानि होगी। यदि ये सब अपने सामूहिक वेगसे चलने लगेंगे तो कौन उस वेगको सँभालेगा और कौन उसके आगे ठहर सकेगा? तुम्हारे देवलोकको ब्रह्माण्डके किस अन्तरिक्षमें ये फेंक देंगे, किसीको पता भी नहीं चलेगा।'

'इसलिये अहंकारवश अपने विनाशका कारण मत बनो। विवेकवान् होओ, अहंकार त्याग कर विनयशील होओ। सबके सहयोगसे विश्वका कल्याण करो, इसीसे तुम्हारे अस्तित्वकी रक्षा होगी।'

महर्षि अगस्त्यकी यह चेतावनी सुनकर इन्द्रका अहंकार नष्ट हुआ। उन्होंने जाकर मरुद्गणोंसे क्षमा माँगी तथा विनयपूर्वक सबको मनाया एवं उन्हें यज्ञभागका अधिकारी बनाया और देवश्रेणीकी मर्यादा दी। [ऋग्वेद]

[भारतीय संस्कृति-कथा-कोश]

वेदोंमें भगवान् सूर्यकी महत्ता और स्तुतियाँ

(श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री 'रसिकेश')

पृथ्वीसे भी अत्यधिक उपकारक भगवान् सूर्य हैं। अतः हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियोंने श्रद्धा-विभोर होकर सूर्यदेवकी स्तुति-प्रार्थना और उपासनाके सैकड़ों सुन्दर मन्त्रोंकी उद्भावना की है। उनके प्रशंसनीय प्रयासका दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

सूर्य-स्तुति

वैदिक ऋषियोंका ध्यान भगवान् सूर्यके निम्नलिखित गुणोंकी ओर विशेषरूपसे गया है—(क) अन्धकारका नाश, (ख) राक्षसोंका नाश (ग) दुःखा और रोगोंका नाश, (घ) नेत्र-ज्योतिकी वृद्धि, (ङ) चराचरकी आत्मा, (च) आयुकी वृद्धि और (छ) लोकोंका धारण।

नीचे भुवन-भास्करके इन्हीं गुणोंके सम्बन्धमें वेद-मन्त्रोंद्वारा प्रकाश डाला जाता है—

अन्धकारका नाश—

अभितपा सौर्य ऋषिकी प्रार्थना है—

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्ष्वप्न्यं सुव॥

(ऋक्० १०। ३७। ४)

'हे सूर्य! आप जिस ज्योतिसे अन्धकारका नाश करते हैं तथा प्रकाशसे समस्त संसारमें स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं, उसीसे हमारा समग्र अन्नोंका अभाव, यज्ञका अभाव, रोग तथा कुस्वप्नोंके कुप्रभाव दूर कीजिये।'

राक्षसोंका नाश—

महर्षि अगस्त्य ऐसे ही विचारोंको निम्नाङ्कित मन्त्रमें व्यक्त करते हैं—

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान् त्सर्वाञ्जम्भयन् त्सर्वाश्च यातुधान्य॥

(ऋक्० १। १९१। ८)

'सबको दीखनेवाले, न दीखनेवाले (राक्षसों)-को नष्ट करनेवाले, सब रजनीचरों तथा राक्षसियोंको मारते हुए वे सूर्यदेव सामने उदित हो रहे हैं।'

रोगोंका नाश—

प्रस्तुत मन्त्रसे विदित होता है कि सूर्यका प्रकाश पीलिया रोग तथा हृदयके रोगोंमें विशेष लाभप्रद माना जाता था। प्रस्कण्व ऋषिकी सूर्यदेवतासे प्रार्थना है—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।

हृद्रोग मम सूर्य हरिमाण च नाशय॥

(ऋक्० १।५०।११)

'हे हितकारी तेजवाले सूर्य! आप आज उदित होत तथा ऊँचे आकाशमे जाते समय मेरे हृदयके रोग और पाण्डुरोग (पीलिया)-को नष्ट कीजिये।' इस मन्त्रके 'उद्यन्' तथा 'आरोहन्' शब्दोसे सूचित होता है कि दोपहरसे पूर्वके सूर्यका प्रकाश उक्त रोगोका विशेषत नाश करता है।

नेत्र-ज्योतिकी वृद्धि—

वेदामे विभिन्न देवताओको पृथक्-पृथक् पदार्थोंका अधिपति एव अधिष्ठाता कहा गया है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद (५।२४।९)-म अथर्वा ऋषि हमे बताते हैं कि जेस अग्नि वनस्पतियाके, सोम लताआके, वायु अन्तरिक्षके तथा वरुण जलोके अधिपति ह, वैस ही 'सूर्यदेवता नेत्राके अधिपति हैं। वे मेरी रक्षा कर'—

सूर्यश्चक्षुषामधिपति स मावतु॥

यहाँ नेत्र प्राणियाके नेत्रोतक ही सीमित नही है, क्योकि वद तो भगवान् सूर्यको मित्र, वरुण तथा अग्निदेवके भी नेत्र बताते हे—

चित्र देवानामुदगादनीक चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने ।

(ऋक्० १।११५।१)

'ये सूर्य देवताओके अद्भुत मुखमण्डल ही हैं, जो कि उदित हुए हैं। ये मित्र, वरुण और अग्निदेवाक चक्षु हे।' सूर्य तथा नेत्रोके घनिष्ठ सम्बन्धको ब्रह्मा ऋषिने इन अमर शब्दामे व्यक्त किया हैं—

सूर्यो मे चक्षुर्वात प्राणोऽन्त-
रिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।

(अथर्व० ५।९।७)

'सूर्य हा मेरे नेत्र है, वायु ही प्राण ह अन्तरिक्ष ही आत्मा है तथा पृथिवी ही शरीर है।'

इसी प्रकार दिवगत व्यक्तिके चक्षुके सूर्यमे लीन होनेकी कामना की गयी है (ऋक्० १०। १६। ३)। सूर्यदेवता दूसराको ही दृष्टि-दान नहीं करते, स्वय दूर रहते हुए भी प्रत्येक पदार्थपर पूरी दृष्टि डालते हैं। ऋजिश्वा ऋषिके विचार इस विषयमे इस प्रकार हैं—

वेद यस्त्रीणि विदथान्येषा देवाना जन्म सनुतरा च विप्र ।
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान्॥

(ऋक्० ६।५१।२)

'जो विद्वान् सूर्यदेवता तथा इन अन्य देवताआके स्थाना (पृथिवी, अन्तरिक्ष एव द्यौ) और इनको सतानाके ज्ञाता हैं, वे मनुष्योके सरल और कुटिल कर्मोंको सम्यक् देखते रहते हे।'

चराचरकी आत्मा—

वैदिक ऋषियाकी प्रगाढ अनुभूति थी कि सूर्यका इस विशाल विश्वमे वही स्थान है, जो शरीरमे आत्माका। इसी कारण वेदामे ऐसे अनेक मन्त्र सहज सुलभ हैं, जिनमे सूर्यको सभी जड-चेतन पदार्थोंकी आत्मा कहा गया है। यथा—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (ऋक्० १।११५।१)

'ये सूर्यदेवता जगम तथा स्थावर सभी पदार्थोंकी आत्मा हैं।'

आयु-वर्धक—

यो तो रोगाके वचाव तथा उनके उपचारसे भी आयु-वृद्धि होती है, फिर भी वेदामे ऐसे मन्त्र विद्यमान ह, जिनमे सूर्य एव दीर्घायुका प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाया गया है। यथा—

तच्चक्षुर्देवहित पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरद शत जीवेम शरद शतम्०॥ (शुक्लयजु० ३६।२४)

'देवताआद्वारा स्थापित वे तेजस्वी सूर्य पूर्व दिशामे उदित हो रहे हे। उनके अनुग्रहसे हम सौ वर्षोतक (तथा उससे भी अधिक) देखे और जीवित रहे।'

लोक-धारण—

वैदिक ऋषि इस बातका सम्यक् अनुभव करते थे कि लोक-लोकान्तर भी सूर्यदेवताद्वारा धारण किये जाते हैं। निदर्शनके लिये एक ही मन्त्र पर्याप्त होगा—

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचन दिव ।
यनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता॥

(ऋक्० १०।१७०।४)

'हे सूर्य! आप ज्योतिसे चमकते हुए द्युलोकके सुन्दर सुखप्रद स्थानपर जा पहुँचे हैं। आप सर्वकर्म-साधक तथा सब देवताआके हितकारी हैं। आपने ही सब लोक-लोकान्तराको धारण किया है।'

सूर्य-देवसे प्रार्थनाएँ

उपर्युक्त अनेक मन्त्रामे सूर्यदेवताका गुणगान ही नहीं है प्रसगवश प्रार्थनाएँ भी आ गयी हैं। दो-एक अभ्यर्थनापूर्ण मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

दिवस्पृष्ठे धावमान सुपर्णमदित्या
पुत्र नाथकाम उप यामि भीत ।
स न सूर्य प्र तिर दीर्घमायु-
र्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम॥
(अथर्व० १३। २। ३७)

'मैं द्यौकी पीठपर उडते हुए अदितिके पुत्र, सुन्दर पक्षी (सूर्य)-के पास कुछ माँगनेके लिये डरता हुआ जाता हूँ। हे सूर्यदेव! आप हमारी आयु खूब लबी करे। हम कोई कष्ट न पाव। हमपर आपकी कृपा बनी रहे।'

अपने उपास्य प्रसन्न हो जायँ तो उनसे अन्य कार्य भी करा लिये जाते हैं। निम्नलिखित मन्त्रमे महर्षि वसिष्ठ भगवान् सूर्यसे कुछ इसी प्रकारका कार्य करानेकी भावना व्यक्त करते हैं—

स सूर्य प्रति पुरो न उद् गा एभि स्तोमेभिरेतशेभिरेवै । प्र नो मित्राय वरुणाय वोचो ऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च॥
(ऋक्० ७। ६२। २)

'हे सूर्य ! आप इन स्तोत्रोके द्वारा तीव्रगामी घोडाके साथ हमारे सामने उदित हो गये हैं। आप हमारी निष्पापताकी बात मित्र, वरुण, अर्यमा तथा अग्निदेवसे भी कह दीजिये।'

उपासना

स्तुति, प्रार्थनाक पश्चात् उपासककी एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जब वह अपन-आपको उपास्यके पास ही नहीं, बल्कि अपनेको उपास्यसे अभिन्न अनुभव करने लगता है। एसी ही दशाकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित वेद-मन्त्रम की गयी है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुष सोऽसावहम्०॥
(शुक्लयजु० ४०। १७)

'उस अविनाशी आदित्यदेवताका शरीर सुनहले ज्योतिपिण्डसे आच्छादित है। उस आदित्यपिण्डके भीतर जो चतन पुरुष विद्यमान है, वह मैं ही हूँ।' उपर्युक्त विवरणसे सिद्ध है कि जहाँ हमार वैदिक पूर्वज भौतिक आदित्यपिण्डसे विविध लाभ उठाते थे, वहाँ उसम विद्यमान चेतन सूर्यदेवतासे स्व-कामनापूर्तिके लिये प्रार्थनाएँ भी करते थे। तत्पश्चात् उनसे एकरूपताका अनुभव करते हुए असीम आत्मिक आनन्दके भागी बन जाते थे। सचमुच महाभाग सूर्य महान् देवता हैं।

वैदिक वाङ्मयमें चन्द्रमा

(आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है—'नक्षत्रोमे मैं चन्द्रमा हूँ'—'नक्षत्राणामह शशी' (गीता १०। २१)। कतिपय भारतीय विद्वानाने भगवान् श्रीकृष्णके कथनके आधारपर नक्षत्रोका सम्बन्ध चन्द्रमासे जोड लिया। नक्षत्रोका स्त्रियाँ मानकर चन्द्रमाको उनका पति स्वीकार कर लिया गया। सूर्य ग्रहोके राजा माने गये। सूर्य और चन्द्रमाकी प्रधानता उनके 'प्रकाश' के आधारपर ही स्थापित हुई। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने ज्योतियाम अपनेको 'किरणोवाला' सूर्य कहा है—'ज्योतिषा रविरशुमान्' (गीता १०। २१)।

वैदिक साहित्यमे चन्द्रमाका जो वर्णन है, उसमे चन्द्रमाको एक लोक ही माना गया है। ससारकी सरचनाम उस विराट् पुरुषने अन्यान्य जितनी रचनाएँ की हैं, उनम सूर्य और चन्द्रलोककी गणना सर्वप्रथम है। इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद-सहिता (१०। १९०। ३)-म इस प्रकार है—'**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिव च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्व ॥**' चन्द्रमा और नक्षत्राक सम्बन्धको स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीयसहितामे एक उल्लेख प्राप्त होता है—'**यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनमन्नक्षत्रेभ्यो समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रे वरुणाय समनमत्॥**'

एक कथनसे यह भी प्रमाणित होता है कि धरा (पृथ्वी)-पर अग्निकी स्थिति मानी गयी है। अन्तरिक्षमे वायुकी प्रधानता है। द्युलोकम सूर्यकी आर नक्षत्रलोकम चन्द्रमाकी प्रधानता है। आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रमाको नक्षत्रासे बहुत दूर मानत हे। किंतु चन्द्रमाका सम्बन्ध नक्षत्रोंस पृथक् नहीं किया जा सकता। जिन-जिन समूहाको नक्षत्राकी परिभाषाम स्वीकारा गया है, उन ताराआकी आपसी दूरी भी बहुत लबी-लबी मानी जाती है। विस्तार-भयस यहाँ अधिक नहीं लिखा जा सकता। या तो सूर्यका

सम्बन्ध चन्द्रमासे भी है और सूर्य नक्षत्रासे भी सम्बन्धित है। नक्षत्रास चन्द्रमाका विशप सम्बन्ध दर्शानेका यही तात्पर्य हैं कि रातमे चन्द्रमा और नक्षत्राके दर्शन स्पष्ट होत हैं, दिनम नहीं, क्याकि दिनम सूर्यका तीव्र प्रकाश बाधक बनता है।

तैत्तिरीयसहिताके आधारपर कुछ लोग सूर्यमण्डलसे ऊपर चन्द्रमण्डलकी कल्पना करने लग थे, किंतु वास्तविकता यह नहीं है। ऋग्वद-सहिता (१। १०५। ११)-म निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिव । ते सेधन्ति पथो वृक तरन्त ''रोदसी॥

आचार्य यास्क और आचार्य सायणके मतानुसार उपर्युक्त ऋचाका आशय यह है कि 'अन्तरिक्षम चन्द्रमा सूर्यसे नीचे है। इसी शुक्रकी पहली ऋचाम चन्द्रमाका पक्षी अर्थात् अन्तरिक्षम सचार करनवाला कहा गया है।'

सवत्सराका निर्णय करते हुए तैत्तिरीय-ब्राह्मणम लिखा गया है कि 'अग्नि ही सवत्सर है, आदित्य परिवत्सर है, चन्द्रमा इडावत्सर है और वायु अनुवत्सर हे'—

अग्निर्वा सवत्सर । आदित्य परिवत्सर । चन्द्रमा इडावत्सर । वायुरनुवत्सर ।

श्रीसायणाचार्यने ऋग्वेदकी व्याख्याम एक स्थलपर लिखा है—'चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता हे।' आधुनिक वेज्ञानिक भी इसे स्वीकारते ह। सूर्यके प्रकाशसे चन्द्रमाका प्रकाशित होनेकी बात ऋग्वेदम पहले ही कही गयी है। श्रीसायणाचार्य लिखते हैं—'चन्द्रबिम्बे सूर्यकिरणा प्रतिफलन्ति।' अर्थात् चन्द्रबिम्बमे सूर्यकी किरण ही प्रतिभासित होती हैं।

इस तथ्यको सभी स्वीकारते हैं कि चन्द्रमा सूर्यसे आकार-प्रकारमे बहुत छोटा है। चन्द्रमाका व्यास २१५९ मील ही बताया जाता है। चन्द्रमा पृथ्वीका ही एक उपग्रह माना जाता है। चन्द्रमाका पृथ्वीसे सीधा ओर सनिकटका सम्बन्ध माना गया है। पृथ्वीसे चन्द्रमा २५२७१० मील ही दूरस्थ है। ब्राह्मणग्रन्थामे हजारो वर्ष पूर्व यह स्वीकार लिया गया था कि चन्द्रमामे जा 'दृश्य भाग' धब्बे (कृष्ण)-क रूपम दीख पडता है, वह पृथ्वीका हृदय है—'यच्चन्द्रमसि कृष्ण पृथिव्या हृदय श्रितम्।' (मन्त्र-ब्राह्मण)

चन्द्रमाके जिस काल धब्बेका ब्राह्मणग्रन्थम पृथ्वाका हृदय बताया गया हे, वह पृथ्वी और चन्द्रमाक अटूट सम्बन्धका द्योतक है—बाधक हे। अथर्ववदक एक सूक्तसे अवगत हाता है कि चन्द्रमा अपन सत्ताईस नक्षत्रासहित अत्यन्त दीर्घायुवाला ग्रह ह। 'वह दीर्घायुवाला ग्रह हम 'दीर्घायु' प्रदान करे।' इसस यह स्पष्ट प्रतात होता है कि जिन नक्षत्राको आधुनिक वज्ञानिक स्थिर और अत्यन्त प्राचान मानत हैं, उस अथर्ववदम बहुत पहले ही लिख दिया गया है—

चन्द्र आयुष्मान् सनक्षत्रमायुष्मान् समायुष्मान् आयुष्मन्त कृणोतु॥

ऋग्वेद आर सामवदम स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रमा पृथ्वीका शिशु है—'शिशुर्महीनाम्।'

वेदाके अतिरिक्त उपनिषदामे भा चन्द्रमाको वैज्ञानिकोने स्वीकारा है कि 'चन्द्रमासे ओषधिया आर पौधाकी वृद्धि होती है। चन्द्रमा औषधियोंका पायक माना गया है।' प्रश्नोपनिषद् (१।५)-म स्पष्ट लिखा गया है कि 'सूर्य प्राण है, चन्द्रमा अन्न हे'—

आदित्यो ह वे 'प्राणो रयिरेव चन्द्रमा॥

श्रीमद्भागवतके रचयिता महर्षि व्यासजीन चन्द्रमाके विषयमे विस्तारसे लिखा है। 'चन्द्रमा सालह कलाआसे युक्त मनोमय, अन्नमय, अमृतमय (प्राणमय) परम पुरुष परमात्माका ही रूप है। चन्द्रमा अपने तत्त्वासे देव पितर, मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष और लता आदि समस्त प्राणियाका पोषक है। अत चन्द्रमाको 'सर्वमय' कहा जाता है'—

य एष षोडशकल पुरुषो भगवान् मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधा प्राणाप्यायन-शीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति॥ (श्रीमद्भा० ५। २२। १०)

चन्द्रमाकी उत्पत्ति विराट् भगवान्के मनसे मानी गयी है—'चन्द्रमा मनसो जात ।' चन्द्रमा भगवान्का मन भी माना गया है। ज्योतिष्फलित-विचारसे चन्द्रमा जीवके मनका 'कारक' माना जाता ह।

वेदोमे शिव-तत्त्व

शिव ही ब्रह्म है

श्वेताश्वतरोपनिषद्के प्रारम्भमे ब्रह्मके सम्बन्धमे जिज्ञासा उठायी गयी है। पूछा गया है कि जगत्का कारण जो ब्रह्म है, वह कौन है?—

'कि कारण ब्रह्म' (१। १)।

श्रुतिने आगे चलकर इस 'ब्रह्म' शब्दके स्थानपर 'रुद्र' और 'शिव' शब्दका प्रयोग किया है—

'एको हि रुद्र ।' (३। २)

'स शिव ॥' (३। ११)

समाधानमे बताया गया है कि जगत्का कारण स्वभाव आदि न होकर स्वय भगवान् शिव ही इसके अभिन्न निमित्तोपादान कारण है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभि ।
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले
ससृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥

(श्वेता० ३। २)

अर्थात् जो अपनी शासन-शक्तियोके द्वारा लोकोपर शासन करते हैं, वे रुद्रभगवान् एक ही है। इसलिये विद्वानोने जगत्के कारणके रूपमे किसी अन्यका आश्रयण नहीं किया है। वे प्रत्येक जीवके भीतर स्थित हैं, समस्त जीवोका निर्माण कर पालन करते हैं तथा प्रलयमे सबको समेट भी लेते हैं।

इस तरह 'शिव' और 'रुद्र' ब्रह्मके पर्यायवाची शब्द ठहरते हैं। 'शिव' को 'रुद्र' इसलिये कहा जाता है कि अपने उपासकोके सामने अपना रूप शीघ्र ही प्रकट कर देते हैं—

कस्मादुच्यते रुद्र ? यस्मादृषिभि द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते। (अथर्वशिर० उप० ४)

भगवान् शिवको 'रुद्र' इसलिये भी कहते हैं—ये 'रुत्' अर्थात् दु खको विनष्ट कर देते है—'रुत्=दु खम्, द्रावयति-नाशयतीति रुद्र ।'

तत्त्व एक है, नाम अनेक

शिव-तत्त्व तो एक ही है—'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' (छा० उ० ६। २। १)। उस अद्वय-तत्त्वके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं—'एकमेव सत्।' 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० उ० ४। ४। १९)। किंतु उस अद्वय-तत्त्वके नाम अनेक होते हैं—'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥' (ऋक्० १। १६४। ४६) अर्थात् उस अद्वय-तत्त्वको विद्वगण अनेक नामोसे पुकारते हैं।

रूप भी अनेक

नामकी तरह उस अद्वय-तत्त्वके रूप भी अनेक होते हैं। ऋग्वेदने 'पुरुरूपम्' (२। २। ९) लिखकर इस तथ्यको स्पष्ट कर दिया है। दूसरी श्रुतिने उदाहरण देकर समझाया है कि एक ही भगवान् अनेक रूपमे कैसे आ जाते हैं—

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो
रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठोपनिषद् २। २। ९)

जैसे कण-कणमे अनुस्यूत अग्नि (देव) एक ही है, किंतु अनेक रूपोमे हमारे सामने प्रकट होता है, वैसे भगवान् शिव एक होते हुए भी अनेक रूपोमे प्रकट होते हैं। लोक-कल्याणके लिये सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर ईशान आदि अनेक अवतार-रूपोमे वे प्रकट हुए हैं (शिवपु०, शतरुद्रसहिता)।

अनेक नाम-रूप क्यो?

जिज्ञासा होती है कि शिव एक ही हैं, तब वे अनेक नामो और अनेक रूपोको क्यो ग्रहण करते हैं? इसके उत्तरमे श्रुतिने कहा है—

प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा स्थिता॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् १५)

अर्थात् प्रयोजनवश भगवान् शिव अपनी अनेक मूर्तियाँ बना लेते हैं—अब देखना है कि आखिर वह कौन-सा प्रयोजन है, जिसके लिये वह अद्वय-तत्त्व अनेक नामो और रूपोको ग्रहण करता है।

विविधताका कारण—लीला

इसका समाधान ब्रह्मसूत्रसे होता है। वहाँ बताया गया है कि लीला (क्रीडा)-के अतिरिक्त इस सृष्टि-रूप

सम्बन्ध चन्द्रमासे भी है और सूर्य नक्षत्रासे भी सम्बन्धित है। नक्षत्रासे चन्द्रमाका विशेष सम्बन्ध दर्शानेका यही तात्पर्य है कि रातमे चन्द्रमा और नक्षत्राके दर्शन स्पष्ट होते हैं, दिनमे नहीं, क्योंकि दिनमे सूर्यका तीव्र प्रकाश बाधक बनता है।

तैत्तिरीयसंहिताके आधारपर कुछ लोग सूर्यमण्डलसे ऊपर चन्द्रमण्डलकी कल्पना करने लगे थे, किंतु वास्तविकता यह नहीं है। ऋग्वेद-संहिता (१। १०५। ११)-मे निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः। ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥

आचार्य यास्क और आचार्य सायणके मतानुसार उपर्युक्त ऋचाका आशय यह है कि 'अन्तरिक्षमे चन्द्रमा सूर्यसे नीचे है। इसी सूक्तकी पहली ऋचामे चन्द्रमाको पक्षी अर्थात् अन्तरिक्षमे संचार करनेवाला कहा गया है।'

संवत्सराका निर्णय करते हुए तैत्तिरीय-ब्राह्मणमे लिखा गया है कि 'अग्नि ही संवत्सर है, आदित्य परिवत्सर है, चन्द्रमा इडावत्सर है और वायु अनुवत्सर है'—

अग्निर्वाव संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इडावत्सरः। वायुरनुवत्सरः।

श्रीसायणाचार्यने ऋग्वेदकी व्याख्यामे एक स्थलपर लिखा है—'चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है।' आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे स्वीकारते हैं। सूर्यके प्रकाशसे चन्द्रमाको प्रकाशित होनेकी बात ऋग्वेदमे पहले ही कही गयी है। श्रीसायणाचार्य लिखते हैं—'चन्द्रबिम्बे सूर्यकिरणाः प्रतिफलन्ति।' अर्थात् चन्द्रबिम्बमे सूर्यकी किरणे ही प्रतिभासित होती हैं।

इस तथ्यको सभी स्वीकारते हैं कि चन्द्रमा सूर्यसे आकार-प्रकारमे बहुत छोटा है। चन्द्रमाका व्यास २१५९ मील ही बताया जाता है। चन्द्रमा पृथ्वीका ही एक उपग्रह माना जाता है। चन्द्रमाका पृथ्वीसे सीधा और संनिकटका सम्बन्ध माना गया है। पृथ्वीसे चन्द्रमा २५२७१० मील ही दूरस्थ है। ब्राह्मणग्रन्थोंमे हजारों वर्ष पूर्व यह स्वीकार लिया गया था कि चन्द्रमामे जो 'दृश्य भाग' धब्बे (कृष्ण)-के रूपमे दीख पड़ता है, वह पृथ्वीका हृदय है—'यच्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्।' (मन्त्र-ब्राह्मण)

चन्द्रमाके जिस काले धब्बेको ब्राह्मणग्रन्थमे पृथ्वीका हृदय बताया गया है, वह पृथ्वी और चन्द्रमाके अटूट सम्बन्धका द्योतक है—बाधक है। अथर्ववेदके एक सूक्तसे अवगत होता है कि चन्द्रमा अपने सत्ताईस नक्षत्रासहित अत्यन्त दीर्घायुवाला ग्रह है। 'वह दीर्घायुवाला ग्रह हमे 'दीर्घायु' प्रदान करे।' इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन नक्षत्राको आधुनिक वैज्ञानिक स्थिर और अत्यन्त प्राचीन मानते हैं, उसे अथर्ववेदमे बहुत पहले ही लिख दिया गया है—

चन्द्र आयुष्मान् सनक्षत्रमायुष्मान् समायुष्मान् आयुष्मन्तं कृणोतु॥

ऋग्वेद और सामवेदमे स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रमा पृथ्वीका शिशु है—'शिशुर्महीनाम्।'

वेदाके अतिरिक्त उपनिषदामे भी चन्द्रमाको वैज्ञानिकोने स्वीकारा है कि 'चन्द्रमासे औषधियो और पौधोंकी वृद्धि होती है। चन्द्रमा औषधियोंका पोषक माना गया है।' प्रश्नोपनिषद् (१। ५)-मे स्पष्ट लिखा गया है कि 'सूर्य प्राण है, चन्द्रमा अन्न है'—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा॥

श्रीमद्भागवतके रचयिता महर्षि व्यासजीने चन्द्रमाके विषयमे विस्तारसे लिखा है। 'चन्द्रमा सोलह कलाओंसे युक्त मनोमय, अन्नमय अमृतमय (प्राणमय) परम पुरुष परमात्माका ही रूप है। चन्द्रमा अपने तत्त्वासे देव, पितर, मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष और लता आदि समस्त प्राणियोंका पोषक है। अतः चन्द्रमाको 'सर्वमय' कहा जाता है'—

य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान् मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति॥ (श्रीमद्भा० ५। २२। १०)

चन्द्रमाकी उत्पत्ति विराट् भगवान्के मनसे मानी गयी है—चन्द्रमा मनसो जातः। चन्द्रमा भगवान्का मन भी माना गया है। ज्योतिष्फलित-विचारसे चन्द्रमा जीवके मनका 'कारक' माना जाता है।

वेदोमे शिव-तत्त्व

शिव ही ब्रह्म है

श्वेताश्वतरोपनिषद्के प्रारम्भमे ब्रह्मके सम्बन्धमे जिज्ञासा उठायी गयी है। पूछा गया है कि जगत्का कारण जो ब्रह्म है, वह कौन है?—

'कि कारण ब्रह्म' (१। १)।

श्रुतिने आगे चलकर इस 'ब्रह्म' शब्दके स्थानपर 'रुद्र' और 'शिव' शब्दका प्रयोग किया हे—

'एको हि रुद्र ।' (३। २)

'स शिव ॥' (३। ११)

समाधानमे बताया गया है कि जगत्का कारण स्वभाव आदि न होकर स्वय भगवान् शिव ही इसक अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभि ।
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले
ससृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥

(श्वेता० ३। २)

अर्थात् जो अपनी शासन-शक्तियाक द्वारा लोकापर शासन करते हैं, वे रुद्रभगवान् एक ही है। इसलिये विद्वानाने जगत्के कारणके रूपमे किसी अन्यका आश्रयण नहीं किया है। वे प्रत्येक जीवके भीतर स्थित हे, समस्त जीवाका निर्माण कर पालन करते हैं तथा प्रलयम सबको समेट भी लेते हैं।

इस तरह 'शिव' ओर 'रुद्र' ब्रह्मके पर्यायवाची शब्द ठहरते हैं। 'शिव' को 'रुद्र' इसलिये कहा जाता हे कि अपने उपासकोके सामने अपना रूप शीघ्र ही प्रकट कर देत हें—

कस्मादुच्यते रुद्र ? यस्माद्दृषिभि "द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते। (अथर्वशिर० उप० ४)

भगवान् शिवको 'रुद्र' इसलिये भी कहते हैं—ये 'रुत्' अर्थात् दु खको विनष्ट कर देत ह—'रुत्=दु खम्, द्रावयति=नाशयतीति रुद्र ।'

तत्त्व एक हे, नाम अनेक

शिव-तत्त्व ता एक हो ह—'एकमवाद्वितीय ब्रह्म' (छा० उ० ६। २। १)। उस अद्वय-तत्त्वके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं—'एकमेव सत्।' 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० उ० ४। ४। १९)। किंतु उस अद्वय-तत्त्वके नाम अनक होत ह—'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥' (ऋक्० १। १६४। ४६) अर्थात् उस अद्वय-तत्त्वको विज्ञगण अनेक नामोसे पुकारते हैं।

रूप भी अनेक

नामकी तरह उस अद्वय-तत्त्वके रूप भी अनेक होते हैं। ऋग्वेदने 'पुरुरूपम्' (२। २। ९) लिखकर इस तथ्यको स्पष्ट कर दिया है। दूसरी श्रुतिन उदाहरण देकर समझाया है कि एक ही भगवान् अनेक रूपम कैसे आ जाते हैं—

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो
रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठोपनिषद् २। २। ९)

जेसे कण-कणमे अनुस्यूत अग्नि (देव) एक ही है, किंतु अनेक रूपाम हमारे सामन प्रकट होता ह, वैसे भगवान् शिव एक होते हुए भी अनेक रूपाम प्रकट होते हैं। लोक-कल्याणके लिये सद्योजात, वामदव, तत्पुरुष, अघोर ईशान आदि अनेक अवतार-रूपाम वे प्रकट हुए हैं (शिवपु०, शतरुद्रसहिता)।

अनेक नाम-रूप क्यो ?

जिज्ञासा होती है कि शिव एक ही हैं, तब वे अनेक नामो और अनेक रूपाको क्यो ग्रहण करते हैं? इसक उत्तरमे श्रुतिने कहा है—

प्रयोजनार्थं रुद्रण मूर्तिरेका त्रिधा स्थिता॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् १५)

अर्थात् प्रयाजनवश भगवान् शिव अपनी अनक मूर्तियाँ बना लेते हैं—अब देखना है कि आखिर वह कौन-सा प्रयोजन है, जिसक लिये वह अद्वय-तत्त्व अनक नामा और रूपाको ग्रहण करता है।

विविधताका कारण—लीला

इसका समाधान ब्रह्मसूत्रसे हाता है। वहाँ वताया गया है कि लीला (क्रीडा)-क अतिरिक्त इस सृष्टि-रूप

विविधताका और कोई प्रयोजन नही है—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥'

(ब्रह्मसूत्र २। १। ३३)

अर्थात् वह अद्वय-तत्त्व जा सृष्टिक रूपम आता है, उसका प्रयाजन एकमात्र 'लाला' है। इसके अतिरिक्त सृष्टिका और कोई प्रयोजन नही ह।

आप्तकामकी कामना व्याहत नही

प्रश्न उठता है कि ईश्वर तो आप्तकाम ह अर्थात् उनकी सब इच्छाएँ पूर्ण रहती है, फिर वे खेलकी भा कामना कैसे कर सकते ह? ईश्वरको 'आप्तकाम' कहना और फिर उनम किसी कामनाका कहना ता व्याहत है, हम लागाको तो तरह-तरहके अभावासे जूझना पडता है, जिनकी पूर्तिके लिये हम कामनाएँ किया करते है। ईश्वरका तो किसी वस्तुका अभाव है नही, फिर वे कामना किसकी करग? यह जिज्ञासा महात्मा विदुरको भी व्यग्र करती थी। उन्हाने मैत्रेयजासे पूछा था—'ब्रह्मन्! भगवान् तो शुद्ध बोध-स्वरूप निर्विकार आर निर्गुण ह फिर उनक साथ लीलासे ही गुण और क्रियाका सम्बन्ध कैमे हो सकता हे? बालकाम जा खेलकी प्रवृत्ति होती है, वह कामना-प्रयुक्त हाती ह, किंतु भगवान् ता असग ह और नित्य-तृप्त ह, फिर लीलाके लिये सकल्प हो कैसे करगे?'

ब्रह्मन् कथ भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिण ।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणा क्रिया ॥
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यत ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथ निवृत्तस्य सदान्यत ॥

(श्रीमद्भा० ३। ७। २-३)

लीला स्वरूप-भूत

बात यह ह कि ईश्वर प्रेम-रूप हे—'तस्मात् प्रेमानन्दात्' (साम० उप०)। आर प्रमम क्रीडाएँ होती ही हैं, क्याकि लीला प्रमका स्वभाव है। प्रम अपन प्रमास्पदपर सब कुछ न्योछावर कर दना चाहता ह। चाहता ह कि वह अपने प्रियको निरन्तर दखता ही रहे। वह कभी नहीं चाहता कि उसका प्रमास्पद कभी उसकी आँखाकी ओटम हो। प्रमम इस तरहकी अनगिनत लीलाएँ चला ही करती हैं।

शिव ही लीलास्थली और खेलनेवाले भी बन गये

किंतु जब ईश्वर एक है, अद्वितीय है, तब देखा-देखी और अपणका यह खेल किसक साथ खल और कहाँ रहकर खेल?

इसकी पूर्तिके लिये सन्मय, चिन्मय आर आनन्दमय प्रभु स्वय स्थावर भी बन जाते हैं आर जङ्गम भी। उनका स्थूल-से-स्थूल रूप है—ब्रह्माण्ड, जा क्रीडास्थलीका काम देता ह—

विशेषस्तस्य देहोऽय स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेद दृश्यते विश्व भूत भव्य भवच्च सत्॥

(श्रीमद्भा० २। १। २४)

अर्थात् 'यह ब्रह्माण्ड, जिसम भूत, वर्तमान और भविष्यकी समस्त वस्तुएँ दीख पडती ह—भगवान्‌का स्थूल-से-स्थूल शरीर है।'

प्राकृत हानेके कारण प्रारम्भमे यह ब्रह्माण्ड निर्जीव था, भगवान्‌ने इसम प्रवेश कर इसे जीवित कर दिया—'जीवोऽजीवमजीवयत्' (श्रीमद्भा० २। ५। ३४)। 'फिर वे विराट्-पुरुषके रूपम आय। उसक बाद दो पैरावाले और चार पैरावाले बहुत-से शरीर बनाये तथा अशरूपसे इनम भी प्रविष्ट हा गये'—

पुरश्चक्रे द्विपद पुरश्चक्रे चतुष्पद ।
पुर स पक्षी भूत्वा पुर पुरुष आविशत्॥

(बृ० उप० २। ५। १८)

इस तरह क्रीडास्थली भी तैयार हो गयी और खेलमे भाग लेनवालाकी भाड भी इकट्ठी हो गयी। इन प्राणियाके जो अनन्त सिर, अनन्त आँख और अनन्त पेर हैं, ये सब उन्हींके ब्रह्माण्ड-देहम हे। इसीमे प्रभुको 'सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपात्' कहा गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।
स भूमि विश्वता वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(श्वेता० उप० ३। १४)

भगवान् शिवने सब जगह आँख मुँह और पैर कर लिये—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

(श्वेता० उप० ३। ३)

इसलिये कि अपने प्रेमियाको हजार-हजार नेत्रासे निरन्तर निहारा करे, अपने प्रेमियाके अर्पित वस्तुआका भोग लगा सक, हजारा हाथासे उनका रक्षण कर सक एव उन्ह स्नेहसे गले लगा सक और जहाँ-कहीं बुलाया जाय, वहाँ तत्काल पहुँच भी सक। श्रुति कहती है—

यो देवाना प्रभवश्चाद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु॥

(श्वेता० उप० ३। ४)

अथात् 'जो रुद्रभगवान् दवताआकी उत्पत्ति एव वृद्धिके हेतु हैं, जो विश्वक नाथ और सर्वज्ञ हैं तथा जिन्हान सृष्टिके आदिम हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था, व हम शुभ बुद्धिसे सयुक्त कर।'

इस तरह रुद्रभगवान् क्रीडास्थलीका निर्माण कर एव जीवाको प्रकट कर इनके 'शरीररूपी नगरम, बाह्य-जगत्म निवास कर लीला कर रह हैं'—

नवद्वार पुरे देही ह*सो लेलायते बहि ।

(श्वेता० उप० ३। १८)

रुचिके अनुरूप रूप

प्रेमम रुचिका अत्यधिक महत्त्व है। लोगाकी रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। रुचिके अनुरूप नाम और रूप न मिले तो उपासनाम प्रगति नहीं हा पाती। रुचिके विपरीत उपासनासे तुकाराम-जैसे सत भी घबरात हैं। सत तुकारामकी रुचि विट्ठलरूप गापाल कृष्णपर था। राम, कृष्ण, हरि-नाम ही उन्ह रुचता था। इनके गुरुदेवने स्वप्नम इन्ह इन्हीं नामा और रूपाकी उपासनाकी दाक्षा दी। इसस सत तुकारामको बहुत ही सतोप हुआ। उन्हाने कहा है—

'गुरुने मुझे कृपासागर पाण्डुरग ही जहाज दिया।' 'गुरुदेवने मुझे वही सरल मन्त्र बताया, जा मुझ अतिप्रिय था, जिसम काई बखेडा नहीं।'

भक्त अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌के नाम और रूपका वर्णन कर सकें, इसलिये वे अनन्त नामा और रूपोमे आते हैं—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण ।
उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणा रूपकल्पना॥

(राम० पू० उ० १। ७)

अर्थात् 'ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, प्राकृत शरीरस रहित है, फिर भी वह उपासकाके हितके लिये उनकी रुचिक अनुसार वरण करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूपाम प्रकट हाता है।'

वही विराट्-पुरुपके रूपमे आता है, विष्णु, दुर्गा, गणेश और सूर्यके रूपम आता है—'ब्रह्मण्येव हि पञ्चधा' (राम० पू० उ० १। १०)।

पाँच ही नहीं, सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्तके रूपम प्रभु ही तो आये हैं—

उमारुद्रात्मिका सर्वा प्रजा स्थावरजगमा ।
व्यक्त सर्वमुमारूपमव्यक्त तु महेश्वरम्॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् १०)

जिसकी रुचि उमापति नीलकण्ठ महादवपर हो जाती है, वह ब्रह्मको इसी रूपम पाना चाहता है—

तमादिमध्यान्तविहीनमेक विभु चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहाय परमेश्वर प्रभु त्रिलोचन नीलकण्ठ प्रशान्तम्॥

(कैवल्योपनिषद् ७)

यदि ब्रह्मकी अभिव्यक्ति इस रूपम न हाती तो इस रुचिवाले व्यक्तिकी आध्यात्मिक भूख कभी शान्त नहीं होती। बेचारेकी पारमार्थिक उन्नति मारी जाती। जब वह शास्त्राम दखता है कि 'हमारे उपास्य ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ दव हैं, परब्रह्म हैं, यही ब्रह्मा हैं, यही शिव ह, यही इन्द्र हे यही विष्णु हैं, यही प्राण, काल, अग्नि, चन्द्रमा हैं, जो कुछ स्थावर-जगम है, सब हमारे ही प्रभु हैं', तब इस रुचिवाले उपासकको सब तरहसे सतोप हो जाता है—

स ब्रह्मा स शिव सेन्द्र सोऽक्षर परम स्वराट्।
स एव विष्णु स प्राण स कालोऽग्नि स चन्द्रमा ॥
स एव सर्वं यद्भूत यच्च भव्य सनातनम्।

(कैवल्योपनिषद् ८-९)

वही अद्वय-तत्त्व देवीके रूपमे

इसी तरह यदि किसीकी रुचि जगदम्बाकी ओर है तो उसके लिये परमात्मा देवीक रूपम आत ह। वेद ऐसे

उपासकोको बताता है कि 'सृष्टिके आदिमे एकमात्र ये देवी ही थीं। इन्हीं देवीने ब्रह्माण्ड पैदा किया, इन्हींसे ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र उत्पन्न हुए'—

देवी ह्येकाग्र आसीत् सैव जगदण्डमसृजत् । तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरस किन्नरा वादित्रवादिन समन्तादजीजनन्।''सर्वमजीजनत्। (बह्वृचोपनिषद्)

यदि पराम्बा स्वय अपने श्रीमुखसे कह कि 'वत्स! मै ही ब्रह्म हूँ, में ही प्रकृति-पुरुपात्मक जगत् हूँ। शून्य और अशून्य में ही हूँ। मैं ही आनन्द हूँ और अनानन्द हूँ, मैं ही विज्ञान हूँ और अविज्ञान हूँ', तो इन उपासकाको कितना आश्वासन प्राप्त होता है—

अह ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्त प्रकृतिपुरुषात्मक जगच्छून्य चाशून्य च अहमानन्दानानन्दा । विज्ञानाविज्ञाने अहम्।

(देव्युपनिषद् १)

वही अद्वय-रूप सूर्यके रूपमे

इसी तरह किसीका रुझान प्रत्यक्ष देवता सूर्यकी ओर होवे, उसका हृदय इस ज्योतिर्मय देवतामे रम गया—ऐसे उपासकके लिये यदि ब्रह्म आदित्यरूपम न आते तो इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति कैसे होती ? और वह आदित्य पूर्ण ब्रह्म न हो, केवल देवता हो ता भी उपासककी रुचिको ठेस लग सकती है। अत ब्रह्म आदित्यके रूपमे आये। वेदने सूर्योपासकका आश्वासन दिया कि तुम जिसकी आर झुके हो, वह परब्रह्म परमात्मा है। वही अद्वय-तत्त्व है, उसीसे सबकी उत्पत्ति होती है—

आदित्याद्वायुर्जायते। आदित्याद्भूमिर्जायते । आदित्यादापा जायन्ते। आदित्याज्ज्यातिर्जायते। आदित्याद् व्योम दिशो जायन्ते। आदित्याद्देवा जायन्ते। आदित्याद्वेदा जायन्ते। आदित्यो वा एष एतन्मण्डल तपति। असावादित्यो ब्रह्म।

(सूर्योपनिषद्)

उपर्युक्त पक्तियोसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव-तत्त्व एक ही है उसीके ब्रह्मा, विष्णु, गणपति, दुर्गा, सूर्य आदि भिन्न-भिन्न नाम और रूप हे। यदि भक्त उपमन्युका मन उस सत्-तत्त्वके शिव-रूप नाम और रूपम अनुरक्त था, तो शैव उपनिषदा, पुराणा एव आगमाने उनकी रुचिके अनुसार इस अद्वय-तत्त्वका सर्वविध निरूपण किया। इसी तरह जिनकी रुचि दुर्गाम है, उनके लिये शाक्त उपनिषदा, पुराणा, आगमोने इस अद्वय-तत्त्वकी सर्वात्मकताका निरूपण किया। यही बात गणपति आदि दवताआके लिये है।

इस तथ्यकी जानकारी न रहनेसे ही लोगाको भ्रम हो जाता है कि शैव ग्रन्थाम शिवकी सर्वात्मकता बतायी गयी है और वैष्णव-ग्रन्थाम विष्णुकी, जो परस्पर विरुद्ध है।

शिव सर्वात्मक है, अत सबका सम्मान करो

ऊपरकी पक्तियासे ईश्वरके सम्बन्धमे हिन्दू-धर्मकी अन्य धर्मोकी अपक्षा एक विशेषता भी दिखायी देती है, वह यह कि अन्य धर्म असत्का भगवान् नहीं मानते हैं, किंतु वेद कहता है कि 'सत्-असत् जो कुछ भी है, सब ईश्वर है। ईश्वरके अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं है'—

तदात्मकत्वात् सर्वस्य तस्माद्भिन्न नहि क्वचित्॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् २७)

इस तरह वेदने मानवमात्रके लिये बहुत ही सुगम साधन प्रस्तुत कर दिया है। जब हम समस्त जड-चेतनको भगवन्मय देखते ह, तब सबका सम्मान करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। अपमान करनेवालेका भी हमका सम्मान ही करना होगा, क्याकि वह भी शिव-तत्त्वसे भिन्न नहीं है। हमारे साथ उसका जो अभद्र व्यवहार हो रहा है, उसका मूल कारण तो वस्तुत हम ही हैं। हमसे जो कभी अभद्रकर्म हो गया था, उसीका परिणाम हम भुगत रहे हैं। निमित्त भले ही कोई बन जाय। हम तो निमित्तसे भी प्यार ही करना है—

अथ मा सर्वभूतेपु भूतात्मान कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्या मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। २७)

भगवान् आदेश देते हैं कि सब प्राणियाके भीतरम बसे हुए मुझ परमात्माको उचित रूपसे दान और सम्मान प्रदान करो मुझमे मैत्रीभाव रखो तथा सबको समान-दृष्टिसे देखो।

शुक्लयजुर्वेद-संहितामे रुद्राष्टाध्यायी एव रुद्रमाहात्म्यका अवलोकन

(शास्त्री श्रीजयन्तीलालजी त्रि० जोषी)

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—श्रीमनु महाराजके कथनानुसार भगवान् वेद सर्वधर्मोके मूल हैं या सर्वधर्ममय हैं।

वेदा एव उनकी विभिन्न सहिताआमे प्रकृतिके अनेक तत्त्व—आकाश, जल, वायु, उपा, सध्या इत्यादिका तथा इन्द्र, सूर्य, सोम, रुद्र, विष्णु आदि देवाका वर्णन और स्तुति-सूक्त प्राप्त होते हैं। इनम कुछ ऋचाएँ निवृत्तिप्रधान एव कुछ प्रवृत्तिप्रधान हैं।

शुक्लयजुर्वेद-सहिताके अन्तर्गत रुद्राष्टाध्यायीके रूपम भगवान् रुद्रका विशद वर्णन निहित है।

भक्तगण इस रुद्राष्टाध्यायीके मन्त्रपाठके साथ जल, दुग्ध, पञ्चामृत, आम्ररस, इक्षुरस, नारिकेलरस, गङ्गाजल आदिसे शिवलिङ्गका अभिपेक करते हैं।

शिवपुराणम सनकादि ऋषियाके प्रश्नपर स्वय शिवजीने रुद्राष्टाध्यायीके मन्त्राद्वारा अभिपेकका माहात्म्य बतलाया है, भूरि-भूरि प्रशसा की है और बडा फल दिखाया है—

मनसा कर्मणा वाचा शुचि सगविवर्जित ।
कुर्याद् रुद्राभिपेक च प्रीतये शूलपाणिन ॥
सर्वान् कामानवाप्नोति लभते परमा गतिम्।
नन्दते च कुल पुसा श्रीमच्छम्भुप्रसादत ॥

धर्मशास्त्रके विद्वानाने रुद्राष्टाध्यायीके छ अङ्ग निश्चित किये हैं, जो निम्न हैं—

शिवसङ्कल्प हृदय सूक्त स्यात् पौरुप शिर ।
प्राहुर्नारायणीय च शिखा स्याच्चोत्तराभिधम्॥
आशु शिशान कवच नेत्र विभ्राड् बृहत्स्मृतम्।
शतरुद्रियमस्त्रं स्यात् पडङ्गक्रम ईरित ॥
ह्यच्छिरस्तु शिखा वर्म नेत्र चास्त्र महामते।
प्राहुर्विधिज्ञा रुद्रस्य पडङ्गानि स्वशास्त्रत ॥

अर्थात् रुद्राष्टाध्यायीके प्रथमाध्यायका शिवसङ्कल्पसूक्त हृदय है। द्वितीयाध्यायका पुरुपसूक्त सिर एव उत्तरनारायण-सूक्त शिखा है।

तृतीयाध्यायका अप्रतिरथसूक्त कवच है। चतुर्थाध्यायका मैत्रसूक्त नेत्र है एव पञ्चमाध्यायका शतरुद्रिय सूक्त अस्त्र कहलाता है।

जिस प्रकार एक योद्धा युद्धमे अपने अङ्गा एव आयुधोको सुसज्ज-सावधान करता है, उसी प्रकार अध्यात्ममार्गी साधक रुद्राष्टाध्यायीके पाठ एव अभिपेकके लिये सुसज्ज होता है। अत हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र, अस्त्र इत्यादि नामाभिधान दृष्टिगोचर होते हैं।

अब हम रुद्राष्टाध्यायीके प्रत्येक अध्यायका किंचित् अवगाहन कर।

प्रथमाध्यायका प्रथम मन्त्र—'गणाना त्वा गणपतिः हवामहे' बहुत ही प्रसिद्ध है। कर्मकाण्डके विद्वान् इस मन्त्रका विनियोग श्रीगणशजीके ध्यान-पूजनमे करते हैं। यह मन्त्र ब्रह्मणस्पतिके लिये भी प्रयुक्त होता है। शुक्ल-यजुर्वेद-सहिताके भाष्यकार श्रीउव्वटाचार्य एव महीधराचार्यने इस मन्त्रका एक अर्थ अश्वमेध-यज्ञके अश्वकी स्तुतिके रूपम भी किया है।

द्वितीय एव तृतीय मन्त्रम गायत्री आदि वैदिक छन्दा तथा छन्दामे प्रयुक्त चरणाका उल्लेख है। पाँचवे मन्त्र 'यज्जाग्रतो' से दशम मन्त्र 'सुपारथि' पर्यन्तका मन्त्रसमूह 'शिवसङ्कल्पसूक्त' कहलाता है। इन मन्त्राका देवता 'मन' है। इन मन्त्राम मनकी विशेषताएँ वर्णित हैं। प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें 'तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु' पद आनेसे इसे 'शिवसङ्कल्पसूक्त' कहा गया है। साधकका मन शुभ विचारवाला हो, ऐसी प्रार्थना की गयी है। परम्परानुसार यह अध्याय श्रीगणेशजीका माना जाता है।

द्वितीयाध्यायमे 'सहस्त्रशीर्षा पुरुप ' से 'यज्ञेन यज्ञम्'-पर्यन्त पोडशमन्त्र पुरुपसूक्तके रूपम हैं। इन मन्त्रोके नारायण ऋषि हैं एव विराट् पुरुप देवता हैं।

विविध देवपूजामे आवाहनसे मन्त्र-पुष्पाञ्जलितकका पोडशोपचार-पूजन प्राय इन्हीं मन्त्रासे सम्पन्न होता है विष्णुयागादि वैष्णव यज्ञोम भी पुरुपसूक्तके मन्त्रोसे यज्ञ होता है।

पुरुपसूक्तके प्रथम मन्त्रम विराट् पुरुपका अति भव्य-दिव्य वर्णन प्राप्त होता है। अनेक सिरावाले, अनेक आँखोवाले, अनेक चरणोवाले वे विराट् पुरुप समग्र ब्रह्माण्डमे व्याप्त होकर दस अगुल ऊपर स्थित हैं।

द्वितीयाध्यायके सप्तदश मन्त्र 'अद्भ्य सम्भृत ' से 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च'-अन्तिम मन्त्रपर्यन्तके छ मन्त्र उत्तरनारायण सूक्तके रूपम प्रसिद्ध हैं। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च' यह मन्त्र

श्रीलक्ष्मीदेवीके पूजनमे प्रयुक्त होता है। द्वितीयाध्याय भगवान् विष्णुका माना जाता है।

तृतीयाध्याय अप्रतिरथसूक्तके रूपमे ख्यात है। कतिपय मनीषी 'आशु शिशान ' से आरम्भ करके 'अमीषाश्चित्तम्'-पर्यन्त द्वादश मन्त्रोको स्वीकारते हैं। कुछ विद्वान् इन मन्त्रोके उपरान्त 'अवसृष्टा' से 'मर्म्माणिते'-पर्यन्त पाँच मन्त्राका भी समावेश करते हैं।

तृतीयाध्यायके देवता दवराज इन्द्र हैं। इस अध्यायको अप्रतिरथसूक्त माननका कारण कदाचित् यह ह कि इन मन्त्राके ऋषि अप्रतिरथ है। भावात्मक दृष्टिसे विचार करे तो अवगत होता हे कि इन मन्त्राद्वारा इन्द्रकी उपासना करनसे शत्रुआ-स्पर्धकाका नाश होता है, अत यह 'अप्रतिरथ' नाम सार्थक प्रतीत होता है। उदाहरणके रूपम प्रथम मन्त्रका अवलोकन करे—

ॐ आशु शिशानो वृषभा न भीमो घनाघन क्षोभणश्चर्षणीनाम्। सङ्क्रन्दनोऽ निमिष एकवीर शत॰सेना अजयत् साकमिन्द्र ॥

अर्थात् 'त्वरास गति करके शत्रुआका नाश करनवाला, भयकर वृषभकी तरह सामना करनेवाले प्राणियोको क्षुब्ध करके नाश करनेवाला, मेघकी तरह गर्जना करनेवाला, शत्रुआका आवाहन करनेवाला, अतिसावधान, अद्वितीय वीर एकाकी पराक्रमी देवराज इन्द्र शतश सेनाओपर विजय प्राप्त करता है।'

चतुर्थाध्यायम सप्तदश मन्त्र हैं। जो मैत्रसूक्तके रूपम ज्ञात हैं। इन मन्त्राम भगवान् मित्र—सूर्यकी स्तुति है। मैत्रसूक्तम भगवान् भुवनभास्करका मनोरम वर्णन प्राप्त होता है।

ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमाना निवेशयन्नमृत मर्त्य च। हिरण्ययेन सविता रथेना दवो याति भुवनानि पश्यन्॥

अर्थात् रात्रिके समयम अन्धकारमय तथा अन्तरिक्ष लोकमसे पुन -पुन उदीयमान देवाका तथा मनुष्याको स्व-स्व कार्योम निहित करनेवाले सबके प्ररक, प्रकाशमान भगवान् सूर्य सुवर्णरगी रथम बेठ करके सर्वभुवनाक लागाकी पाप-पुण्यमयी प्रवृत्तियाका निरीक्षण करते हैं।

रुद्राष्टाध्यायीके पाँचव अध्यायमे ६६ मन्त्र हैं। यह अध्याय प्रधान है। विद्वान् इसको 'शतरुद्रिय' कहत हैं। '**शतसख्याता रुद्रदेवता अस्येति शतरुद्रियम्।**' इन मन्त्रामे भगवान् रुद्रके शतश रूप वर्णित ह।

कई ग्रन्थाम शतरुद्रियके पाठका महत्त्व वर्णित है। कैवल्यापनिषद्म कहा गया है कि शतरुद्रियके अध्ययनसे मनुष्य अनक पातकासे मुक्त होता है एव पवित्र बनता हे—

य शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूता भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्याया पूता भवति॥

जाबालोपनिषद्म ब्रह्मचारिया ओर श्रीयाज्ञवल्क्यजीके सवादम ब्रह्मचारियाने तत्त्वनिष्ठ ऋषिसे पूछा कि किसके जपसे अमृतत्व प्राप्त हाता है ? तब ऋषिका प्रत्युत्तर था कि 'शतरुद्रियके जपसे'—

अथ हैन ब्रह्मचारिण ऊचु किं जप्येनामृतत्व ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्य । शतरुद्रियेणेत्येतान्येव ह वा अमृतस्य नामानि। एतैर्ह वा अमृतो भवतीति एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ।

विद्वानाकी परम्पराके अनुसार पञ्चमाध्यायके एकादश आवर्तन और शेष अध्यायाके एक आवर्तनके साथ अभिषेकसे एक 'रुद्र' या 'रुद्री' होती है। इसे 'एकादशिनी' भी कहते हैं। एकादश रुद्रीसे लघुरुद्र एकादश लघुरुद्रसे महारुद्र एव एकादश महारुद्रसे अतिरुद्रका अनुष्ठान होता है। इन सबका अभिषकात्मक, पाठात्मक एव होमात्मक त्रिविध विधान मिलता है। मन्त्राके क्रमसे रुद्राभिषकक नमक-चमक आदि प्रकार हे। प्रदेशभदसे भी कुछ विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती ह।

शतरुद्रियको 'रुद्रसूक्त' भी कहते हैं। इसम भगवान् रुद्रका भव्यातिभव्य वर्णन हुआ हे। प्रथम मन्त्रका आस्वाद ल—

ॐ नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नम । बाहुभ्यामुत ते नम ॥

'हे रुद्रदव। आपके क्रोधका हमारा नमस्कार है। आपक बाणाको हमारा नमस्कार है एव आपके बाहुआको हमारा नमस्कार हे।' भगवान् शिवका रुद्रस्वरूप दुष्टनिग्रहणार्थ हे अत इस मन्त्रम रुद्रदेवके क्रोधका बाणाको एव उनके चलानेवाले बाहुआका नमस्कार समर्पण किया गया है।

रु=दु खम्, द्रावयति इति रुद्र । रुत्=ज्ञानम्, राति=ददाति इति रुद्र । रोदयति पापिन इति वा रुद्र । तत्त्वज्ञाने इस प्रकार रुद्र शब्दकी व्याख्या की हे। अर्थात् भगवान् रुद्र दु खनाशक पापनाशक एव ज्ञानदाता हैं।

रुद्रसूक्तम भगवान् रुद्रक विविध स्वरूप वर्णित हैं,

यथा—गिरीश, अधिवक्ता सुमङ्गल, नीलग्रीव, सहस्राक्ष, कपर्दी, मीढुष्टम, हिरण्यबाहु, सेनानी, हरिकेश, अन्नपति, जगत्पति, क्षेत्रपति, वनपति, वृक्षपति, ओषधीपति, सत्त्वपति, स्तेनपति, गिरिचर, सभापति, श्वपति, गणपति, व्रातपति, विरूप, विश्वरूप, भव, शर्व, शितिकण्ठ, शतधन्वा, ह्रस्व, वामन, बृहत्, वृद्ध, ज्येष्ठ, कनिष्ठ, श्लोक्य, आशुषेण, आशुरथ, कवची, श्रुतसेन, सुधन्वा, साम, उग्र, भीम, शम्भु, शंकर, शिव, तीर्थ्य, व्रज्य, नीललोहित, पिनाकधारी, सहस्रबाहु तथा ईशान इत्यादि।

—इन विविध स्वरूपोंद्वारा भगवान् रुद्रकी अनेकविधता एवं अनेक लीलाओंका दर्शन होता है। रुद्रदेवताको स्थावर-जंगम सर्वपदार्थरूप, सर्ववर्ण सर्वजाति, मनुष्य-देव-पशु-वनस्पतिरूप मानकर सर्वात्मभाव-सर्वान्तर्यामित्व-भाव सिद्ध किया गया है। इस भावसे ज्ञात होकर साधक अद्वैतनिष्ठ जीवन्मुक्त बनता है।

षष्ठाध्यायको 'महच्छिर' के रूपमें जाना जाता है। प्रथम मन्त्रमें सोमदेवताका वर्णन है। सुप्रसिद्ध महामृत्युञ्जय मन्त्र इसी अध्यायमें संनिविष्ट है—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पति-वेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥

प्रस्तुत मन्त्रमें भगवान् त्र्यम्बक शिवजीसे प्रार्थना है कि जिस प्रकार ककडीका परिपक्व फल वृन्तसे मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार हम आप जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त कर, हम आपका यजन करते हैं।

सप्तमाध्यायको 'जटा' कहा जाता है। 'उग्रश्चभीमश्च'-मन्त्रमें मरुत् देवताका वर्णन है। इस अध्यायके 'लोमभ्यः स्वाहा' से 'यमाय स्वाहा' तकके मन्त्र कई विद्वान् अभिषेकमें ग्रहण करते हैं और कई विद्वान् इनका अस्वीकार करते हैं, क्योंकि अन्त्येष्टि-संस्कारमें चिताहोममें इन मन्त्रोंसे आहुतियाँ दी जाती हैं।

अष्टमाध्यायको 'चमकाध्याय' कहा जाता है, इसमें कुल २९ मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्रमें 'च' कार एवं 'मे' का बाहुल्य होनेसे कदाचित् चमकाध्याय अभिधान रखा गया है।

चमकाध्यायके ऋषि 'देव' स्वयं हैं। देवता अग्नि है, अतः यह अध्याय अग्निदैवत्य या यज्ञदैवत्य माना जाता है। प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' यह पद आता है।

यज्ञ एवं यज्ञके साधनरूप जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता हो, वे सभी यज्ञके फलसे प्राप्त होती हैं। ये वस्तुएँ यज्ञार्थ, जनसेवार्थ एवं परोपकारार्थ उपयुक्त हों, ऐसी शुभभावना यहाँ निहित है।

रुद्राष्टाध्यायीके उपसंहारमें 'ऋचं वाचं प्र पद्ये' इत्यादि चतुर्विंशति मन्त्र शान्त्याध्यायके रूपमें एवं 'स्वस्ति न इन्द्रो' इत्यादि द्वादश मन्त्र स्वस्ति-प्रार्थनाके रूपमें ख्यात हैं।

शान्त्याध्यायमें विविध देवोंसे अनेकशः शान्तिकी प्रार्थना की गयी है। मित्रताभरी दृष्टिसे देखनेकी बात बडी उदात्त एवं भव्य है—

ॐ दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

साधक प्रभुप्रीत्यर्थ एवं सेवार्थ अपनेको स्वस्थ बनाना चाहता है। स्वकीय दीर्घजीवन आनन्द एवं शान्तिपूर्ण व्यतीत हो ऐसी आकांक्षा रखता है—'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम्। ।'

स्वस्ति-प्रार्थनाके निम्न मन्त्रमें देवोंका सामञ्जस्य सुचारु-रूपमें वर्णित है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति', यह उपनिषद्-वाक्य यहाँ चरितार्थ होता है—

ॐ अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे-देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायीमें भगवान् रुद्रका माहात्म्य विविधता-विशदतासे सम्पूर्णतया आच्छादित है। कविकुलगुरु कालिदासने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटकके मङ्गलश्लोक 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' द्वारा शिवजीकी जो अष्ट विभूतियोंका वर्णन किया है, वे अष्टविभूतियाँ रुद्राष्टाध्यायीके आठ अध्यायोंमें भी विलसित हैं। इस संक्षिप्त लेखकी समाप्तिमें शिवजीकी वन्दना वैदिक मन्त्रसे ही करें—

ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्। ब्रह्माधिपति-र्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्॥

'ॐ तत्सत्'।

~~~~
~~~~

महामृत्युञ्जय-जप—प्रकार एवं विधि

'शरीर व्याधिमन्दिरम्'—इस पाञ्चभौतिक शरीरमे नाना प्रकारकी आधि-व्याधियाँ होती रहती हैं। शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये युक्त आहार-विहार, खान-पान नियमित दिनचर्या आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। इन सब उपायोंको करते रहनेके बाद भी कर्म-भोगके कारण शरीरमें कोई बलवान् अरिष्ट जब चिकित्सा, आदि उपायोंसे ठीक नहीं हो पाता है, तब ऐसे अरिष्टकी निवृत्तिके लिये या शान्तिके लिये शास्त्रोंमें महामृत्युञ्जयके जपका विधान बतलाया गया है। इस जपसे मृत्युको जीतनेवाले महारुद्र-देवता प्रसन्न होते हैं और वे रोगसे पीडित व्यक्तिको शान्ति प्रदान करते हैं।

मृत्युञ्जय-जपका मूल मन्त्र

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(शुक्लयजु० ३। ६०)

अर्थात् 'हम त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरकी पूजा करते हैं, जो मर्त्यधर्मसे (मरणशील मानवधर्म-मृत्युसे) रहित दिव्य सुगन्धिसे युक्त, उपासकोंके लिये धन-धान्य आदि पुष्टिको बढ़ानेवाले हैं। वे त्रिनेत्रधारी उर्वारुक (कर्कटी या ककड़ी—जो पकनेपर वृन्त-या बन्धन-स्थानसे स्वतः अलग हो जाती है) फलकी तरह हम सबको अपमृत्यु या सांसारिक मृत्युसे मुक्त करें। स्वर्गरूप या मुक्तिरूप अमृतसे हमको न छुड़ावें। अर्थात् अमृत-तत्त्वसे हम उपासकोंको वंचित न करें।'

उपर्युक्त मूल मन्त्रमें 'भूः भुवः स्वः'—इन तीन व्याहृतियोंमें तथा (ॐ) 'हौं जूं सः'—इन तीन बीजमन्त्रोंमें 'ॐ' इस प्रणवको लगाकर मृत्युञ्जय-मन्त्रके तीन प्रकार बतलाये गये हैं—

(१) ४८ वर्णात्मक पहला मन्त्र आठ प्रणवयुक्त।
(मृत्युञ्जय-मन्त्र)

(२) ५२ वर्णात्मक दूसरा छः प्रणववाला।
(मृतसंजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र)

(३) ६२ वर्णात्मक तीसरा चौदह प्रणववाला।
(महामृत्युञ्जय-मन्त्र)

पहला मृत्युञ्जय-जप-मन्त्र—

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे ० मामृतात्। ॐ स्वः ॐ भुवः ॐ भूः ॐ।

दूसरा मृतसंजीवनी-मन्त्र—

ॐ हौं जूं सः ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे ० मामृतात्।

ॐ स्वः भुवः भूः ॐ सः जूं हौं ॐ।

तीसरा महामृत्युञ्जय-मन्त्र—

ॐ हौं ॐ जूं ॐ सः ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे ० मामृतात्। ॐ स्वः ॐ भुवः ॐ भूः ॐ सः ॐ जूं ॐ हौं ॐ।

उपर्युक्त मृत्युञ्जयके मन्त्रमें मृत्युञ्जय-मन्त्र, मृतसंजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र तथा महामृत्युञ्जय-मन्त्र—इन तीनों प्रकारोंमें प्रायः द्वितीय मृतसंजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र अधिक प्रचलित है।

सूर्यादि नवग्रहोंकी दशा, महादशा, अन्तर्दशा तथा प्रत्यन्तर्दशा यदि किसी व्यक्तिके लिये अरिष्ट उत्पन्न करनेवाली होती है तो उन-उन अरिष्टकारक ग्रहोंकी शान्तिके लिये 'मृत्युञ्जय' देवताकी शरणमें जाना ही पड़ता है। मृत्युञ्जय देवताकी प्रार्थनामें यह स्पष्ट है कि शरणमें आये पीड़ित व्यक्तिको वे जन्म, मृत्यु, जरा (वृद्धावस्था), रोग एवं कर्मके बन्धनोंसे मुक्त कर देते हैं। इसी आशय (भाव)-से निम्नाङ्कित प्रार्थना है—

मृत्युञ्जयमहारुद्र त्राहि मां शरणागतम्।
जन्ममृत्युजरारोगैः पीडितं कर्मबन्धनैः॥

मृत्युञ्जय-जपकी विधि

सर्वप्रथम शौच-स्नानादिसे पवित्र होकर आसन-शुद्धि करके भस्म तथा रुद्राक्ष धारण करें। तदनन्तर जपका संकल्प कर गणेशादि देवोंका स्मरण करें। यथासम्भव पञ्चाङ्ग-पूजन कर करन्यास एवं अङ्गन्यास करें। अनन्तर मृत्युञ्जयदेवताका इस प्रकार ध्यान करें—

ॐ चन्द्रार्काग्निविलोचनं स्मितमुखं पद्मद्वयान्तःस्थितं—
ॐ चन्द्राद्भासितमूर्धजं सुरपतिं पीयूषपात्रं वहद्-
स्ताब्जेन दधत् सुदिव्यममलं हास्यास्यपङ्केरुहम्।
सूर्येन्द्वग्निविलोचनं करतलैः पाशाक्षसूत्राङ्कुशा-
म्भोजं बिभ्रतमक्षयं पशुपतिं मृत्युञ्जयं संस्मरेत्॥

तात्पर्य यह कि 'मैं उन मृत्युञ्जय भगवान्का स्मरण

करता हूँ, जो अक्षय-अविनाशी हैं। जिनके केश चन्द्रमासे सुशोभित हैं। जो देवताआके स्वामी है तथा जिन्हाने अपने करकमलम अमृतका दिव्य एव निर्मल विशाल पात्र धारण कर रखा है। जिनका मुखकमल हास्यमय (प्रसन्न) है और जिनके तीनो नेत्र—सूर्य चन्द्रमा एव अग्निमय हैं। जिनके करतलम पाश, अक्षसूत्र (रुद्राक्षमाला), अकुश और कमल है।'

इसक वाद मानसोपचार-पूजा कर—

प्रत्यक पुष्पादि पदार्थको अर्पित करनेके लिये आचमनीस जल छाडना चाहिये—

ॐ ल पृथिव्यात्मक गन्ध समर्पयामि (पृथिवीरूप 'ल' बाज गन्ध है)।

ॐ ह आकाशात्मक पुष्प समर्पयामि (आकाशरूप 'ह' बाज पुष्प है)।

ॐ य वाय्वात्मक धूप समर्पयामि (वायुरूप 'य' बीज धूप है)।

ॐ र तजसात्मक दीप समर्पयामि (तेजरूप 'र' बीज दीपक है)।

ॐ व अमृतात्मक नैवेद्य समर्पयामि (अमृतरूप 'व' बीज नैवेद्य है)।

ॐ स सर्वात्मक मन्त्रपुष्प समर्पयामि (सर्वस्वरूप 'स' बीज-मन्त्र पुष्प है)।

मानस-पूजा करनेके पश्चात् एकाग्र-मनसे सकल्पित मन्त्रसे मृत्युञ्जयका जप करना चाहिये।

जप समाप्त होनक बाद पुन अङ्गन्यास एव करन्यास करके मृत्युञ्जय-देवताको जप-निवेदन करे तथा हाथमे जल लेकर मन्त्र-जप-सिद्धिके लिये नीचे लिखे गय श्लोकका उच्चारण करे—

गुह्यातिगुह्यगाप्ता त्व गृहाणास्मत्कृत जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

तत्पश्चात् 'अनेन यथासख्याकेन' (जो जपकी सख्या हो, यथा—'सपादलक्ष(सवा लाख)-सख्याकेन मृत्युञ्जय-जपाख्येन कर्मणा श्रीमहामृत्युञ्जयदेवता प्रीयता न मम।' —यह कहकर जल छोड दे।

उपर्युक्त प्रकारसे जपको अर्पित करके प्रार्थना कर—

मृत्युञ्जयमहारुद्र त्राहि मा शरणागतम्।
जन्ममृत्युजरारोगै पीडित कर्मबन्धनै ॥

'हे मृत्युञ्जय! महारुद्र! जन्म-मृत्यु तथा वार्धक्य आदि विविध रोगा एव कर्मोक बन्धनसे पीडित में आपकी शरणम आया हूँ, मेरी रक्षा करो।'

मन्त्रोच्चारण, पूजन एव जपादि-कर्मम जाने-अनजानम त्रुटि होना सम्भव है, अत उस दोपकी निवृत्तिके लिये दवतासे क्षमा-याचना करनी चाहिये—

यदक्षरपदभ्रष्ट मात्राहीन च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यता देव प्रसीद परमेश्वर॥

सभी कर्मों (श्रौत-स्मार्त आदि)-के द्रष्टा एव साक्षी भगवान् विष्णु होते हैं, अत उनका स्मरण करनेसे वे प्रमाद, आलस्यादिक कारण कर्मम जो कुछ कर्तव्य छूट जाता है, उसको पूर्ण करते है। अत अन्तम 'ॐ विष्णवे नम ' का तीन बार उच्चारण करना चाहिये। शास्त्रामे कहा गया है—

प्रमादात् कुर्वता कर्म प्रच्यवेताध्वरेपु यत्।
स्मरणादेव तद्विष्णो सम्पूर्णं स्यादिति श्रुति ॥
यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या जपयज्ञक्रियादिषु।
न्यून सम्पूर्णता याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

अनुष्ठानरूप जप-सख्या पूर्ण करनेके बाद जप-सख्याका दशाश होम, होमका दशाश तर्पण, तर्पणका दशाश मार्जन एव मार्जनका दशाश ब्राह्मण-भोजन करानेपर ही सम्पूर्ण अनुष्ठान माना गया है। यदि उक्त तत्तद् दशाश होमादि कर्म करनमे किसी विशप कारणवश असमर्थता हो तो जप-सख्याके दशाशका चोगुना (हजार मालाका दशाश एक सौ तथा उसका चागुना चार सो मालाके क्रमसे)-सख्या परिमित जप करनसे ही जप-कर्मकी साङ्गता (पूर्णता) हो जाती है।

वेदमे गायत्री-तत्त्व

(डॉ० श्रीश्रीनिवासजी शर्मा)

विश्व-वाङ्मयमे वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। ये ऋषियोंकी तपःपूत अनुभूतिके प्रकाश-पुञ्ज हैं। यास्कने अपने विश्रुतग्रन्थ निरुक्त (१। ६। २०)-में संकेत किया है—'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' अर्थात् ऋषियोंने धर्मका साक्षात्कार किया था। वे वेदमन्त्रोंके द्रष्टा थे, रचयिता नहीं। वस्तुतः साक्षात्कृतधर्मा ऋषियोंके द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्रीय तत्त्वोंके निदर्शन ही वेद हैं। वेद ही भारतीय संस्कृति, समाज, धर्म, दर्शन, जीवन और विविध विद्याओंके मूल उत्स हैं।

वेदके छः अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। वेदमन्त्रोंके छोटे-छोटे समूह 'सूक्त' कहलाते हैं। प्रत्येक सूक्तके ऋषि, देवता और छन्दका ज्ञान आवश्यक माना गया है। इनके ज्ञानसे हीन जो व्यक्ति मन्त्रोंसे जप, यज्ञ, उपासना आदि करता है, उसका अभीष्ट फल उसे प्राप्त नहीं होता।

छन्दका वेदोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद छन्दोंमें रचित हैं। पाणिनिने छन्दका प्रयोग वेदके अर्थमें अनेक बार किया है[1]। वेदके 'पुरुषसूक्त' में आया है कि सम्पूर्ण रूपसे हुत उस यज्ञसे ऋचाएँ तथा सामवेद उत्पन्न हुए। छन्द तथा यजुष् भी पैदा हुए।[2] इन छन्दोंमें गायत्री प्रमुख छन्द है। अमरकोशमें कहा गया है—'गायत्री प्रमुखं छन्दः।' वेदोंमें प्रमुख रूपसे सात छन्दोंका प्रयोग देखनेमें आता है—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, त्रिष्टुभ्, बृहती, पंक्ति तथा जगती। वेदके उपर्युक्त छन्दोंमेंसे गायत्री और उष्णिक्को छोड़कर शेष छन्द चार-चार पाद (चरण)-के हैं। गायत्री और उष्णिक् तीन-तीन पादोंके हैं। इसलिये गायत्रीको त्रिपदा गायत्री कहा गया है।

वेदमन्त्रोंके छन्द वर्णिक छन्द हैं। उनमें लघु-गुरुकी गणनासे छन्द निर्मित नहीं होते। केवल अक्षर गिने जाते हैं। आधे अक्षर गणनामें नहीं आते। गायत्री छन्दमें ८,८,८ के क्रमसे २४ अक्षर होने चाहिये, परंतु गायत्रीके पहले पादमें ७ अक्षर हैं। इसलिये यह भी प्रसिद्धि है कि 'तत्सवितुर्वरेण्यं' इस पादमें 'वरण्य'की जगह 'वरेणियं' ऐसा पढ़ना चाहिये, जिससे एक अक्षर बढ़ जायगा—

त त् स वि तु र्व रे णि यं—इस तरह उच्चारण करनेपर पहले पादमें भी ८ अक्षर हो जायँगे।

[बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर गायत्रीको चार पादवाली कहा गया है। चार पादवाली गायत्रीमें 'भूमिरन्तरिक्षं द्यौः' को प्रथम पाद कहा गया है। 'ऋचो यजूंषि सामानि' को द्वितीय पाद कहा गया है। 'प्राणोऽपानो व्यानः' को तृतीय पाद कहा गया है। गायत्रीके ये तीन पाद हैं और परब्रह्म परमात्मा चतुर्थ पाद हैं।]

गायत्रीमन्त्र गायत्री छन्दमें रचा गया अतिप्रसिद्ध मन्त्र है। इस स्तुति-मन्त्रका गायत्रीके साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इस मन्त्रको ही गायत्रीमन्त्र कहा जाता है। मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

यह मन्त्र यजुर्वेद (३। ३५)-में आया है। यही मन्त्र सामवेदमें आया है और प्रायः सभी वेदोंमें किसी-न-किसी संदर्भमें इसका बार-बार संकेत मिलता है। कहीं-कहीं तो गायत्री और वेदको समान अर्थमें भी प्रयुक्त किया गया है। गायत्रीमन्त्रसे पहले 'ॐ' लगानेका विधान है। 'ॐ' को अनेक अर्थोंमें परमात्माका वाचक कहा गया है। उसे प्रणव

१-(क) कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि (अष्टाध्यायी ४। १। ७१)।

(ख) छन्दस्युभयथा (अष्टाध्यायी ६। ४। ५)।

२-तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (यजु० ३१। ७)

कहा जाता है। प्रणव परब्रह्मका नाम है—'तस्य वाचक प्रणव ।' उपनिषदामे इसकी व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा है—'प्राणान्सर्वान्परमात्मनि प्रणाययतीत्येतस्मात्प्रणव ' (अथर्वशिखोपनिषद्) अर्थात् प्राणको परमात्मामे लीन करनेके कारण इसे 'प्रणव' कहा गया है। वेदका आरम्भ 'ॐ'से किया जाता है—'ओङ्कार पूर्वमुच्चार्यस्ततो वेदमधीयते' इसलिये गायत्रीमन्त्रसे पहले भी 'ॐ' लगाया जाता है।

बृहन्नारदीयोपनिषद्में 'ओम्' के अ+उ+म्—इन तीन अक्षराको क्रमश ब्रह्मा, विष्णु और शिवका रूप माना गया है। गीताम इसको एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है—'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म।' ऐसा भी वर्णन आता है कि 'अ'कार परमात्माका वाचक है, 'उ'कारका अर्थ जीवका परमात्मासे अनन्य सम्बन्ध है और 'म'कारका अर्थ है जीवात्मा, जो परमात्माका अश है।

भू भुव स्व—ये तीना महाव्याहृति कहलाते हैं। ये महारहस्यात्मक हैं। ये गायत्रीमन्त्रके बीज हैं। गायत्रीमन्त्रसे पहले 'ॐ' के बाद 'भू भुव स्व ' लगाकर ही मन्त्रका जप करना चाहिये। बीजमन्त्र मन्त्राके जीवरूप होते हैं। बिना बीजमन्त्रका मन्त्र-जप करनसे वे साधनाका फल नहीं देते। विभिन्न दवताआके बीजमन्त्र अलग-अलग होते हैं जैसे 'ए' सरस्वतीका, 'ह्रीं क्लीं' कालीका, 'श्रीं' लक्ष्मीका, 'ग' गणपतिका। प्राय बीजमन्त्राके साथ अनुस्वार अर्थात् बिन्दु लगाया जाता है। 'ॐ' प्रणवको सभी जगह बीजमन्त्राके प्रारम्भमे लगानेका विधान है। अन्तम यथासम्भव 'नम ' लगाना चाहिये। आदिमे प्रणव अर्थात् 'ॐ' लगाकर अन्तम 'नम ' लगानेवाले मन्त्र शान्ति, भोग एव सुख देनेवाले होते हैं। अन्तम 'नम ' वाले मन्त्र देवताको वशम करनेवाले होते हैं। बिन्दु अन्तवाले मन्त्र देवताको प्रसन्न करनेवाले होते हैं—

विन्द्वन्त प्रीतिकृच्चैव नमोऽन्त च वशीकृत।
नमोऽन्त प्रणवाद्यश्च शान्तिभोगसुखप्रदा॥

गायत्रीमन्त्रके देवता सविता ह। यह मन्त्र सावित्री भी इसीलिये कहलाता है। गायत्रीका शाब्दिक अर्थ है—'गायत् त्रायते'—गानेवालेका त्राण करनेवाली।

ॐ (प्रणव) और महाव्याहृतियासहित गायत्रीमन्त्र इस प्रकार है—

ॐ भूर्भुव स्व तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रयोदयात्॥

इसका अर्थ यह है कि 'पृथ्वीलाक, भुवर्लोक और स्वर्लोकम व्याप्त उस श्रेष्ठ परमात्मा (सूर्यदेव)-का हम ध्यान करते हैं, जा हमारी बुद्धिको श्रेष्ठ कर्मोंकी ओर प्रेरित करे।

गायत्रीकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे आर्ष-ग्रन्थामे विचार किया गया है। कहते हैं ॐकारसे व्याहृति हुई। व्याहृतियोसे गायत्री हुई—'ओङ्काराद्व्याहृतिरभवद् व्याहृत्या गायत्री।' गायत्रीका सम्बन्ध वेदसे इस तरह बताया गया है कि गायत्रीसे सावित्री, सावित्रीसे सरस्वती, सरस्वतीसे सभी वेद, सब वेदासे सारे लोक और अन्तमें सब लोकासे प्राणी उत्पन्न हुए[1]।

गायत्रीमन्त्रके ऋषि विश्वामित्र हैं। गायत्रीरहस्योपनिषद्मे गायत्रीके २४ अक्षर बतलाये गये हैं—'चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपदा वा चतुष्पदा' अर्थात् २४ अक्षरावाली गायत्री तीन पाद या चार पादकी है। प्रत्येक अक्षरके ऋषिके नाम भी दिये हैं। चौवीसवे ऋषिका उल्लेख करते समय बताया गया ह कि ये चौबीसव ऋषि आङ्गिरस विश्वामित्र हैं—**चतुर्विंशमाङ्गिरस विश्वामित्रमिति प्रत्यक्षराणामृषयो भवन्ति**[2]। अर्थात् चोबीसवे अक्षरक ऋषि आङ्गिरस विश्वामित्र है। इस तरह प्रत्येक अक्षरके ऋषि होते हे अर्थात् गायत्रीके चौबीस अक्षर हैं तो उनके द्रष्टा चौबीस ऋषि है।

गायत्रीका महत्त्व श्रीमद्भागवतमहापुराणके उन वचनोसे

१-गायत्र्या सावित्र्यभवत्। सावित्र्या सरस्वत्यभवत्। सरस्वत्या सर्वे वेदा अभवन्। सर्वेभ्यो वेदेभ्य सर्वे लोका अभवन्। सर्वेभ्यो लोकेभ्य सर्वे प्राणिनोऽभवन् (गायत्रीरहस्योपनिषद्)।

२-गायत्रीके चौबीस अक्षरोके चौबीस ऋषियोके नाम इस प्रकार हैं—पहले अक्षरके ऋषि वसिष्ठ दूसरेके भारद्वाज तीसरेके गर्ग चौथेके उपमन्यु, पाँचवेके भृगु, छठेके शाण्डिल्य सातवके लोहित आठवके विष्णु, नवके शातातप, दसवेके सनत्कुमार ग्यारहवके वेदव्यास बारहवेके शुकदेव तेरहवेके पाराशर्य चौदहवके पौण्ड्रकर्म पद्रहवके क्रतु, सालहवके वक्ष सत्तरहवेके कश्यप अठारहवके अत्रि, उन्नीसवेके अगस्त्य बीसवेंके उद्दालक इक्कीसवेके आङ्गिरस बाईसवक नामकेतु, तेईसवके मुद्गल और चौबीसवेक आङ्गिरस विश्वामित्र हैं। (यहींपर २४ अक्षरोकी २४ शक्तियो और २४ अक्षरोके २४ तत्त्वाका भी उल्लेख है।)

सहज ही उभर कर सामने आ जाता है, जहाँ गायत्रीको पुरुषसूक्त, वेदत्रयी, भागवत, द्वादशाक्षर आदिके समकक्ष वर्णित किया गया है। वहाँ १६ चीज समान बतलायी गयी हैं—

> वेदादिर्वेदमाता च पौरुष सूक्तमेव च।
> त्रयी भागवत चैव द्वादशाक्षर एव च॥
> द्वादशात्मा प्रयागश्च काल सवत्सरात्मक ।
> ब्राह्मणाश्चाग्निहोत्र च सुरभिर्द्वादशी तथा॥
> तुलसी च वसन्तश्च पुरुषोत्तम एव च।
> एतेषा तत्त्वत प्राज्ञैर्न पृथग्भाव इष्यते॥
>
> (माहात्म्य ३। ३४—३६)

अर्थात् वेदादि (ॐकार), वेदमाता (गायत्री), पुरुषसूक्त, वेदत्रयी, भागवत, द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय), द्वादशात्मा (सूर्यभगवान्), प्रयाग, सवत्सरात्मक काल, ब्राह्मण, अग्निहोत्र (यज्ञ), सुरभि, द्वादशी तिथि, तुलसी, वसन्त और पुरुषोत्तमभगवान्—इनम विद्वान् पृथक्-भाव नहीं देखते। अर्थात् ये सब समान है। जो कुछ भी उच्च, श्रेष्ठ, वरेण्य, पवित्र और पूज्य है, वह गायत्री हे और वही वेदाका तत्त्व है।

गायत्री वेदके और अनेक तत्त्वाकी तरह परवर्ती वाड्मयमे कैसा प्रभाव रखती हे, इसको लक्ष्य करके सताने कहा है कि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम २४ हजार श्लोक हैं। उनमें प्रत्येक एक हजारके पहले-पहले अक्षरको ले लिया जाय तो पूरा गायत्रीमन्त्र बन जाता है।

वैदिक वाड्मयके इस अतिप्रसिद्ध मन्त्रके पढने-जपनेके अनेक प्रशसापरक माहात्म्य वर्णित किये गये हैं। उसके 'धीमहि' और 'धियो यो न प्रचोदयात्' शब्द शब्द-समूहाका आश्रय लेकर अनेक देवी-देवताओकी गायत्री बनायी गयी है। गणपत्युपनिषद्मे गणशकी गायत्री इस प्रकार रचित है—

ॐ एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

देवीभागवतमे भगवतीकी स्तुति इसी मन्त्रकी छवि-छायासे पूर्ण है—

सर्वचैतन्यरूपा तमाद्या विद्या च धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्॥

देवीभागवतकी समाप्तिपर भी इसी तरहकी देवी गायत्री मिलती है—

> सच्चिदानन्दरूपा ता गायत्रीप्रतिपादिताम्।
> नमामि ह्रींमयीं देवीं धियो यो न प्रचोदयात्॥

'विद्महे धीमहि' और 'धियो यो न प्रचोदयात्' शब्दाको गायत्री-मातासे गृहीत करक और भी देवी-देवताआकी गायत्री रची गयी है। वे गायत्रीमन्त्रकी पवित्रता, उच्चता और सर्वोत्कृष्ट मन्त्रत्वको प्रकाशित करनवाली हैं। उनमसे कुछक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

राम-गायत्री—ॐ दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो राम प्रचोदयात् (गायत्रीतन्त्र)।

शिव-गायत्री—ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्र प्रचोदयात् (शिवोपासना)।

सूर्य-गायत्री—ॐ आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि। तन्न सूर्य प्रचादयात् (सूर्योपनिषद्)।

हनुमद्-गायत्री—ॐ आञ्जनेयाय विद्महे वायुपुत्राय धीमहि। तन्नो हनुमान् प्रचोदयात् (गायत्रीतन्त्र)।

उनके स्मृतिग्रन्थाम जहाँ मानवकी आचार-श्रेष्ठताको व्याख्यायित किया गया है, वहाँ गायत्री-तत्त्वको भूयोभूय प्रतिष्ठित किया गया है। लघुहारीत-स्मृतिम उल्लख है कि द्विजाकी गायत्रीमन्त्रसे युक्त अञ्जलि-अर्घ्यसे सूर्यसे युद्ध करनेवाले ये मदेह राक्षस नष्ट हो जाते हैं[१]। वहींपर यह भी आया है कि प्रात काल गायत्रीका जप खडे होकर कर और तबतक करे, जबतक सूर्यभगवान्के दर्शन न हा जायँ। सध्याकालको गायत्रीका जप बैठकर कर ओर जबतक तारे न दीखे तबतक करे। एक हजार बार किया गया गायत्रीमन्त्र-जप सबसे श्रेष्ठ है। यह कहा गया है कि जो नित्य गायत्रीको जपता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता—'गायत्रीं यो जपेन्नित्य न स पापेन लिप्यते।' सवर्त-स्मृति (२१३)-में आया है— 'मुच्यते सर्वपापभ्यो गायत्र्या चैव पावित ।' अर्थात् गायत्रीसे बढकर पापका शाधक कोई नहीं है। शङ्खस्मृति (१२। ३)-मे कहा गया है— न सावित्र्या सम जप्य न व्याहृतिसम हुतम्। अर्थात् सावित्री जपके समान कोई जप नहीं हे और व्याहृतियाके द्वारा किये गय हवनके समान काई हवन नहीं है। साराश

१-उदकाञ्जलिनिक्षेपा गायत्र्या चाभिमन्त्रिता । निघ्नन्ति राक्षसान् सर्वान् मन्देहाख्यान् द्विजेरिता ॥
(लघुहारीत० ४। १४)

यह है कि गायत्रीकी श्रेष्ठताका श्रुति-स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थोमे अत्यन्त प्रशसनीय और आचरणीय व्याख्यान मिलता है। उसके महत्त्वका सारभूत निम्नलिखित श्लोक ईक्षणीय है—

गायत्रीवेदजननी गायत्रीपापनाशिनी ॥
गायत्र्या परम नास्ति दिवि चेह च पावनम्।

(शङ्खस्मृति १२। ११-१२)

अर्थात् 'गायत्री वेदाकी माता है। गायत्री पापोका नाश करनेवाली है। द्युलोकमे और इस लोकमे गायत्रीसे बढकर कोई भी पवित्र करनेवाला नहीं है।'

शास्त्रोमे गायत्रीमन्त्रके जपकी विपुल महत्ता प्रतिपादित है। अत जपकर्ताको चाहिये कि वह बाह्याभ्यन्तर शुद्धिपूर्वक, सकल्पादि करके अङ्गन्यास, करन्यास एव विनियोगपूर्वक निम्न ध्यान-श्लोकके साथ जप प्रारम्भ करे—

ध्येय सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायण सरसिजासनसनिविष्ट ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्र ॥

अर्थात् 'सूर्यमण्डलके मध्यमे कमलके आसनपर विराजमान भगवान् नारायणका सदैव ध्यान करना चाहिये। वे तपे हुए स्वर्ण-जैसे कान्तिमान् शरीरको धारण किये हुए हैं। उनके गलेमे हार, सिरपर किरीट और कानामे मकर-कुण्डलरत्न शोभित हैं। वे दोना हाथोम शङ्ख-चक्र धारण किये हुए हैं। गायत्रीका जप करते समय सूर्यमण्डलमे भगवान्का चिन्तन करना चाहिये।'

गायत्री सम्पूर्ण वेदोकी जननी है। ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने माना है कि जो गायत्रीका अभिप्राय है, वही सम्पूर्ण वेदाका अर्थ है। गायत्रीद्वारा विश्वोत्पादक स्वप्रकाश, परमात्माके उस रमणीय चिन्मय तेजका ध्यान किया जाता है, जो समस्त बुद्धियाका प्रेरक एव साक्षी है। इसलिये विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जिनम विश्वकारणता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, साकारता, निराकारता आदि है, वे सभी परमेश्वर हे और सभी गायत्रीमन्त्रके अर्थ हैं। इसलिये पञ्चदेवाका या अपने किसी भी इष्टदेव—राम, कृष्ण, दुर्गा अथवा हनुमान्का ध्यान गायत्रीमन्त्र-द्वारा किया जा सकता है। अत गायत्री वेद और भारतीय सस्कृतिका प्राण है।

आख्यान—

शुद्ध-हृदयके रक्षक देव

सारे उपद्रव, उत्पात और अशान्तिकी जड है हृदयकी अशुद्धि। अशुद्ध मनमे विचार भी मलिन ही प्रतिफलित होते हैं, जैसे कि मलिन दर्पणमे स्वच्छतम मुख मलिन दीखता है। फिर जब विचार मलिन (अशुद्ध) हुए तो इच्छा निर्मल कैसे होगी? काले धागेसे काला ही कपडा बुना जायगा, सफेद नहीं। विचार (ज्ञान) और इच्छाके मलिन होनेपर उनसे होनेवाली कृतिकी शुद्धताकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। आज ससारमे सर्वत्र अशान्ति, अव्यवस्था और अरक्षणका जो वातावरण छाया हुआ है, उसका एकमात्र कारण मलिन कृति (अशुद्ध आचार) ही हे। इस स्थितिको परिवर्तित कर पुन विश्वमे शान्ति, सुव्यवस्था और सुरक्षाका साम्राज्य लाना हो तो सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्तिको आचारमे शुद्धि लानी होगी। आचारम शुद्धि आयेगी शुद्ध इच्छासे, शुद्ध इच्छा बनेगी शुद्ध ज्ञानसे और शुद्ध ज्ञान प्रतिफलित होगा शुद्ध-हृदयम ही। इस प्रकार हृदयकी शुद्धि आजका कर्तव्य सिद्ध होता है।

भारत राष्ट्रने सदेव इसीपर जोर दिया है। यही भारतीय सस्कृतिकी प्राणपदा निष्ठा है। हमारे पूर्वजोके निर्मल हृदयम एक ही विचार प्रतिफलित होता रहा, और वह है—

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत्॥

हम चाहते हैं कि सभी सुखी हो, सभी नीराग रह, सभी भला-ही-भला देख, कोई दु खका भागी न बने। विश्वहितका मूल, सदिच्छारूप यह रत्न एकमात्र शुद्ध हृदयकी खानसे ही सुलभ हो सकता है।

आप कहगे बात तो है मार्केकी, पर है केवल अध्यात्मवादियातक ही सीमित। राष्ट्ररक्षाके सदर्भम यह साधन काम नहीं देगा। राष्ट्ररक्षा तो राजनीति और कूटनीतिसे ही होती है और उसके लिये मनम कुछ, वचनम कुछ ओर कृतिमे कुछ रखना ही पडता है। सर्वथा शुद्ध-हृदय बननेपर यह कैसे सम्भव है? राष्ट्रनीतिम भी हम इतने 'भगत' वन जायँ तो हमार राष्ट्रकी रक्षा भगवान्के

ही हाथ है। भारतका ता चिर-अनुभूत विचार है—

देवा रक्षन्ति त नित्य यस्य स्याद्विमल मन ।
ररक्षेन्द्रोऽमलान् नर्यतुर्वीतियदुतुर्वशान्॥

अर्थात् 'जिसका चित्त निर्मल हा, उसम किमी तरहका छल-छद्म, द्वन्द्व न हो, उसकी रक्षा स्वय देवता किया करते है। वेदिक युगम नर्य-तुर्वीति, यदु और तुर्वश नामके अत्यन्त शुद्ध-हृदय राजा हुए ह। अवसर पडनेपर शवर-जैसे महाबली असुरसे साक्षात् देवराज इन्द्रने उनकी रक्षा की और उन्ह बाल-बाल बचा लिया।'

ध्यान रखिय कि भारतीय वैदिक सस्कृतिकी दुनिया कयामततक सीमित नहीं ह। सच तो यह हे कि अन्य सस्कृतियाकी जहाँ 'इति' होती है, वहाँसे भारतीय सस्कृतिका 'अथ' है। इतनी दूरतक हम पहुँच चुके हे। हमारी मान्यता है कि हमपर एक 'सिक्युरिटी कोन्सिल' (सुरक्षा-परिषद्) है, जो केवल प्रस्ताव मात्र पास करक कृतकृत्य नहीं हो जाती, प्रत्युत स्वय उसम पहल करती है। वह नि शस्त्रीकरणका प्रस्ताव मात्र पास कर चुप नहीं वैठती, उसे कार्यान्वित करनेम सक्रिय भाग लेती आर करके छाडती हे। उसे यह कदापि सह्य नहीं कि कोई प्रस्तावक समय मोखिक रूपमे नि शस्त्रीकरण ओर सेन्य-विघटनका समर्थन करे आर भीतर-ही-भीतर अणुबम-जैसे विध्वसकास्त्र बनाये, उत्तरोत्तर अरबोके आँकडामे सुरक्षाका बजट बढाये और अणु-परीक्षणके नामपर विश्वको आतकित करता रहे।

हमारे पास एक अद्भुत शक्ति है, जिस हम 'देवशक्ति' कहा करते ह। वह विश्वके मङ्गलके लिये वचनबद्ध है किंतु उसके निकट पहुँचन ओर उसका रक्ष्य-सूचीकी सदस्यता पानकी एकमात्र याग्यता 'विमल-मन' है राजनीतिक-कूटनीतिक दाँव-पच कदापि नहीं। अतीतकी गोरवमयी एक वेदिक कथा ही इस कथनकी पुष्टि करती ह जो इस प्रकार है—

प्राचीन कालम इस दशम नर्य तुर्वीति यदु और तुर्वश[1] नामके चार राजा हुए, जो अपने-अपने प्रदशाका शासन करत हुए प्रजाकी पुत्रवत् रक्षा करते थे। चाराम प्रथम नर्यक नामस हा स्पष्ट हे कि व नरमात्रक हितकारी थे। सरल-विमल-हृदय इन राजाआके प्रति उनका प्रजावर्ग जन्मदाता-सा आदर और स्नेह रखता ओर उनके राज्य अत्यन्त शान्ति-सौमनस्यके साथ चलते थे। सक्षेपमं कृतयुगके इस वर्णनकी अस्पष्ट झाँकी इनके राज्यम पायी जाती थी कि 'तब न राजा था न राज्य, न दण्ड और न दाण्डिक, सभी लोग एकमात्र धर्मसे ही अपने-आप अपना शासन कर लेते थे।'

किंतु ससारम सभी सत्त्वप्रकृतिके नहीं हुआ करते। प्रकृतिके परस्पर-विरोधी नित्य गुणाके रहते सबका सत्त्वप्रकृतिमात्र रहना सम्भव ही कहाँ? विधर्मी विदशी शासक शवरने अपनी ही विचारधाराके क्रूरकर्मा सहयोगी पिप्रु, कुयव और शुष्ण नामक माण्डलिकाको साथ ले उन राजाआपर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। उन्हाने इन राज्याके दूरवर्ती, सीमाके कितने ही भागोपर अधिकार जमा लिया आर वहींसे आये दिन इन राज्यामे उपद्रव मचाया करते थे। फलत प्रजावर्ग अत्यन्त सत्रस्त हो उठा।

इसपर उपाय-योजनाकी दृष्टिसे प्रथम चारो राजाआकी गाष्ठी हुई। स्वभावत शान्तिप्रिय होनेसे इन्होंने एकमतसे यही निश्चय किया कि आक्रामक शवर और उसके सहयोगियाकी 'गालमेज परिषद्' बुलायी जाय तथा यह प्रश्न शान्तिसे हल हो। व्यर्थमे उभयपक्षकी धन-जन-हानिस लाभ ही क्या?

शवरक पास शान्तिवार्ताके लिये निमन्त्रण भेजा गया। अन्तरसे न चाहते हुए भी कूटनीतिक दाँव-पचकी दृष्टिसे उसने वह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

शान्ति-परिषद् बैठी। राजाआने कहा कि 'आप लोग जहाँ हैं, वहीं रह जायँ और वहाँकी प्रजाका हित देखते हुए उसका शासन कर। भविष्यम ओर साम्राज्यवादी पजा फैलाने तथा सारा वातावरण क्षुब्ध करनेकी कुचेष्टा न कर, साथ ही अपनी सेना विघटित कर द तो आपस शान्तिपूर्ण समझौता हा सकता हे।'

शवर और उसक सहयागियान कहा—'हम प्रस्ताव स्वीकार्य है। यदि आप भी अपनी सारी सेना विघटित कर द तथा कभी हमपर आक्रमणकी न साचे न हमारी

१-ये सभी ऐतिहासिक राजा हैं जिनका पुराणादिमें उल्लख पाया जाता है। यदु और तुर्वश ता महाराज ययातिक ही पुत्र हैं। उनके चार पुत्र थे जिनमेंसे द्रुह्यु सुदासाद्वारा मारा गया। यदुक यदुवशी यादव हुए, जिनक वशमें भगवान् श्रीकृष्णने जन्म लिया। तुर्वश इन्हीं दासाक भयसे भारतसे बाहर तुर्क दशम चला गया। वहाँके वातावरणसे प्रभावित हुआ और उसीका सारा विस्तार मध्यपूर्वका राजवश एव प्रजा है। वातावरणके प्रभावमे उनका धर्मान्तर भी हो गया फिर भी चन्द्रवशक मूल पुरुष चन्द्रक प्रति उनकी निष्ठा बनी रही जो आज भी ईद आदिक अवसरपर चन्द्रदर्शनकी उनका उत्कट उत्सुकतास स्पष्ट है। अनजानमें अपने वशके इस मूल पुरुषको उन्हाने अपने ध्वजपर भा सम्मान्य स्थान दिया है।

अधिकृत भूमि छीननेका प्रयास करे तो आपकी यह बात मान ली जा सकती है।'

बीचमें ही उनका एक साथी अपने नेता शबरसे बोल उठा—'यह क्या कर रहे हैं? इस तरह तो सारा खेल बिगड़ जायगा।' शबरने संकेतसे उसे चुप करा दिया। उसकी आँखोंकी भाषा ही बता रही थी कि यह भी एक कूटनीतिक दाँव है, जिसे साथियोंको समझते देर न लगी।

संधि हो गयी। राजाओंने तो प्रस्तावानुसार पहलेसे ही अत्यल्प अपनी सैन्यशक्तिको और भी विघटित कर दिया तथा वे शान्तिसे रहने लगे।

बड़ी मुश्किलसे इस घटनाको एक वर्ष बीता होगा कि उचित अवसर पाकर शबरने अपने तीनों साथियोंके साथ चारों राज्योंपर चौतरफा आक्रमण कर दिया। गुप्त संयोजनके फलस्वरूप उसके ९९ किले भी तैयार थे, जहाँ सुरक्षित विशाल वाहिनी और सैन्य-सामग्री कुछ ही दिनोंमें ऐसे कितने ही राज्योंको नामशेष करनेकी क्षमता रखती थी।

इधर शान्तिवार्ता और समझौतेके फलस्वरूप रही-सही सेना भी विघटित कर देनेसे ये भारतीय नरेश अत्यन्त दयनीय हो गये। ऊपरसे सर्वसाधन-सम्पन्न शत्रुके चतुर्दिक् आक्रमणसे उनका धैर्य जाता रहा। बेचारोंके पास सिवा दैवी बलके कोई चारा न था। प्रजा भी इस अदूरदर्शितापर उन्हें कोसती आक्रमणके प्रतीकारार्थ सन्नद्ध नहीं हो पाती थी।

अन्ततः चारोंने मिलकर अत्यन्त भक्तिभावसे देवराज इन्द्रकी प्रार्थना की। विमलमति इन शासकोंकी प्रार्थना सुनते ही देवराज अपनी स्वर्गीय सेना ले विमानोंसे पृथ्वीपर उतर आये और देखते-देखते शत्रुका सारा आक्रमण उस प्रकार काट-छाँट दिया, जिस प्रकार प्रचण्ड पवन घनीभूत मेघ-पटलको खण्ड-खण्ड कर देता है।

देवराज इन्द्रने न केवल आत्मरक्षाकी लड़ाई लड़कर राजाओंकी रक्षा की, प्रत्युत शत्रुसे आक्रमणात्मक युद्ध लड़कर उसके ९९ किले भी ध्वस्त कर दिये और राष्ट्रविप्लवकारी शबरसहित चारों आक्रामकोंको मौतके घाट उतार दिया।

शत्रुओंके इस भीषण तूफानको कुछ ही क्षणोंमें शान्त कर देवराज चारों राजाओंके पास पहुँचे और बोले—'राजाओ! अब आपका क्या प्रिय किया जाय?'

राजाओंने प्रणामपूर्वक कहा—'देवराज! हम आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिये समर्थ शब्द ही नहीं पा रहे हैं। इसी तरह संकटके समय विमलचेताओंकी सदैव रक्षा किया करें यही प्रार्थना है।'

देवराज 'तथास्तु' कहकर अपने दलबल-सहित स्वर्ग लौट आये।

कथाका आध्यात्मिक रहस्य

प्रस्तुत कथाके आधिभौतिक रहस्य और उपदेशके विषयमें आरम्भमें कुछ कहा गया, किंतु ध्यान देनेकी बात है कि हमारी वैदिक कथाएँ रूपकशैलीमें अपनेमें गूढ आध्यात्मिक रहस्य छिपाये रहती हैं।

प्रस्तुत कथामें राजा शुद्धचित्त साधकोंके प्रतीक हैं और देवराज इन्द्र हैं गुरुदेव। शुद्धचित्त साधकोंद्वारा सभक्ति उपासना करनेपर वे सदैव शबर और उसके साथियोंको नष्ट कर उनकी रक्षा किया करते हैं। शबर है मूल अज्ञानका प्रतीक। कारण, वह कल्याणस्वरूप आत्मतत्त्वको आवृत कर देता है ('श वृणोतीति शबर')।

निर्मलचित्त साधकको गुरु आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कराकर उसका मूल अज्ञान नष्ट कर देता है, तो उस अज्ञानके सारे कार्य उपादान-कारणके नाशसे अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। यह कथाका गूढतम आध्यात्मिक रहस्य है। ऋग्वेद (१। ५४। ६)-में इस कथाका संकेत करते हुए कहा गया है—

त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिं वय्यं शतक्रतो।
त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव॥

अर्थात् सव्य ऋषि जगती छन्दद्वारा देवराज इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं—हे शतक्रतो इन्द्र! आपने नर्य, तुर्वश, यदु और वय्य कुलके तुर्वीति राजाओंकी रक्षा की। आपने संग्राममें इन राजाओंके अश्वोंकी रक्षा की। प्रभो, आपने शबर दानवके निन्यानवे किलोंको (अज्ञानके समस्त कार्योंको) नष्ट कर दिया।' [अतः हमारे भी समस्त अज्ञानान्धकारको दूर करें।]

इस ऋचाके अतिरिक्त दूसरे स्थलोंपर भी इस कथाके संकेत-सूत्र ऋग्वेद (१। ३८। १८, १। ११२। ९, १। ११२। २३)-में प्राप्त होते हैं।

वेदोंके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

[ससारमे सर्वत्र सुख-दु ख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, दरिद्रता-सम्पन्नता, रुग्णता-स्वस्थता और बुद्धिमत्ता-अबुद्धिमत्ता आदि वैभिन्न्य स्पष्टरूपसे दिखायी पडता है, पर यह वैभिन्न्य दृष्ट कारणोसे ही होना आवश्यक नहीं, कारण कि ऐसे बहुत उदाहरण प्राप्त होते है कि एक माता-पिताके एक साथ जन्मे युग्म-बालकोकी शिक्षा-दीक्षा, लालन-पालन समान होनेपर भी व्यक्तिगत रूपसे उनकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती ह। जैसे कोई रुग्ण, कोई स्वस्थ, कोई दरिद्र तो कोई सम्पन्न, कोई अङ्गहीन तो कोई सर्वाङ्गसुन्दर इत्यादि। इन बातोसे यह स्पष्ट है कि जन्म-जन्मान्तरके धर्माधर्मरूप 'अदृष्ट' ही इन भोगोका कारण है। जीवनमे हम जो कुछ भी कार्य करते है, वे ही हमारे प्रारब्ध बनते हैं। मनुष्य जब जन्म लेता है, तब वह अपना अदृष्ट (प्रारब्ध या भाग्य) साथ लेकर आता है, जिसे वह भोगता है। वेद इन सम्पूर्ण विषयोका विवेचन प्रस्तुत करते है और प्राणिमात्रका कल्याण कैसे हो, इसका मार्ग प्रशस्त करते हुए मनुष्यमात्रके कर्तव्यका निश्चय करते है। साथ ही एहलौकिक जीवनकी सार्थकताके लिये सत्कर्म करनेकी प्रेरणा देते है। इसीलिये वेदोंके प्रतिपाद्य विषयोमे मनुष्यकी दिनचर्या, जीवनचर्या, सामान्यधर्म, विशेषधर्म, वर्णाश्रमधर्म, सस्कार, आचार (सदाचार, शौचाचार), विचार, यम-नियम, दान, श्राद्ध-तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, स्वाध्याय, सत्सग, अतिथि-सेवा, देवोपासना, सध्या-वन्दन, गायत्री-जप, यज्ञ व्रतोपवास, इष्टापूर्त, शुद्धि-तत्त्व, अशौच, पातक, महापातक, कर्म-विपाक, प्रायश्चित, पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष), भक्ति और अध्यात्मज्ञान आदि अन्यान्य विषय समाहित हैं। अस्तु।

वेदोमे जो विषय प्रतिपादित है, वे मानवमात्रका मार्गदर्शन करते है। मनुष्यको प्रतिक्षण कब क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये, साथ ही प्रात काल जागरणसे रात्रिपर्यन्त सम्पूर्ण चर्या और क्रिया-कलाप ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय है।—सम्पादक]

वैदिक सस्कृति और सदाचार

(डॉ० श्रीमुशीरामजी शर्मा सोम' डी० लिट्०)

वैदिक सस्कृति सदाचारको जितना महत्त्व प्रदान करती है, उतना अन्य उपादानोको नहीं। आप चाहे अद्वैतको मानिये और चाहे द्वैतको यदि आप सदाचारी नही हैं तो आपकी मान्यता निरर्थक है—बालूमसे तेल निकालनेक समान है। यदि आप सदाचारी ह तो ईश्वरमे विश्वास या अविश्वासका प्रश्न उठेगा ही नही और यदि आप सदाचारी नहीं ह तो वेदके शब्दोम 'ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृत '—'दुराचारी सत्यके मार्गको पार कर ही नहीं सकते'—इसपर आपको ध्यान देना होगा। सदाचारी व्यक्ति ही सत्य-पथका अनुगामी है और जो सत्य-पथपर चल रहा ह वह एक दिन उसे पार कर ही जायगा—प्रभुको प्राप्त कर ही लेगा, क्योंकि 'ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्ति'—तात्पर्य यह कि ऋतके आदेश— सदाचारके सकेत प्रभुको सवर्धन करनेवाले हैं। 'स्वर्ग पन्था सुकृते देवयान ' अर्थात् स्वर्ग या ज्योतिकी ओर ले जानेवाला देवयान-पथ सुकृती सदाचारी व्यक्तिके ही भाग्यकी वस्तु है। इस प्रकार सदाचारी सत्पथका पथिक जाने या अनजाने उस परमगति—परमतत्त्वको ओर अपने-आप चला जा रहा है। वेदमे प्रार्थना आती है—परि माऽग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु॥ (यजु० ४। २८)

'सर्वाग्रणी देव। आप सबके नियन्ता है। मुझे दुश्चरितसे पृथक् कर और सब ओरसे सदाचारका भागी बनाये। मैं अमर देवोका अनुकरण करूँ तथा उत्तम आयु एव शोभन जीवन लेकर ऊपर उठ जाऊँ।' सदाचार ही ऊपर उठाता है। दुराचार तो गिरानेवाला है, आयुको क्षीण करनेवाला है, रोगोका अड्डा बनानेवाला है। सदाचारसे नीरोगता प्राप्त होती है आयु बढती है और प्राणी ऊपर उठता है। मानव यहाँ ऊँचा उठनेके लिये आया है, गिरनेके लिये नहीं। अत जो गिराता ह उसे ही हम गिरा देना चाहिये और जो उठाता है, उसे अपना लेना चाहिये। इसीमे कल्याण है। वेद सदाचारके लिये मनको शिवसकल्पमय बनानेकी आज्ञा देते हैं—'तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु'। मनमे शिवसकल्प उठेंगे तो वे आचरणमे भी फलीभूत होंगे क्योंकि 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'—का सिद्धान्त

सर्वांशत सत्य है। इस मनको सामग्री प्राप्त होती है ज्ञानेन्द्रियोसे। वेद कहते हैं—'**भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।**' अर्थात् 'हम कानासे भद्र शब्दोको सुने और आँखासे भद्रका ही दर्शन कर।' शिवसकल्पी मन आँखोसे भद्रका दर्शन करेगा ओर भद्रदर्शी ही शिवसकल्पी बनेगा। दोनामे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो बात आँख ओर कानके सम्बन्धम कही जाती है, वही अन्य ज्ञानेन्द्रियाके सम्बन्धमे भी कही जा सकती है। इस प्रकारका शिवसकल्पी मन भद्रदर्शी ओर भद्रश्रात्रीके साथ भद्र आचरण ही करेगा। उसके अङ्ग स्थिर हागे, शरीर देवाद्वारा स्थापित पूर्ण आयुको प्राप्त करेगा और वह भद्रका आशसी बनेगा।

स्वस्तिपथ सदाचारका पथ है। यह दानी, अहिसक और ज्ञानियाका पथ है। हमे सदाचारकी शिक्षाक लिये उन्हींके सत्सगमें रहना चाहिये। '**अग्ने नय सुपथा**'—'प्रभु हम इसी सुपथसे ले चल।' '**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेन**'—'कुटिलताक पापपथसे हमे दूर रख।' '**सुग कर्त सुपथा स्वस्तये**'—'सुपथको प्रभु हमारे लिये सुगम कर द, जिससे हम कल्याणके भाजन बन सक।' यदि '**न न पश्चात् अघ नशत्**'—'पाप हमारे पीछे न पडा' तो '**भद्र भवाति न पुर**'—'भद्र निश्चितरूपसे हमारे सामने आ जायगा।' हम प्रतिदिन प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—'**विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्र तन्न आ सुव**'—'प्रभो! हमारे दुरित, दुराचार दूर हा और जो भद्र हैं, मङ्गलमय या कल्याणकारी हैं, व ही हमे प्राप्त हो।' दुरित, दुराचार या कुत्सित आचरण हमारे विनाशका कारण हे। सदाचार हमे प्रतिष्ठित करता ह, जीवन देता है। '**स न पूषाऽविना भुवत्**'—अर्थात् 'सदाचार हमे पोषण देता है और हमारी रक्षा करता है।'

सदाचारम सत् है, श्रद्धामे श्रत् है। सत् और श्रत् प्राय एक ही हैं। यही धारण करनेवाले धर्म भी हैं। एसे धर्मोंका अध्यक्ष—'**अध्यक्ष धर्माणाम्**'—'अग्नि है, सर्वाग्रणी परमेश्वर है।' वही सत् और श्रत्का निधान है। उसोकी प्राप्ति धर्मकी प्राप्ति है, सत् और श्रत्की उपलब्धि है। इस प्रकार परमेश्वर, सत्य और धर्म एक ही हैं।

'**त्रिशूला न क्रिलय सुमातरो**'—'माताआक आग जसे शिशु क्रीडा करते हैं, वैसे ही हम भी प्रभुके आगे शिशुकी भाँति क्रीडा करनी चाहिये।' शिशु निरीह और निष्पाप हाता है। वह दुराचारका नाम भी नहीं जानता। सदाचार सहजरूपसे उसके अदर निवास करता हे। यदि हम भी शैशव वृत्ति धारण कर ले, बडे हाकर भी शिशुकी भाँति निष्कपट व्यवहार करे तो हम प्रभुके सानिध्य या सामीप्यम रहगे, सत् हमारा साथी बनेगा, भद्र हमारे पार्श्वम बसेगा और आनन्द रोम-रामम रमेगा। सदाचाररूपी वृक्षपर आनन्दका ही फल लगता है।

सदाचार-पथके पथिकको कभी प्रमादम नहीं पडना हे और न व्यर्थके प्रलापम भाग लेना हे। '**मा न निडा ईशत मोत जल्पि**'—'निद्रा या जल्पना काई भी हमारे ऊपर शासन न कर सके।' '**इच्छन्ति देवा सुन्वन्त न स्वप्नाय स्पृहयन्ति**'—क्याकि 'जा निद्रालु हे, साता हे, देव उसकी कामना नहीं करते।' दिव्य गुण या सदाचार उससे कोसा दूर भाग जाते ह। देव तो उसीसे प्रम करते हैं जो सदाचारी ह, सहनशील है, त्यागपरायण है। सदाचारक क्षेत्रम इसीलिये कोई छुट्टी नहीं है, अवकाशका दिन नहीं है—*There is no holiday in moral life*—इसम एक दिन क्या, एक क्षणके लिय भी छुट्टी मनाना, सदाचारस पृथक् हाना—वर्षोकी कमाईपर पानी फेर दना है। एक पलका भी प्रमाद अनन्तकालतकक पश्चात्तापका कारण हो सकता हे।

'**कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे**'—'हम अपने जीवनमें, अपने आचरणम ऊँचे ही उठते रह।' हमारा वर्तमान जीवन ओर उसकी कार्यप्रणाली एक लवी शृखलाकी कडी मात्र है। न जाने कवसे प्रयत्न करते-करते हम वर्तमान अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। कितनी ठोकर खायी हागी, कितने नीचे गिरे होगे और फिर उठनेम कितना प्रयास किया होगा। यदि विगतकी यह स्मृति जाग उठे ता हम प्राप्त क्षणाका अपने हाथसे कभी न जाने द। ऊँची चढाई कष्टसाध्य होती है, परतु जब ऊपर चढकर आनन्दका आस्वाद लेते हे, उन्मुक्त वातावरणम साँस लेत ह तो झेले हुए कष्ट फिर कष्ट नहीं रहते, आनन्दावसायी परिणतिम डूबकर समस्त आयास समाप्त हो जाते ह। अशिव और अमीव (कष्ट) पाछे छूट जात ह। शिव और स्वास्थ्य समक्ष ही नवल लास्य—नर्तन करन लगते हैं। जा वषम्य पल-पलम काटनको दोडता था, वह स्वय कट जाता हे और उसके स्थानपर शाभित हो जाता है—सामरस्य, जो सर्वोच्च काटिकी उपलब्धि है।

ऊर्ध्व स्थितिम पर्वता उतार-चढाव भी दिखायी नहीं देत। एक सुन्दर समतल प्रदश—आँगनक समान दृष्टिगोचर हाने लगता है। '**अत्रा इन्द्रस्य गिरयश्चिद् ऋष्वा**'—'मुक्त जीवक लिय उच्च, विशाल, पावत्य तुङ्ग-शृङ्ग अजिर-तुल्य

है' और 'गम्भीरे चिद् भवति गाधमस्मे'—'गहरे-से-गहरे निराशाजनक स्थलोमें भी उसके लिये आशाजनक पोत विद्यमान है।'

ऊपर हमने ऋतको सदाचार कहा है। अंग्रेजीमें ऋतका स्थानीय Right है। वेदमें ऋत और सत्यका युग है। ऋतका सम्बन्ध चर और चित्से है, सत्का सम्बन्ध अचर तथा अचित्से है। इस आधारपर सत्य वे नियम हैं, जो विश्वकी सतात्मक (Static) स्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं और ऋत वे नियम हैं जो उसकी गत्यात्मक तथा क्रियात्मक स्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं। यही दो नियम विश्वभरकी चराचर जड-जंगम अथवा चित्-अचित् स्थितियोंका नियन्त्रण करते हैं। एम्नुएल काण्ट कहा करता था—'Two things fill my mind with awe and reverance the theory heavence above and the moral love within'—'ताराभरे आकाशसे उसका लक्ष्य ब्रह्माण्डीय नियमोंकी ओर था, जिन्हें हमने सत्य कहा है।' मोरल लॉ या सदाचारके नियमको हम सत्य न कहकर ऋत कहेंगे। वैदिक संस्कृतिमें ऋत या सदाचारका नियम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संस्कृतिरूपी भवन इसीकी नींवपर खडा होता है। वेदमें ऋतकी प्रशंसा अनेक मन्त्रोंमें की गयी है। ऋतकी जडें बडी गहरी हैं। द्यौ-पुत्र ऋतके ही प्रशंसक हैं। आङ्गिरस प्राणप्रधान व्यक्ति ऋतके द्वारा ही 'विप्र' पदको प्राप्त करते हैं। विप्रकी वाणी ऋतसे ओतप्रोत रहती है। देव ऋतसे सम्पन्न, ऋत-जात तथा ऋतके बढानेवाले होते हैं। ऋतद्वारा ही वे मानवको पापसे छुडाते हैं। वे स्वयं ऋतसे द्युम्र या चमकीले बनते हैं। ऋतकी प्रथमजा प्रज्ञाका आश्रय लेकर वे सर्वज्ञ बन जाते हैं। देवोंमें वही देव पवित्र सामर्थ्यवान् तथा यज्ञिय बनते हैं जो ऋतसे अपनेको संयुक्त करते हैं। सदाचार ऋतके इसी नियमपर आधारित है। वैदिक संस्कृतिकी आधारशिला भी यही है। ऋत या सदाचारसे विहीन मानवको संस्कृत मानव किसीने कहीं भी नहीं कहा। हमें संस्कृत बनना है तो सदाचारको जीवनमें प्रमुख स्थान देना ही पडेगा। ऋतके नियमोंके आधारपर सच्चरित्र बनना होगा। यही जीवनका चरम लक्ष्य-पथ है।

सम-वितरण

विभज्य भुञ्जते सन्तो भक्ष्यं प्राप्य सहाग्निना। चतुरश्चमसान् कृत्वा तं सोमभृभवः पपुः ॥ (नीतिमञ्जरी)

सुधन्वाके पुत्र ऋभु, विभु और वाज त्वष्टाके विशेष कृपापात्र थे। त्वष्टाने उन्हें अपनी समस्त विद्याओंसे सम्पन्न कर दिया। उनके सत्कर्मकी चर्चा देवोंमें प्रायः होती रहती थी। उन्होंने बृहस्पतिको अमृत तथा अश्विनीकुमारोंको दिव्य रथ और इन्द्रको वाहनसे संतुष्ट कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त की थी। वेदमन्त्रोंसे वे देवोंका समय-समयपर आवाहन करते रहते थे। देवोंको सोमका भाग देकर वे अपने सत्कर्मसे देवत्वकी ओर बढ रहे थे।

× × ×

ऋभुओंने त्वष्टानिर्मित सोमपानका आयोजन किया। सामवेदके सरस मन्त्रोच्चारणसे उन्होंने सोमाभिषव प्रारम्भ कर उसे चमस[1] में रखा ही था कि सहसा उन्हींके आकार-प्रकार रूप-रंग और वयस्के एक प्राणी दीख पडे। ऋभुओंको बडा आश्चर्य हुआ।

'चमसके चार भाग करने चाहिये।' ज्येष्ठ पुत्र ऋभुने आदेश दिया। उनकी आज्ञाका तत्क्षण पालन हुआ विभु और वाजके द्वारा।

'अतिथिका सत्कार करना हमारा परम धर्म है, आप कोई भी हों हम लोगोंने आपको सम भागका अधिकारी माना है।' ऋभुओंने सोमपानके लिये अज्ञात पुरुषसे प्रार्थना की।

'देवगण आपसे प्रसन्न हैं, ऋभुओ! मुझे इन्द्रने आपकी परीक्षाके लिये भेजा था। आप लोग संत हैं। आपने अतिथि-धर्मका पालन करके अपना गात्र पवित्र कर लिया।' अग्नि प्रकट हो गये। उन्होंने सोमका चौथा भाग ग्रहण किया। इन्द्रने भी सोमका भाग प्राप्त किया। प्रजापतिने उन्हें अमरता प्रदान की। वे अपने शुभकर्मसे देवता हो गये।

[बृहद्देवता अ० ३। ८३—९०]

१-सोमरस धारण करनेवाले काष्ठपात्र-विशेषका नाम चमस है।

वैदिक कर्म और ब्रह्मज्ञान

(श्रीवसन्तकुमारजी चटर्जी एम्० ए०)

पाश्चात्य विद्वानोकी यह कल्पना है कि वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानम परस्पर-विरोध है। डॉ० विटरनित्ज लिखते हैं कि 'जब ब्राह्मण लोग यज्ञ-यागादिके निरर्थक शास्त्रमे प्रवृत्त थे, तब अन्य लोग उन महान् प्रश्नोके विचारमे लगे थे, जिनका पीछे उपनिषदाम इतनी उत्तमताके साथ विवेचन हुआ हे' (हिस्टरी ऑफ सस्कृत लिटरेचर पृ० २३१)। मि० मैकडॉनल कहते हे कि 'उपनिषद् यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थोके ही भाग हैं, क्याकि हैं वे उन्हींके ज्ञानकाण्डके विस्तारस्वरूप, तथापि उनक द्वारा एक नये ही धर्मका प्रतिपादन हुआ है, जो वैदिक कर्मकाण्ड या व्यवहारके सर्वथा विरुद्ध है' (हिस्टरी ऑफ सस्कृत लिटरेचर पृ० २१८)। इन विद्वानोको यह नहीं सूझा कि एक ही ग्रन्थके दो भाग एक-दूसरेके विरुद्ध कैसे हो सकते हैं। जो लोग भारतीय सस्कृतिकी परम्पराम नहीं जन्मे, नहीं फले-फूले, उन विदेशियाको तो इस गलतीके लिये क्षमा किया जा सकता है। उनका जन्मजात सस्कार ही वैदिक कर्मकाण्डके विरुद्ध है। उनकी तो यह समझ है कि य वैदिक कर्म अन्धविश्वासकी उपज हैं, आत्मज्ञानसे इनका काई सरोकार नहीं। परतु हम उन अग्रगण्य आधुनिक भारतीय विद्वानाको क्या कहे, जो वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानके इस पाश्चात्य विद्वानाद्वारा कल्पित परस्परविरोधका ही अनुवाद किया करते हैं? क्या उन्हे भी यह नहीं सूझता कि श्रीशकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य-जैसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियोमे इतनी समझ ता अवश्य रही हागी कि यदि वेदाके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डम परस्पर-विरोध है तो दोना ही काण्ड सत्य नहीं माने जा सकते? यह बात स्मरण रह कि श्रीशकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य तथा भारतक सभी प्राचीन आचार्योंने यह माना है कि वद एव उपनिषद् अपौरुषेय हैं—सर्वथा सत्य हैं।

इस कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डक परस्पर-विराधकी कल्पना जिस आधारपर की जाती है, उसका यदि हम परीक्षण कर तो हम यह देखकर आश्चर्य हागा कि इतने वडे-वडे विद्वान् मूलम हा इतनी वडी गलती कैसे कर गये। वैदिक कर्मकाण्डकी यह फलश्रुति है कि इन कर्मोके आचरणसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उपनिषदाने कहीं भी इसका खण्डन नहीं किया है। इसके विपरीत उपनिषदाके अनेक वाक्य इसके समर्थक हैं। इसके दो अवतरण नीचे प्रस्तुत हैं—

तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते' (प्रश्नोपनिषद् १। ९)।

'जो लोग यज्ञ करना, वापी-कूप-तडागादि खुदवाना और बगीचा लगवाना आदि इष्टापूर्तरूप कर्म-मार्गका ही अवलम्बन करते हैं, वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं' (चन्द्रलोक स्वर्गका ही एक भेद है)।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकाल चाहुतयो ह्याददायन्।
त नयन्त्येता सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवाना पतिरेकोऽधिवास ॥

(मुण्डक० १। २। ५)

'इन दीप्तिमान् जिह्वाआम जो यथाकाल आहुति दता हुआ अग्निहात्र करता हे, उसे व आहुतियाँ सूर्यकी रश्मियाके साथ मिलकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताआका एक पति सबसे ऊपर विराजता हे।'

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही बतलाता हे कि वैदिक कर्मकाण्ड सच्चा अर्थात् अव्यर्थ फलप्रद है। यथा—

तदेतत् सत्य मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्०।

(मुण्डक० १। २। १)

'ऋषियान मन्त्राम जिन कर्म-विधियाको दखा, व सत्य हैं।' प्रथमत मन्त्र प्रकट हुए, तब उन मन्त्राक साथ वैदिक कर्म करनेकी विधियाँ ब्राह्मणग्रन्थाम समाविष्ट की गयीं। ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदाक ही अग ह और अपोरुपय वदमन्त्रासे ही निकल हैं। इस प्रकार वद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक हैं, जसा कि 'यज्ञपरिभाषासूत्र' म महर्षि आपस्तम्ब कहत ह—

मन्त्रब्राह्मणयार्वेदनामधेयम्।

'वद नाम मन्त्रों आर ब्राह्मणाका हे।'

वदिक कर्म आर आपनिषद ज्ञानक वाच परस्पर-

विरोध केवल आधुनिक पण्डिताकी कल्पना है, यह बात इससे भी स्पष्ट हो जायगी कि उपनिषदाने कितने ही स्थानाम वेदाके मन्त्रभागसे प्रमाण उद्धृत किय हैं—यह कहकर कि ऋकृम ऐसा कहा है, अथवा वेदमन्त्र ऐसा है—'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्' अथवा 'तदेष श्लोक ' इत्यादि।

ब्रह्मकी महिमाका वर्णन करते हुए एक जगह मुण्डकोपनिषद् (२। १। ६)-मे यह मन्त्र आता है—

तस्मादृच साम यजूषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
सवत्सरश्च यजमानश्च लोका
सोमा यत्र पवते यत्र सूर्य ॥

'उन परब्रह्मसे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, सवत्सर, यजमान और विविध लोक, जिनम चन्द्र और सूर्य चलते हैं, प्रकट हुए हैं।'

कठोपनिषद्म यह देखा जाता है कि नचिकेताको ब्रह्मज्ञान देनेके पूर्व उन वैदिक यज्ञाको करनेकी दीक्षा दी गयी, जिनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि उपनिषद् वैदिक यज्ञाद्वारा स्वर्गकी प्राप्तिका होना घोपित करते हैं। परतु इस विषयम यह भी ता कहा जा सकता है कि यज्ञासे स्वर्ग-लाभ भले ही होता हो, पर उपनिषदाका लक्ष्य ता स्वर्ग नहीं प्रत्युत मोक्ष है और इसलिये उपनिषद् ऐसा कैस कह सकते हैं कि कोई अपना समय और शक्ति वैदिक यज्ञ-यागादिम व्यर्थ ही व्यय किया कर, परतु यह कुतर्क ही है। उपनिषद् ता स्पष्ट ही विधान करत हैं कि 'यज्ञ करो।' स्नातकके समावर्तन-सस्कारम आचार्य शिष्यका स्पष्ट ही आदश दत हैं—

देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम्।
(तै०उ० १। ११। १)

'देवा और पितराक लिय यज्ञ करनम कभी प्रमाद न करना।' मुण्डकापनिषद्क उपसहारम यह कहा गया है कि—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रत विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥
(मुण्डक० ३। २। १०)

'यह ब्रह्मविद्या उन्हींसे कहे जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत (एक वैदिक यज्ञ) सम्पन्न किया हो।' श्वेताश्वतरोपनिषद्मे कथाम वैदिक यज्ञाकी विद्या पहले बताकर तब ब्रह्मविद्याको बतलाना इसी बातको ही तो सूचित करता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार वैदिक कर्मका विधिपूर्वक पालन करनेसे ही प्राप्त होता है।

फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैदिक कर्म स्वर्गके ही देनेवाले हैं तो जो मनुष्य स्वर्ग न चाहता हो, मोक्ष ही चाहता हो, उसके लिय वदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकती है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद् (४। ४। २२)-के इस वचनसे मिलता है—

तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन०।

'ब्राह्मण लोग वेदाध्ययनसे तथा कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस (ब्रह्म)-को जाननेकी इच्छा करते हैं।' इस वचनमे 'अनाशकेन' (कामनारहितेन)-पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त यज्ञादि कर्म जब आसक्तिसहित किये जाते हैं, तब उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आसक्तिरहित किये जात हैं, तब काम-क्रोधादिकासे मुक्त हाकर कर्ताका चित्त शुद्ध हो जाता है। यही बात गीता (१८। ५-६)-म भगवान्द्वारा कही गयी है—

यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य कार्यमेव तत्।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चित मतमुत्तमम्॥

'यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं, क्याकि व मनीषियाका पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाका छाडकर करना चाहिय, यहा मेरा निश्चित उत्तम मत है।' उपनिषद्के 'अनाशकेन' पदको ही गीताके 'सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च' शब्दाने विशद किया है।

अब उपनिषद्के उस मन्त्रका भी विचार कर लीजिये, जिससे आधुनिकाको वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानमे परस्पर-विरोध दीख पड़ता है और यह कहनेका मौका मिलता है कि उपनिषदाने तो वैदिक कर्मकाण्डका खण्डन किया है। मन्त्रोंपर ठीक तरहसे विचार करनेपर अवश्य ही यह प्रतीत होगा कि खण्डन वैदिक कर्मकाण्डका नहीं, बल्कि

सके फलस्वरूप स्वर्गभोगकी इच्छाका खण्डन है। मन्त्र स प्रकार है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
(मुण्डक० १। २। ७)

अर्थात् 'जिनपर ज्ञानवर्जित कर्म अवलम्बित है—ऐसी । अठारह यज्ञसाधनरूप नौकाएँ अदृढ हैं। इन्हे जो श्रेय नानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे मूढ हैं। वे फिरसे नरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।' यहाँ यज्ञोको 'अदृढ नौकाएँ' कहा है, क्योकि ये नौकाएँ मृत्युसागर पार नहीं कराती, ब्रह्मविद्या ही मृत्युसागरके पार पहुँचाती है। इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि इन यज्ञोका कोई प्रयोजन ही नहीं है। इसके पूर्वके दो मन्त्राम यह बात कही जा चुकी है कि जो लोग यज्ञ करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् स्वर्गको जाते हैं। इस मन्त्रसे यह भी न समझना चाहिये कि इसका अभिप्राय यज्ञोके खण्डनमे है। कारण, अन्य मन्त्रोमे, जो पहले उद्धृत किये जा चुके हैं, यज्ञोका आग्रहपूर्वक विधान किया गया है। यहाँ 'अदृढा' पदसे इतना ही सूचित किया गया कि यही अन्तिम और सबसे बडी चीज नहीं है।

आधुनिकोके चित्तमे यह शका उठ सकती है कि वैदिक यज्ञोके करनेसे मनकी शुद्धि कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि मनकी जो विविध कामनाएँ हैं, जो आत्मवश्यताके न होनेसे ही उत्पन्न होती हैं, वे मनकी मलिनता या अशुद्धि हैं। वैदिक कर्मकाण्ड आत्मसयमकी शक्तिको ही बढाता है। अत केवल बाह्य विधिका ही सम्पादन यथेष्ट नहीं होता, अपितु आत्मशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा भी होनी चाहिये। जहाँ ऐसी इच्छा होती है वहाँ बाह्य विधिसे बडी सहायता मिलती है। मनुष्य शरीर भी है और शरीरी जीव भी। वह जबतक अपने शरीरको योग्य नहीं बना लेता, तबतक वह आध्यात्मिक उत्कर्षका अधिकारी नहीं होता। एक दूसरे ढगसे भी इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। हमारा चित्त अनेक प्रकारके कुकर्मोसे मलिन हो गया है। इन सब मलोको हटानेके लिये सत्कर्मोका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। ईशावास्योपनिषद्का यह वचन है कि मोक्षके लिये अविद्या और विद्या दोनो आवश्यक हैं। विद्याके बिना केवल अविद्यासे काम नही चलता, अविद्याके बिना केवल विद्या उससे भी खराब है। श्रीमद्रामानुजाचार्यने विद्यासे अर्थ ग्रहण किया है ज्ञानका और अविद्यासे शास्त्रोक्त कर्मका—एक साधनाका तात्त्विक अङ्ग है और दूसरा व्यावहारिक। शास्त्रोक्त कर्मोके करनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या श्रवण करनेसे फलवती होती है। अशुद्धचेताको उस श्रवणसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमे साधनरूपसे वैदिक कर्मोकी फलवत्ता भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रोमे प्रतिष्ठित की है—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्।
(३। ४। २६)

अर्थात् 'परम ज्ञानके लिये वेदोक्त कर्मोका आचरण वैसे ही आवश्यक है, जैसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके लिये घोडेकी सवारी आवश्यक होती है। घोड़ेके साथ जीन और लगाम आदिकी भी जरूरत होती है। इसी प्रकार परम ज्ञानकी प्राप्तिमे केवल वेदानुवचनसे ही काम नहीं चलता बल्कि वेदोक्त कर्म करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है [श्रीरामानुजाचार्यकृत 'श्रीभाष्य']।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।
(३। ४। ३२)

सहकारित्वेन च।
(३। ४। ३३)

—इन सूत्रोमे यह स्पष्ट कहा गया है कि आश्रमकर्मोका पालन भी ब्रह्मविद्यामे साधक होता है और आहारादिके विषयमे भी शास्त्रविधिसे युक्त आचरण सहकारी होता है। काम-क्रोधादि विकार ईश्वरध्यानमे बाधक होते हैं। वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म काम-क्रोधादिको जीतनेकी सामर्थ्य देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परम ज्ञानकी प्राप्तिके साधनमे बाह्य आचरणके नियमनकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि आन्तर अभ्यासकी।

वेदोंमे 'यज्ञ'

भारतीय सस्कृति और वेद-पुराणामे यज्ञोकी अपार महिमा निरूपित है। यज्ञ तो वेदाका मुख्य प्रतिपाद्य ही है। यज्ञोके द्वारा विश्वात्मा प्रभुको सतृप्त करनेकी विधि बतलायी गयी है। अत जो जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्ह यज्ञ-यागादि शुभ कर्म अवश्य करने चाहिये। परमात्माके नि श्वासभूत वेदोकी मुख्य प्रवृत्ति यज्ञोके अनुष्ठान-विधानमे है। यज्ञाद्वारा समुद्भूत पर्जन्य—वृष्टि आदिसे ससारका पालन होता है। इस प्रकार परमात्मा यज्ञोके सहारे ही विश्वका सरक्षण करते है। यज्ञकर्ताको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यको अपने जीवनके सर्वविध कल्याणार्थ यज्ञ-धर्मको अपनाना चाहिये। मानवका और यज्ञका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सृष्टिके प्रारम्भकालसे ही चला आ रहा है। वस्तुत देखा जाय तो मानव-जातिके जीवनका प्रारम्भ ही यज्ञसे होता है। इस विषयका स्पष्टीकरण गीता (३। १०-११)-मे भी किया गया है—

> सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वाऽस्त्विष्टकामधुक्॥
> देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व ।
> परस्पर भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ॥

'प्रजापति (ब्रह्मा)-ने सृष्टि-रचनाके समय यज्ञके साथ मानव-जातिका उत्पन्न करके उनसे कहा—इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिये मनोऽभिलषित फल देनेवाला होगा। तुम इस यज्ञक द्वारा देवताआका सतुष्ट करो और देवता तुम लोगाको यश-फल-प्रदानके द्वारा सतुष्ट करगे। इस प्रकार परस्पर तुम दानो अत्यन्त कल्याण-पदका प्राप्त करो।'

पद्मपुराणमे मानवकी उत्पत्ति ही यज्ञ-कर्मके सम्पादनके लिये बतायी गयी है—

> यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह।
> चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥
> (सृष्टिखण्ड ३। १२३)

'हे महाभाग। ब्रह्माजीने यज्ञ-कर्मके लिये ही यज्ञके श्रेष्ठ साधन चातुर्वर्ण्यके रूपम मानवको रचना की।'

शुक्लयजुर्वेद (३१। ९)-मे आता है कि सर्वप्रथम उत्पन्न भगवत्स्वरूप उस यज्ञसे इन्द्रादि देवताआ, सृष्टि-साधनयाग्य प्रजापति आदि साध्या और मन्त्रद्रष्टा ऋषियाने यज्ञ[1] भगवान्‌का यजन किया—

> त यज्ञ बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुष जातमग्रत ।
> तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

शतपथब्राह्मण (११। १। ८। ३)-मे भी उल्लेख है कि प्रजापतिने अपनी प्रतिमा (चित्र)-के रूपम सर्वप्रथम यज्ञको उत्पन्न किया। अत यज्ञ साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है—

अथैनमात्मन प्रतिमामसृजत यद् यज्ञम्, तस्मादाहु प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येन प्रतिमामसृजत॥

यज्ञके सम्बन्धम कहा गया है कि यज्ञ[2] ही समस्त भुवनाका केन्द्र है और वही पृथ्वीका[3] धारण किये हुए है। यज्ञ साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप ही है, जिसे विद्वान् लोग विष्णु[4], राम, कृष्ण, यज्ञपुरुष, प्रजापति सविता, अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि नामासे उच्चरित करते हैं।

कर्ममीमासाके प्रवृत्त होनेपर मानव-देह धारण करते ही द्विज ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारक ऋणासे ऋणी वन जाता है। श्रीमद्भागवत (१०। ८४। ३९)-मे आया है—

> ऋणैस्त्रिभिर्द्विजा जातो देवर्षिपितॄणा प्रभा।
> यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्॥

तैत्तिरीयसहिता (३। १०। ५)-म भी कहा गया है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य ।

१- यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा (शुक्लयजुर्वेद ३१। १६)।
२- (क) अय यज्ञा भुवनस्य नाभि (शुक्लयजुर्वेद २३। ११)।
(ख) यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभि (अथर्ववद ९। १०। १४)।
३- यज्ञा पृथिवीं धारयन्ति (अथर्ववेद)।
४- एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। (ऋग्वेद १। १६४। २२)।
५- ब्राह्मण यह पद द्विजातिमात्रका उपलक्षण है।

'द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारके ऋणासे ऋणी बन जाता ह। ब्रह्मचर्यके द्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञके द्वारा देव-ऋणसे आर सततिके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्ति होती है।'

भगवान् मनुने भी 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य' (मनु० ६।३५)— इत्यादि वाक्याद्वारा उपर्युक्त ऋणत्रयक अपाकरणको ही मनुष्यका प्रधान कर्म वतलाया हे। ऋणत्रयम 'देव-ऋण'का भी उल्लेख है। दव-ऋणस मुक्त होनक लिये उपर्युक्त तैत्तिरीय श्रुतिने स्पष्ट वतला दिया है कि यज्ञाके द्वारा ही देव-ऋणसे मुक्ति हाती है। वह यज्ञादि कर्म अत्यन्त पावन तथा अनुपेक्षणीय है, जेसा कि अनेक मत-मतान्तराका निरास करते हुए गीताके परमाचार्य स्वय भगवान्ने सिद्धान्त उपस्थापित किया है—

यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य कार्यमेव तत्।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(१८।५)

इतना ही नहीं, जगत्-कल्याणकी मीमासा तथा कर्तव्य-सत्पथका निश्चय करते हुए भगवान्ने गीता (३। ९)-म स्पष्ट कहा है—'यज्ञिय कर्मोंके अतिरिक्त समस्त कर्म लोक-बन्धनके लिये ही हैं'—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन।

इस प्रकार अनेक श्रुति-स्मृति-ग्रन्थाम तथा उपनिषदाम यज्ञको मानवका प्रधान धर्म कहा गया हे। अत प्रत्येक द्विजको यज्ञ करते रहना चाहिये। जो लाग यज्ञके वास्तविक रहस्य ओर महत्त्वको न समझ कर यज्ञक प्रति श्रद्धा नहीं रखते अथवा यज्ञ नहीं करते, वे नष्ट हा जात हैं। इस विषयम शास्त्राकी आज्ञा है—

नास्त्ययज्ञस्य लोको वै नायज्ञो विन्दत शुभम्।
अयज्ञो न च पूतात्मा नश्यति छिन्नपर्णवत्॥

'यज्ञ न करनेवाल पुरुष पारलौकिक सुखासे ता वञ्चित रहते ही हैं, वे ऐहिक कल्याणाकी भी प्राप्ति नहीं कर सकते। अत यज्ञहीन प्राणी आत्मपवित्रताक अभावस छिन्न-भिन्न पत्ताकी तरह नष्ट हो जाते हैं।'

गीता (४।३१)-म भा भगवान्‌न कहा है—

नाय लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम।

'हे अर्जुन। यज्ञ न करनेवालको यह मृत्युलाक भी प्राप्त नहीं हा सकता, फिर दिव्यलोक (परलाक)-की ता वात ही क्या हे।'

अथर्ववेद (१२।२।३७) भी कहता है—

अयज्ञियो हतवर्चा भवति।

'यज्ञहीन (यज्ञ न करनेवाले) पुरुषका तेज नष्ट हो जाता हे।'

कालिकापुराणके 'सर्वं यज्ञमय जगत्' क अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। इस यज्ञमय जगत्‌म होनेवाले समस्त कर्म यज्ञमय हैं, जो सदा-सवदा सर्वत्र होते रहते हैं। जैसे—सध्या, तर्पण, बलिवैश्वदव, देवपूजन, अतिथिसत्कार, व्रत, जप तप, कथाश्रवण, तीर्थयात्रा, अध्ययनाध्यापन, खान-पान, शयन-जागरण आदि नित्य ओर उपनयन-विवाहादि सस्कार नैमित्तिक एव पुत्रेष्टि, राज्यप्राप्ति आदि काम्य-कर्म—ये सभी व्यवहार यज्ञस्वरूप ही ह। इतना ही नहीं, जीवन-मरणतकका यज्ञका स्वरूप दिया गया हे। गीता (४।२८)-म भगवान्‌न द्रव्ययज्ञ तपायज्ञ, यागयज्ञ, तथा स्वाध्याय-यज्ञ आदिका उल्लेख करके इन सभीको यज्ञका ही रूप दिया हे।

पुत्रवत्सला भगवती श्रुति कहती है—

पुरुषा वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गारा श्रोत्र विस्फुलिङ्गा। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्न जुह्वति तस्या आहुते रेत सम्भवति। योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयत स धूमो योनिरर्चिर्यदन्त करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गा। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भ सम्भवति।

(छान्दाग्यापनिषद् ५।७-८)

'गातम। पुरुष ही अग्नि ह, उसकी वाणी ही समिधा ह, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अगार हैं, कान चिनगारियाँ हैं, उसा अग्निम देवगण अन्नका हाम करत ह, उस आहुतिसे रेतरूप शक्तिपुञ्ज उत्पन्न हाता ह।'

'गातम। स्त्री ही अग्नि है, उपस्थ हा समिधा है, पुरुष जा उपमन्त्रण (रह -सलाप) करता हे वह धूम ह, यानि ज्वाला ह, प्रसग अगार हैं आर उसस जा सुख प्रतात हाता हैं, वह चिनगारियाँ हैं। उसी अग्निम दवगण रेतरूप शक्तिपुञ्जका हवन करत हें। उस आहुतिस गर्भ उत्पन्न हाता है।'

इस प्रकार जव सासारिक सभी चलाचल वस्तुएँ यज्ञ हा हें, तव उन सभी यज्ञाका अनुष्ठान सविधि आर सनियम करना चाहिय, जिसस व यज्ञ मानवमात्रक लिय कल्याणकारी वन। जो लाग यज्ञाक प्रति श्रद्धा नहीं रखत, वे विविध अनर्थोंक शिकार वनत हें आर एस लागाक लिय ही

'नास्ति यज्ञसमो रिपु ' कहा गया है।

इस ससारम प्राणिमात्रकी यह स्वाभाविक अभिवाञ्छा रहती हे कि मैं जीवनपर्यन्त सुखी रहूँ और मुझे इस लाकम धन-धान्य, पत्नी-पुत्र, गृह-उपवन आदि परम ऐश्वर्यपद भोगपदार्थ प्राप्त हा तथा शरीर-त्यागक अनन्तर मुझे परलोकम सहृदय-हृदयके द्वारा परिज्ञात अनिर्वचनीय परम पुरुषार्थस्वरूप स्वर्ग आर माक्षकी प्राप्ति हा। किंतु पूर्व पुण्यपुञ्जके प्रभावके विना कोई भी शरीरधारी मानव ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख-विशेषकी प्राप्ति कथमपि नहीं कर सकता, यह शास्त्राका अटल आर परम सिद्धान्त है। वह पुण्य धर्मका ही दूसरा नाम हे, जा कि सत्कर्मानुष्ठानद्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशावास्योपनिषद् २)

'शास्त्रविहित मुक्तिप्रद निष्काम यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मोको करते हुए ही जीव इस जगत्मे सो वर्पपर्यन्त जीनेकी इच्छा करे। इस प्रकार किये जानवाल कर्म तुझ शरीरधारी मनुष्यमे लिप्त नहीं होंगे। इसस पृथक् ओर कोई मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके।'

इन प्रमाणाद्वारा इस कर्ममय ससारम समस्त मनुष्योको कर्मठ बनानेके लिये, उनका कल्याण करनेक लिये गीता भी माताकी तरह अपने यज्ञप्रेमी पुत्राको उपदेश करती है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भव ॥

(गीता ३।१४)

—इस प्रमाणसे सिद्ध है कि व्यावहारिक और पारमार्थिक सभी कार्य यज्ञादि उत्तम क्रिया-कलापक ऊपर ही निर्भर हे।

अत्यन्त प्रबल वेगशाली विपय-जालस्वरूप भयकर सर्पसे ग्रसित इस कराल कलिकालमे यज्ञ ही ऐसा अपूर्व पदार्थ हे, जिसका प्राप्त कर अनादिकालसे तीक्ष्ण विषय-विष-वासनाआसे व्याप्त अन्त करणवाले और क्लेश-कर्म-विपाक-स्वरूप नाना प्रकारकी कष्टप्रद वासनाओसे दग्ध होनेवाले एव त्रिविध तापासे तप्त होनेवाले मानव स्वदु ख-निवृत्त्यर्थ अभिलापा करत हैं। अत अविद्यासे ग्रसित होनेक कारण घोर कष्टास मुक्त होनेमे असमर्थ होते हुए भी वे यज्ञद्वारा दुस्तर ससार-सागरको भलीभाँति पार कर जाते हैं। मुण्डकापनिषद् (१।२।७)-म यज्ञको ससार-सागरसे पार (मुक्ति) होनक लिये 'प्लव' अर्थात् 'नौका' कहा गया है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा ।

अधिक क्या, जगन्नियन्ता परमेश्वर भी यज्ञस्वरूपसे ही पूर्ण प्रकाशमान होता हुआ यज्ञपरायण पुरुषासे पूजित होकर 'यज्ञपुरुष' पदसे व्यवहृत होता है—'यज्ञो वै पुरुष ' (शतपथब्राह्मण)। उस यज्ञ-शब्दकी यौगिक व्युत्पत्ति कल्पवृक्षकी तरह समस्त अभीष्टको परिपूर्ण करनेक लिये पूर्ण समथ है तथा किसी सर्वातिशायी विलक्षण अर्थका प्रतिपादन करनवाली एव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है।

'यज देवपूजासगतिकरणदानेषु' अर्थात् देवपूजा, सगतिकरण एव दानक अर्थम पठित 'यज' धातुस 'यजयाचयतविच्छ-प्रच्छरक्षो नङ्' (३।३।९०)—इस पाणिनीय सूत्रद्वारा 'नङ्' प्रत्यय करनेपर 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न होता है। वह यज्ञ विष्णु आदि देवताआके पूजन, ऋषि-महर्षि एव सज्जन पुरुषोके सत्सग ओर सुवर्ण-रजत आदि उत्तम द्रव्याके प्रदानद्वारा सम्पादित होता है, उस महामहिमशाली धार्मिक यज्ञका अनुष्ठान कर्तव्यरूपसे यज्ञाधिकारी मानवको अवश्य करना चाहिये। जेसा कि ऊपर कहा गया है, यज्ञामे इन्द्रादि देवताआका पूजन तथा देव-सदृश ऋषि-मुनि एव श्रेष्ठ मानवाके सत्सगका लाभ आर विविध वस्तुआका दान होता है। अत यज्ञाम होनेवाले उक्त तीन प्रकारके सत्कार्योसे मानवाके आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीनो ताप अनायास ही समूल नष्ट हो जाते हैं—यह ध्रुव है।

हिंदू-सस्कृतिके साथ यज्ञानुष्ठानका बडा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है—

ॐ अग्निमीळे पुराहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतार रत्नधातमम्॥

—इसम अग्निदेवकी स्तुति की गयी है, आठ-आठ अक्षराके तीन पाद अर्थात् चोबीस अक्षरोके सुप्रसिद्ध गायत्री छन्दमे मधुच्छन्दा ऋषि स्तुति करते हैं—'मैं अग्निदेवकी स्तुति करता हूँ, याचना करता हूँ। वे पुरोहित, ऋत्विक् यज्ञक देवता देवताआके आह्वाता हैं और श्रेष्ठतम रत्नाकी खान हैं वे हम श्रेष्ठतम रत्नाको प्रदान करे।' निरुक्तके अनुसार इस ऋक्की यही व्याख्या है।

इस मन्त्रमे देव और यज्ञका अन्यान्याश्रय सम्बन्ध है।

देव नहीं तो यज्ञ नहीं, और यज्ञ नहीं तो दवाराधना नहीं, यज्ञका मुख्य उद्देश्य ही हे देवाराधना। हिदू-जीवनम जो आदर्श सस्कार हैं, वे देव और देवाराधनास ही निर्मित ह। ऋषियाने हिदू-जीवनमे यज्ञ-विधानके द्वारा जो दिव्य भावनाकी सुर-सरिता प्रवाहित की, वह अविरत गतिसे ऋजु-वक्र-पथम सृष्टिके आदिकालस आजतक वहती जा रही है और उसम अवगाहन कर इस देशक तथा विदेशाक असख्या पुण्यवान् दिव्य जीवनके भागी हुए ह, हा रहे ह और आगे हाते रहगे। ऋग्वदके इस प्रथम मन्त्रम यज्ञका उल्लख इस बातका द्योतक है कि यज्ञका प्रसार आर्य-जीवनम था ओर अग्निदव यज्ञके देव थे, यज्ञम ऋत्विक् और होता उपस्थित रहते थे। यज्ञानुष्ठानमे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—वेदत्रयीका युगपत् प्रयोग होता हे। अतएव यज्ञके साथ वेदाका नीर-क्षीरवत् अटूट सम्बन्ध है।

तत्त्वत देवता मन्त्रस्वरूप हे। इस प्रथम ऋक्‌क देवता हैं अग्निदेव। अतएव यह मन्त्र अग्निस्वरूप ही है। अग्निकी रचना कौन करेगा? अग्निका आदि नहीं, अन्त नहीं। अतएव मन्त्र भी अनादि और अनन्त ह।[१] इसीलिये वेदको शब्दब्रह्म कहते हैं, और इसे नित्य ओर सनातन मानते ह। यज्ञ-भावना भी नित्य और सनातन हे। हिदू-सस्कृति या सनातनधर्मका वास्तविक स्वरूप भी यही यज्ञ-भावना है। इसका किसी भी कालम अभाव नहीं हो सकता। यज्ञ ही धर्म है और धर्मसे ही प्रजाका धारण हा रहा है। अतएव सास्कृतिक दृष्टिसे यज्ञकी महिमा सर्वोपरि ह आर इसके विषयम कुछ भी आलोचना करना सुसगत ही हे। धर्मका लक्षण करते हुए महर्षि कणाद कहते हे—

यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ।

'जिसके द्वारा अभ्युदय और नि श्रेयसकी सिद्धि हा वह धर्म है।' अभ्युदयका हेतु है कर्मानुष्ठान आर नि श्रयसका हेतु है ज्ञान-साधना, अतएव कर्म और ज्ञानका समन्वय ही जीवनम धर्मका स्वरूप है। जो लाग कर्मकी उपेक्षा करक केवल ज्ञानकी रट लगाते हैं और अपनका श्रुतिमार्गावलम्बी कहत हैं, उनकी प्रतारणाक लिये ही माना महर्षि जैमिनिने अपन पूर्वमीमासादशनम कर्मविषयक स्तुत्यात्मक अर्थवादको अवतारणा करते हुए कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

(जै० सू० १।२।१)

'आम्नाय अर्थात् वेद यज्ञानुष्ठानके लिये हें, अतएव यज्ञभावनासे हीन जो विषय हें, वे अनर्थक हें, अधर्म ही ह, जा धर्मके कञ्चुकम छिपे हुए भूल-भुलैयाम फँसानेके लिये मायाजाल विछाये हुए हैं।'

जब यज्ञ ही धर्म हे, तव यज्ञस्वरूपका ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक हो जाता है इस क्षणभङ्गुर मानव-जीवनकी सफलताक लिये। भगवान् वेदव्यासने जो इस विषयम चतावनी दी थी कि 'धर्म एव हता हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ', उसकी सत्यताका गत सहस्रा वर्षोकी हमारी पराधीनता, दु ख-दारिद्र्य और राष्ट्रिय अपमान डकेकी चोटपर सिद्ध कर रहे हें। धर्मकी उपेक्षा करक ही वस्तुत हम मार गये, अत्यन्त अध पतनको प्राप्त हा गये। दुर्दशाकी भी सीमा हा गयी, आज आर्य-सतान यज्ञका नाम तक नहीं जानती। यज्ञिय जीवन ही हमारा स्वर्गीय जीवन है—भारतका स्वर्णयुग हे।

सबस पहले प्रश्न यह हाता ह कि यज्ञ किसे कहत ह? महर्षि कात्यायन अपन सूत्राम 'अथ यज्ञ व्याख्यास्याम ' इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए यज्ञकी परिभाषा करते ह—

द्रव्यदेवतात्याग ।

'द्रव्य, देवता आर त्याग—य तीन यज्ञक लक्षण हैं।' स्मार्तोल्लास नामक ग्रन्थम द्रव्य कानस पदार्थ ह, इसका उल्लख करते हुए लिखा गया ह—

तल दधि पय सोमा यवागूरादन घृतम्।
तण्डुला फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामत ॥

सामान्यत तल, दही, दूध, सामलता, यवागू (चावल या जाकी लपसी), भात, घी, कच्च चावल, फल आर जल—य दस द्रव्य ही वदिक यज्ञाम दवताआक प्रात्यर्थ

१-यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मन्त्राका कार्यरूपम दखकर 'यद्यत्कार्यं तत्तत्कारणपूर्वकम् —इस न्यायक अनुसार उन्ह नित्य नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर यह है कि 'मन्त्र कार्य नहीं हैं व नित्य हैं और वाणाक रूपमं उनका अभिव्यक्ति हाता ह ऋषियाक अन्त करणम। ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं मन्त्र-रचयिता नहीं। स्वय ऋचा कहता है—

यज्ञेन वाच पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् (ऋक्० १०।७१।३)।

—अर्थात् यज्ञके द्वारा ऋषियाके अन्त करणम प्रविष्ट होकर मन्त्र वाणीरूपका प्राप्त हाते हे। यास्काचार्य कहते हैं—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणा मन्त्रदृष्टया भवन्ति (निरुक्त ७।१।३)।

यज्ञमें तत्तद् वस्तुको अभिप्रेत करक ऋषियाको मन्त्रदृष्टि प्राप्त हाता है अर्थात् ऋषियाक पुनीत अन्त करणम दवस्वरूप मन्त्राका दर्शन होता है।

आते हैं। देवता आधिदैविक आदि शक्तियासे होते हैं, जो यज्ञको सर्वथा व्याप्त करके मन्त्ररूपमें ... होते हैं। निरुक्तकार कहते हैं—

...काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते। ...स मन्त्रो भवति। (निरुक्त ७। १। १)

...इस कामनासे ऋषि जिस देवताके प्रति अपने ...की सफलताकी इच्छा करते हुए स्तुतिका प्रयोग ..., उसी देवताका स्वरूप वह मन्त्र होता है।'

... प्रकार नाना प्रकारके अभिप्रायोंके साथ ऋषिकी ...ष्टि भी नाना प्रकारकी होती है। मन्त्रोंमें जो स्थान-... रथ, आयुध, अश्व, इषु आदिका उल्लेख आता है, ... पदार्थ देवताओंके स्वरूपभूत ही हैं, उनसे पृथक् ...। अतएव आपाततः पदार्थान्तरको देखकर मन्त्रोंके ... अन्यथा सोचना ठीक नहीं। यास्काचार्य इसी कारण ...हैं—

...त्मैवैषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा ...स्य देवस्य॥ (निरुक्त ७। १। ४)

...ताके स्वरूपके विषयमें शङ्काएँ की जाती हैं कि ...ाकार है या साकार, जड़ है या चेतन? परंतु ये ...क विकल्प आधिभौतिक सृष्टिमें होते हैं। आधिदैविक ... विभूतियोंके विषयमें ये प्रश्न नहीं उठते। देवता ... कुछ हैं, या कुछ नहीं हैं—अथवा इस 'हैं-नहीं' ...कुछ और हैं। जो हो, उपासकके लिये तो मन्त्ररूपमें ...व कुछ प्रदान करते हैं। यज्ञ एक विधान है, जिसके ...वताओंको तृप्त कर यजमान अपने अभिलषित ...को प्राप्त करता है। स्वर्गलोककी प्राप्ति यज्ञानुष्ठानका ...ख्य उद्देश्य होता है। यह स्वर्ग है क्या?

...न्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
...भिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

...ासमें दुःखका सम्पर्क नहीं, उपभोगके पश्चात् जो ...त नहीं होता तथा इच्छामात्रसे बिना प्रयत्न किये जो ...ता है, इस प्रकारका सुख स्वर्ग कहलाता है।'

...र्गके उच्चावच अनेक भेद हैं। वेदोंमें असंख्य ... यज्ञोंका विधान है, परंतु यज्ञ मुख्यतः पाँच ... होते हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य ... और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत ...—जैसे सोमयागके भेदोंमें अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध और अहीनयाग। दो दिनसे लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त ... होते हैं, साथ ही त्रयोदश रात्रियोंसे लेकर सहस्र संवत्सरपर्यन्त असंख्य प्रकारके याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं। गौतम-धर्मसूत्रमें कहा गया है—

औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्था, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्था, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम इति सप्त सामसंस्था।

—इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सामयज्ञ-भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येकके सात-सात भेद करके २१ प्रकारके यागोंका उल्लेख किया है। वस्तुतः यज्ञयुगका काल इतना विस्तृत है कि आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं कि उसकी गणनाकी चेष्टा करें। हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिसे यह युग कोटि-कोटि वर्षोंतक व्याप्त रहा है, यज्ञोंके असंख्य भेद भी इस बातको प्रमाणित करते हैं।

प्रारम्भमें मुख्यतः वैदिक यज्ञोंके उपर्युक्त अग्निहोत्रादि पाँच ही भेद थे। यजुर्वेदका पहला मन्त्र 'इषे त्वोर्जे त्वा०' का विनियोग दर्शपौर्णमास यज्ञके पलाश-शाखा-छेदन-विधिमें होता है, और पहले तथा दूसरे अध्यायके सारे मन्त्र दर्शपौर्णमास यज्ञकी विधियोंमें ही विनियुक्त होते हैं, अतएव यहाँ सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास यज्ञकी विधिके ऊपर एक संक्षिप्त दृष्टि दी जाती है।

दर्शपौर्णमास-यज्ञ—

प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको अनुष्ठित होनेके कारण इस यज्ञका नाम 'दर्शपौर्णमास' पड़ा। प्रकृतिरूपमें होनेके कारण इसी यज्ञका पहले विधान हुआ है। प्रकृतिसे तात्पर्य यहाँ उस यागसे है, जो अनुष्ठानके समय अन्य यागोंकी अपेक्षा न रखता हो। दर्शपूर्णमासमें अन्य किसी यागकी विधि प्रयुक्त नहीं होती, परंतु अन्य याग दर्शपौर्णमास-विधिसे उपकृत होते हैं, अतएव यजुर्वेदमें पहले इसी यागके मन्त्रोंका विधान है।

इस यागमें पहले व्रतोपायन-विधि अर्थात् उपवास करके यजमान और उसकी पत्नीको संयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है, शतपथब्राह्मणके प्रारम्भमें इस व्रतोपायन-विधिका उल्लेख आता है। दूसरे दिन यज्ञका सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया जाता है। अमावास्याके दिन अग्निदेवताके

लिये पुरोडाश, इन्द्र-देवताके लिये दधिद्रव्य तथा पयोद्रव्यक त्यागरूपमे तीन याग होते हैं। पूर्णिमाको पहला अग्निदेवता-सम्बन्धी अष्टकपालवाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी आज्यद्रव्यवाला उपांशु याग और तीसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी एकादश कपालवाला पुरोडाश याग होता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञमे कुल छ याग होते हैं। इसके अनुष्ठानकी विधि इस प्रकार है—

१-अग्नि-उद्धरण—जिसमे गार्हपत्य-अग्निसे आहवनीय और दक्षिणाग्निको पृथक् किया जाता है।

२-अग्नि-अन्वाधान—जिसमे तीनो अग्नियामे छ -छ समिधाओका दान किया जाता है।

३-ब्रह्मवरण—जिसमे यजमान ऋत्विक्को वरण करता है।

४-प्रणीता-प्रणयन—जिसमें चमसमें जल भरकर उसको निर्दिष्ट स्थानमे रखते हैं।

५-परिस्तरण—अग्निके चतुर्दिक् कुशका आच्छादन करना।

६-पात्रासादन—यज्ञिय पात्राको यथास्थान रखना।

७-शूर्पाग्निहोत्रहवणीका प्रतपन।

८-शकटसे हवि ग्रहण करना।

९-पवित्रीकरण।

१०-पात्रहवि -प्रोक्षण—हविष्य एव पात्राका प्रमार्जन करना।

११-फलीकरण—जिसमे तण्डुलमेसे कणाको दूरकर उसका शोधन किया जाता है।

१२-कपालोपधान—दो अगुल ऊँचे किनारेवाले मिट्टीके पात्र कपाल कहलाते हैं, उनको यथास्थान रखना।

१३-उपसर्जनीका अधिश्रयण—पिष्ट-सयवनके लिये तप्त जलको उपसर्जनी कहते हैं, उसको नीचे रखना।

१४-वेदिकरण।

१५-स्तम्ब-यजु हरण—मन्त्रसे दर्भको छिन्न करके रखना।

१६-स्रुवा, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा आदि काष्ठनिर्मित यज्ञपात्राका समार्जन।

१७-पत्नीसन्नहन—मुञ्जकी रज्जुसे पत्नीकी करधनी बनाना।

१८-इध्म, वेदी और बर्हिकाका प्रोक्षण।

१९-प्रस्तर-ग्रहण—यहाँ कुशमुष्टिको प्रस्तर कहते हैं।

२०-वेदिका-स्तरण—वेदीपर कुशाच्छादन करना।

२१-परिधि-परिधान—वेदीके चारा आर परिधि बनाना।

२२-इध्मका आधान।

२३-विधृति-स्थापन।

२४-जुहू आदिको वेदीपर रखना।

२५-पञ्चदश-सामिधेनी अनुवचन।

२६-अग्निसम्मार्जन।

२७-आधार अर्थात् वह्निके एक छोरसे दूसरे छोरतक आज्यकी धार प्रक्षेप करना।

२८-होतृ-वरण।

२९-पञ्च प्रयाज—(पाँच प्रकृष्ट याग)।

३०-आज्यभाग—(अग्नि और सामदवताके निमित्त)।

३१-प्रधान याग—फलके उद्देश्यसे विहित देवता ही प्रधान देवता होते हैं, उनके निमित्त किया जानेवाला याग।

३२-स्विष्टकृत्—(प्रधान यागको शोभन बनानेवाली याग-विधि)।

३३-प्राशित्रावदान—(ब्रह्माका भाग प्राशित्र होता है, उसका ग्रहण)।

३४-इडावदान आदि।

३५-अन्वाहार्य-दक्षिणा—(ऋत्विक्का भाज्य ओदन अन्वाहार्य कहलाता है)।

३६-तीन अनुयाज—(अनुयाज अर्थात् पीछे किये जानेवाले याग)।

३७-व्यूहन अर्थात् जुहू आदि पात्राको हटाना।

३८-सूक्तवाक—स्तुतिविशेष।

३९-शयुवाक—स्तुतिविशष।

४०-पत्नी-सयाज—(पत्नी-देवताके निमित्त चार याग)।

४१-दक्षिणाग्नि-होम।

४२-बर्हि-होम।

४३-प्रणीता-विमाक।

४४-विष्णु-क्रम।

४५-व्रत-विसर्ग।

४६-ब्राह्मण-तर्पण।

इस प्रकार मन्त्र-सहित प्रधान विधियाके द्वारा दर्शपोर्णमास याग समाप्त होता है। यदि आज हम अध्यात्मसाधनके द्वारा अपवर्गको प्राप्त करनेमे असमर्थ हे तो कोई कारण नहीं कि यज्ञानुष्ठानाके द्वारा स्वर्गप्राप्तिकी चेष्टा भी नहीं की जाय। आज यदि कुछ सम्पन्न भारतीय जन दर्शपोर्णमास यज्ञके

अनुष्ठानमे रत हो तो हमारे देश तथा समाजमे देवत्वकी प्रतिष्ठा होगी ओर संस्कृतिकी रक्षाके साथ-साथ हम इहलोक एव परलोकको उज्ज्वल बना सकगे। यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गको प्राप्त हुआ एक याज्ञिक कहता है—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
कि नूनमस्मान् कृणवदराति किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥

(ऋक्० ८।४८।३)

'मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोकमे आया, देवताओको जान लिया। अब शत्रु मेरा क्या करगे और मुझ अमरलोकको प्राप्त व्यक्तिके लिये जरा क्या कर सकती है।'

स्वर्गलोकमे कोई भय नहीं, इच्छा करते ही सब सुखोपभोग प्राप्त हो जाते ह, इच्छामात्रसे सारे पितर अथवा प्रियजन उपस्थित होते हैं और उनके साथ स्वर्गीय सुखोका उपभोग मिलता है, सदा नवयौवनका आनन्द रहता है। रोग-शोकका कहीं नाम नहीं रहता।

यज्ञस्थली आधिभौतिक लोकके मध्य एक आधिदैविक द्वीपके समान होती है। यज्ञकी वेदी, समिधा, हवि, दर्भ, यज्ञके पात्र तथा अन्यान्य यज्ञाङ्गभूत उपकरण—सब-के-सब अभिमन्त्रित होनेके कारण देवत्वमय हो जाते हैं। इस दिव्य परिस्थितिके मध्यमे बैठे हुए यजमान, उसकी पत्नी तथा विभिन्न ऋत्विक् भी देवत्वमय हो जाते हैं। व्रतके प्रारम्भमे यजमान अग्निकी ओर देखकर व्रत ग्रहण करता है—

ॐ अग्ने व्रतपते व्रत चरिष्यामि तच्छकेय तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

'हे व्रतपते अग्निदेव! मैं व्रतका आचरण करूँगा, मुझे इस प्रकार प्रेरित कीजिये कि मैं उसमे समर्थ हो सकूँ। अब मैं अनृत अर्थात् मनुष्यत्वसे सत्य अर्थात् देवत्वको प्राप्त हो रहा हूँ।' 'देवो भूत्वा देव यजत्'—इस न्यायके अनुसार अनुष्ठानमे लगनेपर मनुष्यको देवत्वमे परिणत होना पडता है। इस प्रकार दैवी कर्मानुष्ठानके परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त होता है। नास्तिक लोग शका करते हैं कि यज्ञका फल यदि स्वर्ग है तो यज्ञोपरान्त तुरत स्वर्गकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? उत्तर यह है कि कर्म करनेके बाद उसका अदृष्ट बनता है, अर्थात् कर्मकी सूक्ष्म शक्ति अदृष्टरूपमे परिणत होती है ओर जब कर्मफल परिपाकको प्राप्त होता है, तब वही अदृष्ट स्वर्ग-प्रदानका हेतु बनता है। यज्ञानुष्ठानरूप दिव्य कर्मोके फलस्वरूप दिव्य लोककी प्राप्ति युक्तिसगत ही है।

वस्तुत जिस अन्तर्वेदीय सदनुष्ठानद्वारा इन्द्रादिदेवगण प्रसन्न हो, स्वर्गादिकी प्राप्ति सुलभ हो, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हो और सम्पूर्ण ससारका कल्याण हो, वह अनुष्ठान 'यज्ञ' कहलाता है। मत्स्यपुराणमे यज्ञका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

देवाना द्रव्यहविषा ऋक्सामयजुषा तथा।
ऋत्विजा दक्षिणाना च सयोगो यज्ञ उच्यते॥

'जिस कर्मविशेषमे देवता, हवनीयद्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विक् एव दक्षिणा—इन पाँच उपादानोका सयोग हो उसे यज्ञ कहा जाता है।'

दर्शपूर्णमासके अतिरिक्त वेदो, ब्राह्मणग्रन्थो तथा आश्वलायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ और पारस्कर आदि सूत्र-ग्रन्थोमे यज्ञके अनेक भेद-प्रभेद बताये गये हैं, परतु मुख्यरूपसे इनका समाहार उपर्युक्त कथित तीन प्रकारकी सस्थाओ—हविर्यज्ञ-सस्था, सोमयज्ञ-सस्था ओर पाकयज्ञ-सस्थाके अन्तर्गत हो जाता है, फिर एक-एकमे सात-सात यज्ञ सम्मिलित ह। सक्षेपमे इनका परिचय इस प्रकार है—

१-हविर्यज्ञ-सस्था—मुख्य हविर्यज्ञके रूपमे ७ यज्ञ-प्रकारोका उल्लेख मिलता है, इनमसे एक-एक यज्ञके कई-कई भेद बतलाये गये है। पहला यज्ञ 'अग्न्याधेय' है, जिसे ब्राह्मण वसन्त ऋतुमे, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतुमे वैश्य वर्षा ऋतुमे तथा कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रोमे प्रारम्भ करते है। इस यज्ञमे कई इष्टियाँ होती हे ओर यह १३ रात्रियोतक चलता है। घृत तथा दुग्धके द्वारा प्रतिदिनके किये जानेवाले हवनको 'अग्निहोत्र' कहा जाता हे। इसीका एक भेद पिण्ड-पितृ-यज्ञ भी है। जिसका सम्पूर्ण विधान श्राद्धके समान होता हे। इस क्रममे तीसरे मुख्य हविर्यज्ञके रूपमे 'दर्शपौर्णमास'का उल्लेख मिलता है। जिसका विस्तृत विवेचन ऊपर किया जा चुका है। हविर्यज्ञका चौथा भेद 'आग्रायण' है इसमे साँवा नामक धान्यविशेषसे चरु बनाकर चन्द्रमाको आहुतियाँ दी जाती हैं। आयुष्यकामेष्टि, पुत्रकामेष्टि और मित्रविन्दा आदि इसीके भेद हैं।

इसी प्रकार वैश्वानरी, कारीरि, पवित्री, व्रात्यपती आदि अनेक इष्टियाँ हैं जिनके लिये पुराणोमे कहा गया है कि उन्हे विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करनेसे कर्ताकी दस

पीढियोका उद्धार हो जाता ह। पाँचवाँ हविर्यज्ञ 'चातुर्मास्य' है, जो चार-चार मासोमे अनुष्ठेय है। इसके चार भेदोका उल्लेख मिलता है, जा वैश्वदवीय, वरुण-प्रघास, साकमध और शुनासीरीयके नामसे जान जाते ह। छठा हविर्यज्ञ 'निरूढपशुबन्ध' है। यह प्रतिवत्सर वर्षा ऋतुमे किया जाता है। इसमें इन्द्र और अग्निके नामसे हवन होता है। यह पशुयाग कहलाता है। हविर्यज्ञका सातवाँ अन्तिम प्रकार 'सौत्रामणि' है। यह भी पशुयागके अन्तर्गत ही है। इसके विषयमे भागवतमे कई निर्देश दिये गये हैं। विस्तार-भयके कारण यहाँ हविर्यज्ञाको मात्र सक्षिप्त रूपामे सकेतित किया गया है। विस्तृत जानकारीके लिये धर्मसूत्रो एव ब्राह्मण-ग्रन्थाका अवलाकन करना समीचीन होगा।

२-सोमयज्ञ-संस्था—यह आर्योका अत्यन्त प्रसिद्ध याग रहा है। इसे कालावधिक आधारपर एकाह, अहीन आर सत्र—इन तीन रूपामे देखा गया है। अग्रिम सोमलताके रसकी आहुति देनेके कारण यह सोमयाग कहलाता है। सोमयज्ञ-सस्थाके अन्तर्गत १६ ऋत्विजाका उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र (४-१६)-मे इस प्रकार मिलता है—होता, मैत्रावरुण अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छशी, आग्नीध्र, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य एव १७वाँ यजमान व्यक्ति।

सोमयज्ञ-सस्थाके मुख्य सात प्रकाराम अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यामकी गणना होती है। इनके अन्य बहुतसे उपभेद भी हैं, जिनमसे एक मासकी अवधितक चलनेवाले यज्ञ उशनस्तोम, गोस्तोम, भूमिस्तोम, वनस्पतिसव, बृहस्पतिसव, गौतमस्तोम, उपहव्य चान्द्रमसी इष्टि एव सौरी इष्टि आदि हैं। सूर्यस्तुत यज्ञ और विश्वस्तुत यज्ञ यशकी कामनासे, गोसव और पञ्चशारदीय पशुओकी कामनासे तथा वाजपेय यज्ञ आधिपत्यकी कामनासे किया जाता है। इनमे वाजपेय यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। इस यज्ञकी १७ दीक्षाएँ होती है। यह उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा तिथिको आरम्भ होता है। इस यज्ञको सम्पादित करनेसे राजा सभी पापोसे मुक्त हो जाता है ऐसा पुराणोमे कहा गया है। पाण्डुके पुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया था, जिसका विस्तृत वर्णन भागवतपुराणके दशम स्कन्ध तथा अन्य पुराणो एव महाभारतादि ग्रन्थामे भी प्राप्त होता है। पुराणोमे विश्वजित् यज्ञको सारी कामनाओको पूर्ण करनेवाला बताया गया है। इसे सूर्यवशी राजा रघुने किया था। पद्मपुराणमे विस्तारके साथ यह घटना आती है। इसी प्रकार ज्योति नामका एकाह यज्ञ ऋद्धिकी कामनासे किया जाता है। भ्रातृत्व-भावकी प्राप्तिके लिये विषुवत् साम नामक यज्ञ, स्वर्गकामनासे आङ्गिरस यज्ञ, आयुकी कामनासे आयुर्यज्ञ और पुष्टिकी इच्छासे जामदग्न्य यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है। यह ४ दिनातक चलता है।

शरद् ऋतुमे ५-५ दिनाके सार्वसन, दैव, पञ्चशारदीय, व्रतबन्ध और वावर नामक यज्ञ किये जाते ह। जिनसे क्रमश सेना-पशु, बन्धु-बान्धव, आयु एव वाक्-शक्तिकी वृद्धि होती है। ६ दिनतक चलनेवाले यज्ञाम विशेष रूपसे पृष्ट्यावलम्ब और अभ्यासक्त आदि उत्तम ह। अन्नादिकी कामनासे अनुष्ठेय सप्तरात्र यज्ञोंमे ऋषि-सप्तरात्र, प्राजापत्य पवमानव्रत और जामदग्न्य आदि प्रधान हैं। जनकसप्तरात्र यज्ञ ऋद्धिकी कामनासे किया जाता ह। अष्टरात्राम महाव्रत ही मुख्य है। नवरात्राम पृष्ट्य और त्रिकद्रुककी गणना होती है। दशरात्रोमे आठ यज्ञ करणीय माने गये ह, जिनमे अध्यर्ध, चतुष्टोम, त्रिककुप्, कुसुरुविन्दु आदि मुख्य हैं। ऋद्धिकी कामनासे किया जानेवाला पुण्डरीक यज्ञ दो प्रकारका होता ह। यह नवरात्र एव दशरात्र दोनो ही प्रकारका होता है। मत्स्यपुराणके अ० ५३ के २५ से २७ तकके श्लोकोमे, कार्तिक पूर्णिमाकी तिथिमे मार्कण्डेयपुराणका दान करनेसे इस यज्ञके फलको प्राप्त करनेकी बात कही गयी है।

द्वादशाह यज्ञाम भरत-द्वादशाह मुख्य है, वैसे सामान्यरूपसे द्वादशाह यज्ञ ४ बताये गये ह, जो पृथक्-पृथक् सस्थाओमे प्रयुक्त होते हैं। जो सभी कामनाओको प्राप्त करके विश्वजयी होना चाहता है, उसे अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये, जो सभी यज्ञोका राजा है। श्रौतसूत्रोमे शताधिक पृष्ठोमे इसके विधानका वर्णन है। एक वर्षतक चलनेवाले इस यज्ञमे एक यज्ञिय अश्व छोडा जाता है और उसके पीछे राजाकी सेना चलती है। वह जबतक लौटकर वापस नहीं आता, तबतक पारिप्लव आख्यान चलते हैं। इस क्रममे दस-दस दिनोपर पहले दिन ऋग्वेद एव वैवस्वत मनुका आख्यान, दूसरे दिन यजुर्वेद और पितरोका आख्यान, तीसरे दिन अथर्ववेद और वरुणादित्यका पौराणिक आख्यान, चौथे दिन आङ्गिरस (अथर्वण) वेद एव विष्णु और चन्द्रमाका आख्यान, पाँचवे दिन भिषग्वेद और कद्रू-विनताका आख्यान, छठे-सातवे दिन असुरोका आख्यान और आठवे दिन मत्स्यपुराणका

आख्यान तथा कई पुराणाका पाठ होता है।

इसी प्रकार दस-दस दिनापर उसी क्रमसे पाठ चलते हुए ३६० दिनाके बाद दीक्षा होती है। इस तरहसे उसके बाद भी कई मासतक यह यज्ञ चलता रहता है। पुराणाके अनुसार महाराज दशरथने राम आदिके जन्मकी कामनासे प्राय तीन वर्षोतक यह यज्ञ किया था, जिसम इस यज्ञके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण यज्ञाको भी क्रमश सम्पादित किया गया था।

३-पाकयज्ञ-सस्था—पाकयज्ञके अन्तर्गत सप्तसस्थाआका उल्लेख मिलता है। जो क्रमश अष्टका, पार्वणश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एव आश्वयुजीके नामसे जानी जाती हैं। पाकयज्ञ-सस्थाओम पहला अष्टकाश्राद्ध है। कार्तिक, मार्गशीर्ष, पोष तथा माघ—इन चार मासाके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथियाँ अष्टका कही जाती हैं। पर अष्टकाश्राद्ध मार्गशीर्ष, पोष ओर माघ—इन तीन मासाकी कृष्णाष्टमियापर ही सम्पन्न होता है। इनमे पितराका श्राद्ध करनेका बहुत बडा माहात्म्य है। इसमें स्थालीपाक, आज्याहुतिपूर्वक पितराके श्राद्ध होते हैं।

पर्व-पर्वपर या पितरोकी निधन-तिथिपर और महीने-महीनेपर होनेवाले श्राद्ध पार्वण कहलाते है। इनके अतिरिक्त एकोद्दिष्ट, आभ्युदयिक आदि श्राद्ध भी होते हे, जिन्हे पाक-यज्ञोमे गिना गया हे। श्रावणी पूर्णिमाको होनेवाले सर्पबलि, गृह्यकर्म और वेदिक क्रियाआको रक्षाबन्धनसहित श्रावणी कर्मम गिना गया है, इन्हे चौथा पाकयज्ञ कहा गया है। पारस्कर गृह्यसूत्रक तृतीय काण्डकी द्वितीय कण्डिकाके अनुसार आग्रहायणी कर्म पाँचवीं पाकयज्ञ-सस्था है। उसम सर्पबलि, स्थालीपाकपूर्वक श्रावणीके समान ही आज्याहुति और स्विष्टकृत्-हवन एव भूशयनका कार्य होता है। चैत्रीमे शूलगव-कर्म (वृपोत्सर्ग) किया जाता हे। पारस्कर गृह्य-सूत्रके तृतीय काण्डकी आठवीं कण्डिकाके अनुसार शूलगव-यज्ञ स्वर्ग, पुत्र, धन, पशु, यश एव आयु प्रदान करनेवाला है। इसम पशुपति रुद्रके लिये वृषभ (साँड) छाड जानेका आदेश है। इसी दिन स्थालीपाकपूर्वक विधिवत् हवन भी किया जाता है।

सातवीं पाकयज्ञ-सस्था आश्वयुजी कर्म है। इसका वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्रके द्वितीय काण्डकी १६वीं कण्डिकाम विस्तारके साथ हुआ है। इसका पूरा नाम पृषातक यज्ञ है। इसम एन्द्रिय हविष्यका दधि-मधुसे सम्मिश्रण कर इन्द्र, इन्द्राणी तथा अश्विनीकुमाराके नामसे आश्विन-पूर्णिमाको हवन किया जाता है। उस दिन गाया आर बछडाको विशेषरूपसे एक साथ ही रखा जाता है। ब्राह्मणाको भोजन करा दनके उपरान्त इस कर्मकी समाप्ति होती है।

यद्यपि साधन-सम्पन्न व्यक्ति इन्हे अब भी करते हैं, परतु वर्तमानम इनमसे कुछ बड-बड यज्ञाका सम्पादन सर्वसामान्यके लिये सम्भव नहीं है। साथ ही कलियुगमे अश्वमेधादि कुछ यज्ञाका निषेध भी है। वर्तमानम रुद्रयाग, महारुद्रयाग, अतिरुद्रयाग, विष्णुयाग, सूर्ययाग, गणेशयाग, लक्ष्मीयाग, शतचण्डीयाग, सहस्रचण्डीयाग, लक्षचण्डीयाग, महाशान्तियाग, कोटिहोम, भागवतसप्ताह-यज्ञ आदि विशेष प्रचलित हैं।

ये यज्ञ सकाम भी किये जाते हैं और निष्काम भी। अग्नि भविष्य, मत्स्य आदि पुराणाम जा यज्ञा तथा उनकी विधि आदिका विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण मिलता है, वह वेद ओर कल्पसूत्रो (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र आदि)-पर आधृत है। अनेक राजाआ आदिके चरित्र-वर्णनमें विविध यज्ञानुष्ठानाके सुन्दर आख्यान-उपाख्यान भी पुराणामे उपलब्ध हाते हैं। इन यज्ञासे परमपुरुष नारायणकी ही आराधना होती है। श्रीमद्भागवत (४।१४।१८-१९)-म स्पष्ट वर्णित है—

> यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुष।
> इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितै॥
> तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावन।
> परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥

'जिसके राज्य अथवा नगरमे वर्णाश्रम-धर्मोका पालन करनेवाले पुरुष स्वधर्म-पालनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, हे महाभाग! भगवान् अपनी वेद-शास्त्ररूपी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे प्रसन्न रहते हें क्याकि वे ही सारे विश्वकी आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियाक रक्षक हैं।' पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड (३।१२४)-म स्पष्ट कहा गया है कि—'यज्ञसे दवताआका आप्यायन अथवा पोषण होता है। यज्ञद्वारा वृष्टि होनेसे मनुष्याका पालन हाता है इस प्रकार ससारका पालन-पोषण करनेके कारण ही यज्ञ कल्याणके हेतु कहे गये हैं।'

> यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवा।
> आप्यायन वै कुर्वन्ति यज्ञा कल्याणहेतव॥

सभी वदा-पुराणाने यनाक यथासम्भव सम्पादनपर अत्यधिक चल दिया है। यज्ञाका फल केवल एहलाकिक ही नहीं, अपितु पारलाकिक भी है। इनक अनुष्ठानसे दवा,

ऋषियो, दैत्यो, नागा, किन्नरा, मनुष्यो तथा सभीको अपने अभीष्ट कामनाआकी प्राप्ति ही नहीं हुई है, प्रत्युत उनका सर्वाङ्गीण अभ्युदय भी हुआ है। अत इनका सम्पादन अवश्यकरणीय है।

यज्ञसे देवताओंकी तृप्ति

आये दिन एक विचारकी एकदेशी लहर उठ पडी है, लोग समझने लगे हैं कि यज्ञ केवल वायु-शुद्धिके लिये किया जाता है, इसके अतिरिक्त इसका और कोई प्रयोजन नहीं है, किंतु इस पक्षमे तथ्यका सर्वथा हाथ नहीं है। यज्ञका वायुशुद्धिमात्र प्रयाजन नहीं है, उसे तो नान्तरीयक भी माना जा सकता है। *यज्ञका आत्यन्तिक प्रयाजन है यज्ञकर्ताका देवताआके* साथ परस्पर-भावन। शास्त्रामे बडे खुले शब्दासे इस बातकी पुष्टि की गयी है।

ऋग्वेदमे यजमान अग्निसे प्रार्थना करता है कि वे उसके हविको देवतातक पहुँचा दे—

'आग्ने वह हविरद्याय देवान्'

(७। ११। ५)

अग्निमे जब उन-उन देवताआको उद्देश्य कर मन्त्रोच्चारणपूर्वक द्रव्यका त्याग किया जाता है, तब अग्निके लिये यह आवश्यक हा जाता है कि वे उन-उन देवताओ-तक उस-उस द्रव्यको पहुँचा दे, जिससे कि उनकी तृप्ति हो जाय। इसीलिये वेदने अग्निके लिये 'देवदूत' और 'देवमुख'-जैसे शब्दाका प्रयोग किया है—

'अग्निर्हि देवताना मुखम्।'

(शतपथब्राह्मण ३। ७। २। ६)

इसीलिये होमके समय यह आवश्यक हो जाता है कि जिस देवता के लिये द्रव्य-त्याग किया जा रहा है, उस देवताका उस समय ध्यान अवश्य कर लिया जाय—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीत स्यात्। ता मनसा ध्यायेत्...... ।'

(निरुक्त ८। ३। २२)

यही कारण है कि देवताआमे हविके लिये काफी उत्सुकता बनी रहती है और जा लोग ऐसा नहीं कर पाते उनपर उनकी कठोर दृष्टि बन जाती है।

यद्यपि देवता समर्थ हैं पर प्रशास्ताका कुछ प्रशासन ही एसा है कि इस दीनवृत्ति (यज्ञवृत्ति)-का आश्रयण उन्हे करना ही पडता है, जीवन-निर्वाहके लिये यजमानकी बाट देखनी ही पडती है—

'तथा च यजमान देवा ईश्वरा सन्तो जीवनार्थेऽनुगता, चरुपुराडाशाद्युपजीवनप्रयोजनेन, अन्यथापि जीवितुमुत्सहन्त कृपणा दीना वृत्तिमाश्रित्य स्थिता, तच्च प्रशास्तु प्रशासनात् स्यात्।'

(बृ० उ० भा० ३। ८। ९)

मनुष्याको ता पग-पगपर दैवी सहायताकी आवश्यकता पडती है, इसलिये इन्हे तो उधर मुडना ही पडता है, किंतु देवताआको *भी हविके लिये मनुष्याकी ओर उन्मुख हाना पडता है* और इस तरह दानाका परस्पर-भावन बडा दृढमूल हो गया है।

उपर्युक्त प्रमाणासे परस्पर-भावनपर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इसी सत्यसे प्रेरित हाकर महर्षि सायणाचार्यने भी बडी दृढतासे कहा है—

'तस्मान्मनुष्याणा क्रयविक्रयाविव यजमानदेवतयो-र्यागतत्फले *विश्रम्भेण व्यवहर्तुं शक्यते।*'

(तै० स० का० १ प्रपा० १। अनु० १)

वेदका दूसरा मन्त्र बहुत स्पष्ट एव निर्धारणात्मक शब्दामे बतलाया है कि देवता प्रथम तृप्त होते हैं, फिर यजमानको तृप्त करते हैं—

'तृप्त एव एनमिन्द्र प्रजया पशुभिश्च तर्पयति।'

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हा जाता है कि यज्ञका केवल अधिभूत ही प्रयाजन नहीं है, उसका वास्तविक प्रयोजन ता आधिदैविक है।

अतएव ऋग्वेद (१०। ९०। १६) एव यजुर्वेद (३१। १६)-मे समवेतरूपसे उद्घाषणा की गयी—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥

अर्थात् देवाने यज्ञपुरुषके साधनसे जा यज्ञका कार्य करना प्रारम्भ किया, वे प्रारम्भसे धर्मश्रेष्ठ थे। एसा धर्मयज्ञका आचरण करनेवाले धार्मिक लाग—जहाँ पूर्वसमयके साधनसम्पन्न यज्ञ करनेवाले लोग रहते थे—वे ही महात्मा लाग निश्चयरूपसे उसी सुखपूर्ण स्थानमे जाकर रहने लगे। (भाव यह कि यज्ञके यजन करनेवाले श्रेष्ठ यज्ञकर्ता अपने परम एव चरम लक्ष्य—यज्ञपुरुषके परमधाम—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम'—को प्राप्त कर उन्हीं परम पुरुषमे एकात्म्य स्थापित कर लेते हैं।

वैदिक शिक्षाव्यवस्था एव उपनयन

(श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

भारत पुरातन कालसे ज्ञानप्राप्तिद्वारा आध्यात्मिक उन्नतिको ही अपना ध्येय समझता आया है। अपने उन्नत ध्येयके कारण इसे समस्त देशाका गुरु कहा जाता था। मनुने स्पष्ट-रूपसे कहा कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा [१]॥

अर्थात् पृथिवीपर निवास करनवाले समस्त मानव इस पुनीततम भारतम प्रादुर्भूत ब्राह्मण बालकसे अपने-अपने धर्म एव चरित्रकी शिक्षा ग्रहण कर। आज भी इस गवेषणाप्रधान युगम भारतीय आर्योकी शिक्षाके मूल स्रोत वेद-शास्त्राक अतिरिक्त कोई भी ग्रन्थ पुरातन सिद्ध नहीं हो सका हे। आर्य वेदको उच्चतम आदर्श ग्रन्थ मानते हैं। आर्योके अनुसार ता वेद अनादि हे[२]। पाश्चात्त्य शिक्षाविद् भी इसे विश्वका सर्वप्राचीन ग्रन्थ स्वीकार करत हैं।

वेद—शास्त्रामे वेदका बहुत महत्त्व है। वेद वस्तुत आदरणीय एव प्राणिमात्रकी सर्वतामुखी उन्नतिका उपदेशक, शिक्षाका अनुपम काष ग्रन्थ हे। अत्यन्त प्राचीन कालम वेद एक ही था। प्रत्येक द्वापरयुगके अन्तमे भगवान् वदव्यास कलियुगीय मानवाकी मन्दबुद्धि एव अल्पजीवनको देखकर एक वेदको चार भागाम विभक्त कर देत हैं[३]। जिनको क्रमश ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एव अथर्ववेद कहा जाता है[४]। प्रत्यक वेदमे कई शाखाएँ होती ह[५]। वेदाके दा विशेष विभाग है जिनको 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' शब्दास अभिहित किया जाता है[६]। पूवजास जिस वेदशाखाका अध्ययन-परम्परा समागत हो, उस कुलका वह वेद कहलाता है[७]। यद्यपि सम्प्रति कुलपरम्पराद्वारा प्राप्त वदाका अध्ययन समाप्तप्राय हो चला है, तथापि अपनी पितृपरम्परासे जिस वेदशाखाका अनुयायी होना ज्ञात हो तथा जिस वदशाखाक अनुसार अपना उपनयन-सस्कार हुआ हो, उस वेदका अध्येता स्वयको मानना चाहिये। यदि किसा कुलम अशिक्षा या अज्ञानवश अपने कुलपरम्परागत वेदका स्मरण नहीं हो पाता है तो उसे शुक्लयजुर्वेदीय एव माध्यन्दिनशाखीय समझना चाहिये। प्राचीन भारतम वदकी शिक्षा प्रत्येक द्विजक लिये अनिवार्य थी[८]। वैदिक शिक्षाद्वारा ज्ञानका विकास कर व्यक्ति आत्मानतिके पथपर अग्रसर हाता था।

ज्ञानप्राप्ति—ज्ञानके स्वरूपका विवेचन भारतीय शास्त्राम विभिन्न रूपाम किया गया है। ज्ञान अनुपम आनन्दमय पुनीत ज्योति है[९]। हृदयके अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेका एकमात्र साधन ज्ञान है, परतु इस ज्ञानज्योतिक किंचिन्मात्र लाभके आनन्दम ही जिसको थोडा-सा प्रकाश प्राप्त हो जाता हे आर जा सतुष्ट हो जाता है, वह अपने ज्ञानकी इयत्ताको न जान सकनेके कारण उन्मत्त हा जाता है। उन्मादके कारण वह स्वयको तत्त्ववेत्ताओसे भी उन्नत समझ लेता है। ऐसे उन्मादावस्थावाले व्यक्तियाको ही दृष्टिम रखकर ज्ञानप्राप्तिकी अवस्थाओका वर्णन भर्तृहरिने अत्यन्त ललित शब्दाम इस प्रकार किया है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽह द्विप इव मदान्ध समभव
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्त मम मन ।
यदा किंचित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगत
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत [१०]॥

अर्थात् 'जब मैं बिलकुल ही अज्ञ था तब मदोन्मत्त हाथीके समान अभिमानम अधा होकर अपनेको सर्वज्ञ समझा करता था, परतु अब पडिताकी सगतिसे अल्पज्ञानक होते ही वह सब उन्माद जब ज्वरक वेगकी तरह शरीरसे निकल गया तब मैं अपने-आपको मूर्ख समझने लगा हूँ।'

वस्तुत विनम्र जिज्ञासु सयत व्यक्ति ही ज्ञानोपदेशका पात्र—अधिकारी हाता है[११]। अधिकारी हानेपर उसे तत्त्ववेत्ताओसे सुखका मूल ज्ञानरूपी धन प्राप्त होता है। इस ज्ञानात्मक अक्षय धनका उपयाग वह अपने जीवनम करता है तथा अपन अस्तित्वका धारण कर स्थिर रखनेवाले धर्म (आत्मा)-

---

१-म०स्मृ० (२। २०)।
२-अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा (म० भा० शा० प० २३२। ३५)।
३-श्रीमद्भागवत (१२। ६। ४६-४७)। ४-श्रीमद्भागवत (१। ४। २१-२२)। ५-श्रीमद्भागवत (१। ४। २३-२४)।
६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (प्र० परि० १। २ आप०परि० ३१)।
७-परम्परागतो येषा वद सपरिबृहण । तच्छाख कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययन यथा॥ (वी०मि०स०प्र० वसिष्ठोक्ति पृ० ५०५)
८-स्वाध्यायोऽध्येतव्य (श० ब्रा० ११। ५। ७। १०)।
९-गीता (४। ३८)। १०-नीतिशतक (८)। ११-निरुक्त (२। ४। १)।

को प्राप्त करता है। आत्मसाक्षात्कारसे अत्युत्तम आनन्द एव सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है। इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानके लाभोको समझाने-हेतु ही सक्षेपमे कहा गया है कि—

विद्या ददाति विनय विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं तत सुखम्[१]॥

अधिकारी सत्पात्रको विद्या देनेसे ही विद्याकी पुष्टि होती है। जिज्ञासा एक पिपासा है तथा ज्ञान पुष्टिकारक सुखद अमृतस्वरूप है। पिपासुकी पिपासा शान्त होनेपर सुख होता है।

ज्ञानरूपी ज्योति गुरुसे ही प्राप्त होती है। गुरु उदयकालिक सूर्यके समान आनन्दमय एव अमृतमय ज्ञानस्रोतका उद्गम-स्थान है। गुरुसे विद्या या ज्ञानप्राप्तिके तीन साधन शास्त्रामे प्रतिपादित किये गये हैं। वेदके अग शिक्षाशास्त्रकी भाषामे वे तीना साधन सेवा, धन और विद्या नामसे प्रतिपादित हैं[२]। श्रीमद्भगवद्गीतामें इन तीनाम उत्तरोत्तरको प्रशस्त बतानेके लिये प्रणिपात (विनम्रता), परिप्रश्न (विद्या) तथा सेवा—यह क्रम रखा गया है[३]। गुरुकी आभ्यन्तरिक पूर्ण इच्छा न रहनेपर भी धनके लोभसे उपदिष्ट विद्याकी अपक्षा शिष्यद्वारा पूर्वपरिज्ञात विषयके कथनानन्तर जिज्ञासा करनेपर उपदिष्ट परिप्रश्नरूप विद्याका महत्त्व अधिक है। जैसे धनके लोभवश गुरुकी स्वार्थपरायणतासे विपर्यय एव अपने आत्मानुभवका उपदेश न करना सम्भव है, उसी प्रकार धनदातृत्वके अहकारसे शिष्यद्वारा उसे ग्रहण न करना भी सम्भव है, परतु प्रश्न होनेपर उपदिष्ट गुरुवचनोम यथार्थ आत्मानुभवका समावेश अवश्य रहता है। इस परिप्रश्नमे ज्ञानार्थीको भी विद्यासे सम्पन्न होना आवश्यक है। अत शिक्षाविदाने इस उपायको 'विद्यया विद्या' शब्दसे व्यवहृत किया है। इस द्वितीय परिप्रश्नात्मक ज्ञानार्जनोपायकी अपक्षा सेवास्वरूप तृतीय साधन अति प्रशस्त है। सेवात्मक साधनमें अपनी ग्रहणशक्तिके ज्ञानाभिमानम अथवा उत्तरदाताके प्रतिष्ठा-प्रभावके कारण शिष्यद्वारा न समझनेपर भी स्वीकार कर लेना आदि परिप्रश्नके दुर्गुणाका समावेश नहीं है। सेवासाधनम तो 'शिष्यस्तेऽह शाधि मा त्वा प्रपन्नम्'[४] के अनुसार गुरुम पितृत्वकी भावना हाती है। वस्तुत वह विद्या-गुरुके वात्सल्यका प्रतीक है। धनदाता एव जिज्ञासु शिष्यकी अपेक्षा सेवक विद्यार्थी गुरुसे अधिक विद्या-सम्पत्ति ग्रहण कर सकता हे तथा उन दोनाकी अपेक्षा उसकी विद्या अधिक सफल बन जाती है[५]।

उपर्युक्त तीना साधनासे गुरुके द्वारा विद्या प्राप्त की जाती है। प्राचीन कालम विद्या गुरुमुखसे सुन लेनेपर विद्यार्थियाको ही नहीं, प्रत्युत गुरुकुलमे स्थित पक्षियाको भी कण्ठस्थ हो जाती थी[६]। परतु समयके प्रभावसे शिक्षार्थियाकी धारणाम ह्रास होने लगा। उस समयको ग्रन्थ-रचनाका प्रारम्भिक काल कहा जा सकता हे, क्याकि गुरुजनाने ग्रन्थाका प्रणयन किया, तदनन्तर उन प्रणीत ग्रन्थाको लिपिबद्ध किया गया। इसके फलस्वरूप ग्रन्थोक अध्ययनके लिये अक्षर-परिचय आवश्यक हा गया। अत अक्षरोका परिचय प्राप्त करनेक लिये अक्षरारम्भ नामक कार्य निश्चित किया गया। अक्षरारम्भ बालकके पाँचवे वर्षम शुभ मुहूर्तमे सविधि सम्पन्न होता है[७]। अक्षराके दृढ परिचय एव लखनका पूर्ण अभ्यास हो जानेपर शुभ दिनम विद्याग्रहणका कार्य प्रारम्भ होता है।

भारतीय साहित्यम अनक विद्याएँ है तथा सभी महत्त्वपूर्ण हें, परतु दश, धर्म एव समाजक उन्नयनकी दृष्टिसे उन सभी विद्याआम वदविद्याका महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने स्पष्ट-रूपसे यह बतलाया है कि द्विजाति (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य)-के बालकका यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह जीविका आदि किसी बाह्य उद्देश्यस निरपक्ष होकर (धर्म, भारतीयता एव सस्कृतिकी वास्तविक रक्षा तथा बाह्य सास्कृतिक आक्रमणाके निराकरणके लिये) षडङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष)-सहित वेदका अध्ययन (एव उसके मर्मको समझकर तदनुकूल आचरण) करे[८]। मनुन तो भारतके त्रैवर्णिकको वद न पढनपर अत्यन्त निन्दित माना हे तथा कहा है कि 'जो द्विज वेदाध्ययनके बिना अन्य विद्याको पढनेम श्रम करता है, वह जीवित ही दासताका प्राप्त हो जाता हे। मात्र वही नहीं, अपितु उसका सतति भी दासताकी भावनासे ग्रस्त हा जाती है[९]।' राजर्षि मनुका उद्घाष बहुत उग्र है, परतु वस्तुत कटु सत्य है।

१-हितोपदेश (६)।

२-गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलन धनेन वा। अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपपद्यते॥ (या० शि० ११२)

३-तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया (गीता ४। ३४)। ४-गीता (२। ७)। ५-या० शि० (११०-१११)।

६-जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयै ससारिकै पञ्जरवर्तिभि शुकै।
निगृह्यमाणा वटव पदे पदे यजूषि सामानि च यस्य शङ्किता॥ (कादम्बरी कथामुख १२)।

७-मु० चि० (५। ३७)। ८-निष्कारण षडङ्गो वेदोऽध्ययो ज्ञेयश्च (महाभाष्य)।

९-योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय॥ (म०स्मृ० २। १६८)

अध्ययन—यो तो विद्याध्ययन सर्वदा ही किया जा सकता है, तथापि शास्त्रकारोने जीवनक प्राथमिक चतुथाशको विद्याध्ययनके लिय परम उपयुक्त समझ कर इसे विद्याध्ययनक लिये ही निश्चित कर दिया है। आयुके इस भागकी सज्ञा आगम-काल ह[१]। अध्ययनके सुचारु सम्पादनके लिय 'उपनयन' नामक सस्कार निश्चित किया गया हे। उपनयन-सस्कारका समय जातिभेदसे भिन्न-भिन्न माना गया ह। त्रैवर्णिक बालकका पाँचव वर्षम ज्योतिष-शास्त्रानुसार शुभ दिनम अक्षरारम्भ कराना चाहिये। वर्ण-परिचय तथा लखन-ज्ञान प्राप्त करनक बाद शुभ मुहूर्तम विद्याध्ययन प्रारम्भ करना चाहिय[२]।

सस्कार—जिस प्रकार अनक रगाक उचित उपयाग करनपर चित्रम सुन्दरता, आकर्षण एव पूर्ण वास्तविकता आ जाती हैं, उसी प्रकार शास्त्रापदिष्ट अनक सस्कार करनेसे पुरुषकी बुद्धि और मनम सात्त्विकता एव सर्वजनप्रियताका सचार होता है तथा उसको वास्तविक सुख-शान्तिक पथका अनुभव हाता ह[३]। शास्त्राम सस्काराका सख्या बहुत है,[४] तथापि विद्वानाने प्रधानरूपसे सालह सस्कार मान ह। इन सोलह सस्काराक नाम हैं—गर्भाधान पुमवन, सामन्तानयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण कर्णवेध उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, केशान्त विवाह (गृह्याग्नि), अग्निपरिग्रह तथा अन्त्यष्टि। कतिपय स्थलापर त्रेताग्निपरिग्रहको सालहवाँ सस्कार माना गया है। इन सस्कारास चित्तशुद्धि एव आध्यात्मिक उन्नति हाती हे। सस्कार्यकी अपनी वेदशाखाके अनुसार ही सस्कार किये जाते हे[५]।

उपनयन—त्रैवर्णिकक मुख्य सस्काराम सर्वप्रथम सस्कार 'उपनयन' ह। उपनयन-सस्कार होनपर हा त्रैवर्णिक बालक द्विज कहलाता है[६]। शास्त्राका मत हे कि इस सस्कारस बालकका विशुद्ध ज्ञानमय जन्म होता है। इस ज्ञानमय जन्मके पिता आचार्य तथा माता गायत्री हैं[७]। जिस प्रकार अच्छे बीजसे अच्छे अन्नकी उत्पत्ति हाती है उसा प्रकार इस ज्ञानमय जन्मम अच्छ विद्वान्के आचार्य रहनेपर कल्याणदायक शुद्ध भावना-बुद्धिद्वारा विशुद्ध ज्ञान होता है। महर्षि आपस्तम्बन भा इस तथ्यको स्पष्ट लिखा है—'तमसो वा एष तम प्रविशति यमविद्वानुपनयते यश्चाविद्वानिति हि ब्राह्मणम्[८]।' अर्थात् जिसका अविद्वान् आचार्य (गुरु)-क द्वारा उपनयन-सस्कार कराया जाता ह वह अन्धकारस अन्धकारम ही जाता ह। अत कहा गया हे—

'तस्मिन्नभिजनविद्यासमुदत समाहित सस्कर्तारमीप्सेत्।'
'अविच्छिन्नवदवदिसम्बन्धे कुल जन्म अभिजन । षड्भिरङ्गै सहैव यथावदथज्ञानपर्यन्तमधीता वदा विद्या[९]।'

अथात् वद एव वदी (यज्ञ)-स सम्बन्धित कुलम जन्म लनवाल, षडङ्गा एव मामासाशास्त्र आदिक अध्ययनद्वारा वदार्थक परिज्ञाता तथा विहित-निषिद्ध कर्मोम सावधान आचायको उपनयनमे अपना उपनेता—गुरु बनाना चाहिय।

गाभिल स्मार्तकल्पक भाष्यकार नारायणने एक वचन उपस्थित कर यह बतलाया हे कि इस उपनयन-सस्कारद्वारा त्रैवर्णिक बालक अपनी कर्तव्य-शिक्षाक लिय गुरु, वेद, यम, नियम एव दवताआके समीप ल जाया जाता है, इसलिये इस सस्कारका उप (समीप)-नयन (ले जाना) कहते ह[१०]। प्राचीन समयम उपनता गुरुआक पास शिष्यगण ब्रह्मचर्यपूवक कई वर्षातक अध्ययन करते थ। उपनीत बालकका गुरुकुलवास तथा अध्ययन करनेसे शास्त्रा एव अपन धमका पूर्णरूपण परिज्ञान हा जाता था। जिसक फलस्वरूप वह विशुद्ध ज्ञान उपार्जित करके सासारिक कार्याको करत हुए भी अपने दशको आध्यात्मिक शान्तिके उन्नत लक्ष्यको प्राप्त करता था। उपनयन-सस्कारके लिय शास्त्राम मुहूर्त निर्दिष्ट किय गये ह। मुहूर्तका तात्पर्य है कि अध्यताकी आधिदविक परिस्थिति (जन्मकालिक ग्रहस्थिति)-से उस समयकी आधिदविक परिस्थिति अनुकूल बन सके, जिसस उसका अध्ययन सकुशल निर्विघ्न एव परिपुष्ट हो सके।

उपनयनके काल—ब्राह्मण-जातिका गायत्री छन्दसे सम्बन्ध है[११]। गायत्री छन्दका एक पाद आठ अक्षरोका

१-चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन स्वाध्यायकालन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति (महाभाष्य)।
२-मु० चि० (५। ३८)।
३-चित्रकर्म यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यते शनै । ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् सस्कारैर्विधिपूर्वकै ॥ (प्र० पा० पृ० ३ अङ्गिरावचन)।
४-गौ०ध० (१। ८। १४—२२) ५-स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा सस्कृतयाऽखिला (प्र० पा० पृ० ३ अङ्गिरावचन)।
६-जन्मना जायते शूद्र सस्काराद् द्विज उच्यते। ७-गौ० ध० (१। १। ९ भाष्यम भी)। ८-आप० ध० (१। १। ११)।
९-आप० ध० (१। १। १२ भाष्यम भा)।
१०-गुरोर्व्रताय वेदस्य यमस्य नियमस्य च। दवताना समीप वा यनासौ सविधीयत॥ (गो०गृ०ना० ४५३)।
११-गायत्रा वै ब्राह्मण (ए० १। २८)। गायत्रच्छन्दा वै ब्राह्मण (तै० १। १। ९। ६)। ब्रह्मगायत्री क्षत्र त्रिष्टुप् (श० १। ३। ५। ५)।

होता है[१]। अत ब्राह्मण बालकका उपनयन-संस्कार आठवे वर्षमे बतलाया गया है[२]। क्षत्रिय जातिका सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्दसे है[३] तथा त्रिष्टुप् छन्दका एक पाद ग्यारह अक्षराका होता है[४]। अत ग्यारहवे वर्षमे क्षत्रिय बालकका उपनयन-संस्कार बताया गया है[५]। वैश्य जातिका सम्बन्ध जगती छन्दसे है[६] तथा जगती छन्दका एक पाद बारह अक्षराका होता है[७]। अत बारहवे वर्षमे वैश्य बालकके उपनयन-संस्कारका काल माना गया है[८]।

तीन वर्णोंसे इन छन्दोका सम्बन्ध भी तथ्यापर आधारित है। गायत्री अपने गायक (उपासक)-की रक्षा (त्राण) करनेके कारण अन्वर्थ है[९]। इसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण भी अपने सच्चे उपासक भक्तकी रक्षा कर सकता है। त्रिष्टुप् छन्दमे जिस प्रकार त्रि (तीन)-के स्तोभन करनेकी शक्ति है[१०] उसी प्रकार क्षत्रिय वर्णमे भी राजशासनद्वारा देश, काल एव समाज—इन तीनाकी असद्गतिको रोकनेकी शक्ति है। जगती गततम उत्कृष्ट छन्द है[११]। वैश्य जाति भी देशकी सुस्थितिके मूलभूत कृषि, गोरक्षा एव वाणिज्यके व्यवहारसे देशरक्षामें अन्तिम उत्कृष्ट सहायक है। इन सभी त्रैवर्णिकोके लिये उपनयन-संस्कार-हतु वर्षकी गणना गर्भस्थितिसे अथवा जन्मकालसे करनी चाहिये[१२]।

काम्यकाल—त्रैवर्णिक बालकोके उपनयन-संस्कारके लिये क्रमसे आठ, ग्यारह एव बारह वर्षका समय नियत किया गया है। किसी विशेष कामना-प्राप्तिकी इच्छापर शास्त्रकारोने वैज्ञानिक ढगसे समयका निर्धारण किया है। मनुके अनुसार ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणका पञ्चम वर्षमे उपनयन होना चाहिये। उसी प्रकार बलप्राप्तिके लिये क्षत्रियका षष्ठ वर्षमे तथा धन-प्राप्तिके लिये वैश्यका गर्भकालके साथ अष्टम वर्षमे उपनयन होना चाहिये[१३]। महर्षि आपस्तम्बने सभी द्विज बालकोके लिये ब्रह्मवर्चस्‌की कामनामे सप्तम वर्ष, आयुकी कामनामे अष्टम वर्ष, तेजकी कामनामे नवम वर्ष, पाचन-शक्तिकी कामनामे दशम वर्ष, इन्द्रियाकी दृढताकी कामनामे एकादश वर्ष तथा पशुकी कामनामे द्वादश वर्षका समय निर्दिष्ट किया है[१४]। विष्णुने धनकी कामनामे षष्ठ वर्ष, विद्याकी कामनामे सप्तम वर्ष, सर्वकामनाके लिये अष्टम वर्ष तथा कान्तिकी कामनामे नवम वर्षका उपनयन-काल निर्धारित किया है।

उपनयनका अन्तिम समय—सभी शास्त्रकाराकी सम्मतिसे सस्कार्यके पञ्चम वर्षसे उपनयनका काल प्रारम्भ होता है[१५]। ब्राह्मणके लिये सोलह वर्ष, क्षत्रियके लिये बाईस तथा वैश्यके लिये चाबीस वर्षकी अवस्थातक उपनयनकी परम अवधि बतलायी गयी है[१६]। इस परमावधिके बीत जानेपर प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर उपनयन-संस्कारका अधिकार प्राप्त होता है। यह प्रायश्चित्त राजशासन-भगके दण्डकी भाँति प्राचीन आर्य-मर्यादाका भग करनेके दण्डस्वरूप है। जिस प्रकार राजदण्डके योग्य मनुष्य किसी सत्पुरुषके अधिकारो (जमानत आदि)-को नहीं रखता है, उसी प्रकार बिना प्रायश्चित्तके उसका उपनयनाधिकार नहीं माना जाता।

पूर्वपुरुषाका उपनयन—ज्योतिर्निबन्धकी उक्तिके अनुसार अधिकारी त्रैवर्णिक यदि अपनी परमावधिके बाद भी एक वर्षके अन्तर्गत उपनयन-संस्कार नहीं कराता है तो वह वृपल होता है[१७] अर्थात् वह वृष (धर्म)-का उच्छेद करनेवाला निन्द्य है[१८]। महर्षि आपस्तम्बने अपने पूर्व-पुरुषोके उपनयन-संस्कार न हुए रहनेपर उन कुलाको ब्रह्महसस्तुत[१९] (ब्रह्मघातियोके समान) तथा श्मशानसस्तुत[२०] (श्मशानके समान) बतलाया है। इन कुलामे उत्पन्न व्यक्तिको अपनी वृपलताके निराकरणके लिये वेदशास्त्रके अध्ययन एव उपनयन-संस्कारकी इच्छा रहनेपर विशेष विधानद्वारा अधिकारी बनाये जानेकी शास्त्राने आज्ञा प्रदान की है[२१]। यह विशेष विधान-प्रायश्चित्त है।

१-अष्टाक्षरा वै गायत्री (श०१। ४। १। ३६)। २-आप० ध० (१। १। १९) पा० गृ० (२। २। १)।
३-त्रिष्टुप् छन्दो वै राजन्य (तै० १। १। ९। ६)। त्रैष्टुभो वै राजन्य (ऐ० १। २८ ८। २) आदि।
४-एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् (गो० उ० १। १८)। ५-आप० ध० (१। १। १९) पा० गृ० (२। २। २)।
६-जागतो वै वैश्य (ऐ० १। २८) जगतीच्छन्दो वै वैश्य (तै० १। १। ९। ७)। ७-द्वादशाक्षरपदा जगती (प० २। १)।
८-पा०गृ० (२। २। ३) आप० ध० (१। १। १९)। ९-द्र०निरुक्त (७। १२। ५)।
१०-यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते (निरुक्त ७। ३। १२)।
११-जगती गततम छन्द (निरुक्त ७। ३। १३)। १२-म० स्मृ० (२। ३६)। १३-म० स्मृ० (२। ३७)।
१४-आप० ध० (१। १। २१—२६)। १५-गो० गृ० ना० (४५७)। १६-आप० ध० (१। १। २७), म० स्मृ० (२। ३८)।
१७-अग्रजा बाहुजा वैश्या स्वावधेरूर्ध्वमब्दत । अकृतापनया सर्वे वृपला एव ते स्मृता ॥ (नि० सि०, १९२)।
१८-अ०को० (२। १०। १) रामाश्रयी-व्याख्या। १९-आप० ध० (१। १। ३२)। २०-आप० ध० (१। २। ५)।
२१-आप० ध० (१। १। ३४), (१। २। ६)।

प्रायश्चित्तामे शारीरिक एव मानसिक शुद्धिके लिय भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपवासाको करनेका ही मुख्य उपदेश ह। अशक्तिवश या मुख्य प्रायश्चित्तकी असमर्थतापर गाण (हामादि) प्रायश्चित्तद्वारा भी अधिकार दिया जाता हे। इस गौण प्रायश्चित्तका निर्णय समय, कुल, अनुपनीतता आदिक अनुसार होता है। इसका विस्तृत विवेचन धर्मशास्त्र-निबन्धोमे वर्तमान हे।

उपनयनके अधिकारी—गर्भाधानसे उपनयन एव प्रथम विवाहतकके सस्काराको करनका अधिकार सस्कार्यके पिताको ही हाता है[१]। पिताकी अनुपस्थितिमे सस्कार्यके अभिभावकको सस्कार करनेका अधिकार प्राप्त होता है। शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार अभिभावकाका क्रम भी निश्चित है,[२] जिसम सर्वप्रथम पिताका अधिकार है। उसक बाद क्रमश पितामह, पितृव्य, ज्येष्ठ भ्राता, सात पीढियाक अन्तर्गतक पुरुष, स्वगात्रीय व्यक्ति तथा सस्कार्यसे ज्येष्ठ आयुवाले गात्र-भिन्न सत्पुरुष मान गये है। लाक-व्यवहारम कई जगह बालकके पिताके उपस्थित रहते हुए भी अपने कुलक बडे पुरुषद्वारा ही बालकका उपनयन-सस्कार कराया जाता है, परतु यह शास्त्र-समनुमत मार्ग नहीं है। यदि बालक स्वय समर्थ हो गया हो तथा पिता आदि सनिकट-सम्बन्धियाका अनुपस्थिति हो तो वह बालक स्वय ही आचायक पास गायत्री-सम्बन्धके लिये प्रार्थना कर सकता है[३]।

यज्ञोपवीत—उपनयन-सस्कारका प्रथम मुख्य कर्तव्य यज्ञोपवीत धारण करना है। यज्ञोपवीत, उपवात, ब्रह्मसूत्र, यज्ञसूत्र या जनेऊ सभी पर्यायवाची शब्द हैं। उपवीत शरीरकी पेटिका (कधसे नाभितक)-के दो विभाग करनवाला सूत्र है। यह सूत्र उस भागके उप=चारा ओर वीत=बँधा रहता है, अत इसे उपवीत सज्ञा दी गयी हे। इस सूत्रक बनाने एव पहननेका प्रकार शास्त्राम विशेष प्रकारसे निर्दिष्ट है। शास्त्रकाराने बतलाया है कि उपवीत बिना पहने हुए जो कार्य किया जाता है, वह निष्फल है। अत उपवात सर्वदा धारण करना चाहिये[४]।

यज्ञापवात द्विजत्वका महत्त्वपूर्ण चिह्न हे। यह चिह्न भी किसी विशष उद्देश्यस रखा गया है। चिह्नकी यह विशेषता आवश्यक तथा उचित है कि वह जिस समाज या देशके लिये निश्चित हो उसकी सर्वतामुखी उन्नतिका लक्ष्यस्वरूप हो। भारतवर्षकी सर्वविध अभ्युन्नति चाहनेवाले ऋषियोंद्वारा प्रणीत शास्त्रामे तथा शास्त्रपर विश्वास करनेवाली आर्य-सतानाके हृदयमे इस जगत्का मुख्यतम लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पदार्थोका स्वायत्त करता रहा है। अतएव इनको 'पुरुषार्थ' शब्दसे भी व्यवहृत किया जाता है, इन चारा पुरुषार्थोको स्वायत्त करनक मार्ग-प्रदर्शक शासना (नियमो)-के समूहको ही शास्त्र कहा जाता है। चतुर्विध पुरुषार्थ एव इनके स्वायत्तीकरणके साधनोका उपदेश वेदमे किया गया है। वेदक मन्त्र आर्योंके प्राणप्रिय भावपूर्ण शब्द हैं, इनके सम्पूर्ण भावाको समझना प्रत्येक व्यक्तिके लिये साधारण नहीं है। अत लाकपितामह ब्रह्माने लाकोपकारके लिये एक लाख अध्यायाम इन चारा पुरुषार्थोके स्वरूप एव प्राप्तिसाधनाका उपदेश दिया है[५]। मानवमे इस विस्तृत उपदशकी ग्रहण-शक्ति भा न रह सकी, तब महर्षियाने भिन्न-भिन्न पदार्थोको लक्ष्य करके भिन्न-भिन्न रचनाएँ कीं। स्वायम्भुव मनु आदि ऋषियाने धर्म नामक प्रथम एव मुख्य पुरुषार्थके लिये स्मृतिशास्त्रका निर्माण किया। स्मृतिशास्त्रम प्रधान रूपसे धर्मका वर्णन हे। इसलिये इसको धर्मशास्त्र भा कहते हैं। यज्ञोपवीतके तन्तुआम ही समग्र धर्मशास्त्रको सूक्ष्म-रूपस समाविष्ट किया गया है।

बालकके नौ सस्कार उपनयनके पूव सम्पन्न किये जाते हैं। उपनयनके अनन्तर एव समावर्तन-सस्कारके पूर्व अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमम एक ही उपवीत धारण करनेका विधान बतलाया गया है[६]। इस उपवीतम नौ तन्तु होते हैं[७], जो उस बालकके पूर्वभावी नौ सस्काराका स्मरण दिलाते हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोके अनुसार भी यह निश्चित है कि मनुष्यकी सर्वविध उन्नतिके लिये उसका उत्साह अत्यन्त सहायक होता है। यह उत्साह विशष महत्त्वपूर्ण कर्तव्योंकी उपस्थिति या शक्तिसे दृढ एव सक्रिय होता है। व्यक्तिको स्वयकी वर्तमान शक्तिका ज्ञान हृदयम अद्भुत बल दिलाता

१-पितैवापनयत् पुत्रम् (नि० सि० १९५ पृष्ठ प्रयागरत्नोक्ति)।

२-पिता पितामहो भ्राता ज्ञातया गोत्रजाग्रजा । उपनयेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे पर पर ॥ (वी० मि० स०प्र० पृ० ४०७) इत्यादि।

३-वी० मि० सस्कारप्रकाश मधातिथिवचन (पृ० ३३६)।

४-सदोपवीतिना भाव्य सदा बद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्॥ (वी० मि० सस्कारप्रकाश कात्यायनोक्ति पृ० ४२२)।

५-लक्ष तु चतुरो वेदा (च० व्यू० ख० ५)।

६-उपवीत वटोरेकम् (वी० मि० सस्कारप्रकाश भृगुवचन पृ० ४२१)।

७-यज्ञोपवीत कुर्वीत सूत्रेण नवतन्तुकम् (वी० मि० संस्कारप्रकाश देवलोक्ति पृ० ४१६)।

है। इसे हम आत्मगौरव कहते हैं। इस अपनी शक्ति या स्वरूपको न समझना ही अपने अस्तित्वको खोना होता है। इस सिद्धान्तक अनुसार उपनीत वेदाध्यायी ब्रह्मचारी बालकको इन नौ तन्तुओके उपवीतद्वारा उसके सस्कारोकी प्रतिक्षण स्मृति दिलाकर अदम्य उत्साह दिया जाता ह। ये नौ तन्तु तीन-तीन मिलकर तीन सूत्राम उपस्थित रहते हे[१]। तीन सूत्र भी नौ सस्काराम किसी विशेपताके ज्ञापक हैं। व सस्कारोके तीन त्रिकोम विभक्त होनेका निर्देश करते हैं। प्राथमिक त्रिक अर्थात् गर्भाधान, पुसवन एव सीमन्तान्नयन गर्भदशाके सस्कार हैं। दूसरा त्रिक—जातकर्म, नामकरण एव निष्क्रमण स्तन्यजीवनदशाके सस्कार हैं। तृतीय त्रिक—अन्नप्राशन, चूडाकरण तथा कर्णवेध अन्नाधारदशाके सस्कार हैं।

समावर्तन-सस्कारम द्वितीय यज्ञोपवीत भी धारणीय होता है[२]। यह भी पूर्वकी भाँति विशेप स्मारक है। प्रथम सूत्रके तीन तन्तु ब्रह्मचर्य, वेदारम्भ एव कशान्त—इन ब्रह्मचर्याश्रमके तीन सस्काराके द्योतक हैं। द्वितीय सूत्रके तीन तन्तु गृहस्थाश्रमके समावर्तन, विवाह एव अग्निपरिग्रह—इन तीन सस्काराके निर्देशक हैं। तृतीय सूत्रके तीन तन्तुआमेसे एक चरम (सोलहवे) सस्कारका परिचायक है तथा अन्तिम दो तन्तु अग्निपरिग्रहके अनन्तर क्रियमाण हविर्यज्ञ एव सोमयज्ञ-सस्थाआके सूचक हैं, अथवा इन्हे पुरुषत्वका परिचायक भी माना जा सकता है। पुस्त्वके प्रादुर्भाव या विकासके लिये द्वित्वकी सख्या आवश्यक है। पौरुपकी परीक्षा द्वित्व अर्थात् दूसरे प्रतिद्वन्द्वीक रहनेपर ही हो सकती है, इसी कारण स्मृतिग्रन्थोंमे पुत्रप्राप्तिके लिये युग्मरात्रियाम ही अभिगमनका विधान किया गया है[३]।

ब्राह्मण-ग्रन्थोकी परिभापाके अनुसार यज्ञोपवीत त्रिवृत् है। त्रिवृत् नौ सख्याका बोधक है[४], परतु त्रिवृत्की नौ सख्या तीन त्रिकाम ही विभक्त होनी चाहिये, जिस प्रकार यह यज्ञोपवीतमे होती है। त्रिवृत् एक स्तोम है यह स्तोम अग्निदेवताका है[५]। अग्नि और ब्राह्मण जगद्बीज पुरुपके मुखकी सृष्टि हैं, अत सजात हे[६]। इस कारण अग्नि ब्राह्मणास अधिक सम्बन्ध रखता है। इसे श्रुति 'आग्नेयो वै ब्राह्मण ' द्वारा प्रतिपादित करती है[७]। ब्राह्मणको ब्रह्मवर्चसी होना चाहिये[८]। ब्रह्मवर्चस्की अग्निके साथ तुलना की जाती है। इसलिये ब्रह्मवर्चस्की प्राप्ति, अग्निकी समानता एव त्रिवृत् स्तामकी विशप उपासनाकी द्योतना कराने-हेतु यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। शास्त्राम इसीलिये ब्रह्मचारीको नित्य अग्निकी परिचर्याका उपदेश दिया गया हे[९]। समावर्तनक बाद श्रौत एव स्मार्त (सभ्य एव गार्हपत्य) अग्नियाकी नित्य स्थिति एव उपासना होती है। इसी दृष्टिसे दूसरे यज्ञोपवीतके भी सर्वदा धारण करनेका विधान है।

यज्ञापवीतद्वारा अर्थशास्त्रको भी परिलक्षित किया गया है। अर्थशास्त्रमे दो शास्त्राका सग्रह कहा जा सकता हे—वार्ता तथा दण्डनाति। वार्ताशास्त्र प्रधानतया वैश्यवर्गक लिये अध्येतव्य एव उपकारक है। वार्ताशास्त्रका विपय पशुपालन, कृपि एव वाणिज्य है[१०]। ये तीना ही कर्म भारतीय दृष्टिसे वैश्यवर्गकी आजीविका कहे गये हैं। वार्ताशास्त्र अर्थशास्त्रका एक विशप सहायक प्रकरण है। आचार्य चाणक्यके अनुसार वार्ताशास्त्र अन, पशु, सुवर्ण, सवक आदिकी प्राप्ति करानेक कारण राजाका उपकारक है। वार्ताशास्त्रके द्वारा राजा अपने पक्षका समृद्धि-विधायक उपायासे वशीभूत कर सकता है[११]। वार्ताशास्त्रक तीन मुख्यतम विषयाका स्मरण एक यज्ञोपवीतके तान सूत्रासे हो रहा है। द्वितीय यज्ञोपवीत अर्थशास्त्रके दूसरे प्रकरण दण्डनीतिकी तीन सिद्धियाका स्मारक है। इन तीनो सिद्धियोकी पूर्णप्राप्तिका समुचित उपाय ही दण्डनीतिम बतलाया गया है। अथवा लोकस्थितिके लिये राजाद्वारा निर्णतव्य अष्टादश विवादस्थानाका यज्ञोपवीतके अठारह तन्तुआद्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

कामशास्त्रके रहस्य-परिचायनकी दृष्टिसे भी एक यज्ञापवीत पुरुप एव दूसरा स्त्रीके शासनोका उपदेशक है। वात्स्यायनक अनुसार पुरुप एव स्त्रीके प्रमाण, भाव एव काल—ये तीन प्रासगिक वर्ग होते है। प्रत्यक वर्गमे भी तीन अवान्तर भेद

१-अधोवृतैस्त्रिभि सूत्रै (वी० मि० सस्कारप्रकाश दत्तात्रयवचन पृ० ४१६)।
२-स्नातकाना द्वितीय स्यात् (वी० मि० सस्कारप्रकाश वसिष्ठवचन पृ० ६२१)।
३-म० स्मृ० (३। ४८)। ४-जै० न्या० मा० (१। ३। ५)। ५-अग्निर्वै त्रिवृत् (तै० १। ५। १०। ४)।
६-मा० स० (३१। ११-१२)। ७-तै० (२। ७। ३। १)। ८-मा० स० (२२। २२)।
९-अग्नीन्धन भैक्षचरणे (गौ०ध० १। २। १२)। १०-कृपिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता (कौ० अ० ६। १)।
११-धान्यपशुहिरण्यपुप्यविष्टिप्रदानादोपकारिकी। तया स्वपक्ष परपक्ष च वशाकरोति काशदण्डाभ्याम् (कौ० अ० ४। २-३)।

हैं। प्रत्येक वर्ग सूत्र-रूपसे तथा उनके भेद तन्तुरूपसे यज्ञोपवीतमें द्योतित होते हैं। इस दृष्टिमें सम्पूर्ण यज्ञसूत्रकी ९६ चतुरंगुल दीर्घता (चौवा) भी, वात्स्यायन-प्रोक्त आठ अङ्गोंके भेदोंका परिचायक है।

उपर्युक्त गवेषणासे यह स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत भारतीय संस्कृतिकी समग्रताका पूर्ण परिचायक है।

गायत्री-उपदेश—उपवीत धारणके अनन्तर बालकका अभिभावक उसे योग्य गुरुकी शरणमें पहुँचा देता है। गुरु उसे योग्य अधिकारी समझकर गायत्री-मन्त्रका उपदेश करते हैं। बालक अपनी योग्यताकी परीक्षा गुरुकुलमें संरक्षणसे लेकर एक वर्षके भीतर समाप्त कर लेता है। यदि गुरु उसे गुरुकुलमें जानेके समय ही मन्त्रोपदेशका अधिकारी समझ लेते हैं तो उसी समय गायत्री-मन्त्रका उपदेश कर देते हैं। अन्यथा तीन दिन, छः दिन, बारह दिन या छः मास अथवा बारह मासमें उसे उपदेश प्राप्त होता है। उपनयनका शुभ मुहूर्त ज्योतिष शास्त्रद्वारा निश्चित किया जाता है। तदनुसार शुभ लग्नमें गायत्री-मन्त्रका उपदेश दिया जाता है। संस्कारके अन्य कार्य अङ्गभूत हैं। अतः उनमें विशेष रूपसे लग्नका विचार नहीं किया जाता।

मन्त्रपरिचय—शुभ लग्नमें योग्य गुरुद्वारा परीक्षित शिष्यको जो मन्त्र नामक अक्षर-समुदाय प्राप्त होता है, वह विशेष शक्तिसे सम्पन्न होता है। उसी मन्त्रको पुस्तकामें देखकर, असमयमें ग्रहण करके या गुरुसे प्राप्त कर अभ्यास किया जाय एवं अनुष्ठान आदि वैध प्रयोग किये जायँ तो वे शास्त्रोंके दृढ सिद्धान्तके अनुसार कल्याणकारक नहीं हो सकते। क्रियासारमें बतलाया गया है कि जो मूर्ख मनुष्य प्रयोगपद्धतिसहित मन्त्रको पुस्तकसे देखकर उसके आधारपर ही जप करता है, उसके मूलका ही नाश होता है। फलकी बात ही दूर है[1]। भगवान् शङ्करका वचन है कि जो अज्ञ गुरुके उपदेशके बिना ही पुस्तक, चित्र आदिको देखकर जप करता है, वह बन्धन एवं पापका भागी बनता है[2]।

जिस प्रकार पदपर आसीन अधिकारीद्वारा प्रदत्त वैध आदेश या उपदेश ही माननीय एवं करणीय होता है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त निश्चित योग्य ब्राह्मण गुरुद्वारा उपदिष्ट मन्त्र एवं आदिष्ट विधान ही कल्याणकारक होता है। जैसे अनधिकृत व्यक्तिका अवैध आदेश या उपदेश लोकमें भी आदरणीय या अनुशीलनीय नहीं होता एवं स्वतन्त्र कर्तव्य लोकहितकारक होनेपर भी शासन-नियमके बहिर्भूत होनेके कारण लाभप्रद न होकर कष्टप्रद ही होता है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त अनधिकृत ब्राह्मणेतर व्यक्ति या पुस्तकादिसे उपदिष्ट प्राप्त मन्त्र भी अनादरणीय एवं अनुशीलनीय होते हैं। शास्त्रमर्यादाके व्यतिक्रम करनेके कारण मन्त्रदाता एवं ग्रहणकर्ताके लिये लाभ-प्राप्तिके स्थानपर हानिप्रद ही है। मन्त्रोपदेश करनेका अधिकार ब्राह्मणको ही है। इसके लिये शास्त्रोंमें सर्वत्र निर्देश दिये गये हैं[3]।

उपनयनका वर्तमान स्वरूप—उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतमें शिक्षण-व्यवस्थाको महनीय बनाने-हेतु उपनयन-संस्कारकी भावात्मक विशिष्ट *व्यवस्था* की गयी थी। उपनयन एवं तदनन्तर ब्रह्मचर्याश्रमद्वारा अध्येतामें तेजस्विता, बुद्धि एवं ज्ञानका पर्याप्त विकास होता था। वर्तमान समयमें उपनयन-संस्कारकी व्यवस्था समाप्त हो चली है। किन्हीं-किन्हीं आस्तिक कुलोंमें बालकका उपनयन-संस्कार किसी तीर्थक्षेत्रमें जाकर अथवा घरमें ही सम्पन्न कराया जाता है, परंतु ब्रह्मचर्याश्रममें बालकको रखनेकी परम्परा मूलरूपसे विच्छिन्न हो चुकी है। उपनयन-संस्कारमें यज्ञोपवीत-धारण एवं गायत्री-उपदेशके अनन्तर तत्काल समावर्तन-संस्कार कराकर बालकका गृहस्थाश्रममें प्रवेश करा दिया जाता है। युगके परिवर्तित परिवेशमें यह उचित ही है। भविष्यको ध्यानमें रखते हुए शास्त्रकारोंने इसे अनुमति भी दी है[4]। भारतीय त्रैवर्णिक यदि उपनयनके वर्तमान स्वरूपका भी निर्वाह कर सकें तो उन्हें प्राचीन संस्कृतिकी रक्षाका विशिष्ट श्रेय प्राप्त होगा।

१-कल्पं दृष्ट्वा तु यो मन्त्रं जपते तु विमूढधीः। मूलनाशो भवेत् तस्य फलमस्य सुदूरतः॥ (सं० सं० ५१६)

२-गुरुं विना यस्तु मूढः पुस्तकादिविलोकनात्। जपेद् बन्धं समाप्नोति किल्बिषं परमेश्वरि॥ (सं० सं० ५१४)

३-द्रष्टव्य—नि० सि० पृ० १९५।

४-(क) युगे युगे तु दीक्षासीदुपदेशः कलौ युगे। चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते॥ (ध० सि० पृ० १८८)

(ख) अनुपाकृतवेदस्य कर्तव्यो ब्रह्मयज्ञकः। वेदस्थाने तु सावित्री गृह्यते तत्समा यतः॥ (नि० सि० पृ० १९७ जैमिनि)।

तैत्तिरीय आरण्यकमे विहित वेद-सकीर्तन

(श्रीसुब्राय गणेशजी भट्ट)

'वेद' श्रीभगवान्के श्वास-प्रश्वाससे उद्भूत पवित्र मन्त्रोंके समुदाय हैं। 'मन्त्रात्मानो देवता'—विष्णु-रुद्र आदि देवगण मन्त्रोकी आत्मा कहे गये हैं। प्रकारान्तरसे प्रत्येक वेदमन्त्र देवताओंके नाम-गुण-कीर्तनसे युक्त है। यो तो सभी वेदाक्षर विष्णु-नाम-रूपमय हैं—'यावन्ति वेदाक्षराणि तावन्ति हरिनामानि' (सिद्धान्तकौमुदी)। इस प्रकार एक बार एक वेदका पूर्ण पाठ करे तो कई लाख हरिनाम स्मृत हो जायँगे। अतः ब्रह्मचारीको उपनयनके बाद प्रतिदिन वेदाध्ययन अवश्य करना चाहिये, क्योंकि वेदपाठको श्रुतिमें स्वाध्याय या ब्रह्मयज्ञ नामसे अभिहित किया गया है—

ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामादच्छदिर्दर्श उदीच्यां प्रागुदीच्यां वोदित आदित्ये दक्षिणत उपवीयोपविश्य ... दर्भाणां महदुपस्तीर्योपस्थं कृत्वा दक्षिणोत्तरौ पाणी पादौ कृत्वा। (तै० आ० २। ११)

विद्वान् गृहस्थको प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके बाद पूर्व, उत्तर या ईशान दिशाकी ओर गाँवसे बाहर (जहाँतक जानेसे घरका छत न दिखायी पड़े) जाकर दर्भासनपर प्राङ्मुख या उदङ्मुख बैठकर बायें पैरके ऊपर दाहिना पैर और बायें हाथके ऊपर दाहिना हाथ रखकर ब्रह्मयज्ञ करना चाहिये। 'मध्याह्ने प्रबलमधीयीत'—दोपहरमें ऊँचे स्वरसे वेदपाठ करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन गाँवसे बाहर जाकर ब्रह्मयज्ञ करना बहुत सरल है।

नियमोंकी कठिनाईके कारण जब ब्रह्मचारिगण प्रतिदिन अधिक वेदपाठ करनेमें असमर्थ हो गये, तब शुचि नामक महर्षिके पुत्र शौच और अह्नि माताके पुत्र आह्नेय—दोनोंने ब्रह्मयज्ञके नियमोंमें परिवर्तन किया—

ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं वा इति ह स्माऽऽह शौच आह्नेय उतारण्येऽबल उत वाचोत तिष्ठन्नुत व्रजन्नुताऽऽसीन उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्याय तपस्वी पुण्यो भवति॥ (तै० आ० २। १२)

'अशक्त हो तो घरपर ही रहकर दिन और रात दोनों समय मानसिक पाठ कर सकते हैं। सशक्त हो तो अरण्यमें बैठकर, उठकर, भ्रमण करते हुए, सोकर, मनसे ऊँचे स्वरसे या किसी स्वरसे ब्रह्मयज्ञ करना ही चाहिये'—ऐसा क्रम बतलाया। तबसे ब्रह्मयज्ञको सकीर्तनका स्वरूप प्राप्त हुआ, वेद-भक्तोंको तृप्तिका अनुभव होने लगा और तन्मयता आने लगी—

य एवं विद्वान् महारात्र उषस्युदिते व्रजःस्तिष्ठन्नासीन शयानोऽरण्ये ग्रामे वा यावत्तरसः स्वाध्यायमधीते सर्वाँल्लोकान् जयति सर्वाँल्लोकाननृणोऽनुसंचरति। (तै० आ० २। १५)

तन्मयता आनेके बाद महात्मा लोग निःसंकोच मध्यरात्रिमें, उषाकालमें, सूर्योदयके बाद आते-जाते, खड़े होकर, बैठकर, जमीनपर पड़कर, वनमें या गाँवमें जितना हो सका, ऊँचे स्वरसे ब्रह्मयज्ञ करने लगे और चौदह लोकोंमें विजय प्राप्त करके विचरण करने लगे।

वेदके अनध्याय कालके सम्बन्धमें तैत्तिरीय आरण्यक (२। १४)-में ही कहा गया है—

य एवं विद्वान् मेघे वर्षति विद्योतमाने स्तनयत्यवस्फूर्जति पवमाने वायावमावास्याया* स्वाध्यायमधीते तप एव तत्तप्यते तपो हि स्वाध्याय इति।

श्रावण-भाद्रपदमें अमावास्याके आस-पास आकाश घने मेघोंसे आच्छादित होता है। मेघोंके परस्पर आकर्षणसे स्फोट होकर प्रचण्ड शब्द होता है। तब प्रचण्ड पवनका भी आगमन होकर शब्द बढ़ता है, विद्युत् चमकती है। ऐसे समयमें वेदपाठ वर्जित है। मनुस्मृति (४। १०३)-में उल्लेख है—

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्॥

स्वाध्याय महान् तप है, पर सदा सकीर्तन करनेवाले भी परम धन्य हैं, कृतकृत्य हैं—यदि शरीरमें रोमाञ्च एवं गद्गद स्वर हो जाय, आँखोंसे आँसू बहने लगें। प्रतिपत्, अष्टमी, पूर्णिमा, अमावास्याकी तिथियोंको अनध्यायका नियम है। इन तिथियोंमें वेदका अध्ययन निषिद्ध है, पर ब्रह्मयज्ञ, स्तुति-कीर्तनादि निषिद्ध नहीं है। सायणाचार्यने वेद-भाष्यमें लिखा है—'ग्रहणाध्ययने यान्यनध्यायकारणानि तानि ब्रह्मयज्ञाध्ययने स्वाध्याय न निवारयन्ति'। इस प्रकार अनध्याय आदिके समय भी सकीर्तन सदा चलता है। पुराण-पाठ भी चलते हैं।

सकीर्तनमें तुरीयावस्थामें पहुँच जानेके बाद पहलेके विधि-नियम, काल-नियम, आसनादि नियम भी गौण हो जाते हैं, किंतु कीर्तन-स्थान एवं कर्ताको शुद्ध रहना चाहिये—इन दो बातोंपर ध्यान रखना अनिवार्य है—'तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदाऽऽत्माशुचिरशुचिश्च देश ।' अतः भगवन्नाम-सकीर्तन ही सार्वकालिक शरण है।

वैदिक वाङ्मयमे पुनर्जन्म

(श्रीरामनाथजी 'सुमन)

पुनर्जन्म हिदूधर्मका प्रधान विश्वास है। यही एक बात उस इस्लाम तथा ईसाई धर्मसे भिन्न भूमिका प्रदान करती है। पुनर्जन्मका यह विश्वास सिद्धान्त-रूपसे अत्यन्त प्राचीन है और हिदू-ज्ञानका समस्त स्रोत वैदिक होनेके कारण वैदिक वाङ्मयम उसक सूत्र बिखरे हुए हैं। उपनिषद् तो ऐसी कथाआसे ओतप्रोत हैं, जिनसे पुनर्जन्म-सिद्धान्तम हमारे विश्वासकी पुष्टि हाती है, किंतु वेदाम भी कुछ कम प्रमाण नहीं ह—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षु पुन प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया न स्वस्ति॥
पुनर्नो असु पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्न सोमस्तन्व ददातु पुन पूषा पथ्या या स्वस्ति ॥

(ऋक्० १०।५९।६-७)

इनम परमात्माकी 'असुनीति' सज्ञासे स्पष्ट किया गया है कि वह प्राणरूप जीवको भोगके लिये एक देहसे दूसरी दहतक ले जाता है। उस 'असुनीति' परमात्मासे प्रार्थना है कि वह अगले जन्माम भी हम सुख दे और ऐसी कृपा करे कि सूर्य, चन्द्र पृथिवी आदि हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध हा।

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभि ।
आयुर्वसान उप यतु शेष स गच्छता तन्वा जातवद ॥

(ऋक्० १०।१६।५)

—इस मन्त्रम ऋषि कहते हैं कि मृत्युक उपरान्त जब पञ्चतत्त्व अपन-अपनेम मिल जात हैं तब जावात्मा बच रहता है और यह जावात्मा ही दूसरी दह धारण करता ह।

अथर्ववद ता एस मन्त्रास परिपूर्ण हैं जिनस पुनर्जन्मका समस्यापर किसी-न-किसी रूपम प्रकाश पडता है। कहीं अगले जन्मम विशिष्ट वस्तुएँ पानक लिय प्रार्थना है कहीं स्पष्ट कहा गया ह कि पूर्वजन्मक अच्छ-बुर कर्मोंक अनुसार ही जावात्मा नवान यानियामें शरार धारण करता है। कर्मानुसार पशुयानिमें जन्म लनका भा उल्लख इन मन्त्रोंमें पाया जा॒ा है—

पुनर्मैत्विन्द्रिय पुनरात्मा द्रविण ब्राह्मण च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥

(अथर्व० ७।६७।१)

—इसम अगले जन्मम कल्याणमयी इन्द्रियाकी प्राप्तिके लिय प्रार्थना है।

आ यो धर्माणि प्रथम ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनि प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदिता चिकेत॥

(अथर्व० ५।१।२)

—इसमें ऋषि कहते हैं कि पूर्वजन्मकृत पाप-पुण्यका भोगी जीवात्मा है और वह पिछले जन्मम जो पाप-पुण्य किये रहता है, उसीके अनुसार अच्छे-बुरे शरीर धारण करता है। अच्छा कर्म करनेवाला अच्छा शरीर धारण करता है और अधर्माचरण करनेवाला पशु आदि योनियाम भी जन्म लेता है।

आत्मा तो नित्य है, किंतु कर्मकी प्रेरणावश ही पिताद्वारा पुत्र-शरीरम प्रविष्ट होता है। वही जीवात्मा प्राण है आर वही गर्भम जलीय तत्त्वासे आवेष्टित पडा रहता है—

अन्तर्गर्भश्चरति दवतास्वाभूतो भूत स उ जायते पुन ।
स भूतो भव्य भविष्यत् पिता पुत्र प्र विवेशा शचीभि ॥

(अथर्व० ११।४।२०)

'जायत पुन ' शब्द बहुत ही स्पष्ट रूपसे पुनर्जन्मकी घोषणा करता है।

यजुर्वेदक कुछ मन्त्र लीजिय—

पुनर्मन पुनरायुर्म आऽगन् पुन प्राण पुनरात्मा म आऽगन् पुनश्चक्षु पुन श्रोत्र म आऽगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्न पातु दुरितादवद्यात्॥

(४।१५)

—इसम फिरस जीवात्माक आगमनकी बात स्पष्ट रूपस कहा गया है। इतना ही नहीं, आगे चलकर तो कर्मगतिका भी विश्लेषण है और बताया गया है कि उसीक अनुसार कुछ लाग मुक्त हो जात हैं तथा दूसर मर्त्यपुरुष बार-बार जन्म लत रहत हैं—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
(यजु० १९।४७)

जहाँ पहलेके उद्धृत मन्त्रोंमें जीवात्माके पश्वादि योनियोंमें जन्म लेनेकी ओर संकेत मिलता है, वहाँ यजुर्वेदमें इसका भी उल्लेख प्राप्त है कि जीवात्मा न केवल मानव या पशु योनियोंमें जन्म लेता है, अपितु जल, वनस्पति, ओषधि इत्यादि नाना स्थानोंमें भ्रमण और निवास करता हुआ बार-बार जन्म धारण करता है—

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे।
गर्भे सञ्जायसे पुनः॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि॥
प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनराऽसदः॥
पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳ शिवतमः॥
(यजु० १२।३६—३९)

यजुर्वेदके अन्तिमांशमें तो यह भी कहा गया है कि मनुष्यको अपने कर्मोंके अनुसार ही आगे जन्म धारण करना होगा। इसलिये जब मृत्यु सामने खड़ी हो और पञ्चतत्त्व-निर्मित शरीरके भस्मावशेष होनेका समय आ जाय, तब उसे अपने कर्मोंका स्मरण करना चाहिये—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳ स्मर॥
(यजु० ४०।१५)

हमारे प्राचीन वाङ्मयमें यम और नचिकेताका संवाद प्रसिद्ध है। नचिकेता प्रसिद्ध ऋषि वाजश्रवसका पुत्र था। जब वाजश्रवसके संन्यास ग्रहण करनेका समय आया तब सर्वमेध यज्ञ करनेके पश्चात् वे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिका वितरण करने लगे। तब पुत्र नचिकेताके मुँहसे कहीं निकल गया कि 'सब चीजें आप दे रहे हैं तो मुझे किसको देंगे?' कुछ अटपटा-सा प्रश्न था, इसलिये पिताने उसपर ध्यान नहीं दिया—समझा बालक है, यों ही कहता होगा। वे चैरिटीके कामोंमें लगे रहे। उधर बालक नचिकेता बार-बार वही प्रश्न पूछने लगा। इससे खीझकर वाजश्रवसने कह दिया—'मृत्यवे त्वा ददामीति'—'तुझे मृत्युको दूँगा।' कहनेको कह दिया, परंतु पिता ही थे, दुःख और पश्चात्तापसे हृदय भर आया। नचिकेता पिताको दुःखी देखकर बोला—'आप दुःख क्या करते हैं? यह शरीर तो धान्यकी भाँति मरता है और उसीकी तरह पुनः उग आता है'—'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः' (कठ० १।१।६)। बालकका बहुत आग्रह देखकर पिताने पुत्रको मृत्यु-विषयक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आचार्य यमके पास भेज दिया। नचिकेता जब यमके आश्रममें पहुँचा, तब वे कहीं बाहर गये हुए थे। तीन दिन बाद लौटे। उन्हें यह जानकर बड़ा क्लेश हुआ कि हमारे यहाँ अतिथिरूपमें आकर भी नचिकेता तीन दिनोंका भूखा है। उसके परिमार्जनके लिये उन्होंने कहा—'तुम मुझसे तीन वर माँग सकते हो।'

नचिकेताने और वरोंके साथ तीसरे वरके रूपमें आत्मतत्त्वका रहस्य जानना चाहा। उसने पूछा—'आत्माकी सत्ता है या नहीं?'—'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' (कठ० १।१।२०)। यमने सोचा था कि बालक धन-धान्य, पुत्र-पौत्र, दीर्घायु इत्यादिकी याचना करेगा, किंतु उसने तो एक रहस्यका ज्ञान माँगा। उन्होंने बालकको बहुत समझाया कि 'अपने मतलबके भोग्य पदार्थ माँग ले, जो माँगेगा मैं दूँगा, किंतु यह प्रश्न गहन है और तेरे किसी कामका भी नहीं है।'

किंतु नचिकेता तो अपने मनके संशयको दूरकर शुद्ध ज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित होना चाहता था, इसलिये उसने विनीत भावसे कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥
(कठ० १।१।२६—२९)

नचिकेता कहता है कि 'मैं तो बस उसी आत्मतत्त्वका

रहस्य जानना चाहता हूँ, जिसके बारेमें तरह-तरहके संशय—संदेह उठा करते हैं, जिसके विषयमें कई कहते हैं कि मृत्युके बाद भी बचा रहता है, कई कहते हैं कि नहीं बचता। मुझे निर्णय करके बताइये कि वह क्या नित्य है और मृत्युके बाद भी रहता है या नहीं रहता।'

इसके बाद यमने नचिकेताको आत्मतत्त्वका रहस्य समझाते हुए उसकी विशद व्याख्या की है। अपनी व्याख्यामें यम कहते हैं कि 'जो व्यक्ति इसी लोकके भोगोंमें डूबे रहते हैं, उनका बार-बार जन्म होता है। किंतु जो आत्माको नित्य समझ, परलोकका ध्यान रखकर सत्कार्य करते हैं, वे जन्म-मरणके बन्धनसे छूट सकते हैं।' फिर यम आगे कहते हैं—

> हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षस-
> द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
> नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
> गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥
> (कठ० २।२।२)

'तं विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतम्॥'
(कठ० २।३।१७)

यह 'हंस' (जीवात्मा) अन्तरिक्षमें, परमात्मामें, हृदयाकाशमें रहता है, यज्ञ करता है, पृथिवीपर जन्म लेता है, परंतु वह शरीरमें अतिथि-मात्र है।—यह स्वयं अमर है।

उत्तरके अन्तमें यमने यह भी कहा है कि 'तर्क वहाँतक नहीं पहुँच सकता'—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ० १।२।९)—उसे निश्चित जानो और वह है, यही समझो।

उपनिषद् और गीतामें तो पुनर्जन्मका स्पष्ट निर्देश बार-बार आता है। शास्त्रग्रन्थोंमें वैदिक उक्तियोंपर तर्कसम्मत विवेचन भी प्राप्त है। पुराणोंमें इसका और भी विशद् विश्लेषण-विवेचन मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदके ऋषियोंने पुनर्जन्मके जिस सत्यको सूत्रवत् कहा था, बादके हिंदू-धर्मग्रन्थोंमें उसकी अभिवृद्धि होती गयी है। आर्यधर्म—हिंदूधर्म पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्तके जिस मूलाधारपर खड़ा है, वैदिक वाङ्मयसे आजतक बराबर उसकी पुष्टि होती आयी है।

वेदमें योगविद्या

(श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

सभी धर्म-कर्म, योग, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि सत्कर्म वेदोंद्वारा निर्दिष्ट हैं और उनसे ही निःसृत माने गये हैं। यहाँतक कि भविष्यमें होनेवाले ज्ञान-विज्ञान तथा कला-साहित्य आदिका भी वेदोंमें उत्स प्राप्त है—

'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥'
(मनु० १२।९७)

यहाँ संक्षेपमें योगमूलक कुछ वैदिक मन्त्रोंका निर्देश किया जा रहा है। 'योग' शब्दका अर्थ है जोड़ना अथवा युक्त करना, समाहित अथवा एकाग्र होना। अपने आत्माको [illegible] युक्त करना ही 'योग' है और [illegible] [illegible] योग द्वारा [illegible] हो जाता है, यह भी [illegible] है। [illegible] [illegible]। समाधिकी अवस्था प्राप्त कर लेना भी योग है। अर्थात् 'योग' शब्द साधन और साध्य दोनोंका वाचक है।

ऋग्वेदके एक मन्त्रमें यह शब्द इन्हीं अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है—

> यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
> स धीनां योगमिन्वति॥
> (१।१८।७)

अर्थात् जिन (इन्द्राग्नि) देवताके बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानीका [illegible] यज्ञ भी सफल नहीं होता, उन्हींमें ज्ञानियोंको अपनी बुद्धि एवं कर्मोंका योग करना चाहिये। [illegible] उन्हें अपनी बुद्धि और कर्मोंको अन्तःकरणमें एकत्र करना चाहिये। उनकी बुद्धि उन देवके साथ [illegible] हो जाती है और वह उनके कर्मोंमें भी [illegible] हो जाता है।

योगके इस प्रधान लक्षणका प्रतिपादन यजुर्वेदके ११वे अध्यायके प्रथम पाँच मन्त्रामे अत्यन्त स्पष्ट और सरल शब्दामे किया गया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

युञ्जान प्रथम मनस्तत्त्वाय सविता धिय ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत्॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियाको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपम लगाय तथा अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओकी, जो विषयाको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उस दृष्टिमे रखते हुए बाह्य विषयोसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोम स्थिरतापूर्वक स्थापित कर द, जिससे हमारी इन्द्रियाका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामे सहायक हो।

युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितु सव।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥

हम लोग सबका उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमे लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करे। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्की आराधनाम लगा रहे और हम भगवत्प्राप्ति-जनित अनुभूतिके लिये पूर्णशक्तिसे प्रयत्नशील रहे।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्याति करिष्यत सविता प्र सुवाति तान्॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियाके अधिष्ठाता देवताओको, जो स्वर्ग आदि लाकामे एव आकाशमे विचरनवाले तथा बडा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं। हमारे मन और बुद्धिसे सयुक्त करके हम प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा कर, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये प्रकाश फलाते रह। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानम विघ्न न कर।

इसी प्रकार ऋग्वेद (१।८६।९-१०)-म कहा गया है—

यूय तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना।
विध्यता विद्युता रक्ष ॥
गूहता गुह्य तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥

—इन मन्त्राम गोतम ऋषि मरुत्-देवताओका आवाहन कर उनसे ज्योति-प्राप्तिकी प्रार्थना करते है—'हे सत्यके बलसे सम्पन्न मरुता! तुम्हारी महिमासे वह परमतत्त्व हमारे सामने प्रकाशित हो गया। विद्युत्के सदृश अपने प्रकाशसे राक्षसका विनाश कर डाला। हृदय-गुहाम स्थित अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर दो, जिससे वह अन्धकार सत्यकी ज्योतिकी नावम डूबकर तिरोहित हो जाय। हमारी अभीष्ट ज्योतिको प्रकट कर दो।'

यहाँ मरुत्-देवताओसे योगपरक अर्थ करनेम पञ्चप्राण—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानका भी ग्रहण हो सकता है। इनपर पूर्णप्रभुत्वकी प्राप्तिसे योगाभ्यासीको शक्तिके आरोहणका अनुभव और परमतत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त होता है। साक्षात्कारसे जिस ज्योतिके दर्शन होते हैं, वही योगीका अभीष्ट ध्येय है।

अथर्ववेदके एक मन्त्रम राजयोगकी प्राणायाम-प्रणालीसे होनेवाली शक्तिके आरोहणका वर्णन प्रतीकात्मक भाषाम किया गया है।

'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ (४। १४। ३)

—इस मन्त्रम पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ क्रमश अन्न, प्राण और मनकी भूमिकाओके प्रतीक हैं तथा स्वर्ज्योति मन और वाणीसे परे स्थित, वाङ्मनस-अगोचर विज्ञानमय भूमिकाका प्रतीक है। प्राणायामसे सिद्धिप्राप्त साधक कहता है 'मैंने पृथ्वीके तलसे अन्तरिक्षके लिये आरोहण किया, अन्तरिक्षसे द्युलोकम और आनन्दमय द्युलोकसे आरोहण करके मैं स्वर्लोकके ज्योतिर्मयधामम पहुँच गया।' पातञ्जलयोग-दर्शनके अनुसार ये भूमिकाएँ विक्षिप्त, असम्प्रज्ञात और कैवल्य कहलाती हैं।

चेतनाके उत्तरोत्तर आरोहणक्रमम योगीको जो अनुभूतियाँ होती हैं उनका वेदाम अनेकत्र वर्णन किया गया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।
तस्या हिरण्यय कोश स्वर्गो ज्योतिषावृत ॥
(अथर्व० १०। २। ३१)

इस मन्त्रम यह कहा गया है कि 'आठ चक्रा और नौ द्वारासे युक्त हमारी यह देहपुरी एक अपराजेय देवनगरी है। इसम एक तेजस्वी कोश है, जो ज्योति और आनन्दसे परिपूर्ण है।'

वैदिक योग-साधनाका ध्येय है आत्माका परमात्माके साथ एक्य। उसके लिये साधककी अभीप्सा निम्नलिखित मन्त्रमे सुन्दर ढगसे व्यक्त की गयी है—

यदग्ने स्यामह त्व त्व वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥

(ऋक्० ८। ४४। २३)

अर्थात् 'हे अग्निदेव! यदि मैं तू हो जाऊँ अर्थात् सर्वसमृद्धिसम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाय तो इस लोकमे तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।

इस प्रकार यहाँ वेदमन्त्रोके आधारपर योग-सम्बन्धी कुछ रहस्यात्मक तत्त्व सक्षेपमे निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राचीन या अर्वाचीन सभी योगमार्ग वेदमूलक ही हैं, जो वेदामे योगके कल्याणके लिये निर्दिष्ट हुए हैं। इस सूक्तके उपदेशोके आधारपर प्राणिमात्रके प्रति मैत्री-भावना और समदृष्टिका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास सिद्ध हो जानेपर अपने हृदयके सभी भावाको भगवान्की ओर ही प्रेरित कर, सभी सासारिक सम्बन्धा और अलौकिक सम्बन्धोको भगवान्के साथ ही जोड दें। अनेक वेदमन्त्रामे यह उपदेश दिया गया है कि हम माता-पिता, पुत्र-पुत्री, मित्र, कलत्र बन्धु-बान्धव आदि सभी सम्बन्ध अपने सच्चे और अनन्यबन्धु भगवान्के साथ ही जोडने चाहिये, ससारी जनोके साथ नहीं। सासारिक आसक्तियाको दूर करने और भगवान्मे परम अनुरक्ति तथा रति उत्पन्न करनेका इससे सरल एव सरस मार्ग अन्य कोई नहीं है। हृदयके सभी भावो और निखिल कामनाओको भगवान्की ओर मोड देनेसे ही उनके साथ सारूप्य साधर्म्य, सायुज्य और एकात्म्य सहजतया प्राप्त हो सकता है।

[प्रेषक—श्रीबलरामजी सेनी]

~~~~

वेदोमे पर्यावरण-रक्षा

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए० पी-एच्०डी०)

भारतके मनीषियाने हजारो वर्ष-पूर्व मानव-जीवनके कल्याणार्थ पर्यावरणका महत्त्व और उसकी रक्षा प्रकृतिसे सानिध्य, सवेदनशीलता रोगोके उपचार तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी अनेक उपयोगी तत्त्व निकाले थे। वेदकालीन समाजमे न केवल पर्यावरणके सभी पहलुओपर चौकन्नी दृष्टि थी, वरन् उसकी रक्षा और महत्त्वको भी स्पष्ट किया गया था। उन लोगोकी भी दृष्टि पर्यावरण-प्रदूषणकी ओर थी, अत उन्होने प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमे पर्यावरणकी रक्षा की और समाजका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। वे भूमिको ईश्वरका रूप ही मानते थे। पर्यावरणकी रक्षा पूजाका एक अविभाज्य अङ्ग था, जैसा कि कहा भी गया है—

यस्य भूमि प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिव यश्चक्रे मूर्धान तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥

(अथर्ववेद १०। ७। ३२)

अर्थात् 'भूमि जिसकी पादस्थानीय और अन्तरिक्ष उदरके समान है तथा द्युलोक जिसका मस्तक है उन सबसे बडे ब्रह्मको नमस्कार है।'

यहाँ परमब्रह्म परमेश्वरको नमस्कार कर प्रकृतिके अनुसार चलनेका निर्देश किया गया है। वेदोके अनुसार प्रकृति एव पुरुषका सम्बन्ध एक-दूसरपर आधारित है। ऋग्वेदमे प्रकृतिका मनोहारी चित्रण हुआ है। वहाँ प्राकृतिक जीवनको ही सुख-शान्तिका आधार माना गया है। किस ऋतुमे कैसा रहन-सहन हो, क्या खान-पान हो, क्या सावधानियाँ हो—इन सबका सम्यक् वर्णन है।

ऋग्वेद (७। १०३। ७)-मे वर्षा ऋतुको उत्सव मानकर शस्य-श्यामला प्रकृतिके साथ अपनी हार्दिक प्रसन्नताकी अभिव्यक्ति की गयी है—

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्त।
सवत्सरस्य तदह परि ष्ठ यन्मण्डूका प्रावृषीण बभूव॥

अर्थात् 'जैसे जिस दिन पहली वर्षा होती है, उस दिन मेढक सरोवरोको पूर्णरूपसे भर जानेकी कामनासे चारो ओर बोलते हैं इधर-उधर स्थिर होते हैं उसी प्रकार हे ब्राह्मणो! तुम भी रात्रिके अनन्तर ब्राह्म मुहूर्तमे जिस समय साम्य-वृद्धि होती है उस समय वेद-ध्वनिसे परमेश्वरके यज्ञका वर्णन करते हुए वर्षा ऋतुके आगमनको उत्सवकी तरह मनाओ।'

वेदामे पर्यावरणको अनेक वर्गोमे बाँटा जा सकता है।
~~~~

जैसे—(१) वायु, (२) जल, (३) ध्वनि, (४) खाद्य और (५) मिट्टी, वनस्पति, वनसम्पदा, पशु-पक्षी-सरक्षण आदि। सजीव जगत्के लिये पर्यावरणकी रक्षाम वायुकी स्वच्छताका प्रथम स्थान है। विना प्राणवायु (ऑक्सीजन)-के क्षणभर भी जीवित रहना सम्भव नहीं है। ईश्वरने प्राणिजगत्के लिय सम्पूर्ण पृथ्वीके चारो ओर वायुका सागर फैला रखा है। हमारे शरीरके अदर रक्त-वाहिनियाम बहता हुआ रक्त बाहरकी तरफ दबाव डालता रहता है, यदि इसे सतुलित नहीं किया जाय तो शरीरकी सभी धमनियाँ फट जायँगी तथा जीवन नष्ट हो जायगा। वायुका सागर इससे हमारी रक्षा करता है। पेड-पौधे ऑक्सीजन देकर क्लोरोफिलकी उपस्थितिमे, इसमेसे कार्बनडाईऑक्साइड अपने लिये रख लेते हैं और ऑक्सीजन हमे देते है। इस प्रकार पेड-पौधे वायुकी शुद्धिद्वारा हमारी प्राण-रक्षा करते हैं।

वायुकी शुद्धिपर बल

वायुकी शुद्धि जीवनके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तत्त्वको यजुर्वेद (२७। १२)-म इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देव ।
पथो अनक्तु मध्वा घृतेन॥

अर्थात् 'उत्तम गुणवाले पदार्थोम उत्तम गुणवाला प्रकाश-रहित तथा सबको प्राप्त हानेवाला ('तनूनपात्') जो वायु शरीरमें नहीं गिरता, वह कामना करने योग्य मधुर जलके साथ श्रोत्र आदि मार्गको प्रकट करे, उसको तुम जाना।'

वायुको शुद्ध तथा अशुद्ध दो भागाम बाँटा गया है—(१) श्वास लेनेके याग्य शुद्ध वायु तथा (२) जीवमात्रके लिये हानिकारक दूषित वायु—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावत ।
दक्ष ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रप ॥
(ऋक्० १०। १३७। २)

अर्थात् 'प्रत्यक्षभूत दोना प्रकारकी हवाएँ सागर-पर्यन्त और समुद्रसे दूर प्रदेश-पयन्त वहती रहती हैं। ह साधक। एक तो तर लिये वलका प्राप्त कराती ह ओर एक जा दूषित है, उसे दूर फक देता है।'

हजारा वर्ष-पूर्व हमारे पूर्वजाका यह ज्ञान था कि हवा कई प्रकारके गैसाका मिश्रण है, जिनके अलग-अलग गुण एव अवगुण हैं, इनम ही प्राणवायु (ऑक्सीजन) भी है, जो जीवनक लिये अत्यन्त आवश्यक है—

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हित ।
ततो नो देहि जीवसे॥ (ऋक्० १०। १८६। ३)

अर्थात् 'इस वायुक गृहम जा यह अमरत्वकी धरोहर स्थापित है, वह हमारे जीवनके लिये आवश्यक है।'

शुद्ध वायु कई रोगाके लिय औषधिका काम करती है, यह निम्न ऋचाम दिखाया गया है—

आ त्वागम शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभि ।
दक्ष ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्म सुवामि ते॥
(ऋक्० १०। १३७। ४)

अर्थात् यह जाना कि शुद्ध वायु तपेदिक-जैसे घातक रोगाके लिये औषधि-रूप है। 'हे रोगी मनुष्य। मैं वैद्य तेरे पास सुखकर और अहिसाकर रक्षणमे आया हूँ। तरे लिये कल्याणकारक बलको शुद्ध वायुके द्वारा लाता हूँ और तेरे जीर्ण रोगका दूर करता हूँ।' हृदयरोग, तपेदिक तथा निमोनिया आदि रोगामे वायुको बाहरी साधनाद्वारा लेना जरूरी है, यहाँ यह सकेत है—

वात आ वातु भेषज शभु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ (ऋक्० १०। १८६। १)

अर्थात् 'याद रखिये शुद्ध ताजी वायु अमूल्य ओषधि है, जा हमारे हृदयके लिये दवाके समान उपयोगी है, आनन्ददायक है। वह उसे प्राप्त कराता है और हमारी आयुको बढाता है।'

जल-प्रदूषण आर उसका निदान

जल मानव-जीवनम पेयक रूपम, सफाई एव धानमे, वस्तुआका ठडा रखन तथा गर्मीसे राहत पानेम, विद्युत्-उत्पादनम नदिया-झीला आर समुद्रम सवारिया आर सामानाको एक स्थानस दूसर स्थानपर पहुँचानक लिये भाप-इजनाका चलानम, अग्नि बुझानेम, कृषि-सिचाई तथा उद्यागों और भाजन बनानम अति आवश्यक ह। सभी जीवधारा जलका उपयाग निरन्तर करत रहत हैं, जलके विना जावन सम्भव नहीं है। आद्यागिकाकरणके परिणामस्वरूप कल-कारखानाका सख्याम पर्याप्त वृद्धि, कारखानासे उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ—कूडा-करकट, रासायनिक अपशिष्ट आदि

नदियामे मिलते रहते हैं। अधिकाश कल-कारखाने नदिया-झीलो तथा तालाबाक निकट होते हैं, जनसख्या-वृद्धिके कारण मल-मूत्र नदियाम वहा दिया जाता है, गाँवा तथा नगराका गदा पानी प्राय एक बडे नालेके रूपम नदिया-तालाबा और कुओमे अदर-ही-अदर आ मिलता है। समुद्रमे परमाणु-विस्फोटसे भी जल प्रदूपित हो जाता है। वेदामे जल-प्रदूपणकी समस्यापर विस्तारसे प्रकाश पडा है।

मकानके पास ही शुद्ध जलसे भरा हुआ जलाशय होना चाहिये—

इमा आप प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनी।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥

(अथर्ववेद ३। १२। ९)

अर्थात् 'अच्छे प्रकारसे रोगरहित तथा रोगनाशक इस जलको में लाता हूँ। शुद्ध जलपान करनेसे म मृत्युसे वचा रहूँगा। अन्न, घृत, दुग्ध आदि सामग्री तथा अग्निक सहित घराम आकर अच्छी तरह बेठता हूँ।'

शुद्ध जल मनुष्यको दीर्घ आयु प्रदान करनेवाला, प्राणोका रक्षक तथा कल्याणकारी हे—यह भाव निम्न ऋचाम देखिये—

श नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
श योरभि स्रवन्तु न ॥ (ऋक्० १०। ९। ४)

अर्थात् 'सुखमय जल हमारे अभीष्टकी प्राप्तिके लिये तथा रक्षाके लिये कल्याणकारी हो। जल हमपर सुख-समृद्धिकी वर्षा करे।'

जल चेहरेका सौन्दर्य तथा कामलता और कान्ति बढानेम औपधि-रूप है। भोजनके पाचनम अधिक जल पीना आवश्यक हे, यह विचार निम्न ऋचाम दखिये—

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीपोमौ बिभ्रत्याप इत्ता।
तीव्रो रसा मधुपृचामरगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥

(अथर्ववद ३। १३। ५)

अर्थात् 'याद रखिय जल मङ्गलमय और घीके समान पुष्टिदाता है तथा वही मधुरताभरी जलधाराआका स्रोत भी है। भोजनके पचानेम उपयागी तीव्र रस है। प्राण और कान्ति बल और पौरुप दनवाला अमरताकी आर ले जानेवाला मूल तत्त्व हे।' आशय यह है कि जलक उचित उपयोगसे प्राणियाका वल, तेज, दृष्टि और श्रवण-शक्तियाँ बढती हे।

एक ऋचाम कहा गया हे कि जलसे ही देखने-सुनने एव बोलनकी शक्ति प्राप्त हाती हैं। भूख, दु ख, चिन्ता, मृत्युके त्यागपूर्वक अमृत (आनन्द) प्राप्त होता है—

आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोपो गच्छति वाङ् मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृप यदा व ॥

(अथर्ववेद ३। १३। ६)

तात्पर्य यह है कि 'देखने-सुनने एव बोलनेकी शक्ति विना पर्याप्त जलक उपयोगके नहीं आती। जल ही जीवनका आधार है। अधिकाश जीव जलम ही जन्म लेते हैं और उसीम रहते हैं। हे जलधारको! मेर निकट आओ। तुम अमृत हा।'

कृपि-कर्मका महत्त्व निम्न ऋचाम देखिये, किसानाके नेत्र जलक लिये वर्षा ऋतुम बादलापर ही लगे रहते हैं—

तस्मा अर गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च न ॥ (ऋक्० १०। ९। ३)

'हे जल! तुम अन्नकी प्राप्तिके लिये उपयोगी हो। तुमपर जीवन तथा नाना प्रकारकी औपधियाँ, वनस्पतियाँ एव अन्न आदि पदार्थ निर्भर हैं। तुम ओपधि-रूप हो।'

ध्वनि-प्रदूषण एव उसका निदान

भजन-कीर्तन, धार्मिक गीत-गान, धर्मग्रन्थाका पाठ, प्रार्थना, स्तुति, गुरुग्रन्थ साहिबका अखण्ड पाठ, रामायण, मीरा तथा नानक एव कवीरके भक्ति-प्रधान भजन उपयोगी हैं। सगीत भक्ति-पूजाका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। खेद है कि आजकल ध्वनिक साधनका दुरुपयोग हो रहा है। रेडियो, ट्राजिस्टर, टी वी ध्वनि-प्रसारक यन्त्र जार-जोरसे सारे दिन कान फाडत रहते हैं। इससे सिरदर्द, तनाव, अनिद्रा आदि फैल रहे हे। वेदामे कहा गया है कि हम स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अधिक तीखी ध्वनिसे बच, आपसम वार्ता करते समय धीमा एव मधुर बोल—

मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया॥

(अथर्ववेद ३। ३०। ३)

अर्थात् 'भाई भाईसे वहन वहनस अथवा परिवारम

कोई भी एक-दूसरेसे द्वेष न करे। सब सदस्य एकमत और एकव्रती होकर आपसम शान्तिसे भद्र पुरुषाके समान मधुरतासे बातचीत कर'—

जिव्हाया अग्रे मधु मे जिव्हामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
(अथर्ववेद १। ३४। २)

अर्थात् 'मेरी जीभसे मधुर शब्द निकले। भगवान्‌का भजन-पूजन-कीर्तन करते समय मूलम मधुरता हो। मधुरता मेरे कर्मम निश्चयसे रहे। मेरे चित्तमे मधुरता बनी रहे।'

खाद्य-प्रदूषणसे बचाव

वेदोने खाद्यके सम्बन्धम वैज्ञानिक आधारपर निष्कर्ष दिया है। जैसे—

मनुष्य पाचनशक्तिसे भोजनका भलीभाँति खुद पचाये, जिससे वह शारीरिक और आत्मिक बल बढाकर उसे सुखदायक बना सके। इसी प्रकार पेय पदार्थों, जेसे जल-दूध इत्यादिके विषयम भी उल्लेख है—

यत् पिबामि स पिबामि समुद्र इव सपिव ।
प्राणानमुष्य सपाय स पिबामो अमु वयम्॥
(अथर्ववेद ६। १३५। २)

अर्थात् 'मैं जा कुछ पीता हूँ, यथाविधि पीता हूँ, जैसे यथाविधि पीनवाला समुद्र पचा लेता है। दूध-जल-जैसे पेय पदार्थोंको हम उचित रीतिसे ही पिया कर । जा कुछ खाये, अच्छी तरह चबाकर खाय'—

यद् गिरामि स गिरामि समुद्र इव सगिर ।
प्राणानमुष्य सगीर्य स गिरामो अमु वयम्॥
(अथर्ववेद ६। १३५। ३)

अर्थात् 'जो भी खाद्य पदार्थ हम खाय, वह यथाविधि खायें, जल्दबाजी न कर। खूब चबा-चबाकर शान्तिपूर्वक खायें। जैसे, यथाविधि खानेवाला समुद्र सब कुछ पचा लेता है। हम शाक-फल-अन्न आदि रसवर्धक खाद्य पदार्थ ही खाय।'

मिट्टी (पृथ्वी) एव वनस्पतियोमे प्रदूषणकी रोकथाम

अथर्ववेदके १२ वे काण्डके प्रथम सूक्तम पृथ्वीका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। सभी प्राणी पृथ्वीके पुत्र हैं। कहा गया है—

माता भूमि पुत्रो अह पृथिव्या ।

पृथ्वीका निर्माण कैसे हुआ है, दखिये—

शिला भूमिरश्मा पासु सा भूमि सधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकर नम ॥
(अथर्ववेद १२। १। २६)

अर्थात् 'भूमि चट्टान, पत्थर और मिट्टी है। मैं उसी हिरण्यगर्भा पृथ्वीके लिय स्वागत-वचन बोलता हूँ।'

नाना प्रकारके फल, ओषधियाँ, फसले, अनाज, पेड-पौधे इसी मिट्टीपर उत्पन्न होते हैं। उनपर ही हमारा भोजन निर्भर है। अत पृथ्वीको हम माताके समान आदर द।

यस्यामन्न व्रीहियवौ यस्या इमा पञ्च कृष्टय ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥
(अथर्ववेद १२। १। ४२)

—याद रखिये, 'भोजन और स्वास्थ्य देनेवाली सभी वनस्पतियाँ इस भूमिपर ही उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी सभी वनस्पतियाकी माता और मेघ पिता है, क्याकि वर्षाके रूपम पानी बहाकर यह पृथ्वीमे गर्भाधान करता है।'

पृथ्वीम नाना प्रकारकी धातुएँ ही नहीं, वरन् जल और खाद्यान्न, कन्द-मूल भी पर्याप्त मात्राम पाये जाते हैं, चतुर मनुष्याको उसस लाभ उठाना चाहिये—

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्य पात्र निहित गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्य ॥
(अथर्ववेद १२। १। ६०)

भावार्थ यह ह कि 'चतुर मनुष्य पृथ्वीतलके नीचेसे कन्द-मूल खाद्यान्न खाजकर जीवन-विकास करते हैं।'

हम अपनी मिट्टीसे न्याय नहीं कर रहे हैं। अधाधुध शहरीकरण, औद्योगिकाकरणके कारण वन तजीसे काटे जा रहे हैं। मिट्टी ढीली पडती जा रही ह। खेत अनुपजाऊ हो गय हैं। पेडाके अभावम वर्षाऋतु भा अनियन्त्रित हो गयी है। बढती जनसख्याकी खाद्य-समस्या मिट्टाके प्रदूषणसे फेली है।

वेदोमें विमान

(डॉ० श्रीबालकृष्णजी एम्० ए०, पी-एच्० डी० एफ० आर० ई० एस०)

यूरोपीय विद्वानोंके मतानुसार वेदोंमें उच्च सभ्यताके नमूने नहीं हो सकते। विकासवादके अनुसार वेद एक प्राचीन और प्राथमिक मनुष्योंके गीत ही हो सकते हैं। वस्तुत विकासवादके सिद्धान्तको सत्य मानकर ही वेद-विषयक ऐसी अटकल लगायी जाती है। मेरे विचारसे तो वेद इनके विकासवादकी सत्यतापर ही कुठाराघात करते हैं। इसका एक प्रमाण वेदोंमें विमानोंका वर्णन होना है। यदि वैदिक युगमें विमान बनाये जाते थे, तो उस कालकी सभ्यता अवश्यमेव उच्च होनी चाहिये। निम्न प्रमाणोंसे पाठक स्वय निश्चित कर सकते हैं कि वेदमें 'उडनखटोलिया' का वर्णन है या कवियोकी 'कपोल-कल्पना'का चित्र है अथवा 'सच्चे विमानो'का वर्णन।

ग्रिफिथने ऋग्वेदके चौथे मण्डलके ३६ वे सूक्तकी इतनी बुरी तरह हत्या की है कि वह बोधगम्य ही नहीं रहा है। यदि सायणके भाष्यसे काम लिया गया होता तो इस विवादग्रस्त प्रश्नपर अवश्य प्रकाश पडता। जो हो इस ऋग्वेदीय सूक्तके निम्नलिखित मन्त्रार्थों एव भावानुवादोंसे सरलतापूर्वक निर्धारित किया जा सकता है कि जिस वायुयानके विषयमें वर्णन मिलता है, वह काल्पनिक है या वास्तविक। मैंने सायणके अनुवादको ही अपनाया है।

'हे रैभव। तुमने जिस रथका निर्माण किया उसमें न तो अश्वोंकी आवश्यकता है और न धुरीकी। यह तीन पहियोंका प्रशसनीय रथ वायुमण्डलमें विचरण करता है। तुम्हारा यह आविष्कार महान् है। इसने तुम्हारी तेजोमयी शक्तियोंको पूज्य बनाया है। तुमने इस कार्यमें स्वर्ग एव मर्त्यलोक, दोनोंको दृढ एव धनी बनाया है' (ऋक्० ४। ३६। १)।

'प्रखरबुद्धि रैभवने ऐसे सुन्दर घूमनेवाले रथका निर्माण किया, जो कभी गलती नहीं करता। हम इन्हें अपना सोमरस पान करनेके लिये आमन्त्रित करते हैं' (ऋक्० ४। ३६। २)।

'हे रैभव। तुम्हारी महत्ताको लोहा बुद्धिमानोंने मान लिया है' (ऋक्० ४। ३६। ३)।

'विशेष तेजस्वी ऋभुओंद्वारा जिस रथका निर्माण हुआ वे जिसकी रक्षा या जिसे प्यार करते हैं, उस रथकी मानव-समाजमें प्रशसा है' (ऋक्० ४। ३६। ५)।

ऋभुओंद्वारा निर्मित रथ एक ऐसा अभूतपूर्व आविष्कार था, जिसकी प्रशसा जन-साधारण एव विद्वान्, दोनो द्वारा होती थी। इस रथने ससारमें एक सनसनी फैला दी थी।

इस वायुयानसे किसी प्रकारकी आवाज नहीं होती थी। यह अपने निश्चित पथपर वायुमण्डलमें विचरण करता था और इधर-उधर न जाकर सीधे अपने गन्तव्य स्थानको जाता था।

'यह रथ बिना अश्वके सचालित होता था' (ऋक्० १। ११२। १२ और १०। १२०। १०)। यह स्वर्णरथ त्रिकोण एव त्रिस्तम्भ था।

ऋभुओंने एक ऐसे रथका निर्माण किया था, जो 'सर्वत्र जा सकता था' (ऋक्० १। २०। ३, १०। ३९। १२, १। ९२। २८ और १२९। ४, ५। ७५। ३ और ७७। ३, ८५। २९, १। ३४। १२ और ४७। २, १। ३४। २ और ११८। १-२ तथा १५७। ३)।

कुछ और मन्त्र देखिये—

'हे धनदाता अश्विनो! तुम्हारा गरुडवत् वेगवान् दिव्य रथ हमारे पास आवे। यह मानव-बुद्धिसे भी तेज है। इसमें तीन स्तम्भ लगे हैं, इसकी गति वायुवत् है' (ऋक्० १। ४७। २)। 'तुम अपने त्रिवर्ण, त्रिकोण सुदृढ रथपर मेरे पास आओ' (ऋक्० १। ११८। २)।

'अश्विनो! तुम्हें तुम्हारा शीघ्रतासे घूमनेवाला विचरणशील यन्त्रयुक्त गरुडवत् रथ यहाँ ले आवे' (ऋक्० १। ११८। ४)।

यहाँ विल्सन तथा कुछ दूसरोंने अश्वोंद्वारा सचालित पतग अर्थ किया है, विमान नहीं, किंतु इन उदाहरणोंसे यह अर्थ नहीं निकलता है। कम-से-कम यह तो साफ वर्णित है कि अश्विनोका रथ यन्त्र-कलोंसे निर्मित किया गया था और उसके सचालनार्थ अश्व नहीं लगे थे (देखिये—ऋक्० १। ११२। १२ और १। १२०। १०)। एक दूसरे स्थानमें सर्वत्र विचरणशील सुन्दर रथका वर्णन है (ऋक्० १। २०। ३)।

'ऋभुओ! तुम उस रथसे आओ, जो बुद्धिसे भी तेज है, जिसे अश्विनाने तुम्हारे लिये निर्मित किया है' (ऋक्० १०। ३९। १२)।

'तुम्हारा रथ स्वर्णाच्छादित है। इसमे सुन्दर रग है। यह बुद्धिसे भी तेज एव वायुके समान वेगशाली है' (ऋक्० ५। ७७। ३)। 'अश्विनो! अपने त्रिकोण-त्रिस्तम्भ रथके साथ आओ' (ऋक्० १। ४७। २)।

ऋग्वेदमे वायु तथा समुद्रवाले दोनो रथोका साफ-साफ वर्णन है (ऋक्० १। १८२। ५)।

'तुमने तुग्र-पुत्राके लिये महासागर पार करनेके निमित्त जीवनसयुक्त उडते जहाजका निर्माण करके तुग्र-पुत्र भुज्युका उद्धार किया और आकाशसे उतरकर विशाल जल-राशिको पार करनेके लिये रथ तैयार किया।'

इसी प्रकार यजुर्वेदमे भी वायुयान-यात्राका बडा ही मनोहर वर्णन है—

'आकाशके मध्यमे यह विमानके समान विद्यमान है। द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष—इन तीना लोकामे इसकी अबाध गति है। सम्पूर्ण विश्वम गमन करनेवाला और मेघोके ऊपर भी चलनेवाला, वह विमानाधिपति इहलोक तथा परलोकके मध्यम सब ओरसे प्रकाश देखता है' (वाजसनेयिसहिता १७। ५९)।

ऋग्वेद और यजुर्वेदके मन्त्रासे ही इस लेखमे विमानाकी विद्यमानताके प्रमाण मैंने दिये हैं। अथर्ववेदम भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, परतु लेखके बढनेके भयसे वे यहाँ नहीं दिये गये। आशा है कि वैदिक सभ्यताके इस नमूनेपर पाठक विचार करगे।

गोत्र-प्रवर-महिमा

आर्य-सस्कृतिमे गोत्र और प्रवरका विचार रखना सर्वोपरि माना गया है। सनातनधर्मी आर्य जातिकी सुरक्षाके लिये चार बडे-बडे दुर्ग हैं। प्रथम गोत्र और प्रवर, जिनके द्वारा अपनी पवित्र कुल-परम्परापर स्थिर लक्ष्य रहता है। द्वितीय रजोवीर्यशुद्धिमूल वर्णव्यवस्था, जिसम जन्मसे जाति माननेकी दृढ आज्ञा है और तप स्वाध्यायनिरत ब्राह्मण-जातिके नेतृत्वम सचालित होनेकी व्यवस्था है। तृतीय आश्रमधर्मकी व्यवस्था, जिसमे आर्यजाति सुव्यवस्थित-रूपसे धर्ममूलक प्रवृत्ति-मार्गपर चलती हुई भी निवृत्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है और चतुर्थ वर्ग सतीत्वमूलक नारीधर्मकी सहायतासे आर्यजातिकी पवित्रता है—इन चार अटल दुर्गोमे गोत्र एव प्रवरपर सदा लक्ष्य रखनेवाला प्रथम दुर्ग कितना महान् और परमावश्यक है, उसको इस समय प्रकाशित करनेकी बडी आवश्यकता है। गोत्र-प्रवरका माहात्म्य तथा उसकी परम आवश्यकताका कुछ भी ज्ञान न होनेसे आजकलके राजकर्मचारी और प्रजावर्ग बहुत ही विपथगामी हो रहे हैं। उनके अन्त करणम इतना अज्ञान छा गया है कि प्रवरको तो वे भूल ही गये हैं और सगोत्र-विवाहको कानूनद्वारा चलाना चाहते हैं। आर्यजातिका प्रधान महत्त्व यह है कि वह सृष्टिके आरम्भस अबतक अपने रूपम विद्यमान है। चतुर्युगी सृष्टि एव मन्वन्तर-सृष्टिकी तो बात ही क्या है, कल्पादि और महाकल्पादिकी आदि-सृष्टिके साथ-साथ गोत्र-प्रवर-सम्बन्ध है, क्याकि ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके साथ ही उनक मानस पुत्ररूपम उत्पन्न हुए ऋषियासे ही गोत्र-प्रवरका सम्बन्ध चला है। यह गोत्र-प्रवरके विज्ञानकी ही महिमा है कि हिदू-जाति तबसे अबतक जीवित है। उस समयसे लेकर आजतक पृथ्वीकी लाखा जातियाँ प्रकट हुईं और कालके गालमे चली गयीं, परतु दैवी जगत्पर विश्वास करनेवाली, वर्णाश्रमधर्म माननेवाली, अपनी पवित्रताकी रक्षा करनेके लिये गोत्र-प्रवरकी शृखलाके आधारपर चलनेवाली सनातनधर्मी प्रजा अभीतक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर रही है। जिस मनुष्य-जातिमे वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं, गात्र-प्रवरकी सुव्यवस्थाका विचार नहीं, उस मनुष्य-जातिपर अर्यमा आदि नित्य पितराकी कृपा न होनेसे वह जाति जीवित नहीं रह सकती। हमारे वेदाम, वैदिक कल्पसूत्रमे तथा स्मृति और पुराणोम गोत्र-प्रवर-

प्रवर्तक महर्षियाकी चर्चा ह तथा उसस आयजातिको सुरक्षित रखनेके लिय दृढ आज्ञा है। अत आधुनिक अहम्मन्य नेतृवृन्दाके द्वारा इस व्यवस्थाका नाश न हान दना चाहिय। इस समयकी क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियाम अपने पुराहितक गोत्रसे गात्र-प्रवर माननेकी व्यवस्था प्रचलित ह। इस कारण उक्त जातियांकी इस व्यवस्थाम कुछ शिथिलता सम्भव ह, परतु ब्राह्मण-जातिम वद और शास्त्राम वर्णित गात्र एव प्रवरकी व्यवस्था यथावत् चलनी चाहिय। आजकल ब्राह्मण-जातिमे जो अनेक प्रकारक पतनक लक्षण दिखायी दत ह, उसका प्रधान कारण यह है कि ब्राह्मण-जाति गात्र-प्रवरका महिमाका भूल गयी है। वास्तवम गात्र और प्रवरकी महिमाक प्रभावसे ही अभीतक ब्राह्मण-जातिम कहीं-कहा ब्रह्मतेज दिखायी दता है तथा वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थापर गात्र-प्रवर-महिमाका वडा भारी प्रभाव पडता ह। अत जिनम स्वजाताय अभिमान है, जा अपने स्वधर्मका गौरव समझत हैं, जा जन्मान्तर-विज्ञान मानत हैं और जा रजावायका शुद्धताका गारव समझत हैं, उनको इस समय प्रमादग्रस्त न हाकर इस विषयम चतन्य हाना चाहिय।

आख्यान—

शासनतन्त्र प्रजाके हितके लिये

शासकका प्रधान कर्तव्य ह—प्रजाका हित करना। उसे 'राजा' इसीलिय कहा जाता है कि वह प्रजाका रञ्जित अर्थात् सुखी और सतुष्ट रखता ह। जिस व्यक्तिम प्रजारञ्जनका यह योग्यता न हा, उस शासनतन्त्रम नहीं आना चाहिय। भारतका इतिहास एसे उदात्त पुरुषाक चरित्रस भरा हुआ है जिन्ह शासन करनका पूर्ण अधिकार प्राप्त था किंतु उन्हान इस पदको कवल इसलिये त्याग दिया कि वे प्रजाका हित करनेमे अपनेका अयाग्य पात थ। उन्हीं महापुरुषाम 'देवापि' का भी नाम आता ह। वद आर वदानुगत साहित्यम उनका विस्तृत इतिहास उपलब्ध ह।

दवापि ऋषिषेणक वड पुत्र थे। उनक छाटे भाईका नाम शन्तनु था। दवापि त्वचाके रागस पीडित थ। इसके अतिरिक्त उनम आर काई दाष न था। गुण ता उनम कूट-कूटकर भरे थे। जव इनक पिताका स्वर्गवास हुआ, तब प्रजाने इन्ह राज्य दिया[१], किंतु देवापिने उस राज्यको स्वीकार न किया। व सोचते हागे कि अपने इस रागकी चिकित्साम जा समय लग जायगा, उतना समय प्रजाके हितम न लगा सकग। उन्हान प्यार-भर शब्दाम प्रजास कहा—'मैं शासन करनेक योग्य नहीं हूँ। इसलिये हमार छाट भाई 'शन्तनु' का ही आप लाग राजपदपर अभिषिक्त कर द।[२]

अपन वड भाईकी आज्ञा ओर प्रजाका अनुमतिसे शन्तनुने राज्य-भार ग्रहण किया, फिर व प्रजाक हितम तत्परतासे लग गय। शन्तनु भी काई साधारण पुरुष नहीं थे। व सागरक अवतार थे।[३] इसलिये इनम कुछ जन्मजात सिद्धियाँ थीं। शन्तनु यदि किसा वृद्ध पुरुषका अपने हाथस छू दत थे, तो वह तरुण बन जाता था। दूसरा सिद्धि यह थी कि उनक स्पर्श-मात्रसे प्रत्यक प्राणीको शान्ति प्राप्त हा जाती थी।[४]

महाराज शन्तनु फूँक-फूँककर पैर रखते थे। धर्मके विरुद्ध एक पग भी नहीं उठाते थे, फिर भी अनजानम ही उन्ह एक पाप लग गया था। इस पापसे महाराज शन्तनुक राज्यम बारह वर्षोतक वृष्टि नहीं हुई। राजा समझते थे कि मेरे ही किसी पापसे अवर्षणका यह कुयाग प्राप्त हुआ है। बहुत याद करनपर भी उनका अपना कोई पाप याद नहीं आ रहा था। तब उन्हाने ब्राह्मणासे पूछा—'महानुभावो! मेरा वह कौन-सा पाप है, जिससे मरे राज्यम वृष्टि नहीं

१-राज्यन छन्दयामासु प्रजा स्वर्गं गते गुरौ (बृहद्देवता ७। १५७)।

२-न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शन्तनु (बृहद्देवता ८। १)।

३-मत्स्यपुराण।

४-य य कराभ्या स्पृशति जीर्णं यौवनमेति स ।
शान्ति चाप्नाति येनाग्र्या कर्मणा तन शान्तनु ॥ (विष्णुपुराण ४। २०। १३)

हो रही है?' ब्राह्मणोने बताया कि शास्त्रकी दृष्टिसे इस राज्यका अधिकारी तुम्हारा बडा भाई देवापि हे। वह याग्य भी है, अत इस राज्यका सचालन उसे ही करना चाहिये। योग्य बडे भाईके रहते छोटे भाईका राज्य करना शास्त्र-विरुद्ध हे। यही अधर्म तुमसे हो गया हे।

शन्तनुने प्रजाका हित करनेके लिये ही शासन सँभाला था। इनके शासनसे प्रजाका अहित हुआ—यह सुनकर उन्ह बहुत दु ख हुआ। उन्हाने नम्रताके साथ ब्राह्मणासे पूछा कि 'मुझसे पाप तो हो ही गया, अब आप मरे कर्तव्यका निर्देश कर।' ब्राह्मणाने कहा—'यह राज्य अपने बड भाईको सौंप दो।'

शन्तनुने शीघ्र ही बडे भाईको राज्य देनेकी योजना बनायी। देवापि नगरमे विद्यमान नहीं थे। शन्तनुको राज्य देकर वे उसी समय वनम चले गये थे आर वहाँ आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे थे। ब्राह्मणाका आगे कर शन्तनु वनम बडे भाईको राज्य देनेके लिये चल पडे। उन्हाने भाईके चरणामे मस्तक रखा और वेदके वचन प्रस्तुत कर राज्यका स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना की।

देवापिने कहा—'प्रिय भाई! मैं राज्यके योग्य नहीं हूँ, क्याकि त्वचाके रोगसे मेरी शक्ति क्षीण हो गयी है—'न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रिय' (बृहद्दवता ८।५)। अत तुम्ही शासक बने रहा, क्याकि तुमसे प्रजाका पूरा-पूरा हित हा रहा ह। रह गयी अवर्षणकी बात तो इसके लिये मैं यज्ञ कराऊँगा, फिर तो सब दुश्चिन्ताएँ स्वत मिट जायँगी।' देवापिने यथाविधि वर्षा करानेवाला यज्ञ सम्पन्न किया। उन्हाने **'बृहस्पत प्रति'** (ऋक्० १०।९८।१—३)—इन मन्त्रासे यज्ञ कराया। यज्ञ होते ही वर्षा हुई। प्रजाका सारा कष्ट दूर हो गया।

बृहद्दवताके इस कथासे विश्वके शासकाका शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। देवापिने सर्वथा योग्य होते हुए भी केवल अपन त्वचा-रोगके कारण राज्यका परित्याग कर दिया। केवल इसलिये कि प्रजाके हितम वे अपने पूरे समयका यागदान न कर सकगे। दूसरी तरफ उनके छोटे भाई शन्तनुने भी उस राज्यका एक तरहसे परित्याग ही कर दिया था। फिर विवशतावश-उन्हे राज्य ग्रहण करना पडा, क्याकि इसके बिना प्रजाका अनुरञ्जन नहीं हो सकता था।

(ला० वि० मि०)

वेदोमे निर्दिष्ट शुद्धि तथा पवित्रताके साधन

(श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे)

(१)
आचमनकी आवश्यकता

किसी भी धर्म-कर्म अथवा पुण्य-कार्यके निमित्त सर्वप्रथम शरीर-शुद्धि-हेतु 'ॐ कशवाय नम', 'ॐ नारायणाय नम', 'ॐ माधवाय नम' के उच्चारणपूर्वक आचमन किया जाता है। आचमनका विधान क्या किया गया है, इस सम्बन्धमे श्रुतिका साराश निम्नाङ्कित है—

धर्मानुष्ठान अथवा पुण्यकर्म करनेवाला व्यक्ति सर्वप्रथम अपने आराध्य देवके सम्मुख उपस्थित होकर पवित्र जलसे आचमन करता है। वेदोंम आचमनको आवश्यक इसलिये बताया गया है कि सामान्यत लोक-व्यवहारम व्यक्तिद्वारा कभी-कभी कुछ ऐसे कार्य हो जात हैं, जिसस वह अशुद्ध हो जाता है। जैसे (१) वार्तालाप—(क) कटु वाणी—क्रोध अथवा आवेशम मुखसे कटु-भाषण (ख) अहितकर वाणी—जिस वचनसे किसीका अहित हो जाय और (ग) असत्य वाणी—अपने स्वार्थपूर्तिके लिये असत्यका आश्रयण। इसके अतिरिक्त कई अन्य कारणासे भी अपवित्रता आ जाती है, इसलिये भाजनके अनन्तर, निद्रा तथा लघुशका आदिसे निवृत्त होनेपर तथा खानेके बाद आचमन करना आवश्यक बताया गया है। पवित्र जलके आचमनसे आभ्यन्तर-शुद्धि होती है। 'जल पवित्र हाता है और इस पवित्र जलसे आचमन करनेपर मैं पवित्र हाकर धर्म-कर्मरूपी व्रत ग्रहण करूँ'—**'पवित्रपूतो व्रतमुपयानीति'** (श० ब्रा० १।१।१।१)। इसी व्रतनिष्ठाको ध्यानम रखकर अनुष्ठाता व्यक्ति आचमन करता है।

(२)
पवित्र-निर्माण एव उत्पवन

स्मृति-ग्रन्थ सोम-सूर्यकी किरणा एव वायुको मार्ग-शुद्धिम हेतु बतलात ह। बाह्य आवरणम वर्तमान यह वायु

एकरूप ही प्रवाहित होती है, किंतु मनुष्यके शरीरमे प्रवेश करता हुआ यह वायु वृत्तिभेदके द्वारा अधोमुख तथा ऊर्ध्वमुख विचरण करता है। इडा एव पिगलादि नाडीके द्वारा शरीरसे बाहर निकलता हुआ प्राणवायु 'प्राङ्' तथा नाडी (पिगला)-द्वारा पुन भीतर प्रवेश करता हुआ 'प्रत्यङ्' कहलाता है। ये दोनो वृत्तिभेद प्राण एव अपानके नामसे व्यवहृत होते है। तैत्तिरीय श्रुतिमे स्पष्ट रूपसे इस बातको कहा गया है कि पवित्र-निर्माणमे दो तृणोकी दो सख्या प्राण एव अपान वायुकी दो सख्याका अनुसरण करके ही की गयी है। वस्तुत प्राणापान ही दो 'पवित्र' है और इन दोनोका यजमानमे दो तृणोद्वारा निर्मित पवित्ररूप प्रतीकके माध्यमसे आधान किया जाता है।[1] उक्त दो तृणोसे निर्मित पवित्रके द्वारा प्रोक्षणी (पात्र)-मे स्थित जलका उत्पवनकर (ऊपर उछालकर) प्रोक्षणीगत जलको शुद्ध किया जाता है। उस शुद्ध जलसे हवि एव यज्ञपात्रोका प्रोक्षण किया जाता है। जलमे अशुद्धि होनेका कारण यह है कि इन्द्रने जब वृत्रासुरको मारा तो मृत वृत्रासुरके शवसे निकली दुर्गन्ध चारो ओर समुद्रके जलमे फैलने लगी। ऐसी स्थितिमे कुछ शुद्ध जलाश भयभीत होकर जलाशयसे बाहर तट-प्रदेशमे आया और दर्भके रूपमे परिणत हो गया। प्रणीतापात्रगत जल कदाचित् हत वृत्रासुरकी दुर्गन्धसे अपवित्र जलके साथ मिला हो, अत उसको पवित्रीसे उत्पवनके द्वारा पवित्र कर उस शुद्ध प्रणीता-जलसे शुद्धि-हेतु अन्य यज्ञिय पदार्थोका प्रोक्षण करना चाहिये।[2]

श्रौतसूत्रमे पवित्र-निर्माणकी विधि यह है कि दो बराबर कुशपत्र जो अग्रभागयुक्त हो खण्डित न हो तथा अलग-अलग हो—इस प्रकारके दो कुशपत्रोके प्रादेश-परिमित अग्रभागपर तीन कुशाओको रखकर दोनो कुशपत्रोके मूलसे तीनो कुशपत्रोको प्रदक्षिण-क्रमसे घुमाकर तीन कुशपत्रोसे दोनो कुशपत्रोका छेदन कर उन प्रादेश-परिमित दोनो कुशपत्रोमे प्रदक्षिणा वृत्त ब्रह्मग्रन्थि लगानेपर पवित्री बन जाती है।[3]

(३)
कृष्णाजिन (मृगचर्म)

सोमयागमे 'कृष्णाजिन' अनिवार्य है। व्रीहि (धान)-का अवहनन (कूटना) एव पेषण (पीसना) कृष्णाजिनपर रखकर ही होता है। यज्ञकी समग्रताके लिये कृष्णाजिनका आदान (स्वीकार) आवश्यक है।

कृष्णाजिनकी उत्पत्तिमे एक पुरावृत्त (इतिहास) है। एक बार किसी कारणवश यज्ञ देवताओसे रूठकर कहीं पलायित हो गया और कृष्णमृगके रूपमे इधर-उधर विचरण करने लगा। देवताओने समझ लिया कि यज्ञ ही मृगरूप धारण कर पलायित हो रहा है, अत उन्होने उसकी त्वचाको ही छेदन कर खींच लिया।

उक्त, कृष्णाजिन या मृगचर्मकी यज्ञरूपताका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि मृगचर्ममे सफेद एव काले बाल या चिह्न है, वे क्रमश ऋग्वेद तथा सामवेदके प्रतीक है। अथवा जो कृष्णचिह्न है, वह सामका रूप, सफेद चिह्न ऋग्वेदका एव भूरा चिह्न यजुर्वेदका रूप है। यह वेदत्रयी विद्या ही यज्ञ है। उसी वेदत्रयी विद्याका 'वर्ण' यह मृगचर्म यज्ञ-रूप है, अत यजमानकी दीक्षा, व्रीहिका कूटना तथा उसका पीसना मृगचर्मपर ही होता है। कूटने-पीसनेमे जो कुछ हविर्द्रव्य गिरता है, वह स्कन्नदोषरहित माना जाता है।[4]

(४)
दूर्वा

दूर्वाकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई? वस्तुत इसका क्या स्वरूप है, इस रहस्यको शतपथ-श्रुतिका एक आख्यान स्पष्ट करता है।

सृष्टि-सरचनामे सलग्न प्रजापति श्रम (तपस्या)-के कारण इतना शिथिल हो गया कि शरीरके मध्यसे उसका प्राण उत्क्रमण कर गया। इस प्रकार प्राणोत्क्रमणसे विस्रस्त प्रजापतिके लोम (रोम) गिरने लगे। प्रजापतिने जो यह शब्द कहा कि इस प्राणने मेरी हिंसा की है—'माऽधूर्वीत्',

---

१-प्राणापानौ पवित्रे यजमाने एव प्राणापानौ दधाति। (तै० ब्रा० ३। १। १०। २)

२-श० ब्रा० (१। १। ३। १—५)

३-का० श्रौ० सू० (२)

४-श० ब्रा० (१। १। ४। १—३)

अत हिसावाचक 'धूर्वी' धातु (धूर्वी हिंसायाम्)-का उच्चारण करनेसे वह प्राण 'धूर्वा' पदका वाचक हो गया। देवताओंका परोक्ष नाम प्रिय होता है, अत उन्होने प्रत्यक्ष-वृत्ति-वाचक 'धूर्वा' शब्दके स्थानपर परोक्ष-वृत्ति-वाचक 'दूर्वा' शब्दका प्रयोग किया। लोकमे दूर्वा तथा इस प्रकारके बहुतसे शब्द यथा—सुवेद [1]-स्वेद, इन्ध [2]-इन्द्र, आहितय [3]-आहुतय, यज [4]-यज्ञ इत्यादि इतने प्रचलित हो गये कि हम दूर्वा, वेद, इन्द्र, आहुति एव यज्ञ आदि शब्दाको ही तुरत अर्थबोध होनेके कारण प्रत्यक्ष-वृत्तिवाले समझते हैं। धूर्वा, सुवेद, इन्ध, आहित एव यज आदि शब्दाको हम परोक्ष-वृत्तिका तरह समझते हैं, क्याकि इन शब्दाको पढकर शीघ्र अर्थावबोध नहीं होता।

उपर्युक्त प्रत्यक्ष एव परोक्ष-वृत्तिका व्यवहार केवल वेदमे ही नहीं, अपितु लोक-व्यवहारमे भी प्रचलित है। हम किसी विशिष्ट या प्रिय व्यक्तिका मुख्य नाम न लेकर सम्मान-हेतु पिताजी (बाबूजी), भाईसाहब, मुन्ना आदि उपनाम या परोक्ष नामका व्यवहार करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थामे ऐसे कई शब्दाके निवचन किये गये हैं, जो देवताओंकी दृष्टिसे परोक्ष-वृत्तिवाले हैं और उन्हीका लौकिक व्याकरणमे तथा लोक-व्यवहारमे प्रत्यक्ष-वृत्तिमे प्रयोग (व्यवहार) होता है।

दूर्वाका स्वरूप

दूर्वा वस्तुत प्राणका पोषक पदार्थ या प्राणरूपी रस है। श्रुति स्वय प्राणको रसात्मक बतलाती है। प्राण ही कर-चरणादि अङ्गावयवोका रसतत्त्व या सार है।[5]

जब देवताओंने चयनयागके द्वारा प्रजापतिका सस्कार किया, तब उन्होंने प्रजापतिके हृदय (मध्य)-मे प्राणरूप रसका स्थापन किया। रसरूप प्राणसे प्रजापतिके लोम एव उनके लोमासे लोमात्मिका दूर्वा एव सभी ओषधियाँ उत्पन्न हुईं।

इस सृष्टिकी सरचनामे श्लथ प्रजापतिको सस्कृत एव शक्तिशाली बनानेके लिये आत्मरूप परमेष्ठी प्रजापतिने सर्वप्रथम चयनादि अनुष्ठान (तपस्या) किया। परमेष्ठीके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ देवताओंको प्राप्त हुआ। देवताओसे ऋषियोको एव ऋषियोसे परम्परया भारतीय मनीषियोको यह यज्ञ-सम्पदा प्राप्त हुई। श्रुति स्वय कहती है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म' (श० ब्रा०), 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' (यजु० ३१। १६)।

चयन-यागमे चिति (चयन-याग-हेतु कर्मभूमि)-पर पुष्करपर्ण आदि विविध इष्टकाओ (ईंटो)-का उपधान किया जाता है। पुष्करपर्णेष्टकाका स्थापन कर देवोने सर्वप्रथम सृष्टिमे जलका सचार किया। पुष्करपर्ण ईंट जलके ऊपर स्थित होकर भूमिके रूपमे व्याप्त होती है। यह भूमि चित्याग्निके आश्रय-हेतु प्रथम पदार्थ है। इसके बाद आदित्यरूप 'रुक्मेष्टका' का उपधान होता है। तदनन्तर देवोने पुरुषेष्टका, दो स्रुक् इष्टका एव स्वयमातृण्णा इष्टकाओका चयन—वेदिकापर स्थापन किया। पुरुषेष्टकासे पुरुष, दो स्रुक् इष्टकाओसे पुरुषकी दो भुजाओ एव स्वयमातृण्णा इष्टकासे अन्नकी उत्पत्ति की। इसी उपधान-क्रममे पशुओकी पुष्टिके लिये दूर्वा आदि पोषक ओषधियोकी सृष्टि करनेके लिये 'दूर्वेष्टका' का उपधान किया।[6] पहले यज्ञके द्वारा उत्पन्न तत्तत् पदार्थोकी वृद्धि एव उनका पोषण यज्ञके द्वारा ही सम्भव है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। आज यज्ञोका अभाव होनेसे ही उन तत्तत् पदार्थोंका ह्रास हो रहा है। ब्राह्मणग्रन्थामे जो सृष्टिक्रम बतलाया गया है, उसका मूल कारण यज्ञ ही है। सृष्टिमे जड एव चेतन्य-रूपमे जो भी विविध पदार्थ हैं उन सबकी उत्पत्ति यज्ञोके द्वारा ही हुई है। इसी बातका श्रीमद्भगवद्गीतामे स्पष्ट कहा गया है—

सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि· पर्जन्यादन्नसम्भव ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भव ॥
(३। १० १४)

१-एत सुवेद सन्त स्वेदमित्याचक्षते परोक्षेण (गोपथब्राह्मण १। १)।
२-इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते पराेऽक्षम् (श०ब्रा० ६। १। १। २)।
३-आहितयो ह वैता आहुतय इत्याचक्षते परोऽक्षम् (श० ब्रा० १०। ६। २। २)।
४-यजो ह वै नाम यज्ञ (श० ब्रा०)।
५-प्राणो हि वा अङ्गाना रस (श० ब्रा० १४। १। १। २१)।
६-श० ब्रा० (७। ४। २। १०—१२)।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः

['वेदो नारायण साक्षात् भगवानिति शुश्रुम' इस वचनसे स्पष्ट है कि वेद साक्षात् नारायण-स्वरूप हैं और उन्हींके निश्वासरूपमे प्रादुर्भूत होकर प्रत्येक कल्पकी सृष्टिमे ऋषियाकी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा मन्त्र-विग्रह-रूपम दृष्ट हाते हैं। प्रलयम भी इनका स्वरूप बना रहता है। जब नारायणक नाभिकमलसे पद्मोद्भव भगवान् ब्रह्मा आविर्भूत होते ह, तब वे तपस्याके द्वारा सृष्टिवर्धन-कार्यमे प्रवृत्त हाते हैं। इसी सृष्टिमे उनके मानसी सकल्पसे नौ (प्रकारान्तरसे दस) ऋषियाका प्रादुर्भाव हाता है, जो 'नवब्रह्माण' के नामसे पुराणेतिहास ग्रन्थाम विवृत हैं। ये शक्ति, सामर्थ्य, तप, अध्यात्म, ज्ञान, मन्त्रशक्ति आदि सभी गुणोमे ब्रह्माजीके ही समान हैं। अपनी प्रजाआके पालक होनेसे ये 'प्रजापति' भी कहलाते हैं। मरीचि, अत्रि, अगिरा, पुलस्त्य, पुलह, विश्वामित्र, भारद्वाज, गातम जमदग्नि आदि ऋषियाको सृष्टिके समय अपनी तपस्याके द्वारा वेदकी ऋचाआका दर्शन हुआ। ऋचाआका दर्शन होनेके कारण ही ये 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाये। आचार्य यास्कके 'ऋषिर्दर्शनात्' आदि वचनामे यह स्पष्ट कहा गया है कि ऋषियाने मन्त्रोका देखा, इसलिये उनका नाम 'ऋषि' पडा। इससे यह स्पष्ट है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियाने मन्त्राकी रचना नहीं की, प्रत्युत भगवत्कृपासे उन्हाने तप पूत अपने अन्त करणमे मन्त्रशक्तिके स्वरूपका दर्शन किया और श्रुतिमान्के द्वारा अपने शिष्य-प्रशिष्यामे उसे प्रसारित किया, इस प्रकार आगे फिर वेदाका विस्तार होता गया। श्रुति-परम्परासे अध्यापित होनेसे ही वेदाको 'श्रुति' कहा जाता है।

'ऋषि' पदका जो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, उससे भी ज्ञात हाता है कि 'ऋषी गतौ' तथा 'दृशिर प्रेक्षणे' धातुओसे ज्ञानात्मक अर्थ-दर्शनात्मकरूपमे ही ऋषिका तात्पर्य है। इस प्रकार अपनी तपस्यारूप ज्ञानात्मिका शक्तिके द्वारा वैदिक मन्त्रशक्तिका जिन्हाने दर्शन किया वे 'ऋषि' कहलाये। वेदोके अनुसार ये ऋषि सत्यवक्ता, धर्मात्मा तथा ज्ञानी थे और शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय, सदाचार एव अपरिग्रहके मूर्तिमान् स्वरूप ब्रह्मतेजसे सम्पन्न तथा दीर्घकालीन समाधिद्वारा तपका अनुष्ठान करते थे। यज्ञाद्वारा देवताओका आप्यायन तथा नित्य स्वाध्याय इनकी मुख्य चर्या थी। गृहस्थ होते हुए भी ये मुनिवृत्तिसे रहा करते थे। पवित्र पुण्यतोया नदियाका सानिध्य, दिव्य-शान्त तपोवन, अरण्यप्रदेश अथवा पर्वतोकी उपत्यकाओमे इनका आश्रम हुआ करता था। जहाँ सिह आदि क्रूर प्राणी भी स्वाभाविक हिसक-वृत्तिका परित्याग कर परम शान्त तथा मैत्रीभावका आश्रय लिया करते थे। यह प्रभाव इन ऋषियोके तपोबलका ही था। वेदमे स्पष्ट उल्लेख है कि ऐसे निर्जन एव शान्त प्रदेशोमे ही अध्यात्म-साधनाके बीज पल्लवित-पुष्पित और फलित हुए—

उपह्वरे गिरीणा सगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।

(ऋग्वेद ८।६।२८)

इस प्रकार वैदिक ऋचाआ तथा ऋषियाका परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, यदि ये ऋषि न होते तो हमे वेद प्राप्त ही न होते और न सृष्टिका वर्धन ही होता। इन्हीं ऋषियाकी सप्तर्षियोम परिणति है। स्वायम्भुव आदि प्रत्येक मन्वन्तरमे अलग-अलग सप्तर्षि वेदोकी ऋचाओका दर्शन करते हैं और हमे वेद प्राप्त कराकर जगत्का कल्याण करते हैं। इस प्रकार ऋषियो—कवियाका हमपर महान् उपकार है।

सृष्टिवर्धनमे मुख्यरूपसे महर्षि मरीचिका यागदान है। उनके पुत्र कश्यप हुए, जिन्हे दक्ष प्रजापतिकी छ कन्याओमेसे दिति अदिति आदि तेरह कन्याएँ स्त्रीरूपमे प्राप्त हुईं। जिनसे देवता, दानव, पशु-पक्षी मानव आदि चराचर जगत्की सृष्टि हुई—'कश्यपात्तु इमा प्रजा ।' इस प्रकार हम इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियोकी सतान है।

ऋषियाद्वारा दृष्ट वेद-सहिताके मन्त्र भी यज्ञकर्मकी दृष्टिसे ऋक् यजुष्, साम तथा अथर्व नामसे चार रूपोमे प्रविभक्त

हैं। ऋग्वेदकी अधिकाश ऋचाएँ अन्य वेदामे भी प्राप्त हाती ह। शाखा-भदसे इनकी अनेक शाखाएँ भी हैं, जिनका ऋषि और उनके गोत्रज-वशधरासे सम्बन्ध है।

उपलब्ध ऋग्वेद दस मण्डलामे विभक्त है। प्रत्येक मण्डलके मन्त्राके द्रष्टा ऋषि अलग-अलग ह तथा तत्तद् कर्मोमे उनका विनियोग भी है। जिस मन्त्रका दर्शन जिस ऋषिको हुआ, वही उस मन्त्रका ऋषि ह। मन्त्राका समूह 'सूक्त' कहलाता है। ऋग्वेदके प्रत्येक मण्डल सूक्ताम विभाजित हैं आर सूक्ताके अन्तर्गत मन्त्र हे। सर्वानुक्रमणी तथा सायण आदिके भाष्याम यह निर्दिष्ट हे कि अमुक मन्त्रसमूह या अमुक मण्डल अमुक ऋषिद्वारा दृष्ट हे। तदनुसार ऋग्वेदके प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डलमे मधुच्छन्दा, गोतम, अगस्त्य, भृगु, उशना कुत्स, अथर्वा, त्रित, शुन शेप, वृहस्पति-पुत्र सयु तथा गोरवीति आदि अनेक ऋषियाद्वारा दृष्ट मन्त्र अथवा सूक्त ह। किंतु द्वितीय मण्डलसे नवम मण्डलतकके द्रष्टा ऋषि प्राय पृथक्-पृथक् ही हे, अर्थात् अधिकाश पूर द्वितीय मण्डलक द्रष्टा ऋषि एक ह इसी प्रकार पूरे तृतीय मण्डलके द्रष्टा ऋषि एक हे। ऐसे ही चतुर्थ आदिम भी समझना चाहिये।

इस दृष्टिमे प्राय पूरे द्वितीय मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि गृत्समद हे, इसलिये ऋग्वदका दूसरा मण्डल गार्त्समद-मण्डल कहलाता है। तीसरे मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि विश्वामित्र ह। इसलिये यह वेश्वामित्र-मण्डल कहलाता हे। इसी प्रकार चौथे मण्डलके ऋषि हे वामदेव। पाँचवेंक अत्रि, छठेके भारद्वाज सातवके वसिष्ठ आठवके कण्व तथा नवके द्रष्टा अगिरा ऋषि हैं। नित्य-निरन्तर परमतत्त्वका चिन्तन करनेसे ये ऋषि महर्षि या परमर्षि भी कहलाते हे। अनेक ऋषिपुत्र, ऋषियोके वशधर तथा गोत्रधर भी मन्त्राके द्रष्टा है। यजुर्वेदकी माध्यन्दिन-शाखा महर्षि याज्ञवल्क्य ऋषिकी कृपासे प्राप्त है। अथर्ववेद आदि महाशाल शौनक तथा पिप्पलाद आदि ऋषियासे प्रवर्तित ह।

इस प्रकार जहाँ ऋषियोने सृष्टिवर्धनमे योगदान दिया, वही अपनी प्रजाको रक्षाक लिये तपस्याद्वारा वेदाका प्राप्त किया और इसी कारण वेद किसीकी रचना न हानेके कारण अपारुपय कहलाये। इन्ही मन्त्रद्रष्टा ऋषियाद्वारा वेद हमे प्राप्त हुआ। महर्षि वेदव्यासजीने अपने सुमन्तु, पेल जेमिनि तथा वेशम्पायन आदि शिष्याका वदकी शाखाआका अध्ययन कराया ओर फिर लोकम वेद-मन्त्राका प्रसार हुआ। उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरा तथा जटा, माला, शिखा आदि अष्टविकृतियाके माध्यमसे वेदकी रक्षा होती आयी ह।

वेद-मन्त्राका अर्थज्ञान अत्यन्त दुरूह होनसे तथा सभीका अधिकार न हानेसे महर्षि वदव्यासजीने पञ्चम वेद इतिहास-पुराणकी रचना की। साथ ही वदाके सम्यगर्थ-प्रतिपादनके लिये शिक्षा, कल्प आदि छ अङ्गाके अध्ययनकी आवश्यकता हुई। इतनेपर भा वेदार्थका ठीक अधिगम न हाते देख वदापर भाष्याका निर्माण हुआ। जिनम स्कन्दस्वामी, सायण, वेकटमाधव, उव्वट, महीधर आदिक वेदभाष्य बहुत उपयागी हैं। यहाँ सक्षेपम कुछ मन्त्रद्रष्टा ऋषियाके उदात्त चरित्र तथा कतिपय भाष्यकाराका परिचय दिया जा रहा है—सम्पादक]

ऋषि-विचार

'ऋषि' शब्दका अर्थ

'ऋषि' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयम कतिपय विद्वानाका मत है कि 'सर्वधातुभ्य इण्' (उ० सू० ५६७) तथा 'इगुपधात् कित्' (उ० सू० ५६९)—इन सूत्राके आधारपर 'ऋषी गतौ' (तु० प० १२८८) धातुस 'इण्' प्रत्यय हुआ, 'कित्' हानक कारण गुण नहीं हुआ और 'ऋषि' शब्द बन गया। 'ऋषन्ति अवगच्छन्ति इति ऋषय' एसा विग्रह मानकर व ज्ञान-सम्पन्न व्यक्तिका ऋषि मानत ह। गत्यर्थक 'ऋषी' धातुक 'ज्ञान' अर्थ माननम उनका तर्क है—'य गत्यर्थास्त ज्ञानाथा ।' किंतु हम यह क्लिष्ट कल्पना निष्फल-सा लगता ह, क्याकि जब शास्त्राभ्यासी साधारण मनुष्य पराक्ष-ज्ञान भा सरलतापूवक प्राप्त कर लता है, तब 'ऋषी' धातुका कवल 'ज्ञान' अर्थ निकालनका काइ विशप महत्त्व नहीं प्रतात हाता।

हमारे विचारसे तो 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा० प० ९८८) धातुसे 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति मानी जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। ऐसा माननेपर 'दृशि' शब्दसे 'दकार' का लोप होकर बने हुए 'ऋषि' शब्दका अर्थ होगा—'द्रष्टा'। सायणभाष्यके अनुसार—'अतीन्द्रिय पदार्थोंका तपस्याद्वारा साक्षात्कार करनेवाला।' स्पष्ट है कि ऐसी योग्यता रखनेवाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता। ऋषि शब्दका यह अर्थ ऋतम्भरा-प्रज्ञा-सम्पन्न, तपस्याद्वारा वेदमन्त्रोंका आविर्भाव करनेवाले मधुच्छन्दा प्रभृति उन विशिष्ट व्यक्तियोंमें ही समन्वित हो सकेगा, जिन्हें सर्वानुक्रमणाकार कात्यायन आदि प्राचीन मुनियोंने 'ऋषि' शब्दसे अभिहित किया है।

लोक-व्यवहारके आधारपर भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो किसी घटनाके प्रति श्रोताकी अपेक्षा द्रष्टाको अधिक प्रामाणिक, साक्षी अथवा यथार्थवादी माना जाता है। किसी विवादास्पद विषयमें कोई व्यक्ति कहे कि 'मैंने यह बात सुनी है' और दूसरा कहे कि 'ऐसा नहीं है, मैंने ऐसा देखा है' तो लोग देखनेवालेकी बातपर अधिक विश्वास करेंगे, क्योंकि देखनेवालेका सुननेवालेकी अपेक्षा वस्तुके यथार्थस्वरूपका अधिक ज्ञान होता है।

सम्भवतः इसी अभिप्रायसे अमरकोशकारने कहा है—'ऋषयः सत्यवचसः' (२। ७। ४३)। यास्कका वचन 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त २। ३। ११) भी इसी अभिप्रायको स्पष्ट करता है।

अब यदि 'ऋषी' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति माननेका आग्रह हो तो 'गति' का अर्थ 'प्राप्ति' माननेपर ही काम चलेगा—'ऋषन्ति प्राप्नुवन्ति तपसा वेदमन्त्रान् इति ऋषयः।' इस प्रकार 'ऋषि' शब्दका अर्थ होगा—'तिरोहित वेदमन्त्रोंका तपस्याद्वारा आविर्भाव करनेवाला।' महाभारतके निम्नलिखित श्लोकसे इस अर्थका समर्थन प्राप्त होता है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
तपसा लेभिरे पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

इसके अतिरिक्त यास्कका भी निम्नलिखित वचन इसी अर्थकी पुष्टि करता है—

तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत् ''तदृषीणामृषित्वम्।
(निरुक्त २। ३। ११)

ऋषियोंकी संख्या

'ऋषि'-शब्दका वास्तविक अर्थ जान लेनेके अनन्तर यह सहज ही समझा जा सकता है कि ब्रह्माके आदेशसे वेदके आविर्भाव-जैसे पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये हमारे पूर्वज भारतीय महापुरुषोंने कितना श्रम, कितनी तपस्या की होगी। जिस ऋषिने अधिक तप किया, उसे अधिक मन्त्रों, अधिक सूक्तोंका लाभ हुआ, जिसने कम तपस्या की उसे कम मन्त्रों, कम सूक्तोंका लाभ हुआ। ऋग्वेदके उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी संख्या ४०३ है।

ऋषियोंका वर्गीकरण

ये ऋषि दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं—(१) एकाकी और (२) पारिवारिक।

१-वेदमन्त्रोंके प्रकटीकरणमें जिन ऋषियोंने स्वयं अनवरत प्रयत्न किया, परिवारके किसी सदस्यने कोई सहायता नहीं की, उन्हें 'एकाकी' कोटिमें रखा जाता है। ऐसे ऋषियोंकी संख्या ८८ है। इनका विवरण इसी लेखमें आगे दिया गया है।

(२) 'पारिवारिक' ऋषि वे हैं, जिन्हें इस पावन प्रयत्नमें अपने परिवारके एक या अनेक सदस्योंका सहयोग प्राप्त रहा। इनकी अगली पीढ़ियोंमें भी वेदाविर्भाव-कार्यकी क्रमबद्ध परम्परा चलती रही। ये पारिवारिक ऋषि गणनामें ३१५ हैं जिनकी नामावली इसी लेखमें आगे दी गयी है।

ऋषिगणोंमें सप्तर्षियोंका विशिष्ट स्थान है। ये सप्तर्षि ऋग्वेदके नवम मण्डलके १०७वें तथा दशम मण्डलके १३७वें सूक्तोंके द्रष्टा हैं।

सात परिवारोंमें इनके विभाजनका क्रम यह है—(१) गोतम (२) भरद्वाज, (३) विश्वामित्र, (४) जमदग्नि, (५) कश्यप (६) वसिष्ठ तथा ७ अत्रि।

इनमें गोतम-परिवारके ४, भरद्वाजके ११, विश्वामित्रके ११, जमदग्निके २ कश्यपके १०, वसिष्ठके १३ तथा अत्रि-परिवारके ३८ ऋषि हैं। अन्य परिवार प्रकारान्तरसे इन्हींके कुटुम्बी या सम्बन्धी हैं।

गवेषणात्मक दृष्टिसे अवलोकन करनेपर जो महत्त्वपूर्ण अति दुर्लभ ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुए, उनके आधारपर इन सात परिवारोंका समावेश मुख्यतया चार ही परिवारोंमें है—

आङ्गिरस, भार्गव, काश्यप और आत्रेय। इनमें भी सबसे अधिक परिवारवाले आङ्गिरस ही हैं। इनकी संख्या ५६ है। गौतम तथा भारद्वाजोंका अन्तर्भाव इन्हींमें है। वैश्वामित्र और जामदग्न्य परिवारोंका समावेश भार्गवोंमें है। वसिष्ठ-परिवार काश्यपके अन्तर्भूत है। आत्रेय-परिवार बिलकुल स्वतन्त्र है।

प्रजापतिने यज्ञद्वारा तीन पुत्र उत्पन्न किये—भृगु, अङ्गिरा तथा अत्रि। भृगुके पुत्र हुए कवि, च्यवन आदि। भृगुके ही एक पुत्र थे ऋचीक, जिनके बनाये हुए चरुओंके भक्षणसे गाधिपुत्र विश्वामित्र तथा स्वयं ऋचीकके पुत्र जमदग्निका जन्म हुआ। जमदग्निके पुत्र परशुराम तथा विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दा थे। अपने सौ भाइयोंमें मधुच्छन्दाका प्रमुख स्थान था। मधुच्छन्दाके दो पुत्र थे—जेता और अघमर्षण। अतः वैश्वामित्र-परिवारको भार्गव-परिवारसे भिन्न नहीं समझा जा सकता।

अङ्गिराके दो पुत्र थे उतथ्य (उचथ्य) तथा बृहस्पति। बृहस्पतिके चार पुत्र हुए—भरद्वाज, अग्नि तपुर्मूर्धा और शंयु। भरद्वाजके ही पुत्र थे पायु, जिनकी कृपासे राजा अभ्यावर्ती तथा प्रस्तोक युद्धमें विजयी हुए थे। बृहस्पतिके ज्येष्ठ भ्राता उतथ्यके पुत्र दीर्घतमा थे और दीर्घतमाके कक्षीवान्। कक्षीवान्‌की घोषा काक्षीवती नामकी कन्या तथा शबर और सुकीर्ति नामक दो पुत्र थे। पौपेय सुहस्त्य कक्षीवान्‌के दौहित्र थे। इस प्रकार भारद्वाज-परिवार आङ्गिरस-परिवारकी ही शाखा सिद्ध होता है। ३३ सदस्योंवाले जिस काण्व-परिवारका ऋग्वेदके अष्टम मण्डलमें विशेष प्रभाव है, वह आङ्गिरसोंका ही अङ्ग है, क्योंकि उस परिवारके मूल पुरुष काण्वके पिता घोर आङ्गिरस ही थे।

गौतम-परिवार भी आङ्गिरस-परिवारसे ही सम्बद्ध है, क्योंकि गौतमकी अङ्गिरा-सम्बन्धी परम्परा यह है—अङ्गिरा, रहूगण, गोतम, वामदेव, वामदेवके भ्राता नोधा तथा नोधाके पुत्र एकद्यु।

वसिष्ठ-परिवारका समावेश कश्यप-परिवारमें है। इस सम्बन्धकी द्योतक वंश-परम्परा इस प्रकार है—मरीचि, कश्यप, मैत्रावरुण, वसिष्ठ, शक्ति तथा पराशर।

अत्रि-परिवार स्वतन्त्र है। इनका वंश-परिचय यह है—अत्रि, भौम, अर्चनाना, श्यावाश्व तथा अन्धीगुश्यावाश्वि।

—ये सभी प्रमुख पारिवारिक ऋषि ४२ परिवारोंमें विभक्त हुए, जिनका विवरण विस्तृत रूपमें आगे इसी प्रकरणमें दिया जा रहा है। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट एकाकी ऋषियोंके नाम निम्नलिखित हैं, जिनकी संख्या ८२ है।

अवशिष्ट (एकाकी) ऋषि-नामावलि

अकृष्टा माषा, अक्षो मौंजवान्, आग्नेयो धिष्ण्या ऐश्वरा, अग्नि, अग्नि पावक, अग्नि सौचीक, अग्निगृहपति सहस सुत अग्नियविष्ठ सहस सुत, अग्निर्वैश्वानर, अग्निश्चाक्षुष, अङ्ग औरव, अत्रि सांख्य, अदितिर्दाक्षायणी, अदिति, अरुणो वैतहव्य, आत्मा, आसङ्ग प्लायोगि, उपस्तुतो वार्ष्टिहव्य, उरुक्षय आमहीयव, उर्वशी, ऋणंचय, ऋषभो वैराज शाक्वरो वा, ऋषयो दृष्टलिङ्गा, कपोतो नैर्ऋत, कवष एलूष, कुल्मलबर्हिष शैलूषि, गय प्लात, गाथी ऋषिका, जुहूर्ब्रह्मजाया, तान्व पार्थ्य, त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य, त्रिशिरास्त्वाष्ट्र, त्र्यरुणस्त्रैवृष्ण्य, त्वष्टा गर्भकर्ता, दुवस्युर्वान्दन, देवमुनिरैरमद, देवा, देवापिरार्ष्टिषेण, द्युतानो मारुति, नद्य, नारायण, पणयोऽसुरा, पृथुर्वैन्य, पृश्नयोऽजा, प्रजापति, प्रजापति परमेष्ठी, प्रजापतिर्वाच्य, बृहस्पतिर्लौक्य, भावयव्य, भृगुर्वारुणि, मत्स्य साम्मद, मत्स्या, मनु सावरण, मनुराप्सव, मरुत, मान्धाता यौवनाश्व, मुद्गलो भार्म्यश्व, रोमशा, लुशो धानाक, वत्सप्रिर्भालन्दन, वभ्रो वैखानस, वरुण, वशोऽश्व्य, वसुमना रौहिदश्व, वागाम्भृणी, विवस्वानादित्य, विश्वमना वैयश्व, विश्वावसुर्देवगन्धर्व, वृशो जान, वैखानसा शतम्, शिबिरौशीनर, श्रद्धा कामायनी, सप्त ऋषय, सप्तिर्वाजम्भर, सरमा देवशुनी, सिकता निवावरी, सुदा पैजवन, सुमित्रो वाध्र्यश्व, सुवेदा शैरीषि, सूनुरार्भव, सूर्या सावित्री तथा हविर्धान आङ्गि।

ऋषि-परिवारोंकी सदस्य-संख्या

१-आग्नेय (४)—कुमार, केतु, वत्स तथा श्येन।

२-आङ्गिरस (५६)—अभिवर्त, अहमीयु, अयास्य, उचथ्य, उरु, उर्ध्वसद्मा, कुत्स, कृतयशा कृष्ण, घोर, तिरश्ची, दिव्य, धरुण, ध्रुव नृमेध, पवित्र, पुरुमीळ्ह, पुरुमेध, पुरुहन्मा, पुरुदक्ष, प्रचेता, प्रभूवसु, प्रियमेध, बरु, बिन्दु, बृहन्मति, बृहस्पति, भिक्षु, मूर्धन्वान्, रहूगण, वसुरोचिष, विरूप, विहव्य, वीतहव्य, व्यश्व,

शिशु श्रुतकक्ष, सवनन, सवर्त, सप्तगु, सव्य, सुकक्ष, सुदीति, हरिमन्त, हिरण्यस्तूप, अर्चन् हैरण्यस्तूप, शश्वत्याङ्गिरस, विश्वाक कार्ष्णि, शकपूता नार्मेध, सिन्धुक्षित् प्रैयमेध, दीर्घतमा आचथ्य, कक्षीवान् दैर्घतमस, काक्षीवती घोषा, सुहस्तो घोषेय, शबर काक्षीवत तथा सुकीर्ति काक्षीवत।

३-आत्रेय (३८)—अत्रिभौम, अर्चनाना, अवस्यु, इष, उरुचक्रि, एवयामरुत्, कुमार, गय, गविष्ठिर, गातु, गोपवन, द्युम्न, द्वित, पूरु, पौर, प्रतिक्षत्र, प्रतिप्रभ, प्रतिभानु, बभ्रु, बाहुवृक्त, बुध, यजत, रातहव्य, वव्रि, वसुश्रुत, विश्वसामा, श्यावाश्व, श्रुतवित्, सत्यश्रवा, सदापृण, सप्तवध्रि, सस, सुतम्भर, स्वस्ति, वसूयव आत्रेया, अन्धीगु श्यावाश्वि, अपाला तथा विश्ववारा।

४-आथर्वण (२)—बृहद्दिव तथा भिषग्।

५-आप्त्य (३)—त्रित, द्वित तथा भुवन।

६-ऐन्द्र (१४)—अप्रतिरथ, जय, लव, वसुक्र, विमद, वृषाकपि, सर्वहरि, इन्द्र, इन्द्रो मुष्कवान्, इन्द्रा वैकुण्ठ, इन्द्राणी, इन्द्रस्य स्नुषा (वसुक्रपत्नी), इन्द्रमातरो देवजामय तथा शची पौलोमी।

७-काण्व (३३)—आयु, इरिम्बिठि, कुरुसुति, कुसीदी, कृश, त्रिशोक, देवातिथि, नाभाक, नारद, नीपातिथि, पर्वत, पुनर्वत्स, पुष्टिगु, पृषध्र, प्रगाथ, प्रस्कण्व, ब्रह्मातिथि, मातरिश्वा, मधातिथि, मेध्य मेध्यातिथि वत्स, शशकर्ण, श्रुष्टिगु, सध्वस, सुपर्ण, सोभरि, कुशिक सोभर, अश्वसूक्ती काण्वायन, गोषूक्ती काण्वायन कलि प्रागाथ, घर्म प्रागाथ तथा हयत प्रागाथ।

८-काश्यप (१०)—अवत्सार, असित, कश्यपो मारीच, देवल, निध्रुवि, भूतांश रेभ रेभसूनू, विवृहा तथा शिखण्डिन्याप्सरसा काश्यप्या।

९-कौत्स (२)—दुर्मित्र तथा सुमित्र।

१०-गौतम (४)—गौतम नोधा वामदेव तथा एकद्युर्नौधस।

११-गौपायन (४)—बन्धु विप्रबन्धु श्रुतबन्धु तथा सुबन्धु।

१२-तापस (३)—अग्नि घर्म तथा मन्यु।

१३-दैवोदासि (३)—परुच्छेप, प्रतर्दन तथा अनानत पारुच्छेपि।

१४-प्राजापत्य (९)—पतङ्ग, प्रजावान्, यक्ष्मनाशन, यज्ञ, विमद, विष्णु, संवरण, हिरण्यगर्भ तथा दक्षिणा।

१५-बार्हस्पत्य (४)—अग्नि, तपुर्मूर्धा, भरद्वाज तथा शयु।

१६-ब्राह्म (२)—ऊर्ध्वनाभा तथा रक्षोहा।

१७-भारत (३)—अश्वमेध, देववात तथा देवश्रवा।

१८-भारद्वाज (११)—ऋजिश्वा, गर्ग, नर, पायु, वसु, शास, शिरिम्बिठ, शुनहोत्र, सप्रथ, सुहोत्र तथा रात्रि।

१९-भार्गव (१४)—इट, कवि, कृत्नु, गृत्समद, च्यवन, जमदग्नि, नेम, प्रयोग, वेन, सोमाहुति, स्यूमरश्मि, उशना काव्य, कूर्मो गार्त्समद तथा रामो जामदग्न्य।

२०-भौवन (२)—विश्वकर्मा तथा साधन।

२१-माधुच्छन्दस (२)—अघमर्षण तथा जेता।

२२-मानव (४)—चक्षु, नहुष, नाभानेदिष्ठ तथा शार्यात।

२३-मैत्रावरुणि (२)—वसिष्ठ तथा अगस्त्य (मान्य)।

२४-आगस्त्य (५)—अगस्त्यशिष्या, अगस्त्यपत्नी (लोपामुद्रा), अगस्त्यस्वसा (लौपायनमाता), दृळ्हच्युत तथा इध्मवाहो दार्ढच्युत।

२५-यामायन (७)—ऊर्ध्वकृशन, कुमार, दमन, देवश्रवा, मथित, शङ्ख तथा सकुसुत।

२६-वातरशन (७)—ऋष्यशृङ्ग, एतश, करिक्रत, जूति, वातजूति विप्रजूति तथा वृषाणक।

२७-वातायन (२)—अनिल तथा उल।

२८-वामदव्य (३)—अहोमुक्, बृहदुक्थ तथा मूर्धन्वान्।

२९-वारुणि (२)—भृगु तथा सत्यधृति।

३०-वार्षागिर (६)—अम्बरीष ऋज्राश्व, भयमान, सहदेव सुराधा तथा सिन्धुद्वीप (आम्बरीष)।

३१-वासिष्ठ (१३)—इन्द्रप्रमति, उपमन्यु, कर्णश्रुत्, चित्रमहा, द्युम्नीक, प्रथ मन्यु मृळीक वसुक्र वृषगण, व्याघ्रपात्, शक्ति तथा वसिष्ठपुत्रा।

३२-वासुक्र (२)—वसुकर्ण तथा वसुकृत्।

३३-वैरूप (४)—अष्ट्रादष्ट्र., नभ प्रभेदन, शतप्रभेदन तथा सधि।

३४-वैवस्वत (३)—मनु, यम तथा यमी।

३५-वैश्वामित्र (१२)—कुशिक ऐषीरथि (विश्वामित्र-पूर्वज), विश्वामित्रो गाधिन, अष्टक, ऋषभ, कत, देवरात, पूरण, प्रजापति, मधुच्छन्दा, रेणु, गाथी कौशिक तथा उत्कील कात्य।

३६-शाक्त्य (२)—गौरवीति तथा पाराशर।

३७-शार्ङ्ग (४)—जरिता, द्रोण, सारिसृक्व, तथा स्तम्बमित्र।

३८-सर्प (४)—अर्बुद काद्रवय, जरत्कर्ण ऐरावत, ऊर्ध्वग्रावा आर्बुदि तथा सार्पराज्ञी।

३९-सौर्य (४)—अभितपा, धर्म, चक्षु तथा विभ्राट्।

४०-सौहोत्र (२)—अजमीळह तथा पुरुमीळह।

४१-स्थौर (२)—अग्नियूत तथा अग्नियूप।

४२-सोमपरिवार (४)—सोम, बुध, साम्य, तथा पुरूरवा ऐक (आयु, नहुष) ययातिर्नाहुष।

४३-तार्क्ष्य (२)—अरिष्टनेमि तथा सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः

(ऋग्वेद भाष्यकर्ता प० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

वेद-विज्ञाताओको तीन श्रेणियोमे विभक्त किया जा सकता है—नित्यतावादी, आर्यमतवादी और ऐतिहासिक। इसमे सदेह नहीं कि यास्काचार्यने वेदार्थ करनेके इन नौ पक्षोको उद्धृत किया है—अध्यात्म, अधिदैवत, आख्यान-समय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, याज्ञिक और पूर्वयाज्ञिक। इन बारह निरुक्तकाराके बारह प्रकारके मत भी लिखे हैं—औपमन्यव, औदुम्बरायण, वाष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, और्णनाभ, तैटिकि, गालव स्थौलाष्ठिवि, क्रौष्टुकि और कात्थक्य, परतु पूर्वोक्त तीन प्रधान मतवादाम सारे पक्ष और मत समाविष्ट हो जाते हैं। तीनाम पहला मत तो वेदको नित्य मानता है, दूसरा वेदकी ज्ञान-राशिको शाश्वत समझता है और तीसरा वेदको ससारका प्राचीनतम ग्रन्थ समझता है। पुराने और नये—जितने भी ऐतिहासिकोने वेदके स्वाध्याय या शोधके कार्य किये हैं, उन सबका सुदृढ मत है कि ईजिप्शियन, मगोलियन, जोरॉस्ट्रियन, ग्रीक, रोमन, असीरियन, वैबीलानियन, सुमरियन, फिनिशियन, ट्युटनिक, स्लावोनियन, वैडिक, केलटिक, मूसाई तथा यहूदी आदि जितने भी प्राचीन धर्म हैं, उनमसे एकका भी ग्रन्थ वेद—विशेषत ऋग्वेदके समान प्राचीन नहीं है। इसलिये मानव-जातिके प्राचीनतम धर्म, आचार-विचार, त्याग, तप कला, विज्ञान, इतिहास, राष्ट्र-सघटन और समाज-व्यवस्था आदिका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन ऋग्वेद ही है। यही कारण है कि ससारकी अग्रेजी, फ्रच, जर्मन आदि प्रधान भाषाआम ऋग्वेदका अनुवाद हो चुका है ओर सारी वसुन्धराम ऐसे अनेक वैदिक सस्थान स्थापित हैं, जहाँ अबतक ऋग्वेदीय वाङ्मयपर अन्वेषण और गवेषणका कार्य चल रहा है। अनेक वेदाध्यायियोने तो इस दिशामे अपना जीवन ही खपा डाला है। बडे-बडे चिन्तनशील पुरुष ऋग्वेदक विमल विज्ञानपर विमुग्ध हैं। पारस्त्य मनीषी तो इसे धर्म-मूल समझते ही हैं—उनके मतस ता चराचर-ज्ञानका आधार यह है ही, किंतु अधिकाश पाश्चात्त्य वेद-विद्यार्थी भी ऋग्वेदकी अलौकिकतापर आसक्त हैं।

हिंदू-जातिकी प्रख्यात पुस्तक मनुस्मृति (२।६)-म कहा गया है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।' अर्थात 'समस्त वद धर्मका मूल है।' मनु महाराज एक-दूसरे स्थलपर कहत हैं—'वेद न पढकर आर यज्ञ न करके जो मनुष्य मुक्ति-पानेकी चष्टा करता है, वह नरकम जाता है' (मनुस्मृति ६।३७)। 'जा द्विज (ब्राह्मण,क्षत्रिय अथवा वैश्य) वद न पढकर किसी भी शास्त्र या कार्यमे श्रम करता है, वह जीते-जी अपने वशके साथ अति शाघ्र शूद्र हा जाता है' (मनु० २।१६८)। मनुजीने वेदनिन्दकको ही नास्तिक कहा है, ईश्वर न माननवालाको नहीं (मनु० २।११)। The Bible in India मे जकोलियटन लिखा है—'धर्म ग्रन्थामे

एकमात्र वेद ही ऐसा है, जिसक विचार वर्तमान विज्ञानसे मिलते हैं, क्याकि वेदम विज्ञानानुसार सृष्टि-रचनाका प्रतिपादन किया गया है।' बाल साहबने Sex and Sex worship म कहा है—'ससारका प्राचीनतम धर्मग्रन्थ ऋग्वद है।' रैगाजिनका मत है—'ऋग्वेदका समाज बडी सादगी, सुन्दरता और निष्कपटताका था।' वाल्टेयरका अभिमत है—'कवल इसी ऋग्वदकी दनके कारण, पश्चिम पूर्वका सदा ऋणी रहेगा।' विख्यात वदानुसधित्सु मैक्समूलरन यह उद्गार प्रकट किया है—

यावत्स्थास्यन्ति गिरय सरितश्च महीतल।
तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

अर्थात 'जबतक इस जगतीतलपर पर्वत और नदियाँ रहगी, तवतक मानव-जातिम ऋग्वदका महिमाका प्रचार रहेगा।'

सस्कृत-साहित्यमें ऋग्वेदकी २१ सहिताएँ वतायी गयी हैं, परतु इन दिना केवल शाकलसहिता हा प्राप्त और प्रकाशित है। सकडो वर्षोसे देश और विदशाम इसीपर कार्य हुआ है और हो रहा है। इन दिना ऋग्वेदका अर्थ या तात्पर्य यही सहिता है। इसम सब १०४६७ मन्त्र हैं। चारा वेदाकी ११३१ सहिताआम कवल साढे ग्यारह प्रकाशित हा सकी हैं, जिनमे यह सबसे बडी है। सामवेदकी कौथुमसहिताम इसीक मन्त्र भरे पडे हैं—केवल ७५ मन्त्र कौथुमके अपने हैं। अथर्ववदकी शौनकसहितामे भी शाकलके १,२०० मन्त्र हैं। इसीलिये कहा जाता है कि 'इसके सविधि स्वाध्यायसे प्राय सारे वेदाका स्वाध्याय हो जाता है।' परतु इसके लिये पहले ब्राह्मणग्रन्थ, निरुक्त, प्रातिशाख्य, जैमिनीय मीमासा सायण-भाष्य आदिका अध्ययन आवश्यक है।

शाकलसहितापर स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, हस्तामलक, वेङ्कटमाधव, धानुष्कयज्वा आनन्दतीर्थ आत्मानन्द रावण, मुद्गल, दवस्वामी चतुर्वेदस्वामी आदिके भाष्य है। परतु कुछ तो अप्रकाशित हैं और जो प्रकाशित भी ह वे अधूरे है। केवल सायण-भाष्य पूर्ण है। सम्पूर्ण शाकलसहिताके स्वाध्याय, मनन-चिन्तन और अन्वेषणका आधार एकमात्र यही है। इसी सायण-भाष्यक अवलम्बपर निखिल जगत्क ऋग्वेदके अनुवाद और शाधका कार्य चल रहा है। यह भाष्य परम्परा-प्राप्त अथका अनुधावन करनवाला हैं, इसीलिये प्रामाणिक माना जाता है। सायण-भाष्य नहीं रहता ता विश्वमें ऋग्वदका विशद विस्तार भी नहीं हाता, इस ओर ससार अन्धकारमें ही रहता।

ऋग्वदीय मन्त्राक द्रष्टा केवल साधारण या उद्भट साहित्यिक हा नहीं थ, वे तपामूर्ति और सत्यसध थे। आर्यमतवादी कहत ह कि 'ईश्वराय ज्ञान अनन्त और अगाध ह। किसी-किसी सत्यकाम यागाको समाधि-दशाम इस वदिक ज्ञान-राशिक अशका साक्षात् हा जाता है। यागी या ऋषि अपनी अनुभूतिको जिन शब्दामे व्यक्त करता है, व मन्त्र ह। स्फूर्ति दैवी है, परतु शब्द ऋषिके हैं।'

ऋग्वदम ही एस अनक मन्त्र हैं, जिनस ज्ञात होता है कि 'ऋषि वह है , जिसने मन्त्रगत ज्ञानके साथ मन्त्राको भी समाधि-दशाम अपने निर्मल अन्त करणम प्राप्त किया है।' ऋग्वद मण्डल ३, सूक्त ४३, मन्त्र ५ मे उस ही ऋषि कहा गया है, जा अतान्द्रिय द्रष्टा है। ५ । ५४ । ७ और ८ । ६। ५ म भी प्राय यही बात है। १० । ८० । ४ मे कहा गया हे कि 'सहस्र गायाके सेवक ऋषिको अग्निदेव मन्त्र-द्रष्टा पुत्र देत हैं।' १०। ७१। ३ मे कहा गया है—'विद्वान् यज्ञक द्वारा वचन (भाषा)-का मार्ग पाते हैं। ऋषियोक अन्त करणम जो वाक् (वेदवाणी) थी, उसको उन्हाने प्राप्त (प्रकट) किया। उसको उन्हाने सारे मनुष्योको पढाया। सातो छन्द उसी वैदिक भाषा (वाणी)-मे स्तुति करते हैं।' कात्यायनके 'सर्वानुक्रम-सूत्र'म कहा गया है—'द्रष्टार ऋषय स्मर्तार ।' अर्थात् 'ऋषि मन्त्रोके द्रष्टा और स्मर्ता हैं।' यास्कने निरुक्त (नैगमकाण्ड २। ११)-म लिखा है—'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श।' आशय यह है कि 'ऋषियाने मन्त्राको देखा इसलिय उनका नाम 'ऋषि' पडा।' इन सबके अतिरिक्त यह भी विदित होता है कि 'परमात्मासे ऋक्, ऋचा

या मन्त्र प्रकट हुए (१०। ९०। ९)। केवल मन्त्रगत ज्ञानराशिके प्रकटीकरणकी बात कहीं नहीं पायी जाती।

सभी स्तोता ऋषि 'मानव-हितैषी' कहे गये हैं (७। २९। ४)। यद्यपि द्वितीय मण्डलके ऋषि गृत्समद (शौनक), तृतीयके विश्वामित्र, चतुर्थके वामदेव, पञ्चमके अत्रि, षष्ठके भारद्वाज, सप्तमके वसिष्ठ, अष्टमके कण्व और एकमतसे नवमके अङ्गिरा द्रष्टा कहे गये हैं। प्रथम तथा दशम मण्डलोंके द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं, तो भी इन ऋषियोंके पुत्र, पौत्र आदि तथा अन्यान्य ऋषि और इनके अपत्य एवं गोत्रज भी मन्त्रद्रष्टा हैं। तत्तद् मण्डलोंमें उक्त ऋषि और उनके वंशधर ही प्रधान द्रष्टा हैं, इसलिये उनके ही नाम कहे गये हैं। पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिका एक साथ ही रहना सम्भव नहीं है, इसलिये सभी मन्त्र एक साथ ही नहीं प्रकट हुए। ऋग्वेदके दूसरे ही मन्त्रमें प्राचीन और नवीन ऋषियोंकी बात आयी है। १। १७४। ८ में नये ऋषिगणका उल्लेख है, ४। १९। ११ में 'पूर्ववर्ती' और ४। २०। ५ में 'नवीन' ऋषियोंके स्तवनका विवरण है। इसके आगके २१ से २४ सूक्तोंके ग्यारहवें मन्त्रोंमें भी 'पूर्ववर्ती' ऋषियोंका उल्लेख है। ५। १०। ७ में 'पुरातन' और 'आधुनिक' ऋषियोंकी स्तुति की गयी है। ६। २१। ५ में प्राचीन, मध्ययुगीन और नवीन—तीन प्रकारके ऋषियोंका कथन है। ६। ४४। १३ में तो प्राचीन और नवीन स्तोत्रोंकी भी बात आयी है। ७। २२। ९ में वसिष्ठ इन्द्रसे कहते हैं—'जितने प्राचीन ऋषि हो गये हैं और जितने नवीन हैं, सभी तुम्हारे लिये स्तोत्र उत्पन्न (अभिव्यक्त) करते हैं।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि ऋषियोंने विभिन्न समयोंमें विविध मन्त्र देखे। बहुत पीछे व्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्य आदिने मन्त्र-संकलन करके संहिताएँ बनायीं।

ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा गृहस्थ थे—प्रायः सबके गोत्र और वंश चले हैं, तो भी वे जलमें कमलपत्रके समान गार्हस्थ्यके प्रपञ्च-पाखण्डसे निर्लिप्त थे। वे चेतन-तत्त्वके चिन्तक थे, जीवन्मुक्त थे। वे अरण्यानीमें पावन जीवन बिताते थे वे एकान्त-शान्त स्थानमें ब्रह्म-द्रवकी साधनामें लीन रहते थे। वे चेतनगत प्राण थे और उनका बाह्य एवं आन्तर अध्यात्म-ज्योतिसे उद्भासित रहता था। वे स्थितप्रज्ञ थे और आत्मरसमें विभोर रहते थे। वे ईश्वरकी दिव्य विभूतियोंमें रमण करते थे। वे चेतनके भव्य भावोंकी अभिरामतामें निमग्न रहते थे। वे विशाल विश्वके प्रत्येक कणमें, प्रत्येक अणुमें, प्रकृतिकी प्रत्येक लयमें परम तत्त्वका विकास पाते थे, प्राञ्जल प्रकाश देखते थे, ललित नृत्य देखते थे, मन-प्राण-परिप्लुतकारी संगीत सुनते थे। यही कारण है कि वे जड, चेतन—सबको आत्मवत् समझते थे, सबकी स्तुति और पूजन करते थे। वे सभी पदार्थोंको चेतनमय देखते थे—वे चेतनके साथ ही खाते-पीते, सोते-जागते और बोलते-बतलाते थे। वे वस्तुतः ऐसा ही अनुभव करते थे और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' में अनुस्यूत रहते थे। वे अपनेमें सारी सृष्टिको और सारी सृष्टिमें अपनेको देखते थे। इसीलिये वे जड-पदार्थोंसे भी बात करते थे, उनका भी नमन करते थे, उनका भी यजन करते थे। जो वीर अपनी तलवारसे बात नहीं करता, वह भी कोई वीर है? जो वैद्य अपनी ओषधियोंके आगे सिर नहीं झुकाता, वह भेषजका रहस्य क्या जाने। यदि आप भी परमात्माकी दिव्य विभूतियोंको जीवनमें ढाल लें—दवासे घिरे रहें तो आपका जीवन भी आनन्दमय, तेजोमय, सुगन्धमय और रसमय हो जाय तथा आप भी समदर्शी होकर प्रत्येक जड-पदार्थको भी चेतन-प्लावित समझने लगें।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि सिद्धयोगी थे। वे त्रिकालदर्शी थे। वे 'वर्तमान और भविष्यकी अद्भुत घटनाओंको भी देखते थे' (१। २५। ११)। वे महान् तपस्वी थे। कितने ही ऋषि वल्कल धारण करते थे (१०। १३६। २)। कितने ही 'लौकिक व्यवहार छोडकर परमहंस बन जाते थे।' वे योगबलसे वायुपर चढ जाते थे। वायु भी उनकी वशवर्तितामें आबद्ध थी (१०। १३६। ३)। वे आकाशमें उडते और सारे पदार्थोंको देख लेते थे (१। १३६। ४)। वे पूर्व तथा पश्चिम दोनों समुद्रोंमें निवास करते थे और चराचरके सारे ज्ञातव्य विषयोंको जानते थे। वे आत्मरसके उत्पादक एवं आनन्ददाता मित्र थे (१०। १३६। ५-६)।

ऋषि सेवाका मर्म समझते थे, इसलिये वे 'सेवाव्रती'-पर सदा प्रसन्न रहते थे (१। ५३। १)। उनका मत था—सेवक यमपथसे नहीं जाते (१। ३८। ५)। वे पूजाका महत्त्व समझते थे, व यह भी जानते थे कि देवता तपस्वीके ही मित्र होते हैं (४। ३३। ११), इसलिय वे अपूजकको महान् पापी समझते थे (२। १२। १०)। व गृहागत अतिथिका यथेष्ट सम्मान करक उसे प्रचुर धन प्रदान करते थे (२। १३। ४, ५। ४। ५)। व समाजकी सुव्यवस्थाके लिये परस्पर सहायता करना आवश्यक समझते थे (१। २६। ३)। उनका मत था कि दाता दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और जरा-मरण-शून्य स्थानको जात हैं (१। १२५। ६)। विद्वान् ही समाजके मस्तिष्क होते हैं, इसलिये 'विद्वान् पुरुषको द्रव्य-दान देना' व अत्यावश्यक समझते थे (१। १२७। ४)। उनका निर्देश था—दाताक नामकी मृत्यु नहीं होती, दाता दरिद्र नहीं हात उन्हे क्लेश, व्यथा और दु ख नहीं सताते, उन्ह स्वर्ग और मर्त्यलाकके सारे पदार्थ सुलभ हो जात हं (१०। १०७। ८)। उनका अनुभव था—याचकको अवश्य धन दना चाहिये, क्याकि जैस रथ-चक्र नाच-ऊपर घूमता रहता ह, वैसे ही धन भी कभी किसीके पास रहता हे और कभी दूसरेक पास चला जाता है। वह कभी स्थिर रहनेवाला नहीं हे (१०। ११७। ५)। ऋषिका स्पष्ट उद्घोष हैं—

मोघमन्न विन्दते अप्रचता सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

अर्थात् 'जा स्वार्थी ह, उसका अन्न-धन उत्पन्न करना वृथा है। मैं सच कहता हूँ, इस प्रकारका उत्पादन उत्पादकका वध करा दता ह—जो न ता धनका धर्म-कायम लगाता ह न अपन मित्र-हितपाका दता ह, जा स्वय पट पालनवाला हे, वह कवल साक्षात् पापी है और पापा सत्पथसे नहीं जात' (९। ७३। ६)। ऋषि कक्षावान् कहत हैं—'जा धनी दूसरका पालन नहीं करता उस मैं घृणित समझता हूँ (१। १२०। १२)।' ऋषि दवलका सिद्धान्त है— दवता अदाताआक हिंसक हैं' (९। १३। ९)।

ऋषि हितैषी पुरुषका बडा सम्मान करते थे (१। ६९। २)। मन्त्रद्रष्टा इन्द्रके इसलिये उपासक थे कि इन्द्र मनुष्य-हितैषी थे (१। ८४। २०)। वे उसीको सच्चा आर्य-अपत्य समझते थे, जो मनुष्य-पालक हे (४। २। १८)। व 'पुण्यवान्की ही उन्नति सम्भव मानते थ' (२। २३। १०)। पुण्यवान् स्तोताको ही सन्मार्गकी प्राप्ति होती हे (३। ३। १)।

ऋषियाकी उत्कट अभिलाषा थी—'हमारी बुद्धि वेदज्ञान-समर्थ बने' (१। ११२। २४)। वे 'विद्वान् पुत्र' ही चाहते थे (१। ७३। ९)। 'व ऐसा पुत्र चाहते थे, जो कानाम स्वर्ण ओर गलम मणि धारण करनेवाला हो' (१। १२२। १४)। वीर पुत्रम उनकी बडी रुचि थी (१। १२५। ३, ९। ९७। २१, २६)। व उत्साहा, जनप्रिय और विद्याध्ययनमे 'दक्ष पुत्र' की कामना करते थे (१। १४१। ११)। वे देवतासे 'बलवान्, हव्यवाहक, महान्, यज्ञकारी ओर सत्यबल-विशिष्ट पुत्र' की याचना करते थे (४। ११। ४)। वे 'अपने कार्यसे पिता पितामह आदिकी कीर्तिको प्रख्यात करनेवाले पुत्रका बहुत पसद करते थ' (५। २५। ५)। वे अपने 'मानव-हितेषी पुत्र'-रक्षाकी इच्छा करते रहत थे (७। १। २१)।

व आलसास घृणा करते थे (२। ३०। ७)। निन्दक और दुर्बुद्धिका हय समझत थ (१। १२९। ६, १। १३१। ७)। निन्दकस कोसा दूर रहना चाहते थे (६। ४५। २७)। द्वषीसे भा दूर रहना चाहत थ (२। २९। २ तथा २। ३०। ६)। ब्राह्मण-द्वषा तथा मास-भक्षकका अपना शत्रु समझते थे (७। १०४। २)। पापिया आर हिसकास त्राण पानक लिय अग्निदवसे प्राथना करते थे (८। ४४। ३०)। यही वात १। २९। ७ म भी है। उनक दवता मन्त्रद्रषियाक सतापक और क्राधाक हिसक थे (२। २३। ४-५)। हव्यदाता एव धार्मिकक हिसकका ऋषि वध्य समझत थे (६। ६२। ३, ७। २५। ३), परतु व उदार आर दयालु इतन थ कि राक्षस भा यदि रागा है ता उसका विनाश नहीं चाहत थ (३। १५। १)।

यन दान आर तप—धमक य तीन प्रधान अङ्ग हैं—इन

तीनोके ही उपासक और साधक ऋषि थे। वे यज्ञको 'ऋत' अथवा 'सत्यात्मा' मानते थे (९। ७३। ८-९)। उनकी अनुभूति थी कि 'प्रज्वलित तपसे यज्ञ और सत्यकी उत्पत्ति हुई है' (१०। १९०। १)। यज्ञका वाच्यार्थ है पूजन। मन, वचन एव कर्मसे चराचरका पूजन, सेवन और आराधन यज्ञ है। इसी यज्ञसे सृष्टि-चक्र सचरणशील है। इसीलिये यज्ञको विश्वका उत्पत्ति-स्थान तथा श्रेष्ठ कर्म कहा गया है (शतपथब्राह्मण १।७।४।५)। ऐतरेयब्राह्मण (१।४।३)-का मत है कि 'यज्ञ से एव मन्त्रोके उच्चारणसे वायुमण्डलम परिवर्तन हो जाता हे और निखिल विश्वमे धर्मचक्र चलने लगता है।' जैमिनीय मामासा तो कवल यज्ञसे ही मुक्ति मानती है। श्रीमद्भगवद्गीतामे सृष्टि-चक्रका सचालक यज्ञको माना गया है। ऋग्वेदके मतसे तो 'यज्ञ ही प्रथम या मुख्य धर्म है' (१०। ९०। १६)। अनेकानेक मन्त्रामे यज्ञको 'सत्यभूत' और 'सत्यरूप' कहा गया हे (४।२।१६, ४।३।९, ९।६९।३, ९।७२।६, ९।९७।३२, १०। ६३। ११)। यज्ञक द्वारा परस्पर हित होता है समाजका सुचारुरूपसे सचालन होता है और जागतिक समृद्धि होती है। यज्ञाग्निसे मघ बनते है, वृष्टि होती है, अन्न उत्पन्न होता है और अन्तत प्रजा सुखी होती है। यही नहीं, यज्ञमे आत्मशक्ति और मन्त्रशक्ति जागरित होती तथा दैवी स्फूर्ति प्राप्त हाती है, जिससे याज्ञिक मोक्षमार्गम आरूढ हो जाता है, फिर उसके मङ्गलभागी होनेमे क्या सन्देह (२। ३८। १)। जा यज्ञहीन है वह सत्य-शून्य है। उसे नरकके सिवा अन्य स्थान कहाँ मिले (४।५।५)।

जैन-बौद्धाम अहिसा, ईसाइयामे प्रेम सिखाम भक्ति और मुसलमानाम नमाजका जा महत्त्व हे उससे भी बढकर वैदिक धर्मम यज्ञका महत्त्व ह, जा अमोघ शक्ति और मुक्तिकी प्राप्तिका महान् साधन है। वैदिक वाङ्मय ही नहीं श्रीमद्भगवद्गीता भी यज्ञसे मोक्ष मानती है (४। ३२)। यहाँ गाँधीजीने भी अपने 'अनासक्ति-योग' म लिखा है—'यज्ञक बिना मोक्ष नहीं होता।' इसालिये आर्य ऋषि याज्ञिक शक्तिको उद्‌बुद्ध रखते थे। इसका सूक्ष्मतम रहस्य उन्ह सम्यक् ज्ञात था। इसीलिये उनके प्रति दैवी शक्ति ही नहीं, परमात्मशक्ति भी जागरूक रहती थी ओर इसीलिय आर्य-ऋषिको ज्योति अथवा आभ्यन्तर प्रकाश प्रदान किया गया था (२। ११। १८)। कदाचित् इसीलिये उन्हं सारी पृथिवी भी दे दी गयी थी, ताकि वे इसे सुख-समृद्धिसे सम्पन्न रख तथा अपने सुकर्मों और आदेशाके द्वारा मानवाको परमधामका मार्ग दिखाया करे (४। २६। २)।

आदर्श मानवताके लिये जिस सद्गुणावलीकी आवश्यकता होती है, उसम गाँधीजीके समान ही अनेक महापुरुषाने सत्य, अहिसा और ब्रह्मचर्यको प्राधान्य दिया हे। इन तीना सद्गुणाक सम्बन्धम ऋग्वदीय मन्त्र-द्रष्टाआका अभिमत देखिये। पहले ब्रह्मचर्यका लीजिय। ऋषि ब्रह्मचर्यको परम धन मानते थे। वे इस धनक परम उपासक थे, इसे वे तेज - पुञ्ज समझते थे और याज्ञिकके लिये अनिवार्य मानते थे। ऋषि कहते हैं—

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद् विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद् दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविण धेहि चित्रम्॥

(ऋक्० २। २३। १५)

अर्थात् 'हे यज्ञजात बृहस्पति। आर्य लोग जिस धनकी पूजा करते है, जो दीप्ति ओर यज्ञवाला धन लोगाम शोभा पाता है, जो धन अपने ओजसे प्रदीप्त है, वही विलक्षण तेज शाली ब्रह्मचर्य-धन हम दो।'

प्रत्येक धार्मिक तथा धर्म-कार्यके लिये वे ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक और अनिवार्य समझते थे। वे अब्रह्मचारीको यज्ञमे विघ्न जानते थे, इसलिये व इन्द्रसे प्रार्थना करते थ कि 'हमारे यज्ञम अब्रह्मचारी (शिश्नदेव) विघ्न न डालने पाय।'

ऋषियाको अनुभव था कि हिसककी बुद्धि भ्रष्ट हाती है, इसलिये अहिसा-पालन तो वे ओर भी आवश्यक समझते थे। ऋषि अगस्त्य मरुद्‌गणास प्रार्थना करते हैं—'मरुतो। अहिसक होकर हम (मानवाको) सुबुद्धि प्रदान करो' (१। १६६। ६)। ऋषि गृत्समद कहते हैं—'हम हिसाशून्य हाकर परम सुखम निवास कर' (२। २७। १६)। ऋषि वसुश्रुतिकी कामना ह—'इला, सरस्वती ओर मही नामकी

तीनो देवियाँ हिसा-शून्य होकर इस यज्ञमे आगमन करे' (५।५।८)। अत्रि ऋषिके अपत्य स्वस्ति कहते है—'वायु और इन्द्र! अहिसक होकर सोमरसका सेवन करो।' (५।५१।६)। ऋषि अर्चनानाकी कामना है—'गृहमे हम अहिसक मित्रका सुख प्राप्त हो' (५।६४।३)। ऋषि वसिष्ठ कहते हैं—'इन्द्र! हम अहिसक होकर ही तुम्हारी दया प्राप्त करते हैं' (७।२०।८)। ये ही ऋषि मरुतासे विनय करते है—'मरुतो! तुम लोग अहिसक होकर इस यज्ञमे सोमरूप हव्य ग्रहण करो' (७।५९।६)। ऐसे कथन प्रभूत मात्रामे पाये जाते है, जिनसे जाना जाता है कि आदर्श मानवताके लिये वे अहिसाको अनिवार्य नियम मानते थे।

सत्यके तो वे प्रबल पक्षपाती थे ही। उनका प्रधान धर्मानुष्ठान (यज्ञ) सत्यस्वरूप (ऋत) था। वे असत्य-पोषकको 'राक्षस' समझते थे (१०।८७।११)। उनके देवता सत्य-स्वभाव थे (८।९।१५)। कण्व-पुत्र प्रस्कण्व ऋषि उषासे याचना करते है—'उषा! मुझे सत्य वाक् दो' (१।४८।२)। शक्ति-पुत्र पराशरका अनुभव है—'सत्य मन्त्रद्वारा ही आकाश धृत है' (१।६७।३)। उक्थ्य-पुत्र दीर्घतमा ऋषिका विश्वास था—'सूर्य सत्यकी पूर्ति तथा असत्यका नाश करके ससारका भार वहन करते हैं' (१।१५२।३)। स्पष्ट है कि ऋषि सत्यको प्रकाश तथा असत्यको अन्धकार समझते थे। अगस्त्य ऋषिकी पत्नी लोपामुद्राका कहना है—'सत्य-रक्षक ऋषि देवासे सच्ची बात कहते थे' (२।१७९।२)। आगेके मन्त्रामे कहा गया है—'हम सत्यप्रतिज्ञ होकर स्तुति करते है' (१।१८०।७)। उनके इन्द्रदेव 'सत्यसकल्प' थे (२।१५।१)। यही बात २।२२ के प्रथम तीन सूक्तोके अन्तमे भी कही गयी है। २।२४।७ मे अङ्गिरा लोगोको 'सत्यवादी' और 'सर्वज्ञाता' बताया गया है। वाक्-पुत्र प्रजापतिकी उक्ति है—'पुरातन सत्यवादी महर्षियाने द्यावापृथिवीसे अपना अभिलषित अर्थ प्राप्त किया था' (३।५४।४)। ऋषि वामदेवका अनुभव है—'सत्यरहित और सत्य-वचन-शून्य पापी नरक-स्थानको उत्पन्न करता है' (४।५।५)। यहीं ११ वे मन्त्रमे वामदेव कहते हैं—'हम नमस्कारपूर्वक अथवा विनम्र होकर सत्य बोलते है।' ४।११।३ मे वे पुन कहते है—'सत्यकर्मा यजमानके लिये शक्तिशाली रूप और धन उत्पन्न हुए हैं।' ५।४०।७ मे अत्रि ऋषिको 'सत्य-पालक' कहा गया है। ऋषि-वृन्द केवल 'सत्य-धारको' को ही यज्ञमे बुलाते थे (५।५१।२)। ६।५१।१० मे लिखा है—'वरुण, मित्र और अग्नि सत्यकर्मा स्तोताओके एकान्त पक्षपाती हैं।' ७।१०४।१२-१३ मे वसिष्ठका उद्गार है—'विद्वान्को ज्ञात है कि सत्य एव असत्य परस्पर प्रतिस्पर्द्धी है। इनमे जो सत्य और सरलतम है, सोमदेव उसीका पालन करते हैं तथा असत्यकी हिसा करते हैं।' 'सोमदेव पापी और मिथ्यावादीको नहीं छोडते, मार देते हैं। वे राक्षस तथा असत्यवादीको मार डालते हैं।' १०।३७।२ मे कहा गया है—'सत्य वह है, जिसका अवलम्बन करके आकाश और दिन वर्तमान है, सारा ससार एव प्राणिवृन्द जिसपर आश्रित है, जिसके प्रभावसे प्रतिदिन जल प्रवाहित होता है और सूर्य उगते हैं।' इन उद्धरणासे जाना जाता है कि वे सत्यके कितने अनन्य अनुरागी थे और असत्यको कितना जघन्य समझते थे। वे सत्यचक्रके द्वारा ही विश्वचक्रका सचालन मानते थे। सत्यके द्वारा सूर्य अपनी किरणाको सायकाल एकत्र करते और सत्यके द्वारा ही प्रात काल किरणोको विस्तृत करते हैं (८।७५।५)। मेध्य ऋषिका सिद्धान्त है—'देवताओकी सख्या तैतीस है और वे सत्यस्वरूप है ('वालखिल्य-सूक्त' ९।२)। यमने यमीसे कहा है—'मैं सत्यवक्ता हूँ। मैंने कभी भी मिथ्या-कथन नहीं किया है' (१०।१०।४)। ऐसे उद्धरण और भी दिये जा सकते हैं। मुख्य बात यह है कि मन्त्र-द्रष्टाओका सर्वस्व सत्य था और सर्वाधिक घृणा उन्हे असत्यसे थी। फलत आदर्श मानवताके लिये जिस सद्गुणावलीकी आवश्यकता है, वह उनमे चूडान्त रूपमे था।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि

मन्त्रद्रष्टा महर्षि विश्वामित्र

पुरुषार्थ, सच्ची लगन, उद्यम और तपकी गरिमाके रूपमे महर्षि विश्वामित्रके समान शायद ही कोई हो। इन्होने अपने पुरुषार्थसे, अपनी तपस्याके बलसे क्षत्रियत्वसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया, राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बने, देवताओ और ऋषियोके लिये पूज्य बन गये और उन्हे सप्तर्षियोमे अन्यतम स्थान प्राप्त हुआ। साथ ही सबके लिये वे वन्दनीय भी बन गये। इनकी अपार महिमा है।

इन्हे अपनी समाधिजा प्रज्ञासे अनेक मन्त्रस्वरूपोका दर्शन हुआ, इसलिये ये 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि' कहलाते हैं। ऋग्वेदके दस मण्डलोमे तृतीय मण्डल, जिसमे ६२ सूक्त हैं, इन सभी सूक्तो (मन्त्रोका समूह)-के द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र ही हे। इसीलिये तृतीय मण्डल 'वैश्वामित्र-मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलमे इन्द्र, अदिति अग्निपूजा, उषा, अश्विनी तथा ऋभु आदि देवताओकी स्तुतियाँ हे ओर अनेक ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म आदिकी बाते विवृत ह, अनेक मन्त्रोमे गो-महिमाका वर्णन है। तृतीय मण्डलके साथ ही प्रथम, नवम तथा दशम मण्डलकी कतिपय ऋचाओके द्रष्टा विश्वामित्रके मधुच्छन्दा आदि अनेक पुत्र हुए हैं।

वैश्वामित्र-मण्डलका वैशिष्ट्य

वैसे तो वेदकी महिमा अनन्त हे ही, किंतु महर्षि विश्वामित्रजीके द्वारा दृष्ट यह तृतीय मण्डल विशेष महत्त्वका है, क्योकि इसी तृतीय मण्डलमे ब्रह्म-गायत्रीका जो मूल मन्त्र है, वह उपलब्ध होता है। इस ब्रह्म-गायत्री-मन्त्रके मुख्य द्रष्टा तथा उपदेष्टा आचार्य महर्षि विश्वामित्र ही हैं। ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके ६२वे सूक्तका दसवाँ मन्त्र 'गायत्री-मन्त्र' के नामसे विख्यात है, जो इस प्रकार है—

'तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात्॥'

यदि महर्षि विश्वामित्र न होते तो यह मन्त्र हमे उपलब्ध न होता, उन्हींकी कृपासे— साधनासे यह गायत्री-मन्त्र प्राप्त हुआ है। यह मन्त्र सभी वेदमन्त्रोका मूल है—बीज है, इसीसे सभी मन्त्रोका प्रादुर्भाव हुआ। इसीलिये गायत्रीको 'वेदमाता' कहा जाता है। यह मन्त्र सनातन परम्पराके जीवनमे किस तरह अनुस्यूत है तथा इसकी कितनी महिमा है, यह तो स्वानुभव-सिद्ध हे। उपनयन-सस्कारमे गुरुमुखद्वारा इसी मन्त्रके उपदेशसे द्विजत्व प्राप्त होता है और नित्य-सध्याकर्ममे मुख्य रूपसे प्राणायाम, सूर्योपस्थान आदिद्वारा गायत्री-मन्त्रके जपकी सिद्धिमे ही सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार यह गायत्री-मन्त्र महर्षि विश्वामित्रकी ही देन है और वे इसके आदि आचार्य हे। अत गायत्री-उपासनामे इनकी कृपा प्राप्त करना भी आवश्यक है। इन्होने गायत्री-साधना तथा दीर्घकालीन सध्योपासनाकी तप शक्तिसे काम-क्रोधादि विकारोपर विजय प्राप्त की और ये तपस्याके आदर्श बन गये।

महर्षिने न केवल वैदिक मन्त्रोके माध्यमसे ही गायत्री-उपासनापर बल दिया अपितु उन्होने अन्य जिन ग्रन्थोका प्रणयन किया, उनमे भी मुख्यरूपसे गायत्री-साधनाका ही उपदेश प्राप्त होता है। 'विश्वामित्रकल्प,' 'विश्वामित्रसहिता' तथा 'विश्वामित्रस्मृति' आदि उनके मुख्य ग्रन्थ हैं। इनमे भी सर्वत्र गायत्रीदेवीकी आराधनाका वर्णन दिया गया है और यह निर्देश है कि अपने अधिकारानुसार गायत्री-मन्त्रके जपसे सभी सिद्धियाँ तो प्राप्त हो ही जाती हैं। इसीलिये केवल इस मन्त्रके जप कर लेनेसे सभी मन्त्रोका जप सिद्ध हो जाता है।

महामुनि विश्वामित्र तपस्याके धनी है। इन्हे गायत्री-माता सिद्ध थीं और इनको पूर्ण कृपा इन्हे प्राप्त थी। इन्होने नवीन सृष्टि तथा त्रिशकुको सशरीर स्वर्ग आदि भेजने और ब्रह्मर्षिपद प्राप्त करने-सम्बन्धी जो भी असम्भव कार्य किये, उन सबके पीछे गायत्री-जप एव सध्योपासनाका ही प्रभाव था।

भगवती गायत्री कैसी हैं, उनका क्या स्वरूप है, उनकी आराधना कैसे करनी चाहिये, यह सर्वप्रथम आचार्य विश्वामित्रजीने ही हमे बताया हे। उन्होने भगवती गायत्रीको सर्वस्वरूपा बताया है और कहा है कि यह चराचर जगत् स्थूल-सूक्ष्म भेदसे भगवतीका ही विग्रह है, तथापि उपासना और ध्यानकी दृष्टिसे उनका मूल स्वरूप कैसा है—इस विषयमे उनके द्वारा रचित निम्न श्लोक द्रष्टव्य है, जो आज भी गायत्रीके उपासको तथा नित्य सध्या-वन्दनादि करनेवालोके द्वारा ध्येय होता रहता है—

गायत्री-माताका ध्यान—

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशां शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे॥)
(देवीभागवत १२। ३

अर्थात् 'जो मोती मूँगा, सुवर्ण, नीलमणि तथा उज्ज्वल प्रभाके समान वर्णवाले (पाँच) मुखोंसे सुशोभित हैं। तीन नेत्रोंसे जिनके मुखकी अनुपम शोभा होती है। जिनके रत्नमय मुकुटमें चन्द्रमा जड़े हुए हैं, जो चौबीस वर्णोंसे युक्त हैं तथा जो वरदायिनी गायत्री अपने हाथोंमें अभय और वर मुद्राएँ, अंकुश, पाश, शुभ्रकपाल रस्सी, शङ्ख, चक्र और कमल धारण करती हैं हम उनका ध्यान करते हैं'।

इस प्रकार महर्षि विश्वामित्रका इस जगत्पर महान् उपकार ही है। महिमाके विषयमें इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि साक्षात् भगवान् जिन्हें अपना गुरु मानकर उनकी सेवा करते थे। महर्षिने सभी शास्त्रों तथा धनुर्विद्याके आचार्य श्रीरामको बला, अतिबला आदि विद्याएँ प्रदान कीं, सभी शास्त्रोंका ज्ञान प्रदान किया और भगवान् श्रीरामकी चिन्मय लीलाओंके वे मूल-प्रेरक रहे तथा लीला-सहचर भी बने।

क्षमाकी मूर्ति वसिष्ठके साथ विश्वामित्रका जो विवाद हुआ, प्रतिस्पर्धा हुई वह भी लोकशिक्षाका ही एक रूप है। इस आख्यानसे गो-महिमा, त्यागका आदर्श, क्षमाकी शक्ति, तपस्याकी शक्ति, उद्यमकी महिमा, पुरुषार्थ एवं प्रयत्नकी दृढ़ता, कर्मयोग, सच्ची लगन और निष्ठा एवं दृढ़तापूर्वक कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है। इस आख्यानसे लोकको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि काम, क्रोध आदि साधनाके महान् बाधक हैं जबतक व्यक्ति इनके मोहपाशमें रहता है, उसका अभ्युदय सम्भव नहीं किंतु जब वह इन आसुरी सम्पदाओंका परित्याग कर दैवी-सम्पदाका आश्रय लेता है तो वह सर्वपूज्य सर्वमान्य तथा भगवान्‌का प्रियपात्र हो जाता है। महर्षि वसिष्ठसे जब वे परास्त हो गये तब उन्होंने तपोबलका आश्रय लिया काम-क्रोधके वशीभूत होनेका उन्हें अनुभव हुआ अन्तमें सर्वस्व त्याग करके वे अनासक्त पथके पथिक बन गये और जगद्वन्द्य हो गये। ब्रह्माजी स्वयं उपस्थित हुए, उन्होंने उन्हें बड़े आदरसे ब्रह्मर्षिपद प्रदान किया। महर्षि वसिष्ठने उनकी महिमाका स्थापन किया और उन्हें हृदयसे लगा लिया। दो महान् सतोंका अद्भुत मिलन हुआ। देवताओंने पुष्पवृष्टि की।

सत्यधर्मके आदर्श राजर्षि हरिश्चन्द्रका नाम कौन नहीं जानता? किंतु महर्षि विश्वामित्रकी दारुण परीक्षासे ही हरिश्चन्द्रकी सत्यतामें निखार आया, उस वृत्तान्तमें महर्षि अत्यन्त निष्ठुरसे प्रतीत होते हैं, किंतु महर्षिने हरिश्चन्द्रको सत्यधर्मकी रक्षाका आदर्श बनाने तथा उनकी कीर्तिको सर्वश्रुत एवं अखण्ड बनानेके लिये ही उनकी इतनी कठोर परीक्षा ली। अन्तमें उन्होंने उनका राजैश्वर्य उन्हें लौटा दिया, रोहिताश्वको जीवित कर दिया और महर्षि विश्वामित्रकी परीक्षारूपी कृपाप्रसादसे ही हरिश्चन्द्र राजासे राजर्षि हो गये, सबके लिये आदर्श बन गये।

ऐतरेय ब्राह्मण आदिमें भी हरिश्चन्द्रके आख्यान तथा शुनःशेपके आख्यानमें महर्षि विश्वामित्रकी महिमाका वर्णन आया है। ऋग्वेदके तृतीय मण्डलमें ३०वें, ३३वें तथा ५३वें सूक्तमें महर्षि विश्वामित्रका परिचयात्मक विवरण आया है। वहाँसे ज्ञात होता है कि ये कुशिक गोत्रोत्पन्न कौशिक थे (३। २६। २-३)। ये कौशिक लोग महान् ज्ञानी थे, सारे संसारका रहस्य जानते थे (३। २९। १५)। ५३वें सूक्तके ९वें मन्त्रसे ज्ञात होता है कि महर्षि विश्वामित्र अतिशय सामर्थ्यशाली, अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, देदीप्यमान तेजोंके जनयिता और अध्वर्यु आदिमें उपदेष्टा हैं तथा राजा सुदासके यज्ञके आचार्य रहे हैं।

महर्षि विश्वामित्रके आविर्भावका विस्तृत आख्यान पुराणों तथा महाभारत आदिमें आया है। तदनुसार कुशिकवंशमें उत्पन्न चन्द्रवंशी महाराज गाधिकी सत्यवती नामक एक श्रेष्ठ कन्या हुई। जिसका विवाह मुनिश्रेष्ठ भृगुपुत्र ऋचीकके साथ सम्पन्न हुआ। ऋचीकने पत्नीकी सेवासे प्रसन्न होकर अपने तथा महाराज गाधिको पुत्रसम्पन्न होनेके लिये यज्ञिय चरुको अभिमन्त्रित कर सत्यवतीको प्रदान करते हुए कहा—'देवि! यह दिव्यचरु दो भागोंमें विभक्त है। इसके भक्षणसे यथेष्ट पुत्रकी प्राप्ति होगी। इसका एक भाग तुम ग्रहण करना और दूसरा भाग अपनी माताको दे देना। इससे तुम्हें एक श्रेष्ठ महातपस्वी पुत्र प्राप्त होगा और तुम्हारी माताको क्षत्रिय शक्तिसम्पन्न तेजस्वी पुत्र होगा।' सत्यवती यह दोनों चरु-भाग प्राप्तकर बड़ी प्रसन्न हुई।

अपनी श्रेष्ठ पत्नी सत्यवतीका ऐसा निर्देश देकर महर्षि ऋचीक तपस्याके लिये अरण्यमे चले गये। इसी समय महाराज गाधि भी तीर्थदर्शनके प्रसगवश अपनी कन्या सत्यवतीका समाचार जानने आश्रमम आये। इधर सत्यवतीने पतिद्वारा प्राप्त चरुके दोना भाग माताको दे दिये और दैवयोगसे माताद्वारा चरु-भक्षणम विपर्यय हो गया। जो भाग सत्यवतीको प्राप्त होना था, उसे माताने ग्रहण कर लिया और जो भाग माताके लिये उद्दिष्ट था, उसे सत्यवतीने ग्रहण कर लिया। ऋषि-निर्मित चरुका प्रभाव अक्षुण्ण था, अमोघ था। चरुके प्रभादसे गाधि-पत्नी तथा दवी सत्यवती—दोनामे गर्भके चिह्न स्पष्ट होने लगे।

इधर ऋचीक मुनिने योगबलसे जान लिया कि चरु-भक्षणम विपर्यय हो गया है। यह जानकर सत्यवती निराश हो गयीं, परतु मुनिने उन्ह आश्वस्त किया। यथासमय सत्यवतीकी परम्पराम पुत्ररूपम जमदग्नि पैदा हुए और उन्हींके पुत्र परशुराम हुए। दूसरी ओर गाधि-पत्नीने चरुके प्रभावसे दिव्य ब्रह्मशक्ति-सम्पन्न महर्षि विश्वामित्रको पुत्ररूपम प्राप्त किया। सक्षेपम यही महर्षि विश्वामित्रके आविर्भावकी कथा है। आगे चलकर महर्षि विश्वामित्रके अनेक पुत्र-पौत्र हुए, जिनसे कुशिकवश विख्यात हुआ। ये गोत्रकार ऋषियाम परिगणित हैं। आज भी सप्तर्षियाम स्थित होकर महर्षि विश्वामित्र जगत्के कल्याणम निरत है।

महर्षि अत्रि

सम्पूर्ण ऋग्वेद दस मण्डलोमे प्रविभक्त है। प्रत्येक मण्डलके मन्त्राके ऋषि अलग-अलग हैं। उनमसे ऋग्वेदके पञ्चम मण्डलके द्रष्टा महर्षि अत्रि ह। इसीलिये यह मण्डल 'आत्रेय मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलम ८७ सूक्त है। जिनम महर्षि अत्रिद्वारा विशेषरूपसे अग्नि, इन्द्र, मरुत्, विश्वेदेव तथा सविता आदि देवोकी महनीय स्तुतियाँ ग्रथित हैं। इन्द्र तथा अग्निदेवताके महनीय कर्मोका वर्णन है।

महर्षि अत्रि वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हे। पुराणामे इनके आविर्भावका तथा उदात्त चरित्रका बडा ही सुन्दर वर्णन हुआ है। वहाँके वर्णनके अनुसार महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके मानस-पुत्र है और उनके चक्षुभागसे इनका प्रादुर्भाव हुआ—'अक्ष्णोऽत्रि' (श्रीमद्भा० ३।१२।२४)। सप्तर्षियामें महर्षि अत्रिका परिगणन हे। साथ ही इन्हे 'प्रजापति' भी कहा गया है। महर्षि अत्रिकी पत्नी अनसूयाजी हे, जो कर्दम प्रजापति और देवहूतिकी पुत्री हैं। दवी अनसूया पतिव्रताआकी आदर्शभूता और महान् दिव्यतेजस सम्पन्न हे। महर्षि अत्रि जहाँ ज्ञान, तपस्या, सदाचार भक्ति एव मन्त्रशक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप हैं, वहाँ देवी अनसूया पतिव्रताधर्म एव शीलकी मूर्तिमती विग्रह हैं। भगवान् श्रीराम अपन भक्त महर्षि अत्रि एव देवी अनसूयाकी भक्तिको सफल करने स्वय उनके आश्रमपर पधारे। माता अनसूयाने देवी सीताको पातिव्रतका उपदेश दिया। उन्हाने अपने पातिव्रतके बलपर शैव्या ब्राह्मणीके मृत पतिको जीवित कराया तथा बाधित सूर्यको उदित कराकर ससारका कल्याण किया। देवी अनसूयाका नाम ही बडे महत्त्वका है। असूया नाम है परदाष-दर्शनका—गुणाम भी दोष-बुद्धिका और जो इन विकारासे रहित हो, वही 'अनसूया' हे। इसी प्रकार महर्षि अत्रि भी 'अ+त्रि' हैं अर्थात् वे तीना गुणा (सत्त्व, रजस्, तमस्)-से अतीत है—गुणातीत हें। इस प्रकार महर्षि अत्रि-दम्पति एवविध अपने नामानुरूप जीवनयापन करते हुए सदाचारपरायण हा चित्रकूटके तपोवनम रहा करते थे। अत्रिपत्नी अनसूयाके तपोबलसे ही भागीरथी गङ्गाकी एक पवित्र धारा चित्रकूटम प्रविष्ट हुई और 'मदाकिनी' नामसे प्रसिद्ध हुई—

> अत्रिप्रिया निज तप बल आनी।
> सुरसरि धार नाउँ मदाकिनि॥
> (रा० च० मा० २।१३२।५-६)

सृष्टिके प्रारम्भम जब इन दम्पतिका ब्रह्माजीने सृष्टिवर्धनकी आज्ञा दी ता इन्हाने उस आर उन्मुख न हा तपस्याका ही आश्रय लिया। इनकी तपस्यासे ब्रह्मा, विष्णु, महेशने प्रसन्न होकर इन्हे दर्शन दिया और दम्पतिकी प्रार्थनापर इनका पुत्र बनना स्वीकार किया।

अत्रि-दम्पतिकी तपस्या ओर त्रिदवाकी प्रसन्नताके फलस्वरूप विष्णुके अशसे महायोगी दत्तात्रेय, ब्रह्माके अशसे चन्द्रमा तथा शकरके अशसे महामुनि दुर्वासा महर्षि अत्रि एव देवी अनसूयाके पुत्ररूपम आविर्भूत हुए—

> सोमोऽभूद् ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्।
> दुर्वासा शकरस्यांशो०॥ (श्रीमद्भा० ४।१।३३)

वेदोंमें उपर्युक्त वृत्तान्त यथावत् नहीं मिलता है, कहीं-कहीं नामोंमें अन्तर भी है। ऋग्वेद (१०।१४३)-में 'अत्रि सांख्य' कहा गया है। वेदोंमें यह स्पष्टरूपसे वर्णन है कि महर्षि अत्रिको अश्विनीकुमारोंकी कृपा प्राप्त थी। एक बार जब ये समाधिस्थ थे, तब दैत्योंने इन्हें उठाकर शतद्वार यन्त्रमें डाल दिया और आग लगाकर इन्हें जलानेका प्रयत्न किया, किंतु अत्रिको उसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। उस समय अश्विनीकुमारोंने वहाँ पहुँचकर इन्हें बचाया। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ५१वें तथा ११२वें सूक्तमें यह कथा आयी है। ऋग्वेदके दशम मण्डलमें महर्षि अत्रिके दीर्घ तपस्याके अनुष्ठानका वर्णन आया है और बताया गया है कि यज्ञ तथा तप आदि करते-करते जब अत्रि वृद्ध हो गये, तब अश्विनीकुमारोंने इन्हें नवयौवन प्रदान किया (ऋक्० १०।१४३।१)। ऋग्वेदके पञ्चम मण्डलमें अत्रिके वसूयु, सप्तवध्रि नामक अनेक पुत्रोंका वृत्तान्त आया है, जो अनेक मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि रहे हैं (ऋक्० ५।२५-२६, ५।७८)। इसी प्रकार अत्रिके गोत्रज आत्रेयगण ऋग्वेदके बहुतसे मन्त्रोंके द्रष्टा हैं।

ऋग्वेदके पञ्चम 'आत्रेय मण्डल' का (५२।११—१५) 'कल्याण सूक्त' ऋग्वेदीय 'स्वस्ति-सूक्त' है, वह महर्षि अत्रिकी ऋतम्भरा प्रज्ञासे ही हमें प्राप्त हो सका है। यह सूक्त 'कल्याण-सूक्त', 'मङ्गल-सूक्त' तथा 'श्रेय-सूक्त' भी कहलाता है। जो आज भी प्रत्येक माङ्गलिक कार्यों, शुभ संस्कारों तथा पूजा-अनुष्ठानोंमें स्वस्ति-प्राप्ति, कल्याण-प्राप्ति, अभ्युदय-प्राप्ति, भगवत्कृपा-प्राप्ति तथा अमङ्गलके विनाशके लिये सस्वर पठित होता है। इस माङ्गलिक सूक्तमें अश्विनी, भग, अदिति, पूषा, द्यावापृथिवी, बृहस्पति, आदित्य, वैश्वानर, सविता तथा मित्रावरुण और सूर्य-चन्द्रमा आदि देवताओंसे प्राणिमात्रके लिये स्वस्तिकी प्रार्थना की गयी है। इससे महर्षि अत्रिके उदात्त-भाव तथा लोक-कल्याणकी भावनाका किंचित् स्थापन होता है।

इसी प्रकार महर्षि अत्रिने मण्डलकी पूर्णतामें भी सवितादेवसे यही प्रार्थना की है कि 'हे सवितादेव! आप हमारे सम्पूर्ण दुःखोंको—अनिष्टोंको, शोक-कष्टोंको दूर कर दें और हमारे लिये जो हितकर हो, कल्याणकारी हो उसे उपलब्ध करायें'—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

(ऋग्वेद ५।८२।५)

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महर्षि अत्रिकी भावना अत्यन्त ही कल्याणकारी थी और उनमें त्याग, तपस्या, शौच, संतोष, अपरिग्रह, अनासक्ति तथा विश्वकल्याणकी पराकाष्ठा विद्यमान थी।

एक ओर जहाँ उन्होंने वैदिक ऋचाओंका दर्शन किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपनी प्रजाको सदाचार और धर्माचरणपूर्वक एक उत्तम जीवनचर्यामें प्रवृत्त होनेके लिये प्रेरित किया है तथा कर्तव्याकर्तव्यका निर्देश दिया है। इन शिक्षोपदेशोंको उन्होंने अपने द्वारा निर्मित आत्रेय धर्मशास्त्रमें उपनिबद्ध किया है। वहाँ इन्होंने वेदोंके सूक्तों तथा मन्त्रोंकी अत्यन्त महिमा बतायी है। अत्रिस्मृतिका छठा अध्याय वेदमन्त्रोंकी महिमामें ही पर्यवसित है। वहाँ अघमर्षणके मन्त्र, सूर्योपस्थानका यह 'उदु त्यं जातवेदसं०' (ऋग्वेद १।५०।१, साम० ३१, अथर्व० १३।२।१६, यजु० ७।४१) मन्त्र, पावमानी ऋचाएँ, शतरुद्रिय, गो-सूक्त, अश्व-सूक्त एवं इन्द्र-सूक्त आदिका निर्देश कर उनकी महिमा और पाठका फल बताया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि महर्षि अत्रिकी वेदमन्त्रोंपर कितनी दृढ़ निष्ठा थी। महर्षि अत्रिका कहना है कि वैदिक मन्त्रोंके अधिकारपूर्वक जपसे सभी प्रकारके पाप-क्लेशोंका विनाश हो जाता है। पाठकर्ता पवित्र हो जाता है, उसे जन्मान्तरीय ज्ञान हो जाता है—जातिस्मरता प्राप्त हो जाती है और वह जो चाहता है, वह प्राप्त कर लेता है—

एतानि जप्तानि पुनन्ति जन्तूञ्जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत्।

(अत्रिस्मृति)

अपनी स्मृतिके अन्तिम ९वें अध्यायमें महर्षि अत्रिने बहुत सुन्दर बात बताते हुए कहा है कि यदि विद्वेष-भावसे वैरपूर्वक भी दमघोषके पुत्र शिशुपालकी तरह भगवान्‌का स्मरण किया जाय तो उद्धार होनेमें कोई संदेह नहीं, फिर यदि तत्परायण होकर अनन्यभावसे भगवदाश्रय ग्रहण कर लिया जाय तो परम कल्याणमें क्या संदेह? यथा—

विद्वेषादपि गोविन्दं दमघोषात्मजः स्मरन्।
शिशुपालो गतः स्वर्गं किं पुनस्तत्परायणः॥

(अत्रि०)

इस प्रकार महर्षि अत्रिने अपने द्वारा द्रष्ट मन्त्रोंमें, अपने धर्मसूत्रोंमें अथवा अपने सदाचरणसे यही बात बतायी है कि व्यक्तिको सत्कर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिये।

महर्षि गृत्समद

(डॉ० श्रीवसन्तवल्लभजी भट्ट, एम० ए०, पी-एच्० डी०)

वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियामें महर्षि गृत्समदका विशेष माहात्म्य है। ये ऋग्वदके द्वितीय मण्डलके द्रष्टा ऋषि हैं। इनके विषयम ऋग्वेद, अथर्ववेद, ऐतरेयब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी (कात्यायन), महाभारत तथा गणेशपुराण आदिम बडे ही रोचक आख्यान प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं कुछ अन्तर भी है, किंतु उन सभीसे इनकी महिमाका ही ख्यापन होता है। उन आख्यानासे ज्ञात होता है कि महर्षि गृत्समद आङ्गिरसगोत्रीय शुनहोत्र ऋषिके पुत्र थे और इनका पैतृक नाम शौनहोत्र था। बादमे इन्द्रके प्रयत्नसे भृगुकुलोत्पन्न शुनक ऋषिके दत्तक पुत्रके रूपमें इनकी प्रसिद्धि हुई और ये शौनक 'गृत्समद' नामसे विख्यात हो गये। इनके गृत्समद नामकी आध्यात्मिक व्याख्याम बताया गया है कि 'गृत्स'का अर्थ प्राण तथा 'मद'का अर्थ है अपान। अत प्राणापानका समन्वय ही गृत्समद तत्त्व है। इनके द्वारा दृष्ट ऋग्वेदका द्वितीय मण्डल, जिसम कुल ४३ सूक्त हैं 'गार्त्समद मण्डल' कहलाता है।

आचार्य शौनकने बृहद्देवताम बतलाया है कि महर्षि गृत्समदमें तपस्याका महान् बल था, मन्त्रशक्ति प्रतिष्ठित थी, वे यथेच्छ रूप बनाकर देवताओकी सहायता करते थे और असुरासे देवताओकी रक्षा भी किया करते थे। उन्हे इन्द्र और अग्निदेवकी स्तुतियाँ करना अतिप्रिय था। एक बारकी बात है महर्षि गृत्समदका एक महान् यज्ञ सम्पादित हो रहा था। महर्षिका प्रिय करनेके लिये देवताओके राजा इन्द्र स्वय उस यज्ञमे उपस्थित हुए। असुर देवताओ, विशेषरूपसे इन्द्रसे द्वेष रखते थे। असुरोंमे भी धुनि तथा चुमुरि नामक दो महाबलशाली असुर थे। वे इन्द्रपर घात करनेके लिये अवसर ढूँढा करते थे। उन्हे जब मालूम हुआ कि इन्द्र महर्षि गृत्समदके यज्ञमे गये हुए हैं तो वे भी बडी शीघ्रतासे आयुधाको लेकर वहाँ जा पहुँचे, जहाँ यज्ञ हो रहा था। असुराको दूरसे आते देख और उनके मनोभाव जानकर महर्षि गृत्समदने इन्द्रकी रक्षाके लिये अपनी तपस्या तथा योगके बलसे अपनेको दूसरे इन्द्रके रूपमे परिवर्तित कर लिया और क्षणभरमे वे असुराके सामनेसे हो अदृश्य भी हो गये। दोनो असुराने सोचा कि इन्द्र हमारे भयसे अदृश्य हो गया है, अत वे भी इन्द्ररूपधारी गृत्समदको ढूँढने लगे। वे इन्द्ररूपधारी मुनि कभी अन्तरिक्षमे दिखलायी पडते तो कभी द्युलोकमे। भयंकर धुनि तथा चुमुरि आयुध लेकर उन्हे मारनेके लिये दौडते रहे। मुनिने उन्हे खूब भटकाया और अन्तम उन दोनो असुराको बतलाया कि मैं इन्द्र नहीं हूँ, वास्तविक इन्द्र जो तुम्हारा शत्रु है, वह तो यज्ञस्थलमे ही है। असुराको पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ, तब गृत्समद महर्षिने इन्द्रकी महनीय कीर्तिका, उनके बल-पराक्रमका और उनके गुणोका मन्त्राद्वारा गुणगान किया। गृत्समदद्वारा इन्द्रकी कीर्तिका वह गुणगान उन असुराके लिये वज्रके समान घातक हुआ। गृत्समदने उन दानाके समक्ष इन्द्रकी वीरता, शौर्य तथा प्रभुत्वका इतना वर्णन किया कि धुनि तथा चुमुरि नामक उन महादैत्याका नैतिक बल समाप्त हो गया और उसी समय इन्द्रने उपस्थित होकर उन दोनो महादैत्याका वध कर दिया। मुनिने भी अपना वह ऐन्द्ररूप त्याग दिया।

महर्षि गृत्समदका ऐसा अद्भुत प्रयत्न और तपोबल देखकर इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने उन्हे अपना अत्यन्त प्रिय सखा बना लिया। अक्षय तप, वाक्सिद्धि अद्भुत पराक्रम, मन्त्र-शक्ति तथा अपनी अखण्ड भक्तिका वर उन्हे प्रदान किया। देवराज इन्द्रने अपने सखा गृत्समदका दाहिना हाथ पकडा और उन्हे लेकर वे महेन्द्र-सदनमे आये। बडे ही आदर-भावसे उन्होने महर्षिका पूजन किया और कहा—

गृणन्मदसखे यस्मात् त्वमस्मानृषिसत्तम।
तस्माद्गृत्समदो नाम शौनहोत्रो भविष्यसि॥

(बृहद्देवता)

तभीसे शौनहोत्र गृत्समद उनका नाम पड गया।

बल-वीर्य एव पराक्रम आदि सम्बन्धी महर्षि गृत्समदद्वारा की गयी इन्द्रकी वह स्तुति जो उन्होने दैत्याके समक्ष की थी ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलके १२वे सूक्तमे गुम्फित है। यह सूक्त 'सजनाय सूक्त' भी कहलाता है, क्योकि इस सूक्तमे आयी हुई प्राय सभी ऋचाओके अन्तिम चरणमे 'स जनास इन्द्र ' यह पद आया है। इस सूक्तमे पद्रह मन्त्र हैं। उदाहरणके लिये पहला मन्त्र यहाँ दिया जा रहा है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्र.॥

(ऋक्० २। १२। १)

महर्षि गृत्समद कहते हैं—'हे असुरो! जो उत्पन्न होते ही देवताओंमे प्रधान एवं श्रेष्ठ हो गये, मनस्वियोंमें अग्रगण्य हो गये, जिन्होंने द्योतित होते हुए वृत्रासुर आदि राक्षसोंका वध कर सभी देवताओंकी रक्षा की और वे सभी देवताओंमें प्रमुख हो गये। जिस इन्द्रके बल, वीर्य, पराक्रमसे द्यावा-पृथिवीके सभी बलशाली भय मानते हैं और जिनके पास महान् शक्तिसम्पन्न सैन्य बल है, वही वास्तविक इन्द्र है। मैं (गृत्समद) इन्द्र नहीं हूँ।'

इसी प्रकार आगेके मन्त्रोंका साराश है कि जिन्होंने चलायमान पृथ्वीको स्थिर किया, अन्तरिक्षका विस्तार किया, जिन्होंने मेघोंपर आधिपत्य प्राप्त किया, जिन्होंने मेघोंके मध्य विद्युत् भी उत्पन्न किया, जो सर्वत्र व्याप्त हैं, जो सभी धनोंके प्रेरक हैं, जो यजमानकी रक्षा करनेवाले हैं, अपने उपासकोंको सर्वस्व प्रदान करनेवाले हैं, जो अन्तर्यामी-रूपसे स्थित है, चराचरके नियन्ता हैं, जिनके अनुशासनमें सभी चलते हैं, जो सबके नेता हैं, जिनके अनुग्रहके बिना विजय प्राप्त करना कठिन है, जो सम्पूर्ण विश्वके प्रतिनिधि हैं, जो दुष्टोंका संहार करनेके लिये वज्र आदि आयुधोंको धारण करते हैं, जिन्होंने शबर नामक दैत्यका वध किया जो अपनी सप्त रश्मियोंके द्वारा वृष्टि कर संसारको जीवन प्रदान करते हैं, जो बलवान् है, बुद्धिमान् हैं और यज्ञकी रक्षा करनेवाले हैं, हे असुरो! वास्तवमें वे ही इन्द्र हैं, मैं इन्द्र नहीं हूँ।

इस प्रकार यह सजनीय सूक्त इन्द्रकी महिमामें पर्यवसित है और महर्षि गृत्समदद्वारा गुम्फित है। इससे महर्षि गृत्समदकी उदारता, परोपकारिता, देवसखित्व आदि अनेक गुणोंका परिज्ञान होता है और उनकी दिव्य मन्त्र-शक्तिका भी आभास प्राप्त होता है।

एक दूसरे आख्यानमें यही वृत्तान्त किंचित् परिवर्तनके साथ आया है। तदनुसार—

प्राचीन कालकी बात है कि वनवंशीय राजाओंके द्वारा एक महान् यज्ञका अनुष्ठान हुआ। इन्द्र आदि सभी देवता उस यज्ञमें उपस्थित हुए। महर्षि गृत्समद भी यज्ञमें आये। इन्द्रको मारनेके उद्देश्यसे अनेक दैत्य भी वहाँ छिपकर पहुँचे हुए थे, किंतु जब इन्द्रको असुरोंके आगमनकी बात ज्ञात हो गयी तब वे भयभीत हो गये और अपना ऐन्द्ररूप छोड़कर उन्होंने गृत्समद महर्षिका रूप धारण कर लिया तथा वे उस यज्ञसे भाग खड़े हुए। असुरोंने समझा कि गृत्समद ऋषि ही डरकर भाग गये हैं और हमारा अभीष्ट इन्द्र गृत्समदका रूप धारण कर यहीं यज्ञस्थलमें बैठा है। इस प्रकारका संशय असुरोंको हो गया। तब उन्होंने वास्तविक गृत्समदको ही इन्द्र समझकर विघ्न उपस्थित किया। तब गृत्समद मुनिने 'सजनीय सूक्त' (पूर्वोक्त)-द्वारा इन्द्रकी कीर्तिका ख्यापन किया कि असली इन्द्र तो इस प्रकारके महनीय गुणोंवाले हैं, मैं इन्द्र नहीं हूँ, परंतु असुरोंने महर्षि गृत्समदको पकड़ लिया। तब वास्तविक इन्द्रने असुरोंको मारकर महर्षिको छुड़ाया और दोनोंमें अत्यन्त प्रीति हो गयी। तत्पश्चात् इन्द्रने उन्हें भृगुकुलमें शुनकके पुत्र शौनकके रूपमें प्रतिष्ठित किया और अन्तमें अपने लोकमें वास करनेका तथा मन्त्रशक्ति प्राप्त करनेका वर प्रदान किया। कात्यायन मुनिने अपने सर्वानुक्रमणीमें इस वृत्तान्तका विस्तारसे वर्णन करते हुए कहा है—

इन्द्रका कथन—

त्वं तु भूत्वा भृगुकुले शुनकाच्छौनकोऽभवत्॥
एतत्सूक्तयुतं पश्य द्वितीयं मण्डलं महत्।
ततो मल्लोकसंवासं लप्स्यसे च महत् सुखम्॥
इतीन्द्रचोदितो जातः पुनर्गृत्समदो मुनिः।
द्वितीयं मण्डलं दृष्ट्वा यो जातीयेन संयुतम्॥
ऐन्द्रं प्राप्य महद्धाम मुमुदे चेन्द्रपूजितः।

महर्षि गृत्समदद्वारा इन्द्रकी प्रियता तथा उनके धामको प्राप्त करनेकी बात ऐतरेय ब्राह्मण (२१। २)-में इस प्रकार कही गयी है—

'एतेन वै गृत्समद इन्द्रस्य प्रियं धामोपागच्छत्। स परमं लोकमजयत्।'

महाभारत-अनुशासनपर्वमें भी पूर्वोक्त कथाका ख्यापन हुआ है। साथ ही महाभारतमें महामुनि गृत्समदका एक अन्य रोचक आख्यान आया है। तदनुसार गृत्समद हैहय क्षत्रियोंके राजा और वीतहव्यके पुत्र थे। एक बार काशिराज प्रतर्दनके भयसे वीतहव्य महर्षि भृगुके आश्रममें जा छिपे। इन्हें खोजते हुए प्रतर्दन भी वहाँ जा पहुँचे। पूछनेपर भृगुने कहा कि—'मेरे आश्रममें क्षत्रिय नहीं रहता'। तपोधन ऋषियोंके वचन झूठे होते नहीं, अमोघ होते हैं। अतः भृगुके उस वचन मात्रसे क्षत्रिय राजा वीतहव्य ब्राह्मण हो गये। ब्रह्मर्षि हो गये और इनके पुत्र भी गृत्समद क्षत्रियसे मन्त्रद्रष्टा परमर्षि हो गये। तबसे इनको भृगुवंशीयता प्राप्त हो गयी। यथा—

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः॥

वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमव च।
तस्य गृत्समद पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापर ॥
शक्रस्त्वमिति यो दैत्यैर्निगृहीत किलाभवत्।
ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मन ॥
यत्र गृत्समदो राजन् ब्राह्मणै स महीयते।
स ब्रह्मचारी विप्रर्षि श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्॥

(महा० अनु० ३०। ५७—६०)

गणेशपुराणमे बताया गया है कि गृत्समद भगवान् गणेशके महान् भक्त थे। उनकी प्रसन्नताके लिये उन्हाने हजारा वर्षपर्यन्त कठिन तप किया था। अनन्तर उन्हे उनके प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुए और अनेक वर भी प्राप्त हुए।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थामे महर्षि गृत्समदके अनेक प्रकारके आख्यान प्राप्त होत हैं, जिनसे उनके दिव्य चरित्रका ख्यापन होता है।

गार्त्समद-मण्डल—इस मण्डलम ४३ सूक्त हैं, जिनम इन्द्र, अग्नि, आदित्य, मित्रावरुण, वरुण, विश्वेदव तथा मरुत् आदि देवाकी स्तुतियाँ है। इन्द्र और महर्षिक परस्पर सख्यका वृत्तान्त भी वर्णित है। इस मण्डलमे लगभग १६ सूक्तोमे इन्द्रकी स्तुतियाँ हैं। अन्तिम ४२ तथा ४३व सूक्तम इन्द्रका कपिजलके रूपम आख्यापन है। राका, सिनीवाली आदि देवताआकी भी स्तुतियाँ है (३२वाँ सूक्त)। मण्डलके प्रारम्भिक सूक्ताम अग्निदेवकी महानताका वर्णन हुआ है। गणेशका ब्रह्मणस्पतिरूपम वर्णन इस मन्त्रमे हुआ है—

गणाना त्वा गणपति हवामहे कवि कवीनामुपश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराज ब्रह्मणा ब्रह्मणस्पत आ न शृण्वन्नूतिभि सीद सादनम्॥

(ऋक्० २। २३। १)

मण्डलका अन्तिम ४२वाँ तथा ४३वाँ सूक्त 'वायस सूक्त' भी कहलाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३। १०। ९)-मे बताया गया है कि वायस पक्षीके अमङ्गल शब्दका श्रवण होनेपर इन दो सूक्ता (६ ऋचाआ)-का जप करना चाहिये—'**वयसाममनोज्ञा वाच श्रुत्वा कनिक्रदज्जनुष प्रब्रुवाण इति सूक्ते जपेत्।**'

इन सूक्ताक देवता कपिजलरूपधारी इन्द्र है और इनसे प्रार्थना की गयी है कि हे कपिजल! तुम हमार लिये प्रकृष्ट कल्याणकारी होओ—'**सुमङ्गलश्च शकुने भवासि।**' (२। ४२। १), '**सुमङ्गला भद्रवादी वेदेह**' (२। ४२। २)। साथ ही उत्तम बुद्धिकी प्रार्थना भी की गयी है—'**सुमति चिकिद्धि न ॥**' (२। ४३। ३)

इस प्रकार महर्षि गृत्समदका 'गार्त्समद-मण्डल' माङ्गलिक अभिलाषाक साथ पूर्ण हुआ है।

महर्षि वामदेव

महर्षि वामदेव ऋग्वेदके चौथे मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। चौथे मण्डलमे कुल ५८ सूक्त हैं। जिनम महर्षिद्वारा अग्नि, इन्द्र वरुण, सोम, ऋभु, दधिकाण्ण, विश्वेदव तथा उषा आदि देवताआकी स्तुतियाँ की गयी हैं। उन स्तुतियामे लोककल्याणकी उदात्त भावना निहित है। महर्षि वामदेव ब्रह्मज्ञानी तथा जातिस्मर महात्मा रहे हैं। वायुपुराणम आया है कि इन्हाने अपने ज्ञानसे ऋषित्व प्राप्त किया था—'**ज्ञानतो ऋषिता गत**' (वायु० ५९। ९१)। ऋग्वेदम ऋषिने स्वय अपना परिचय दिया है, तदनुसार स्पष्ट होता है कि इन्हे गर्भमे ही आत्मज्ञान और ब्रह्मविद्याका साक्षात्कार हो गया था। ऋग्वेदकी निम्न ऋचाका उन्हे माताके गर्भम ही दर्शन हो गया था, इसलिय उन्हाने माताक उदरम ही कहा था—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमह देवाना जनिमानि विश्वा।
शत मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥[१]

(ऋक्० ४। २७। १)

ऋचाका भाव यह है कि 'अहो! कितने आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि गर्भम रहते-रहते ही मैंने इन अन्त - करण और इन्द्रियरूप देवताआके अनेक जन्माका रहस्य भलीभाँति जान लिया अर्थात् मैं इस बातको जान गया कि ये जन्म आदि वास्तवम इन अन्त करण और इन्द्रियाके ही होते हैं, आत्माके नहीं। इस रहस्यको समझनेसे पहले मुझे सैकडा लाहके समान कठार शरीररूपी पिजराम अवरुद्ध कर रखा था। उनम मेरी ऐसी दृढ अहता हो गयी थी कि उससे छूटना मेरे लिये कठिन हो रहा था। अब मैं बाज

१-ऐतरेय-उपनिषद् (अध्याय २ खण्ड १। ५-६)-मे जन्म-मृत्युके रहस्य-क्रमम तथा परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिके क्रमम इसी वामदेव ऋचाको उद्धृत किया गया है।

पक्षीकी भाँति ज्ञानरूप बलके वेगसे उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ। उन शरीररूप पिंजरोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं सदाके लिये उन शरीरोंकी अहंतासे मुक्त हो गया हूँ।' इस ऋचामें गर्भस्थित वामदेवने यह उपदेश दिया है कि देह आदिमें आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि देहात्मवाद ही अविद्याजन्य बन्धन है और उस बन्धनका नाश ही मोक्ष है। जैसे पक्षी घोंसलेसे भिन्न है, वैसे ही यह आत्मतत्त्व भी शरीरसे सर्वथा व्यतिरिक्त है।

इस प्रकार गर्भज्ञानी महात्मा वामदेव ऋषिको गर्भमें भी मोह नहीं हुआ। उन्होंने विचार किया कि मेरा आविर्भाव भी सामान्य न होकर कुछ विशिष्ट ढंगसे ही होना चाहिये। उन्होंने सोचा कि माताकी योनिसे तो सभी जन्म लेते हैं और इसमें अत्यन्त कष्ट भी है, अतः मैं माताके पार्श्व भागका भेदन करके बाहर निकलूँगा—

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।

(ऋक्० ४। १८। २)

इन्द्रादि देवोंने जब गर्भस्थित वामदेवको ऐसा कार्य करनेसे रोका तो उन्होंने अपने समस्त ज्ञान और अनुभवका परिचय देते हुए उनसे कहा—'हे इन्द्र! मैं जानता हूँ कि मैं ही प्रजापति मनु हूँ, मैं ही सबको प्रेरणा देनेवाला सविता देव हूँ, मैं ही दीर्घतमाका मेधावी कक्षीवान् नामक ऋषि हूँ, मैं ही अर्जुनीका पुत्र कुत्स नामक ऋषि हूँ और मैं ही क्रान्तदर्शी उशना ऋषि हूँ। तात्पर्य यह है कि परमार्थ-दृष्टिसे मैं ही सब कुछ हूँ, इसलिये मुझे आप सर्वात्माके रूपमें देखें।' वामदेवी ऋचा इस प्रकार है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

(ऋक्० ४। २६। १)

इस प्रकार अपने आत्मज्ञान तथा जन्मान्तरीय ज्ञानका परिचय देकर वामदेवने अपने योगबलसे श्येन (बाज) पक्षीका रूप धारण कर लिया और बड़े वेगसे वे अपनी माताकी कुक्षि-प्रदेशसे बाहर निकल पड़े[१]। उनके इस कार्यसे इन्द्र रुष्ट हो गये, किंतु वामदेवने अपनी स्तुतियोंद्वारा उन्हें प्रसन्न कर लिया और इन्द्रकी उनपर कृपा हो गयी। कालान्तरमें वामदेव ऋषि जब दरिद्रतासे ग्रस्त हो गये, तब भी इन्द्रदेवताने उनपर कृपा की और उन्हें अमृतके समान मधुर पेय प्रदान किया, इससे वामदेव संतृप्त हो गये। इन्द्रकी प्रशंसामें वामदेव ऋषि कह उठते हैं—'द्योतित होनेवाले अग्नि आदि देवताओंके मध्य मैं इन्द्रके समान अन्य किसी देवताको नहीं देखता हूँ, जो सुख-शान्ति दे सके'—'न देवेषु विविदे मर्डितारम्' (ऋक्० ४। १८। १३)। 'उन्होंने ही मुझे मधुर जल प्रदान किया'—'मध्वा जभार' (ऋक्० ४। १८। १३)।

महर्षि वामदेवने विश्वामित्रद्वारा दृष्ट संपातसूक्तोंका प्रचार किया—'विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवोऽसृजत्।' (एत०ब्राह्म० ६। २)। इन्होंने अनेक यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान किया था। स्वयं इन्द्र उपस्थित होकर इनके यज्ञकी रक्षा करते थे (ऋक्० ४। १६। १८)। वामदेव ऋषिने स्वयं कहा है कि हम सात (६ अंगिरा और वामदेव) मेधावी हैं, हमने ही अग्निकी रश्मियोंको उत्पन्न किया है (ऋक्० ४। २। १५)।

महर्षि वामदेव गोतमके पुत्र कहे गये हैं। गोत्रकार ऋषियोंमें इनकी गणना है। गायत्री-मन्त्रके चौबीस अक्षरोंके पृथक्-पृथक् ऋषि हैं, उनमें पाँचवें अक्षरके ऋषि वामदेव ही हैं। इनका तप, स्वाध्याय, अनुष्ठान तथा आत्मनिष्ठैक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। मुख्य रूपसे ये इन्द्र, अग्नि तथा सवितादेवके उपासक थे। इनके जीवनमें शौच, संतोष, अपरिग्रह तथा परहितकी उदात्त-भावना प्रतिष्ठित थी। इसी तप, स्वाध्याय और अध्यात्म-साधनाके बलपर उन्हें मन्त्रशक्तिका दर्शन हुआ था। रामायण आदिमें वर्णन आया है कि महर्षि वामदेव राजर्षि दशरथके प्रधान ऋत्विक्

१-आचार्य सायणने इस घटनाका विवरण इस प्रकार दिया है—

गर्भस्थो ज्ञानसम्पन्नो वामदेवो महामुनिः। मतिं चक्रे न जायेय योनिदेशात्तु मातृतः॥
किंतु पार्श्वादितश्चेति ... । गर्भे शयानं सुचिरं मातुर्गर्भादनिर्गतम्॥
श्येनरूपं समास्थाय गर्भाद्योगेन निःसृतः। ऋषिर्गर्भे शयानः सन् ब्रूते गर्भे नु सन्निति॥

(ऋक्० ४। १८ के प्रारम्भमें सायणभाष्य)

और कुलपुरोहित रहे हैं—

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे॥
(वा०रा० १।७।४)

वामदेव रघुकुल गुर ग्यानी।
(रा०च०मा० १।३६१।१)

वामदेउ बसिष्ठ तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे॥
(रा०च०मा० २।१६९।७-८)

इस प्रकार महर्षि वामदेवकी मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंमें विशेष महिमा है।

महर्षि वामदेव और 'वामदेव-मण्डल'

ऋग्वेदका चौथा मण्डल महर्षि वामदेवके द्वारा दृष्ट है। इसीलिये वह 'वामदेव-मण्डल' और इनके द्वारा दृष्ट ऋचाएँ 'वामदेवी ऋचाएँ' कहलाती हैं। चतुर्थ मण्डलके प्रारम्भके कई सूक्तोंमें अग्निदेवकी महनीय स्तुतियाँ हैं, जिनमें अग्निदेवके विभिन्न स्वरूपों तथा उनके कार्योंका विवरण है। इस मण्डलमें कई आख्यान भी आये हैं। सोलहवें सूक्तकी ऋचाओंमें राजर्षि कुत्सका आख्यान आया है।

राजर्षि कुत्सका आख्यान—रुरु नामक एक राजर्षि थे, उनके पुत्र थे—कुत्स। एक बार राजर्षि कुत्स जब शत्रुओंद्वारा संग्राममें पराजित हो गये, तब अशक्त रुरुने शत्रुओंके विनाशके लिये देवराज इन्द्रका आह्वान किया। स्तुतिसे इन्द्र प्रसन्न हो गये और उन्होंने स्वयं उपस्थित होकर उनके शत्रुओंको मार गिराया। तदनन्तर इन्द्र तथा कुत्समें अत्यन्त प्रीति हो गयी। इतना ही नहीं, इन्द्र मित्रभावको प्राप्त राजर्षि कुत्सको देवलोकमें ले गये और अपने ही समान उन्हें रूप प्रदान कर अपने अर्धासनपर उन्हें बिठाया। उसी समय देवी शची वहाँ उपस्थित हुईं तो वे दो इन्द्रोंको देखकर सशंकित हो गयीं और निर्णय न कर सकीं कि वास्तवमें उसके स्वामी इन्द्र इनमेंसे कौन हैं।

इस आख्यायिकाको ऋग्वेद (४।१६।१०)-में संकलित किया गया है। इसमें महर्षि वामदेवने इन्द्रदेवताकी महिमामें इस आख्यायिकाको उपन्यस्त बताया है। कथाका भाव यह है कि स्तुतिसे इन्द्रदेवता प्रसन्न होकर अपने भक्तको साक्षात् दर्शन देते हैं, उसका कार्य सिद्ध कर देते हैं और उसे अपना पद भी प्रदान कर देते हैं। अतः देवताओंकी भक्ति करनी चाहिये, इससे भगवान्‌की संनिधि प्राप्त हो जाती है।

ऐसे ही इस मण्डलमें पुरुकुत्स तथा उनके पुत्र राजर्षि त्रसदस्यु आदिके भी अनेक सुन्दर प्रेरणाप्रद आख्यान आये हैं।

सौरी ऋचा—चतुर्थ मण्डलमें एक मुख्य ऋचा (मन्त्र) आयी है जो 'सौरी' ऋचा कहलाती है। इस ऋचाके द्रष्टा वामदेव ऋषि हैं और इसमें भगवान् सूर्य ही सर्वात्मा, सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता, सर्वाधार तथा परब्रह्म परमात्माके रूपमें निरूपित किये गये हैं, अतः इस ऋचाको सूर्य, आदित्य या सविता-सम्बन्धी वेदमें आये सभी मन्त्रोंमें विशेष महत्त्व है। यह ऋचा इस प्रकार है—

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥
(ऋक्० ४।४०।५)

—यह मन्त्र विशेष महत्त्वका होनेके कारण यजुर्वेद (१०।२४ १२।१४), काण्वशाखा (१६।५।१८, १५।६।२५), तैत्तिरीयसंहिता (१।८।१५।२ ४।२।१।५) ऐतरेय ब्राह्मण (४।२०) तथा तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१०।२) आदिमें यथावत् उपन्यस्त है। आश्वलायन श्रौतसूत्र आदिमें निर्दिष्ट है कि यह सौरी ऋचा मैत्रावरुणशस्त्र-यागमें विनियुक्त है। ऋग्विधान (२।२४०)-में एक श्लोक इस प्रकार आया है—

हंसः शुचिषदित्यृचा शुचिरीक्षेद्दिवाकरम्।
अन्तकाले जपन्नेति ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥

—इस श्लोकसे यह भाव स्पष्ट है कि 'पूर्वोक्त ऋचा 'हंसः शुचिषद्'में भगवान् दिवाकर, जो साक्षात् परमात्माके रूपमें दर्शन दे रहे हैं, उनकी आराधना करनी चाहिये। अन्त समयमें इस ऋचाका जप करने तथा आदित्य-मण्डलमें जो हिरण्मय-पुरुष नारायण स्थित हैं, उनका ध्यान करनेमें परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और उनका शाश्वत परमधाम प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त ऋचाका भाव यह है कि आदित्य-मण्डलाधिष्ठातृ हिरण्मय-नारायण जो पुरुष हैं, वे ही परमात्मा हैं। वे

सर्वव्यापक हैं। वे द्युलोकम प्रतिष्ठित हैं। वे मध्यस्थानीय वायु देवता हैं, वे ही अन्तरिक्षम सचरण करनेवाले हैं। वे ही होम-निष्पादक होता हैं, वे ही गार्हपत्याग्नि हैं, वे ही अतिथिवत् पूज्य अग्निरूप हैं, वे लौकिकाग्नि हैं। वे ही मनुष्याम चेतन्यरूपसे अन्तरात्माम स्थित हैं, वे ही वरणीय मण्डलम स्थित और वे ही सत्यस्वरूप हैं। वे ही व्यामम, उदकमे तथा रश्मियाम प्रकट हाते हैं। इन्द्र आदि अन्य देवता तो अप्रत्यक्ष हैं, किंतु भगवान् आदित्य प्रत्यक्ष सबको नित्य दर्शन देते हैं। यथा—वे विद्युत्के रूपम चमकते हे, नित्य उदयाचलपर उदित हाते हैं। इस प्रकार आदित्य ही सर्वाधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व हैं, उपास्य हैं।

इसी प्रकार इस चतुर्थ मण्डलम अनेक महत्त्वके सूक्त हैं। वार्ताशास्त्र कृषिशास्त्र-सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं। क्षेत्रके कर्षण-सम्बन्धी मन्त्र हैं। हलक फाल आदिकी स्तुतियाँ हैं। आज्य-स्तुति है। जैसे—चतुथ मण्डलके ५७व सूक्तम 'क्षेत्रस्य पतिना०, शुन वाहा ०, शुन न फाला वि कृषन्तु भूमिं०' आदि महत्त्वके मन्त्र हैं। चतुर्थ मण्डलके अन्तिम ५८वे सूक्तम ११ ऋचाएँ हैं। ये ऋचाएँ अग्नि, सूर्य, अप, गाघृत आदि देवतापरक हैं। यह सूक्त आज्यसूक्त भी कहलाता है। इसका आदि मन्त्र इस प्रकार है—

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभि ॥
(ऋक्० ४। ५८। १)

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य०' यह पञ्चदेवतापरक मन्त्र इसी ५८व सूक्तका तीसरा मन्त्र है। एसे ही 'सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो०' (४। ५८। ७)—यह मन्त्र भा इसी सूक्तम है।

इस प्रकार महर्षि वामदवद्वारा दृष्ट चतुर्थ मण्डल अत्यन्त महत्त्वका हे। इसक अध्ययनस महर्षि वामदवके महनीय चरित्रका किञ्चित् ख्यापन होता है। औपनिषदिक श्रुति है कि जन्म-जन्मान्तरके ज्ञान रखनेवाले वे ऋषि वामदव इस शरीरका भेदन कर भगवान्के धामको प्राप्त करक आप्तकाम हा सदाक लिये अमर हो गय—

स एव विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्। स्वर्गे लाके सर्वान्कामानाप्त्वामृत समभवत् समभवत्॥
(ऐतरेयोपनिषद् २। १। ६)

महर्षि भरद्वाज

(आचार्य श्रीदुर्गाचरणजी शुक्ल)

ऋग्वेदके छठे मण्डलके द्रष्टा भरद्वाजऋषि कहे गये हैं। इस मण्डलम भरद्वाजके ७६५ मन्त्र हैं। अथर्ववेदम भी भरद्वाजके २३ मन्त्र मिलते ह। वैदिक ऋषियाम भरद्वाज-ऋषिका अति उच्च स्थान हे। भरद्वाजक पिता वृहस्पति ओर माता ममता थीं।

भरद्वाजका वश—ऋषि भरद्वाजके पुत्राम १० ऋषि ऋग्वेदके मन्त्रद्रष्टा हैं आर एक पुत्री जिसका नाम 'रात्रि' था वह भी रात्रिसूक्तकी मन्त्रद्रष्टा मानी गयी है। भरद्वाजके मन्त्रद्रष्टा पुत्राके नाम हे—ऋजिष्वा गर्ग नर पायु, वसु, शास शिराम्बिठ शुनहात्र, सप्रथ और सुहोत्र। ऋग्वदकी सर्वानुक्रमणीक अनुसार ऋषिका 'कशिपा' भरद्वाजकी पुत्री कही गयी ह। इस प्रकार ऋषि भरद्वाजकी १२ सतान मन्त्रद्रष्टा ऋषियाकी कोटिमे सम्मानित थीं। भरद्वाज ऋषिने बडे गहन अनुभव किये थे। उनकी शिक्षाके आयाम अतिव्यापक थे।

भरद्वाजकी शिक्षा—भरद्वाजने इन्द्रसे व्याकरण-शास्त्रका अध्ययन किया था आर उसे व्याख्यासहित अनेक ऋषियाको पढाया था। 'ऋक्तन्त्र' और 'ऐतरेय ब्राह्मण' दोनोमे इसका वर्णन है।

भरद्वाजने इन्द्रसे आयुर्वेद पढा था, ऐसा चरक ऋषिने लिखा है। अपने इस आयुर्वेदके गहन अध्ययनके आधारपर भरद्वाजने आयुर्वेदसहिताकी रचना भी की थी।

भरद्वाजने महर्षि भृगुसे धर्मशास्त्रका उपदेश प्राप्त किया और 'भरद्वाज-स्मृति' की रचना की। महाभारत, शान्तिपर्व (१८२। ५) तथा हेमाद्रिने इसका उल्लेख किया है। पाञ्चरात्र-भक्ति-सम्प्रदायम प्रचलित है कि सम्प्रदायकी एक

संहिता 'भरद्वाज-संहिता' के रचनाकार भी ऋषि भरद्वाज ही थे।

महाभारत, शान्तिपर्वके अनुसार ऋषि भरद्वाजने 'धनुर्वेद'-पर प्रवचन किया था (२१०।२१)। वहाँ यह भी कहा गया है कि ऋषि भरद्वाजने 'राजशास्त्र' का प्रणयन किया था (५८।३)। कौटिल्यने अपने पूर्वमें हुए अर्थशास्त्रके रचनाकारोंमें ऋषि भरद्वाजको सम्मानसे स्वीकारा है।

ऋषि भरद्वाजने 'यन्त्र-सर्वस्व' नामक बृहद् ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थका कुछ भाग स्वामी ब्रह्ममुनिने 'विमान-शास्त्र' के नामसे प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थमें उच्च और निम्न स्तरपर विचरनेवाले विमानोंके लिये विविध धातुओंके निर्माणका वर्णन है।

इस प्रकार एक साथ व्याकरणशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र राजशास्त्र, अर्थशास्त्र धनुर्वेद आयुर्वेद और भौतिक विज्ञानवेत्ता ऋषि भरद्वाज थे—इसे उनके ग्रन्थ और अन्य ग्रन्थोंमें दिये उनके ग्रन्थोंके उद्धरण ही प्रमाणित करते हैं। उनकी शिक्षाके विषयमें एक मनोरंजक घटना तैत्तिरीय ब्राह्मण-ग्रन्थमें मिलती है। घटनाका वर्णन इस प्रकार है—

भरद्वाजने सम्पूर्ण वेदोंके अध्ययनका यत्न किया। दृढ इच्छा-शक्ति और कठोर तपस्यासे इन्द्रको प्रसन्न किया। भरद्वाजने प्रसन्न हुए इन्द्रसे अध्ययनहेतु सौ वर्षकी आयु माँगी। भरद्वाज अध्ययन करते रहे। सौ वर्ष पूरे हो गये। अध्ययनकी लगनसे प्रसन्न होकर दुबारा इन्द्रने फिर वर माँगनेको कहा, तो भरद्वाजने पुनः सौ वर्ष अध्ययनके लिये और माँगा। इन्द्रने सौ वर्ष प्रदान किये। इस प्रकार अध्ययन और वरदानका क्रम चलता रहा। भरद्वाजने तीन सौ वर्षोंतक अध्ययन किया। इसके बाद पुनः इन्द्रने उपस्थित होकर कहा—'हे भरद्वाज! यदि मैं तुम्हें सौ वर्ष और दे दूँ तो तुम उनसे क्या करोगे?' भरद्वाजने सरलतासे उत्तर दिया, 'मैं वेदोंका अध्ययन करूँगा।' इन्द्रने तत्काल बालूके तीन पहाड खड़े कर दिये, फिर उनमेंसे एक मुट्ठी रेत हाथोंमें लेकर कहा—'भरद्वाज! समझो ये तीन वेद हैं और तुम्हारा तीन सौ वर्षोंका अध्ययन यह मुट्ठीभर रेत है। वेद अनन्त हैं। तुमने आयुके तीन सौ वर्षोंमें जितना जाना है, उससे न जाना हुआ अत्यधिक है।' अतः मेरी बातपर ध्यान दो—'अग्नि है सब विद्याओंका स्वरूप। अतः अग्निको ही जानो। उसे जान लेनेपर सब विद्याओंका ज्ञान स्वतः हो जायगा, इसके बाद इन्द्रने भरद्वाजको सावित्र्य-अग्नि-विद्याका विधिवत् ज्ञान कराया। भरद्वाजने उस अग्निको जानकर उससे अमृत-तत्त्व प्राप्त किया और स्वर्गलोकमें जाकर आदित्यसे सायुज्य प्राप्त किया' (तै० ब्रा० ३।१०।११)।

इन्द्रद्वारा अग्नि-तत्त्वका साक्षात्कार किया, ज्ञानसे तादात्म्य किया और तन्मय होकर रचनाएँ कीं। आयुर्वेदके प्रयोगोंमें ये परम निपुण थे। इसीलिये उन्होंने ऋषियोंमें सबसे अधिक आयु प्राप्त की थी। वे ब्राह्मणग्रन्थोंमें 'दीर्घजीवितम' पदसे सबसे अधिक लम्बी आयुवाले ऋषि गिने गये हैं (ऐतरेय आरण्यक १।२।२)। चरक ऋषिने भरद्वाजको 'अपरिमित' आयुवाला कहा (सूत्र-स्थान १।२६)। भरद्वाजऋषि काशिराज दिवोदासके पुरोहित थे। वे दिवोदासके पुत्र प्रतर्दनके पुरोहित थे और फिर प्रतर्दनके पुत्र क्षत्रका भी उन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषिने यज्ञ सम्पन्न कराया था (जै० ब्रा० ३।२।८)। वनवासके समय श्रीराम इनके आश्रममें गये थे, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे त्रेता-द्वापरका सन्धिकाल था। उक्त प्रमाणोंसे भरद्वाजऋषिको 'अनूचानतम' और 'दीर्घजीवितम' या 'अपरिमित' आयु कहे जानेमें कोई अत्युक्ति नहीं लगती है।

साम-गायक—भरद्वाजने 'सामगान' को देवताओंसे प्राप्त किया था। ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें कहा गया है—'यों तो समस्त ऋषियोंने ही यज्ञका परम गुह्य ज्ञान जो बुद्धिकी गुफामें गुप्त था, उसे जाना, परंतु भरद्वाजऋषिने द्युस्थान (स्वर्गलोक)-के धाता, सविता, विष्णु और अग्नि देवतासे ही बृहत्सामका ज्ञान प्राप्त किया' (ऋक्० १०।१८१।२)। यह बात भरद्वाज ऋषिकी श्रेष्ठता और विशेषता दोनों दर्शाती है। **'साम'** का अर्थ है (सा+अम) ऋचाओंके आधारपर आलाप। ऋचाओंके आधारपर किया गया गान 'साम' है। ऋषि भरद्वाजने आत्मसात् किया था 'बृहत्साम'। ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी परिभाषाओंके सदर्भमें हम कह सकते हैं कि ऋचाओंके आधारपर स्वरप्रधान ऐसा गायन जो स्वर्गलोक, आदित्य, मन, श्रेष्ठत्व और तेजस्‌को स्वर-आलापमें व्यञ्जित करता हो 'बृहत्साम'

कहा जाता है। ऋषि भरद्वाज ऐसे ही बृहत्साम-गायक थे। वे चार प्रमुख साम-गायकों—गोतम, वामदेव, भरद्वाज और कश्यपकी श्रेणीमें गिने जाते हैं।

संहिताओंमें ऋषि भरद्वाजके इस 'बृहत्साम' की बड़ी महिमा बतायी गयी है। काठकसंहितामें तथा ऐतरेय-ब्राह्मणमें कहा गया है कि 'इस बृहत्सामके गायनसे शासक सम्पन्न होता है तथा ओज, तेज और वीर्य बढ़ता है। 'राजसूय यज्ञ' समृद्ध होता है। राष्ट्र और दृढ़ होता है (ऐत० ब्रा० ३६।३)। राष्ट्रको समृद्ध और दृढ़ बनानेके लिये भरद्वाजने राजा प्रतर्दनसे यज्ञमें इसका अनुष्ठान कराया था, जिससे प्रतर्दनका खोया राष्ट्र उन्हें पुनः मिला था' (काठक २१।१०)। प्रतर्दनकी कथा महाभारतके अनुशासनपर्व (अ० ३०)-में आयी है।

भरद्वाजके विचार—वे कहते हैं अग्निको देखो, यह मरणधर्मा मानवोंमें मौजूद अमर ज्योति है। यह अग्नि विश्वकृष्टि है अर्थात् सर्वमनुष्यरूप है। यह अग्नि सब कर्मोंमें प्रवीणतम ऋषि है, जो मानवमें रहती है, उसे प्रेरित करती है ऊपर उठनेके लिये। अतः पहचानो—

पश्यतममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।

(ऋक्० ६।९।४)

प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः।

(ऋक्० ६।१४।२)

मानवी अग्नि जागेगी। विश्वकृष्टिको जब प्रज्वलित करेंगे तो उसे धारण करनेके लिये साहस और बलकी आवश्यकता होगी। इसके लिये आवश्यक है कि आप सच्चाईपर दृढ़ रहें। ऋषि भरद्वाज कहते हैं—'हम झुकें नहीं। हम सामर्थ्यवान्‌के आगे भी न झुकें। दृढ़ व्यक्तिके सामने भी नहीं झुकें। क्रूर-दुष्ट-हिंसक-दस्युके आगे भी हमारा सिर झुके नहीं'—

न वीळवे नमते न स्थिराय न शर्धते दस्युजूताय० (ऋक्० ६।२४।८)

ऋषि समझाते हैं कि जीभसे ऐसी वाणी बोलनी चाहिये कि सुननेवाले बुद्धिमान् बनें—'**जिह्वया सदमेदं सुमेधा आ**' (६।६७।८)। हमारी विद्या ऐसी हो, जो कपटी दुष्टोंका सफाया करे, युद्धोंमें संरक्षण दे, इच्छित धनोंको प्राप्त कराये और हमारी बुद्धियोंको निन्दित मार्गोंसे रोके।

(ऋक्० ६।६१।३६१४)

भरद्वाज ऋषिका विचार है कि हमारी सरस्वती, हमारी विद्या इतनी समर्थ हो कि वह सभी प्रकारके मानवोंका पोषण करे। 'हे सरस्वती! सब कपटी दुष्टोंकी प्रजाओंका नाश कर।'

'**नि बर्हय प्रजा विश्वस्य बृसयस्य मायिनः।**'

हे सरस्वती! तू युद्धोंमें हम सबका रक्षण कर। '**धीनामवित्र्यवतु॥**' हे सरस्वती! तू हम सबकी बुद्धियोंकी सुरक्षा कर। '**अवा वाजेषु, नो नेषि वस्यः।**' (६।६१।३,४,६१४)

इस प्रकार भरद्वाजके विचारोंमें वही विद्या है, जो हम सबका पोषण करे, कपटी दुष्टोंका विनाश करे, युद्धमें हमारा रक्षण करे, हमारी बुद्धि शुद्ध रखे तथा हमें वाञ्छित अर्थ देनेमें समर्थ हो। ऐसी विद्याको जिन्होंने प्राप्त किया है, ऋषिका उन्हें आदेश है—'**श्रुतं श्रावय चर्षणिभ्यः**' (६।३१।५)। अरे, ओ ज्ञानको प्रत्यक्ष करनेवाले! प्रजाजनोंको उस उत्तम ज्ञानको सुनाओ और जो दास हैं, सेवक हैं, उनको श्रेष्ठ नागरिक बनाओ—'**दासान्यार्याणि कः**' (६।२२।१०)। ज्ञानी, विज्ञानी, शासक, कुशल योद्धा और राष्ट्रको अभय देनेवाले ऋषि भरद्वाजके ऐसे ही तीव्र, तेजस्वी और प्रेरक विचार हैं।

महर्षि भृगु

भगवान् विष्णुके हृदय-देशमें स्थित महर्षि भृगुका पद-चिह्न उपासकोंमें सदाके लिये श्रद्धास्पद हो गया। पौराणिक कथा है कि एक बार मुनियोंकी इच्छा यह जाननेकी हुई कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीनों देवोंमें सर्वश्रेष्ठ कौन है? परंतु ऐसे महान् देवोंकी परीक्षाकी सामर्थ्य कौन करे? उसी मुनिमण्डलीमें महर्षि भृगु भी विद्यमान थे। सभी मुनियोंकी दृष्टि महर्षि भृगुपर जाकर टिक गयी, क्योंकि वे महर्षिके बुद्धिबल कौशल असीम सामर्थ्य तथा अध्यात्म-मन्त्रज्ञानसे सुपरिचित थे। अब तो भृगु त्रिदेवोंके परीक्षक बन गये। सर्वप्रथम भृगु अपने पिता ब्रह्माके पास गये और उन्हें

प्रणाम नहीं किया, मर्यादाका उल्लघन देखकर ब्रह्मा रुष्ट हो गये। भृगुने दखा कि इनमे क्रोध आदिका प्रवेश है, अत वे वहाँसे लौट आये और महादेवके पास जा पहुँचे, किंतु वहाँ भी महर्षि भृगुको सतोष न हुआ। अब वे विष्णुके पास गये। देखा कि भगवान् नारायण शेपशय्यापर शयन कर रहे हैं और माता लक्ष्मी उनकी चरणसवामे निरत ह। नि शक भावसे भगवान्‌के समीप जाकर महामुनिने उनके वक्ष स्थलपर तीव्र वेगसे लात मारी, पर यह क्या ? भगवान् जाग पडे और मुसकराने लगे। भृगुजीने देखा कि यह तो क्रोधका अवसर था, परीक्षाके लिये मैने ऐसे दारुण कर्म किया था, लेकिन यहाँ ता कुछ भी असर नहीं है। भगवान् नारायणने प्रसन्नतापूर्वक मुनिको प्रणाम किया आर उनके चरणको धीरे-धीरे अपना मधुर स्पर्श देते हुए वे कहने लगे—'मुनिवर। कहीं आपके पैरम चोट ता नहीं लगी ? ब्राह्मणदेवता आपने मुझपर बडी कृपा की। आज आपका यह चरण-चिह्न मरे वक्ष स्थलपर सदाक लिये अकित हो जायगा।' भगवान् विष्णुकी ऐसी विशाल सहृदयता देखकर भृगुजीने यह निश्चय किया कि देवाके देव देवेन्द्र नारायण ही है।

ये महर्षि भृगु ब्रह्माजीक नो मानस पुत्रामे अन्यतम हैं। एक प्रजापति भी हैं और सप्तर्षियोम इनकी गणना ह। सुप्रसिद्ध महर्षि च्यवन इन्हींके पुत्र हे। प्रजापति दक्षकी कन्या ख्यातिदेवीको महर्षि भृगुने पत्नीरूपमे स्वीकार किया, जिनसे इनकी पुत्र-पौत्र परम्पराका विस्तार हुआ। महर्षि भृगुके वशज 'भार्गव' कहलाते है। महर्षि भृगु तथा उनके वशधर अनेक मन्त्राके दृष्टा ह। ऋग्वेद (५। ३१। ८)-म उल्लेख आया है कि कवि उशना (शुक्राचार्य) भार्गव कहलाते हैं। कवि उशना भी वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेदके नवम मण्डलके ४७ से ४९ तथा ७५से ७९ तकके सूक्तोके ऋषि भृगुपुत्र उशना हा है। इसी प्रकार भार्गव वेन, सोमाहुति, स्यूमरश्मि, भार्गव, आर्वि आदि भृगुवशी ऋषि अनेक मन्त्राके द्रष्टा ऋषि ह। ऋग्वेदमे पूर्वोक्त वर्णित महर्षि भृगुकी कथा तो प्राप्त नहीं होती, किंतु इनका तथा इनके वशधराका मन्त्रद्रष्टा ऋषियाके रूपम ख्यापन हुआ है। यह सब महर्षि भृगुकी महिमाका ही विस्तार है।

~~~~

महर्षि कण्व

देवी शकुन्तलाके धर्मपिताके रूपमे महर्षि कण्वकी अत्यन्त प्रसिद्धि है। महाकवि कालिदासने अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' म महर्षिके तपावन, उनके आश्रम-प्रदेश तथा उनका जो धर्माचारपरायण उज्ज्वल एव उदात्त चरित प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। उनके मुखसे एक भारतीय कथाके लिये विवाहके समय जो शिक्षा निकली है, वह उत्तम गृहिणीका आदर्श बन गयी[1]। वेदम ये बात ता वर्णित नहीं हे, पर इनक उत्तम ज्ञान, तपस्या, मन्त्रज्ञान, अध्यात्मशक्ति आदिका आभास प्राप्त होता है। १०३ सूक्तवाले ऋग्वेदके आठवे मण्डलके अधिकाश मन्त्र महर्षि कण्व तथा उनके वशजों तथा गोत्रजोंद्वारा दृष्ट हैं। कुछ सूक्ताके अन्य भी द्रष्टा ऋषि हे, किंतु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार महर्षि कण्व अष्टम मण्डलके द्रष्टा ऋषि कहे गये हैं। ऋग्वेदके साथ ही शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिन तथा काण्व—इन दा शाखाआमसे द्वितीय 'काण्वसहिता' के वक्ता भी महर्षि कण्व ही हैं। उन्हींक नामसे इस सहिताका नाम 'काण्वसहिता' हा गया। ऋग्वद (१। ३६। १०-११)-मे इन्ह अतिथि-प्रिय कहा गया है। इनक ऊपर अश्विद्वयकी कृपाकी बात अनेक जगह आयी हें और यह भी बताया गया हे कि कण्व-पुत्र तथा इनके वशधर प्रसिद्ध याज्ञिक थे (ऋक्० ८। १। ८) तथा वे इन्द्रके भक्त थे। ऋग्वदके ८व मण्डलके चौथे सूक्तमे कण्व-गोत्रज दवातिथि ऋषि ह, जिन्हाने सौभाग्यशाली कुरुङ्ग नामक राजासे ६० हजार गाय दानमें प्राप्त की थीं।[2]

१-महर्षि कण्व शकुन्तलाका विदाईक समय कहत हैं—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीप गम।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्यष्वनुत्सेकिनी यान्त्येव गृहिणीपद युवतयो वामा कुलस्याधय ॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४। १८)

२-धीभि सातानि काण्वस्य वाजिन प्रियमेधैरभिद्युभि। षष्टिं सहस्रानु निर्मजामजे निर्यूथानि गवामृषि ॥ (ऋक्० ८। ४। २०)
~~~~

जो राजा ६०-६० हजार गाय एक साथ दान कर सकता है, उसके पास कितनी गाय होंगी?

इस प्रकार ऋग्वेदका अष्टम मण्डल कण्ववशीय ऋषियाकी देवस्तुतिम उपनिवद्ध है। महर्षि कण्वने एक स्मृतिकी भी रचना की है, जो 'कण्वस्मृति' के नामसे विख्यात है।

अष्टम मण्डलम ११ सूक्त ऐसे हैं, जो 'बालखिल्य-सूक्त' के नामसे विख्यात है। देवस्तुतियाके साथ ही इस मण्डलमे ऋषिद्वारा दृष्टमन्त्रोमे लौकिक ज्ञान-विज्ञान तथा अनिष्ट-निवारण सम्बन्धी उपयागी मन्त्र भी प्राप्त होत हैं। उदाहरणके लिये 'यत् इन्द्र मपामहे०' (८।६१।१३)— इस मन्त्रका दु स्वप्र-निवारण तथा कपोलशक्तिके लिये पाठ किया जाता है। सूक्तकी महिमाके अनेक मन्त्र इसम आये है (८।९७।५)। गौकी सुन्दर स्तुति है, जा अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऋषि गो-प्रार्थनाम उसकी महिमाके विषयम कहते है—

माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि ।
प्र नु वोच चिकितुपे जनाय मा गामनागामदिति वधिष्ट॥

(ऋक्० ८। १०१। १५)

गो रुद्राकी माता, वसुआकी पुत्री, अदितिपुत्राकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है, प्रत्येक विचारशाल पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एव अवध्य गौका वध न करा।

महर्षि याज्ञवल्क्य

वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषिया तथा उपदेष्टा आचार्योम महर्षि याज्ञवल्क्यका स्थान सर्वोपरि है। ये महान् अध्यात्म-वत्ता, योगी, ज्ञानी, धर्मात्मा तथा श्रीरामकथाके मुख्य प्रवक्ता हैं। भगवान् सूर्यकी प्रत्यक्ष कृपा इन्ह प्राप्त थी। पुराणाम इन्ह ब्रह्माजीका अवतार बताया गया है। श्रीमद्भागवत (१२।६।६४)-म आया हे कि ये देवरातके पुत्र हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्यक द्वारा वैदिक मन्त्राको प्राप्त करनेकी रोचक कथा पुराणाम प्राप्त होती है, तदनुसार याज्ञवल्क्य वेदाचार्य महर्षि वेशम्पायनके शिष्य थे। इन्हींस उन्ह मन्त्रशक्ति तथा वेदज्ञान प्राप्त हुआ। वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्यसे बहुत स्नेह रखत थे और इनकी भी गुरुजीम अनन्य श्रद्धा एव सेवा-निष्ठा थी किंतु दैवयागसे एक बार गुरुजीसे इनका कुछ विवाद हो गया जिससे गुरुजी रुष्ट हो गये और कहने लगे—'मने तुम्ह यजुर्वेदके जिन मन्त्राका उपदेश दिया है उन्ह तुम उगल दा।' गुरुकी आज्ञा थी मानना ता था ही। निराश हा याज्ञवल्क्यजीने सारी वेदमन्त्र-विद्या मूर्तरूपम उगल दी जिन्ह वैशम्पायनजीक दूसर अन्य शिष्यान तित्तिर (तीतर पक्षी) बनकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लिया अथात् वे वदमन्त्र उन्ह प्राप्त हा गये। यजुर्वेदकी वही शाखा जा तीतर बनकर ग्रहण की गयी थी 'तैत्तिराय शाखा' क नामस प्रसिद्ध हुइ।

याज्ञवल्क्यजी अब वेदज्ञानसे शून्य हो गये थे, गुरुजी भी रुष्ट थे अब वे क्या कर? तब उन्होने प्रत्यक्ष देव भगवान् सूर्यनारायणकी शरण ली और उनसे प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हे प्रभो! मुझे ऐसे यजुर्वेदकी प्राप्ति हा, जो अबतक किसीको न मिली हो—

'अहमयातयामयजु काम उपसरामीति'॥

(श्रीमद्भा० १२।६।७२)

भगवान् सूर्यने प्रसन्न हा उन्ह दर्शन दिया और अश्वरूप धारण कर यजुर्वेदके उन मन्त्राका उपदेश दिया, जो अभी तक किसीका प्राप्त नहीं हुए थे—

एव स्तुत स भगवान् वाजिरूपधरो हरि ।
यजूष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादित ॥

(श्रीमद्भा० १२।६।७३)

अश्वरूप सूर्यसे प्राप्त हानक कारण शुक्लयजुर्वेदकी एक शाखा 'वाजसनय' आर मध्य दिनक समय प्राप्त होनस 'माध्यन्दिन' शाखाक नामसे प्रसिद्ध हो गयी। इस शुक्लयजुर्वेदसहिताके मुख्य मन्त्रद्रष्टा ऋषि आचार्य याज्ञवल्क्य हैं।

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद हम महर्षि याज्ञवल्क्यजीने ही दिया है। इस सहिताम चालीस अध्याय हैं। आज प्राय अधिकाश लाग इस वदशाखासे हा सम्बद्ध हैं और सभी

पूजा, अनुष्ठानो, सस्कारो आदिमे इसी सहिताके मन्त्र विनियुक्त होते हैं। रुद्राष्टाध्यायी नामसे जिन मन्त्रोद्वारा भगवान् रुद्र (सदाशिव)-की आराधना होती है, वे इसी सहिताम विद्यमान हैं। इस प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्यजीका लोकपर महान् उपकार है।

इतना ही नहीं, इस सहिताका जो ब्राह्मणभाग 'शतपथब्राह्मण' के नामसे प्रसिद्ध है और जो 'बृहदारण्यक उपनिषद्' है, वह भी महर्षि याज्ञवल्क्यद्वारा ही हमे प्राप्त ह। गार्गी, मैत्रेयी और कात्यायनी आदि ब्रह्मवादिनी नारियासे जो इनका ज्ञान-विज्ञान एव ब्रह्मतत्त्व-सम्बन्धी शास्त्रार्थ हुआ, वह भी प्रसिद्ध ही है। विदेहराज जनक-जैसे अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताओके ये गुरुपद्भाक् रहे हैं। इन्होने प्रयागमे भरद्वाजजीको श्रीरामचरितमानस सुनाया। साथ ही इनके द्वारा एक महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्रका प्रणयन हुआ है, जो 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के नामसे प्रसिद्ध है, जिसपर मिताक्षरा आदि प्रौढ सस्कृत-टीकाएँ हुई हैं।

महर्षि अगस्त्य

ब्रह्मतेजके मूर्तिमान् स्वरूप महामुनि अगस्त्यजीका पावन चरित्र अत्यन्त उदात्त तथा दिव्य है। वेदाम इनका वर्णन आया है। ऋग्वेदका कथन है कि मित्र तथा वरुण नामक देवताआका अमोघ तेज एक दिव्य यज्ञियकलशम पुञ्जीभूत हुआ और उसी कलशके मध्यभागसे दिव्य तेज सम्पन्न महर्षि अगस्त्यका प्रादुर्भाव हुआ[१]। पुराणाम यह कथा आयी है कि महर्षि अगस्त्य (पुलस्त्य)-की पत्नी महान् पतिव्रता तथा श्रीविद्याकी आचार्य हैं, जो 'लापामुद्रा' के नामसे विख्यात हैं। आगम-ग्रन्थांमे इन दम्पत्तिकी देवी-साधनाका विस्तारसे वर्णन आया है।

महर्षि अगस्त्य महातेजा तथा महातपा ऋषि थे। समुद्रस्थ राक्षसाके अत्याचारस घबराकर देवता लोग इनकी शरणमे गये और अपना दु ख कह सुनाया। फल यह हुआ कि ये सारा समुद्र पी गये, जिससे सभी राक्षसाका विनाश हा गया। इसी प्रकार इल्वल तथा वातापी नामक दुष्ट दैत्याद्वारा हो रह ऋषि-सहारका इन्होने बद किया आर लोकका महान् कल्याण हुआ।

एक बार विन्ध्याचल सूर्यका मार्ग रोककर खडा हो गया, जिससे सूर्यका आवागमन ही बद हो गया। सूर्य इनकी शरणमे आये तब इन्हाने विन्ध्य पर्वतको स्थिर कर दिया और कहा—'जबतक मैं दक्षिण देशस न लौटूँ, तबतक तुम ऐसे ही निम्न बनकर रुके रहो।' हुआ ऐसा ही है। विन्ध्याचल नीचे हो गया, फिर अगस्त्यजी लौटे नहीं, अत विन्ध्य पर्वत उसी प्रकार निम्न रूपम स्थिर रह गया और भगवान् सूर्यका सदाके लिये मार्ग प्रशस्त हो गया।

इस प्रकारके अनेक असम्भव कार्य महर्षि अगस्त्यने अपनी मन्त्रशक्तिसे सहज ही कर दिखाया और लागोंका कल्याण किया। भगवान् श्रीराम वनगमनके समय इनके आश्रमपर पधारे थे। भगवान्ने उनका ऋषि-जीवन कृतार्थ किया। भक्तिकी प्रेममूर्ति महामुनि सुतीक्ष्ण इन्ही अगस्त्यजीके शिष्य थे। अगस्त्यसहिता आदि अनेक ग्रन्थाका इन्हाने प्रणयन किया ,जो तान्त्रिक साधकाके लिये महान् उपादेय है।

सबसे महत्त्वकी बात यह है कि महर्षि अगस्त्यने अपनी तपस्यासे अनेक ऋचाआके स्वरूपाका दर्शन किया था, इसीलिये ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाते ह। ऋग्वेदके अनेक मन्त्र इनके द्वारा दृष्ट हैं। ऋग्वेदक प्रथम मण्डलके १६५ सूक्तसे १९१ तकके सूक्ताके द्रष्टा ऋषि महर्षि अगस्त्यजी हैं। साथ ही इनके पुत्र दृढच्युत तथा दृढच्युतके पुत्र इध्मवाह भी नवम मण्डलके २५व तथा २६वे सूक्तके द्रष्टा ऋषि हैं। महर्षि अगस्त्य और लापामुद्रा आज भी पूज्य और वन्द्य हैं, नक्षत्र-मण्डलम ये विद्यमान हैं। दूर्वाष्टमी आदि व्रतोपवासामे इन दम्पतिकी आराधना-उपासना की जाती है।

१- सत्रे ह जाताविषिता नमाभि कुभे रेत सिषिचतु समानम्। तता ह मान उदियाय मध्यात् तता ज्ञातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥

इस ऋचाके भाष्यमे आचार्य सायणन लिखा है—'तता वासतीवरात् कुभात् मध्यात् अगस्त्या शमीप्रमाण उदियाप प्रादुर्बभूव। तत एव कुभाद्वसिष्ठमप्यृषि जातमाहु ॥

इस प्रकार कुभसे अगस्त्य तथा महर्षि वसिष्ठका प्रादुर्भाव हुआ।

मन्त्रद्रष्टा महर्षि वसिष्ठ

वैदिक मन्त्रद्रष्टा आचार्योंमे महर्षि वसिष्ठका स्थान सर्वोपरि है। ऋग्वेदका सप्तम मण्डल 'वासिष्ठ-मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलके मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि महर्षि वसिष्ठजी ही हैं। ये ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं तथा मित्रावरुणके तेजसे इनके आविर्भूत होनेकी कथाएँ पुराणोंमे प्राप्त हैं। इनकी पत्नी देवी अरुन्धती महान् पतिव्रता हैं। सप्तर्षिमण्डलमे महर्षि वसिष्ठके साथ देवी अरुन्धती भी विद्यमान रहती हैं। इनका योगवासिष्ठ ग्रन्थ अध्यात्मज्ञानका मुख्य ग्रन्थ है। महर्षि वसिष्ठकी मन्त्रशक्ति, योगशक्ति, दिव्यज्ञानशक्ति तथा तपस्याकी कोई इयत्ता नहीं। ये क्षमा-धर्मके आदर्श विग्रह हैं। इनका उदात्त दिव्य चरित्र परम पवित्र है।[१]
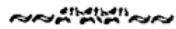
महर्षि अंगिरा

पुराणोंमे बताया गया है कि महर्षि अंगिरा ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं तथा ये गुणोंमे ब्रह्माजीके ही समान हैं। इन्हें प्रजापति भी कहा गया है और सप्तर्षियोंमे वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा मरीचि आदिके साथ इनका भी परिगणन हुआ है। इनके दिव्य अध्यात्मज्ञान योगबल तप साधना एवं मन्त्रशक्तिकी विशेष प्रतिष्ठा है। इनकी पत्नी दक्षप्रजापतिकी पुत्री स्मृति (मतान्तरसे श्रद्धा) थीं, जिनसे इनके वंशका विस्तार हुआ।

इनकी तपस्या और उपासना इतनी तीव्र थी कि इनका तेज और प्रभाव अग्निकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया। उस समय अग्निदेव भी जलमें रहकर तपस्या कर रहे थे। जब उन्होंने देखा कि अंगिराके तपोबलके सामने मेरी तपस्या और प्रतिष्ठा तुच्छ हो रही है तो वे दुःखी हो अंगिराके पास गये और कहने लगे—'आप प्रथम अग्नि हैं मैं आपके तेजकी तुलनामें अपेक्षाकृत न्यून होनेसे द्वितीय अग्नि हूँ। मेरा तेज आपके सामने फीका पड़ गया है अब मुझे कोई अग्नि नहीं कहेगा।' तब महर्षि अंगिराने सम्मान-पूर्वक उन्हें देवताओंको हवि पहुँचानेका कार्य सौंपा। साथ ही पुत्ररूपमें अग्निका वरण किया। तत्पश्चात् वे अग्निदेव ही बृहस्पति-नामसे अंगिराके पुत्ररूपमें प्रसिद्ध हुए। उतथ्य तथा महर्षि संवर्त भी इन्हींके पुत्र हैं। महर्षि अंगिराकी विशेष महिमा है। ये मन्त्रद्रष्टा, योगी, संत तथा महान् भक्त हैं। इनकी 'अंगिरा-स्मृति' में सुन्दर उपदेश तथा धर्माचरणकी शिक्षा व्याप्त है।

सम्पूर्ण ऋग्वेदमें महर्षि अंगिरा तथा उनके वंशधरों तथा शिष्य-प्रशिष्योंका जितना उल्लेख है, उतना अन्य किसी ऋषिके सम्बन्धमें नहीं है। विद्वानोंका यह अभिमत है कि महर्षि अंगिरासे सम्बन्धित वेश और गोत्रकार ऋषि ऋग्वेदके नवम मण्डलके द्रष्टा हैं। नवम मण्डलके साथ ही ये आंगिरस ऋषि प्रथम द्वितीय, तृतीय आदि अनेक मण्डलोंके तथा कतिपय सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि हैं। जिनमेंसे महर्षि कुत्स, हिरण्यस्तूप सप्तगु, नृमेध, शकपूत प्रियमेध, सिन्धुसित्, वातहव्य अभीवर्त, आङ्गिरस संवर्त तथा हविर्धान आदि मुख्य हैं।

ऋग्वेदका नवम मण्डल जो ११४ सूक्तोंमें उपनिबद्ध है 'पवमान-मण्डल' के नामसे विख्यात है। इसकी ऋचाएँ पावमानी ऋचाएँ कहलाती हैं। इन ऋचाओंमें सोम देवताकी महिमापरक स्तुतियाँ हैं जिनमें यह बताया गया है कि इन पावमानी ऋचाओंके पाठसे सोम देवताओंका आप्यायन होता है।

१-महर्षि वसिष्ठका विशेष विवरण इस विशेषाङ्कके पृष्ठ-संख्या २१ पर दिया गया है। विशेष जानकारीके लिये वहाँ अवलोकन करना चाहिये। यहाँ प्रसंगोपात्त क्रममें उल्लेखमात्र किया गया है।
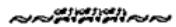
महाशाल महर्षि शौनकका वैदिक वाङ्मयमें विनय एवं स्वाध्यायपूर्ण चारित्र्य

(प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

शुभ चरित्रके लिये चारित्र्यज्ञान आवश्यक है। महर्षि शौनक इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। मुण्डकोपनिषद् (१।१।३) तथा परब्रह्मोपनिषद् (१।१) आदिमे इन्हे महाशाल-विश्वविद्यालय आदिका सचालक या कुलपति कहा गया है।[1] भागवत (१।४।१)-मे इनका बार-बार उल्लेख आया है। वहाँ इन्हे कुलपतिके साथ 'बह्वृच' (ऋग्वेदाचार्य) भी कहा गया है—

वृद्ध कुलपति सूत बह्वृच शौनकोऽब्रवीत्।[2]

ब्रह्मपुराण (११।३४) विष्णुपुराण (४।८।६), हरिवशपुराण (१।३१) एव वायुपुराण (२।३०।३-४)-के अनुसार ये महर्षि गृत्समदके पुत्र हैं एव चातुर्वर्ण्यके विशेष प्रवर्तक हुए हैं। भागवत, महाभारत आदिमे जो इन्हे 'बह्वृच' कहा गया है, उससे इनका ऋग्वेदका आचार्यत्व तथा उसके व्याख्यानसे विशेष सम्बन्ध दीखता है। इन्होने उसकी शाकल एव बाष्कल शाखाओको परिष्कृत रूप भी दिया और ये अथर्ववेदके द्रष्टा भी हैं, अत उसकी मुख्य सहिताको शौनकसहिता कहते है। ऋग्वेदके दूसरे मण्डलके द्रष्टा भी ये ही हैं। ऋष्यनुक्रमणी तथा ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलमे सर्वत्र इन्हे पहले आङ्गिरस और बादमे भार्गव होना कहा है।[3] इनके नामसे रचित ग्रन्थ बहुसख्यक हैं—ऋक्प्रातिशाख्य, चरणव्यूह, बृहद्देवता, अथर्ववेदके ७२ परिशिष्ट छन्दोऽनुक्रमणी, ऋष्यनुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी आदि वेदोके विस्तृत ऋग्विधान, सामविधान, यजुर्विधान, शौनकस्मृति, आयुष्यहोम उदकशान्ति, सन्यासविधि, स्वराष्टक आदि ग्रन्थ तथा बृहत्सर्वानुक्रमणी, पादविधान, चरणव्यूह, शौनकस्मृति आदि भी इन्हीकी रचनाएँ हैं। अथर्वप्रातिशाख्यका तो दूसरा नाम ही शौनकीय चातुराध्यायिका है। पुरुषसूक्तपर इनका ही भाष्य सर्वोत्तम मान्य है (द्रष्टव्य, वाजसनेयिसहिता ३१।१ का उवटभाष्य)।

मत्स्यपुराणके अनुसार वास्तुशास्त्रके भी ये ही प्रमुख प्रणेता हैं। शौनकगृह्यसूत्र एव परिशिष्टसूत्र भी इन्हीकी रचनाएँ है। आश्वलायन इन्हे अपने गृह्यसूत्र (४।९।४५)-के अन्तमे दो बार—'नम शौनकाय नम शौनकाय' कहकर गुरुरूपमे स्मरण करते है। 'वशब्राह्मण' इन्हे कात्यायनका भी गुरु बतलाता है। इसके अतिरिक्त शौनकीयकल्प, शौनकीयशिक्षा आदि भी इनके ग्रन्थ है। इनके सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

पाणिनिसूत्र[4] 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (४।३।१०६)-की काशिकावृत्तिमे एक 'शौनकीयशिक्षा' का भी उल्लेख है और इनके द्वारा उक्त शाखासूत्रोके अध्ययन करनेवालोके लिये 'वाजसनयिन ' की तरह 'शौनकिन ' पद कहनेकी बात कही गयी है। इस गणमे वाजसनेय, कठ, तलवकार आदि १५ शब्दोको पीछे रखकर शौनककी विशेष महिमा दिखायी गया है। 'विकृतिकौमुदी'[5] तथा षड्गुरुशिष्यद्वारा बृहत्सर्वानुक्रमणी वृत्तिमे इनकी विस्तृत चर्चा है। ये शतपथब्राह्मण बृहदारण्यक एव गोपथ आदिमे सर्वत्र शास्त्रार्थजयी होते है। व्याडिको

१—मुनीनां दशसाहस्र योऽन्नपानादिना भरेत् । अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपति स्मृत ॥ (पद्मपु० कूर्मपुराण)

२—महाभारत (१।१।१)-मे भी ऐसा ही कहा है—शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे।

३—य आङ्गिरस शौनहोत्रो भूत्वा भार्गव शौनकोऽभवत् द्वितीय मण्डलमपश्यत्। (ऋग्वेदीय सायणभाष्य-भूमिका)
पुराणोमें भी— शुनहोत्रस्य दायादास्त्रय परमधार्मिका । पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनक ॥ (ब्रह्मपु० ११।३२-३३ ब्रह्माण्ड० २।६७) ऐसा ही कहा गया है।

४—पाणिनीय अष्टाध्यायी (४।१।१०४)-के विदादिगण मे शुनक पाठ है। उससे गोत्रापत्यमे शौनक शब्द बनता है इस प्रकार शुनक इनका गोत्र मानना चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषद् (शा० भा० ४।३।५)-मे ये कपिगोत्रज हैं। पाणिनि (८।१।१०२ ३।१०६) आदि प्राय सभी ऋषिगणोमे इनका उल्लेख है।

५—यह 'विकृतिवल्ली' की गङ्गाधरभट्टरचित टीका है।

इनका प्रधान शिष्य कहा गया है। व्याकरण महाभाष्य (१। २। ६४, ६। २। २९)-के अनुसार व्याडिने लक्षश्लोकीय 'संग्रह' नामक व्याकरण-ग्रन्थकी रचना की थी। इन्होंने—'गणानां त्वा०' मन्त्रमें सत्य, वेद और जगत्के स्वामी होनेसे 'ब्रह्मणस्पति-बृहस्पति' का यथानाम तथा-गुणकी चरितार्थता मानी है— 'ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्। पातार ब्रह्मणस्तेन बृहस्पतिरितीरित ' (बृहद्देवता २। ३९-४० तथा निरुक्त १०। १। १२)।

भागवतमें शतानीकको याज्ञवल्क्यका शिष्य कहा गया है। उन्होंने तीनों वेदोंका ज्ञान याज्ञवल्क्यसे प्राप्त किया था, किंतु कर्मकाण्ड एवं शास्त्रका ज्ञान महर्षि शौनकसे ही प्राप्त किया था। इससे इनके दीर्घजीवित्व एवं धनुर्विद्यादिक पाण्डित्यका भी परिचय मिलता है—

तस्य पुत्र शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयी पठन्।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति॥

(श्रीमद्भा० ९। २२। ३८)

इतना होनेपर भी आचार्य शौनककी विनयपूर्ण चरित्रशीलता एवं जिज्ञासा देखते बनती है। इसीलिये 'प्रपन्नगीता' में ये द्वादशमहाभागवतोंमें भी ८वीं संख्यापर परिगणित हैं। ये १८ पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत आदिको उग्रश्रवा लोमहर्षणादिसे श्रवण करते हैं। अट्ठारह पुराणोंमें उनके प्रश्न, उनकी भगवद्भक्ति आदि अद्भुत हैं। भागवतमें वे कहते हैं कि यदि भगवच्चर्चासे अथवा भक्तोंकी चर्चासे युक्त हो, तभी आप यह कथा कहें, अन्य बातोंसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि उसमें आयुका व्यर्थ अपव्यय होता है—

तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्॥
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः॥

(श्रीमद्भा० १। १६। ५-६)

वे श्रीभगवान्की कथा-श्रवण-कीर्तनसे रहित कान-मुँह-जीभको साँपका बिल और मेढककी जीभ कहते हैं (श्रीमद्भा० २। ३। २०)। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥

—आदिमें इन्हींके भाव दिये हैं। वैसे ये नैमिषारण्यवासी ८८ हजार ऋषियोंके नेता या कुलपति थे। यह बात सत्यनारायण-कथासे लेकर सभी पुराणोंमें बार-बार आती है। भविष्यपुराणमें ये सभी ८८ हजार ऋषियोंको लेकर 'म्लेच्छाक्रान्त नैमिषारण्य'को छोड़कर बदरिकाश्रममें जाकर कथाश्रवणका प्रबन्ध करते दीखते हैं। इस प्रकार स्वाध्यायचरित्रशील होनेके साथ ये बड़े विनयी, सभी देवताओंके उपासक तथा विष्णुभक्त भी रहे हैं। 'बृहद्देवता' के ध्यानपूर्वक अवलोकन-आलोचन करनेसे इनके कठोर तप, ब्रह्मचर्य एवं विशाल वैदिक ज्ञानका परिचय मिलता है।

पुराणों, धर्मशास्त्रों आदिके समान वैदिक ग्रन्थ भी असंख्य हैं। परंतु चारित्र्यके अनुष्ठानके लिये इनका अधिकाधिक स्वाध्याय ज्ञानार्थ आवश्यक है। यहाँ केवल शौनकरचित ग्रन्थोंका निर्देश हुआ है। याज्ञवल्क्य, व्यास, कात्यायन, जैमिनि, भारद्वाज विश्वामित्र आदिके भी ग्रन्थ इसी प्रकार असंख्य हैं। बृहद्देवताको देखनेसे स्पष्ट होता है कि शौनकने इन सभी-के-सभी ग्रन्थों अनेक व्याकरणों तथा अनेक निरुक्तोंका भी अवलोकन कर इसकी रचना की थी। महाभारत वनपर्वके दूसरे अध्यायमें इन्हें सांख्ययोग-कुशल भी कहा गया है। वहाँके इनके चरित्र-सम्बन्धी उपदेश बड़े ही सुन्दर हैं। वहाँ ये युधिष्ठिरसे कहते हैं कि आसक्तिके कारण दुःख, भय, आयास, शोक-हर्ष सभी उपद्रव आ घेरते हैं। अतः रागको छोड़ विरक्त बनना चाहिये रागसे तृष्णा उत्पन्न होकर प्राणान्तक रोग बन जाती है। अर्थ भी घोर अनर्थकारी है। उसमें दर्प, अनीति कार्पण्य आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं, अतः तृष्णादिका त्याग करके संतोषका आश्रय लेना चाहिये। इसीमें परम सुख है—

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः॥

(महा० ३। २। ४६)

प्रायः ये ही बातें योगवासिष्ठ भागवत, स्कन्दपुराण (माहेश्वरखण्डके कुमारिकाखण्ड)-में कही गयी हैं।

वस्तुतः इन शौनक, जैमिनि, व्यासादि ऋषियोंने स्वाध्यायादिके द्वारा लोकरक्षा, धर्मरक्षा, सदाचार एवं चरित्ररक्षाके लिये अपना सारा जीवन ही लगा दिया था। यही आज भी हमारे लिये अवश्यानुष्ठेय-कर्तव्य है।

वैदिक ऋषिकाएँ

(१)
वैदिक ऋषिका देवसम्राज्ञी शची

शची देवराज इन्द्रकी पत्नी हैं। ये भी भगवती आद्याशक्तिकी एक कला मानी गयी हैं। ये स्वयवरकी अधिष्ठात्री देवी हैं। प्राचीन कालमे जब कहीं स्वयवर होता था तो पहले शचीका आवाहन और विधिवत् पूजन कर लिया जाता था, जिससे स्वयवर-सभाम कोई विघ्न या बाधा पडनेकी सम्भावना अथवा उत्पात, कलह और किसी प्रकारके उपद्रव आदिकी आशका नहीं रहती थी। ऋग्वेदम कई ऐसे सूक्त मिलते है, जो शचीद्वारा प्रकाशमे लाय गये बतलाये जाते हैं। वे सपत्नियोपर प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये अनुष्ठानोपयोगी मन्त्र हैं। शचीदेवी पतिव्रता स्त्रियाम श्रेष्ठ मानी गयी हैं। वे भोग-विलासमय स्वर्गकी रानी होकर भी सतीत्वकी साधनाम सलग्न रहती हैं। उनके मनपर पतिके विलासी जीवनका विपरीत प्रभाव नहीं पडता। वे अपनी ओर देखती हैं और अपनेको सती-साध्वी देवियोके पुण्य-पथपर अग्रसर करती रहती हैं। उनके सर्वस्व देवराज इन्द्र ही हैं। इन्द्रके सिवा दूसरे किसी पुरुषको, भले ही वह इन्द्रसे भी ऊँचे पदपर क्या न प्रतिष्ठित हो, अपने लिये कभी आदर नहीं देतीं।

रत्न किसी अयोग्य स्थानम पडा हो तो भी रत्न ही है। इससे उसके महत्त्वम कमी नहीं आती। शचीदवीका जन्म दानवकुलमे हुआ था, तथापि वे अपने त्याग-तपस्या और सयम आदि सद्गुणासे देवताओकी भी वन्दनीया हो गयीं। शचीके पिताका नाम था पुलोमा। वह दानव-कुलका सम्मानित वीर था। उसीके नामपर शचीको 'पौलोमी' और 'पुलोमजा' भी कहते हैं। बाल्यकालम शचीने भगवान् शकरको प्रसन्न करनेक लिय घोर तपस्या की थी और उन्हींके वरदानसे वे देवराजकी प्रियतमा पत्नी तथा स्वगलोककी रानी हुईं। शचीका जीवन बडे सुखसे बीतन लगा। इसी प्रकार कई युग बीत गय। देहधारी प्राणी स्वर्गक दवता हा या मर्त्यलोकके मनुष्य उनके जीवनम कभी-कभी दु खका अवसर भी उपस्थित हो ही जाता है। यह दु ख प्राणियाक लिये एक चतावनी होता है। सुखी जीवन प्रमादी हा जाता है। दु खी प्राणी ही सजग रहते हैं। उन्हे अपनी भूला आर त्रुटियाको सुधारनेका अवसर मिलता है। सबसे बडी बात यह है कि दु खम ही भगवान् याद आते हे ओर दु खम ही धर्मका महत्त्व समझमे आता है। शचीक जीवनम भी एक समय ऐसा आया, जबकि उन्ह सतीत्वकी अग्निपरीक्षा देनी पडी तथा गर्वके साथ कहना पडता है कि शचीने अपने गौरवके अनुरूप ही कार्य करके धैर्य और साहसपूर्वक प्राणोसे भी अधिक प्रिय सतीत्वकी रक्षा की।

देवराज इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र भगवद्भक्त वृत्रासुरका वध कर दिया। इस अन्यायके कारण इन्द्रकी सर्वत्र निन्दा हुई। उनपर भयानक ब्रह्महत्याका आक्रमण हुआ। उसस बचनेक लिये वे मानसरोवरके जलम जाकर छिप गये। स्वर्गको इन्द्रसे शून्य देखकर देवताआको बडी चिन्ता हुई। तीना लोकामे अराजकता फेल गयी। अनेक प्रकारके उत्पात होने लगे। वर्षा बद हो गयी। नदियाँ सूख गयीं। पृथ्वी धन-वैभवसे रहित हो गयी। इन सारी बातोपर विचार करके देवताआने भूतलसे राजा नहुपको बुलाया और उन्ह इन्द्रके पदपर स्थापित कर दिया। नहुप धर्मात्मा तो थे ही, सौ यज्ञाका अनुष्ठान करके इन्द्रपदके अधिकारी भी हो गय थे, किंतु धर्मात्मा होनेपर भी नहुप इन्द्रपद पानेके बाद अपनेको राजमदसे मुक्त न रख सके। वे विपयभोगामे आसक्त हो गये। उन्हाने शचीक रूप-लावण्य आदि गुणाकी चर्चा सुनी तो उनकी प्राप्तिके लिये भी वे चिन्तित हा उठे। शचीका जब इसका पता लगा तो वे गुरु बृहस्पतिकी शरणम गयीं। बृहस्पतिने उनका आश्वासन देते हुए कहा—'बटी! विश्वास रखा, मैं सनातनधर्मका त्याग करके तुम्ह नहुपक हाथम कभी नहीं पडने दूँगा। जा शरणम आये हुए आर्तजनाकी रक्षा नहीं करता, वह एक कल्पतक नरकम पडा रहता ह। तुम चिन्ता न करा। किसी भी अवस्थाम मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा।'

नहुपने सुना, इन्द्राणा बृहस्पतिक शरणम गया ह। बृहस्पतिने उसे अपन घरम छिपा रखा ह। तब उसे बडा क्रोध हुआ। उसन दवताआस कहा—'यदि बृहस्पति मर

इनका प्रधान शिष्य कहा गया ह। व्याकरण महाभाष्य (१। २। ६४, ६। २। २९)-के अनुसार व्याडिने लक्षश्लोकाय 'सग्रह' नामक व्याकरण-ग्रन्थकी रचना की थी। इन्होने—'गणाना त्वा०' मन्त्रम सत्य वद आर जगत्‌के स्वामी होनेसे 'ब्रह्मणस्पति-बृहस्पति' की यथानाम तथा-गुणकी चरितार्थता मानी ह— 'ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्य च ब्रह्म सर्वमिद जगत्। पातार ब्रह्मणस्तेन बृहस्पतिरितीरित ' (बृहद्देवता २। ३९-४० तथा निरुक्त १०। १। १२)।

भागवतमे शतानीकको याज्ञवल्क्यका शिष्य कहा गया हे। उन्हाने तीना वेदाका ज्ञान याज्ञवल्क्यस प्राप्त किया था, किंतु कर्मकाण्ड एव शास्त्रका ज्ञान महर्षि शानकस हा प्राप्त किया था। इससे इनके दीर्घजीवित्व एव धनुर्विद्यादिक पाण्डित्यका भी परिचय मिलता ह—

तस्य पुत्र शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रज्ञान क्रियाज्ञान शौनकात् परमेष्यति॥

(श्रीमद्भा० ९। २२। ३८)

इतना होनेपर भी आचार्य शानकको विनयपूण चरित्रशालता एव जिज्ञासा देखते बनती है। इसीलिय 'प्रपन्नगीता' म य द्वादशमहाभागवताम भी ८वीं सख्यापर परिगणित ह। ये १८ पुराण, उपपुराण तथा महाभारत आदिको उग्रश्रवा लामहर्षणादिस श्रवण करते हैं। अट्ठारह पुराणाम उनक प्रश्न उनकी भगवद्भक्ति आदि अद्भुत ह। भागवतम वे कहते ह कि यदि भगवच्चर्चासे अथवा भक्ताकी चर्चासे युक्त हा, तभी आप यह कथा कह, अन्य बातासे कोई लाभ नहा क्याकि उसम आयुका व्यर्थ अपव्यय हाता ह—

तत्कथ्यता महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्॥
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहा सताम्।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्यय ॥

(श्रीमद्भा० १। १६। ५-६)

वे श्रीभगवान्‌की कथा-श्रवण-कार्तनसे रहित कान-मुँह-जाभका साँपका बिल आर मढककी जीभ कहते ह (श्रीमद्भा० २। ३। २०)। गास्वामी तुलसीदासजीन भी—
जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
—आदिम इन्होंक भाव दिय ह। वैसे य नैमिषारण्यवासी ८८ हजार ऋषियाक नता या कुलपति थ। यह बात सत्यनारायण-कथासे लकर सभी पुराणाम बार-बार आती ह। भविष्यपुराणम य सभी ८८ हजार ऋषियाको लेकर 'म्लेच्छाक्रान्त नैमिषारण्य'का छाडकर बदरिकाश्रमम जाकर कथाश्रवणका प्रबन्ध करते दीखते हैं। इस प्रकार स्वाध्यायचरित्रशील हानके साथ ये बडे विनयी, सभी दवताआक उपासक तथा विष्णुभक्त भी रहे हैं। 'बृहद्दवता' के ध्यानपूवक अवलाकन-आलाचन करनेसे इनके कठार तप, ब्रह्मचर्य एव विशाल वैदिक ज्ञानका परिचय मिलता ह।

पुराणा, धमशास्त्रा आदिक समान वदिक ग्रन्थ भी असख्य हैं। परतु चारित्र्यक अनुष्ठानक लिय इनका अधिकाधिक स्वाध्याय ज्ञानाप्ति आवश्यक है। यहाँ कवल शौनकरचित ग्रन्थाका निर्देश हुआ ह। याज्ञवल्क्य व्यास, कात्यायन, जमिनि, भारद्वाज विश्वामित्र आदिक भी ग्रन्थ इसी प्रकार असख्य ह। बृहद्दवताका दखनस स्पष्ट होता है कि शौनकने इन सभी-क-सभी ग्रन्था, अनक व्याकरणा तथा अनेक निरुक्ताका भी अवलाकन कर इसकी रचना की थी। महाभारत वनपवक दूसरे अध्यायम इन्ह साख्ययोग-कुशल भी कहा गया ह। वहाँके इनक चरित्र-सम्बन्धी उपदश बडे ही सुन्दर ह। वहाँ य युधिष्ठिरसे कहत ह कि आसक्तिक कारण दु ख, भय, आयास शाक-हर्ष सभी उपद्रव आ घेरते ह। अत रागका छोड विरक्त बनना चाहिये, रागसे तृष्णा उत्पन्न हाकर प्राणान्तक रोग बन जाती हे। अर्थ भी घार अनर्थकारी हे। उसम दर्प, अनीति कार्पण्य आदि अनेक दाष प्रकट हाते हे, अत तृष्णादिका त्याग करके सतोषका आश्रय लेना चाहिय। इसीम परम सुख है—

अन्तो नास्ति पिपासाया सतोष परम सुखम्।
तस्मात् सतोषमेवेह पर पश्यन्ति पण्डिता ॥

(महा० ३। २। ४६)

प्राय य हा बात योगवासिष्ठ, भागवत स्कन्दपुराण (माहेश्वरखण्डके कुमारिकाखण्ड)-म कही गयी हैं।

वस्तुत इन शौनक जेमिनि, व्यासादि ऋषियाने स्वाध्यायादिके द्वारा लोकरक्षा धर्मरक्षा सदाचार एव चरित्ररक्षाक लिये अपना सारा जीवन ही लगा दिया था। यही आज भी हमार लिय अवश्यानुष्ठेय-कर्तव्य है।

वैदिक ऋषिकाएँ

(१)
वैदिक ऋषिका देवसम्राज्ञी शची

शची देवराज इन्द्रकी पत्नी हैं। ये भी भगवती आद्याशक्तिकी एक कला मानी गयी हैं। ये स्वयवरकी अधिष्ठात्री देवी हैं। प्राचीन कालमें जब कहीं स्वयवर होता था तो पहले शचीका आवाहन और विधिवत् पूजन कर लिया जाता था, जिससे स्वयवर-सभामे कोई विघ्न या बाधा पडनेकी सम्भावना अथवा उत्पात, कलह और किसी प्रकारके उपद्रव आदिकी आशका नहीं रहती थी। ऋग्वेदमे कई ऐसे सूक्त मिलते हैं, जो शचीद्वारा प्रकाशमे लाये गये बतलाये जाते हैं। वे सपत्नियोपर प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये अनुष्ठानोपयोगी मन्त्र हैं। शचीदेवी पतिव्रता स्त्रियाम श्रेष्ठ मानी गयी हैं। वे भोग-विलासमय स्वर्गकी रानी होकर भी सतीत्वकी साधनामे सलग्न रहती हैं। उनके मनपर पतिके विलासी जीवनका विपरीत प्रभाव नहीं पडता। वे अपनी ओर देखती हैं और अपनेको सती-साध्वी देवियाके पुण्य-पथपर अग्रसर करती रहती हैं। उनके सर्वस्व देवराज इन्द्र ही हैं। इन्द्रके सिवा दूसरे किसी पुरुषको, भले ही वह इन्द्रसे भी ऊँचे पदपर क्यो न प्रतिष्ठित हो, अपने लिये कभी आदर नहीं देतीं।

रत्न किसी अयोग्य स्थानमे पडा हो तो भी रत्न ही है। इससे उसके महत्त्वमे कमी नहीं आती। शचीदेवीका जन्म दानवकुलमे हुआ था, तथापि वे अपने त्याग-तपस्या और सयम आदि सद्गुणामे देवताओकी भी वन्दनीया हो गयीं। शचीके पिताका नाम था पुलोमा। वह दानव-कुलका सम्मानित वीर था। उसीके नामपर शचीको 'पौलोमी' और 'पुलोमजा' भी कहते हैं। बाल्यकालम शचीन भगवान् शकरको प्रसन्न करनेके लिये घोर तपस्या की थी और उन्हींके वरदानसे वे देवराजकी प्रियतमा पत्नी तथा स्वर्गलोककी रानी हुईं। शचीका जीवन बडे सुखसे बीतने लगा। इसी प्रकार कई युग बीत गये। देहधारी प्राणी स्वर्गके देवता हा या मर्त्यलोकके मनुष्य उनके जीवनम कभी-कभी दु खका अवसर भी उपस्थित हो ही जाता है। यह दु ख प्राणियाके लिये एक चेतावनी होता है। सुखी जीवन प्रमादी हो जाता है। दु खी प्राणी ही सजग रहते हे। उन्ह अपनी भूला और त्रुटियोको सुधारनेका अवसर मिलता है। सबसे बडी बात यह है कि दु खम ही भगवान् याद आते हें और दु खमे ही धर्मका महत्त्व समझमे आता है। शचीके जीवनम भी एक समय ऐसा आया, जबकि उन्ह सतीत्वकी अग्निपरीक्षा देनी पडी तथा गर्वके साथ कहना पडता है कि शचीन अपने गौरवके अनुरूप ही कार्य करके धैर्य और साहसपूर्वक प्राणोसे भी अधिक प्रिय सतीत्वकी रक्षा की।

देवराज इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र भगवद्भक्त वृत्रासुरका वध कर दिया। इस अन्यायके कारण इन्द्रकी सर्वत्र निन्दा हुई। उनपर भयानक ब्रह्महत्याका आक्रमण हुआ। उसस बचनेके लिये वे मानसरोवरक जलम जाकर छिप गये। स्वर्गको इन्द्रसे शून्य देखकर देवताआको बडी चिन्ता हुई। तीनो लोकाम अराजकता फैल गयी। अनेक प्रकारके उत्पात होने लगे। वर्षा बद हो गयी। नदियाँ सूख गयीं। पृथ्वी धन-वैभवसे रहित हो गयी। इन सारी बातापर विचार करके देवताआने भूतलसे राजा नहुयको बुलाया और उन्ह इन्द्रक पदपर स्थापित कर दिया। नहुष धर्मात्मा तो थे ही, सौ यज्ञोका अनुष्ठान करके इन्द्रपदके अधिकारी भी हो गये थे, किंतु धर्मात्मा होनेपर भी नहुष इन्द्रपद पानेके बाद अपनेको राजमदसे मुक्त न रख सके। वे विषयभोगामे आसक्त हो गये। उन्होने शचीके रूप-लावण्य आदि गुणाकी चर्चा सुनी तो उनकी प्राप्तिके लिये भी वे चिन्तित हो उठे। शचाको जब इसका पता लगा तो वे गुरु बृहस्पतिकी शरणम गयीं। बृहस्पतिने उनका आश्वासन देत हुए कहा—'बेटी! विश्वास रखो, मैं सनातनधर्मका त्याग करके तुम्हे नहुषके हाथम कभी नहीं पडने दूँगा। जो शरणमे आये हुए आर्तजनाकी रक्षा नहीं करता, वह एक कल्पतक नरकम पडा रहता है। तुम चिन्ता न करो। किसी भी अवस्थाम में तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा।'

नहुषने सुना, इन्द्राणी बृहस्पतिके शरणम गयी है। बृहस्पतिने उसे अपने घरमे छिपा रखा है। तब उसे बडा क्रोध हुआ। उसने देवताआस कहा—'यदि बृहस्पति मर

इनको प्रधान शिष्य कहा गया है। व्याकरण महाभाष्य (१। २। ६४, ६। २। २९)-के अनुसार व्याडिने लक्षश्लोकात्मक 'संग्रह' नामक व्याकरण-ग्रन्थकी रचना की थी। इन्होंने—'गणानां त्वा०' मन्त्रमें सत्य, वेद और जगत्के स्वामी होनेसे 'ब्रह्मणस्पति-बृहस्पति' का यथानाम तथा-गुणकी चरितार्थता मानी है— 'ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्। पातार ब्रह्मणस्तेन बृहस्पतिरितीरित ' (बृहद्देवता २। ३९-४० तथा निरुक्त १०। १। १२)।

भागवतमें शतानीकको याज्ञवल्क्यका शिष्य कहा गया है। उन्होंने तीनों वेदोंका ज्ञान याज्ञवल्क्यसे प्राप्त किया था, किंतु कर्मकाण्ड एवं शास्त्रका ज्ञान महर्षि शौनकसे ही प्राप्त किया था। इससे इनके दीर्घजीवित्व एवं धनुर्विद्यादिके पाण्डित्यका भी परिचय मिलता है—

तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति॥

(श्रीमद्भा० ९। २२। ३८)

इतना होनेपर भी आचार्य शौनककी विनयपूर्ण चरित्रशीलता एवं जिज्ञासा देखते बनती है। इसीलिये 'प्रपन्नगीता' में ये द्वादशमहाभागवतोंमें भी ८वीं संख्यापर परिगणित हैं। ये १८ पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत आदिको उग्रश्रवा लोमहर्षणादिसे श्रवण करते हैं। अट्ठारह पुराणोंमें उनके प्रश्न उनकी भगवद्भक्ति आदि अद्भुत है। भागवतमें वे कहते हैं कि यदि भगवच्चर्चासे अथवा भक्तोंकी चर्चासे युक्त हो, तभी आप यह कथा कहें, अन्य बातोंसे कोई लाभ नहीं क्योंकि उसमें आयुका व्यर्थ अपव्यय होता है—

तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्॥
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः॥

(श्रीमद्भा० १। १६। ५-६)

वे श्रीभगवान्‌की कथा-श्रवण-कीर्तनसे रहित कान-मुँह-जीभको साँपका बिल और मेढककी जीभ कहते हैं (श्रीमद्भा० २। ३। २०)। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी—
जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
—आदिमें इन्हींके भाव दिये हैं। वैसे ये नैमिषारण्यवासी ८८ हजार ऋषियोंके नेता या कुलपति थे। यह बात सत्यनारायण-कथासे लेकर सभी पुराणोंमें बार-बार आती है। भविष्यपुराणमें ये सभी ८८ हजार ऋषियोंको लेकर 'म्लेच्छाक्रान्त नैमिषारण्य'को छोड़कर बदरिकाश्रममें जाकर कथाश्रवणका प्रबन्ध करते दीखते हैं। इस प्रकार स्वाध्यायचरित्रशील होनेके साथ ये बड़े विनयी, सभी देवताओंके उपासक तथा विष्णुभक्त भी रहे हैं। 'बृहद्देवता' के ध्यानपूर्वक अवलोकन-आलोचन करनेसे इनके कठोर तप, ब्रह्मचर्य एवं विशाल वैदिक ज्ञानका परिचय मिलता है।

पुराणों, धर्मशास्त्रों आदिके समान वैदिक ग्रन्थ भी असंख्य हैं। परंतु चारित्र्यके अनुष्ठानके लिये इनका अधिकाधिक स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है। यहाँ केवल शौनकरचित ग्रन्थोंका निर्देश हुआ है। याज्ञवल्क्य, व्यास, कात्यायन, जैमिनि, भारद्वाज, विश्वामित्र आदिके भी ग्रन्थ इसी प्रकार असंख्य हैं। बृहद्देवताको देखनेसे स्पष्ट होता है कि शौनकने इन सभी-के-सभी ग्रन्थों, अनेक व्याकरणों तथा अनेक निरुक्तोंका भी अवलोकन कर इसकी रचना की थी। महाभारत वनपर्वके दूसरे अध्यायमें इन्हें सांख्ययोग-कुशल भी कहा गया है। वहाँके इनके चरित्र-सम्बन्धी उपदेश बड़े ही सुन्दर हैं। वहाँ ये युधिष्ठिरसे कहते हैं कि आसक्तिके कारण दुःख, भय, आयास, शोक-हर्ष सभी उपद्रव आ घेरते हैं। अतः रागको छोड़ विरक्त बनना चाहिये, रागसे तृष्णा उत्पन्न होकर प्राणान्तक रोग बन जाती है। अर्थ भी घोर अनर्थकारी है। उसमें दर्प, अनीति, कार्पण्य आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं, अतः तृष्णादिका त्याग करके संतोषका आश्रय लेना चाहिये। इसीमें परम सुख है—

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः॥

(महा० ३। २। ४६)

प्रायः ये ही बातें योगवासिष्ठ, भागवत, स्कन्दपुराण (माहेश्वरखण्डके कुमारिकाखण्ड)-में कही गयी हैं।

वस्तुतः इन शौनक, जैमिनि, व्यासादि ऋषियोंने स्वाध्यायादिके द्वारा लोकरक्षा, धर्मरक्षा, सदाचार एवं चरित्ररक्षाके लिये अपना सारा जीवन ही लगा दिया था। यही आज भी हमारे लिये अवश्यानुष्ठेय-कर्तव्य है।

वैदिक ऋषिकाएँ

(१)
वेदिक ऋषिका देवसम्राज्ञी शची

शची देवराज इन्द्रकी पत्नी हैं। ये भी भगवती आद्याशक्तिकी एक कला मानी गयी हैं। ये स्वयवरकी अधिष्ठात्री देवी है। प्राचीन कालमे जब कहीं स्वयवर होता था तो पहले शचीका आवाहन और विधिवत् पूजन कर लिया जाता था, जिससे स्वयवर-सभामे कोई विघ्न या बाधा पडनेकी सम्भावना अथवा उत्पात, कलह और किसी प्रकारके उपद्रव आदिकी आशका नहीं रहती थी। ऋग्वेदमे कई ऐसे सूक्त मिलते हैं, जो शचीद्वारा प्रकाशमे लाये गये बतलाये जाते है। वे सपत्नियोपर प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये अनुष्ठानोपयोगी मन्त्र हैं। शचीदेवी पतिव्रता स्त्रियोमे श्रेष्ठ मानी गयी हैं। वे भोग-विलासमय स्वर्गकी रानी होकर भी सतीत्वकी साधनामे सलग्न रहती हैं। उनके मनपर पतिके विलासी जीवनका विपरीत प्रभाव नहीं पडता। वे अपनी ओर देखती हैं और अपनेको सती-साध्वी देवियोके पुण्य-पथपर अग्रसर करती रहती हैं। उनके सर्वस्व देवराज इन्द्र ही हैं। इन्द्रके सिवा दूसरे किसी पुरुषको, भले ही वह इन्द्रसे भी ऊँचे पदपर क्यो न प्रतिष्ठित हो, अपने लिये कभी आदर नही देतीं।

रत्न किसी अयोग्य स्थानमे पडा हो तो भी रत्न ही है। इससे उसके महत्त्वमे कमी नहीं आती। शचीदेवीका जन्म दानवकुलमे हुआ था, तथापि वे अपने त्याग-तपस्या और सयम आदि सद्गुणोसे देवताओकी भी वन्दनीया हो गयीं। शचीके पिताका नाम था पुलोमा। वह दानव-कुलका सम्मानित वीर था। उसीके नामपर शचीको 'पौलोमी' और 'पुलोमजा' भी कहते हैं। बाल्यकालमे शचीने भगवान् शकरको प्रसन्न करनेके लिये घोर तपस्या की थी और उन्हींके वरदानसे वे देवराजकी प्रियतमा पत्नी तथा स्वर्गलोककी रानी हुईं। शचीका जीवन बडे सुखसे बीतने लगा। इसी प्रकार कई युग बीत गये। देहधारी प्राणी स्वर्गके देवता हो या मर्त्यलोकके मनुष्य, उनके जीवनमे कभी-कभी दु खका अवसर भी उपस्थित हो ही जाता है। यह दु ख प्राणियोके लिये एक चेतावनी होता है। सुखी जीवन प्रमादी हो जाता है। दु खी प्राणी ही सजग रहते हैं। उन्हे अपनी भूलो और त्रुटियोको सुधारनेका अवसर मिलता हे। सबसे बडी बात यह है कि दु खमे ही भगवान् याद आते हे ओर दु खमे ही धर्मका महत्त्व समझमे आता है। शचीके जीवनमे भी एक समय ऐसा आया, जबकि उन्हे सतीत्वकी अग्निपरीक्षा देनी पडी तथा गर्वके साथ कहना पडता है कि शचीने अपने गौरवके अनुरूप ही कार्य करके धैर्य और साहसपूर्वक प्राणोसे भी अधिक प्रिय सतीत्वकी रक्षा की।

देवराज इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र भगवद्भक्त वृत्रासुरका वध कर दिया। इस अन्यायके कारण इन्द्रकी सर्वत्र निन्दा हुई। उनपर भयानक ब्रह्महत्याका आक्रमण हुआ। उससे बचनेके लिये वे मानसरोवरके जलमे जाकर छिप गये। स्वर्गको इन्द्रसे शून्य देखकर देवताओको बडी चिन्ता हुई। तीनो लोकामे अराजकता फैल गयी। अनेक प्रकारके उत्पात होने लगे। वर्षा बद हो गयी। नदियाँ सूख गयी। पृथ्वी धन-वैभवसे रहित हो गयी। इन सारी बातोपर विचार करके देवताओने भूतलसे राजा नहुषको बुलाया और उन्हे इन्द्रके पदपर स्थापित कर दिया। नहुष धर्मात्मा तो थे ही, सौ यज्ञोका अनुष्ठान करके इन्द्रपदके अधिकारी भी हो गये थे, किंतु धर्मात्मा होनेपर भी नहुष इन्द्रपद पानेके बाद अपनेको राजमदसे मुक्त न रख सके। वे विषयभोगोमे आसक्त हो गये। उन्होने शचीके रूप-लावण्य आदि गुणोकी चर्चा सुनी तो उनकी प्राप्तिके लिये भी वे चिन्तित हो उठे। शचीको जब इसका पता लगा तो वे गुरु बृहस्पतिकी शरणमे गयीं। बृहस्पतिने उनको आश्वासन देते हुए कहा—'बेटी! विश्वास रखो, मैं सनातनधर्मका त्याग करके तुम्हे नहुषके हाथमे कभी नहीं पडने दूँगा। जो शरणमे आये हुए आर्तजनोकी रक्षा नहीं करता, वह एक कल्पतक नरकमे पडा रहता है। तुम चिन्ता न करो। किसी भी अवस्थामे मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा।'

नहुषने सुना, इन्द्राणी बृहस्पतिकी शरणमे गयी हे। बृहस्पतिने उसे अपने घरमे छिपा रखा हे। तब उसे बडा क्रोध हुआ। उसने देवताओसे कहा—'यदि बृहस्पति मर

प्रतिकूल आचरण करेगा तो मैं उसे मार डालूँगा।' देवताओंने नहुषको शान्त करते हुए कहा—'प्रभो! आप अपने क्रोधको शान्त कीजिये। धर्मशास्त्रोंमें परस्त्रीगमनकी निन्दा की गयी है। इन्द्रकी पत्नी शची सदासे ही साध्वी जीवन बिताती आ रही है। आप इस समय तीनों लोकोंके स्वामी और धर्मके उपदेशक एवं पालक हैं, यदि आप-जैसे महापुरुष भी अधर्मका आचरण करेंगे तो निश्चय ही प्रजाका नाश हो जायगा। स्वामीको सदा ही साधु-पुरुषोंके आचरणका अनुकरण करना चाहिये। आप पुण्यके ही बलसे इन्द्रपदको प्राप्त हुए हैं। पापसे सम्पत्तिकी हानि और पुण्यसे उसकी वृद्धि होती है, इसलिये आप पापबुद्धि छोड दीजिये।' जब कामान्ध नहुषपर इस उपदेशका कुछ भी असर न हुआ, तब देवता तथा महर्षि बहुत डर गये, फिर यह कहकर कि 'हम इन्द्राणीको समझा-बुझाकर आपके पास ले आनेकी चेष्टा करेंगे', बृहस्पतिजीके घर चले गये।

देवताओंके मुखसे यह दुःखद समाचार सुनकर बृहस्पतिने कहा—'शची पतिव्रता है और मेरी शरणमें आयी है।' यों कहकर बृहस्पतिने देवताओंके साथ कुछ परामर्श किया और फिर इन्द्राणीको साथ लेकर सब-के-सब नहुषके पास पहुँच गये। इन्द्राणी काँपने लगीं और लजाते-लजाते बोलीं—'देवेश्वर! मैं आपसे वरदान प्राप्त करना चाहती हूँ। आप कुछ कालतक प्रतीक्षा करें। जबतक कि मैं इस बातका निर्णय नहीं कर लेती हूँ कि 'इन्द्र जीवित हैं या नहीं'—इस विषयमें मेरे मनमें संशय बना हुआ है अतः इसका निर्णय होते ही मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी। तबतकके लिये आप मुझे क्षमा करें।' इन्द्राणीके इस प्रकार कहनेपर नहुष प्रसन्न हो गया और बोला—'अच्छा जाओ।' इस प्रकार उसके विदा करनेपर देवी शची अन्यत्र जाती हुई सम्पूर्ण देवताओंसे बोलीं—'अब तुम लोग वास्तविक इन्द्रको यहाँ ले आनेके लिये पूर्ण उद्योग करो।' तब देवताओंने जाकर भगवान् विष्णुकी स्तुति की। भगवान्ने कहा—'इन्द्र अश्वमेध-यज्ञके द्वारा जगदम्बाका आराधन करें तो वे पापसे मुक्त हो सकते हैं। इन्द्राणीको भी भगवतीकी आराधनामें लग जाना चाहिये।' यह सुनकर बृहस्पति और देवता उस स्थानपर गये जहाँ इन्द्र छिपे थे फिर उन लोगोंने उनसे विधिपूर्वक अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान करवाया। तदनन्तर इन्द्रने अपनी ब्रह्महत्याको वृक्ष, नदी, पर्वत, स्त्री और पृथ्वीको बाँट दिया। इधर इन्द्राणीने भी बृहस्पतिजीसे भुवनेश्वरीदेवीके मन्त्रकी दीक्षा लेकर उनकी आराधना आरम्भ की। वे सम्पूर्ण भोगोंका परित्याग करके तपस्विनी बन गयीं और बडी भक्तिसे भगवतीकी पूजा करने लगीं।

कुछ कालके बाद देवीने संतुष्ट होकर इन्द्राणीको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा। शचीने कहा—'माताजी! मैं पतिदेवका दर्शन चाहती हूँ तथा नहुषकी ओरसे जो भय मुझे प्राप्त हुआ है, उससे भी मुक्ति चाहती हूँ।' देवीने कहा—'तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी। तुम इस दूतीके साथ मानसरोवर पर्वतपर जाओ। वहाँ तुम्हें इन्द्रका दर्शन होगा।' देवीकी आज्ञासे दूतीने शचीको तुरंत ही उनके पतिके पास पहुँचा दिया। पतिको देखते ही शचीके शरीरमें नूतन प्राण आ गये। जिनके दर्शनके लिये कितने ही वर्षोंसे आँखें तरस रही थीं, उन्हें सामने पाकर शचीके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने नहुषकी पाप-वासना और अपने संकटका सारा वृत्तान्त अपने पतिको सुनाया। सुनकर इन्द्रने कहा—'देवि! पतिव्रता नारी अपने धर्मसे ही सदा सुरक्षित रहती है। जो दूसरोंके बलपर अपने सतीत्वकी रक्षा करती हैं वे उत्तम श्रेणीकी पतिव्रता नहीं हैं। तुम भगवतीका स्मरण करके उचित उपायसे आत्मरक्षा करो।' यों कहकर इन्द्रने शचीको एक गुप्त एवं रहस्यपूर्ण युक्ति सुझायी तथा इन्द्रलोक भेज दिया। नहुषने शचीको देखकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'इन्द्राणी! तुम्हारा स्वागत है। तुमने अपने वचनका पालन किया है। अब तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये। मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। मेरी सेवा स्वीकार करो।' शची बोलीं—'राजन्! मेरे मनमें एक अभिलाषा है, आप उसे पूर्ण करें। मैं चाहती हूँ कि आप ऐसी सवारीपर चढकर मेरे पास आवें जो अबतक किसीके उपयोगमें न आयी हो।'

नहुषने कहा—'इन्द्राणी! मैं तुम्हारी यह इच्छा अवश्य पूर्ण करूँगा। मेरी शक्ति किसीसे कम नहीं है। मैं ऋषियोंकी पीठपर बैठकर आऊँगा—सप्तर्षि मेरे वाहन होंगे।' यों कहकर नहुषने सप्तर्षियोंको बुलाया और उनकी पीठपर बैठकर इन्द्राणीके भवनकी ओर प्रस्थान किया। उस समय

वह इतना मदान्ध हो रहा था कि महर्षि अगस्त्यको कोडासे पीटने लगा। इस प्रकार नहुषको मर्यादाका अतिक्रमण करते देख क्षमाशील महर्षिके मनमे भी क्रोधकी आग जल उठी। उन्होने नहुषको शाप देते हुए कहा—'अर अधर्मगामी! तू सर्पकी यानिम चला जा।' महर्षिके शाप देत ही नहुप सर्पका रूप धारण करक स्वर्गस नीचे जा गिरा। इस तरह शचीने अपने सतीत्वकी रक्षा करके अपने ऊपर आय हुए सकटपर विजय प्राप्त की और पतिको भी पुन स्वर्गके सिहासनपर प्रतिष्ठित किया।

(२)

वाचक्नवी गार्गी

वैदिक साहित्य-जगत्मे ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गीका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके पिताका नाम वचक्नु था उनकी पुत्री होनेके कारण इनका नाम 'वाचक्नवी' पड गया किंतु मूल नाम क्या था, इसका वणन नहीं मिलता। गर्ग-गोत्रमे उत्पन्न होनेके कारण लोग इन्हे 'गार्गी' कहते थ और इनका 'गार्गी' नाम ही जनसाधारणम अधिक प्रचलित था। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'मे इनके शास्त्रार्थका प्रसग इस प्रकार वर्णित है—

विदेहराज जनकने एक बहुत बडा यज्ञ किया। उसम कुरुसे पाञ्चाल देशतकके विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुए थे। राजा जनक बडे विद्या-व्यसनी तथा सत्सग-प्रेमी थे। उन्ह शास्त्रके गूढ तत्त्वोका विवेचन और परमार्थ-चर्चा दोना अधिक प्रिय थे। इसीलिये उनके मनम यह जिज्ञासा हुई कि यहाँ आये हुए विद्वान् ब्राह्मणामे सबस बढकर तात्त्विक विवेचन करनेवाला कौन हे? इस परीक्षाके लिये उन्हान अपनी गोशालामे एक हजार गौएँ रखवा कर प्रत्येकके सींगाम दस-दस पाद सुवर्ण जडवा दिया। यह व्यवस्था करके राजाने ब्राह्मणास कहा—'आप लागाम जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन सभी गौआका ले जाय।' राजाकी यह घोषणा सुनकर किसी भी ब्राह्मणमे यह साहस नहीं हुआ कि उन गौआको ले जाय। सबको अपने ब्रह्मवेत्तापनम सदेह हुआ। सब सोचने लगे कि 'यदि हम गाएँ ल जानक लिये आग बढते हे तो य सभी ब्राह्मण हम अभिमानी समझगे और शास्त्रार्थ करने लगगे उस समय हम इन सबको जीत सकगे या नहीं, इसका क्या निश्चय है!' यह विचार करत हुए सब चुप ही रह। सबको मान देखकर याज्ञवल्क्यजीन सामवेदका अध्ययन करनवाल अपने ब्रह्मचारीसे कहा—'सोम्य! तू इन सब गोआको हॉक ले चल।' ब्रह्मचारीने वैसा हा किया।

यह देख ब्राह्मण लोग क्षुब्ध हो उठे। विदेहराजका होता अश्वल याज्ञवल्क्यस पूछ बैठा—'क्या ? तुम्हा हम सबम बढकर ब्रह्मवेत्ता हो?' याज्ञवल्क्यन नम्रतास कहा—'नहीं, ब्रह्मवेत्ताआका तो हम नमस्कार करत हैं, हम केवल गाआकी आवश्यकता है, अत ले जाते है।' फिर क्या था, शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। यज्ञका प्रत्यक सदस्य याज्ञवल्क्यस प्रश्न करने लगा। याज्ञवल्क्य इसस विचलित नहीं हुए। उन्हाने धैर्यपूर्वक सबके प्रश्नाका उत्तर क्रमश दना आरम्भ किया। अश्वलन चुन-चुनकर कितने ही प्रश्न किय किंतु उचित उत्तर पा जानक कारण अन्तत व चुप हाकर बैठ गय। तब जरत्कारु गात्रम उत्पन्न आर्तभागने प्रश्न किया उनको यथार्थ उत्तर मिल गया, अत व भा मान हा गये। तदनन्तर क्रमश आर्तभाग भुज्यु, चाक्रायण उपस्त और कौषीतकेय कहाल प्रश्न करक चुप बैठ गय। इसक बाद वाचक्नवी गार्गी बोलीं—'भगवन्! यह जा कुछ पार्थिव पदार्थ हैं, वह सब जलसे ओतप्रात ह किंतु जल किसम ओतप्रात है?' याज्ञवल्क्यने कहा—'जल वायुम ओतप्रोत ह'।

इस प्रकार क्रमश वायु, आकाश, अन्तरिक्ष गन्धर्वलाक, आदित्यलाक चन्द्रलाक, नक्षत्रलोक दवलाक, इन्द्रलाक और प्रजापतिलाकके सम्बन्धम प्रश्नात्तर हानपर जब गार्गीने पूछा कि 'ब्रह्मलाक किसम ओतप्रोत ह'? तब याज्ञवल्क्यन कहा—'यह तो अतिप्रश्न है। गार्गी! यह उत्तरकी सीमा हे, अब इसक आगे प्रश्न नही हो सकता। अब तू प्रश्न न कर नहीं ता तेरा मस्तक गिर जायगा।' वाचक्नवी विदुषी थीं वे याज्ञवल्क्यक अभिप्रायका समझकर चुप हा गयीं। तदनन्तर और कई विद्वानान प्रश्नात्तर किय। उसक बाद गार्गीने दा प्रश्न और किय। इन प्रश्नाक उत्तरम याज्ञवल्क्यन अक्षरतत्त्वका जिसे परब्रह्म परमात्मा कहत हे, भाँति-भाँतिस निरूपण किया। गार्गी याज्ञवल्क्यका लाहा मान गयीं। उन्हान निर्णय कर दिया कि 'इस सभाम याज्ञवल्क्यस बढकर

ब्रह्मवेत्ता कोई नहीं ह, इनको कोई पराजित नहीं कर सकता है। ब्राह्मणो! आप लोग इसीको बहुत समझें कि याज्ञवल्क्यको नमस्कार करनेमात्रसे आपका छुटकारा हो जा रहा है। इन्हे पराजित करनेका स्वप्न देखना व्यर्थ है।'

गार्गीके प्रश्नोको पढकर उनके गम्भीर अध्ययनका पता लगता है, इतनेपर भी उनके मनमे अपने पक्षको अनुचितरूपसे सिद्ध करनेका दुराग्रह नही था। वे विद्वत्तापूर्ण उत्तर पाकर सतुष्ट हो गयीं और दूसरेकी विद्वत्ताकी उन्होने मुक्तकण्ठसे प्रशसा की। गार्गी भारतवर्षकी स्त्रियोमे रत्न थीं। आज भी उनकी-जैसी विदुषी एव तपस्विनी कुमारियोपर इस देशको गर्व है।

(३)

ब्रह्मवादिनी ममता

ममता दीर्घतमा ऋषिकी माता थी। ये महान् विदुषी और ब्रह्मज्ञानसम्पन्न थीं। अग्निके उद्देश्यसे किया हुआ इनका स्तुतिपाठ ऋग्वेदसहिताके प्रथम मण्डलके दशमे सूक्तकी ऋचामे मिलता है। उसका भावार्थ यह है—

'हे दीप्तिमान्! असख्य चोटियोवाले और देवताओंको बुलानेवाले अग्नि! दूसरे अग्निकी सहायतासे प्रकाशित होकर आप इस 'मानव-स्तोत्र'को सुनिये। श्रोतागण ममताके सदृश ही अग्निके उद्देश्यसे इस मनोहर स्तोत्रको पवित्र घृतकी भाँति अर्पित करते हैं।'

(४)

ब्रह्मवादिनी विश्ववारा

'प्रज्वलित अग्निदेव तेजका विस्तार करके द्युलोक तकको प्रकाशित करते हैं। वे प्रात एव साय (हवनके समय) अत्यन्त सुशोभित होते हैं। देवार्चनमे निमग्न परमात्माके उपासक पुरुष तथा विद्वान् अतिथियोका हविष्यान्नसे स्वागत करनेवाली स्त्रियाँ उस अग्निदेवके समान ही सुशोभित हैं।'

'अग्निदेव! आप प्रकाशमान होनेसे जलके स्वामी हैं। जिस यजमानके पास आप जाते हैं, वह समस्त पशु आदि धन प्राप्त करता है। हम आपके योग्य आतिथ्य-सूचक हवि प्रस्तुत करके आपके समीप (हवनकुण्डके पास) रखती हैं। जो स्त्री श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आपको प्रणाम करती है वह ऐश्वर्यकी स्वामिनी होती है। उसका अन्त करण पवित्र होता है। उसका मन स्थिर होता है। उसकी इन्द्रियाँ वशमे रहती है।'

'अग्निदेव! महासौभाग्यकी प्राप्तिके लिये आप बलवान् बन—प्रज्वलित हों! आपके द्वारा प्राप्त धन परोपकार-हेतु उत्तम हो! हम स्त्रियोके दाम्पत्यभावको सुदृढ करे! हम स्त्रियोके शत्रु—दुष्कर्म, कुचेष्टा, लोभादिपर आपका आक्रमण हो।'

'हे दीप्तिमान् देव! मैं आपके प्रकाशकी वन्दना करती हूँ। आप यज्ञके लिये प्रज्वलित हों। हे प्रकाशराशि प्रभो! भक्तवृन्द आपका आह्वान करते हैं। यज्ञक्षेत्रमे आप सभी देवताओको प्रसन्न करे।'

'यज्ञमे हव्यवाहक अग्निदेवकी रक्षा करो! इनकी सेवा करो और देवताओको हव्य पहुँचानेके लिये इनका वरण करो।'

ऋग्वेदके पाँचवे मण्डलके द्वितीय अनुवाकमे पठित अट्ठाईसवे सूक्तमे वर्णित छ ऋचाओका यह भावार्थ है। अत्रि महर्षिके वशमे उत्पन्न विदुषी विश्ववारा इन मन्त्रोकी द्रष्टा ऋषिका है। अपनी तपस्यासे उन्होने इस ऋषिपदको प्राप्त किया था।

इन मन्त्रोमे बताया गया है कि स्त्रियोको सावधानीपूर्वक अतिथि-सत्कार करना चाहिये। यज्ञके लिये हविष्य तथा सामग्रियोको प्रस्तुत करके अपने अग्निहोत्री पतिके समीप पहुँचाना चाहिये। अग्निदेवकी वन्दना करनी चाहिये। इनकी स्तुति करनी चाहिये और पतिके प्राजापत्य अग्निकी सावधानापूर्वक रक्षा भी पत्नीको ही करनी चाहिये। [पहले प्रत्येक द्विजातिके गृहमे हवनकुण्डके अग्निकी सावधानीसे रक्षा होती थी। प्रत्येक पुरुषके हवनकुण्ड पृथक् होते थे। इनकी अग्निदेवका बुझना भयकर अमङ्गल माना जाता था] इनके द्वारा दृष्ट मन्त्रोसे जान पडता है कि ये अग्निकी ही उपासिका थीं।

(५)

अपाला ब्रह्मवादिनी

ब्रह्मवादिनी अपाला अत्रिमुनिके वशमे उत्पन्न हुई थीं। कहते हैं कि अपालाको कुष्ठरोग हो गया था इससे उनके पतिने उन्हे घरसे निकाल दिया था। वे अपने पीहरमे बहुत दु खी रहती थीं। उन्होंने कुष्ठरोगसे मुक्त होनेके लिये

इन्द्रकी आराधना की। एक बार इन्द्रको अपने घर बुलाकर सामपान कराया तथा उन्हे प्रसन्न किया। इन्द्रदेवने प्रसन्न होकर उन्हे वरदान दिया। उनके वरदानसे अपालाके पिताके सिरके उडे हुए केश फिर आ गये, उनके खेत हरे-भरे हो गये और अपालाका कुष्ठरोग मिट गया। वे ब्रह्मवादिनी थीं। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके ९१ व सूक्तकी १ से ७ तककी ऋचाएँ इन्हीकी सकलित हैं।

(६)

ब्रह्मवादिनी घोषा

घोषा काक्षीवान् ऋषिकी कन्या थीं। बचपनम इन्हे कुष्ठरोग हो गया था, इसीसे योग्य वयमे इनका विवाह नहा हो पाया। अश्विनीकुमाराकी कृपासे जब इनका रोग नष्ट हुआ, तब इनका विवाह हुआ। ये बहुत प्रसिद्ध विदुषी और ब्रह्मवादिनी थीं। इन्हाने स्वय ब्रह्मचारिणीके रूपमे ही ब्रह्मचारिणी कन्याके समस्त कर्तव्याका उल्लेख दो सूक्तोंमे किया है। इन्हाने कहा है—'हे अश्विनीकुमारो! आपके अनुग्रहसे आज घोषा परम भाग्यवती हुई है। आपके आशीर्वादसे घोषाके स्वामीके भलेके लिये आकाशसे प्रचुर वर्षा हो, जिससे खेत लहलहा उठे। आपकी कृपादृष्टि घोषाके भावी पतिको शत्रुकी हिंसासे रक्षा करे। युवा एव सुन्दर पतिको पाकर घोषाका यौवन चिरकाल अक्षुण्ण बना रहे।'

'हे अश्विनीकुमारो! पिता जैसे सतानको शिक्षा देते है, वैसे ही आप भी मुझे सत्-शिक्षा दे। मैं बुद्धिहीन हूँ। आपका आशीर्वाद मुझे दुर्गतिसे बचाये। आपके आशीर्वादसे मेरे पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र आदि सुप्रतिष्ठित होकर जीवनयापन करे। पतिगृहमे मैं पतिकी प्रियपात्री बनूँ।' ऋग्वेदके दशम मण्डलके ३९ से ४१ व सूक्ततक इस आख्यानका सकेत प्राप्त होता है।

(७)

ब्रह्मवादिनी सूर्या

ऋग्वेदके दशम मण्डलके ८५ व सूक्तकी ४७ ऋचाएँ इनकी है। यह सूक्त विवाह-सम्बन्धी है। आरम्भकी ऋचाओमे चन्द्रमाके साथ सूर्यकन्या सूर्याके विवाहका वर्णन है। हिंदू वेद-शास्त्रामे जितने आख्यान हैं उन सबके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनो अर्थ होते है। वेदकी ऋचाओके भी तीन अर्थ हैं, परतु वे केवल आध्यात्मिक अर्थरूप ही है, इतिहास नहीं है, ऐसी बात नहीं है। चन्द्रमाके साथ सूर्याके विवाहका आध्यात्मिक अर्थ भी है और उसका ऐतिहासिक तथ्य भी है। जहाँ चन्द्र एव सूर्यको नक्षत्ररूपमे ग्रहण किया गया है, वहाँ आलकारिक भाषामे आध्यात्मिक वर्णन है और जहाँ उन्हे अधिष्ठात्री देवताके रूपमे लिया गया है, वहाँ प्रत्यक्ष ही वैसा व्यवहार हुआ है।

सूर्या जब विदा होकर पतिके साथ चली, तब उसके बैठनेका रथ मनके वेगके समान था। रथपर सुन्दर चँदोवा तना था और दो सफेद बैल जुते थे। सूर्याका दहेजमे पिताने गौ, स्वर्ण, वस्त्र आदि पदार्थ दिये थे। सूर्याके बडे ही सुन्दर उपदेश है—

'हे बहू! इस पति-गृहमे ऐसी वस्तुओकी वृद्धि हो, जो प्रजाको और साथ ही तुम्हे भी प्रिय हो। इस घरमे गृह-स्वामिनी बननेके लिये तू जाग्रत् हो। इस पतिके साथ अपने शरीरका ससर्ग कर और जानने-पहचानने योग्य परमात्माको ध्यानमे रखते हुए दोनो स्त्री-पुरुष वृद्धावस्थातक मिलते तथा बातचीत करते रहो।' 'हे बहू! तू मैले कपडाको फेक दे और वेद पढनेवाले पुरुषाको दान कर। गदी रहने, गदे कपडे पहनने, प्रतिदिन स्नान न करनेसे तथा आलस्यमे रहनेसे भाँति-भाँतिके रोग हो जाते हैं, जिससे पत्नीकी मलिनता पतिमे भी पहुँच जाती है। इसलिये पतिका कल्याण चाहनेवाली स्त्रीको स्वच्छ रहना उचित है। मैलपनसे होनेवाले रोगसे शरीर कुरूप हो जाता है, शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाती है। जो पति ऐसी पत्नीके वस्त्रका उपयोग करता है, उसका शरीर भी शोभाहीन और रोगी हो जाता है।'

'हे बहू! सौभाग्यके लिये हो मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। पतिरूप मेरे साथ ही तू बूढी होना।'

'हे परमात्मा! आप इस वधूको सुपुत्रवती तथा सौभाग्यवती बनावे। इसके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवे पति हो।' 'हे वधू! तू अपने अच्छे व्यवहारसे श्वशुर-सासकी, ननद और देवराकी सम्राज्ञी हो, अर्थात् अपने सुन्दर बर्तावसे—सबासे सबको अपने वशमे कर ले'—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

(ऋक्० १०। ८५। ४६)

(८)

वैदिक ऋषिका ब्रह्मवादिनी वाक्

वाक् अम्भृण ऋषिकी कन्या थीं। ये प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानिनी थीं और इन्हाने भगवती दवीक साथ अभिन्नता प्राप्त कर ली थी। ऋग्वदसहिताके दशम मण्डलके १२५ व सूक्तम 'देवी-सूक्त'क नामसे जा आठ मन्त्र हे, वे इन्हींके रचे हुए हे। चण्डीपाठके साथ इन आठ मन्त्रोके पाठका बडा माहात्म्य माना जाता है। इन मन्त्राम स्पष्टतया अद्वतवादका सिद्धान्त प्रतिपादित है। मन्त्राका अर्थ इस प्रकार है—

'मैं सच्चिदानन्दमयी सर्वात्मा देवी रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेव-गणाक रूपम विचरती हूँ। मैं ही मित्र और वरुणको, इन्द्र आर अग्निको तथा दोना अश्विनाकुमाराका धारण करती हूँ।'

'म ही शत्रुआक नाशक आकाशचारी दवता सामको, त्वष्टा प्रजापतिका तथा पूषा आर भगको भी धारण करती हूँ। जो हविष्यस सम्पन्न हाकर दवताआको उत्तम हविष्यकी प्राप्ति कराता हे तथा उन्ह सामरसके द्वारा तृप्त करता है, उस यजमानक लिये म ही उत्तम यज्ञका फल और धन प्रदान करती हूँ।'

'मे सम्पूर्ण जगत्‌का अधीश्वरी अपन उपासकाका धनकी प्राप्ति करानेवाली, साक्षात्कार करने याग्य परब्रह्मको अपनेसे अभिन्नरूपम जाननवाली तथा पूजनीय दवताआम प्रधान हूँ। मैं प्रपञ्च-रूपसे अनेक भावाम स्थित हूँ। सम्पूर्ण भूत-प्राणियाम मरा प्रवश है। अनक स्थानाम रहनेवाल देवता—जहाँ कहीं जा कुछ भी करत हैं सब मरे लिये ही करत हैं।'

'जा अन्न खाता है, वह मेरी ही शक्तिसे खाता है, इसी प्रकार जो देखता है, जा साँस लेता हे तथा जो कही हुई बात सुनता है, वह मरी ही सहायतासे उक्त सब कर्म करनम समर्थ हाता है। जो मुझ इस रूपम नहीं जानते, वे न जाननेक कारण ही हीन दशाको प्राप्त हाते जाते हैं। हे बहुश्रुत! मैं तुम्ह श्रद्धासे प्राप्त हानवाल ब्रह्मतत्त्वका उपदश करती हूँ'। सुनो—

'मैं स्वय ही दवताआ और मनुष्याके द्वारा सवित इस दुर्लभ तत्त्वका वर्णन करती हूँ। मैं जिस-जिस पुरुषकी रक्षा करना चाहती हूँ, उस-उसका सबको अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना देती हूँ। उसीको सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, परोक्षज्ञान-सम्पन्न ऋषि तथा उत्तम मेधाशक्तिसे युक्त बनाती हूँ।'

'मैं ही ब्रह्मद्वेषी हिसक असुराका वध करके रुद्रके धनुषका चढाती हूँ। मैं ही शरणागत जनाकी रक्षाके लिये शत्रुआस युद्ध करती हूँ तथा अन्तर्यामी-रूपस पृथ्वी और आकाशक भीतर व्याप्त रहती हूँ।'

'मैं ही इस जगत्‌के पिता-रूप आकाशको सर्वाधिष्ठानस्वरूप परमात्माके ऊपर उत्पन्न करती हूँ। समुद्र (सम्पूर्ण भूताके उत्पत्तिस्थान परमात्मा)-म तथा जल (बुद्धिकी व्यापक वृत्तिया)-म मर कारण (कारणस्वरूप चैतन्य ब्रह्म)-की स्थिति है। अतएव मैं समस्त भुवनम व्याप्त रहती हूँ तथा उस स्वर्गलाकका भा अपने शरीरसे स्पर्श करती हूँ।'

'मैं कारणरूपसे जब समस्त विश्वको रचना आरम्भ करती हूँ, तब दूसराकी प्रेरणाक बिना स्वय ही वायुकी भाँति चलती हूँ, स्वेच्छासे ही कमम प्रवृत्त होती हूँ। मैं पृथ्वी और आकाश दोनासे परे हूँ। अपनी महिमासे ही मैं ऐसी हुई हूँ।'

भाषा और धर्म-भेदसे भेद नही

जन बिभ्रती बहुधा विवाचस नानाधर्माण पृथिवी यथौकसम्।
सहस्र धारा द्रविणस्य म दुहा ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

(अथर्व० १२। १। ४५)

अनक प्रकारस विभिन्न भाषा बालनवाल आर विविध धर्मोको माननवाले लागाका एक परिवारक तुल्य धारण करनवाला पृथिवी निश्चल एव न चिदकनवाली (अथात् शान्त-स्थिर) गायकी तरह मुझ एश्वर्यकी सहस्रा धाराएँ प्रदान कर।

भाष्यकार एवं वेद-प्रवर्तक मनीषी

वेदार्थ-निर्णयमे यास्ककी भूमिका

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

वेदका अर्थ है ज्ञान और ज्ञान वह प्रकाश है जो मनुष्यके मन-मस्तिष्कमे छाये हुए अज्ञानान्धकारको दूर कर देता है। सृष्टिके प्रारम्भमे जीवन-यात्री मानवके मार्गदर्शक और कल्याणके लिये ईश्वरने जो ज्ञानका प्रकाश दिया, उसीका नाम है 'वेद'। निरुक्तिकी दृष्टिसे ज्ञानार्थक 'विद' धातुसे 'घञ्' अथवा 'अच्' प्रत्ययका योग होनेपर 'वेद' शब्द बना है।

संस्कृत-भाषाकी वैदिक और लौकिक—इन दो शाखाओंमे वेदकी भाषा प्रथम शाखाके अन्तर्गत है। वेदकी भाषा अलौकिक है और इसके शब्दरूपोंमे लौकिक संस्कृतसे पर्याप्त अन्तर है। इसलिये वेदोंमे प्रयुक्त शब्दोंके अर्थमे अनेक भ्रान्तियाँ भी हैं, जो आज भी विद्वानोंके बीच विवादका विषय बनी हुई हैं। वेदोंकी अलौकिक भाषा सृष्टि-प्रारम्भके उस युगकी भाषा है, जब गुण-धर्मके आधारपर शब्दोंका निर्माण हो रहा था जिसके सहस्राब्दियो बाद संस्कृतका वर्तमान लौकिक रूप या उसका व्याकरणानुमोदित स्वरूप निखर कर सामने आया और गुण-धर्म आदिके आधारपर निर्मित शब्दो या संज्ञाओंके रूढ अर्थ प्रचलित हो गये। वैदिक शब्दोंके रूढ या गूढ अर्थोंके स्पष्टीकरणके निमित्त 'निघण्टु' नामक वैदिक भाषाके शब्दकोशकी रचना हुई तथा विभिन्न ऋषियोंने 'निरुक्त' नामसे उसके व्याख्या-ग्रन्थ लिखे। महर्षि यास्क-प्रणीत निरुक्तके अतिरिक्त अन्य सभी निरुक्त प्रायः दुष्प्राप्य हैं। महर्षि यास्कने अपने निरुक्तमे अठारह निरुक्तोंके उद्धरण दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि गूढ वैदिक शब्दोंकी अर्थाभिव्यक्तिके लिये अठारहसे अधिक निरुक्त-ग्रन्थोंकी रचना हो चुकी थी।

वेदार्थके निर्णयमे महर्षि यास्ककी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अर्थगूढ वैदिक शब्दोंका अर्थ प्रकृति-प्रत्यय-विभागकी पद्धतिद्वारा स्पष्ट किया है। इस पद्धतिसे अर्थके स्पष्टीकरणमे यह सिद्ध करनेका उनका प्रयास रहा है कि वेदोंमे भिन्नार्थक शब्दोंके योगसे यदि मिश्रित अर्थकी अभिव्यक्ति होती है तो गुण-धर्मके आधारपर एक ही शब्द विभिन्न सदर्भोंमे विभिन्न अर्थोंका द्योतन करता है। उदाहरणार्थ, निरुक्तके पञ्चम अध्यायके प्रथम पादमे 'वराह' शब्दका निर्वचन द्रष्टव्य है।

संस्कृतमे 'वराह' शब्द शूकरके अर्थमे ही प्रयुक्त है, किंतु वेदोंमे यह शब्द कई भिन्न अर्थोंमे भी प्रयुक्त है। जैसे—

१-'वराहो मेघो भवति वराहारः।'

—मेघ उत्तम या अभीष्ट आहार देनेवाला होता है, इसलिये इसका नाम 'वराह' है।

२-'अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। वृहति मूलानि। वरं वरं मूलं वृहतीति वा।' 'वराहमिन्द्र एमुषम्।'

—उत्तम-उत्तम फल, मूल आदि आहार प्रदान करनेवाला होनेके कारण पर्वतको भी 'वराह' कहते हैं।

३-'अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते।'

—तेजस्वी महापुरुष उत्तम-उत्तम गुणोंको ग्रहण करनेके कारण 'वराह' कहलाते है।

४-'वरं वरं वृहति मूलानि।'

—उत्तम-उत्तम जडों या ओषधियोंको खोदकर खानेके कारण शूकर 'वराह' कहलाता है।

महर्षि यास्कने प्रकृति-प्रत्यय-विभाग स्पष्ट दृष्टिगत न होनेवाले परोक्ष शब्दोंके अर्थ करते समय व्याकरण-सिद्ध परम्परित अर्थके स्थानपर लोक-प्रचलित अर्थ ग्रहण करनेके सिद्धान्तको भी मान्यता दी है—'अर्थो नित्यः परीक्ष्यते न संस्कारमाद्रियते।'

ज्ञातव्य है, शब्दोंकी व्युत्पत्तिका निमित्त तो व्याकरण होता है, परंतु उनकी प्रवृत्तिका निमित्त लोक-व्यवहार होता है, अर्थात् शब्दोंके व्यवहारका नियमन लोकसे होता है। कौन-सा शब्द किस अर्थमे प्रयुक्त होता है, इसकी व्यवस्थामे लोक-व्यवहार ही प्रधान होता है। व्याकरण तो

बादम अनुगामी बनकर उन शब्दाके सस्कारम सहायक होता है।

'समुद्र' शब्द सस्कृतम कवल सागरका अर्थबोधक है, परतु वैदिक भाषाम विस्तीर्णका पर्यायवाची हानेस सागर तथा आकाश—इन दोना ही अर्थोम प्रयुक्त हे। हिन्दीम 'गो' शब्द गायके अर्थम ही प्रयुक्त होता है और सस्कृतम गाय एव इन्द्रियके अर्थम व्यवहृत है। वदाम 'गो' गाय तथा इन्द्रियके अर्थम प्रयुक्त तो हे ही, महर्षि यास्कके मतानुसार 'गौर्यवस्तिलो वत्स ', अर्थात् गो 'यव' के एव तिल 'वत्स'-के अर्थम भी प्रयुक्त हे। इसी प्रकार सस्कृतम 'दुहिता' शब्द लडकीके अर्थम प्रयुक्त हे, किंतु निरुक्तक अनुसार दूरम (पतिगृहम) रहनेसे जिसका हित हा, वह 'दुहिता' (दूरे हिता) है या फिर गाय दुहनेवाली कन्या 'दुहिता' (गवा दोग्धी वा) है।

वेद-भाषाका तदनुसार अर्थ न करनेस कितना अनर्थ होता है, इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

एकया प्रतिधापिबत् साक सरासि त्रिशतम्। इन्द्र सोमस्य काणुका॥ (ऋक्० ८। ७७। ४)

वेदोम इतिहास सिद्ध करनेवाले विद्वानाने सस्कृत-व्याकरणके आधारपर इस मन्त्रका अर्थ किया है—'सोमप्रिय इन्द्र एक हा बारमे एक साथ सामरसके तीस प्याले पी गय', जबकि निरुक्तक निर्वचनानुसार यहाँ इन्द्र 'सूर्य' का ओर सोम 'चन्द्रमा' का पर्यायवाची है। कृष्णपक्षके पद्रह दिन तथा पद्रह रात्रि मिलाकर तीस अहोरात्र (त्रिशतम् सरासि) कहे जाते हैं। कृष्णपक्षम सूर्य इस सामरूप चन्द्रमाकी तीस अहोरात्रवाली कलाआका पान कर जाता है यह अर्थ निश्चित होता है।

इसी प्रकार निरुक्तकार महर्षि यास्कने वेदाम वृत्रासुरकी कल्पना न कर वेदमन्त्रम प्रयुक्त 'वृत्र' को मेघके अर्थम स्वीकार किया है—

तत् का वृत्रो ? मेघ इति नैरुक्ता ।

(निघण्टु २। १६)

अर्थात् वृत्र मेघका ही नाम हे। इन्द्र शब्द तेजस्वा विद्युत्के अर्थम प्रयुक्त होनेसे यहाँ यह भाव स्पष्ट हाता हे कि मेघद्वारा जलका धारण करना तथा विद्युत्क प्रहारासे मेघाका भेदन कर उनसे जलवर्षण कराना हा इन्द्रका वृत्रक साथ सग्राम है, जो इन्द्र-वृत्रासुरक सग्रामकी भूमिकामे आलकारिक वर्णनके रूपम प्रसिद्ध हो गया है।

महर्षि यास्कके उल्लेखानुसार वदम भारतीय इतिहासके तत्त्व अन्तर्निहित हैं। उन्हाने अपने 'निरुक्त' म वेदमन्त्राके विशदीकरणक लिय ब्राह्मणग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्योंकी कथाआको 'इतिहासमाचक्षते' कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थका निरूपण करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायाम ऐतिहासिकोंका भी अलग सम्प्रदाय था, इसका स्पष्ट सकेत 'निरुक्त'से होता है—'इति ऐतिहासिका ।' भारतीय साहित्यम पुराण और इतिहासको वेदका समानान्तर माना जाता है। यास्कके मतसे ऋक्सहिताम इतिहास-निरूपक तथ्यासे युक्त मन्त्र उपलभ्य है। यथा—

'त्रित कूपेऽवहितमेतत् सूक्त प्रतिबभौ॥ तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रम्। ऋङ्मिश्र, गाथामिश्र भवति।' (निरुक्त ४। १। ६)

वेदका इतिहास माननेका निरुक्तकारका आग्रह निराधार नही है। निरुक्तकारक आग्रहको स्पष्ट करते हुए अर्वाचीन विद्वानाने लिखा है कि वैदिक साहित्यम जो सिद्धान्तरूपमे वर्णित है, उसाका व्यावहारिक रूप 'रामायण' और 'महाभारत' म उपलब्ध हाता हे। वैदिक धर्मके अनेक अज्ञात तथ्याको जाननम 'रामायण' और 'महाभारत' हमारे लिय प्रकाश-स्तम्भकी भूमिका निबाहते है। ये दोनों इतिहास-ग्रन्थ हे। इतिहासके द्वारा वेदार्थके उपबृहणका यही रहस्य है। इतिहास और पुराणामे जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, वे वेदके ही है।

वदके यथार्थ अर्थको समझनेके लिये इतिहास-पुराणका अध्ययन आवश्यक है। महर्षि व्यासका स्पष्ट कथन हे कि वदका उपबृहण इतिहास और पुराणके द्वारा हाना चाहिय, इतिहास-पुराणसे अनभिज्ञ लोगासे वेद सदा भयत्रस्त रहता है—

इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामय प्रहरिष्यति॥

अर्थात् 'इतिहास और पुराणसे वेदको समृद्ध करना चाहिय। वेदको अल्पश्रुत व्यक्तिसे बराबर इस बातका भय बना रहता है कि यह कहीं मुझपर प्रहार न कर दे।' वेदको इसी भयस विमुक्त करनक लिये यास्कने वदार्थ-निरूपणका ऐतिहासिक प्रयास किया है।

महान् सर्ववेदभाष्यकार श्रीसायणाचार्य

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)

वेद-भाष्यकाराम आचार्य सायणका स्थान सर्वोपरि है। वे वैदिक जगत्के सूर्य हैं। उनकी प्रसिद्धि प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न एव उत्कृष्ट मेधा-युक्त महान् वद-भाष्यकारके रूपम सर्वविदित है। वैदिक विद्वाना तथा भाष्यकाराम पाण्डित्य तथा विवेचन-कौशलकी दृष्टिसे उनका स्थान अद्वितीय है। वेदार्थ स्पष्ट करते समय जिस तथ्यकी विवेचना उन्हाने अपने भाष्याम की है, उसे युक्ति-युक्त प्रमाण-समन्वित शास्त्रोक्त-शैलीम इतने स्पष्ट-रूपसे विवेचित किया है कि उस विपयम फिर पाठकके लिये अन्य कुछ ज्ञातव्य शेप नहीं रह जाता है। वेदार्थ-निरूपणम उन्हाने पडङ्ग—शिक्षा, कल्पसूत्र, निरुक्त, व्याकरण, छन्द एव ज्योतिष आदिके साथ सदर्भ स्पष्ट करने-हेतु पौराणिक कथाआका भी आश्रय लिया हे, जिससे उनका भाष्यकार्य परम प्रामाणिक एव सटीक बन पडा है। व्याकरणद्वारा शब्दाकी व्युत्पत्ति एव सिद्धि करने तथा स्वराङ्कन करनेकी उनकी पद्धति बडे-बडे व्याकरणाचार्योंको भी आश्चर्यचकित करनेवाली है। *आधुनिक, पाश्चात्य तथा तदनुगामी भारतीय वेदभाष्यकाराकी* भाँति उन्हाने अपने पूर्ववर्ती भाष्यकाराकी उपेक्षा नहीं की है, बल्कि स्कन्दस्वामी तथा वकटमाधव आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारोके भाष्याका साराश भी यथास्थान उद्धृत कर दिया है, जिससे उनके महान् परम्परागत वेदिक ज्ञानका पता चलता है।

याज्ञिक विधानका पूर्ण परिचय

शास्त्रोके अनुसार यज्ञके चार प्रमुख ऋत्विक् हाते हैं—होता, उद्गाता अध्वर्यु और ब्रह्मा। हाताका वेद ऋग्वेद, उद्गाताका सामवेद, अध्वर्युका यजुर्वेद आर ब्रह्माका अथर्ववेद है। वस्तुत याज्ञिक विधान वदकी आत्मा है और इसीलिये यज्ञको वेदका प्रधान विपय माना जाता है। यही कारण है कि याज्ञिक विधानके सम्यक् ज्ञानके बिना कोई वेदका भाष्य करनमे सफल नहीं हो सकता है। आचार्य सायणको याज्ञिक विधानका पूर्ण ज्ञान था। उनका भाष्य इतना प्रामाणिक, युक्ति-युक्त तथा शास्त्रानुकूल बन गया कि उसमे कहीं भी लेशमात्र सशाधनकी गुजाइश नहीं दिखायी पडती। इसीलिय उन्हाने वेदके प्रत्येक सूक्तकी व्याख्या करनेसे पूर्व ही उस सूक्तक ऋषि, देवता, छन्द आर विनियाग आदिका ऐसा प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है, जिससे सूक्तगत मन्त्राकी प्रसगानुकूल व्याख्या करनेका मार्ग प्रशस्त होता है। सूक्तम निहित यदि कोई ऐतिहासिक आख्यान अथवा अन्तर्कथा अर्थनिरूपणम आवश्यक है ता उसका भी सोपपत्तिक वर्णन उन्हाने प्रस्तुत किया हे। उनके भाष्याका उपोद्घात (भाष्य-भूमिका) तो वैदिकदर्शनसे परिचित होनेक लिये ऐसा सुव्यवस्थित राजमार्ग है, जिसपर चलकर अनेक जिज्ञासुआ और देश-विदेशके विद्वानाको वदविद्याका तथ्यपरक ज्ञान प्राप्त हुआ है।

इसी कारण प्रसिद्ध पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्समूलरने आचार्य सायणका वेदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये 'अन्धेकी लकडी बताया है।' एच० एच० विल्सनद्वारा उनक भाष्यका अनुसरण करते हुए ऋग्वदका अग्रेजी अनुवाद करना भी यही स्पष्ट करता हे कि यदि आचार्य सायणके विविधार्थ-सकलित भाष्य-रत्न नहीं होते तो किसी भी भारतीय अथवा पाश्चात्त्य विद्वान्का वेदाके अगम्य ज्ञान-दुर्गम प्रवेश नहीं हो सकता था।

जीवन-परिचय

भारतीय सस्कृतिक महान् उपासक वैदिक दर्शनके मर्मज्ञ तथा सर्ववेदभाष्यकार सायणाचार्यकी जन्मतिथि आदिक विपयम निश्चित जानकारी न होना बड दु खका विषय हे। प्रसिद्ध विद्वानाके द्वारा किय गये अनुसधानके आधारपर उनक जीवन-परिचय तथा भाष्य-कार्योंपर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है। उनका जन्म तुगभद्रा नदीके तटवर्ती हम्पी नामक नगरम सवत् १३२४ विक्रमीम हुआ था। उनके पिताका नाम मायण, माताका नाम श्रीमती तथा दा भाइयाका नाम क्रमश माधव और भागनाथ था। उनके बडे भाई माधवाचार्य विजयनगर-हिन्दू-साम्राज्यक सस्थापकोम थे। यह हिन्दू-साम्राज्य लगभग तीन सौ वर्षोंतक मुस्लिम

राजाआसे लाहा लेता रहा। माधवाचार्यने सवत् १३९२ विक्रमीके लगभग विजयनगरके सिहासनपर महाराज वार बुक्कको अभिषिक्त कर और स्वय मन्त्री वनकर कई मुस्लिम राज्याको विजयनगर साम्राज्यक अधान किया था। वे वार हानक साथ-साथ महान् विद्वान् भी थ। 'सर्वदर्शन-सग्रह', 'पराशरमाधव', 'पचदशी', 'अनुभूतिप्रकाश' तथा 'शकरदिग्विजय' आदि उनक महान् ग्रन्थासे पता चलता है कि माधवाचार्य असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष थ। आचार्य सायणक छाट भाई भी प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनकी वहनका नाम 'सिगल' था, जिसका विवाह रामरस नामक ब्राह्मणक साथ हुआ था। इस प्रकार उनका परिवार लब्धप्रतिष्ठित विद्वाना तथा आदर्श महापुरुपाका जन्म देनेवाला था।

विद्या-गुरु

आचार्य सायण भारद्वाज गात्री कृष्णयजुर्वेदी ब्राह्मण थ। उनकी वैदिक शाखा तैत्तिराय थी और सूत्र वाधायन था। उनके तीन गुरु विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ तथा श्रीकृष्णाचाय उस समयक अत्यन्त प्रख्यात एव आध्यात्मिक ज्ञान-सम्पन्न महापुरुष थे। ये तीना महापुरुष न कवल आचार्य सायण तथा उनके दोना भाइयाक विद्या-गुरु थ, वरन् तत्कालान विजयनगरके हिन्दू राजाआक भी आध्यात्मिक गुरु थे। स्वामी विद्यातीर्थ परमात्मतीर्थके शिष्य थ। व भगवान् आद्य शकराचार्यजी महाराजद्वारा स्थापित शृगेरीपीठक सुप्रसिद्ध आचार्य थे। इन्हींके करकमलास सन्यास ग्रहण कर माधवाचार्य विद्यारण्यमुनिके नामसे विख्यात हुए और उनके पश्चात् शृगेरीपीठके आचार्य-पदपर सुशाभित हुए। माधवाचार्य एव सायणाचार्य स्वामी विद्यातीर्थक विशप ऋणी थ तथा हिन्दूधर्म एव वैदिक सस्कृतिके प्रति इन दाना भाइयाम जो अपार श्रद्धा, प्रेम तथा समर्पण था उसका श्रेय स्वामी विद्यातीर्थको ही है। इसीलिय अपने वेदभाष्याके प्रारम्भम मङ्गलाचरण करते हुए आचार्य सायणन उन्ह साक्षात् महेश्वर बताकर उनकी वन्दना की है—

यस्य नि श्वसित वेदा या वेदेभ्याऽखिल जगत्।
निर्ममे तमह वन्दे विद्यातीर्थं महश्वरम्॥

महान् वैदिक विद्वान्

आचार्य सायण सस्कृत भापा तथा वैदिक साहित्यके महान् विद्वान् थ। उनक ऋग्वदके प्रथम एव द्वितीय अष्टकक भाष्यका दखनसे पता चलता है कि उनका सस्कृत-व्याकरणका ज्ञान असाधारण था। मामासा-शास्त्रकी विशप शिक्षा ग्रहण करनक कारण व अपने युगक मामासा-दशनक अद्वितीय विद्वान् थे। मामासा-शास्त्रका उनका उच्च काटिका ज्ञान उनक भाष्यग्रन्थाम देखनेका मिलता है। उनक ऋग्वद-भाष्यक उपाद्घातको पढनेसे पाठकाको सहज ही उनके मीमासा-शास्त्रक उत्कृष्ट ज्ञानका पता चल जाता है। उन्हान ऋग्वद, कृष्ण एव शुक्ल-यजुर्वेद, सामवद आर अथववदकी प्रमुख सहिताआ, ब्राह्मणा तथा आरण्यकाका गुरु-परम्परास विधिपूर्वक अध्ययन एव मनन किया था। तभी वह इस समस्त वेदिक साहित्यके पूर्ण अधिकारी विद्वान् वनकर इतने उच्च कोटिके भाष्य-प्रणयनका कार्य कर सक, जिसक आलोकस आज छ शताब्दियाँ व्यतात हानेपर भी समस्त वैदिक जगत् आलाकित हे आर आग भी शताब्दियातक आलाकित रहेगा। वस्तुत उनकी अवतारणा ईश्वरीय विभूतिके रूपमे वेदभाष्य-प्रणयनक लिय हुई थी। इसीलिये उनका समस्त बाल्यकाल इसी महान् लक्ष्य-प्राप्तिकी तैयारीम व्यतीत हुआ था। सस्कृत-साहित्यकी प्रत्येक विद्यासे परिचित होनेके कारण एक महान् वैदिक विद्वान्के रूपम आचार्य सायणका आविर्भाव भारताय इतिहासकी अविस्मरणीय घटना है। अत उनक वदभाष्य विद्वानाके गलेके हार बने हुए हैं।

आदर्श गार्हस्थ्य-जीवन

सायणाचार्य आदर्श गृहस्थ थे। उनका गार्हस्थ्य-जीवन अत्यन्त सुखमय था। उनक कम्पण, मायण तथा शिगण नामके तीन पुत्र थे। तीनो पुत्राका लालन-पालन करते हुए उनक बीचमे वे महान् आनन्दका अनुभव करते थे। उनका पारिवारिक जीवन वस्तुत कितना सुखमय था? इसकी कल्पना उसीका हो सकती है, जो अपने परिवारमे आनन्दपूर्वक रहता हा। घरक बाहर मन्त्रीके महत्त्वपूर्ण एव दायित्वपूर्ण कार्योम व्यस्त रहना और घर आते ही अपने

पुत्रोके प्रेममय आलाप एव पठन-पाठनको सुनकर प्रसन्न होनेका सौभाग्य विरले व्यक्तियाको ही प्राप्त होता है। वह अपने पुत्राको सगीतशास्त्र, काव्य-रचना और वेद-पाठम दक्षता प्राप्त करनेकी शिक्षा देते रहते थे। इसीके फलस्वरूप ज्येष्ठ पुत्र कम्पण सगीतशास्त्री, मध्यम पुत्र मायण साहित्यकार तथा कनिष्ठ पुत्र शिगण वैदिक विद्वान् हुए।

कुशल मन्त्री

आचार्य सायण अपनी ३१ वर्पकी आयुम एक कुशल राज्य-प्रवन्धक एव मन्त्रीके रूपमे हमारे सामने आते हैं। वि० स० १४०३ (सन् १३४६)-म वे हरिहरके अनुज कम्पण राजाके मन्त्री बने और ९ वर्पतक उन्हाने बडी कुशलतासे राज्य-सचालनका कार्य किया। कम्पण राजाकी मृत्यु होनेपर उनका एकमात्र पुत्र सगम (द्वितीय) अबोध बालक था। अत उसकी शिक्षा-दीक्षाका समस्त भार प्रधान मन्त्री पदपर आसीन सायणाचार्यने जिस तत्परता, लगन तथा ईमानदारीसे वहन किया, उसका ही यह परिणाम हुआ कि सगम नरेश राजनीतिम अत्यन्त पटु होकर आदर्श राजाके रूपमें विख्यात हुए। उनके शासनकालम प्रजाको सब प्रकारकी सुख-समृद्धि एव शान्ति प्राप्त थी। वस्तुत इसका श्रेय सायणाचार्यका ही था। वे कवल कुशल मन्त्री और विद्वान् ही नहीं थे, बल्कि अनेक युद्धाम कुशलतापूर्वक युद्ध-सचालन कर उन्हाने महान् विजयश्री प्राप्त की थी। ४८ वर्पकी आयु हानपर उन्हाने लगभग १६ वर्षों—वि० स० १४२१ से १४३७ (सन् १३६४ से १३८०) तक विजयनगरके प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट् बुक्कके यहाँ मन्त्रीके उत्तरदायी पदपर रहते हुए शासन-प्रवन्धका कार्य सुचारु-रूपसे किया।

वैदिक ज्ञानालोक-दाता

इसी कालावधिम उन्हाने वेदभाष्य-रचनाका अपना सर्वश्रेष्ठ तथा विश्वविख्यात कार्य किया। उन्होने वेदभाष्य-रचनाका महान् कार्य अपने आश्रयदाता, परम धार्मिक एव वेदानुरागी महाराज बुक्ककी आज्ञास सम्पादित कर वैदिक ज्ञानका जो आलोक अपने वेदभाष्याके रूपम विश्वको प्रदान किया था, वही वैदिक ज्ञानका आलाक आज भी एकमात्र सम्बल बना हुआ है। बुक्क महाराजके स्वर्गवासी

होनेपर उनके पुत्र महाराज हरिहरके वे वि० स० १४३८ से १४४४ (सन् १३८१—८७ ई०) तक मन्त्री रहे। वि० स० १४४४ (सन् १३८७ ई०)-म ७२ वर्पकी आयुम वेदभाष्याके अमर प्रणेता, प्रतिभाशाली साहित्यकार, राजनीतिक धुरधर विद्वान्, शासन-प्रवन्धके सुयोग्य सचालक, महान् दार्शनिक तथा युद्धभूमिमें शत्रुआका दमन करनेवाले वीरशिरोमणि एव हिन्दू साम्राज्यके सस्थापक सुविख्यात मनीपी सायणाचार्यने धर्म, अध्यात्म, सस्कृति, शिक्षा, दर्शन, समाज तथा राजनीतिके विभिन्न क्षेत्राको अपने महान् कार्योसे सुसमृद्ध कर अपनी जीवन-लीलाका सवरण करते हुए वैकुण्ठवास किया। अहो! कितना महान् था उनका पावन जीवन-चरित्र!

अमर साहित्य-प्रणयन

वेदाके गूढ ज्ञानसे लेकर पुराणोके व्यापक पाडित्यतक, अलकारोके विवेचनसे पाणिनि-व्याकरणके उत्कृष्ट अनुशीलनतक, यज्ञ मीमासाके अन्त परिचयसे लेकर आयुर्वेद-जैसे लाककल्याणकारी शास्त्रके व्यावहारिक ज्ञानतक सर्वत्र आचार्य सायणका असाधारण पाडित्य सामान्य जनताके लिये उपकारक तथा प्रतिभाशाली विद्वानाके लिये विस्मयपूर्ण आदरका पात्र बना हुआ है। डॉ० ऑफ्रैक्टके अनुसार उन्हाने लगभग तीस वर्पकी आयुसे लेकर अपने जीवनके अन्तिम कालतक लगातार अटूट परिश्रम एव अदम्य उत्साहसे साहित्य-साधना करते हुए छोटे-बडे पचासा ग्रन्थाकी रचना की। उनक ये सात ग्रन्थ विशेप प्रसिद्ध हैं—(१) सुभापित-सुधानिधि, (२) प्रायश्चित्त-सुधानिधि, (३) अलकार-सुधानिधि, (४) आयुर्वेद-सुधानिधि, (५) पुरुपार्थ-सुधानिधि, (६) यज्ञतन्त्र-सुधानिधि और (७) धातुवृत्ति। इससे स्पष्ट है कि उन्हाने वेदभाष्याके अतिरिक्त उपर्युक्त ग्रन्थाकी रचना कर अपने बहु-आयामी व्यक्तित्वका परिचय दिया था।

वेदभाष्य-प्रणयन

सायणाचार्यका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है उनके द्वारा वेदभाष्याका प्रणयन किया जाना। उनके ये वेदभाष्य ही उनकी कमनीय कीर्तिका फेलानम आज भी समर्थ ह आर भविष्यम भी समर्थ रहग। यही कारण है कि भारतीय तथा

यूरोपीय विद्वानोमे किसी एकाधको छोडकर शेष सभी मूर्धन्य वैदिक विद्वानोने वेदार्थके यथार्थ ज्ञानके लिये स्वयको सायणका ऋणी माना है। सोलहवीं शताब्दीमे प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् महीधराचार्य और उनके पूर्ववर्ती उव्वटाचार्य आदि शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनी-शाखापर भाष्य-रचना करनेमे आचार्य सायणके ऋणी रहे। आधुनिक युगमे ऋग्वेदके श्रीसायण-भाष्यके प्रथम सम्पादक प्रो० मेक्समूलरके अनुसार वेदार्थ जाननेमे आचार्य सायण अन्धेकी लकडी हैं। प्रसिद्ध सनातनधर्मी विद्वान् तथा शास्त्रार्थ महारथी प० श्रीमाधवाचार्यजी और 'सनातनधर्मालोक' नामक महान् ग्रन्थके प्रणेता प० श्रीदीनानाथ शास्त्रीजीकी प्रेरणासे विद्वानोद्वारा रचित वेदभाष्योका आधार आचार्य सायणके भाष्य ही हैं। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् प० श्रीज्वालाप्रसाद मिश्र तथा प० श्रीरामस्वरूप शर्मा आदिने जो वेदभाष्य लिखे हैं, उन सबके आधार आचार्य सायणके भाष्य ही हैं। वेदका वास्तविक अर्थ जाननेके लिये 'सायणकी ओर लौटो' का सिद्धान्त प्रस्तुत करनेवाले वर्तमान शताब्दीके महान् मनीषी विख्यात वेदोद्धारक धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने अपने विश्वविख्यात महान् ग्रन्थ 'वेदार्थपारिजात'-मे भारतीय और पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानोके विचारोकी समीक्षा करते हुए आचार्य सायणके वेदभाष्योको सर्वोत्कृष्ट तथा परम प्रामाणिक सिद्ध कर यह बताया है कि उनके भाष्योकी सहायताके बिना वैदिक ज्ञानमे दुर्गम प्रवेश करना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजीका यजुर्वेद-भाष्य सायणाचार्यके भाष्योके अनुसार ही तैयार हुआ प्रतीत होता है। पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके वैदिक ग्रन्थोसे प्रेरित होकर उनके दिव्य सन्देशको आगे बढानेके उद्देश्यसे इस लेखका लेखक पिछले लम्बे समयसे आचार्य सायणके ऋग्वेद-भाष्यका हिन्दी अनुवाद लिखनेमे लगा हुआ है, जिससे हिन्दी-भाषी सामान्यजन भी सायण-भाष्य से लाभान्वित हो सके।

वेदभाष्य-निरूपण

'वेद' शब्दका प्रयोग सहिता और ब्राह्मणके समुदायके लिये किया जाता है। 'वेद' शब्द किसी एक ग्रन्थविशेषका बोध न कराकर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशिका बोध कराता है, अत वेदके दो भाग माने जाते हैं। मन्त्रभाग (सहिता) और ब्राह्मणभाग—इन दोनो भागोके अन्तर्गत आरण्यक तथा उपनिषद् भी हैं। इस प्रकार मन्त्र (सहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—इन चारोकी 'वेद' सज्ञा है। इन चारोमे सायणने मन्त्र (सहिता), ब्राह्मण और आरण्यकपर ही अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं। उपनिषदोपर भगवान् आद्य जगद्गुरु श्रीशकराचार्यजीके उत्कृष्ट भाष्य उपलब्ध होनेके कारण सम्भवत उन्होने उपनिषदोपर भाष्य लिखना आवश्यक न समझा हो। अत वेदके कर्मकाण्ड-सम्बन्धी भाग—मन्त्र, ब्राह्मण एव आरण्यकपर उन्होने अपने प्रामाणिक भाष्य लिखकर आचार्य शकरके महान् कार्यको आगे बढाया और वैदिक कर्मकाण्डियोका मार्ग प्रशस्त किया।

भाष्य-कार्य-समालोचन

आचार्य सायणने ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेद (काण्व-शाखा), कृष्णयजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन पाँचो सहिताओ तथा ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य, षड्विश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, सहितोपनिषद्, वश शतपथ और गोपथ नामक उक्त पाँचो सहिताओके बारह ब्राह्मणो एव तैत्तिरीय तथा ऐतरेय नामक कृष्णयजुर्वेद और ऋग्वेदके दो आरण्यकोपर अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं। चारो वेदोकी उपलब्ध सहिताओ, उनके ब्राह्मणो तथा आरण्यकोपर भाष्य लिखकर उन्होने वैदिक जगत्का महान् उपकार किया है। उन्होने शुक्लयजुर्वेद और सामवेदके समस्त ब्राह्मणोपर भाष्य-रचना की। शुक्लयजुर्वेदके सौ अध्यायोवाले शतपथ-ब्राह्मणका उनका भाष्य वैदिक कर्मकाण्डका विश्वकोश है। सामवेदके आठ उपलब्ध होनेवाले ब्राह्मणोपर उनके भाष्य वैदिक दर्शनके अनूठे उदाहरण हैं। ऋग्वेदकी शाकल-सहितापर उनका जो भाष्य मिलता है, वह भारतीय चिन्तन-मनन एव ज्ञानका अथाह समुद्र है। उसके समक्ष पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी भाष्य अपूर्ण तथा फीके प्रतीत होते हैं। उसीका आश्रय लेकर उत्तरवर्ती भाष्यकारोने

ने-अपने भाष्योंके प्रणयनका प्रयास किया है। ऋग्वेदके
य ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यकपर उनके भाष्य इतने
कृष्ट एवं प्रामाणिक हैं कि विद्वान् उनकी प्रशंसा करते
अघाते। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीयसंहिता, उसके ब्राह्मण
आरण्यकपर उनके भाष्य यज्ञ-सम्बन्धी महान् ज्ञानके
चायक हैं। अथर्ववेदकी संहिता और उसके गोपथ
ह्मणपर भाष्य लिखकर उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभाका
चय दिया है।

आचार्य सायणके इस महान् वेदभाष्य-कार्यको देखनेसे
तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वैदिक साहित्यके
त बड़े भागके ऊपर अपने विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य
खकर इस क्षेत्रमें अपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया है।
सीलिये न तो उनके समान कोई पूर्ववर्ती भाष्यकारोंमें
आ और न ही उत्तरवर्ती भाष्यकारोंमें अबतक हुआ तथा
ही भविष्यमें होगा। वस्तुतः उनका कार्य—'न भूतो न
विष्यति' की कहावतको चरितार्थ करता है। आजतक
सी भारतीय अथवा पाश्चात्त्य विद्वान्ने इतने अधिक
दिक ग्रन्थोंपर ऐसे सारगर्भित एवं प्रामाणिक भाष्य नहीं
खे हैं और भविष्यमें भी कोई लिखनेवाला नहीं है। यही
रण है कि वह वैदिक भाष्यकारोंके मध्यमें न केवल
ाज, बल्कि आगे भी सूर्यकी भाँति प्रकाशित होते रहेंगे।
नसे अधिक कार्य होना तो दूर रहा, उनके बराबर कार्य
ोना भी असम्भव प्रतीत होता है। अतः पाश्चात्त्य विद्वान्
प्रो० मैक्समूलरका यह कथन अत्युक्ति नहीं है कि 'आचार्य
सायणके भाष्य-ग्रन्थ वैदिक विद्वानोंके लिये अन्धेकी
लकड़ीके समान हैं।' महान् भारतीय मनीषी स्वामी
श्रीकरपात्रीजीके द्वारा वैदिक विद्वानोंको सायणकी ओर
लौटनेका परामर्श देनेसे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य
सायणका वेदभाष्य-कार्य अतुलनीय—अद्वितीय है।

व्यक्तित्व एवं कृतित्वका मूल्यांकन

सायणाचार्यका महान् व्यक्तित्व इस धराधामपर वेदोद्धारके
पावन कार्यको अपने कृतित्वद्वारा सम्पन्न करनेके लिये
ईश्वरीय विभूतिके रूपमें अवतरित हुआ था। वस्तुतः वे
बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। इसीलिये तत्कालीन
महाराज बुक्कने उन्हें सनातन संस्कृतिके सर्वोत्तम रत्न-
स्वरूप वेदोंके भाष्यका महान् दायित्व सौंपा था। उनका
शारीरिक, मानसिक बौद्धिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक
और आध्यात्मिक विकास इतना उच्च कोटिका था कि उन्हें
सर्वगुणसम्पन्न महापुरुष कहना अत्युक्ति नहीं होगी। वही
एकमात्र ऐसे वेदभाष्यकार हैं, जिन्हें विद्वान् सर्ववेद-
भाष्यकार कहकर गौरवका अनुभव करते हैं। कहाँ तो
सतत शास्त्राभ्याससे विकसित ज्ञानद्वारा वैदिक सिद्धान्तोंकी
मीमांसा करनेमें प्रगाढ़ प्रवीणता और कहाँ लौकिक
व्यवहारके बारम्बार निरीक्षणसे उत्पन्न विपुलराज्य-कार्य-
संचालनमें समर्थ राजनीतिमें आश्चर्यजनक कुशलता—इन
दोनों परस्पर विरोधी प्रतिभाओंका मणिकाञ्चन-जैसा संगम
उनके व्यक्तित्वमें देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा?

शास्त्र और शस्त्र दोनोंमें ही उनकी समान पारंगतता
देखकर यही कहना समीचीन होगा कि उन-जैसा महान्
व्यक्तित्व न हुआ है और न होगा। उनकी समस्त वैदिक
एवं लौकिक साहित्यसे सम्बन्धित कृतियाँ मानवजातिकी
अमूल्य निधि हैं। उनके भाष्य-ग्रन्थ सनातन संस्कृति, धर्म,
अध्यात्म एवं शिक्षाके विश्वकोष हैं। उनके महान् व्यक्तित्व
एवं कृतित्वका अवलोकन करनेपर यही मुखसे निकलता
है कि धन्य हैं महान् सर्ववेदभाष्यकार सायणाचार्य। धन्य
हैं उनकी विलक्षण वीरता एवं अद्भुत कृतियाँ।। धन्य है
उनका हिन्दू-साम्राज्य-स्थापनका यशस्वी कार्य।।।

सन् १९९९ के प्रसिद्ध धार्मिक मासिक-पत्र 'कल्याण'-
के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित होनेवाले 'वेद-कथाङ्क' के
प्रकाशनके अवसरपर हम आचार्य सायणके श्रीचरणोंमें
अपनी विनम्र भावना अर्पित करते हुए श्रीमन्नारायणसे उनके
दिव्य सन्देशको आगे बढ़ानेकी प्रार्थना करते हैं।

कुछ प्रमुख भाष्यकारोकी सक्षिप्त जीवनियाँ

मध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ)

स्वामी आनन्दतीर्थका विशेष प्रसिद्ध नाम मध्वाचार्य हे। ये मध्व एव गौडीय दोना सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका जन्म सन् ११९९ म उडुपीनगर (कर्नाटक)-म हुआ था। इनकी माताका नाम वेदवती था। इनके गुरुका नाम महात्मा अच्युततीर्थ महाराज था। इन्हान इन्हींसे वद-वेदान्तका अध्ययन किया था और सारे भारतम भ्रमण कर अपने ज्ञान तथा वैदिक सिद्धान्तोका प्रचार किया था। इनके लिखे हुए ग्रन्थ जा 'प्रबन्धग्रन्थ'के नामसे हैं, कई हैं। जिसम ऋग्वेदका भाष्य और वेदापर आधृत ब्रह्मसूत्रका अणुभाष्य बहुत प्रसिद्ध है। इनक वेदभाष्यपर अनेक अनुसधान विश्वविद्यालयाम हो रहे हैं और इनका मत द्वैतमतके नामसे प्रसिद्ध है। इनके मतका मुख्य सार भगवान् श्रीहरिकी उपासना ही सर्वोपरि है और भगवान् ही परमतत्त्व हैं। इनका निर्वाण बदरिकाश्रमम सन् १२७८ म हुआ था।

उव्वट

इनक पिताका नाम वज्रट था, जो बहुत विद्वान् थे। ये गुजरात-प्रान्तके आनन्दपुर नगरके निवासी थे। इन्हाने शुक्लयजुर्वेदके वाजसनेयिसहितापर विस्तृत भाष्य लिखा है। ये मालवाके राजा भोजक दरबारी थे। यजु प्रातिशाख्य नामके वैदिक ग्रन्थपर इनका भाष्य है।

महीधर

ये काशाके प्रसिद्ध विद्वान् थ। इनका समय प्राय १२वीं शताब्दी है। इनक यजुर्वेदक भाष्यका नाम 'वेदप्रदाप' है, जा सर्वाधिक विस्तृत और सरलतम भाष्य है। इसम इन्हान सभी वेदिक ग्रन्था, श्रौतसूत्रा और ब्राह्मणग्रन्थाका आश्रय लेकर यज्ञकी पूरा प्रक्रिया दी गयी है। इन्हाने उव्वट और सायण आदिके भाष्याका पढकर अत्यन्त सरल और परिष्कृत भाष्यका निर्माण किया है।

वेङ्कट माधव (विद्यारण्य)

इनका ऋग्वदका भाष्य बहुत प्रसिद्ध हे। दवराजयज्वाका जा निरुक्त— निघण्टुभाष्य' है उसम आचार्य वङ्कट माधवका सादर उल्लख प्राप्त हाता है। इनके पिताका नाम वङ्कटार्य था जा ऋग्वदक अच्छ ज्ञाता थ। माताका नाम सुन्दरी था। इनके पुत्रका नाम वेङ्कट अथवा गोविन्द था। ये कावेरी नदीके दक्षिण तटपर चोलदेशके उत्तरभागम स्थित गोमान् गाँवके निवासी थे।

प्रभाकर भट्ट

ये केरल प्रान्तके निवासी थे। ये तत्त्वज्ञानी और न्यायदर्शनके बहुत बडे विद्वान् थे। इनका मत प्रभाकर मतके नामसे प्रसिद्ध था।

शबरस्वामिन्

ये काश्मीरके रहनेवाले थे। इनके पिताका नाम दीप्तस्वामी था। इन्हाने वेदाके साथ-साथ मीमासा-दर्शनपर भाष्यकी रचना की, जो 'शाबर-भाष्य'के नामसे विश्वमे विख्यात है। इनके विषयम यह श्लोक विद्वानाकी परम्पराम बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध है—

ब्राह्मण्यामभवत् वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी।
राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृप क्षत्रात्मजायामभूत्॥
वैश्याया हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शकु कृती।
शूद्रायाममर पडव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजा॥

जयत भट्ट

इनका समय दशवीं शताब्दीके आस-पास माना जाता है। वाचस्पति मिश्र आदि परवर्ती विद्वानाने अपने-अपने ग्रन्थाम सादर इनका उल्लेख किया है। इन्हाने अनेक बौद्ध एव जैन विद्वानासे शास्त्रार्थ किया था। न्याय-दर्शनके सूत्रापर 'न्यायमञ्जरी' नामकी इनकी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इनका मुख्य ग्रन्थ 'अथर्वण-रक्षा' है, जिसम इन्हाने अथर्ववेदकी महत्तापर प्रकाश डाला है।

मण्डन मिश्र

आचार्य मण्डन मिश्र मण्डला ग्रामक निवासी थे, जिसे आजकल 'माहश्वर' कहते हैं। इसे माहिष्मतीपुरी भी कहते थे। य बहुत बड सस्कृतक प्रकाण्ड पण्डित और मीमासा तथा चारा वेदाक मर्मज्ञ थे। आचार्य शकर जब बौद्धाको परास्त करनक लिये दिग्विजय-यात्राम निकल थे तो उन्ह ज्ञात हुआ कि वदाक प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट हैं, अत व उन्ह खाजते हुए य प्रयाग पहुँचे। उस समय कुमारिल भट्ट प्रयागम आत्मदाहक लिय बैठ थे। शकराचार्यने

उन्हे बहुत रोका, पर वे नहीं माने उन्होने और कहा कि जिन बौद्ध गुरुआसे हमने शिक्षा ली थी, उन्हे ही हमने शास्त्रार्थमे परास्त कर दिया, अत मुझे अत्यन्त मानसिक ग्लानि हो गयी। अत आप मेरे शिष्य मण्डन मिश्रसे सहयोग प्राप्त करे। इसपर शकराचार्यजी मण्डला पहुँचे, रास्तेमे कुछ स्त्रियाँ कुएँसे पानी भर रही थीं। वहाँ उन्हाने मण्डन मिश्रके घरका पता पूछा। उस गाँवकी स्त्रियाँ भी इतनी विदुषी थीं कि बोल पडीं—

श्रुति प्रमाण स्मृतय प्रमाण
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसनिरुद्धा
अवेहित मण्डनमिश्रधाम॥
जगद्ध्रुव स्यात् जगदध्रुव स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसनिरुद्धा
अवेहित मण्डनपण्डितौक ॥

भाव यह है कि जिसके दरवाजेपर बैठे हुए शुक-शुकी पिजरेमे स्थिर होकर—'वेद अधिक प्रामाणिक हैं? अथवा धर्मशास्त्र कहाँतक प्रामाणिक हैं? ईश्वर सच्चा है, ससार नश्वर है या सत्य?—इन विषयोपर कठिन शास्त्रार्थ करते हैं,' उसे ही आप मण्डन पण्डितका घर समझे। आचार्य जब वहाँ पहुँचे तो यह सब देखकर दग रह गये।

मण्डन मिश्र अपने आँगनमे यज्ञ कर रहे थे। आचार्य आकाशमार्गसे उनके आँगनमे पहुँच गये और वहाँ वेदोपर उन्होने उनसे शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ कर दिया। एक सप्ताह तक वैदिक वाद-विवाद चलता रहा, फिर मण्डनजी परास्त हो गये और उन्होंने कहा कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ? तब शकराचार्यजीने कहा कि 'वैदिक धर्मकी पताका फहरानेमे आप मेरा साथ दे।' कहा जाता है कि मण्डन मिश्रकी पत्नी भारती बहुत विदुषी थी और उन्होंने शकराचार्यजीको परास्त कर दिया था।

मण्डन मिश्रने आचार्य शकरका साथ दिया। उन्हींके सहयोगसे शकराचार्यने पूरे भारतमे सभी बौद्ध-जैनियाको परास्त कर वैदिक धर्मकी पताका फहरायी और वेद-विद्याका प्रचार-प्रसार किया। मण्डन मिश्रकी पत्नीने भी बहुत सहयोग दिया और उन्हींके नामपर शृगेरी मठके सभी आचार्य आपके नामके साथ 'भारती' शब्दका प्रयोग करते हैं। भारतीदेवीकी भव्य प्रतिमा शृगेरी मठमे आज भी विद्यमान है।

इन्होने बादमे सन्यास ले लिया और इनका नाम सुरेश्वराचार्य पड गया। जिनके द्वारा निर्मित 'बृहदारण्यक वार्तिकसार', 'तैत्तिरीयारण्यक वार्तिकसार' और दिव्य 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' आदि अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जो विद्वत् समाजमे आदरणीय हुए हैं।

भागवताचार्य

भागवताचार्य वेदके सस्कृत-व्याख्याताओमे सबसे बादके भाष्यकार हैं। रामानन्द सम्प्रदायके प्रचार-प्रसारमे इनका बडा योगदान है। इन्होने चारो वेदोपर भाष्य लिखा है। ये भगवान्के बडे भारी भक्त थे, इसलिये इनके वेदभाष्योमे भी भगवद्भक्तिका प्रवाह सर्वत्र प्रवाहित है। अपने भाष्योका नाम इन्होंने भक्ति-सस्कारपर आधृत होनेके कारण 'सस्कार-भाष्य' रखा है। इनके भाष्यामे 'साम-सस्कार-भाष्य' एव 'यजु -सस्कार-भाष्य' बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्हाने भगवान् रामका नारायण एव विष्णुके रूपमे वर्णन किया है। वैष्णव सम्प्रदायमे इनके भाष्याका बडा आदर है।

नारायण

इनका जन्म सन् १३०० के आस-पास है। इन्होने शाकटायनके द्वारा निर्मित व्याकरणके ग्रन्थ 'उणादिसूत्र' पर 'प्रक्रियासर्वस्व' नामकी टीका लिखी थी। ये वेदोके विद्वान् थे। इनका भक्ति-ग्रन्थ 'नारायणीयम्' बहुत प्रसिद्ध है, जो 'गीताप्रेस'से प्रकाशित भी है।

वाचस्पति मिश्र

ये वेदके परम तत्त्वज्ञ थे, साथ ही सभी दर्शन-शास्त्रोका इन्होने समानरूपसे अध्ययन किया था। गूढतम वैदिक तत्त्वोके परम दार्शनिक रहस्य इन्हे हस्तामलकवत् थे। ये अहर्निश स्वाध्यायमे लीन रहते थे। इन्होने वैदिक निबन्धोके अतिरिक्त सभी दर्शनशास्त्रोपर 'टीका-ग्रन्थ' लिखा है। इसलिये ये 'द्वादशदर्शन-कानन-पञ्चानन' वेदविद् विद्वान्के रूपमे प्रसिद्ध हुए हैं। इतिहासके अनुसार इनकी पत्नीका नाम भामती था, जो इनकी शाकरभाष्यकी व्याख्याका नाम हो गया और वेदान्त ग्रन्थोमे सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ये राजा नृगके दरबारके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। इनके गुरुका नाम त्रिलोचन शास्त्री था।

गोयनकाने 'श्रीजोखीराम मटरूमल गोयनका संस्कृत महाविद्यालय' की स्थापना कर उन्हे अपने यहाँ वेद-अध्यापक नियुक्त किया। कई वर्षोंतक गोयनका महाविद्यालयमें वाचस्पति, आचार्य, शास्त्री आदिके छात्राको अध्यापन करानेके बाद सन् १९३९ म आपने त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र देनेके पश्चात् भी वे विद्यानुरागी सेठ गौरीशकरजी गोयनका तथा म० म० प० हरिहरकृपालुजी द्विवेदी आदिके प्रबल आग्रहके कारण आजीवन इस महाविद्यालयसे सम्बद्ध रहे।

विद्वानाके पारखी महामना प० मदनमोहन मालवीयजी निरन्तर यही प्रयत्न करते थे कि सदाचारी और गम्भीर विद्वान् काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे सलग्न हो और अपनी विद्या एव उज्ज्वल चरित्रसे विद्यार्थियाको लाभान्वित कर। उन्होने प० विद्याधरजीको रणवीर संस्कृत पाठशालामे प्रधानाध्यापक पदपर नियुक्त कर दिया। सन् १९१७ म काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके धर्म-विज्ञान-विभागम आपको सर्वप्रथम प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया। धर्म-विज्ञान सकायके विभिन्न पदापर रहकर अध्यापन करते हुए इस पदसे १९४० मे आपने त्यागपत्र दे दिया। पण्डित विद्याधरजी सन् १९४० से जीवनके अन्तिम क्षणतक काशीके सुप्रसिद्ध सन्यासी संस्कृत कालेज (अपारनाथ मठ)-के प्रधानाचार्य भी रहे।

वेद-प्रचार

आप साक्षात् वेदमूर्ति और वेदमय थे। अध्यापन कार्यके साथ-साथ अपना अधिक समय वेदके प्रचारमे व्यतीत करते थे। आपकी प्रेरणासे महामहोपाध्याय डॉ० गगानाथ झाने तत्कालीन गवर्नमट संस्कृत कालेजम शुक्लयजुर्वेदके अध्यापन और परीक्षणका कार्य प्रारम्भ किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और गोयनका संस्कृत महाविद्यालयमें जहाँ पहले केवल शुक्लयजुर्वेदका ही अध्यापन होता था, आपके प्रयत्नोसे वहाँ चारा वेदाका अध्ययन-अध्यापन होने लगा। पण्डित विद्याधरजीसे केवल वेद पढनेवाले जिज्ञासु छात्र ही वेदाध्ययन नहीं करते थे, वरन् व्याकरण तथा साहित्यके प्रसिद्ध अध्यापक और विद्वान् भी उपस्थित होकर भाष्यसहित वेदाका अध्ययन करते थे।

सरल जीवन

भारतीय पण्डिताकी परम्परागत वेशभूषा—बगलबन्दी (मिरजई), सिरपर रेशमी साफा, मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र अकित किये रहनेवाले प० श्रीविद्याधरजी गौड बडे सीधे-साधे और सज्जन व्यक्ति थे। ईश्वरम इनकी प्रगाढ निष्ठा और अचल श्रद्धा थी। असत्य-भाषण, मिथ्या-व्यवहार तथा छल-प्रपञ्चको वे घोर पातक समझते थे। जितना विराग उन्हे मिथ्या व्यवहारसे था, उतना ही व्यर्थकी चाटुकारितासे भी था। किसी भी सकटकी परिस्थितिम वे कभी विचलित नहीं होते थे। महासागरके समान शान्तचित्त और स्थिर रहते थे।

उपाधि

वेदविद्यामे पूर्ण पारगत होने, वैदिक विद्याका समस्त गूढ मर्म समझने, वैदिक कर्मकाण्डम सविधि वेदका प्रयोग करने, वेद-कर्मकाण्डके अनेक ग्रन्थाके निर्माण करने तथा सर्वतोमुखी प्रतिभाकी ख्यातिके कारण भारत सरकारने सन् १९४० ई० म विद्वानाकी सबसे बडी उपाधि महामहोपाध्यायसे सरस्वतीके वरदपुत्र प० श्रीविद्याधरजी गौडको समलकृत किया।

लेखन-कार्य

प० श्रीविद्याधरजी गौड कुशल लेखक भी थे। कर्मकाण्डकी लगभग सभी पद्धतियाका सशोधन इनके द्वारा हुआ। अनेक पद्धतियाका प्रणयन भी आपने किया। जिनमे स्मार्त-प्रभु, प्रतिष्ठा-प्रभु, विवाह-पद्धति, उपनयन-पद्धति, वास्तु-शान्ति-पद्धति, शिलान्यास-पद्धति तथा चूडाकरण-पद्धति आदि विशेष प्रसिद्ध है। आपकी रचित कुछ पद्धतियाँ तथा कात्यायन श्रौतसूत्रको भूमिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालयकी वेद-कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विविध परीक्षाआमें पाठ्यग्रन्थके रूपमे स्वीकृत है। आपद्वारा रचित कात्यायन श्रौतसूत्र और शुल्बसूत्रकी 'सरला' टीका काफी विद्वत्तापूर्ण मानी जाती है। शतपथ-ब्राह्मण, श्राद्धसार एव कात्यायन-श्रौतसूत्रकी देवयाज्ञिक-पद्धति आदि अनेक ग्रन्थाका सम्पादन तथा 'श्रौतयज्ञ-परिचय' नामक ग्रन्थके निर्माणसे वैदिक जगत् उपकृत है। वस्तुत अपने पिताजीकी स्मृतिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये आपने 'स्मार्त-प्रभु' तथा 'प्रतिष्ठा-प्रभु' नामक दो ग्रन्थाकी रचना की थी।

संस्कृतनिष्ठा

पण्डित विद्याधरजीकी यह भावना थी कि संस्कृत भाषाके पढे बिना हमारे देशका कल्याण नहीं हो सकता। वे संस्कृत भाषाके अनुरागी मात्र नहीं थे, वरन् अनन्यभक्त भी थे। संस्कृतम ही पत्र-व्यवहार करते थे। संस्कृतज्ञोसे सम्पर्क हानेपर संस्कृतम ही वार्तालाप और सम्भाषण करते थे।

धर्माचरण

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, आत्मदमन, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियोका निग्रह, विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना'—य धर्मके दस लक्षण हे। पण्डित विद्याधरजीम ये सभी गुण पूर्णरूपसे विराजमान थे। अतुलित धैर्यके साथ ही आप क्षमाशील भी थे। मन, बुद्धि आर हृदय सभी दृष्टियासे आप पूर्ण पवित्र थे एव श्रुति, स्मृति, पुराण आदि धर्मग्रन्थाम प्रतिपादित परम्परागत सनातन वैदिक धर्मके परम अनुयायी थे। आप प्रतिदिन प्रात चार बजे उठकर गङ्गा-स्नान, सध्या-तर्पण, बाबा विश्वनाथ तथा माँ अन्नपूर्णाका दर्शन करके दुर्गापाठ किया करते थे।

गौ-ब्राह्मण-भक्त

अपने पूज्य पिता प० प्रभुदत्तजी गौडके समान प० विद्याधरजी भी बडे निष्ठावान् और ब्राह्मण-भक्त थे। प्रात उठते ही गौमाताके दर्शन करते थे। काशीसे बाहर जाना होता तो गोमाताका दर्शन और उसकी प्रदक्षिणा करके ही जाते। गाके समान ब्राह्मणाके भी वे परम भक्त थे। ब्राह्मण-निन्दा उन्ह कभी सह्य न था। हमेशा अन्न-वस्त्रसे ब्राह्मणाका सत्कार किया करते थे। ब्राह्मणोका बहुत आदर करते थे पर उनम जातिगत कट्टरता तनिक भी नहीं थी।

विविध कार्यदक्षता

आप शतावधानियाकी तरह एक ही समयमे अनेक कार्य करते थे। एक ओर वेदका मूल पाठ पढाते तो दूसरी ओर वेदभाष्य पढाते थे। इसी प्रकार एक ओर व्याकरण पढाते ता दूसरी ओर साहित्य आदि पढाते थे। अध्यापनके साथ-साथ ग्रन्थ-लेखन, धर्मशास्त्रीय व्यवस्था और पत्रोत्तर आदिका कार्य भी करते रहते थे।

गोलोकवास

प० श्रीविद्याधरजी गौडका 'काश्या मरणान्मुक्ति ' म पूर्ण विश्वास था। आप जीवन-यात्रा-समाप्तिके एक वर्ष पूर्वसे कुछ शिथिल रहने लगे थे। सन् १९४१का प्रात १० ३० बजे ५५ वर्षकी अल्पायुमे महामहोपाध्याय प० श्रीविद्याधरजी गौड अपने सुयोग्य पुत्रा, शिष्या और भक्ताको छोडकर अपने नश्वर पाञ्चभौतिक शरीरको पवित्र काशीम त्याग कर मुक्त हो गये।

'मनसे, वचनसे ओर कर्मसे जो पुण्यके अमृतसे भरे हुए सम्पूर्ण त्रिभुवनका अपने उपकारसे तृप्त करते रहते हैं और दूसराके अत्यन्त नन्हे-से गुणको भी पर्वतके समान बनाकर हृदयमे प्रसन्न होते रहते हैं'—ऐसे कम लोग ही माँ धरित्रीकी गोदमे अवतरित होते हैं। वेद-विद्याकी अप्रतिम प्रतिभा महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड ऐसे ही लोगोमेसे थे, जिन्हे काशी कभी विस्मृत न कर सकेगी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

अर्वाचीन वैदिक अनुसधाताआ तथा वेदके भाष्यकाराम स्वामी दयानन्द सरस्वतीका भी नाम है। स्वामी दयानन्दजी गुजरात प्रान्तके थे। वचपनसे ही आपकी प्रवृत्ति निवृत्ति-मार्गकी ओर रही, इसलिये गृहस्थ-धर्मसे आप सदा दूर ही रहे। यहाँतक कि गृह-त्याग कर आपने नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आश्रय ग्रहण किया और 'शुद्धचैतन्य' इस नामसे आपकी प्रसिद्धि हुई फिर प्रारम्भ हुआ आपका दश-भ्रमणका कार्य। अनन्तर सन्यास ग्रहण कर आप 'शुद्धचैतन्य' से 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' इस नामसे जाने गये। मथुरा पहुँचकर आपने प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी महाराजसे विशेष वेद-ज्ञान प्राप्त किया और फिर आपने वेदाके प्रचार-प्रसारके कार्यका सकल्प लिया। इस कार्यमे इन्हें महान् सघर्ष करना पडा। आपने वेदापर भाष्य आदिका प्रणयनकर एक नवीन विचारधाराको पुष्ट किया, जो प्राचीन सनातन परम्परासे मल नहीं खाती। आपने कई बार शास्त्रार्थ किया और यावज्जीवन आप इस पद्धतिके पोषणम लगे रहे।

अभिनव वेदार्थचिन्तनमे स्वामी करपात्रीजीका योगदान

(डॉ० श्रीरूपनारायणजी पाण्डेय)

वेद भारतीय धर्म एव सस्कृतिके मूल उत्स हैं। महर्षियोके द्वारा वेदावबोधके प्रयासमे वेदाङ्गो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष)-का प्रणयन किया गया। (वैदिक) आस्तिक दर्शन, विशेषरूपसे मीमासा एव वेदान्त, वेदार्थ एव वेदतत्त्वका गम्भीर विमर्श करते हैं। रामायण, अष्टादशपुराण तथा महाभारतमे भी विविध कथा-प्रसगोके माध्यमसे वेदार्थका विस्तार किया गया है।

वेदके प्राचीन भाष्यकारोमे स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव, रावण, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, सायण, उव्वट, महीधर, आनन्दबोध, हलायुध, अनन्ताचार्य, भट्टभास्कर मिश्र, माधव तथा भरतस्वामी आदि विश्वविश्रुत हैं। वेदार्थचिन्तन तथा वैदिक सिद्धान्तोके प्रतिपादनमे यास्क, व्यास, जैमिनि, मनु, शबर, शकराचार्य, मण्डन मिश्र, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, वाचस्पति मिश्र, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा जयन्त भट्ट आदिका नाम सादर सस्मरणीय है। आधुनिक वेदभाष्यकारो तथा सस्कृतेतर वेदानुवादकोमे स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, रमेशचन्द्र दत्त, रामगोविन्द त्रिवेदी, कोल्हट, पटवर्धन सिद्धेश्वर शास्त्री, जयदेव विद्यालकार, डॉ० सत्यप्रकाश, कपालशास्त्री, श्रीराम शर्मा, ज्वालाप्रसाद मिश्र, वारेन्द्र शास्त्री तथा क्षेमकरण त्रिवेदी आदिका नाम उल्लेखनीय है। पाश्चात्य वेदज्ञो एव अनुवादकोमे फ्रीडिशरोजेन, मैक्समूलर, विल्सन ग्रासमैन, लुडविग, ग्रिफिथ, ओल्डेनबर्ग, वेबर, कीथ, राथ, ह्विटनी तथा स्टेवेन्सन आदि प्रमुख हैं। आधुनिक वेदार्थचिन्तकोमे प० मधुसूदन ओझा, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, अरविन्द, वासुदेव शरण अग्रवाल, सूर्यकान्त तथा रघुनन्दन शर्मा आदि समादरणीय हैं।

वेदभाष्यकार अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

स्वामी करपात्रीजी आधुनिक युगके उन वेदार्थचिन्तकोमे अग्रगण्य हैं, जिन्होने पूर्ववर्ती आचार्यों तथा भाष्यकारोकी सुचिन्तित वेदार्थपरम्पराका दृढताके साथ अनुवर्तन करते हुए प्राच्य एव पाश्चात्य वेदज्ञोके मतोकी सम्यक् समालोचनाकी है तथा भारतीय मान्य वेदार्थपरम्परामे तदनुकूल अभिनव अर्थोकी सर्जनाकी है। स्वामीजी (सन् १९०७—१९८२ ई०)-द्वारा प्रणीत वेदविषयक ग्रन्थोमे 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' (दो भागोमे), 'वेदप्रामाण्य मीमासा', 'वेदस्वरूपविमर्श', 'वेदार्थपारिजात' (भागद्वय) तथा 'वाजसनेयिमाध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदसहिता' (करपात्रभाष्यसमन्वित-दशभागोमे) मुख्य हैं। ऋग्वेदसहिता (प्रथम मण्डल)-का भाष्य अभी अप्रकाशित है। वैदिक चिन्तन तथा वेदमूलक सिद्धान्तोका प्रतिपादन आपके अन्य प्रमुख ग्रन्थो—'मार्क्सवाद और रामराज्य', 'रामायणमीमासा', 'चातुर्वर्ण्यसस्कृतिविमर्श' तथा 'भक्तिसुधा' आदिमे उपलब्ध होता है।

वेदभाष्यके क्षेत्रमे युगान्तर उपस्थित करनेवाले स्वामी दयानन्द सरस्वतीने ब्राह्मण-ग्रन्थोके वेदत्वका खण्डन किया तथा सनातन सस्कृतिके अङ्गभूत मूर्तिपूजा एव श्राद्ध-तर्पण

आदिमे अविश्वास प्रदर्शित किया। उन्होंने आचार्य सायण, महीधर तथा उव्वट आदिके विपरीत अग्नि, अदिति, इन्द्र, रुद्र एवं विष्णु आदिका यास्कके निरुक्तके आधारपर नूतन यौगिक अर्थ किया तथा परम्पराद्वारा प्रमाणित याज्ञिक अर्थकी घोर उपेक्षा की।

पाश्चात्त्य वेदज्ञोंने भाषाशास्त्रादिके आधारपर न केवल सनातन वेदार्थ-परम्पराका उपहास किया, अपितु आर्य-अनार्य-सिद्धान्तकी परिकल्पना करके 'वेदमन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि भारतके मूल निवासी नहीं हैं'—इस सिद्धान्तकी दृढ प्रतिष्ठापना की। वेदमन्त्रोंके द्रष्टा ऋषियोंको उनका रचयिता मानकर मीमांसादि दर्शनोंके दृढतापूर्वक प्रतिपादित वेदोंके नित्यत्व तथा अपौरुषेयत्वका खण्डन किया।

पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजीने स्वामी दयानन्द सरस्वतीका गम्भीरतापूर्वक खण्डन करते हुए ब्राह्मणग्रन्थोंके वेदत्वको सुप्रतिपादित किया तथा मूर्ति-पूजा एवं श्राद्ध-तर्पण आदिको वैदिक सिद्धान्तोंके अनुरूप सिद्ध किया। स्वामी दयानन्द सरस्वतीके नूतन वेदार्थको सर्वथा अस्वीकृत करते हुए सनातन परम्पराके अनुरूप वेदार्थको अङ्गीकृत किया तथा अपनी विलक्षण प्रतिभाके बलपर वेदमन्त्रोंके नूतन आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थोंको स्पष्ट किया। स्वामीजीका यह सुचिन्तित मत है कि यदि लौकिक वाक्योंके अनेक अर्थ हो सकते हैं, तो अलौकिक वेदवाक्योंके अनेक अर्थ क्यों नहीं? हाँ, वेदमन्त्रोंके अर्थप्रतिपादनमें उनके ऋषि, देवता तथा सूत्रानुसारी विनियोगादिकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। स्वामीजीके विचार मन्तव्य हैं—

'त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यथात्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थेषु इयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशेष्यात् अश्वः साधु साधुतरञ्च वहति, एवमेवेमे वक्तृवैशेष्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैव सति लक्षणोद्देश्यमात्रमवतस्मिन् शास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति। एकेन विदुषा 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्' इति श्रीमद्भागवतीयाद्यपद्यस्याष्टोत्तरशतसंख्याकानि व्याख्यानानि कृतानि।

'यदा स्थितिरेतादृशी पौरुषेयेषु वाक्येषु तदा परमेश्वरीयनित्यविज्ञानमयानि वैदिकमन्त्रब्राह्मणवाक्यानि बह्वर्थानि भवेयुरित्यत्र नास्ति मनागपि विप्रतिपत्तिः। तथापि प्रामाणिकानि तानि व्याख्यानानि तात्पर्यानुगुणानि उपपत्तिमन्ति भवेयुस्तदैव ग्राह्याणि नान्यथा। तत्रार्षविनियोगवशादर्थभेदो युक्तः। विनियोगवशादुपक्रमादिलिङ्गवशाच्च यत्र मुख्यं तात्पर्यं निश्चीयते तदविरोधेनैवेतराणि व्याख्यानानि ग्राह्याणि। इतरथा ग्रहणे परस्परविरुद्धार्थवादित्वेनाप्रामाण्यमेव स्याद् वेदानाम्।'

(शुक्लयजुर्वेदसंहिता १। १, करपात्रभाष्य)

यज्ञप्रधान शुक्लयजुर्वेदके मन्त्रोंके याज्ञिक अर्थको पुष्ट करते हुए उसके अविरुद्ध उनके रमणीय आध्यात्मिक अर्थको प्रकाशित करके स्वामीजीने वेदार्थ-प्रकाशनके क्षेत्रमें अद्भुत युगान्तकारी क्रान्ति की है। वेदभाष्यभूमिका-'वेदार्थपारिजात' के साथ शुक्लयजुर्वेदके करपात्रभाष्यके प्रकाशनसे यास्क, शौनक, कात्यायन, बोधायन, आश्वलायन, शांखायन आपस्तम्ब, सत्याषाढ, भारद्वाज, वैखानस, वाधूल, जैमिनि तथा कौशिक आदि ऋषियों तथा आचार्यों एवं स्कन्दस्वामी, महाभास्कर मिश्र, सायण और उव्वट आदि भाष्यकारोंकी अर्थ-परम्परा पल्लवित एवं पुष्पित हो गयी, आधुनिक प्राच्य एवं पाश्चात्त्य वेदज्ञोंके मतोंकी समीक्षा हो गयी तथा उनके द्वारा भारतीय धर्म एवं संस्कृतिकी मान्यताओंपर किये गये आक्षेपोंका यथेष्ट विखण्डन हो गया। इस प्रकार स्वामी करपात्रीजीके द्वारा प्रस्तुत अभिनव वेदार्थचिन्तन सनातन वैदिक धर्म एवं संस्कृतिकी विजयकी उद्घोषणा करता है तथा परवर्ती विद्वानोंको परम्पराके अविरुद्ध अभिनव अर्थोंके चिन्तनकी सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

स्वामीजीने याज्ञिक अर्थके अनुरूप किस प्रकार प्रत्येकके आध्यात्मिक आदि अर्थोंकी उद्भावना की है? इसे एक उदाहरणके द्वारा उपस्थित करना अनपेक्षित न होगा।

शुक्लयजुर्वेद, प्रथम अध्यायके अन्तिम मन्त्र 'सवितुस्त्वा०' का याज्ञिक अर्थ निम्नलिखित है—

'हे आज्य! प्रेरक सूर्यदेवताकी प्रेरणासे मैं छिद्ररहित पवित्र तथा सूर्य किरणाके द्वारा तुम्हे शुद्ध कर रहा हूँ। उसी तरह हे प्रोक्षणी जल। यज्ञ-निवास-भूत सूर्यकी किरणोसे और छिद्ररहित पवित्रसे मै तुम्ह प्रेरक देवताकी प्रेरणाके कारण शुद्ध कर रहा हूँ। हे आज्य। तुम शरीरकी कान्तिको देनेवाले तेज हो, प्रकाशक हो तथा अविनश्वर हो। उसी तरह हे आज्य। तुम समस्त देवताओके स्थान हो, सबको झुकानेवाले हो और देवताआके द्वारा तिरस्कार न करनेके कारण तुम उनके प्रिय हो, तुम उनके यागके साधन हो, इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।'

इसी मन्त्रका आध्यात्मिक अर्थ कितना अभिराम है। देखिये—'भगवान् वेद आत्माको सम्बाधित कर रहे हैं कि हे जीव। प्रपञ्चके उत्पादक स्वप्रकाश परमेश्वरकी आज्ञाम रहनेवाला मैं तुम्ह सशय-विपर्ययादि दोषासे रहित पवित्र ज्ञानसे उत्कृष्टतया पावन कर रहा हूँ। अर्थात् स्वप्रकाशज्ञान सूर्यकी रश्मियासे अर्थात् तदनुरूप विचारोके द्वारा समस्त उपाधियोका निरसन कर परिशोधन करते हुए तुझमे ब्रह्मतादात्म्य प्राप्त करनेकी योग्यता पैदा कर रहा हूँ। हे जीव। तुम परमात्माका आलम्बन करनेवाले तेजके स्वरूप हो। तुम दीप्तिमान्-ज्योतिष्मान् हो तुम अमृत हो, अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि जो मर्त्य (नश्वर) हैं, उनसे भिन्न हा। तुम धाम हो अर्थात् जिसम चित्तकी वृत्तिको स्थापित किया जाता है, उस परब्रह्मके स्वरूप अर्थात् सर्वाश्रय-स्वरूप हो। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥'—जहाँ पहुँचकर जीव वापस नहीं आता है, वही मेरा परम धाम है (गीता १५। ६), ऐसा भगवद्वचन है। तुम नाम हो अर्थात् समस्त प्राणियाको जा अपने प्रति झुका लेता है, उसे नाम कहते है। अभिप्राय यह कि सर्वाधिष्ठान तुम हो। इन्द्रिय, मन, बुद्धिरूप दवताओ और इन्द्रादि ज्योतियाके परम प्रेमास्पद ब्रह्म तुम्हीं हो। महद् भय वज्रमुद्यतम्', 'भीषास्माद्वात पवते भीषोदेति सूर्य ' इत्यादि श्रुतियाने 'तुम्ह अनाधृष्ट अर्थात् अप्रधृष्य बताया है। देवता भी जिसका यजन करते हैं, वह देव-यजन तुम ही हो' (शुक्लयजु० १। ३१, करपात्रभाष्य, हिन्दी अनुवाद, प्रथम खण्ड)।

इस प्रकार अभिनव वेदार्थचिन्तनम स्वामी करपात्रीजीका योगदान अतीव विलक्षण है तथा चिरकाल तक यह सनातन वेदार्थ-परम्पराके अनुयायियोका प्रेरक रहेगा। इसके स्वाध्यायसे वेदार्थके गूढ रहस्याका निश्चित उद्घाटन होगा। वेबर, मैक्समूलर तथा याकोबी आदि पाश्चात्य पण्डितोके मतोकी युक्तियुक्त समीक्षा करते हुए स्वामीजीने सप्रमाण पुष्ट किया है कि आर्य नामकी कोई जाति नहीं है। वेदमन्त्रोके द्रष्टा ऋषि भारतके ही मूल निवासी हैं। मानवकी प्रथम सृष्टि भारतम हुई है। हम भारतीय अनादिकालसे भारतके निवासी हैं। वेद नित्य तथा अपौरुषेय हैं। भारतम वैदिक स्वाध्यायकी परम्परा कभी विच्छिन्न नहीं हुई। ऋतम्भरा प्रज्ञासे सम्पन्न सत्यवादी ऋषियाने वेदमन्त्राके किसी कर्ताको स्मरण नहीं किया है। ऐसी स्थितिमे ऋषि युगारम्भमे वेदमन्त्रोके द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं हैं। वेद ता परमात्माक नि श्वासभूत ही हैं। जिस प्रकार प्रत्येक प्राणीमे नि श्वास सहजरूपमे विद्यमान रहता है, उसी प्रकार परमात्मासे वेदाकी रचना ई०पू० ३००० से ई०पू० ६००० के मध्य हुई होगी। आर्योके आदि देश, वेद-रचना-काल तथा वेदाके प्रतिपाद्यके विषयमे पाश्चात्य वेदज्ञ पण्डितोकी मान्यताएँ किसी भी रूपमे अङ्गीकार्य नहीं हैं।

आधुनिक भारतीय वेदभाष्यकाराके मतके सदर्भमें स्वामीजीका यह स्पष्ट मत है कि सहिताभागके समान ब्राह्मणभाग भी वेदाके अपरिहार्य अश हैं। मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनाकी वेदसज्ञा है। वेद धर्म तथा ब्रह्मके प्रतिपादक हैं। वेदाकी श्रौतसूत्रानुसारी व्याख्या की जानी चाहिये तथा उसके अविरुद्ध अन्य आध्यात्मिक आदि अर्थोंको उद्भावित करना चाहिये। आधुनिक विचारधाराके अनुरूप वेदमन्त्राका मनमानी अर्थ करना सर्वथा असगत है। स्वामीजीके इस महनीय योगदान-हेतु सनातन वेदार्थचिन्तन-परम्परा उनका चिरकृतज्ञ रहेगी।

वेदके सूक्तोका तात्त्विक रहस्य

[ज्ञात-अज्ञात समस्त ज्ञान-विज्ञानका मूल स्रोत वेद ही है। वेद ज्ञानरूपी अगाध रत्नाकर हैं। इस महापयोधिकी अमृत-कणिकाओमे अवगाहन करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। वेदोमे यत्र-तत्र सूक्तरूपी अनेक मुक्तामणियाँ बिखरी पडी हैं, जिनमे व्यक्तिकी अभीष्ट-सिद्धिके अमोघ उपादान अन्तर्निहित हैं। निष्ठा एव आस्थाके द्वारा व्यक्ति अपनी विविध कामनाओकी पूर्ति इनके माध्यमसे करनेमे समर्थ हैं।

वेदके प्रमुख सूक्ताके स्वरूप-ज्ञान, प्रयोजन-ज्ञान और तत्त्व-ज्ञानके बिना उनके अध्ययन, जप और तत्प्रतिपादित अनुष्ठानामे प्रवृत्ति नहीं होती। स्वरूप-ज्ञान और प्रयोजन-ज्ञान ही प्रवृत्ति-प्रयोजक-ज्ञानके आधार हैं। किसी भी कार्यमे व्यक्तिकी प्रवृत्ति तभी होती है, जब उसे भलीभाँति प्रमाणसम्मतरूपमे यह ज्ञात हो जाय कि 'इस कार्यको करनेमे हमारा कोई विशेष अनिष्ट होनेवाला नहीं है, प्रत्युत इससे हमारे उत्कृष्ट इष्टकी ही सिद्धि होनेवाली है,[1]'—ऐसा ज्ञान होनेपर ही वह उस कार्यमे प्रवृत्त होता है। साथ ही उसे यह भी ज्ञात होना चाहिये कि 'यह मेरी सामर्थ्यसे साध्य है और मैं इसका अधिकारी हूँ[2]।' इन दोनो प्रकारके ज्ञानको ही प्रवृत्ति-प्रयोजक-ज्ञान कहा जाता है तथा प्रवृत्ति-प्रयोजकके विषयके रूपमे विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध एव अधिकारी—इन चार विषयोका समावेश होनेसे इन्हे अनुबन्ध-चतुष्टय[3] कहा जाता है।

सूक्त किसे कहते हैं? अथवा सूक्तोका विषय क्या है? सूक्ताका प्रयोजन क्या है? सूक्तोसे विषयका सम्बन्ध क्या है? और इन सूक्तोका अधिकारी कौन है?—इन सबकी जानकारीकी दृष्टिसे अनुबन्धका प्रतिपादन अनिवार्य है। अत इस सम्बन्धमे कतिपय आवश्यक बाते सक्षिप्त रूपमे यहाँ प्रस्तुत हैं।

'सूक्त' शब्द 'सु' उपसर्गपूर्वक 'वच्' धातुसे 'क्त' प्रत्यय करनेपर व्याकृत होता है। 'सूक्त' शब्दका अर्थ हुआ—'अच्छी रीतिसे कहा हुआ'। सूक्तका विशेष्य वैदिक मन्त्र है। इस प्रकार यह शब्द विविध उद्देश्योको लेकर वेदोमे कहे गये मन्त्रोका उद्बोधक होता है। इन मन्त्रामे तत्तद् देवाके स्वरूप एव प्रभावका वर्णन है। इन्हीं मन्त्रोमे उन देवी एव देवाके ध्यान तथा पूजनका सफल विधान भी निहित है।

जो वेदमन्त्रसमूह एकदैवत्य और एकार्थ-प्रतिपादक हो, उसे 'सूक्त' कहा जाता है। बृहद्देवतामे 'सूक्त' शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया गया है—'सम्पूर्णं ऋषिवाक्य तु सूक्तमित्यभिधीयते'—अर्थात् सम्पूर्ण ऋषि-वचनोको 'सूक्त' कहते हैं।

सामान्यत सूक्त दो प्रकारके माने जाते हैं—(१) क्षुद्रसूक्त और (२) महासूक्त। जिन सूक्तोमे कम-से-कम तीन ऋचाएँ हों, उनको 'क्षुद्रसूक्त' कहते हैं तथा जिन सूक्तोमे तीनसे अधिक ऋचाएँ हों, उन्हे 'महासूक्त' कहते हैं।

बृहद्देवता (१। १६)-मे चार प्रकारके सूक्तोका वर्णन प्राप्त होता है। जैसे—(१) देवता-सूक्त, (२) ऋषि-सूक्त, (३) अर्थ-सूक्त और (४) छन्द -सूक्त—

> *देवतार्षार्थछन्दस्तो वैविध्य च प्रजायते। ऋषिसूक्त तु यावन्ति सूक्तान्येकस्य वै स्तुति ॥*
> *श्रूयन्ते तानि सर्वाणि ऋषे सूक्त हि तस्य तत्। यावदर्थसमाप्ति स्यादर्थसूक्त वदन्ति तत्॥*
> *समान छन्दसो या स्युस्तच्छन्द सूक्तमुच्यते। वैविध्यमेव सूक्तानामिह विद्याद्यथायथम्॥*

अभिप्राय यह कि किसी एक ही देवताकी स्तुतिमे जितने सूक्त पर्यवसित हा उन्हे 'देवता-सूक्त' तथा एक ही ऋषिकी

१-इदं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनम्। २-इद मत्कृतिसाध्यम् इत्याकारक कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानम्।

३ प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्।

स्तुतिमे जितने सूक्त प्रवृत्त हो, उन्हे 'ऋषि-सूक्त' कहा जाता है। समस्त प्रयोजनाकी पूर्ति जिस सूक्तसे होती हो, उसे 'अर्थ-सूक्त' कहते हैं और एक ही प्रकारके छन्द जिन सूक्तोमे प्रयुक्त हो, उन्हे 'छन्द -सूक्त' कहा जाता है। इस प्रकार मान्यक्रमसे सूक्ताके भेदोका परिज्ञान करना चाहिये।

इन सूक्ताके जप एव पाठकी अत्यधिक महिमा बतायी गयी है। इनके जप-पाठसे सभी प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक एव आधिभौतिक क्लेशासे मुक्ति मिलती है। व्यक्ति परम पवित्र हो जाता है और अन्त करणकी शुद्धि होकर पूर्वजन्मकी स्मृतिको प्राप्त करता हुआ वह जो भी चाहता है, उसे वह मनोऽभिलषित अनायास ही प्राप्त हो जाता है—

एतानि जप्तानि पुनन्ति जन्तूञ् जातिस्मरत्व लभते यदीच्छेत्॥

(अत्रि ६। ५)

अर्थात् इन सूक्तोका जप करनेपर ये प्राणियाको पवित्र कर देते हैं, जिससे वह व्यक्ति कुलाग्रणीके रूपमे प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

पाठकाकी जानकारीके लिये वेदके प्रमुख सूक्तोका अर्थ एव परिचय यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है। वेदके सभी सूक्त महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञानराशिका प्रत्येक कण उपादेय है, ग्राह्य है, परतु स्थानाभावके कारण कुछ प्रमुख सूक्तोकी प्रस्तुति ही सम्भव है। —सम्पादक]
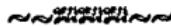
पञ्चदेवसूक्त

१-श्रीगणपत्यथर्वशीर्षम्

[अथर्वशीर्षकी परम्परामे 'गणपति अथर्वशीर्ष' का विशेष महत्त्व है। प्राय प्रत्येक माङ्गलिक कार्योंमे गणपति-पूजनके अनन्तर प्रार्थनारूपमे इसके पाठकी परम्परा है। यह भगवान् गणपतिका वैदिक-स्तवन है। इसका पाठ करनेवाला किसी भी प्रकारके विघ्नसे बाधित न होता हुआ महापातकासे मुक्त हो जाता है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारो पुरुषार्थोंको प्राप्त करता है। इसे यहाँ 'गणपति-सूक्त' के रूपमे सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

ॐ नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्ष तत्त्वमसि। त्वमेव केवल कर्तासि। त्वमेव केवल धर्तासि। त्वमेव केवल हर्तासि। त्वमेव सर्व खल्विद ब्रह्मासि। त्व साक्षादात्मासि नित्यम्॥ १॥

गणपतिको नमस्कार है, तुम्हीं प्रत्यक्ष तत्त्व हो, तुम्हीं केवल कर्ता, तुम्हीं केवल धारणकर्ता और तुम्हीं केवल सहारकर्ता हो, तुम्हीं केवल समस्त विश्वरूप ब्रह्म हो और तुम्हीं साक्षात् नित्य आत्मा हो।

ऋत वच्मि। सत्य वच्मि ॥ २॥

यथार्थ कहता हूँ। सत्य कहता हूँ।

अव त्व माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अव अनूचानम्। अव शिष्यम्। अव पश्चात्तात्। अव पुरस्तात्। अव चोत्तरात्तात्। अव दक्षिणात्तात्। अव चोर्ध्वात्तात्। अवाधरात्तात्। सर्वतो मा पाहि पाहि समन्तात्॥ ३॥

तुम मेरी रक्षा करो। वक्ताकी रक्षा करो। श्रोताकी रक्षा करो। दाताकी रक्षा करो। धाताकी रक्षा करो। षडङ्ग वेदविद् आचार्यकी रक्षा करो। शिष्यकी रक्षा करो। पीछेसे रक्षा करो। आगेसे रक्षा करो। उत्तर (वाम) भागकी रक्षा करो। दक्षिण भागकी रक्षा करो। ऊपरसे रक्षा करो। नीचेकी ओरसे रक्षा करो। सर्वतोभावसे मेरी रक्षा करो, सब दिशाओसे मेरी रक्षा करो।

त्व वाङ्मयस्त्व चिन्मय। त्वमानन्दमयस्त्व ब्रह्ममय। त्व सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि। त्व प्रत्यक्ष ब्रह्मासि। त्व ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि॥ ४॥

तुम वाङ्मय हो, तुम चिन्मय हो। तुम आनन्दमय हो, तुम ब्रह्ममय हो। तुम सच्चिदानन्द अद्वितीय परमात्मा हो। तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम ज्ञानमय हो, विज्ञानमय हो।

सर्वं जगदिद त्वत्तो जायते। सर्वं जगदिद त्वत्तस्तिष्ठति। सर्वं जगदिद त्वयि लयमेष्यति। सर्वं जगदिद त्वयि प्रत्येति। त्व भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभ। त्व चत्वारि वाक्पदानि॥ ५॥

यह सारा जगत् तुमसे उत्पन्न होता है। यह सारा जगत् तुमसे सुरक्षित रहता है। यह सारा जगत् तुममे लीन होता है। यह अखिल विश्व तुममे ही प्रतीत होता है। तुम्हीं भूमि, जल, अग्नि और आकाश हो। तुम्हीं परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चतुर्विध वाक् हो।

त्व गुणत्रयातीत। त्व कालत्रयातीत। त्व देहत्रयातीत। त्व मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्। त्व शक्तित्रयात्मक। त्वा योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्व ब्रह्मा त्व विष्णुस्त्व रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्व वायुस्त्व सूर्यस्त्व चन्द्रमास्त्व ब्रह्म भूर्भुव स्वरोम्॥ ६॥

तुम सत्त्व-रज-तम—इन तीना गुणासे परे हो। तुम भूत-भविष्यत्-वर्तमान—इन तीना कालासे परे हो। तुम स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीना देहासे परे हो। तुम नित्य मूलाधार चक्रम स्थित हो। तुम प्रभु-शक्ति, उत्साह-शक्ति और मन्त्र-शक्ति—इन तीना शक्तियासे सयुक्त हो। योगिजन नित्य तुम्हारा ध्यान करत हैं। तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र हो, तुम इन्द्र हो, तुम अग्नि हो, तुम वायु हो, तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम (सगुण) ब्रह्म हो, तुम (निर्गुण) त्रिपाद भू भुव स्व एव प्रणव हो।

गणादि पूर्वमुच्चार्य वर्णादि तदनन्तरम्। अनुस्वार परतर। अर्धेन्दुलसितम्। तारेण रुद्धम्। एतत्तव मनुस्वरूपम्। गकार पूर्वरूपम्। अकारो मध्यमरूपम्। अनुस्वारश्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम्। नाद सन्धानम्। सहिता सन्धि। सैषा गणेशविद्या। गणक ऋषि निचृद्गायत्री छन्द। गणपतिर्देवता। ॐ ग गणपतये नम॥ ७॥

'गण' शब्दके आदि अक्षर गकारका पहल उच्चारण करके अनन्तर आदिवर्ण अकारका उच्चारण करे। उसक बाद अनुस्वार रह। इस प्रकार अर्धचन्द्रसे पहले शाभित जा 'गं' है, वह आकारक द्वारा रुद्ध हा अर्थात् उसक पहल और पाछ भी आकार हो। यही तुम्हार मन्त्रका स्वरूप (ॐ ग ॐ) है। 'गकार' पूर्वरूप है 'अकार' मध्यमरूप है, 'अनुस्वार' अन्त्य रूप है। 'बिन्दु' उत्तररूप है। 'नाद' सधान है। 'सहिता' सधि है। ऐसी यह गणेशविद्या है। इस विद्याके गणक ऋषि है, निचृद् *गायत्री* छन्द है *और* गणपति दवता हैं। मन्त्र है—'ॐ ग गणपतये नम।'

गणेशगायत्रीमन्त्र —

एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥ ८॥

एकदन्तको हम जानते हैं, वक्रतुण्डका हम ध्यान करते हैं। दन्ती हमको उस ज्ञान और ध्यानम प्रेरित करे।

ध्यानम्—

एकदन्त चतुर्हस्त पाशमङ्कुशधारिणम्।
रद च वरद हस्तैर्बिभ्राण मूषकध्वजम्॥
रक्त लम्बोदर शूर्पकर्णक रक्तवाससम्।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्ग रक्तपुष्पै सुपूजितम्॥
भक्तानुकम्पिन देव जगत्कारणमच्युतम्।
आविर्भूत च सृष्ट्यादौ प्रकृते पुरुषात्परम्॥
एव ध्यायति यो नित्य स यागी योगिना वर॥ ९॥

गणपतिदेव एकदन्त और चतुर्बाहु हैं। वे अपने चार हाथाम पाश अकुश, दन्त और वरमुद्रा धारण करते हैं। उनक ध्वजम मूषकका चिह्न हैं। वे रक्तवर्ण, लम्बोदर, शूर्पकर्ण तथा रक्तवस्त्रधारी हैं। रक्तचन्दनके द्वारा उनके अङ्ग अनुलिप्त है। वे रक्तवर्णके पुष्पाद्वारा सुपूजित हैं। भक्तोकी कामना पूर्ण करनेवाले, ज्योतिर्मय, जगत्के कारण, अच्युत तथा प्रकृति और पुरुषसे परे विद्यमान वे पुरुषोत्तम सृष्टिके आदिम आविर्भूत हुए। इनका जा इस प्रकार नित्य ध्यान करता है, वह यागी योगियाम श्रेष्ठ है।

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नम प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्ननाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नम॥ १०॥

व्रातपतिको नमस्कार, गणपतिका नमस्कार, प्रमथपतिको नमस्कार लम्बादर एकदन्त विघ्ननाशक, शिवतनय श्रावरदमूर्तिका नमस्कार है।

फलश्रुति—

एतदथर्वशीर्षं याऽधीते। स ब्रह्मभूयाय कल्पते। स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते। स सर्वत सुखमेधते। स

पञ्चमहापापात्प्रमुच्यते। सायमधीयानो दिवसकृत पाप नाशयति। प्रातरधीयानो रात्रिकृत पाप नाशयति। साय प्रात प्रयुञ्जानो अपापो भवति। सर्वत्राधीयानोऽपविघ्नो भवति धर्मार्थकाममोक्ष च विन्दति। इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम्। यो यदि मोहाद्दास्यति स पापीयान् भवति। सहस्रावर्तनात् य य काममधीते त तमनेन साधयेत्॥ ११॥

इस अथर्वशीर्षका जो पाठ करता है, वह ब्रह्मीभूत होता है, वह किसी प्रकारके विघ्नासे बाधित नहीं होता, वह सर्वतोभावेन सुखी होता है, वह पञ्च महापापोसे मुक्त हो जाता है। सायकाल इसका अध्ययन करनेवाला दिनमे किये हुए पापाका नाश करता है, प्रात कालमे अध्ययन करनेवाला रात्रिमे किये हुए पापोका नाश करता है। साय और प्रात काल पाठ करनेवाला निष्पाप हो जाता है। (सदा) सर्वत्र पाठ करनेवाले सभी विघ्नासे मुक्त हो जाता है एव धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारो पुरुषार्थोको प्राप्त करता है। यह अथर्वशीर्ष उसको नहीं देना चाहिये, जो शिष्य न हो। जो मोहवश अशिष्यको उपदेश देगा, वह महापापी होगा। इसकी एक हजार आवृत्ति करनेसे उपासक जो कामना करेगा, इसके द्वारा उसे सिद्ध कर लेगा।

विविध-प्रयोग—

अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति। चतुर्थ्यामनश्नञ्जपति स विद्यावान् भवति। इत्यथर्वणवाक्यम्। ब्रह्माद्याचरण विद्यात्। न बिभेति कदाचनेति॥ १२॥

जो इस मन्त्रके द्वारा श्रीगणपतिका अभिषेक करता है, वह वाग्मी हो जाता है। जो चतुर्थी तिथिमे उपवास कर जप करता है, वह विद्यावान् (अध्यात्मविद्याविशिष्ट) हो जाता है। यह अथर्वण-वाक्य है। जो ब्रह्मादि आवरणको जानता है, वह कभी भयभीत नहीं होता।

यज्ञ-प्रयोग—

यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति। यो लाजैर्यजति स यशोवान् भवति। स मेधावान् भवति। यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति। य साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्व लभते स सर्व लभते॥ १३॥

जो दुर्वाङ्कुराद्वारा यजन करता है, वह कुबेरके समान हो जाता है। जो लाजाके द्वारा यजन करता है, वह यशस्वी होता है, वह मेधावान् होता है। जो सहस्र मोदकोके द्वारा यजन करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त करता है। जो घृताक्त समिधाके द्वारा हवन करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता।

अन्य-प्रयोग—

अष्टौ ब्राह्मणान् सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति। सूर्यग्रहे महानद्या प्रतिमासनिधौ वा जप्त्वा सिद्धमन्त्रो भवति। महाविघ्नात् प्रमुच्यते। महापापात् प्रमुच्यते। महादोषात् प्रमुच्यते। स सर्वविद् भवति। स सर्वविद् भवति। य एव वेद। इत्युपनिषत्॥ १४॥

जा आठ ब्राह्मणोको इस उपनिषद्का सम्यक् ग्रहण करा देता है, वह सूर्यके समान तेज-सम्पन्न होता है। सूर्यग्रहणके समय महानदीमे अथवा प्रतिमाके निकट इस उपनिषद्का जप करके साधक सिद्धमन्त्र हो जाता है। सम्पूर्ण महाविघ्नोसे मुक्त हो जाता है। महापापोसे मुक्त हो जाता है। महादोषासे मुक्त हा जाता है। वह सर्वविद् हो जाता है। वह सर्वविद् हो जाता है—जो इस प्रकार जानता है।

२-(क) विष्णु-सूक्त

[इस सूक्तके द्रष्टा दार्घतमा ऋषि हैं। विष्णुके विविध रूप, कर्म हैं। अद्वितीय परमेश्वररूपमे उन्हे 'महाविष्णु' कहा जाता है। यज्ञ एव जलोत्पादक सूर्य भी उन्हीका रूप है। वे पुरातन हैं जगत्स्रष्टा हैं। नित्य-नूतन एव चिर-सुन्दर हैं। ससारको आकर्षित करनेवाली भगवती लक्ष्मी उनकी भार्या हैं। उनके नाम एव लीलाके सकीर्तनसे परमपदकी प्राप्ति होती है जा मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है। जो व्यक्ति उनकी ओर उन्मुख होता है उसकी ओर वे भी उन्मुख होते हैं और मनोवाञ्छित फल प्रदान कर अनुगृहीत करते हे। इस सूक्तको यहाँ अर्थ-सहित प्रस्तुत किया जा रहा है—]

इद विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पाऽसुरे स्वाहा॥ १॥

सर्वव्यापी परमात्मा विष्णुने इस जगत्को धारण किया है आर व ही पहले भूमि, दूसरे अन्तरिक्ष और तीसरे

द्युलोकमें तीन पदोंको स्थापित करते हैं, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त हैं। इन विष्णुदेवमें ही समस्त विश्व व्याप्त है। हम उनके निमित्त हवि प्रदान करते हैं।

इरावती धेनुमती हि भूतःसूयवसिनी मनवे दशस्या।
व्यस्कभ्नारोदसीविष्णवेतेदाधर्थपृथिवीमभितोमयूखैः स्वाहा॥ २॥

यह पृथ्वी सबके कल्याणार्थ अन्न और गायसे युक्त, खाद्य-पदार्थ देनेवाली तथा हितके साधनोंको देनेवाली है। हे विष्णुदेव! आपने इस पृथ्वीको अपनी किरणोंके द्वारा सब ओर अच्छी प्रकारसे धारण कर रखा है। हम आपके लिये आहुति प्रदान करते हैं।

देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतं प्राची प्रेतमध्वरं
कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्।
स्वं गोष्ठमा वदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा
निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः ॥ ३॥

आप देवसभामें प्रसिद्ध विद्वानोंमें यह कहें। इस यज्ञके समर्थनमें पूर्व दिशामें जाकर यज्ञको उच्च बनायें, अधःपतित न करें। देवस्थानमें रहनेवाले अपनी गोशालामें निवास करें। जबतक आयु है तबतक धनादिसे सम्पन्न बनायें। संततियोंपर अनुग्रह करें। इस सुखप्रद स्थानमें आप सदैव निवास करें।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजाᳪसि।
यो अस्कभायदुत्तरᳪ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥ ४॥

जिन सर्वव्यापी परमात्मा विष्णुने अपने सामर्थ्यसे इस पृथ्वीसहित अन्तरिक्ष, द्युलोकादि स्थानोंका निर्माण किया है तथा जो तीनों लोकोंमें अपने पराक्रमसे प्रशंसित होकर उच्चतम स्थानको शोभायमान करते हैं, उन सर्वव्यापी परमात्माके किन-किन यशोंका वर्णन करें।

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या
महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा
प्र यच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा॥५॥

हे विष्णु! आप अपने अनुग्रहसे समस्त जगत्को सुखोंसे पूर्ण कीजिये और भूमिसे उत्पन्न पदार्थ और अन्तरिक्षसे प्राप्त द्रव्योंसे सभी सुख निश्चय ही प्रदान करें। हे सर्वान्तर्यामी प्रभु! दोनों हाथोंसे समस्त सुखोंको प्रदान करनेवाले विष्णु! हम आपको सुपूजित करते हैं।

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥ ६॥

भयंकर सिंहके समान पर्वतोंमें विचरण करनेवाले सर्वव्यापी देव विष्णु! आप अतुलित पराक्रमके कारण स्तुति-योग्य हैं। सर्वव्यापक विष्णुदेवके तीनों स्थानोंमें सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं।

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि
विष्णोर्ध्रुवोऽसि। वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥ ७॥

इस विश्वमें व्यापक देव विष्णुका प्रकाश निरन्तर फैल रहा है। विष्णुके द्वारा ही यह विश्व स्थिर है तथा इनसे ही इस जगत्का विस्तार हुआ है और कण-कणमें ये ही प्रभु व्याप्त हैं। जगत्की उत्पत्ति करनेवाले हे प्रभु! हम आपकी अर्चना करते हैं।

२-(ख) नारायण-सूक्त

['नारायण-सूक्त' के ऋषि नारायण, देवता आदित्य-पुरुष और छन्द भुरिगार्षी त्रिष्टुप्, निच्यृदार्षी त्रिष्टुप् एवं आर्ष्यनुष्टुप् हैं। इस सूक्तमें केवल छः मन्त्र हैं। यह 'उत्तर नारायण-सूक्त' के नामसे प्रसिद्ध है। इसमें सृष्टिके विकासके साथ ही व्यक्तिके कर्तव्यका बोध हो जाता है, साथ ही आदि पुरुषकी महिमा अभिव्यक्त होती है। इसकी विशेषता यह है कि इसके मन्त्रोंके ज्ञाताके वशमें सभी देवता हो जाते हैं। इस सूक्तको अनुवादसहित यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ १॥

पृथ्वी आदिकी सृष्टिके लिये अपने प्रेमके कारण वह पुरुष जल आदिसे परिपूर्ण होकर पूर्व ही छा गया। उस पुरुषके रूपको धारण करता हुआ सूर्य उदित होता है, जिसका मनुष्यके लिये प्रधान देवत्व है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ २॥

मैं अज्ञानान्धकारसे परे आदित्य-प्रतीकात्मक उस सर्वोत्कृष्ट पुरुषको जानता हूँ। मात्र उसे जानकर ही

मृत्युका अतिक्रमण होता है। शरणके लिये अन्य कोई मार्ग नहीं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ ३॥

वह परमात्मा आभ्यन्तरमे विराजमान है। उत्पन्न न होनेवाला होकर भी नाना प्रकारसे उत्पन्न होता है। सयमी पुरुष ही उसके स्वरूपका साक्षात्कार करते हे। सम्पूर्ण भूत उसीमे सन्निविष्ट हैं।

यो देवेभ्य आतपति यो देवाना पुरोहित ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ ४॥

जो देवताआके लिये सूर्यरूपसे प्रकाशित होता है, जो देवताआका कार्यसाधन करनेवाला है और जो देवताओसे पूर्व स्वय भूत है, उस देदीप्यमान ब्रह्मको नमस्कार है।

रुच ब्राह्म जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैव ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे॥ ५॥

उस शोभन ब्रह्मको प्रथम प्रकट करते हुए देवता बोले—जो ब्राह्मण तुम्हे इस स्वरूपमे जाने, देवता उसके वशमे हो।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे
नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामु म इषाण
सर्वलोक म इषाण॥ ६॥

समृद्धि और सौन्दर्य तुम्हारी पत्नीके रूपमे है, दिन तथा रात तुम्हारे अगल-बगल हैं, अनन्त नक्षत्र तुम्हारे रूप हैं, द्यावा-पृथिवी तुम्हारे मुखस्थानीय हैं। इच्छा करते समय परलोककी इच्छा करो। मैं सर्वलोकात्मक हो जाऊँ—ऐसी इच्छा करो,ऐसी इच्छा करो।

३-(क) श्री-सूक्त

[इस सूक्तके आनन्दकर्दम चीक्लीत जातवेद ऋषि, 'श्री' देवता और छन्द अनुष्टुप्, प्रस्तार पक्ति एव त्रिष्टुप् हैं। देवीके अर्चनमे 'श्री-सूक्त' की अतिशय मान्यता है। विशेषकर भगवती लक्ष्मीको प्रसन्न करनेके लिये 'श्री-सूक्त' के पाठकी विशेष महिमा बतायी गयी है। ऐश्वर्य एव समृद्धिकी कामनासे इस सूक्तके मन्त्रोका जप तथा इन मन्त्रोसे हवन, पूजन अमोघ अभीष्टदायक होता है—]

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्।
चन्द्रा हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥ १॥

हे जातवेदा (सर्वज्ञ) अग्निदेव! सुवर्ण-जैसी रगवाली, किञ्चित् हरितवर्णविशिष्टा, सोने और चाँदीके हार पहननेवाली, चन्द्रवत् प्रसन्नकान्ति, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीको मेरे लिये आवाहन करो।

ता म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्या हिरण्य विन्देय गामश्व पुरुषानहम्॥ २॥

अग्ने! उन लक्ष्मीदेवीको, जिनका कभी विनाश नहीं होता तथा जिनक आगमनसे मैं सोना, गौ, घोडे तथा पुत्रादिको प्राप्त करूँगा, मरे लिये आवाहन करो।

अश्वपूर्वां रथमध्या हस्तिनादप्रमोदिनीम्।
श्रिय देवीमुप ह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्॥ ३॥

जिन देवीके आग घोडे तथा उनके पीछे रथ रहते ह तथा जो हस्तिनादको सुनकर प्रमुदित होती हैं, उन्हीं श्रीदेवीका मैं आवाहन करता हूँ, लक्ष्मीदेवी मुझे प्राप्त हो।

का सोस्मिता हिरण्यप्राकारा मार्द्रां
ज्वलन्तीं तृप्ता तर्पयन्तीम्।
पद्मेस्थिता पद्मवर्णां
तामिहोप ह्वये श्रियम्॥ ४॥

जा साक्षात् ब्रह्मरूपा, मन्द-मन्द मुसकरानेवाली, सोनेके आवरणसे आवृत, दयार्द्र, तेजोमयी, पूर्णकामा भक्तानुग्रहकारिणी, कमलके आसनपर विराजमान तथा पद्मवर्णा है, उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ आवाहन करता हूँ।

चन्द्रा प्रभासा यशसा ज्वलन्तीं
श्रिय लोके देवजुष्टामुदाराम्।
ता पद्मिनीमी शरण प्र पद्ये
ऽलक्ष्मीर्मे नश्यता त्वा वृणे॥ ५॥

म चन्द्रके समान शुभ्र कान्तिवाली, सुन्दर द्युतिशालिनी

यशसे दीप्तिमती, स्वर्गलोकमे देवगणोके द्वारा पूजिता, उदारशीला, पद्महस्ता लक्ष्मीदेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ। मेरा दारिद्र्य दूर हो जाय। मैं आपको शरण्यके रूपमे वरण करता हूँ।

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो
वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्व।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु
या अन्तरा याश्च बाह्या अलक्ष्मी ॥६॥

हे सूर्यके समान प्रकाशस्वरूपे! तुम्हारे ही तपसे वृक्षोमे श्रेष्ठ मङ्गलमय बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। उसके फल हमारे बाहरी और भीतरी दारिद्र्यको दूर करे।

उपैतु मा देवसख
कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन्
कीर्तिमृद्धि ददातु मे ॥७॥

देवि! देवसखा कुबेर और उनके मित्र मणिभद्र तथा दक्ष प्रजापतिकी कन्या कीर्ति मुझे प्राप्त हो। अर्थात् मुझे धन और यशकी प्राप्ति हो। मैं इस राष्ट्रमे—देशमे उत्पन्न हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि प्रदान कर।

क्षुत्पिपासामला ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात्॥ ८॥

लक्ष्मीकी ज्येष्ठ वहिन अलक्ष्मी (दरिद्रताकी अधिष्ठात्री देवी)-का, जो क्षुधा और पिपासासे मलिन—क्षीणकाय रहती है, मैं नाश चाहता हूँ। देवि! मेरे घरसे सब प्रकारके दारिद्र्य और अमङ्गलको दूर करो।

गन्धद्वारा दुराधर्षां नित्यपुष्टा करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूताना तामिहोप ह्वये श्रियम्॥ ९॥

जो दुराधर्षा तथा नित्यपुष्टा हैं तथा गोबरसे (पशुओसे) युक्त गन्धगुणवती पृथिवी ही जिनका स्वरूप है, सब भूताकी स्वामिनी उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ—अपने घरमे आवाहन करता हूँ।

मनस काममाकूतिं वाच सत्यमशीमहि।
पशूना रूपमन्नस्य मयि श्री श्रयता यश ॥१०॥

मनकी कामनाएँ और सकल्पकी सिद्धि एव वाणीकी सत्यता मुझे प्राप्त हो, गौ आदि पशुओ एव विभिन्न अन्नो—भोग्य पदार्थोंके रूपमे तथा यशके रूपमे श्रीदेवी हमारे यहाँ आगमन करे।

कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम।
श्रिय वासय मे कुले मातर पद्ममालिनीम्॥११॥

लक्ष्मीके पुत्र कर्दमकी हम सतान है। कर्दम ऋषि! आप हमारे यहाँ उत्पन्न हो तथा पद्मोकी माला धारण करनेवाली माता लक्ष्मीदेवीको हमारे कुलमे स्थापित करे।

आप सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे।
नि च देवीं मातर श्रिय वासय मे कुले॥१२॥

जल स्निग्ध पदार्थोकी सृष्टि करे। लक्ष्मीपुत्र चिक्लीत! आप भी मेरे घरमे वास करे और माता लक्ष्मीदेवीका मेरे कुलमे निवास कराये।

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गला पद्ममालिनीम्।
चन्द्रा हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥१३॥

अग्ने! आर्द्रस्वभावा, कमलहस्ता, पुष्टिरूपा, पीतवर्णा, पद्मोकी माला धारण करनेवाली, चन्द्रमाके समान शुभ्र कान्तिसे युक्त, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीका मेरे यहाँ आवाहन करे।

आर्द्रां य करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम्।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥१४॥

अग्ने! जो दुष्टोका निग्रह करनेवाली होनेपर भी कोमलस्वभावकी हैं, जो मङ्गलदायिनी, अवलम्बन प्रदान करनेवाली यष्टिरूपा, सुन्दर वर्णवाली, सुवर्णमालाधारिणी, सूर्यस्वरूपा तथा हिरण्यमयी हैं, उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करे।

ता म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्या हिरण्य प्रभूत गावो
दास्योऽश्वान् विन्देय पुरुषानहम्॥१५॥

अग्ने! कभी नष्ट न होनेवाली उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करे, जिनके आगमनसे बहुत-सा धन, गौएँ, दासियाँ, अश्व और पुत्रादिको हम प्राप्त करे।

य शुचि प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम्।
सूक्त पञ्चदशर्चं च श्रीकाम सतत जपेत्॥१६॥

जिसे लक्ष्मीकी कामना हो, वह प्रतिदिन पवित्र और सयमशील होकर अग्निमे घीकी आहुतियाँ दे तथा इन पन्द्रह ऋचाओवाले 'श्री-सूक्त' का निरन्तर पाठ करे'।

३-(ख) देवी-सूक्त

[भगवती पराम्बाके अर्चन-पूजनके साथ 'देवी-सूक्त' के पाठकी विशेष महिमा है। ऋग्वेदके दशम मण्डलका १२५वाँ सूक्त 'वाक्-सूक्त' है। इसे आत्मसूक्त भी कहते है। इसमे अम्भृण ऋषिकी पुत्री वाक् ब्रह्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न होकर अपनी सर्वात्मदृष्टिको अभिव्यक्त कर रही हैं। ब्रह्मविद्की वाणी ब्रह्मसे तादात्म्यापन्न होकर अपने-आपको ही सर्वात्माके रूपमे वर्णन कर रही हैं। ये ब्रह्मस्वरूपा वाग्देवी ब्रह्मानुभवी जीवन्मुक्त महापुरुषकी ब्रह्ममयी प्रज्ञा ही हैं। इस सूक्तमे प्रतिपाद्य-प्रतिपादकका ऐकात्म्य सम्बन्ध दर्शाया गया है। यह सूक्त सानुवाद यहाँ प्रस्तुत है—]

अह रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवै ।
अह मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

'ब्रह्मस्वरूपा मैं रुद्र, वसु, आदित्य आर विश्वदेवताके रूपमे विचरण करती हूँ, अर्थात् मैं ही उन-उन रूपाम भास रही हूँ। मैं ही ब्रह्मरूपसे मित्र और वरुण दानाको धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र ओर अग्निका आधार हूँ। में ही दोना अश्विनीकुमाराका भी धारण-पोषण करती हूँ।'

सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्याम लिखा है कि वाग्देवीका अभिप्राय यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् सीपमे चाँदीके समान अध्यस्त होकर आत्मामे विभासित हो रहा है। माया जगत्के रूपमे अधिष्ठानको ही दिखा रही हे। यह सब मायाका ही विवर्त हे। उसी मायाका आधार होनके कारण ब्रह्मसे ही सबकी उत्पत्ति सगत हाती ह।

अह सोममाहनस बिभर्म्यह त्वष्टारमुत पूपण भगम्।
अह दधामि द्रविण हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वत ॥ २ ॥

'मैं ही शत्रुनाशक, कामादि दोप-निवर्तक, परमाह्लाददायी, यज्ञगत सोम, चन्द्रमा, मन अथवा शिवका भरण-पापण करती हूँ। मैं ही त्वष्टा, पूपा आर भगको भी धारण करती हूँ। जो यजमान यज्ञम सोमाभिपवके द्वारा देवताओको तृप्त करनेके लिये हाथम हविष्य लेकर हवन करता हे, उसे लोक-परलोकम सुखकारी फल देनेवाली में ही हूँ।'

मूल मन्त्रम 'द्रविण' शब्द है। इसका अर्थ है— कर्मफल। कर्मफलदाता मायाधिपति ईश्वर हैं। वेदान्त-दर्शनके तीसरे अध्यायके दूसरे पादमे यह निरुपण हे कि ब्रह्म ही फलदाता है। भगवान् शकराचार्यने अपने भाष्यम इस अभिप्रायका युक्तियुक्त समर्थन किया है। यह ईश्वर-ब्रह्म अपनी आत्मा ही है।

अह राष्ट्री सगमनी वसूना चिकितुपी प्रथमा यज्ञियानाम्।
ता मा देवा व्यदधु पुरुत्रा भूरिस्थात्रा भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

'मैं ही राष्ट्री अर्थात् सम्पूर्ण जगत्की ईश्वरी हूँ। मैं उपासकोको उनके अभीष्ट वसु—धन प्राप्त करानेवाली हूँ। जिज्ञासुआक साक्षात् कर्तव्य परब्रह्मको अपनी आत्माके रूपमे मैने अनुभव कर लिया है। जिनके लिये यज्ञ किये जाते ह, उनम मै सर्वश्रेष्ठ हूँ। सम्पूर्ण प्रपञ्चके रूपमे मैं ही अनक-सी होकर विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियाके शरीरमे जीवरूपम म अपने-आपको ही प्रविष्ट कर रही हूँ। भिन्न-भिन्न देश काल, वस्तु आर व्यक्तियाम जो कुछ हो रहा है, किया जा रहा है, वह सब मुझमे मेरे लिये ही किया जा रहा है। सम्पूर्ण विश्वके रूपमे अवस्थित होनेके कारण जा काई जा कुछ भी करता है, वह सब में ही हूँ।'

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति य प्राणिति यईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवा मा त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिव ते वदामि ॥ ४ ॥

'जो काई भाग भोगता है, वह मुझ भाक्त्रीकी शक्तिसे ही भागता है। जा देखता हे, जो श्वासोच्छ्वासरूप व्यापार करता है और जो कही हुई बात सुनता है, वह भी मुझसे ही। जा इस प्रकार अन्तर्यामिरूपसे स्थित मुझे नहीं जानते, वे अज्ञानी दान, हीन, क्षीण हो जाते हैं। मेरे प्यारे सखा। मेरी बात सुनो—'मैं तुम्हारे लिये उस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ, जा श्रद्धा-साधनसे उपलब्ध होती हे।'

'श्रद्धि' शब्दका अर्थ श्रद्धा है। 'श्रत्' पदम उपसर्गवत् वृत्ति होनके कारण 'कि' प्रत्यय हो जाता है। 'व' प्रत्यय मत्वर्थीय ह। इसका अर्थ हुआ परब्रह्म अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार श्रद्धा—प्रयत्नसे होता है। श्रद्धा आत्मबल हे और यह वैराग्यस स्थिर होती हे। अपनी बुद्धिसे ढूढनेपर जो वस्तु सो वर्षोम भी प्राप्त नहीं हो सकती, वह श्रद्धासे क्षणभरम मिल जाती है। यह प्रज्ञाकी अन्धता नहीं है, जिज्ञासुआका शाध और अनुभवियाके अनुभवसे लाभ उठानेका वेज्ञानिक प्रक्रिया हे।

यशसे दीप्तिमती, स्वर्गलोकमे देवगणाके द्वारा पूजिता, उदारशीला, पद्महस्ता लक्ष्मीदेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ। मेरा दारिद्र्य दूर हो जाय। मैं आपको शरण्यके रूपमे वरण करता हूँ।

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो
वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्व ।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु
या अन्तरा याश्च बाह्या अलक्ष्मी ॥६॥

हे सूर्यके समान प्रकाशस्वरूपे! तुम्हारे ही तपसे वृक्षामे श्रेष्ठ मङ्गलमय बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। उसके फल हमारे बाहरी और भीतरी दारिद्र्यको दूर करे।

उपैतु मा देवसख
कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन्
कीर्तिमृद्धि ददातु मे॥७॥

देवि! देवसखा कुबेर और उनके मित्र मणिभद्र तथा दक्ष प्रजापतिकी कन्या कीर्ति मुझे प्राप्त हो। अर्थात् मुझे धन और यशकी प्राप्ति हो। मैं इस राष्ट्रमे—देशमे उत्पन्न हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि प्रदान करे।

क्षुत्पिपासामला ज्येष्ठामलक्ष्मी नाशयाम्यहम्।
अभूतिमसमृद्धि च सर्वां निर्णुद मे गृहात्॥ ८॥

लक्ष्मीकी ज्येष्ठ बहिन अलक्ष्मी (दरिद्रताकी अधिष्ठात्री देवी)-का जो क्षुधा और पिपासासे मलिन—क्षीणकाय रहती है, मैं नाश चाहता हूँ। देवि! मेरे घरसे सब प्रकारके दारिद्र्य और अमङ्गलको दूर करो।

गन्धद्वारा दुराधर्षा नित्यपुष्टा करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूताना तामिहोप ह्वये श्रियम्॥ ९॥

जो दुराधर्षा तथा नित्यपुष्टा हैं तथा गोबरसे (पशुओसे) युक्त गन्धगुणवती पृथिवी ही जिनका स्वरूप है, सब भूताकी स्वामिनी उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ—अपने घरमे आवाहन करता हूँ।

मनस काममाकूति वाच सत्यमशीमहि।
पशूना रूपमन्नस्य मयि श्री श्रयता यश ॥१०॥

मनकी कामनाएँ और सकल्पकी सिद्धि एव वाणीकी सत्यता मुझे प्राप्त हो, गौ आदि पशुओ एव विभिन्न अन्नो—भोग्य पदार्थोंके रूपमे तथा यशके रूपमे श्रीदेवी हमारे यहाँ आगमन करे।

कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम।
श्रिय वासय मे कुले मातर पद्ममालिनीम्॥११॥

लक्ष्मीके पुत्र कर्दमकी हम सतान हैं। कर्दम ऋषि! आप हमारे यहाँ उत्पन्न हो तथा पद्मोकी माला धारण करनेवाली माता लक्ष्मीदेवीको हमारे कुलमे स्थापित करे।

आप सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे।
नि च देवीं मातर श्रिय वासय मे कुले॥१२॥

जल स्निग्ध पदार्थोंकी सृष्टि करे। लक्ष्मीपुत्र चिक्लीत! आप भी मेरे घरमे वास करे और माता लक्ष्मीदेवीका मेरे कुलमे निवास कराये।

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गला पद्ममालिनीम्।
चन्द्रा हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥१३॥

अग्ने! आर्द्रस्वभावा, कमलहस्ता, पुष्टिरूपा, पीतवर्णा, पद्मोंकी माला धारण करनेवाली, चन्द्रमाके समान शुभ्र कान्तिसे युक्त, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीका मेरे यहाँ आवाहन करे।

आर्द्रां य करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम्।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥१४॥

अग्ने! जो दुष्टोका निग्रह करनेवाली होनेपर भी कोमलस्वभावकी हैं, जो मङ्गलदायिनी, अवलम्बन प्रदान करनेवाली यष्टिरूपा, सुन्दर वर्णवाली, सुवर्णमालाधारिणी, सूर्यस्वरूपा तथा हिरण्यमयी हैं, उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करे।

ता म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्या हिरण्य प्रभूत गावो
दास्योऽश्वान् विन्देय पुरुषानहम्॥१५॥

अग्ने! कभी नष्ट न होनेवाली उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करे, जिनके आगमनसे बहुत-सा धन, गौएँ, दासियाँ, अश्व और पुत्रादिको हम प्राप्त करे।

य शुचि प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम्।
सूक्त पञ्चदशर्चं च श्रीकाम सतत जपेत्॥१६॥

जिसे लक्ष्मीकी कामना हो, वह प्रतिदिन पवित्र और सयमशील होकर अग्निमे घीकी आहुतियाँ दे तथा इन पद्रह ऋचाओवाले 'श्री-सूक्त' का निरन्तर पाठ करे'।

३-(ख) देवी-सूक्त

[भगवती पराम्बाके अर्चन-पूजनके साथ 'देवी-सूक्त' के पाठकी विशेष महिमा है। ऋग्वेदके दशम मण्डलका १२५वाँ सूक्त 'वाक्-सूक्त' है। इसे आत्मसूक्त भी कहते है। इसमे अम्भृण ऋषिकी पुत्री वाक् ब्रह्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न होकर अपनी सर्वात्मदृष्टिको अभिव्यक्त कर रही हैं। ब्रह्मविद्की वाणी ब्रह्मसे तादात्म्यापन्न होकर अपने-आपको ही सर्वात्माके रूपमे वर्णन कर रही हैं। ये ब्रह्मस्वरूपा वाग्देवी ब्रह्मानुभवी जीवन्मुक्त महापुरुषकी ब्रह्ममयी प्रज्ञा ही हैं। इस सूक्तमे प्रतिपाद्य-प्रतिपादकका ऐकात्म्य सम्बन्ध दर्शाया गया है। यह सूक्त सानुवाद यहाँ प्रस्तुत है—]

अह रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदवै।
अह मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥

'ब्रह्मस्वरूपा मैं रुद्र, वसु, आदित्य ओर विश्वदेवताक रूपमे विचरण करती हूँ, अर्थात् में ही उन-उन रूपाम भास रही हूँ। मैं ही ब्रह्मरूपसे मित्र ओर वरुण दानाका धारण करती हूँ। में ही इन्द्र ओर अग्निका आधार हूँ। मैं ही दाना अश्विनीकुमाराका भी धारण-पोषण करती हूँ।'

सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्याम लिखा है कि वाग्देवीका अभिप्राय यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् सीपमे चाँदीके समान अध्यस्त होकर आत्मामे विभासित हो रहा है। माया जगत्के रूपम अधिष्ठानको ही दिखा रही हे। यह सब मायाका ही विवर्त है। उसी मायाका आधार होनेक कारण ब्रह्मसे ही सबकी उत्पत्ति सगत हाती है।

अह सोममाहनस बिभर्म्यह त्वष्टारमुत पूषण भगम्।
अह दधामि द्रविण हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥

'मैं हो शत्रुनाशक, कामादि दोष-निवर्तक, परमाह्लाददायी, यज्ञगत सोम, चन्द्रमा, मन अथवा शिवका भरण-पोषण करती हूँ। मैं ही त्वष्टा, पूषा ओर भगको भी धारण करती हूँ। जा यजमान यज्ञम सोमाभिषवके द्वारा देवताआको तृप्त करनेके लिये हाथम हविष्य लेकर हवन करता हे, उसे लोक-परलोकम सुखकारी फल देनवाली में ही हूँ।'

मूल मन्त्रमे 'द्रविण' शब्द है। इसका अर्थ है— कर्मफल। कर्मफलदाता मायाधिपति ईश्वर हैं। वदान्त-दर्शनके तीसरे अध्यायके दूसरे पादमे यह निरुपण है कि ब्रह्म ही फलदाता हैं। भगवान् शकराचार्यने अपन भाष्यम इस अभिप्रायका युक्तियुक्त समर्थन किया ह। यह ईश्वर-ब्रह्म अपनी आत्मा ही है।

अह राष्ट्री सगमनी वसूना चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
ता मा देवा व्यदधु पुरुत्रा भूरिस्थात्रा भूर्यावशयन्तीम्॥ ३॥

'मैं ही राष्ट्री अर्थात् सम्पूर्ण जगत्की ईश्वरी हूँ। मैं उपासकोको उनके अभीष्ट वसु—धन प्राप्त करानेवाली हूँ। जिज्ञासुआके साक्षात् कर्तव्य परब्रह्मको अपनी आत्माके रूपमें मैंने अनुभव कर लिया है। जिनके लिये यज्ञ किये जाते ह, उनम मै सर्वश्रेष्ठ हूँ। सम्पूर्ण प्रपञ्चक रूपमे मैं ही अनेक-सी होकर विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोके शरीरम जीवरूपमे में अपन-आपका ही प्रविष्ट कर रही हूँ। भिन्न-भिन्न देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोम जो कुछ हो रहा है, किया जा रहा है, वह सब मुझम मेरे लिये ही किया जा रहा हे। सम्पूर्ण विश्वके रूपम अवस्थित हानेके कारण जा काई जा कुछ भी करता हे, वह सब मैं ही हूँ।'

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति य प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मा त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिव ते वदामि॥ ४॥

'जो काई भाग भागता है, वह मुझ भोक्त्रीकी शक्तिसे ही भागता है। जा देखता है, जो श्वासोच्छ्वासरूप व्यापार करता ह और जो कही हुई बात सुनता है, वह भी मुझसे ही। जो इस प्रकार अन्तर्यामिरूपसे स्थित मुझे नहीं जानते, वे अज्ञानी दीन, हीन क्षीण हो जाते हैं। मेरे प्यारे सखा! मेरी बात सुनो—'मै तुम्हारे लिय उस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ, जो श्रद्धा-साधनस उपलब्ध होती है।'

'श्रद्धि' शब्दका अर्थ श्रद्धा है। 'श्रत्' पदमे उपसर्गवत् वृत्ति हानेके कारण 'कि' प्रत्यय हो जाता है। 'व' प्रत्यय मत्वर्थीय हे। इसका अर्थ हुआ परब्रह्म अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार श्रद्धा—प्रयत्नसे होता है। श्रद्धा आत्मबल है और यह वैराग्यसे स्थिर होती है। अपनी बुद्धिसे ढूढनेपर जो वस्तु सौ वर्षोम भी प्राप्त नहीं हो सकती, वह श्रद्धासे क्षणभरमे मिल जाती है। यह प्रज्ञाकी अन्धता नहीं है, जिज्ञासुआका शोध आर अनुभवियाके अनुभवसे लाभ उठानकी वैज्ञानिक प्रक्रिया हे।

अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवभिरुत मानुषेभि ।
य कामये त तमुग्र कृणोमि त ब्रह्माण तमृषि त सुमेधाम्॥ ५॥

'मैं स्वय ही इस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ। देवताआ और मनुष्याने भी इसीका सवन किया है। मैं स्वय ब्रह्मा हूँ। मैं जिसकी रक्षा करना चाहती हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ मैं चाहूँ तो उसे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बना दूँ, अतीन्द्रियार्थ ऋषि बना दूँ और उसे बृहस्पतिके समान सुमेधा बना दूँ। मैं स्वय अपने स्वरूप ब्रह्मभिन्न आत्माका गान कर रही हूँ।'

अह रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अह जनाय समद कृणोम्यह द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

'मैं ही ब्रह्मज्ञानियाके द्वेषी हिसारत त्रिपुरवासी त्रिगुणाभिमानी अहकार-असुरका वध करनेके लिय सहारकारी रुद्रके धनुषपर ज्या (प्रत्यञ्चा) चढाती हूँ। मैं ही अपन जिज्ञासु स्तोताआके विरोधी शत्रुआके साथ सग्राम करके उन्ह पराजित करता हूँ। मैं ही द्युलोक और पृथिवीम अन्तर्यामिरूपसे प्रविष्ट हूँ।'

इस मन्त्रम भगवान् रुद्रद्वारा त्रिपुरासुरकी विजयकी कथा बीजरूपसे विद्यमान है।

अह सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम यानिरप्स्वन्त समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वाताम द्या वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ ७॥

'इस विश्वके शिरोभागपर विराजमान द्युलोक अथवा आदित्यरूप पिताका प्रसव मैं ही करती रहती हूँ। उस कारणम ही तन्तुआम पटक समान आकाशादि सम्पूर्ण कार्य दीख रहा है। दिव्य कारण-वारिरूप समुद्र, जिसम सम्पूर्ण प्राणिया एव पदार्थोका उदय-विलय हाता रहता है, वह ब्रह्मचैतन्य ही मेरा निवासस्थान है। यही कारण है कि मैं सम्पूर्ण भूताम अनुप्रविष्ट हाकर रहती हूँ और अपने कारणभूत मायात्मक स्वशरीरसे सम्पूर्ण दृश्य कार्यका स्पर्श करती हूँ।'

सायणने 'पिता' शब्दके दो अर्थ किये हैं—द्युलोक और आकाश। तैत्तिरीय ब्राह्मणम भी उल्लेख है—'द्यौ पिता'। तैत्तिरीय आरण्यकम भी आत्मास आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन है। वङ्कटनाथने पिताका अर्थ 'आदित्य' किया है।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परा दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना स बभूव॥ ८॥

'जैसे वायु किसी दूसरेसे प्रेरित न होनेपर भी स्वय प्रवाहित हाता है, उसी प्रकार मैं ही किसी दूसरेके द्वारा प्रेरित और अधिष्ठित न होनेपर भी स्वय ही कारणरूपसे सम्पूर्ण भूतरूप कार्योका आरम्भ करती हूँ। मैं आकाशसे भी पर हूँ और इस पृथ्वीस भी। अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण विकारासे पर, असङ्ग, उदासीन, कूटस्थ ब्रह्मचैतन्य हूँ। अपनी महिमासे सम्पूर्ण जगत्क रूपम मैं ही बरत रही हूँ, रह रही हूँ।'

४-रुद्र-सूक्त

[भूत-भावन भगवान् सदाशिवकी प्रसन्नताके लिये इस सूक्तके पाठका विशेष महत्त्व बताया गया है। पूजामे भगवान् शकरको सबसे प्रिय जलधारा है। इसलिये भगवान् शिवके पूजनमे रुद्राभिषेककी परम्परा है और अभिषेकमे इस 'रुद्र-सूक्त' की ही प्रमुखता है। रुद्राभिषेकके अन्तर्गत रुद्राष्टाध्यायीके पाठमे ग्यारह बार इस सूक्तकी आवृत्ति करनेपर पूर्ण रुद्राभिषेक माना जाता है। फलकी दृष्टिसे इसका अत्यधिक महत्त्व है। यह 'रुद्र-सूक्त आध्यात्मिक आधिदैविक एव आधिभौतिक—त्रिविध तापोसे मुक्त कराने तथा अमृतत्वकी ओर अग्रसर करनेका अन्यतम उपाय है—]

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नम ।
बाहुभ्यामुत ते नम ॥ १॥

हे रुद्र! आपको नमस्कार है आपके क्रोधका नमस्कार है आपक बाणका नमस्कार है आर आपकी भुजाआको नमस्कार है।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥ २॥

हे गिरिशन्त! अर्थात् पर्वतपर स्थित होकर सुखका विस्तार करनेवाले रुद्र! हमे अपनी उस मङ्गलमयी मूर्तिद्वारा अवलोकन कर, जा सौम्य होनेके कारण केवल पुण्यका फल प्रदान करनवाली है।

यामिषु गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवा गिरित्र ता कुरु मा हिꣳसी पुरुष जगत्॥ ३॥

हे गिरिशन्त! हे गिरीश! अर्थात् पर्वतपर स्थित हाकर

त्राण करनेवाले आप प्रलय करनेके लिये जिस बाणको हाथमे धारण करते हैं, उसे सौम्य कर दें और जगत्के जीवोकी हिसा न करे।

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा न सर्वमिज्जगदयक्ष्मः सुमना असत्॥४॥

हे गिरीश! हम आपको प्राप्त करनेके लिये मङ्गलमय स्तोत्रसे आपकी प्रार्थना करते हैं। जिससे हमारा यह सम्पूर्ण जगत् रोगरहित एव प्रसन्न हो।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराची परा सुव॥५॥

शास्त्रसम्मत वचन बोलनेवाले, देवहितकारी, परम रोगनाशक, प्रथम पूज्य रुद्र हम श्रेष्ठ कह और सर्पादिका विनाश करते हुए सभी अधोगामिनी राक्षसिया आदिको भी हमसे दूर करे।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रु सुमङ्गल।
ये चैनः रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिता सहस्रशोऽवैषाः हेड ईमहे॥६॥

ये जो ताम्र, अरुण और पिङ्गल-वर्णवाले मङ्गलमय सूर्यरूप रुद्र हैं और जिनके चारा ओर ये सहस्रों किरणाके रूपमे रुद्र हे, हम भक्तिद्वारा उनके क्रोधका निवारण करते हैं।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहित।
उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य स दृष्टो मृडयाति न॥७॥

ये जो विशेष रक्तवर्ण सूर्यरूपी नीलकण्ठ रुद्र गतिमान् हैं, जिन्हे गोप देखते हैं, जल-वाहिकाएँ देखती हैं, वह हमारे द्वारा देखे जानेपर हमारा मङ्गल करे।

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकर नम॥८॥

सेचनकारी सहस्रों नेत्रवाले पर्जन्यरूप नीलकण्ठ रुद्रको हमारा नमस्कार है। इनके जो अनुचर हैं, उन्हे भी हमारा नमस्कार है।

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्त इषव परा ता भगवो वप॥९॥

हे भगवन्! आपके धनुषकी कोटियाके मध्य यह जो ज्या है, उसे आप खोल दे तथा आपके हाथम ये जो बाण है, उन्हे आप हटा द और इस प्रकार हमारे लिये सौम्य हो जायँ।

विज्यं धनु कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधि॥१०॥

जटाधारी रुद्रका धनुष ज्यारहित, तूणीर फलकहीन बाणरहित, बाण दर्शनरहित और म्यान खड्गरहित हो जायँ।

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनु।
तयाऽस्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज॥११॥

हे सतृप्त करनेवाले रुद्र! आपके हाथमे जो आयुध है और आपका जा धनुष है, उपद्रवरहित उस आयुध या धनुषद्वारा आप हमारी सब ओरसे रक्षा कर।

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वत।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्नि धेहि तम्॥१२॥

आप धनुर्धारीका यह जो आयुध है, वह हमारी रक्षा करनेके लिये हमे चारों ओरसे घेरे रहे, किंतु यह जो आपका तरकस है, उस आप हमसे दूर रखे।

अवतत्य धनुष्ट्वः सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्याना मुखा शिवो न सुमना भव॥१३॥

हे सहस्रा नेत्रवाले, सैकडो तरकसवाले रुद्र! आप अपने धनुषको ज्यारहित और बाणाके मुखाका फलकरहित करके हमार लिये सुप्रसन्न एव कल्याणमय हा जायँ।

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यातव धन्वने॥१४॥

हे रुद्र! धनुषपर न चढाये गये आपके बाणको नमस्कार है, आपकी दोना भुजाआको नमस्कार है एव शत्रु-सहारक आपके धनुषको नमस्कार है।

मानो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधी पितरं मोत मातरं मा न प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिष॥१५॥

हे रुद्र! हमारे बडोंको मत मारो। हमारे बच्चाको मत मारो। हमारे तरुणाको मत मारो। हमारे भ्रूणाको मत मारो। हमारे पिता और माताकी हिसा न करो। हमार प्रियजनाकी हिसा न करो। हमारे पुत्र-पात्रादिकाको हिसा न करो।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्त सदमित्त्वा हवामहे॥१६॥

हे रुद्र! हमार पुत्रा और पोत्रापर क्रोध न कर। हमारी गायापर तथा हमारे घोडापर क्रोध न करे। हमार क्रोधयुक्त वीरोको न मार। हम हविष्य लिये हुए निरन्तर यज्ञार्थ आपका आवाहन करते हैं।

५-(क) सूर्य-सूक्त

[इस ऋग्वेदीय 'सूर्य-सूक्त' (१। ११५)-के ऋषि 'कुत्स आङ्गिरस' हैं, देवता सूर्य हैं और छन्द त्रिष्टुप् है। इस सूक्तके देवता सूय सम्पूर्ण विश्वके प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं, जगत्की आत्मा हैं और प्राणिमात्रको सत्कर्मोमे प्रेरित करनेवाले देव हैं। देवमण्डलमें इनका अन्यतम एव विशिष्ट स्थान इसलिये भी है, क्याकि ये जीवमात्रके लिये प्रत्यक्षगोचर हैं। ये सभीके लिये आरोग्य प्रदान करनेवाले एव सर्वविध कल्याण करनेवाले हैं, अत समस्त प्राणिधारियाके लिये स्तवनीय हैं, वन्दनीय हैं—]

चित्र देवानामुदगादनीक चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ १ ॥

प्रकाशमान रश्मियाका समूह अथवा राशि-राशि देवगण सूर्यमण्डलके रूपम उदित हा रहे हैं। ये मित्र, वरुण अग्नि और सम्पूर्ण विश्वक प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं। इन्हाने उदित होकर द्युलोक पृथ्वी और अन्तरिक्षको अपने देदीप्यमान तेजसे सर्वत परिपूर्ण कर दिया है। इस मण्डलम जो सूर्य हैं, वे अन्तर्यामी हानके कारण सबके प्रेरक परमात्मा ह तथा जङ्गम एव स्थावर सृष्टिकी आत्मा हैं।

सूर्यो देवीमुषस रोचमाना मर्त्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्॥ २॥

सूर्य गुणमयी एव प्रकाशमान उषादेवीक पीछे-पीछे चलते हैं, जैस कोई मनुष्य सर्वाङ्ग-सुन्दरी युवतीका अनुगमन करे। जब सुन्दरी उषा प्रकट होती है, तब प्रकाशके देवता सूर्यकी आराधना करनेक लिये कर्मनिष्ठ मनुष्य अपने कतव्य-कर्मका सम्पादन करत हैं। सूर्य कल्याणरूप हैं और उनकी आराधनासे—कर्तव्य-कर्मके पालनसे कल्याणकी प्राप्ति होती है।

भद्रा अश्वा हरित सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यास ।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थु परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्य ॥ ३ ॥

सूर्यका यह रश्मि-मण्डल अश्वक समान उन्हे सर्वत्र पहुँचानेवाला चित्र-विचित्र एव कल्याणरूप है। यह प्रतिदिन तथा अपने पथपर हा चलता ह एव अर्चनीय तथा वन्दनाय है। यह सबको नमनकी प्ररणा दता ह और स्वय द्युलाकक ऊपर निवास करता है। यह तत्काल द्युलाक और पृथ्वाका परिभ्रमण कर लता है।

तत् सूर्यस्य देवत्व तन्महित्व मध्या कर्तोर्विततं स जभार।
यदेदयुक्त हरित सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ४॥

सर्वान्तर्यामी प्रेरक सूर्यका यह ईश्वरत्व और महत्त्व है कि वे प्रारम्भ किये हुए, किंतु अपरिसमाप्त कृत्यादि कर्मको ज्या-का-त्या छोडकर अस्ताचल जाते समय अपनी किरणाको इस लाकसे अपने-आपमे समेट लेते हैं। साथ ही उसी समय अपने रसाकर्षी किरणा और घोडोको एक स्थानसे खींचकर दूसरे स्थानपर नियुक्त कर देते हैं। उसी समय रात्रि अन्धकारके आवरणसे सबको आवृत्त कर देती है।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूप कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाज कृष्णमन्यद्धरित स भरन्ति ॥५॥

प्ररक सूर्य प्रात काल मित्र, वरुण और समग्र सृष्टिको सामनेसे प्रकाशित करनेके लिये प्राचीके आकाशीय क्षितिजमें अपना प्रकाशक रूप प्रकट करते हैं। इनकी रसभोजी रश्मियाँ अथवा हरे घोडे बलशाली रात्रिकालीन अन्धकारके निवारणम समर्थ विलक्षण तेज धारण करते हैं। उन्हींके अन्यत्र जानसे रात्रिमे काले अन्धकारकी सृष्टि होती है।

अद्या दवा उदिता सूर्यस्य निरहस पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदिति सिन्धु पृथिवी उत द्यौ ॥६॥

ह प्रकाशमान सूर्य-रश्मियो! आज सूर्योदयके समय इधर-उधर बिखरकर तुम लाग हमें पापासे निकालकर बचा लो। न कवल पापसे ही, प्रत्युत जो कुछ निन्दित है, गर्हणाय है दु ख-दारिद्र्य है, सबसे हमारी रक्षा करा। जो कुछ हमन कहा हे मित्र, वरुण, अदिति सिन्धु, पृथ्वी और द्युलाकक अधिष्ठातृ दवता उसका आदर करें, अनुमोदन कर व भी हमारी रक्षा करें।

५-(ख) सूर्य-सूक्त

['सूर्य-सूक्त' के ऋषि 'विभ्राड्' है, देवता 'सूर्य' और छन्द 'जगती' है। ये सूर्यमण्डलके प्रत्यक्ष देवता हैं, जिनका दर्शन बको निरन्तर प्रतिदिन होता है। पञ्चदेवोमे भी सूर्यनारायणकी पूर्णब्रह्मके रूपमे उपासना होती है। भगवान् सूर्यनारायणको प्रसन्न रनेके लिये प्रतिदिनके 'उपस्थान' एव 'प्रार्थना' मे 'सूर्य-सूक्त' के पाठ करनेकी परम्परा है। शरीरके असाध्य रोगोसे मुक्ति नेमे 'सूर्य-सूक्त' अपूर्व शक्ति रखता है। इस सूक्तको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।—]

वेभ्राड् बृहत्पिबतु साम्य मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविहुतम्।
ातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजा पुपोष पुरुधा वि राजति॥ १॥

वायुसे प्रेरित आत्माद्वारा जो महान् दीप्तिमान् सूर्य जाकी रक्षा तथा पालन-पोषण करता है और अनेक कारसे शोभा पाता है, वह अखण्ड आयु प्रदान करते हुए धुर सोमरसका पान करे।

उदु त्य जातवेदस देव वहन्ति केतव । दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ २॥

विश्वकी दर्शन-क्रिया सम्पादित करनेके लिये अग्निज्वाला-स्वरूप उदीयमान सूर्यदेवको ब्रह्मज्योतियाँ ऊपर उठाये रखती हैं।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्त जनाँ अनु। त्व वरुण पश्यसि॥ ३॥

हे पावकरूप एव वरुणरूप सूर्य! तुम जिस दृष्टिसे ऊर्ध्वगमन करनेवालाको देखते हो, उसी कृपादृष्टिसे सब जनाको देखो।

दैव्यावध्वर्यू आ गत" रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञः समञ्जाथे।
त प्रत्नथाऽय वेनश्चित्र देवानाम्॥ ४॥

हे दिव्य अश्विनीकुमारो! आप भी सूर्यकी-सी कान्तिवाले रथमे आये और हविष्यसे यज्ञको परिपूर्ण करें। उसे ही जिसे ज्योतिष्मानोंमें चन्द्रदेवने प्राचीन विधिसे अद्भुत बनाया है।

त प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदः स्वर्विदम्।
प्रतीचीन वृजन दोहसे धुनिमाशु जयन्तमनु यासु वर्धसे॥ ५॥

यज्ञादि श्रेष्ठ क्रियाओमे अग्रणी रहनेवाले और विपरीत पापादिका नाश करनेवाले, श्रेष्ठ विस्तारवाले, श्रेष्ठ आसनपर स्थित, स्वर्गके ज्ञाता आपको हम पुरातन विधिसे, पूर्ण विधिसे, सामान्यविधिसे और इस प्रस्तुत विधिसे वरण करते हैं।

अय वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपाःसगम सूर्यस्य शिशु न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥ ६॥

जलके निर्माणक समय यह ज्योतिर्मण्डलसे आवृत चन्द्रमा अन्तरिक्षीय जलको प्रेरित करता है। इस जल-समागमके समय ब्राह्मण सरल वाणीसे वेन (चन्द्रमा)-की स्तुति करते हैं।

चित्र देवानामुदगादनीक चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षः सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ७॥

क्या ही आश्चर्य है कि स्थावर-जगम जगत्की आत्मा, किरणोका पुञ्ज, अग्नि, मित्र और वरुणका नेत्ररूप यह सूर्य भूलोक, द्युलोक तथा अन्तरिक्षको पूर्ण करता हुआ उदित होता है।

आ न इडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानर सविता दव एतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्व जगदभिपित्वे मनीषा॥ ८॥

सुन्दर अन्नावाले हमारे प्रशसनीय यज्ञम सर्वहितैषी सूर्यदेव आगमन कर। हे अजर देवो! जैसे भी हो, आप लोग तृप्त हो और आगमनकालमें हमारे सम्पूर्ण गो आदिको बुद्धिपूर्वक तृप्त करें।

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥ ९॥

हे इन्द्र! हे सूर्य! आज तुम जहाँ-कहीं भी उदीयमान हो, वे सभी प्रदेश तुम्हारे अधीन हैं।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥ १०॥

देखत-देखते विश्वका अतिक्रमण करनेवाले हे विश्वके प्रकाशक सूर्य! इस दीप्तिमान् विश्वका तुम्हीं प्रकाशित करते हो।

तत् सूर्यस्य देवत्व तन्महित्व मध्या कर्तोर्वितत सजभार।
यदेदयुक्त हरित सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ११॥

सूर्यका देवत्व ता यह है कि ये ईश्वर—सृष्ट जगत्के मध्य स्थित हो समस्त ग्रहाका धारण करते हैं आर आकाशसे ही जब हरितवर्णकी किरणासे सयुक्त हो जाते हैं ता रात्रि सबके लिये अन्धकारका आवरण फला देती है।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूप कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाज कृष्णमन्यद्धरित सभरन्ति॥ १२॥

द्युलोकके अङ्कमे यह सूर्य मित्र और वरुणका रूप धारण कर सबको देखता है। अनन्त शुक्ल-देदीप्यमान इसका एक दूसरा अद्वैतरूप है। कृष्णवर्णका एक दूसरा द्वैतरूप है, जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती है।

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि॥ १३॥

हे सूर्यरूप परमात्मन्! तुम सत्य ही महान् हो। आदित्य! तुम सत्य ही महान् हो। महान् और सद्रूप होनेके कारण आपकी महिमा गायी जाती है। आप सत्य ही महान् हैं।

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।
मह्ना देवानामसुर्य पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥ १४॥

हे सूर्य! तुम सत्य ही यशसे महान् हो। यज्ञसे महान् हो तथा महिमासे महान् हो। देवाके हितकारी एव अग्रणी हो और अदम्य व्यापक ज्योतिवाले हो।

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भाग न दीधिम॥ १५॥

जिन सूर्यका आश्रय करनेवाली किरणे इन्द्रकी सम्पूर्ण वृष्टि-सम्पत्तिका भक्षण करती हैं और फिर उनको उत्पन्न करने अर्थात् वर्षण करनेके समय यथाभाग उत्पन्न करती हैं, उन सूर्यको हम हृदयमे धारण करते हैं।

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरः हस पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदिति सिन्धु पृथिवी उत द्यौ ॥ १६॥

हे देवो! आज सूर्यका उदय हमारे पाप और दोषको दूर करे ओर मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और स्वर्ग सब-के-सब मेरी इस वाणीका अनुमोदन कर।

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ १७॥

सबके प्रेरक सूर्यदेव स्वर्णिम रथमे विराजमान होकर अन्धकारपूर्ण अन्तरिक्ष-पथमे विचरण करते हुए देवो और मानवोको उनके कार्योमे लगाते हुए लोकोको देखते हुए चले आ रहे हैं।

~~~~

ॐ देवी ह्येकाग्र आसीत् सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते। तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरस किन्नरा वादित्रवादिन समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डज स्वेदजमुद्भिज्ज जरायुज यत्किञ्चैतत्प्राणिस्थावरजङ्गम मनुष्यमजीजनत्। सैषापरा शक्ति । सैषा शाम्भवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्यति वा रहस्यम्। ओमो वाचि प्रतिष्ठा सैव पुरत्रय शरीरत्रय व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चिति ।
(बह्वृचोपनिषद्)

ॐ एकमात्र देवी ही सृष्टिसे पूर्व थीं, उन्होने ही ब्रह्माण्डकी सृष्टि की, वे कामकलाके नामसे विख्यात हैं। वे ही शृङ्गारकी कला कहलाती हैं। उन्हींसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, विष्णु प्रकट हुए, रुद्र प्रादुर्भूत हुए, समस्त मरुद्गण उत्पन्न हुए, गानेवाले गन्धर्व, नाचनेवाली अप्सराएँ और वाद्य बजानेवाले किन्नर सब ओर उत्पन्न हुए, भोगसामग्री उत्पन्न हुई, सब कुछ उत्पन्न हुआ, समस्त शक्तिसम्बन्धी पदार्थ उत्पन्न हुए, अण्डज स्वेदज, उद्भिज्ज तथा जरायुज—सभी स्थावरजङ्गम प्राणी-मनुष्य उत्पन्न हुए। वे ही अपरा शक्ति हैं। वे ही शाम्भवी विद्या कादि विद्या अथवा हादि विद्या या सादि विद्या अथवा रहस्यरूपा हैं। वे ॐ अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूपसे वाणीमात्रमे प्रतिष्ठित हैं। वे ही (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन) तीनो पुरो तथा (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन) तीनो प्रकारके शरीरोको व्याप्त कर बाहर और भीतर प्रकाश फैलाती हुई देश काल तथा वस्तुके भीतर असङ्ग रहकर महात्रिपुरसुन्दरी प्रत्यक् चेतना हैं।

~~~~

प्रमुख देवी-देवताओके सूक्त

अग्नि-सूक्त

[इस सूक्तके ऋषि मधुच्छन्दा हैं, देवता अग्नि हैं तथा छन्द गायत्री है। वेदमे अग्निदेवताका विशेष महत्त्व है। ऋग्वेद-सहितामे दो सौ सूक्त अग्निके स्तवनमे प्राप्त हैं। ऋग्वेदके सभी मण्डलोके आदिमे 'अग्नि-सूक्त' के अस्तित्वसे इस देवकी प्रमुखता प्रकट होती है। सर्वप्रधान और सर्वव्यापक होनेके साथ अग्नि सर्वप्रथम, सर्वाग्रणी भी हैं। इनका 'जातवेद' नाम इनकी विशेषताका द्योतक है। भूमण्डलके प्रमुख तत्त्वोसे अग्निका सम्बन्ध बताया जाता है। प्राणिमात्रके सर्वविध कल्याणके लिये इस सूक्तको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।—]

अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतार रत्नधातमम्॥ १॥

सबका हित करनेवाले, यज्ञके प्रकाशक, सदा अनुकूल यज्ञकर्म करनेवाले, विद्वानोके सहायक अग्निकी मैं प्रशसा करता हूँ।

अग्नि पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति॥ २॥

सदैवसे प्रशसित अग्निदेवाका आवाहन करते हैं। अग्निके द्वारा ही देवता शरीरम प्रतिष्ठित रहते हैं। शरीरसे अग्निदेवके निकल जानेपर समस्त देव इस शरीरको त्याग देते हैं।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे।
यशस वीरवत्तमम्॥ ३॥

अग्नि ही पुष्टिकारक, बलयुक्त और यशस्वी अन्न प्रदान करते हैं। अग्निसे ही पोषण होता है, यश बढता है और वीरतासे धन प्राप्त होता है।

अग्ने य यज्ञमध्वर विश्वत परिभूरसि।
स इद् देवेषु गच्छति॥ ४॥

हे अग्नि! जिस हिसारहित यज्ञको सब ओरसे आप सफल बनाते हैं, वही देवोके समीप पहुँचता है।

अग्निर्होता कविक्रतु सत्यश्चित्रश्रवस्तम ।
देवो देवभिरा गमत्॥ ५॥

देवोका आवाहन करनेवाला, यज्ञ-निष्पादक, ज्ञानियाकी कर्मशक्तिका प्रेरक, सत्यपरायण, विविध रूपावाला और अतिशय कीर्तियुक्त यह तेजस्वी अग्नि देवोके साथ इस यज्ञमे आये हैं।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्र करिष्यसि।
तवेत् तत् सत्यमङ्गिर ॥ ६॥

हे अग्नि! आप दानशीलका कल्याण करते हैं। हे शरीरम व्यापक अग्नि! यह आपका नि सदेह एक सत्यकर्म है।

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥ ७॥

हे अग्नि! प्रतिदिन दिन आर रात बुद्धिपूर्वक नमस्कार करते हुए हम आपके समीप आते हैं, अर्थात् अपनी स्तुतियाद्वारा हमेशा उस प्रकाशक एव तेजस्वी अग्निका गुणगान करना चाहिय, दिन और रात्रिके समय उनको सदा प्रणाम करना चाहिये।

राजन्तमध्वराणा गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमान स्वे दमे॥ ८॥

दीप्यमान, हिसारहित यज्ञोके रक्षक, अटल-सत्यके प्रकाशक और अपने घरम बढनेवाले अग्निके पास हम नमस्कार करते हुए आते हैं।

स न पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा न स्वस्तये॥ ९॥

हे अग्नि! जिस प्रकार पिता पुत्रके कल्याणकारी कामम सहायक होता है, उसी प्रकार आप हमारे कल्याणम सहायक हों।

इन्द्र-सूक्त

[इस सूक्तके ऋषि अप्रतिरथ, देवता इन्द्र तथा आर्षी-त्रिष्टुप् छन्द है। इसकी 'अप्रतिरथ-सूक्त' के नामसे भी प्रसिद्धि है। इन्द्र वेदके प्रमुख देवता हैं। इन्द्रके विषयमे अन्य देवताओकी अपेक्षा अधिक कथाएँ प्रचलित हैं। इनका समस्त स्वरूप स्वर्णिम तथा अरुण है। ये सर्वाधिक सुन्दर रूपाको धारण करते हैं तथा सूर्यकी अरुण-आभाको धारण करते हैं, अत इन्हे 'हिरण्य' कहा जाता है। इस सूक्तको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। —]

आशु शिशानो वृषभो न भीमो घनाघन क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
सक्रन्दनोऽनिमिष एकवीर शतः सेना अजयत् साकमिन्द्र ॥ १ ॥

वेगगामी, वज्रतीक्ष्णकारी, वर्षणकी उपमावाले, भयकर, मेघतुल्य वृष्टि करनेवाले, मानवाके मोक्षकर्ता, निरन्तर गर्जनायुक्त, अपलक, अद्वितीय वीर इन्द्रने शत्रुआकी सेकडा सेनाओको एक साथ जीत लिया है।

सक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्व युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥ २॥

हे योद्धाओ! गर्जनकारी, अपलक, जयशील, युद्धरत, अपराजेय, प्रतापी, हाथम बाणसहित, कामनाआकी वृष्टि करनेवाले इन्द्रकी कृपासे शत्रुको जीतो और उसका सहार करो।

स इषुहस्तै स निषङ्गिभिर्वशी सः स्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
सः सृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥ ३॥

वह सयमी, युद्धार्थ उपस्थिताको जीतनेवाला, शत्रुसमूहासे युद्ध करनेवाला सोमपान करनेवाला, बाहुबलसे युक्त, कठोर धनुषवाला इन्द्र, बाणधारी एव तूणीरधारी शत्रुआसे भिड जाता है और अपने फेके गये बाणासे उन्हे परास्त करता है।

बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमान ।
प्रभञ्जन्सेना प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्॥ ४॥

हे व्याकरणकर्ता! तुम रथसे सचरण करनेवाले, राक्षस-विनाशक, शत्रुपीडाकारक, उनकी सेनाआके विध्वसकर्ता एव युद्धद्वारा हिसाकारियाके जेता हो। हमारे रथाके रक्षक बनो।

बलविज्ञाय. स्थविर. प्रवीर. सहस्वान् वाजी सहमान उग्र।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित्॥ ५॥

हे दूसराके बलको जाननेवाले, पुरातन शासक शूर, साहसी, अन्नवान्, उग्र वीरास युक्त परिचरासे युक्त, सहज ओजस्वी स्तुतिके ज्ञाता एव शत्रुआके तिरस्कर्ता इन्द्र! तुम अपने जयशील रथपर आरूढ हो जाओ।

गोत्रभिद गोविद वज्रबाहु जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।
इमःसजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रः सखायो अनु सः रभध्वम्॥ ६॥

हे तुल्यजन्मा इन्द्रसखा देवो! इस असुर-सहारक, वेदज्ञ, वज्रबाहु, रणजेता, बलपूर्वक शत्रु-सहर्ता इन्द्रके अनुरूप ही तुम लोग भी शौर्य दिखाओ और इसकी ओरसे तुम भी आक्रमण करो।

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीर शतमन्युरिन्द्र ।
दुश्च्यवन पृतनाषाडयुध्योऽस्माकः सेना अवतु प्र युत्सु॥ ७॥

शत्रुआको निर्दयतापूर्वक, विविध क्रोधयुक्त हो सहसा मर्दित करनेवाला और अडिग होकर उनके आक्रमणाको झेलनेवाला वीर इन्द्र हमारी सेनाकी सर्वथा रक्षा करे।

इन्द्र आसा नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञ पुर एतु सोम ।
देवसेनानामभिभञ्जतीना जयन्तीना मरुतो यन्त्वग्रम्॥ ८॥

शत्रुआका मानमर्दन करनेवाली, विजयोन्मुखी—इन देवसेनाआका नेता वेदज्ञ इन्द्र हैं। विष्णु इसके दाहिने ओरसे आय, सोम सामनेसे आय तथा गणदेवता आगे-आगे चल।

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्याना मरुताः शर्ध उग्रम्।
महामनसा भुवनच्यवाना घोषो देवाना जयतामुदस्थात्॥ ९॥

वर्षणशील इन्द्रकी, राजा वरुणकी, महामनस्वी आदित्या और मरुताकी तथा भुवनाको दबानेवाले विजयी देवताआकी सेनाका उग्र घोष हुआ।

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनाꣳसि।
उद्वृत्रहन् वाजिना वाजिनान्युद्रथाना जयता यन्तु घोषा ॥ १०॥

हे इन्द्र! आयुधाको उठाकर चमका दो। हमारे जीवाके मन प्रसन्न कर दो। हे इन्द्र! घोडाकी गति तीव्र कर दो और जयशील रथाके घोष तुमुल हो।

अस्माकमिन्द्र. समृतेषु ध्वजेष्वस्माक या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माक वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु॥ ११॥

हमारी ध्वजाओंके शत्रु ध्वजाओंसे जा मिलनेपर इन्द्र हमारी रक्षा करे। हमारे बाण विजयी हों। हमारे वीर शत्रुवीरोंसे उत्कृष्ट हों तथा युद्धोंमें देवता हमारी रक्षा करें।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ १२॥

हे व्याधिदेवि! इन शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करती हुई पृथक् हो जा। चारों ओरसे अन्यान्य शत्रुओंको भी समेटती हुई पृथक् हो जा। उनके हृदयोंको शोकाकुल कर दो और वे हमारे शत्रु तामस अहंकारसे ग्रस्त हो जायँ।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कं चनोच्छिषः॥ १३॥

ब्रह्ममन्त्रसे अभिमन्त्रित हे हमारे बाण-ब्रह्मास्त्रो! हमारे द्वारा छोड़े जानेपर तुम शत्रुओंपर जा पड़ो। उनके पास जाओ और उनके शरीरोंमें प्रविष्ट हो जाओ तथा उनमेंसे किसीको भी न छोड़ो।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ॥ १४॥

हे हमारे नरो! जाओ और विजय करो। इन्द्र तुम्हें विजय-सुख दें। तुम्हारी भुजाएँ उग्र हों, जिससे तुम अधर्षित होकर टिके रहो।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथाऽमी अन्यो अन्यं न जानन्॥ १५॥

हे मरुद्गण! यह जो शत्रुसेना बलमें हमसे स्पर्धा करती हुई हमारी ओर चली आ रही है। उसे कर्महीनताके अन्धकारसे आच्छादित कर दो, ताकि वे आपसमें ही एक दूसरेको न जानते हुए लड़ मरें।

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव।
तत्र इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥ १६॥

शिखाहीन कुमारोंकी भाँति शत्रुप्रेरित बाण जहाँ-जहाँ पड़ें वहाँ-वहाँ इन्द्र, बृहस्पति और अदिति हमारा कल्याण करें। विश्वसंहारक हमारा कल्याण करें।

यम-सूक्त

[ऋग्वेदके दशम मण्डलका चौदहवाँ सूक्त 'यम-सूक्त' है। इसके ऋषि यमो वैवस्वत तथा १ से ५ मन्त्रोंके देवता यम, छठे मन्त्रके देवता पित्रथर्वभृगुसोम, ७ से ९वें मन्त्रतकके देवता लिङ्गोक्त पितर १० से १२वें तकके देवता श्वानौ हैं। १ से १२ तकके मन्त्रका छन्द त्रिष्टुप्, १३ वें, १४ वें तथा १६ वें का छन्द अनुष्टुप् तथा १५वें मन्त्रका छन्द बृहती है। प्रस्तुत 'यम-सूक्त' तीन भागोंमें विभक्त है। ऋचा १ से ६ तकके पहले भागमें यम एवं उनके सहयोगियोंकी सराहना की गयी है और यज्ञमें उपस्थित होनेके लिये उनका आवाहन किया गया है। ऋचा ७ से १२ तकके दूसरे भागमें नूतन मृतात्माको श्मशानकी दहन-भूमिसे निकलकर यमलोक जानेका आदेश दिया गया है। १३ से १६ तककी ऋचाओंमें यज्ञके हविको स्वीकार करनेके लिये यमका आवाहन किया गया है। —]

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ १॥

उत्तम पुण्य-कर्मोंको करनेवालोंको सुखद स्थानमें ले जानेवाले, बहुतोंके हितार्थ योग्य-मार्गके द्रष्टा विवस्वान्के पुत्र यमको हवि अर्पण करके उनकी सेवा करें जिनके पास मनुष्योंको जाना ही पड़ता है।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥ २॥

पाप-पुण्यके ज्ञाता सबमें प्रमुख यमके मार्गको कोई बदल नहीं सकता। पहले जिस मार्गसे हमारे पूर्वज गये हैं उसी मार्गसे अपने-अपने कर्मानुसार हम सब जायँगे।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान् त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति॥ ३॥

इन्द्र कव्यभुक् पितरोंकी सहायतासे, यम अंगिरसादि पितरोंकी सहायतासे और बृहस्पति ऋक्वदादि पितरोंकी सहायतासे उत्कर्ष पाते हैं। देव जिनको उन्नत करते हैं तथा जो देवोंको बढ़ाते हैं। उनमेंसे कोई स्वाहाके द्वारा (देव) और कोई स्वधासे (पितर) प्रसन्न होते हैं।

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाऽङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व॥ ४॥

हे यम! अङ्गिरादि पितरोंके साथ इस श्रेष्ठ यज्ञमें आकर बैठें। विद्वान् लोगोंके मन्त्र आपको बुलावें। हे राजा यम! इस हविसे संतुष्ट होकर हमें प्रसन्न कीजिये।

ङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
ङ्स्वन्त हुवे य पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ५॥

हे यम! यज्ञम स्वीकार करने योग्य अङ्गिरस ऋषियाको
। लेकर आय। वैरूप नामक पूर्वजाके साथ यहाँ आप
प्रसन्न हो। आपके पिता विवस्वान्को भी मैं यहाँ
ान्त्रित करता हूँ (और प्रार्थना करता हूँ) कि इस यज्ञम
कुशासनपर बैठकर हमे सतुष्ट करे।

ङ्गिरसो न पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगव सोम्यास ।
। वय सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ६॥

अङ्गिरा, अथर्वा एव ऋग्वादि हमारे पितर अभी ही
ये हैं और ये हमारे ऋषि सोमपानके लिये योग्य ही हैं।
सब यज्ञार्ह पूर्वजाकी कृपा तथा मङ्गलप्रद प्रसन्नता हमे
तरह प्राप्त हो।

; प्रेहि पथिभि पूर्व्येभिर्यत्रा न पूर्वे पितर परेयु ।
। राजाना स्वधया मदन्ता यम पश्यासि वरुण च देवम्॥ ७॥

हे पिता। जहाँ हमारे पूर्व पितर जीवन पार कर गये हैं,
प्राचीन मार्गोंसे आप भी जायँ। स्वधाकार अमृतान्नसे
न्न-तृप्त हुए राजा यम और वरुणदेवसे जाकर मिल।

गच्छस्व पितृभि स यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
वायावद्य पुनरस्तमेहि स गच्छस्व तन्वा सुवर्चा ॥ ८॥

हे पिता। श्रेष्ठ स्वर्गमे अपने पितराके साथ मिल। वैसे
अपने यज्ञ, दान आदि पुण्यकर्मोंके फलसे भी मिले।
ने सभी दोषाको त्याग कर इस (शाश्वत) घरकी ओर
ये और सुन्दर तेजसे युक्त होकर (सचरण करने योग्य
ोन) शरीर धारण करे।

त वीत वि च सर्पतातो ऽस्मा एत पितरो लोकमक्रन्।
ोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्त यमो ददात्यवसानमस्मै॥ ९॥

हे भूत-पिशाचो! यहाँसे चले जाओ, हट जाओ, दूर
े जाओ। पितराने यह स्थान इस मृत मनुष्यके लिये
ेचत किया है। यह स्थान दिन-रात और जलसे युक्त
यमने इस स्थानको मृत मनुष्यको दिया है (इस
वामे श्मशानके भूत-पिशाचोंसे प्रार्थना की गयी है कि
मृत व्यक्तिके अन्तिम विश्राम स्थलक मार्गम बाधा न
स्थित कर)।

ते द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
ा पितॄन् त्सुविदत्राँ उपेहि यमन ये सधमाद मदन्ति॥ १०॥

(हे सद्य मृत जीव!) चार नेत्रावाले चित्रित शरीरक सरमाक
ां श्वान-पुत्र हैं। उनके पास अच्छ मार्गसे अत्यन्त शीघ्र
गमन करो। यमराजके साथ एक ही पक्तिम प्रसन्नतासे
(अन्नादिका) उपभोग करनेवाले अपने अत्यन्त उदार पिताराके
पास उपस्थित हो जाओ (मृत व्यक्तिसे कहा गया है कि
उचित मार्गसे आगे बढकर सभी बाधाओको हटाते हुए यमलोक
ले जानेवाले दोना श्वानाके साथ वह जल्द जा पहुँचे)।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेन परि देहि राजन् त्स्वस्ति चास्मा अनमीव च धेहि॥ ११॥

हे यमराज! मनुष्यापर ध्यान रखनेवाले, चार नेत्रावाले, मार्गके
रक्षक ये जो आपके रक्षक श्वान हैं, उनसे इस मृतात्माकी रक्षा
करे। हे राजन्! इसे कल्याण और आरोग्य प्राप्त कराये।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्य दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ १२॥

यमके दूत, लबी नासिकावाले, (मुमूर्षु व्यक्तिके) प्राण
अपने अधिकारमे रखनेवाले, महापराक्रमी (आपके) दोना
श्वान मर्त्यलोकम भ्रमण करते रहते हैं। वे हमे सूर्यके
दर्शनके लिये यहाँ आज कल्याणकारी उचित प्राण दे।

यमाय सोम सुनुत यमाय जुहुता हवि ।
यम ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरकृत ॥ १३॥

यमके लिये सोमका सेवन करो तथा यमके लिये
(अग्निमे) हविका हवन करो। अग्नि उसका दूत है,
इसलिये अच्छी तरह तैयार किया हुआ यह हमारा यज्ञिय
हवि यमके पास पहुँच जाता है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायु प्र जीवसे॥ १४॥

घृतसे मिश्रित यह हव्य यमके लिये (अग्निमे) हवन
करो और यमकी उपासना करो। देवाके बीच यम हम दीर्घ
आयु दे ताकि हम जीवित रह सकें।

यमाय मधुमत्तम राज्ञे हव्य जुहोतन।
इद नम ऋषिभ्य पूर्वजेभ्य पूर्वेभ्य पथिकृद्भ्य ॥ १५॥

अत्यधिक माधुर्ययुक्त यह हव्य राजा यमके लिये अग्निमे
हवन करो। (हे यम!) हमारा यह प्रणाम अपने पूर्वज ऋषियाको
अपने पुरातन मार्गदर्शकाको समर्पित हो जाय।

त्रिकद्रुकेभि पतति षळुर्वीरेकमिद्बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दासि सर्वा ता यम आहिता॥ १६॥

त्रिकद्रुक नामक यज्ञाम हमारा यह (सोमरूपी सुपर्ण)
उडान ले रहा है। यम छ स्थाना—द्युलोक, भूलोक, जल
औषधि ऋक् और सुनृतम रहते हैं। गायत्री तथा अन्य
छन्द—ये सभी इन यमम ही सुप्रतिष्ठित किये गये हैं।

पितृ-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वे मण्डलके १५वे सूक्तकी १—१४ ऋचाएँ 'पितृ-सूक्त' के नामसे ख्यात हैं। पहली आठ ऋचाआमे विभिन्न स्थानोमे निवास करनेवाले पितरोको हविर्भाग स्वीकार करनेके लिये आमन्त्रित किया गया है। अन्तिम छ ऋचाओमे अग्निसे प्रार्थना की गयी है कि वे सभी पितरोको साथ लेकर हवि-ग्रहण करनेके लिये पधारनेकी कृपा करे। इस सूक्तके ऋषि शङ्ख यामायन, देवता पितर तथा छन्द त्रिष्टुप् (१—१०, १२—१४) और जगती (११) हैं। —]

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमा पितर सोम्यास ।
असु य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ १॥

नीचे, ऊपर और मध्यस्थानोमे रहनेवाले, सोमपान करनेके योग्य हमारे सभी पितर उठकर तैयार हो। यज्ञके ज्ञाता सौम्य स्वभावके हमारे जिन पितरोने नूतन प्राण धारण कर लिये हैं, वे सभी हमारे बुलानेपर आकर हमारी सुरक्षा कर।

इद पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयु ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नून सुवृजनासु विक्षु॥ २॥

जो भी नये अथवा पुराने पितर यहाँसे चले गये हैं, जो पितर अन्य स्थानामे हैं और जो उत्तम स्वजनोके साथ निवास कर रहे हैं अर्थात् यमलोक, मर्त्यलोक और विष्णुलाकमे स्थित सभी पितरोको आज हमारा यह प्रणाम निवेदित हो।

आह पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपात च विक्रमण च विष्णो ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठा ॥ ३॥

उत्तम ज्ञानसे युक्त पितराको तथा अपानपात् और विष्णुके विक्रमणको, मैंने अपने अनुकूल बना लिया है। कुशासनपर बैठनेके अधिकारी पितर प्रसन्नतापूर्वक आकर अपनी इच्छाके अनुसार हमारे-द्वारा अर्पित हवि और सोमरस ग्रहण करे।

बर्हिषद पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शतमेनाऽथा न श योरऽपा दधात॥ ४॥

कुशासनपर अधिष्ठित होनेवाले हे पितर! आप कृपा करके हमारी ओर आइये। यह हवि आपके लिये ही तैयार की गयी है, इसे प्रेमस स्वीकार कीजिये। अपने अत्यधिक सुखप्रद प्रसादक साथ आय और हमे क्लेशरहित सुख तथा कल्याण प्राप्त करावे।

उपहूता पितर सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ५॥

पितराको प्रिय लगनेवाली सोमरूपी निधियाकी स्थापनाके बाद कुशासनपर हमने पितराका आवाहन किया है। व यहाँ आ जायँ और हमारी प्रार्थना सुन। वे हमारी सुरक्षा करनेके साथ ही देवोके पास हमारी ओरसे सस्तुति करे।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येम यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितर केन चिन्नो यद्व आग पुरुषता कराम॥ ६॥

हे पितरो! बायाँ घुटना मोडकर और वेदीके दक्षिणम नीचे बैठकर आप सभी हमारे इस यज्ञकी प्रशसा करे। मानव-स्वभावके अनुसार हमने आपके विरुद्ध कोई भी अपराध किया हो तो उसके कारण हे पितरो, आप हमे दण्ड मत द (पितर बायाँ घुटना मोडकर बैठते हैं और देवता दाहिना घुटना मोडकर बैठना पसन्द करते हैं)।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयि धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्य पितरस्तस्य वस्व प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥ ७॥

अरुणवर्णकी उषादेवीके अङ्कमे विराजित हे पितर! अपने इस मर्त्यलोकके याजकको धन द, सामर्थ्य द तथा अपनी प्रसिद्ध सम्पत्तिमसे कुछ अश हम पुत्राको देवे।

ये न पूर्वे पितर सोम्यासो ऽनूहिरे सोमपीथ वसिष्ठा ।
तेभिर्यम सरराणो हवींष्युशन्नुशद्भि प्रतिकाममत्तु॥ ८॥

(यमके सोमपानके बाद) सोमपानके योग्य हमारे वसिष्ठ कुलके सोमपायी पितर यहाँ उपस्थित हो गये हैं। वे हम उपकृत करनेके लिये सहमत होकर और स्वय उत्कण्ठित होकर यह राजा यम हमारे-द्वारा समर्पित हविको अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर।

ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविद स्तोमतष्टासो अर्कै ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यै कव्यै पितृभिर्घर्मसद्भि ॥ ९॥

अनेक प्रकारके हवि-द्रव्याके ज्ञानी अर्कोंसे , स्तोमाकी सहायतासे जिन्ह निर्माण किया है, ऐसे उत्तम ज्ञानी, विश्वासपात्र घर्म नामक हविके पास बैठनेवाले 'कव्य' नामक हमार पितर दवलाकम साँस लगनकी अवस्थातक प्याससे व्याकुल हो गय ह। उनको साथ लेकर ह अग्निदव! आप यहाँ उपस्थित होव।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवै सरथ दधाना ।
आग्ने याहि सहस्त्र देववन्दै परै पूर्वै पितृभिर्घर्मसद्भि ॥ १०॥

कभी न बिछुडनेवाले, ठोस हविका भक्षण करनवाले, द्रव हविका पान करनेवाले, इन्द्र और अन्य दवाक साथ एक ही रथम प्रयाण करनेवाले, देवाकी वन्दना करनेवाले, घर्म नामक हविके पास बैठनेवाल जो हमारे पूर्वज पितर हैं, उन्ह सहस्राकी सख्याम लकर हे अग्निदेव! यहाँ पधार।

अग्निष्वात्ता पितरएहगच्छतसद सद सदतसुप्रणीतय ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयि सर्ववीर दधातन॥ ११ ॥

अग्निके द्वारा पवित्र किये गय हे उत्तनपथ प्रदर्शक पितर! यहाँ आइये और अपने-अपने आसनापर अधिष्ठित हो जाइये। कुशासनपर समर्पित हविर्द्रव्याका भक्षण कर और (अनुग्रहस्वरूप) पुत्रासे युक्त सम्पदा हम समर्पित करा दे।

त्वमग्न ईळितो जातवेदो ऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादा पितृभ्य स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्व देव प्रयता हवींषि॥ १२॥

हे ज्ञानी अग्निदेव! हमारी प्रार्थनापर आप इस हविको मधुर बनाकर पितराके पास ले गये, उन्ह पितराको समर्पित किया और पितराने भी अपनी इच्छाके अनुसार उस हविका भक्षण किया। हे अग्निदेव! (अब हमारे-द्वारा) समर्पित हविको आप भी ग्रहण कर।

य चेह पितरो य च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्व वेत्थ यति त जातवेद स्वधाभिर्यज्ञ सुकृत जुषस्व॥ १३॥

जो हमारे पितर यहाँ (आ गय) हैं और जो यहाँ नहीं आये हैं, जिन्ह हम जानत हैं ओर जिन्ह हम अच्छी प्रकार जानते भी नहीं, उन सभीका, जितने (और जैसे) हैं, उन सभीको ह अग्निदव! आप भलीभाँति पहचानते हैं। उन सभाका इच्छाक अनुसार अच्छी प्रकार तैयार किये गये इस हविका (उन सभीके लिये) प्रसन्नताके साथ स्वीकार करे।

येअग्निदग्धायेअनग्निदग्धामध्यदिव स्वधयामादयन्ते।
तभि स्वराळसुनीतिमता यथावश तन्व कल्पयस्व॥ १४॥

हमारे जिन पितराको अग्निने पावन किया है और जो अग्निद्वारा भस्मसात् किये बिना ही स्वय पितृभूत हैं तथा जा अपनी इच्छाके अनुसार स्वर्गके मध्यम आनन्दसे निवास करते ह। उन सभीकी अनुमतिसे, हे स्वराद् अग्ने! (पितृलाकम इस नूतन मृतजीवक) प्राण धारण करने योग्य (उसक) इस शरीरको उसकी इच्छाक अनुसार ही बना दो और उसे दे दा।

पृथ्वी-सूक्त

[अथर्ववेदके बारहवे काण्डके प्रथम सूक्तका नाम 'पृथ्वी-सूक्त' है। इसमे कुल ६३ मन्त्र है। ऋषिने इन मन्त्रामे मातृभूमिके प्रति अपनी प्रगाढ भक्तिका परिचय दिया है। हिंदू-शास्त्राक अनुसार प्रत्येक जड-तत्त्व चेतनसे अधिष्ठित है। चेतन ही उसका नियन्ता और सचालक है। हमारी इस पृथ्वीका भी एक चिन्मयस्वरूप हे। यही इस स्थूल पृथ्वीका अधिदेवता है। इसीको 'श्रीदेवी' और 'भूदेवी' भी कहते हैं। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यो इस मन्त्रमे 'श्री' पदसे इन्ही 'भूदेवी' का स्मरण किया गया है। ये चिन्मयी-देवी इस स्थूल पृथ्वीकी अधिष्ठात्री हैं। ये ही इसका हृदय हैं। ये अमृत हैं क्याकि चिन्मय है। जडतत्त्व ही मृत्युका ग्रास बनता है। अतएव ये मृत्युलाकसे परे परम व्योममे प्रतिष्ठित हे। —

यस्या हृदय परम व्योमन्त्सत्येनावृतममृत पृथिव्या ।

ऋषिने इस सूक्तमे पृथ्वीके आधिभातिक और आधिदेविक दोना रूपाका स्तवन किया है। कहीं भौगोलिक दृष्टिसे इसके नैसर्गिक सौन्दर्यका चित्रण है ओर कहीं पौराणिक वर्णनका बोज भी उपलब्ध होता है। पुराणाम पृथ्वीके अधिदेवताका रूप 'गौ' बताया गया है। इस सूक्तम भी कामदुघा पयस्वती सुरभि तथा धेनु आदि पदाद्वारा उक्त स्वरूपकी यथार्थता सूचित की गयी हे। यहाँ सम्पूर्ण भूमि हा माताक रूपम ऋषिको दृष्टिगोचर हुई हे ओर उसने बडी भक्तिसे इस विश्वगर्भा वसुधाके गुण-गौरवका गान किया है। यह 'भूदवी' अपने सच्चे सेवकके लिय श्री एव 'विभूति क रूपम परिणत हो जाती है। इसके ही द्वारा सबका जन्म और पालन हाता है। अत ऋषिन माताका इस महामहिमाका हृदयङ्गम करके उससे उत्तम वरके लिये प्रार्थना का है।

सायणाचार्यने इस सूक्तके मन्त्रोका अनेक लौकिक लाभाके लिये भी विनियोग बताया है। अनेक धर्मसूत्रकारोका भी यही मत है। आग्रहायणीकर्म, पुष्टिकर्म, कृषिकर्म तथा पुत्र-धनादि सर्ववस्तुकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्ममे एव अन्न, सुवर्ण मणि आदिकी प्राप्ति, ग्राम-नगर आदिकी रक्षा, भूकम्प, प्रायश्चित्त, सोमयज्ञ तथा पार्थिव महाशान्ति आदिके कर्ममे भी इन मन्त्रोका प्रयोग किया जाता है। प्रयोगविधि अथर्ववेदी विद्वानोसे जाननी चाहिये। तात्पर्य यह कि सभी दृष्टियोसे यह सूक्त बहुत ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। केवल इसके पाठसे भी बहुत लाभ होता है। इस सूक्तमे कुल ६३ मन्त्र बताये गये हैं परतु स्थानाभावके कारण प्रमुख १२ मन्त्रोको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।—]

सत्य बृहदृतमुग्र दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरु लोक पृथिवी न कृणोतु॥

भूतकाल और भविष्यकालकी पत्नी वह पृथ्वी, जिसे सत्य, महत्त्व, ऋत, उग्रता दीक्षा, तपस्या, ब्रह्म और यज्ञ धारण करते हैं, हमारे लोकको व्यापक करे।

असबाध बध्यतो मानवाना यस्या उद्वत प्रवत सम बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी न प्रथता राध्यता न ॥

मानवाके मध्य जिसके उच्च-निम्न-सम आदि नानारूप बाधारहित स्थित हैं तथा नाना शक्तियोवाली औषधियाँ धारण करती है, वह पृथ्वी हमारे लिये विस्तृत एव समृद्ध हो।

यस्या समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्न कृष्टय सबभूवु ।
यस्यामिद जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमि पूर्वपेये दधातु॥

जिस पृथ्वीपर समुद्र, नदियाँ और जल हैं, जिसपर अन्नादि कृषि-सामग्रियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा जिसपर यह प्राणवान् और गतिमान् जगत् चलता-फिरता है, वह पृथ्वी हम हर प्रकारसे प्रचुरतामे रखे।

यस्याश्चतस्र प्रदिश पृथिव्या यस्यामन्न कृष्टय सबभूवु ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥

जिस पृथ्वीकी चार दिशाएँ है, जिसपर अन्न और कृषि-सामग्रियाँ उत्पन्न हुई है तथा जो प्राणवान् एव गतिमान् जगत्का नाना प्रकारसे पोषण करती है, वह पृथ्वी हमें गायो और अन्नकी प्रचुरतामे रखे।

यस्या पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्या देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वाना वयसश्च विष्ठा भग वर्च पृथिवी नो दधातु॥

प्राचीन कालमे पूर्वजाने इस पृथ्वीपर विशिष्ट कर्म किये, देवाने असुरोको भगाया तथा गाया, घोडो तथा पक्षियाको निवास-स्थली यह पृथ्वी हमे ऐश्वर्य और तेज दे।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् या मायाभिरन्वचरन् मनीषिण ।
यस्या हृदय परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृत पृथिव्या ।
सा नो भूमिस्त्विषि बल राष्ट्रे दधातूत्तमे॥

समुद्र-जलके मध्यमे स्थित पृथ्वी जिसे मनीषियाने बुद्धिके द्वारा प्राप्त किया, जिस पृथ्वीका अमर्त्य-हृदय परमाकाशमे सत्यसे आच्छादित था, वह पृथ्वी हमे बल और तेज दे तथा उत्तम राष्ट्रम रखे।

यस्यामाप परिचरा समानीरहोरात्रे अप्रमाद क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥

सर्वत्र प्रवाहित होनेवाला जल जिसपर रात-दिन समान भावसे गतिशील रहता है, वह अनेक धाराआवाली पृथ्वी हमारे लिये दूध बहानेवाली हो और हमे तेजसे सिक्त करे।

यामश्विनावमिमाता विष्णुर्यस्या विचक्रमे।
इन्द्रो या चक्र आत्मनऽनमित्रा शचीपति ।
सा नो भूमिर्विसृजता माता पुत्राय मे पय ॥

जिसे अश्विनीकुमाराने नापा, जिसपर विष्णुने विचरण किया और शक्तिके स्वामी इन्द्रने जिसे अपने लिये शत्रुहीन किया, वह हमारी माता पृथ्वी मुझ पुत्रके लिये दूधका सृजन करे।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्य ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रु कृष्णा रोहिणीं विश्वरूपा ध्रुवा भूमि पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठा पृथिवीमहम्॥

हे पृथ्वी! तुम्हारे गिरि-पर्वत हिमाच्छादित हो। तुम्हारे वन सुखदायी हा। भूरी, काली, लाल, चित्रा, स्थिर और व्यापक पृथ्वीपर तथा इन्द्ररक्षिता पृथ्वीपर में अपराजित, अनाक्रान्त और अक्षत होकर रहूँ।

यत् ते मध्य पृथिवि यच्च नभ्य यास्त ऊर्जस्तन्व सबभूवु ।
तासु नो धेह्यभि न पवस्व माता भूमि पुत्रो अह पृथिव्या ।
पर्जन्य पिता स उ न पिपर्तु॥

हे पृथ्वी! अपने मध्यभागमे स्थित नाभि जो कि ऊर्जाका केन्द्र है, उनमे हमे स्थित करो अर्थात् हम यहाँ सारग्राही हो। हमे सब ओरसे पवित्र करो। पृथ्वी मेरी माँ है और मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ। पिता पर्जन्य हमारा पालन करे।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥

तुमसे उत्पन्न प्राणी तुममे गतिशील हैं। तुममे ही दो पैरवाले और चार पैरवाले समस्त जीव मृत्युको प्राप्त करते हैं। हे पृथ्वी! ये सब मनुष्य तुम्हारे हैं। उदीयमान् सूर्य नित्य मर्त्योंको प्रकाशितामृत-रूपिणी किरणासे आच्छादित करता है।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

यह पृथ्वी तरह-तरहकी वाणी बोलनेवाले, विविध धर्मोंका आचरण करनेवाले तथा विभिन्न स्थानामे रहनेवाले प्राणियाको अनेक प्रकारसे भरण-पोषण करती है। यह मेरे लिये अचल-स्थिर गायके समान द्रव्यकी सहस्रो धाराएँ बहाये।

गो-सूक्त

[अथर्ववेदके चौथे काण्डके २१वे सूक्तको 'गो-सूक्त' कहते हैं। इस सूक्तके ऋषि ब्रह्मा तथा देवता गौ हैं। इस सूक्तमे गौआकी अभ्यर्थना की गयी है। गाये हमारी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नतिका प्रधान साधन हैं। इनसे हमारा भौतिक पक्षसे कहीं अधिक आस्तिकता जुडी हुई है। वेदोमे गायका महत्त्व अतुलनीय है। यह 'गो-सूक्त' अत्यन्त सुन्दर काव्य है। इतना उत्तम वर्णन बहुत कम स्थानोपर मिलता है। मनुष्यको धन, बल अन्न और यश गौसे ही प्राप्त है। गौ घरकी शोभा, परिवारके लिये आरोग्यप्रद और पराक्रमस्वरूप हैं, यही इस सूक्तसे परिलक्षित होता है। —]

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥ (पा० गृ० सू० १।३।२७)

गाय रुद्रोकी माता, वसुआकी पुत्री, अदितिपुत्राकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है, प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एव अवध्य गौका वध न करो।

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥

गौआने हमारे यहाँ आकर हमारा कल्याण किया है। वे हमारी गोशालामे सुखसे बैठे और उसे अपने सुन्दर शब्दासे गुँजा दे। ये विविध रगाकी गौएँ अनेक प्रकारके बछडे-बछडियाँ जने और इन्द्र (परमात्मा)-के यजनके लिये उषःकालसे पहले दूध देनेवाली हो।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवाश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥

वे गौएँ न तो नष्ट हो, न उन्हे चोर चुरा ले जाय और न शत्रु ही कष्ट पहुँचाये। जिन गौआकी सहायतासे उनका स्वामी देवताआका यजन करने तथा दान देनेमे समर्थ होता है उनके साथ वह चिरकालतक सयुक्त रहे।

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥

गौएँ हमारा मुख्य धन हो इन्द्र हमे गोधन प्रदान करे तथा यज्ञोकी प्रधान वस्तु सोमरसके साथ मिलकर गौओका दूध ही उनका नैवेद्य बने। जिसके पास ये गौएँ हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है। मैं अपने श्रद्धायुक्त मनसे गव्य पदार्थोके द्वारा इन्द्र (-भगवान्)-का यजन करना चाहता हूँ।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु॥

गौओ! तुम कृश शरीरवाले व्यक्तिको हृष्ट-पुष्ट कर देती हो एव तेजोहीनको देखनेमे सुन्दर बना देती हो। इतना ही नहीं, तुम अपने मङ्गलमय शब्दसे हमारे घराको मङ्गलमय बना देती हो। इसीसे सभाआमे तुम्हारे ही महान् यशका गान होता है।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥

गौओ! तुम बहुत-से बच्चे जनो, चरनेके लिये तुम्हे सुन्दर चारा प्राप्त हो तथा सुन्दर जलाशयमे तुम शुद्ध जल पीती रहो। तुम चोरा तथा दुष्ट हिंसक जीवाके चगुलमे न फँसो और रुद्रका शस्त्र तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे।

गोष्ठ-सूक्त

[अथर्ववेदके तीसरे काण्डके १४वे सूक्तमे गौओको गोष्ठ (गोशाला)-मे आकर सुखपूर्वक दीर्घकालतक अपनी बहुत-सी सततिके साथ रहनेकी प्रार्थना की गयी है। इस सूक्तके ऋषि ब्रह्मा तथा देवता गोष्ठदेवता एव नानादेवता हैं। गौओके लिये उत्तम गोशाला, दाना-पानी एव चाराका प्रबन्ध करना चाहिये। गौओको प्रेमपूर्वक रखना चाहिये। उन्हे भयभीत नहीं करना चाहिये। इससे गौके दूधपर भी असर पडता है। गौओकी पुष्टि और नीरोगताके सन्दर्भमे भी पूरा ध्यान रखना चाहिये—यही इस सूक्तका सार है।—]

स वो गोष्ठेन सुषदा स रय्या स सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना व स सृजामसि॥ १॥

गौओके लिये उत्तम, प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय। गौओको अच्छा जल पीनेके लिये दिया जाय तथा गौओसे उत्तम सतान उत्पन्न करानेकी दक्षता रखी जाय। गौआसे इतना स्नेह करना चाहिये कि जो भी अच्छा-से-अच्छा पदार्थ हो, वह उन्हे दिया जाय।

स व सृजत्वर्यमा स पूषा स बृहस्पति ।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु॥ २॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति तथा धन प्राप्त करनेवाले इन्द्र आदि सब देवता गायोको पुष्ट कर तथा गौआसे जा पोपक रस (दूध) प्राप्त हो, वह मुझे पुष्टिके लिये मिले।

सजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणी ।
बिभ्रती सोम्य मध्वनमीवा उपेतन॥ ३॥

उत्तम खादके रूपमे गोबर तथा मधुर रसके रूपमे दूध देनेवाली स्वस्थ गाये इस उत्तम गोशालामे आकर निवास करे।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्व मयि सज्ञानमस्तु व ॥ ४॥

गौएँ इस गोशालाम आये। यहाँ पुष्ट होकर उत्तम सतान उत्पन्न करे ओर गौओके स्वामीके ऊपर प्रेम करती हुई आनन्दसे निवास कर।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्व मया व स सृजामसि॥ ५॥

(यह) गोशाला गौओके लिये कल्याणकारी हो। (इसमे रहकर) गौएँ पुष्ट हो और सतान उत्पन्न करके बढती रहे। गौआका स्वामी स्वय गौआकी सभी व्यवस्था देखे।

मया गावो गोपतिना सचध्वमय वो गोष्ठ इह पोषयिष्णु ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप व सदेम॥ ६॥

गौएँ स्वामीके साथ आनन्दसे मिल-जुलकर रह। यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है, इसम रहकर गौएँ पुष्ट हा। अपनी शोभा और पुष्टिको बढाती हुई गौएँ यहाँ वृद्धिको प्राप्त होती रह। हम सब ऐसी उत्तम गौओको प्राप्त करगे और उनका पालन करेगे।

~~~

आध्यात्मिक सूक्त

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु

[मनुष्यके शरीरमे सभी कुछ महत्त्वका है—हाथकी छोटी-से-छोटी अँगुली भी अपना महत्त्व रखती है, परतु मनका महत्त्व सर्वाधिक है। इसमे विलक्षण शक्ति निहित है। मनुष्यके सुख-दु ख तथा बन्धन और मोक्ष मनके ही अधीन हैं। ससारमे कोई ऐसा स्थल नहीं जो मनके लिये अगम्य हो, मन सर्वत्र जा सकता है एक पलमे जा सकता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ जहाँ नहीं पहुँच सकतीं, जिसे नहीं देख सकतीं, मन वहाँ जा सकता है, उसे ग्रहण कर सकता हे। जिस आत्म-ज्ञानसे शोकसागरको पार कर नित्य निरतिशय सुखका अनुभव किया जा सकता है, वह मनके ही अधीन हे। मन ही आत्म-साक्षात्कारके लिये नेत्रवत् है। श्रुति भी कहती है—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्।' ससारमे हम जो भी उत्कर्ष प्राप्त करते हैं, उनकी मुख्य हेतु हैं—हमारी स्वस्थ ओर सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। कानासे सुनायी न देता हा, आँखासे दिखायी न देता हो तो कोई कितना भी कुशाग्रबुद्धि क्यो न हो, केसे विद्या प्राप्त करगा? विज्ञान एव कलाके क्षेत्रम केसे आर क्या वशिष्ट्य सम्पादन करेगा? अर्थोपार्जन भी केसे करेगा? ऐसा व्यक्ति तो ससारमे दीन-हीन ही रहेगा। अपनी जीवनयात्राके लिये
~~~

भी वह दूसरोपर आधारित होकर भारभूत ही होगा। अत इस सत्यसे कोई इनकार नहीं कर सकता कि हमारे उत्कर्षके प्रथम एव महत्त्वपूर्ण साधन है—हमारी स्वस्थ और सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। परतु यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्द्रियोका प्रवर्तक है मन। यदि मन असहयोग कर दे तो स्वस्थ तथा सक्षम इन्द्रियाँ भी अपने विषयको ग्रहण करनेमे समर्थ नहीं रह जायँगी। जब इन्द्रियोका प्रवर्तन-निवर्तन मनपर आधारित है और कर्म-सम्पादन इन्द्रियाकी प्रवृत्तिके अधीन है तथा अभ्युदयकी प्राप्ति सम्यक् कर्म-सम्पादनपर आधारित है, तब यह अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अभ्युदय मनके शुभसकल्पयुक्त होनेपर निर्भर है। इसीलिये मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस शिवसकल्प-सूक्तके माध्यमसे प्रार्थना करते हैं।—]

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गम ज्योतिषा ज्योतिरेक तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। १)

मेरा वह मन धर्मविषयक सकल्पवाला (शिवसङ्कल्प) हो, मनम कभी पापभाव न हो, जो जाग्रदवस्थाम दख-सुने दूर-से-दूर स्थलतक दोड लगाता है—(दूरमुदेति) और सुषुप्तावस्थामें पुन अपने स्थानपर लग जाता है। जो ज्योति स्वरूप (देव) आत्माको ग्रहण करनेका एकमात्र साधन होनेसे दैव कहा जाता हे। जो भूत, भविष्य और वर्तमान तथा विप्रकृष्ट और व्यवहित पदार्थोको भी ग्रहण करनेम समर्थ हे (दूरङ्गमम्), दूरगामी तथा विषयाको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रिया —ज्योतिया-का एकमात्र प्रकाशक (ज्यातिरेक) अर्थात् प्रवर्तक है। वह मेरा मन शुभ सकल्पावाला हो।

मनके ही निर्मल, उत्साहयुक्त और श्रद्धावान् होनेपर बुद्धिमान् यज्ञ-विधि-विधानज्ञ कर्मपरायणजन यज्ञाकी सब क्रियाआका सम्पन्न करते हैं। मेधावी पुरुष बुद्धिके सम्यक् प्रयोगसे वदादि सच्छास्त्राका प्रामाण्य समझ सकते हैं। न्याय और मीमासा आदि दर्शनशास्त्राकी प्रक्रियाका गूढ अनुशीलन कर अप्रामाण्यकी सब शकाआको दूर कर अपने हृदयम दृढतापूर्वक यह निश्चय कर सकते ह। वेदादि-शास्त्र अपने विषयम (धर्म और ब्रह्मके विषयम) निर्विवाद प्रमाण हैं। अङ्गासहित वेदाका अध्ययन करके विविध फलाका सम्पादन करनेवालेके विधि-विधान और अनुष्ठानकी सम्पूर्ण प्रक्रियाका भी साख सकते हैं। परतु यह सब कुछ होनेपर भी प्रत्यक्ष यज्ञम प्रवृत्ति तथा आवश्यक क्रियाआका सम्पादन तभी हो सकता है, जब मन निर्मल श्रद्धोपेत तथा उत्साहयुक्त हो। वैदिक क्रियाआकी ही भाँति सभी लौकिक कर्म भी मनक ही प्रसन्न रहनेपर ठीक प्रकारस किय जा सकत हैं। अत हम और किसी भी बातकी उपेक्षा कर द, पर मनको प्रसन्न रखनेके लिये तो हमें विविध प्रकारके उपाय करने ही पडगे। समग्र क्रियाकलाप मनकी अनुकूलतापर निर्भर हे। हम एक-आध बार भले ही मनकी उपेक्षा कर द, परतु हम सदा ऐसा नहीं कर सकते। मनको सदा खिन्न रखकर हम अपना जीवन भी नहीं चला सकते। मनको भगवान् स्वय अपनी 'विभूति' बतलाते हैं—'इन्द्रियाणा मनश्चास्मि' (गीता १०। २२)—'इन्द्रियाम मैं मन हूँ।' अत मन पूज्य है। हम उसकी पूजा करनी ही पडेगी, उसका रुख देखना ही पडेगा। इसीलिये ऋषि दूसरी ऋचाम प्रार्थना करते हैं—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणा यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा ।
यदपूर्व यक्षमन्त प्रजाना तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्ल यजु० ३४। २)

जिस मनके स्वस्थ और निर्मल होनेपर मेधावी पुरुष (मनीषिण) यज्ञम कर्म करते हैं—(कर्माणि कृण्वन्ति), मेधावी जो कर्मपरायण हैं (अपस) तथा यज्ञसम्बन्धी विधि-विधान (विदथेषु)-म बडे दक्ष (धीरा) हैं तथा जो मन सकल्प-विकल्पासे रहित हुआ साक्षात् आत्मरूप ही है। 'यदपूर्वं' इत्यादि श्रुति इन लक्षणासे आत्माका ही लक्ष्य कराती है और पूज्य (यक्षम्) है, जा प्राणियाके शरीरके अदर ही स्थित है (अन्त प्रजानाम्), वह मेरा मन शुभसकल्पवाला हा।

प्रत्यक्षादि प्रमाणाके माध्यमस उत्पन्न हानेवाला ज्ञानवस्तु मनके द्वारा ही उत्पन्न होता है। सामान्य तथा विशेष दोना प्रकारके ज्ञानाका जनक मन ही हे। क्षुधा और पिपासा इत्यादिकी पीडास मन जब अत्यन्त व्यथित हा जाता है, तब बुद्धिम कुछ भी ज्ञान स्फुरित नहीं हो पाता। ज्ञान ही मनुष्यकी विशषता ह। ज्ञानक ही बलस वह मर्त्यलाकके अन्य जीवासे श्रेष्ठ बना उनका सिरमौर बना। ज्ञानकी ही

वृद्धि करके उसने अतुल सुख और सम्पत्ति प्राप्त की। ज्ञानके ही द्वारा उसने पशुओंकी अपेक्षा अपने जीवनको मधुर बनाया। मोक्ष भी आत्मज्ञानसे ही प्राप्त किया जाता है। उस ज्ञानका जनक यह मन ही है।

हमारी जीवनयात्रा निष्कण्टक नहीं। अनेक विघ्न-बाधाएँ इसमें उपस्थित होती हैं। अभ्युदय और उत्कर्षका कोई मार्ग अपनाओ, वह निरापद नहीं होगा। कठिनाइयाँ और क्लेश हमारे सामने आयेंगे ही। यदि हम उन कठिनाइयोंको जीतनेमें समर्थ नहीं तो मार्गपर आगे प्रगति नहीं कर सकते। यदि प्रगति अभीष्ट है तो कठिनाइयोंसे संघर्ष करके उनपर विजय प्राप्त करना होगा। इसके लिये धैर्य चाहिये। थोड़ी-थोड़ी कठिनाइयोंमें अधीर हो जानेवाले व्यक्ति तो कोई उद्यम नहीं कर सकते। कार्य उद्यम करनेसे सिद्ध होते हैं, मनोरथमात्रसे नहीं। अत सफलतारूप प्रासादका एक मुख्य स्तम्भ धैर्य है। धैर्य मनमें ही अभिव्यक्त होता है, अत धैर्यका उत्पादक होनेसे जलको जीवन कहनेकी भाँति मनको ही धैर्यरूप कहा गया है। मनके बिना कोई भी लौकिक-वैदिक कर्म सम्पादित नहीं किया जा सकता। अत तीसरी ऋचासे ऋषि कामना करते हैं—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृत प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। ३)

जो मन प्रज्ञान अर्थात् विशेषरूपसे ज्ञान उत्पन्न करनेवाला है तथा पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला (चेत) सामान्य ज्ञानजनक है, जो धैर्यरूप है, सभी प्राणियोंमें (प्रजासु) स्थित होकर अन्तर्ज्योति अर्थात् इन्द्रियादिको अथवा आभ्यन्तर पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है एव जिसकी सहायता और अनुकूलताके बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, मेरा वह मन शुभसकल्पवाला हो।

चक्षुरादि इन्द्रियाँ केवल उन पदार्थोंको ग्रहण कर सकती हैं, जिनसे उनका साक्षात् सम्बन्ध हो, पर मन अप्रत्यक्ष पदार्थोंको भी ग्रहण करनेमें समर्थ है। चतुर्थ ऋचासे ऋषि यही भाव व्यक्त करते हैं—

येनेद भूत भुवन भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। ४)

जिस मनके द्वारा यह सब भलीप्रकार जाना जाता है ग्रहण किया जाता है (परिगृहीतम्), भूत, भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी सभी बातोंका परिज्ञान होता है (भूत भुवन भविष्यत्), जो मन शाश्वत है—सकल्प-विकल्पसे रहित हुआ आत्मरूप (अमृतेन) ही है, जिस श्रद्धायुक्त और स्वस्थ मनसे सप्त होताओंवाला अग्निष्टोम यज्ञ (अग्निष्टोममें सप्त होता होते हैं) किया जाता है (तायते), मेरा वह मन शुभसकल्पवाला हो।

हमारा जितना भी ज्ञान है, वह सब शब्द-राशिमें ओतप्रोत है। शब्दानुगमसे रहित लोकमें कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। जैसे आत्माकी अभिव्यक्ति शरीरमें होती है, वैसे ही ज्ञानकी अभिव्यक्ति शब्दरूप कलवरमें ही होती है। वे शब्द मनमें ही प्रतिष्ठित होते हैं। मनके स्वस्थ होनेपर उनकी स्फूर्ति होगी और मनके व्यग्र होनेपर वे स्फुरित नहीं होंगे। छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा गया है—'अन्नमय हि सोम्य मन '—'हे सोम्य! मन अन्नमय है।' इस सत्यका अनुभव करानेके लिये शिष्यको कुछ दिनोंतक भोजन नहीं दिया गया। भोजन न मिलनेसे जब वह बहुत कृश हो गया तब उसे पढे हुए वेदको सुनानेके लिये कहा गया। वह बोला कि 'इस समय वह पढा हुआ कुछ भी मनमें स्फुरित नहीं हो रहा है।' अनन्तर उसे भोजन कराया गया। भोजनसे तृप्त होनेपर उसके मनमें वह पढा हुआ वेद स्फुरित हो गया। इस अन्वय और व्यतिरेकसे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञानकी प्रतिष्ठा तथा स्फूर्ति मनमें ही होती है। यदि मन प्रसन्न है तो ज्ञान-सम्पादन और विचार-विमर्श सफल होंगे। यदि वह व्यग्र एव अधीर हो रहा है तो कोई भी कार्य सफल न होगा। अत मनका निर्मल और प्रसन्न होना सबसे अधिक महत्त्वका है। इसीलिये पाँचवीं ऋचामें ऋषि प्रार्थना करते हैं—

यस्मिन्नृच साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोत प्रजाना तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। ५)

जिस मनमें ऋक्, यजु और सामरूप वेदत्रयी ठीक उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे रथचक्र-नाभिमें चक्र-अरे, जिस मनमें प्राणियोंका लोकविषयक ज्ञान (चित्तम्) पटमें तन्तुकी भाँति ओतप्रोत है, मेरा वह मन शुभसकल्पवाला हो।

भी वह दूसरापर आधारित होकर भारभूत ही होगा। अत इस सत्यसे कोई इनकार नही कर सकता कि हमारे उत्कर्षके प्रथम एव महत्त्वपूर्ण साधन है—हमारी स्वस्थ और सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। परतु यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्द्रियोका प्रवर्तक है मन। यदि मन असहयोग कर दे तो स्वस्थ तथा सक्षम इन्द्रियाँ भी अपने विषयको ग्रहण करनेमे समर्थ नहीं रह जायँगी। जब इन्द्रियाका प्रवर्तन-निवर्तन मनपर आधारित है और कर्म-सम्पादन इन्द्रियाकी प्रवृत्तिके अधीन है तथा अभ्युदयकी प्राप्ति सम्यक् कर्म-सम्पादनपर आधारित है, तब यह अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अभ्युदय मनके शुभसकल्पयुक्त होनेपर निर्भर है। इसीलिये मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस शिवसकल्प-सूक्तके माध्यमसे प्रार्थना करते हैं।—]

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गम ज्योतिषा ज्योतिरेक तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। १)

मेरा वह मन धर्मविषयक सकल्पवाला (शिवसङ्कल्प) हो, मनम कभी पापभाव न हो, जो जाग्रदवस्थाम देखे-सुने दूर-से-दूर स्थलतक दोड लगाता है—(दूरमुदैति) और सुषुप्तावस्थामे पुन अपने स्थानपर लग जाता है। जो ज्याति स्वरूप (देव) आत्माको ग्रहण करनेका एकमात्र साधन होनेसे दैव कहा जाता है। जो भूत, भविष्य ओर वर्तमान तथा विप्रकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंको भी ग्रहण करनेम समर्थ है (दूरङ्गमम्), दूरगामी तथा विषयाको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रिया —ज्यातिया-का एकमात्र प्रकाशक (ज्यातिरेक) अर्थात् प्रवर्तक है। वह मेरा मन शुभ सकल्पावाला हो।

मनक ही निर्मल, उत्साहयुक्त और श्रद्धावान् होनेपर बुद्धिमान् यज्ञ-विधि-विधानज्ञ कर्मपरायणजन यज्ञाकी सब क्रियाओको सम्पन्न करते हैं। मेधावी पुरुष बुद्धिके सम्यक् प्रयागसे वेदादि सच्छास्त्राका प्रामाण्य समझ सकते हैं। न्याय ओर मीमासा आदि दर्शनशास्त्राकी प्रक्रियाका गूढ अनुशीलन कर अप्रामाण्यकी सब शकाआको दूर कर अपने हृदयमे दृढतापूर्वक यह निश्चय कर सकते ह। वेदादि-शास्त्र अपने विषयम (धर्म आर ब्रह्मके विषयम) निर्विवाद प्रमाण हैं। अङ्गासहित वेदाका अध्ययन करके विविध फलाका सम्पादन करनेवालके विधि-विधान और अनुष्ठानकी सम्पूर्ण प्रक्रियाको भी सीख सकते हैं। परतु यह सब कुछ होनेपर भी प्रत्यक्ष यज्ञम प्रवृत्ति तथा आवश्यक क्रियाआका सम्पादन तभी हा सकता है जब मन निर्मल श्रद्धापत तथा उत्साहयुक्त हा। वैदिक क्रियाआकी ही भाँति सभी लौकिक कर्म भी मनक ही प्रसन्न रहनेपर ठीक प्रकारस किये जा सकते हैं। अत हम और किसी भी बातकी उपेक्षा कर द, पर मनको प्रसन्न रखनेके लिये तो हम विविध प्रकारके उपाय करन ही पडगे। समग्र क्रियाकलाप मनकी अनुकूलतापर निर्भर है। हम एक-आध बार भले ही मनकी उपेक्षा कर द, परतु हम सदा ऐसा नहीं कर सकते। मनको सदा खिन्न रखकर हम अपना जीवन भी नहीं चला सकते। मनको भगवान् स्वय अपनी 'विभूति' बतलाते हैं—'इन्द्रियाणा मनश्चास्मि' (गीता १०। २२)—'इन्द्रियामे मैं मन हूँ।' अत मन पूज्य है। हमे उसकी पूजा करनी ही पडेगी, उसका रुख देखना ही पडेगा। इसीलिये ऋषि दूसरी ऋचाम प्रार्थना करते हैं—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा।
यदपूर्वं यक्षमन्त प्रजाना तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्ल यजु० ३४। २)

जिस मनके स्वस्थ आर निर्मल होनेपर मेधावी पुरुष (मनीषिण) यज्ञम कर्म करते हैं—(कर्माणि कृण्वन्ति), मेधावी जो कर्मपरायण हैं (अपस) तथा यज्ञसम्बन्धी विधि-विधान (विदथेषु)-म बडे दक्ष (धीरा) हैं तथा जो मन सकल्प-विकल्पासे रहित हुआ साक्षात् आत्मरूप ही है। 'यदपूर्वं' इत्यादि श्रुति इन लक्षणासे आत्माका ही लक्ष्य कराती है ओर पूज्य (यक्षम्) है, जो प्राणियाके शरीरके अदर ही स्थित है (अन्त प्रजानाम्), वह मेरा मन शुभसकल्पवाला हो।

प्रत्यक्षादि प्रमाणाके माध्यमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानवस्तु मनके द्वारा ही उत्पन्न होता है। सामान्य तथा विशेष दोनो प्रकारके ज्ञानाका जनक मन ही है। क्षुधा और पिपासा इत्यादिकी पीडासे मन जब अत्यन्त व्यथित हो जाता है, तब बुद्धिम कुछ भी ज्ञान स्फुरित नहीं हा पाता। ज्ञान ही मनुष्यकी विशेषता है। ज्ञानक ही बलसे वह मर्त्यलोकके अन्य जीवासे श्रेष्ठ बना उनका सिरमौर बना। ज्ञानको ही

वृद्धि करके उसने अतुल सुख और सम्पत्ति प्राप्त की। ज्ञानके ही द्वारा उसने पशुओंकी अपेक्षा अपने जीवनको मधुर बनाया। मोक्ष भी आत्मज्ञानसे ही प्राप्त किया जाता है। उस ज्ञानका जनक यह मन ही है।

हमारी जीवनयात्रा निष्कण्टक नहीं। अनेक विघ्न-बाधाएँ इसमे उपस्थित होती हैं। अभ्युदय और उत्कर्षका कोई मार्ग अपनाओ, वह निरापद नहीं होगा। कठिनाइयाँ और क्लेश हमारे सामने आयेंग ही। यदि हम उन कठिनाइयाको जीतनेमे समर्थ नहीं तो मार्गपर आगे प्रगति नहीं कर सकते। यदि प्रगति अभीष्ट है ता कठिनाइयासे सघर्ष करके उनपर विजय प्राप्त करना होगा। इसके लिये धैर्य चाहिये। थोडी-थोडी कठिनाइयोम अधीर हो जानेवाले व्यक्ति तो कोई उद्यम नहीं कर सकते। कार्य उद्यम करनेसे सिद्ध होते हैं, मनोरथमात्रसे नहीं। अत सफलतारूप प्रासादका एक मुख्य स्तम्भ धैर्य है। धैर्य मनमे ही अभिव्यक्त होता है, अत धैर्यका उत्पादक होनेसे जलको जीवन कहनेकी भाँति मनको ही धैर्यरूप कहा गया है। मनके बिना कोई भी लौकिक-वैदिक कर्म सम्पादित नहीं किया जा सकता। अत तीसरी ऋचासे ऋषि कामना करते हैं—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृत प्रजासु।
यस्मान्न ऋते कि चन कर्म क्रियते तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। ३)

जो मन प्रज्ञान अर्थात् विशेषरूपसे ज्ञान उत्पन्न करनेवाला है तथा पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला (चेत) सामान्य ज्ञानजनक है, जो धैर्यरूप हे, सभी प्राणियामे (प्रजासु) स्थित होकर अन्तर्ज्योति अर्थात् इन्द्रियादिको अथवा आभ्यन्तर पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है एव जिसकी सहायता और अनुकूलताके बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, मेरा वह मन शुभसकल्पवाला हो।

चक्षुरादि इन्द्रियाँ केवल उन पदार्थोंको ग्रहण कर सकती हैं, जिनसे उनका साक्षात् सम्बन्ध हो, पर मन अप्रत्यक्ष पदार्थोंका भी ग्रहण करनेम समर्थ हे। चतुर्थ ऋचासे ऋषि यही भाव व्यक्त करते हैं—

येनेद भूत भुवन भविष्यत् परिगृहीतममृतन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। ४)

जिस मनके द्वारा यह सब भलीप्रकार जाना जाता है, ग्रहण किया जाता है (परिगृहीतम्), भूत, भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी सभी बातोका परिज्ञान होता है (भूत भुवन भविष्यत्), जो मन शाश्वत है—सकल्प-विकल्पसे रहित हुआ आत्मरूप (अमृतेन) ही है, जिस श्रद्धायुक्त और स्वस्थ मनसे सप्त होताओंवाला अग्निष्टोम यज्ञ (अग्निष्टोममे सप्त होता होते हैं) किया जाता है (तायते), मेरा वह मन शुभसकल्पवाला हो।

हमारा जितना भी ज्ञान है, वह सब शब्द-राशिम ओतप्रोत है। शब्दानुगमसे रहित लोकमे कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। जैसे आत्माकी अभिव्यक्ति शरीरमे होती है, वैसे ही ज्ञानकी अभिव्यक्ति शब्दरूप कलेवरम ही होती है। वे शब्द मनम ही प्रतिष्ठित होते हैं। मनके स्वस्थ होनपर उनकी स्फूर्ति होगी और मनक व्यग्र होनेपर वे स्फुरित नहीं होगे। छान्दोग्योपनिषद्मे कहा गया है—'अन्नमय हि सोम्य मन '—'हे सोम्य! मन अन्नमय है।' इस सत्यका अनुभव करानेके लिये शिष्यको कुछ दिनोतक भोजन नहीं दिया गया। भोजन न मिलनेसे जब वह बहुत कृश हो गया, तब उसे पढे हुए वेदका सुनानेके लिये कहा गया। वह बोला कि 'इस समय वह पढा हुआ कुछ भी मनमे स्फुरित नहीं हो रहा है।' अनन्तर उसे भोजन कराया गया। भोजनसे तृप्त होनपर उसक मनमे वह पढा हुआ वेद स्फुरित हो गया। इस अन्वय और व्यतिरेकसे यह भी सिद्ध होता हे कि ज्ञानकी प्रतिष्ठा तथा स्फूर्ति मनम ही होती है। यदि मन प्रसन्न है तो ज्ञान-सम्पादन और विचार-विमर्श सफल होगे। यदि वह व्यग्र एव अधीर हो रहा है तो कोई भी कार्य सफल न होगा। अत मनका निर्मल और प्रसन्न होना सबसे अधिक महत्त्वका है। इसीलिये पाँचवीं ऋचाम ऋषि प्रार्थना करते हैं—

यस्मिन्नृच साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा ।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोत प्रजाना तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। ५)

जिस मनम ऋक्, यजु और सामरूप वेदत्रयी ठीक उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे रथचक्र-नाभिम चक्र-अरे, जिस मनम प्राणियाका लोकविषयक ज्ञान (चित्तम्) पटम तन्तुकी भाँति ओतप्रोत हे, मेरा वह मन शुभसकल्पवाला हो।

बुद्धिमान् जन जानते है कि मन ही मनुष्यको सब जगह भटकाता रहता है। यही आग्रह करके उन्हे किसी मार्गमे प्रवृत्त करता है अथवा उससे निवृत्त करता है। नयन ओर नियमन मनके ही अधीन हैं। यदि मन पवित्र सकल्पवाला होगा तो उत्तम स्थानपर ले जायगा आर सत्-प्रवृत्तियासे इसका नियमन करेगा। यदि मन पाप-सकल्पासे आक्रान्त हागा ता मनुष्यको बुरे मार्गमे लगाकर उसके विनाश आर दुर्गतिका कारण बन जायगा। छठी ऋचामे ऋषिने यही बात कहकर मनके पवित्र होनेकी प्रार्थना समाप्त की हे—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठ यदजिर जविष्ठ तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। ६)

जैसे कुशल सारथि (सुषारथि) चाबुक हाथमे लेकर (अश्वान्) घोडाको जिधर चाहता है, ले जाता है (नेनीयते), वैसे ही जो मन मनुष्याको (मनुष्यान्) जिधर चाहता है, ले जाता है तथा जिस प्रकार सुसारथि बागडार हाथमे लेकर (अभीशुभि) घोडाको अपने मनचाहे स्थानपर ले जाता है (वाजिन नेनीयते), वैसे ही जो मन मनुष्याको ले जाता है, जो प्राणियाके हृदयमे प्रतिष्ठित हे (हृत्प्रतिष्ठम्), शरीरके वृद्ध होनेपर भी जो वृद्ध नहीं होता, जो अत्यन्त वेगवान् है (जविष्ठम्), मेरा वह मन शुभसकल्पवाला हो।

दो दृष्टान्त देकर बतलाया कि 'मन शरीरका नयन और नियमन दोना करता है। शरीरके शिथिल होनेपर भी मनका वेग कम नहीं होता है। अत्यन्त वेगवान् होनेसे जल्दी वशमे नहीं आता है।' बिगड उठे तो बलवान् होनेसे व्यक्तिको बुरी तरह झकझोर देता है। यदि मन शुद्ध और पवित्र बन जाय तो हमारे जीवनकी धारा बदल जायगी और हमारी समस्त शक्तियाँ मङ्गलमय कार्योमे ही लगगी।

सौमनस्य-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वे मण्डलका यह १९१वाँ सूक्त ऋग्वेदका अन्तिम सूक्त है। इस सूक्तके ऋषि आङ्गिरस पहले मन्त्रके देवता अग्नि तथा शेष तीनो मन्त्रोके सज्ञान देवता हैं। पहले दूसरे तथा चौथे मन्त्रोका छन्द अनुष्टुप् तथा तीसरे मन्त्रका छन्द त्रिष्टुप् है। प्रस्तुत सूक्तमे सबकी अभिलाषाओको पूर्ण करनेवाले अग्निदेवकी प्रार्थना आपसी मतभेदाको भुलाकर सुसगठित होनेके लिये की गयी है। सज्ञानका तात्पर्य समानता तथा मानसिक और बौद्धिक एकता है। समभावकी प्रेरणा देनेवाले इस सूक्तमे सबकी गति, विचार और मन-बुद्धिमे सामञ्जस्यकी प्रेरणा दी गयी है।—]

ससमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥

समस्त सुखाको प्रदान करनेवाले हे अग्नि! आप सबमे व्यापक अन्तर्यामी ईश्वर हैं। आप यज्ञवेदीपर प्रदीप्त किये जाते हैं। हमे विविध प्रकारके ऐश्वर्योका प्रदान करे।

स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥ २॥

हे धर्म-विरत विद्वानो! आप परस्पर एक होकर रहे परस्पर मिलकर प्रेमसे वार्तालाप करे। समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करे। जिस प्रकार श्रेष्ठजन एकमत होकर ज्ञानार्जन करते हुए ईश्वरकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार आप भी एकमत होकर विरोध त्याग करके अपना काम करे।

समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सह चित्तमेषाम्।
समान मन्त्रमभि मन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

हम सबकी प्रार्थना एक समान हो, भेद-भावसे रहित परस्पर मिलकर रहे, अन्त करण—मन-चित्त-विचार समान हों। मैं सबके हितके लिये समान मन्त्राको अभिमन्त्रित करके हवि प्रदान करता हूँ।

समानी व आकूति समाना हृदयानि व।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥ ४॥

तुम सबके सकल्प एक-समान हो तुम्हारे हृदय एक-समान हो आर मन एक-समान हो, जिससे तुम्हारा कार्य परस्पर पूर्णरूपसे सगठित हो।

संज्ञान-सूक्त

[यह अथर्ववेदके तीसरे काण्डका तीसवाँ सूक्त है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि अथर्वा तथा देवता चन्द्रमा हैं। यह सूक्त सरल, काव्यमय भाषामे सामान्य शिष्टाचार और जीवनके मूल सिद्धान्ताको निरूपित करता है। सभी लोगोके बीच समभाव तथा परस्पर सौहार्द उत्पन्न हो, यह भावना इसमे व्यक्त की गयी है। समाजके मूल आधार परिवारके सभी सम्बन्धी परस्पर मिल-जुलकर रहें, मधुर वाणी बोले, सबके मन एक-समान हो, सब एक-दूसरेके प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो। ऐसी भावनासे परिपूर्ण प्रेरक इस सूक्तके पाठसे सामाजिक एकता एव सद्भाव उत्पन्न होता है।—]

सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

आप सबके मध्यमे विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता, समनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछडेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरेसे प्रेम कर।

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना ।
जाया पत्ये मधुमर्ती वाच वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्ति-युक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो।

मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया ॥ ३ ॥

भाई-भाई आपसम द्वेष न कर। बहिन-बहिनके साथ ईर्ष्या न रखें। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग कर।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथ ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे सज्ञान पुरुषेभ्य ॥ ४ ॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते ओर न आपसमे द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारम स्थापित करता हूँ। सब पुरुषाम परस्पर मेल हा।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट सराधयन्त सधुराश्चरन्त ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्व समनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझेको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनासे सदा मिले हुए रहो।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभाग समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्नि सपर्यतारा नाभिमिवाभित ॥ ६ ॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो। एक ही बन्धनस सबको युक्त करता हूँ। अत उसी प्रकार साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारो ओर अर लगे रहते हैं।

सध्रीचीनान्व समनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्सवननेन सर्वान्।
देवा इवामृत रक्षमाणा सायप्रात सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

समान गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान-भावाके साथ एक अग्रणीका अनुसरण कर। देव जिस प्रकार समान-चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार साय और प्रात आप सबकी उत्तम समिति हो।
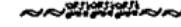
नासदीय-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वे मण्डलके १२९व सूक्तके १ से ७ तकके मन्त्र 'नासदीय सूक्त'के नामसे सुविदित हैं। इस सूक्तके द्रष्टा ऋषि प्रजापति परमेष्ठी देवता भाववृतम् तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस सूक्तमे ऋषिने बताया है कि सृष्टिका निर्माण कब, कहाँ और किससे हुआ। यह बडा ही रहस्यपूर्ण और देवताओके लिये भी अगम्य है। सृष्टिके प्रारम्भमे द्वन्द्वात्मकता-विहीन सर्वत्र एक ही तत्त्व व्याप्त था। इसके बाद सलिलने चतुर्दिक् इसे घेर लिया और सृष्टि-निर्माणकी प्रक्रिया हुई। सृष्टिका निर्माण इसी 'मनके रेत' से होना था। सूक्तद्रष्टा ऋषिने अपने हृदयाकाशमे देखा कि सत्का सम्बन्ध असत्से है। यही सृष्टि-निर्माणकी कडी 'सोऽकामयत', 'तदैक्षत' है। इसीके एक अश 'रेतोधा' और दूसरे अश 'महिमा'मे परस्पर आकर्षण हुआ। इसके बाद स्वाभाविक सृष्टि सुविदित ही है'।—]

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीद्गहन गभीरम् ॥ १ ॥

प्रलयकालम न सत् था ओर न असत् था। उस समय न लाक था आर आकाशसे दूर जो कुछ है, वह भी नहीं था। उस

समय सबका आवरण क्या था? कहाँ किसका आश्रय था? अगाध और गम्भीर जल क्या था? अर्थात् यह सब अनिश्चित ही था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

उस समय न मृत्यु थी, न अमृत था। सूर्य और चन्द्रके अभावमें रात और दिन भी नहीं थे। वायुसे रहित उस दशामें एक अकेला ब्रह्म ही अपनी शक्तिके साथ अनुप्राणित हो रहा था, उससे परे या भिन्न कोई और वस्तु नहीं थी।

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३॥

सृष्टिसे पूर्व प्रलयकालमें अन्धकार व्याप्त था, सब कुछ अन्धकारसे आच्छादित था। अज्ञातावस्थामें यह सब जल ही जल था और जो था वह चारों ओर होनेवाले सत्-असत्-भावसे आच्छादित था। सब अविद्यासे आच्छादित तमसे एकाकार था और वह एक ब्रह्म तपके प्रभावसे हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

सृष्टिके पहले ईश्वरके मनमें सृष्टिकी रचनाका संकल्प हुआ इच्छा पैदा हुई, क्योंकि पुरानी कर्मराशिका संचय जो बीजरूपमें था, सृष्टिका उपादान कारणभूत हुआ। यह बीजरूपी सत्पदार्थ ब्रह्मरूपी असत्से पैदा हुआ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

सूर्यकी किरणोंके समान सृष्टि-बीजको धारण करनेवाले पुरुष (भोक्ता) हुए और भोग्य-वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। इन भोक्ता और भोग्यकी किरणें ऊपर-नीचे, आड़ी-तिरछी फैलीं। इनमें चारों तरफ भोग्यशक्ति निकृष्ट थी और भोक्तृशक्ति उत्कृष्ट थी।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥ ६॥

यह सृष्टि किस विधिसे और किस उपादानसे प्रकट हुई? यह कौन जानता है? कौन बताये? किसकी दृष्टि वहाँ पहुँच सकती है? क्योंकि सभी इस सृष्टिके बाद ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिये यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई? यह कौन जानता है?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ ७॥

इस सृष्टिका अतिशय विस्तार जिससे पैदा हुआ, वह इसे धारण किये है, रखे है या बिना किसी आधारके ही है। हे विद्वन्! यह सब कुछ वही जानता है, जो परम आकाशमें रहनेवाला इस सृष्टिका नियन्ता है या शायद परमाकाशमें स्थित वह भी नहीं जानता?

हिरण्यगर्भ-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२१वें सूक्तको 'हिरण्यगर्भ-सूक्त' कहते हैं। इसके ऋषि प्रजापतिपुत्र हिरण्यगर्भ, देवता 'क'शब्दाभिधेय प्रजापति एवं छन्द त्रिष्टुप् है। ऋग्वेदमें विभिन्न देवताओंके नामोंके अन्तर्गत जो एकात्मभावना व्याप्त है, उसीको दार्शनिक शब्दोंमें सृष्टि-उत्पत्तिके प्रसंगमें यह सूक्त व्यक्त करता है। हिरण्यको अग्निका रेत कहते हैं। हिरण्यगर्भ अर्थात् सुवर्णगर्भ सृष्टिके आदिमें स्वयं प्रकट होनेवाला बृहदाकार-अण्डाकार तत्त्व है। यह सृष्टिका आदि अग्नितत्त्व माना गया है। महासलिलमें प्रकट हुए हिरण्यगर्भकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—१-आप (सलिल)-में उर्मियोंके उत्पन्न होनेसे समेपण हुआ। २-आगे बढ़नेकी क्रिया (प्रसर्पण) हुई। ३-उसने तैरते हुए चारों ओर बढ़ने (परिप्लवन)-की क्रिया की। इसके बाद हिरण्यगर्भ दो भागोंमें विभक्त होकर पृथ्वी और द्युलोक बना—

संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत। स इदं हिरण्यमाण्डं व्यसृजत्।

अतः यह हिरण्यगर्भ ही सृष्टिका मूल है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिने सृष्टिके आदिमें स्थित इसी हिरण्यगर्भके प्रति जिज्ञासा प्रकट की है—जो सृष्टिके पहले विद्यमान था।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

सूर्यके समान तेज जिनके भीतर है, वे परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले वर्तमान थे और वे ही परमात्मा जगत्के

एकमात्र स्वामी हैं। वे ही परमात्मा जो इस भूमि और द्युलोकके धारणकर्ता हैं, उन्हीं ईश्वरके लिये हम हविका समर्पण करते हैं।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष यस्य देवा ।
यस्य छायामृत यस्य मृत्यु कस्मै दवाय हविषा विधेम॥ २॥

जिन परमात्माकी महान् सामर्थ्यसे ये बर्फसे ढके पर्वत बने हैं, जिनकी शक्तिसे ये विशाल समुद्र निर्मित हुए हैं और जिनकी सामर्थ्यसे बाहुआके समान ये दिशाएँ-उपदिशाएँ फैली हुई हैं, उन सुखस्वरूप प्रजाके पालनकर्ता दिव्यगुणासे सबल परमात्माक लिये हम हवि समर्पण करते हैं।

य प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

जो परमात्मा अपनी महान् सामर्थ्यसे जगत्के समस्त प्राणिया एव चराचर जगत्क एकमात्र स्वामी हुए तथा जो इन दो पैरवाले मनुष्य, पक्षी ओर चार पैरवाले जानवराके भी स्वामी हैं उन आनन्द-स्वरूप परमेश्वरके लिये हम भक्तिपूर्वक हवि अर्पित करते हैं।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहु ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

जो परमात्मा आत्मशक्ति और शारीरिक बलके प्रदाता हैं, जिनकी उत्तम शिक्षाआका देवगण पालन करते हैं, जिनके आश्रयसे मोक्षसुख प्राप्त होता है तथा जिसकी भक्ति और आश्रय न करना मृत्युके समान है, उन देवका हम हवि अर्पित करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्व स्तभित येन नाक ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

जिन्होने द्युलोकको तेजस्वी तथा पृथ्वीको कठोर बनाया, जिन्होने प्रकाशको स्थिर किया, जिन्हाने सुख और आनन्दको प्रदान किया, जो अन्तरिक्षमे लाकोका निर्माण करते हैं, उन आनन्दस्वरूप परमात्माके लिये हम हवि अर्पित करते हैं। उनके स्थानपर अन्य किसीकी पूजा करने योग्य नहीं है।

य क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेता मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

बलसे स्थिर होते हुए परतु वास्तवमे चलायमान, गतिमान्, काँपनेवाले अथवा तेजस्वी, द्युलोक और पृथ्वीलोक मननशक्तिसे जिनको देखते हे और जिनम उदित होता हुआ सूर्य विशेषरूपसे प्रकाशित होता है, उन आनन्दमय परमात्माके लिये हम हवि अर्पित करते ह।

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भ दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवाना समवर्ततासुरेक कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७॥

निश्चय ही गर्भको धारण करके अग्निको प्रकट करता हुआ अपार जलसमूह जब ससारम प्रकट हुआ, तब उस गर्भसे देवताआका एक प्राणरूप आत्मा प्रकट हुआ। उस जलसे उत्पन्न देवके लिये हम हवि समर्पित करते ह।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्ष दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ८॥

जिन परमात्माने सृष्टि-जलका सृजन किया और जिनके द्वारा ही जलमे सर्जन शक्ति पैदा हुई तथा सृष्टिरूपी यज्ञ उत्पन्न हुआ, अर्थात् यह यज्ञमय सृष्टि उत्पन्न हुई, उन्हीं एकमात्र सर्वनियन्ताको हम हविद्वारा अपनी अर्चना अर्पित करते हैं।

मा नो हिंसीज्जनिता य पृथिव्या या वा दिव सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ९॥

इस पृथ्वी और नभको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर हम दु ख न दे। जिन परमात्माने आह्लादकारी जलका उत्पन्न किया, उन्हीं देवको हम हविद्वारा अपनी पूजा समर्पित करते हैं।

प्रजापत न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम्॥ १०॥

हे प्रजाके पालनकर्ता! आप सभी प्राणियाम व्याप्त हैं। दूसरा कोई इनम व्याप्त नहीं है। अन्य किसीस अपनी कामनाआके लिये प्रार्थना करना उपयुक्त नहीं है। जिस कामनासे हम आहुति प्रदान कर रह हैं, वह पूरी हो, और हम (दान-निमित्त) प्राप्त धनाक स्वामी हो जायँ।

समय सबका आवरण क्या था? कहाँ किसका आश्रय था? अगाध और गम्भीर जल क्या था? अर्थात् यह सब अनिश्चित ही था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

उस समय न मृत्यु थी, न अमृत था। सूर्य और चन्द्रके अभावमें रात और दिन भी नहीं थे। वायुसे रहित उस दशामें एक अकेला ब्रह्म ही अपनी शक्तिके साथ अनुप्राणित हो रहा था, उससे परे या भिन्न कोई और वस्तु नहीं थी।

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३॥

सृष्टिसे पूर्व प्रलयकालमें अन्धकार व्याप्त था, सब कुछ अन्धकारसे आच्छादित था। अज्ञातावस्थामें यह सब जल ही जल था और जो था वह चारों ओर होनेवाले सत्-असत्-भावसे आच्छादित था। सब अविद्यासे आच्छादित तमसे एकाकार था और वह एक ब्रह्म तपके प्रभावसे हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

सृष्टिके पहले ईश्वरके मनमें सृष्टिकी रचनाका संकल्प हुआ, इच्छा पैदा हुई, क्योंकि पुरानी कर्मराशिका संचय जो बीजरूपमें था, सृष्टिका उपादान कारणभूत हुआ। यह बीजरूपी सत्पदार्थ ब्रह्मरूपी असत्‌से पैदा हुआ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

सूर्यकी किरणोंके समान सृष्टि-बीजको धारण करनेवाले पुरुष (भोक्ता) हुए और भोग्य-वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। इन भोक्ता और भोग्यकी किरणें ऊपर-नीचे, आडी-तिरछी फैलीं। इनमें चारों तरफ भोग्यशक्ति निकृष्ट थी और भोक्तृशक्ति उत्कृष्ट थी।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥ ६॥

यह सृष्टि किस विधिसे और किस उपादानसे प्रकट हुई? यह कौन जानता है? कौन बताये? किसकी दृष्टि वहाँ पहुँच सकती है? क्योंकि सभी इस सृष्टिके बाद ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिये यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई? यह कौन जानता है?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ ७॥

इस सृष्टिका अतिशय विस्तार जिससे पैदा हुआ, वह इसे धारण किये है, रखे है या बिना किसी आधारके ही है। हे विद्वन्! यह सब कुछ वही जानता है, जो परम आकाशमें रहनेवाला इस सृष्टिका नियन्ता है या शायद परमाकाशमें स्थित वह भी नहीं जानता?

हिरण्यगर्भ-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२१वें सूक्तको 'हिरण्यगर्भ-सूक्त' कहते हैं। इसके ऋषि प्रजापतिपुत्र हिरण्यगर्भ, देवता 'क'शब्दाभिधेय प्रजापति एवं छन्द त्रिष्टुप् है। ऋग्वेदमें विभिन्न देवताओंके नामोंके अन्तर्गत जो एकात्मभावना व्याप्त है, उसीको दार्शनिक शब्दोंमें सृष्टि-उत्पत्तिके प्रसंगमें यह सूक्त व्यक्त करता है। हिरण्यको अग्निका रेत कहते हैं। हिरण्यगर्भ अर्थात् सुवर्णगर्भ सृष्टिके आदिमें स्वयं प्रकट होनेवाला बृहदाकार-अण्डाकार तत्त्व है। यह सृष्टिका आदि अग्नितत्त्व माना गया है। महासलिलमें प्रकट हुए हिरण्यगर्भकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—१-आप (सलिल)-में उर्मियोंके उत्पन्न होनेसे समेषण हुआ। २-आगे बढनेकी क्रिया (प्रसर्पण) हुई। ३-उसने तैरते हुए चारों ओर बढने (परिप्लवन)-की क्रिया की। इसके बाद हिरण्यगर्भ दो भागोंमें विभक्त होकर पृथ्वी और द्युलोक बना—

संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत। स इदं हिरण्यमाण्डं व्यसृजत्।

अतः यह हिरण्यगर्भ ही सृष्टिका मूल है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिने सृष्टिके आदिमें स्थित इसी हिरण्यगर्भके प्रति जिज्ञासा प्रकट की है—जो सृष्टिके पहले विद्यमान था।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

सूर्यके समान तेज जिनके भीतर है, वे परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले वर्तमान थे और वे ही परमात्मा जगत्‌के

एकमात्र स्वामी हैं। वे ही परमात्मा जो इस भूमि और द्युलोकके धारणकर्ता हैं, उन्हीं ईश्वरके लिये हम हविका समर्पण करते ह।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष यस्य देवा ।
यस्य छायामृत यस्य मृत्यु कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

जिन परमात्माकी महान् सामर्थ्यसे य बर्फस ढके पर्वत बने हैं, जिनकी शक्तिसे ये विशाल समुद्र निर्मित हुए हैं और जिनकी सामर्थ्यसे बाहुआके समान ये दिशाएँ-उपदिशाएँ फैली हुई हैं, उन सुखस्वरूप प्रजाके पालनकर्ता दिव्यगुणासे सबल परमात्माक लिये हम हवि समर्पण करते हैं।

य प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

जो परमात्मा अपनी महान् सामर्थ्यसे जगत्के समस्त प्राणिया एव चराचर जगत्के एकमात्र स्वामी हुए तथा जो इन दो पैरवाले मनुष्य, पक्षी और चार पैरवाले जानवराक भी स्वामी हैं उन आनन्द-स्वरूप परमेश्वरके लिये हम भक्तिपूर्वक हवि अर्पित करते हैं।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहु ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

जो परमात्मा आत्मशक्ति और शारीरिक बलके प्रदाता हैं, जिनकी उत्तम शिक्षाआका दवगण पालन करते हैं, जिनके आश्रयसे मोक्षसुख प्राप्त होता है तथा जिसकी भक्ति और आश्रय न करना मृत्युके समान है, उन देवका हम हवि अर्पित करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्व स्तभित यन नाक ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

जिन्होने द्युलोकको तेजस्वी तथा पृथ्वीको कठोर बनाया, जिन्होने प्रकाशको स्थिर किया, जिन्होने सुख और आनन्दको प्रदान किया, जो अन्तरिक्षम लाकाका निर्माण करते हैं, उन आनन्दस्वरूप परमात्माके लिये हम हवि अर्पित करते हैं। उनके स्थानपर अन्य किसीकी पूजा करन योग्य नहीं है।

य क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेता मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदिता विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

बलस स्थिर होते हुए परतु वास्तवम चलायमान, गतिमान्, काँपनेवाले अथवा तजस्वी, द्युलोक और पृथ्वीलोक मननशक्तिसे जिनको देखते हैं और जिनम उदित होता हुआ सूर्य विशेषरूपसे प्रकाशित होता है, उन आनन्दमय परमात्माके लिये हम हवि अर्पित करते हैं।

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवाना समवर्ततासुरेक कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७॥

निश्चय ही गर्भको धारण करके अग्निको प्रकट करता हुआ अपार जलसमूह जब ससारमे प्रकट हुआ, तब उस गर्भसे देवताआका एक प्राणरूप आत्मा प्रकट हुआ। उस जलसे उत्पन्न देवके लिये हम हवि सर्मर्पित करते हैं।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्ष दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि दव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ८॥

जिन परमात्माने सृष्टि-जलका सृजन किया और जिनके द्वारा ही जलमे सर्जन शक्ति पैदा हुई तथा सृष्टिरूपी यज्ञ उत्पन्न हुआ, अर्थात् यह यज्ञमय सृष्टि उत्पन्न हुई, उन्हीं एकमात्र सर्वनियन्ताको हम हविद्वारा अपनी अर्चना अर्पित करते हैं।

मा नो हिंसीज्जनिता य पथिव्या यो वा दिव सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधम॥ ९॥

इस पृथ्वी और नभका उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर हमे दु ख न दे। जिन परमात्माने आह्लादकारी जलका उत्पन्न किया, उन्हीं देवको हम हविद्वारा अपनी पूजा समर्पित करते हैं।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम्॥ १०॥

हे प्रजाके पालनकर्ता! आप सभी प्राणियाम व्याप्त हैं। दूसरा कोई इनम व्याप्त नहीं है। अन्य किसीसे अपनी कामनाआके लिये प्रार्थना करना उपयुक्त नहीं है। जिस कामनासे हम आहुति प्रदान कर रहे ह, वह पूरी हो, और हम (दान-निमित्त) प्राप्त धनाके स्वामी हो जायँ।

ऋत-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वे मण्डलका १९०वाँ सूक्त 'ऋत-सूक्त' है। इसके ऋषि माधुच्छन्द अघमर्षण, देवता भाववृत तथा छन्द अनुष्टुप् है। यह सूक्त सृष्टि-विषयक है। ऋषिने परमपिता परमेश्वरकी स्तुति करते हुए कहा है कि महान् तपसे सर्वप्रथम ऋत और सत्य प्रकट हुए। परम ब्रह्मकी महिमासे क्रमश प्रलयरूपी रात्रि समुद्र, सवत्सर, दिन-रात, सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई। इस सूक्तका प्रयोग नित्य सध्या करते समय किया जाता है।—]

ऋत च सत्य चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत तत समुद्रो अर्णव ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि सवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिव च पृथिवी चान्तरिक्षमथो स्व ॥ ३ ॥

परमात्माकी उग्र तपस्यासे (सर्वप्रथम) ऋत और सत्य पैदा हुए। इसके बाद प्रलयरूपी रात्रि और जलसे परिपूर्ण महासमुद्र उत्पन्न हुआ। जलसे भरे समुद्रकी उत्पत्तिके बाद परमपिताने सवत्सरका निर्माण किया, फिर निमेषोन्मेषमात्रमें ही जगत्को वशमे करनेवाले परमपिताने दिन और रात बनाया। इसके बाद सबको धारण करनेवाले परमात्माने सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष और सुखमय स्वर्ग तथा भूतल एव आकाशका पहलके ही समान सृजन किया।

श्रद्धा-सूक्त

[ऋग्वेदके दशम मण्डलके १५१वे सूक्तको 'श्रद्धा-सूक्त' कहते हैं। इसकी ऋषिका श्रद्धा कामायनी देवता श्रद्धा तथा छन्द अनुष्टुप् है। प्रस्तुत सूक्तमे श्रद्धाकी महिमा वर्णित है। अग्नि, इन्द्र, वरुण-जैसे बडे देवताओ तथा अन्य छोटे देवामे भेद नहीं है—यह इस सूक्तमे बतलाया गया है। सभी यज्ञ-कर्म, पूजा-पाठ आदिमे श्रद्धाकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। ऋषिने इस सूक्तमे श्रद्धाका आवाहन देवीके रूपमे करते हुए कहा है कि 'वह हमारे हृदयमे श्रद्धा उत्पन्न करे'।—]

श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हवि ।
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ १ ॥

श्रद्धासे ही अग्निहोत्रकी अग्नि प्रदीप्त होती है। श्रद्धासे ही हविकी आहुति यज्ञमे दी जाती है। धन-ऐश्वर्यमे सर्वोपरि श्रद्धाकी हम स्तुति करते हैं।

प्रिय श्रद्धे ददत प्रिय श्रद्धे दिदासत ।
प्रिय भोजेषु यज्वस्विद म उदित कृधि॥ २ ॥

हे श्रद्धे! दाताके लिये हितकर अभीष्ट फलको दो। हे श्रद्धे! दान देनेकी जो इच्छा करता है, उसका भी प्रिय करो। भोगैश्वर्य प्राप्त करनेके इच्छुकोके भी प्रार्थित फलको प्रदान करो।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एव भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदित कृधि॥ ३ ॥

जिस प्रकार देवाने असुराको परास्त करनेके लिये यह निश्चय किया कि 'इन असुरोको नष्ट करना ही चाहिये', उसी प्रकार हमारे श्रद्धालु ये जो याज्ञिक एव भोगार्थी हैं, इनके लिये भी इच्छित भोगोको प्रदान करो।

श्रद्धा देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ४ ॥

बलवान् वायुसे रक्षण प्राप्त करके देव और मनुष्य श्रद्धाकी उपासना करते हैं वे अन्त करणमे सकल्पसे ही श्रद्धाकी उपासना करते हैं। श्रद्धासे धन प्राप्त होता है।

श्रद्धा प्रातर्हवामहे श्रद्धा मध्यदिन परि।
श्रद्धा सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह न ॥ ५ ॥

हम प्रात कालमे श्रद्धाकी प्रार्थना करते हैं। मध्याह्नमे श्रद्धाकी उपासना करते हैं। हे श्रद्धा देवि! इस ससारमे हमें श्रद्धावान् बनाइये।

लोकोपयोगी-कल्याणकारी सूक्त

दीर्घायुष्य-सूक्त

[अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखाका यह 'दीर्घायुष्य-सूक्त' प्राणिमात्रके लिये समान रूपसे दीर्घायु-प्रदायक है। इसमे मन्त्रद्रष्टा ऋषि पिप्पलादने देवो ऋषियो, गन्धर्वों, लोको दिशाओ, ओषधियो तथा नदी, समुद्र आदिसे दीर्घ आयुकी कामना की है—]

स मा सिञ्चन्तु मरुत स पूषा स बृहस्पति ।
स मायमग्नि सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ १॥

मरुद्‌गण, पूषा, बृहस्पति तथा यह अग्नि मुझे प्रजा एव धनसे सींचें तथा मेरी आयुकी वृद्धि कर।

स मा सिञ्चन्त्वादित्या स मा सिञ्चन्त्वग्नय ।
इन्द्र समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ २॥

आदित्य, अग्नि, इन्द्र मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे।

स मा सिञ्चन्त्वरुप समर्का ऋषयश्च ये।
पूषा समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ३॥

अग्निकी ज्वालाएँ, प्राण, ऋषिगण और पूषा मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे।

स मा सिञ्चन्तु गन्धर्वाप्सरस स मा सिञ्चन्तु दवता ।
भग समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ४॥

गन्धर्व एव अप्सराएँ, देवता और भग मुझे प्रजा तथा धनसे सींचे और मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे।

स मा सिञ्चतु पृथिवी स मा सिञ्चन्तु या दिव ।
अन्तरिक्ष समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ५॥

पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्ष मुझे प्रजा एव धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे।

स मा सिञ्चन्तु प्रदिश स मा सिञ्चन्तु या दिश ।
आशा समस्मान् सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ६॥

दिशा-प्रदिशाएँ एव ऊपर-नीचेके प्रदेश मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे।

स मा सिञ्चन्तु कृषय स मा सिञ्चन्त्वोषधी ।
सोम समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ७॥

कृषिसे उत्पन्न धान्य, ओषधियाँ और सोम मुझे प्रजा एव धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान कर।

स मा सिञ्चन्तु नद्य स मा सिञ्चन्तु सिन्धव ।
समुद्र समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ८॥

नदी, सिन्धु (नद) और समुद्र मुझे प्रजा एव धनसे सींचें मुझे दीर्घ आयु प्रदान कर।

स मा सिञ्चन्त्वाप स मा सिञ्चन्तु कृष्टय ।
सत्य समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ९॥

जल, कृष्ट ओषधियाँ तथा सत्य हम सबको प्रजा और धनसे सींचे तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे।

धनान्नदान-सूक्त

[ऋग्वेदके दशम मण्डलका ११७वाँ सूक्त जो कि 'धनान्नदान-सूक्त'के नामसे प्रसिद्ध है, दानकी महत्ता प्रतिपादित करनेवाला एक भव्य सूक्त है। इसके मन्त्र उपदशपरक एव नैतिक शिक्षासे युक्त हैं। सूक्तसे यही तथ्य प्राप्त होता है कि लोकमे दान तथा दानोंकी अपार महिमा है। धनीके धनकी सार्थकता उसकी कृपणतामे नहीं, वरन् दानशीलतामे मानी गयी है। इस सूक्तके मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'भिक्षुराङ्गिरस' हैं। पहलो और दूसरी ऋचाओमे जगती छन्द एव अन्यमे त्रिष्टुप् छन्द है।—]

न वा उ देवा क्षुधमिद्वध ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यव ।
उतो रयि पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितार न विन्दते॥ १॥

देवाने भूख देकर प्राणियाका (लगभग) वध कर डाला। जो अन्न देकर भूखकी ज्वाला शान्त करे, वही दाता है। भूखेको न देकर जो स्वय भाजन करता है, एक दिन मृत्यु उसके प्राणाको हर ले जाती है। दनेवालेका धन कभी नहीं घटता, उसे ईश्वर देता है। न देनेवाले कृपणको किसीसे सुख प्राप्त नहीं होता।

य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते॥ २॥

अन्नकी इच्छासे द्वारपर आकर हाथ फैलाये विकल व्यक्तिके प्रति जो अपना मन कठोर बना लेता है और अन्न होते हुए भी देनेके लिये हाथ नहीं बढाता तथा उसके सामने ही उसे तरसाकर खाता है, उस महाक्रूरका कभी सुख प्राप्त नहीं होता।

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ३॥

घर आकर माँग रहे अति दुर्बल शरीरके याचकको जो भोजन देता है, उसे यज्ञका पूर्ण फल प्राप्त होता है तथा वह अपने शत्रुओंको भी मित्र बना लेता है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ४॥

मित्र अपने अङ्गके समान होता है। जो अपने मित्रको माँगनेपर भी नहीं देता, वह उसका मित्र नहीं है। उसे छोडकर दूर चले जाना चाहिये। वह उसका घर नहीं है। किसी अन्य देनेवालेकी शरण लेनी चाहिये।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ऽन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः॥ ५॥

जो याचकको अन्नादिका दान करता है, वही धनी है। उस कल्याणका शुभ मार्ग प्रशस्त दिखायी देता है। वैभव-विलास रथके चक्रकी भाँति आते-जाते रहते हैं। किसी समय एकके पास सम्पदा रहती है, तो कभी दूसरेके पास रहती है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ६॥

जिसका मन उदार न हो, वह व्यर्थ ही अन्न पैदा करता है। संचय ही उसकी मृत्युका कारण बनता है। जो न तो देवोंको और न ही मित्रोंको तृप्त करता है, वह वास्तवमें पापका ही भक्षण करता है।

कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥ ७॥

हलका उपकारी फाल खेतको जोतकर किसानको अन्न देता है। गमनशील व्यक्ति अपने पैरके चिह्नोंसे मार्गका निर्माण करता है। बोलता हुआ ब्राह्मण न बोलनेवालेसे श्रेष्ठ होता है।

एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥ ८॥

एकांशका धनिक दो अंशके धनीके पीछे चलता है। दो अंशवाला भी तीन अंशवालेके पीछे छूट जाता है। चार अंशवाला पङ्क्तिमें सबसे आगे चलता हुआ सबको अपनेसे पीछे देखता है। अतः वैभवका मिथ्या-अभिमान न करके दान करना चाहिये।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः॥ ९॥

दोनों हाथ एक समान होते हुए भी समान कार्य नहीं करते। दो गायें समान होकर भी समान दूध नहीं देतीं। दो जुड़वाँ संतानें समान होकर भी पराक्रममें समान नहीं होतीं। उसी प्रकार एक कुलमें उत्पन्न दो व्यक्ति समान होकर भी दान करनेमें समान नहीं होते।

कृषि-सूक्त

[अथर्ववेदके तीसरे काण्डका १७वाँ सूक्त 'कृषि-सूक्त' है। इस सूक्तके ऋषि विश्वामित्र तथा देवता 'सीता' हैं। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषिने कृषिको सौभाग्य बढानेवाला बताया है। कृषि एक उत्तम उद्योग है। कृषिसे ही मानव-जातिका कल्याण होता है। प्राणोंके रक्षक अन्नकी उत्पत्ति कृषिसे ही होती है। ऋतुकी अनुकूलता, भूमिकी अवस्था तथा कठोर श्रम कृषि-कार्यके लिये आवश्यक है। हलसे जोती गयी भूमिका (इन्द्रः सीतां निगृह्णातु') वृष्टिके देव इन्द्र उत्तम वर्षासे सींचें तथा सूर्य अपनी उत्तम किरणोंसे उसकी रक्षा करें—यही कामना ऋषिने की है।—]

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

देवोंमें विश्वास करनेवाले विद्वान् निरोग सुख प्राप्त करनेके लिये (भूमिको) हलोंसे जोतते हैं और (बैलोंके कन्धोंपर रखे जानेवाले) जुओंको अलग करके रखते हैं।

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन्॥ २॥

जुओंको फैलाकर हलोंसे जोड़ो और (भूमिको)

जोतो। अच्छी प्रकार भूमि तैयार करके उसम बीज बोओ। इससे अन्नकी उपज होगी, खूब धान्य पैदा होगा और पकनेके बाद (अन्न) प्राप्त होगा।

लाङ्गल पवीरवत्सुशीम सोमसत्सरु।
उदिद्वपतु गामवि प्रस्थावद्रथवाहन पीवरीं च प्रफर्व्यम्॥ ३॥

हलमे लोहेका कठोर फाल लगा हो, पकडनेके लिये लकडीकी मूठ हो, ताकि हल चलाते समय आराम रहे। यह हल ही गौ-बैल, भेड-बकरी, घोडा-घोडी, स्त्री-पुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है।

इन्द्र सीतां नि गृह्णातु ता पूषाभि रक्षतु।
सा न पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरा समाम्॥ ४॥

इन्द्र वर्षाके द्वारा हलसे जोती गयी भूमिको सींचें और धान्यके पोषक सूर्य उसकी रक्षा करे। यह भूमि हमे प्रतिवर्ष उत्तम रससे युक्त धान्य देती रहे।

शुनसुफाला वितुदन्तु भूमिशुन कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधी कर्तमस्मै॥ ५॥

हलके सुन्दर फाल भूमिकी खुदाई कर, किसान बैलाके पीछे चले। हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु एव सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रसयुक्त ओषधियाँ देवे।

शुन वाहा शुन नर शुन कृषतु लाङ्गलम्।
शुन वरत्रा बध्यन्ता शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ ६॥

बैल सुखसे रह, सब मनुष्य आनन्दित हो, उत्तम हल चलाकर आनन्दसे कृषि की जाय। रस्सियाँ जहाँ जैसी बाँधनी चाहिये, वैसी बाँधी जाय और आवश्यकता होनेपर चाबुक ऊपर उठाया जाय।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्।
यद्दिवि चक्रथु पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ ७॥

वायु और सूर्य मेरे हवनको स्वीकार कर और जो जल आकाशमण्डलम है, उसकी वृष्टिसे इस पृथिवीको सिंचित करे।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।
यथा न सुमना असो यथा न सुफला भुव ॥ ८॥

भूमि भाग्य देनेवाली हैं, इसलिये हम इसका आदर करते हैं। यह भूमि हमे उत्तम धान्य देती रहे।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भि ।
सा न सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना॥ ९॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवाकी अनुकूलता उसको मिलती है, तब वह हमे उत्तम मधुर रसयुक्त धान्य और फल देती रहे।

गृह-महिमा-सूक्त

[अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखामे वर्णित इस 'गृह-महिमा-सूक्त'की अतिशय महत्ता एव लोकोपयोगिता है। इसमे मन्त्रद्रष्टा ऋषिने गृहमे निवास करनेवालोके लिये सुख ऐश्वर्य तथा समृद्धिसम्पन्नताकी कामना की है—]

गृहानैमि मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रद् व सुमति सुमेधा ।
अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहाणा पश्यन्पय उत्तरामि॥ १॥

ऊर्ज (शक्ति)-को पुष्ट करता हुआ, मतिमान् और मेधावी मैं मुदित मनसे गृहमे आता हूँ। कल्याणकारी तथा मैत्रीभावसे सम्पन्न चक्षुसे इन गृहोको देखता हुआ, इनम जो रस है, उसका ग्रहण करता हूँ।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्त पयस्वन्त ।
पूर्णा वामस्य तिष्ठन्तस्ते नो जानन्तु जानत ॥ २॥

ये घर सुखके देनेवाले हैं, धान्यसे भरपूर हैं, घी-दूधसे सम्पन्न हैं। सब प्रकारके सौन्दर्यसे युक्त ये घर हमारे साथ घनिष्ठता प्राप्त कर और हम इन्हे अच्छी तरह समझ।

सूनृतावन्त सुभगा इरावन्तो हसामुदा ।
अक्षुध्या अतृष्यासो गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ३॥

जिन घरामे रहनेवाले परस्पर मधुर ओर शिष्ट सम्भाषण करते हैं, जिनमे सब तरहका सौभाग्य निवास करता है, जो प्रीतिभोजासे सयुक्त हैं, जिनमे सब हँसी-खुशीसे रहते हैं, जहाँ कोई न भूखा है, न प्यासा है, उन घरामे कहींसे भयका सञ्चार न हो।

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहु ।
गृहानुपह्वयाम यान् ते नो जानन्त्वायत ॥ ४॥

प्रवासमे रहते हुए हम जिनका बराबर ध्यान आया करता है, जिनम सहृदयताकी खान है, उन घरोका हम आवाहन करते हैं, वे बाहरस आये हुए हमको जान।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावय ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु न ॥ ५॥

हमार इन घराम दुधार गौएँ हैं, इनमे भेड, बकरी आदि पशु भी प्रचुर सख्याम हें। अन्नको अमृत-तुल्य स्वादिष्ट वनानेवाले रस भी यहाँ हैं।

उपहूता भूरिधना सखाय स्वादुसन्मुद ।
अरिष्टा सर्वपूरुषा गृहा न सन्तु सर्वदा॥ ६॥

बहुत धनवाले मित्र इन घरोमे आते हैं, हँसी-खुशीके साथ हमारे साथ स्वादिष्ट भोजनामे सम्मिलित होते हैं। हे हमारे गृहो! तुममे बसनेवाले सब प्राणी सदा अरिष्ट अर्थात् रोगरहित और अक्षीण रह, किसी प्रकार उनका ह्रास न हो॥ ६॥

रोगनिवारण-सूक्त

[अथर्ववेदके चतुर्थ काण्डका १३वाँ सूक्त तथा ऋग्वेदके दशम मण्डलका १३७वाँ सूक्त 'रोगनिवारण-सूक्त'के नामसे प्रसिद्ध हैं। अथर्ववेदमे अनुष्टुप् छन्दके इस सूक्तके ऋषि शताति तथा देवता चन्द्रमा एव विश्वेदेवा हैं। जबकि ऋग्वेदमे प्रथम मन्त्रके ऋषि भरद्वाज, द्वितीयके कश्यप तृतीयके गौतम, चतुर्थके अत्रि, पञ्चमके विश्वामित्र, षष्ठके जमदग्नि तथा सप्तम मन्त्रके ऋषि वसिष्ठजी हैं और देवता विश्वेदेवा हैं। इस सूक्तके जप-पाठसे रोगोसे मुक्ति अर्थात् आरोग्यता प्राप्त होती है। ऋषिने रोगमुक्तिके लिये ही देवोंसे प्रार्थना की है—]

उत देवा अवहित देवा उन्नयथा पुन ।
उतागश्चक्रुष देवा देवा जीवयथा पुन ॥ १॥

हे देवो! हे देवो! आप नीचे गिरे हुएको फिर निश्चयपूर्वक ऊपर उठाओ। हे देवो! हे देवो! और पाप करनेवालेको भी फिर जीवित करो, जीवित करो।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावत ।
दक्ष ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रप ॥ २॥

ये दो वायु हैं। समुद्रसे आनेवाला वायु एक है और दूर भूमिपरसे आनेवाला दूसरा वायु है। इनमसे एक वायु तेरे पास वल ले आवे और दूसरा वायु जो दोप है, उसे दूर करे।

आ वात वाहि भेषज वि वात वाहि यद्रप ।
त्व हि विश्वभेषज देवाना दूत ईयसे॥ ३॥

हे वायु! ओपधि यहाँ ले आ! हे वायु! जो दोप है, वह दूर कर। हे सम्पूर्ण ओपधियाको साथ रखनवाले वायु! नि सदेह तू देवाका दूत-जेसा होकर चलता है, जाता है, वहता है।

त्रायन्तामिम देवास्त्रायन्ता मरुता गणा ।
त्रायन्ता विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥ ४॥

हे देवो! इस रागीकी रक्षा करो। हे मरुतोक समूहो! रक्षा करो। सब प्राणी रक्षा कर। जिससे यह रोगी रोग-दोपरहित होवे।

आ त्वागम शतातिभिरथो अरिष्टतातिभि ।
दक्ष त उग्रमाभारिष परा यक्ष्म सुवामि ते॥ ५॥

आपके पास शान्ति फैलानेवाले तथा अविनाशी करनेवाले साधनाक साथ आया हूँ। तरे लिये प्रचण्ड बल भर देता हूँ। तरे रोगको दूर कर भगा देता हूँ।

अय मे हस्तो भगवानय मे भगवत्तर ।
अय मे विश्वभेषजोऽय शिवाभिमर्शन *॥ ६॥

मेरा यह हाथ भाग्यवान् है। मेरा यह हाथ अधिक भाग्यशाली है। मेरा यह हाथ सब औपधियासे युक्त है और यह मरा हाथ शुभ-स्पर्श देनवाला है।

हस्ताभ्या दशशाखाभ्या जिह्वा वाच पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्या हस्ताभ्या ताभ्या त्वाभि मृशामसि॥ ७॥

दस शाखावाले दोना हाथाके साथ वाणीको आगे प्रेरणा करनेवाली मेरी जीभ है। उन नीरोग करनेवाले दोना हाथास तुझ हम स्पर्श करते हैं।

---

* ऋग्वेदमें 'अयं मे हस्तो॰' के स्थानपर यह दूसरा मन्त्र उल्लिखित है—

आप इद्वा उ भेपजीरापो अमीवचातनी । आप सवस्य भेपजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेपजम् ॥

जल ही नि सदेह ओपधि है। जल रोग दूर करनेवाला है। जल सब रोगाकी ओपधि है। वह जल तरे लिये ओपधि बनावे।

वैदिक सूक्तोंकी महत्ताके प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण निबन्ध

'नासदीय' सूक्त—भारतीय प्रज्ञाका अनन्य अवदान

(डॉ० श्रीरामकृष्णजी सराफ)

भारतीय संस्कृतिमें वेदोंका अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। वेद भारतीय वाङ्मयकी अमूल्य निधि हैं। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके प्रातिभ ज्ञानकी अन्यतम उपलब्धि हैं। हमारे ऋषियोंकी अनन्त ज्ञानराशिका दुर्लभ संचय हैं। भारतीय मनीषाके अक्षय भण्डार हैं। वेद केवल भारतके ही नहीं—विश्वके—निखिल मानव-जातिके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। प्राचीनकालमें हमारे ऋषियोंने अपने गम्भीर चिन्तन-मननद्वारा जो ज्ञान अर्जित किया, वह हमें वेदोंमें उपलब्ध होता है।

चारों वेदोंमें ऋग्वेदका स्थान प्रमुख है। ऋग्वेदके वर्णित सूक्तोंमें इन्द्र, विष्णु, रुद्र, उषा, पर्जन्य प्रभृति देवताओंकी अत्यन्त सुन्दर एवं भावाभिव्यञ्जक प्रार्थनाएँ हैं। वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंके साथ ऋग्वेदमें लौकिक एवं धार्मिक विषयोंसे सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण अनेक सूक्त हैं। इनमें आध्यात्मिक सूक्त दिव्यज्ञानसे ओतप्रोत हैं। इन्हें दार्शनिक सूक्तके रूपमें भी जाना जाता है। ऋग्वेदके दार्शनिक सूक्तोंमें पुरुषसूक्त (ऋक्० १०।९०), हिरण्यगर्भसूक्त (ऋक्० १०।१२९), वाक्सूक्त (ऋक्० १०।१२५) तथा नासदीयसूक्त (ऋक्० १०।१२९) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेदके ये सूक्त अपनी दार्शनिक गम्भीरता एवं प्रातिभ अनुभूतिके कारण विशेष महिमा-मण्डित हैं। सूक्तोंमें ऋषियोंकी ज्ञान गम्भीरता तथा सर्वथा अभिनव कल्पना परिलक्षित होती है। समस्त दार्शनिक सूक्तोंके बीच नासदीय-सूक्तका अपना विशेष महत्त्व है। प्राञ्जलभावोंसे परिपूर्ण यह सूक्त ऋषिकी आध्यात्मिक चिन्तन-धाराका परिचायक है।

नासदीय-सूक्तमें सृष्टिके मूलतत्त्व, गूढ़ रहस्यका वर्णन किया गया है। सृष्टि-रचना-जैसा महान् गम्भीर विषय ऋषिके चिन्तनमें किस प्रकार प्रस्फुटित होता है, यह नासदीय-सूक्तमें देखनेको मिलता है। गहन भावाकाशमें ऋषिकी मेधा किस प्रकार अबाध विचरण करती है, यह नासदीय-सूक्तमें उत्तम प्रकारसे प्रदर्शित हुआ है। सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अत्यन्त सूक्ष्मतासे विचार किया गया है। इसीलिये यह सूक्त 'सृष्टिसूक्त' अथवा 'सृष्ट्युत्पत्तिसूक्त'-के नामसे भी जाना जाता है।

नासदीय-सूक्तमें कुल सात मन्त्र हैं। सूक्तमें ऋषि सर्वप्रथम कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें न तो (नामरूपविहीन) असत् था और न उस अवस्थामें (नामरूपात्मक) सत् ही अस्तित्वमें था। उस समय न तो अन्तरिक्ष था। न कोई लोक था और न व्योम था। न कोई आवश्यक तत्त्व था अथवा न भोक्ता-भोग्यकी सत्ता थी। उस समय जल-तत्त्वका भी अस्तित्व नहीं था।

उस अवस्थामें न तो मृत्यु थी और न अमरत्व था। न निशा थी और न दिवस था। सृष्टिका अभिव्यञ्जक कोई भी चिह्न उस समय नहीं था। केवल एक तत्त्व था, जो बिना वायुके भी अपनी ऊर्जासे श्वास ले रहा था और बस उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋक्० १०।१२९।२)

सृष्टिसे पूर्व प्रलयावस्थामें तम ही तमसे आच्छन्न था, अर्थात् सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस अवस्थामें नामरूपादि विशेषताओंसे परे कोई एक दुर्ज्ञेय तत्त्व था, जो सृष्टि सर्जनाके संकल्पकी महिमासे स्वयं आविर्भूत हुआ। सृष्टिसे पूर्वकी अवस्थामें उस एकाकीके मनमें सृजनका भाव उत्पन्न हुआ। उसीकी परिणति सृष्टिके जड-चेतनरूप असंख्य आकारोंमें हुई। यही सृष्टि-तन्तुका प्रसार था। सृष्टिका विस्तार था।

ऋषि कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें जब नाम-रूपात्मक सत्ता ही नहीं थी, तब यथार्थरूपमें कौन जानता है कि विविधस्वरूपा यह सृष्टि कहाँसे और किससे उत्पन्न हुई? देवता इस रहस्यको नहीं बतला सकते, क्योंकि देवता भी तो सृष्टि-रचनाके अनन्तर ही अस्तित्वमें आये थे।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

(ऋक्० १०।१२९।७)

'गिरिसरित्समुद्रादियुक्त विविधरूपा यह सृष्टि उपादानभूत जिन परमात्मासे उत्पन्न हुई, वे इसे धारण करते हैं (अथवा नहीं), अन्यथा कौन इसे धारण करनेमें समर्थ है? अर्थात् परमात्माके अतिरिक्त इस सृष्टिका धारण करनेमें कोई समर्थ

नहीं है। इस सृष्टिके अधिष्ठाता जो परम उत्कृष्ट आकाशवद् निर्मल स्वप्रकाशमे अवस्थित हैं, वे ही इस सृष्टि-रहस्यको जानते हैं (अथवा नहीं जानते हैं), अन्यथा कौन दूसरा इसे जाननेमे समर्थ है। अर्थात् वे सर्वज्ञ ही इस गूढ सृष्टि-रहस्यको जानते हैं, उनके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता।'

नासदीयके तीन भाग हैं—

प्रथम भागमे सृष्टिके पूर्वकी स्थितिका वर्णन है। उस अवस्थामे सत्-असत्, मृत्यु-अमरत्व अथवा रात्रि-दिवस कुछ भी नहीं था। न अन्तरिक्ष था, न आकाश था, न कोई लोक था, न जल था। न कोई भोग्य था, न भोक्ता था। सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस समय तो बस, केवल एक तत्त्वका ही अस्तित्व था, जो वायुके बिना भी श्वास ले रहा था।

द्वितीय भागमे कहा गया है कि जो नाम-रूपादि-विहीन एकमात्र सत्ता थी, उसीकी महिमासे ससाररूपी कार्य-प्रपञ्च प्रादुर्भूत हुआ। इस परम सत्तामे सिसृक्षाभाव उत्पन्न हुआ और तब चर-अचररूप निखिल सृष्टिने आकार ग्रहण किया।

तृतीय भागमे सृष्टिकी दुर्ज्ञेयताका निरूपण किया गया है। समस्त ब्रह्माण्डमे ऐसा कोई भी नहीं है, जो यह कह सके कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई? सामर्थ्यवान् देवता भी नहीं कह सकते, क्योकि वे भी तो सृष्टि-रचनाके बाद ही अस्तित्वमे आये थे। ससार सृष्टिके परम गूढ रहस्यको यदि कोई जानते हैं तो केवल वे जो इस समस्त सृष्टिके अध्यक्ष हैं, अधिष्ठाता हैं। उनके अतिरिक्त इस गूढ तत्त्वको कोई नहीं जानता।

नासदीय-सूक्तमे ऋषिने सृष्टि-सर्जनाके गुह्यतम रहस्यको निरूपित किया है। हमारे लिये यह परम गौरवका विषय है कि दर्शनके इस अतिशय गूढ सिद्धान्तका विवेचन सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, जनक, व्यास, शकराचार्य प्रभृति दार्शनिक महाविभूतियाकी प्रादुर्भाव-भूमि भारतवर्षमे हुआ। ऋग्वेदके नासदीय-सूक्तकी गणना विश्वके शिखर साहित्यमे होती है। जगत्-सर्जनाके रहस्यको उद्घाटित करनेकी भावनासे विश्वके किसी भी मनीषी (कवि)-के द्वारा नासदीय-सूक्तसे अधिक गम्भीर एव प्रशस्त काव्यकृति आजतक नहीं रची गयी। यह अपने-आपमे इस सूक्तकी उत्कृष्टताका सदेश देता है। दर्शन एव कविता दोनोकी उच्चतम कल्पनाकी अभिव्यक्ति इस सूक्तमे मिलती है। सूक्तमे आध्यात्मिक धरातलपर विश्व-ब्रह्माण्डकी एकताकी भावना स्पष्ट रूपसे अभिव्यक्त हुई है। विश्वमे एकमात्र सर्वोपरि सर्जक एव नियामक सत्ता है, इसका भी सूक्तमे स्पष्ट सकेत मिलता है। नासदीय-सूक्तके इसी विचार बीजका पल्लवन एव विकास आगे अद्वैतदर्शनमे होता है। भारतीय सस्कृतिमे यह धारणा—मान्यता बद्धमूल है कि विश्व ब्रह्माण्डमे एक ही सर्वोच्च सत्ता है, जिसका नाम-रूप कुछ भी नहीं है। नासदीय-सूक्तमे इसी सत्यकी अभिव्यक्ति है।

ऋग्वेदका 'कितवसूक्त'—कर्मण्य जीवनका सदुपदेश

(डॉ० श्रीदादूरामजी शर्मा)

वेद मानवीय सभ्यता और सस्कृतिके आदिग्रन्थ हैं। वे सबलता-दुर्बलता-समन्वित मानवीय व्यक्तित्वके सजीव-सस्फूर्त दर्पण हैं। जहाँ प्रकृतिकी सचालिता शक्तियोके साक्षात्कारकी उन्हे भी तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण विश्वको सचालित करनेवाली आदिशक्ति—परमात्मतत्त्व (पुरुष)-के गूढ दार्शनिक विवेचनकी तथा उनसे तादात्म्य लाभके लिये छटपटाहटकी हृदयावर्जक झाँकी भी उनमें है वहीं मानवके सहज-सरल और प्राकृत जीवनका प्रवाह भी उनमे तरलित-तरगित हो रहा है।

सम्भवत जगत्स्रष्टाने मानवके भीतर सत्प्रवृत्तियोके साथ-साथ असत्प्रवृत्तियोका और शक्तिके साथ दुर्बलताका सन्निवेश इसलिये किया है कि भौतिक उपलब्धियोसे गर्वित होकर मानव उसे भुला न बैठे। उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्वको एक झटका लगे तथा उसे वास्तविकताका ज्ञान हो सके इसके लिये ही उसने उसमे जन्मजात दुर्बलताएँ भी भर दी हैं। मानवीय मेधाके सर्वागीण विकासका सर्वप्रथम और समग्र सकलन है 'ऋग्वेद'। उसमे जहाँ भावुक ऋषिकी स्फीत भावधारा अपने सहज-सरल रूपमे 'उषा' आदि सूक्तोके उत्कृष्ट कवित्वमे तरलित हुई है, 'अग्नि' आदि सूक्तोमे वैज्ञानिक गवेषणाकी प्रवृत्ति तथा 'पुरुष' और 'नासदीय-सूक्तों' में आध्यात्मिक-दार्शनिक चिन्तनका

सहज परिपाक दिखायी देता है, वहाँ 'कितव' जैसे सूक्त उसकी अधोगामिनी सामाजिक प्रवृत्तिको प्रकट करत हैं।

वैदिक युगसे ही जुआ खेलना एक सामाजिक दुर्व्यसन रहा है। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डलका ३४वाँ सूक्त है 'कितव'। जिसका अर्थ होता है—द्यूतकर या जुआरी। 'कितव-सूक्त' के अनुष्टुप् और जगती छन्दाम रचित १४ मन्त्रामे कवष एलूष ऋषिने स्वगत-कथन या आत्मालापपरक शैलीमें जुआरीकी हीन-दयनीय वैयक्तिक और पारिवारिक दशाका, उसके पराजयजन्य पश्चात्तापका, उसकी सकल्प-विकल्पात्मक मनोदशाका और शाश्वत सामाजिक सदेशका बडा ही यथार्थ और प्ररक दृश्य खींचा है। भारतम वैदिककालसे ही जुएका खेल चौसरद्वारा होता था।

कितव कहता है—'चौसरके फलकपर बार-बार नाचते हुए ये पाशे सोमके पेयकी तरह मेरे मनको स्फूर्ति और मादकतासे भर देते हैं[१]।' फलत वह बार-बार इस दुर्व्यसनके परित्यागका निश्चय करके भी उससे छूट नही पाता। पाशेके शब्दाको सुनकर स्वयको रोक पाना उसके लिये कठिन है। 'वह सब कुछ छोड सकता है, अपनी प्राणवल्लभा पत्नीका परित्याग भी उसे सहज है, किंतु जुएके खेलको वह छोड नहीं सकता। जब द्यूतका मद उतर जाता है और वह अपनी सामान्य स्थितिम आता है तो उसे अपनी पति-परायणा पत्नीके अकारण परित्यागके लिये बडा पश्चात्ताप होता है[२]।' इस बुरी आदतके कारण परिवारमे अपनी हेय और तिरस्कृत स्थितिपर उसे अनुताप होता है—'सास मेरी निन्दा करती है, पत्नी घरमे घुसने नहीं देती। जरूरत पडनेपर मैं अपने इष्ट-मित्रो या रिश्तेदारासे धन माँगता हूँ तो कोई मुझे देता नहीं। मेरी वास्तविक आवश्यकताको भी लाग बहाना समझते हैं। सोचते हैं, यह बहाना बनाकर जुआ खेलनेके लिये हा धन माँग रहा है। बूढा घाडा जेसे बाजारमें किसी कीमतका नहीं रह जाता उसी तरह मे भी अपना मूल्य खो बैठा हूँ[३]।'

द्यूतम पराजित कितवकी पत्नीका दूसरे विजेता कितव बलपूर्वक सस्पर्श करते हे[४]। इस मन्त्रसे यह ज्ञात होता है कि वैदिक युगम भी लोग अपनी पत्नीको दाँवपर लगा देते थे और हार जानेपर उन्हे अपनी आँखोसे अपनी पत्नीकी बेईज्जतीका दृश्य देखना पडता था।

नव मन्त्रम विरोधाभास अलकारद्वारा पाशोंकी शक्तिमत्ताका बडा ही सजीव और काव्यात्मक चित्र खींचा गया है—'यद्यपि ये पाशे नीचे स्थान (फलक)-पर रहते हैं, तथापि ऊपर उछलते या प्रभाव दिखलाते हैं—जुआरियाके हृदयमे हर्ष-विषाद आदि भावाकी सृष्टि करते हैं, उनके मस्तकको जीतनेपर ऊँचा कर देते हैं तो हारनेपर झुका भी देते हैं। ये बिना हाथवाले हैं, फिर भी हाथवालाको पराजित कर देते हैं। ऐसा लगता है मानो ये पाशे फलकपर फके गये दिव्य अगारे हैं, जिन्हे बुझाया नहीं जा सकता। ये शीतल होते हुए भी पराजित कितवके हृदयको दग्ध कर देते हैं'—

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्त सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ता शीता सन्ता हृदय निर्दहन्ति॥

दसवे मन्त्रमे जुआरीकी पारिवारिक दीन-दशा और वैयक्तिक अध पतनका बडा ही मार्मिक दृश्य अकित किया गया है—'धनादि साधनासे वचित और पतिद्वारा उपेक्षित जुआरीकी पत्नी सतप्त होती रहती है। इधर-उधर भटकनेवाले जुआरी पुत्रकी माँ बेटेकी अपने प्रति उपेक्षा या उसके अध पतनपर आँसू बहाती रहती है। ऋणक बोझम दबा हुआ जुआरी आयके अन्य साधनासे वचित हो जाता है और कर्ज चुकानेके लिये रातम दूसराके घराम चोरी करता है'—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरत क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद् धनमिच्छमाना ऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥
(ऋक्० १०। ३४। १०)

दूसराकी सजी-धजी और सुखी-सम्पन्न स्त्रिया तथा

१-ऋग्वेद (१०। ३४। १)

२-'न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ (ऋक्० १०। ३४। २)

३-द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाह विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ (ऋक्० १०। ३४। ३)

४-(ऋग्वेद १०। ३४। ४)।

सुसज्जित गृहोको देखकर एव अपनी दीन-हीन विपन्न पत्नी तथा जीर्ण-शीर्ण विद्रूप घरको देखकर जुआरीका चित्त सतप्त हो उठता है। वह निश्चय करता है—'अब मैं प्रात -कालसे पुरुषार्थका जीवन जिऊँगा। सही रास्तेपर चलकर अपने पारिवारिक जीवनको सुख-समृद्धिसे पूर्ण करूँगा।' किंतु प्रभात होते ही वह पूर्वाभ्यासवश फिर जुआ खेलनेके लिये द्यूतागारका मार्ग पकड लेता है।

तेरहवे मन्त्रम जुआरीको कर्मण्य जीवन जीनेकी प्रेरणा दी गयी है। वास्तवमे जुआ, सट्टा, लाटरी आदिसे धन पानेकी इच्छा मानवकी अकर्मण्य या पुरुषार्थहीन वृत्तिका परिचायक है। वह बिना परिश्रम किये दूसरोका धन हथिया लेना या पा लेना चाहता है। यह प्रवृत्ति उसे पुरुषार्थहीन या निकम्मा बना देती है और अन्तत उसके दुर्भाग्य एव पतनका कारण बनती है। इसलिये ऋषि कहते हैं—'जुआ मत खेलो। खेती करो। अपने पौरुष या श्रमसे उपार्जित धनको ही सब कुछ मानो। उसीसे सुख और सतोषका अनुभव करो। पुरुषार्थसे तुम्हे अमृततुल्य दूध दनेवाली गाय मिलगी, पतिपरायण सेवामयी पत्नीका साहचर्य मिलेगा। सबके प्रेरक भगवान् सूर्यने मुझे यह सदेश दिया है'—

अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमान ।
तत्र गाव कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्य ॥

(ऋक्० १०। ३४। १३)

—यही इस सूक्तका सामाजिक सदेश भी है।

ऋग्वेदका 'दानस्तुति-सूक्त'

(सुश्री अलकाजी तुलस्यान)

'दानमेक कलौ युगे' यह वचन मनुस्मृति (१। ८६), पद्मपुराण (१। १८। ४४०), पराशर-स्मृति (१। २३), लिङ्गपुराण (१। ३९। ७), भविष्यपुराण (१। २। ११९), बृहत् पराशरस्मृति (१। २२-२३) आदिम मिलता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते है—*'जेन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान'* (रा० च० मा० ७। १०३ ख)।

शतपथब्राह्मण एव 'बृहदारण्यक'म 'द' की आख्यायिकामें भी मनुष्यका धर्म 'दान' ही निर्दिष्ट है। राजनीतिमे भी 'दान' नीति बडे महत्त्वकी है। महाभारतके अनुशासनपर्वका दूसरा नाम ही 'दानधर्मपर्व' है, फिर 'दानसागर', 'दानकल्पतरु' 'हेमाद्रिदानखण्ड'-जैसे सैकडा विशाल निबन्ध तो एक स्वरसे आद्यापान्त दानकी ही महिमा गाते हैं। विष्णुधर्म, शिवधर्म बृहद्धर्म एव मत्स्यादि पुराण भी दान-महिमासे भरे हैं। स्कन्दपुराणम दानके २ अद्भुत हेतु, ६ अधिष्ठान, ६ अङ्ग, ६ फल, ४ प्रकार और ३ नाशक बतलाये गये हैं। प्रिय वचन एव श्रद्धासहित दान दुर्लभ है। वैसे बौद्ध जैन पारसी ईसाई आदि धर्मोंमे भी दानकी अपार महिमा है पर सबके मूल स्रोत 'ऋग्वेद'के दानसूक्त ही मान्य हैं।

'बृहद्देवता' आदिके अनुसार ऋग्वेदमे (८। ६८। १५—१९, ५। ३८) सैकडा दानस्तुतियाँ हैं, पर उसके दशम मण्डलका ११७ वाँ सूक्त सामान्यतया दानकी स्तुतिका प्रतिपादन करनेवाला एक बडा ही भव्य सूक्त है। वस्तुत यह परमोच्च अर्थोंम 'दानस्तुति' है। इसम दाताकी प्रशसा या सिफारिश नहीं है, वरन् इसके मन्त्र उपदेशपरक हैं। इसम महान् नैतिक शिक्षा है, जो अन्य दानस्तुतियोमे भी दुर्लभ है। यह सूक्त 'भिक्षुसूक्त'के नामसे भी प्रसिद्ध है। इसमे १ से ३ तथा ५ से ८ ऋचाओतक धनवान् व्यक्तिको तथा ऋचा ४ एव ९ मे क्षुधार्त याचकको उपदिष्ट किया गया है। इस सूक्तके ऋषि 'आङ्गिरस भिक्षु' हैं।

सूक्तकी पहली ऋचामे कहा गया है—'देवताओने केवल क्षुधाकी ही सृष्टि नहीं की, अपितु मृत्युको भी बनाया है। जो बिना दान दिये हुए ही खाता है, उस खानेवाले पुरुषको भी मृत्युके ही समीप जाना पडता है। दाताका धन कभी क्षीण नहीं होता। इधर दान न करनेवाले मनुष्यको कभी सुख नहीं प्राप्त होता[1]। जो क्षुधाको अन्न-

१-(क) 'न वा उ देवा क्षुधमिद्वध ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यव ।
उतो रयि पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितार न विन्दते ॥ (ऋक्० १०। ११७। १)
(ख) विष्णुपुराण (३। ११। ७३-७४)-में भी कहा है—अस्नाताशी मल भुङ्क्ते अदत्त्वा विषमश्नुते॥

दानसे शान्त करता है, वह सर्वश्रेष्ठ दाता है। जो दान नहीं करता, जरूरत पडनेपर उसकी भी कभी कोई सहायता नहीं करता अथवा उसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाता तथा जो पुरुष स्वय अन्नवान् होनेपर भी घर आये हुए दुर्वल एव अन्नकी याचना करनेवाले भिक्षुकके प्रति दान देनेके लिये अपने अन्त करणको स्थिर कर लेता है, उसे कभी सुख नहीं मिलता[१]।

अन्नकी कामनासे घर आये हुए याचकको जो अन्न देता है, वही श्रेष्ठ दाता है। उसे सम्पूर्ण फल मिलता है और सभी उसके मित्र हो जाते है[२]।

चौथी ऋचा याचक-पक्षके सदर्भमें है। तदनुसार 'वह पुरुष मित्र नहीं है, जो सर्वदा स्नेह रखनेवाले मित्रको अन्नदान नहीं करता। ऐसे पुरुषसे दूर हट जाना ही श्रेयस्कर है। उसका वह गृह गृह नहीं है। अन्न-प्रदान करनेवाले किसी अन्य पुरुषके यहाँ जाना ही उसके लिये श्रेयस्कर है[३]।'

सूक्तकी पाँचवी ऋचाम धनवान् पुरुषको दानके लिये प्रेरित किया गया है। इसम धनकी चञ्चलताका वर्णन करते हुए कहा गया है—'धनवान् पुरुषके द्वारा घर आये हुए याचकको धन अवश्य दिया जाना चाहिये, जिससे याचकको दीर्घमार्ग (पुण्य-पथ) प्राप्त होता है। रथके चक्रके समान धन एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता। वह अन्य पुरुषका आश्रय लेता रहता है[४]।'

'जो प्रकृष्ट ज्ञानवाला है, अथवा जिसकी दानमे अभिरुचि नहीं है, वह व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है। वह अन्न उसकी हानिका ही कारण होता है। जो न देवताका हविष-प्रदानादिसे पोषण करता है, न मित्रवर्गको देता है और केवल स्वय ही खाता है, वह वास्तवमे केवल पापको ही खाता है'—

मोघमन्न विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

इस ऋचामे प्रयुक्त 'केवलाघो भवति केवलादी' यह अन्तिम चरण वैदिक सस्कृतिकी उत्कृष्टताका प्रतीक है[५]।

'जिस प्रकार न बोलनेवाले ब्रह्मन् (पुरोहित)-की अपेक्षा बोलनेवाला वाक्पटु पुरोहित श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार दाता सदैव अदातासे श्रेष्ठ होता है[६]।'

सूक्तकी आठवीं ऋचा एक प्रहेलिकाके समान है, जो मानव-मनकी चञ्चलताकी ओर सङ्केत करती है। इसम कहा गया है—'जिसके पास एक अश सम्पत्ति है, वह दो अश धनकी कामना करता है, जिसके पास दो अश सम्पत्ति है, वह तीन अश धनवाले पुरुषके पास जाता है और जिसके पास चार अश धन है, वह उससे अधिकवालेके पास जाता है। अल्प धनी अधिक धनीकी कामना करता है[७]।' तात्पर्य यह कि एक-दूसरेकी अपेक्षा सभीको है,

---

१-'य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे। स्थिर मन कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितार न विन्दते'॥ (ऋक्० १०। ११७। २)

२-'स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्'॥ (ऋक्० १०। ११७। ३)

३-'न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्व ।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरण चिदिच्छेत्'॥ (ऋक्० १०। ११७। ४)

ऋक्० (१०। ११७। ४) मे प्रयुक्त 'ओक' ('गृह') शब्दके लिये डॉ० अविनाशचन्द्र लिखते हैं—A home belonging to an inhabitant of the land *bound by ties of kingship A home is not meant only for its members* but also for others in need of food and shelter (Hymns from the Vedas P 199)

४-'पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयासमनु पश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त राय '॥ (ऋक्० १०। ११७। ५)

डॉ० अविनाशचन्द्र इस ऋचाके सदर्भमे लिखते हैं—'The rich man should take a long view of life and think that he may also one day become poor and would need anothers help (Hymns from the Vedas P 199)

५-मनु० (३। ११८)-का—'अघ स केवल भुङ्क्ते य पचत्यात्मकारणात्' तथा गीताका 'यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै । भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'॥ (३। १३)—श्लोक भी इसी उपर्युक्त मन्त्रकी ओर सकेत करता है।

६-'वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्'।(ऋक्० १०। ११७। ७)

७-'एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमान '॥ (ऋक्० १०। ११७। ८)

इस ऋचाके लिये विशेष द्रष्टव्य हैं—वलकर ऋक्सूक्तशती पृ० २९१ नोट ८, 'ग्रिफिथ द हिम्स आफ दि ऋग्वद' पृ० ६२६ नोट ८ विल्सन ऋग्वेद-सहिता विण्टरनित्ज प्राचीन भारताय साहित्यका इतिहास पृ० ८६ म्यार ओ० स० टे० भाग ५ आदि।

सुसज्जित गृहोको देखकर एव अपनी दीन-हीन विपन्न पत्नी तथा जीर्ण-शीर्ण विद्रूप घरको देखकर जुआरीका चित्त सतत हो उठता है। वह निश्चय करता है—'अब में प्रात -कालसे पुरुपार्थका जीवन जिऊँगा। सही रास्तेपर चलकर अपने पारिवारिक जीवनको सुख-समृद्धिसे पूर्ण करूँगा।' किंतु प्रभात होते ही वह पूर्वाभ्यासवश फिर जुआ खेलनेके लिये द्यूतागारका मार्ग पकड लेता है।

तेरहवे मन्त्रम जुआरीको कर्मण्य जीवन जीनेकी प्रेरणा दी गयी है। वास्तवमे जुआ, सट्टा, लाटरी आदिसे धन पानेकी इच्छा मानवकी अकर्मण्य या पुरुषार्थहीन वृत्तिका परिचायक है। वह बिना परिश्रम किये दूसरोका धन हथिया लेना या पा लेना चाहता है। यह प्रवृत्ति उसे पुरुषार्थहीन या निकम्मा बना देती है और अन्तत उसके दुर्भाग्य एव पतनका कारण बनती है। इसलिये ऋषि कहते हैं—'जुआ मत खेलो। खेती करो। अपने पौरुष या श्रमसे उपार्जित धनको ही सब कुछ मानो। उसीसे सुख और सतोपका अनुभव करो। पुरुषार्थसे तुम्हे अमृततुल्य दूध दनेवाली गाय मिलगी, पतिपरायण सेवामयी पत्नीका साहचर्य मिलेगा। सबके प्रेरक भगवान् सूर्यने मुझे यह सदेश दिया है'—

अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृपस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमान ।
तत्र गाव कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्य ॥
(ऋक्० १०। ३४। १३)

—यही इस सूक्तका सामाजिक सदेश भी है।

ऋग्वेदका 'दानस्तुति-सूक्त'

(सुश्री अलकाजी तुलस्यान)

'दानमेक कलौ युगे' यह वचन मनुस्मृति (१। ८६), पद्मपुराण (१। १८। ४४०), पराशर-स्मृति (१। २३), लिङ्गपुराण (१। ३९। ७), भविष्यपुराण (१। २। ११९), बृहत् पराशरस्मृति (१। २२-२३) आदिमे मिलता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हे—*'जेन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान'* (रा० च० मा० ७। १०३ ख)।

शतपथब्राह्मण एव 'बृहदारण्यक'म 'द' की आख्यायिकामे भी मनुष्यका धर्म 'दान' ही निर्दिष्ट है। राजनीतिमे भी 'दान' नीति बडे महत्त्वकी है। महाभारतके अनुशासनपर्वका दूसरा नाम ही 'दानधर्मपर्व' है, फिर 'दानसागर', 'दानकल्पतरु', 'हेमाद्रिदानखण्ड'-जैसे सैकडा विशाल निबन्ध तो एक स्वरसे आद्योपान्त दानकी ही महिमा गाते हें। विष्णुधर्म शिवधर्म बृहद्धर्म एव मत्स्यादि पुराण भी दान-महिमासे भरे हैं। स्कन्दपुराणम दानके २ अद्भुत हेतु, ६ अधिष्ठान ६ अङ्ग, ६ फल, ४ प्रकार और ३ नाशक बतलाय गये हें। प्रिय वचन एव श्रद्धासहित दान दुर्लभ है। वैसे बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई आदि धर्मोम भी दानकी अपार महिमा है पर सबके मूल स्रोत 'ऋग्वेद'के दानसूक्त ही मान्य हें।

'बृहद्देवता' आदिके अनुसार ऋग्वेदम (८। ६८। १५—१९, ५। ३८) सैकडा दानस्तुतियाँ हैं, पर उसके दशम मण्डलका ११७ वाँ सूक्त सामान्यतया दानकी स्तुतिका प्रतिपादन करनेवाला एक बडा ही भव्य सूक्त है। वस्तुत यह परमोच्च अर्थोम 'दानस्तुति' है। इसम दाताकी प्रशसा या सिफारिश नहीं है, वरन् इसके मन्त्र उपदेशपरक हैं। इसमें महान् नैतिक शिक्षा है, जा अन्य दानस्तुतियाम भी दुर्लभ है। यह सूक्त 'भिक्षुसूक्त'के नामसे भी प्रसिद्ध है। इसमे १ से ३ तथा ५ से ८ ऋचाआतक धनवान् व्यक्तिको तथा ऋचा ४ एव ९ म क्षुधार्त याचकको उपदिष्ट किया गया है। इस सूक्तके ऋषि 'आङ्गिरस भिक्षु' हैं।

सूक्तकी पहली ऋचाम कहा गया है—'देवताओने केवल क्षुधाकी ही सृष्टि नहीं की, अपितु मृत्युको भी बनाया हे। जो विना दान दिये हुए ही खाता है, उस खानेवाले पुरुपको भी मृत्युके ही समीप जाना पडता है। दाताका धन कभी क्षीण नहीं होता। इधर दान न करनेवाले मनुष्यका कभी सुख नहीं प्राप्त होता[1]। जा क्षुधाको अन-

१-(क) न वा उ देवा क्षुधमिद्वध ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यव ।
उतो रयि पृणतो नाप दस्यत्युतापृणन् मर्डितार न विन्दते ॥ (ऋक्० १०। ११७। १)
(ख) विष्णुपुराण (३। ११। ७३-७४)-म भी कहा है—अस्नाताशी मल भुङ्क्ते अदत्त्वा विपमश्नुते॥

दानसे शान्त करता है, वह सर्वश्रेष्ठ दाता है। जो दान नहीं करता, जरूरत पडनेपर उसकी भी कभी कोई सहायता नहीं करता अथवा उसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाता तथा जो पुरुष स्वय अन्नवान् होनेपर भी घर आये हुए दुर्बल एव अन्नकी याचना करनेवाले भिक्षुकके प्रति दान देनेके लिये अपने अन्त करणको स्थिर कर लेता है, उसे कभी सुख नहीं मिलता[1]।

अन्नकी कामनासे घर आये हुए याचकको जो अन्न देता है, वही श्रेष्ठ दाता है। उसे सम्पूर्ण फल मिलता है और सभी उसके मित्र हो जाते हैं[2]।

चौथी ऋचा याचक-पक्षके सदर्भमे है। तदनुसार 'वह पुरुष मित्र नहीं है, जो सर्वदा स्नेह रखनेवाले मित्रको अन्नदान नहीं करता। ऐसे पुरुषसे दूर हट जाना ही श्रेयस्कर है। उसका वह गृह गृह नहीं है। अन्न-प्रदान करनेवाले किसी अन्य पुरुषके यहाँ जाना ही उसके लिये श्रेयस्कर है[3]।'

सूक्तकी पाँचवी ऋचामे धनवान् पुरुषको दानके लिये प्रेरित किया गया है। इसम धनकी चञ्चलताका वर्णन करते हुए कहा गया है—'धनवान् पुरुषके द्वारा घर आये हुए याचकको धन अवश्य दिया जाना चाहिये, जिससे याचकको दीर्घमार्ग (पुण्य-पथ) प्राप्त होता है। रथके चक्रके समान धन एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता। वह अन्य पुरुषका आश्रय लेता रहता है[4]।'

'जो प्रकृष्ट ज्ञानवाला है, अथवा जिसकी दानमे अभिरुचि नहीं है, वह व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है। वह अन्न उसकी हानिका ही कारण होता है। जा न देवताका हविष-प्रदानादिसे पोषण करता है, न मित्रवर्गको देता है और केवल स्वय ही खाता है, वह वास्तवमे केवल पापको ही खाता है'—

मोघमन्न विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

इस ऋचाम प्रयुक्त **'केवलाघो भवति केवलादी'** यह अन्तिम चरण वैदिक सस्कृतिकी उत्कृष्टताका प्रतीक है[5]।

'जिस प्रकार न बोलनेवाले ब्रह्मन् (पुरोहित)-की अपेक्षा बोलनेवाला वाक्पटु पुरोहित श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार दाता सदैव अदातासे श्रेष्ठ होता है[6]।'

सूक्तकी आठवीं ऋचा एक प्रहेलिकाके समान है, जो मानव-मनकी चञ्चलताकी ओर सङ्केत करती है। इसम कहा गया है—'जिसके पास एक अश सम्पत्ति है, वह दो अश धनकी कामना करता है, जिसके पास दो अश सम्पत्ति है, वह तीन अश धनवाले पुरुषके पास जाता है और जिसके पास चार अश धन है, वह उससे अधिकवालेक पास जाता हे। अल्प धनी अधिक धनीकी कामना करता है[7]।' तात्पर्य यह कि एक-दूसरेकी अपेक्षा सभीको है,

---

१-'य आध्राय चकमानाय पित्वो उन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे। स्थिर मन कृणुते सेवते पुरातो चित् स मर्डितारं न विन्दते'॥ (ऋक्० १०। ११७। २)

२-'स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्'॥

(ऋक्० १०। ११७। ३)

३-'न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्व ।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरण चिदिच्छेत्'॥ (ऋक्० १०। ११७। ४)

ऋक्० (१०। ११७। ४) मे प्रयुक्त 'ओक' ('गृह') शब्दके लिये डॉ० अविनाशचन्द्र लिखते हैं—A home belonging to an inhabitant of the land bound by ties of kingship A home is not meant only for its members, but also for others in need of food and shelter (Hymns from the Vedas P 199)

४-'पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयासमनु पश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा उन्यमन्यमुप तिष्ठन्त राय '॥

(ऋक्० १०। ११७। ५)

डॉ० अविनाशचन्द्र इस ऋचाके सदर्भमे लिखते हैं—'The rich man should take a long view of life and think that he may also one day become poor and would need anothers help (Hymns from the Vedas P 199)

५-मनु० (३। ११८)-का—'अघ स केवल भुङ्क्ते य पचत्यात्मकारणात्' तथा गीताका 'यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै । भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'॥ (३। १३)—श्लोक भी इसी उपर्युक्त मन्त्रकी ओर सकेत करता है।

६-'वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्'। (ऋक्० १०। ११७। ७)

७-'एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्यति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमान '॥

(ऋक्० १०। ११७। ८)

इस ऋचाके लिये विशेष द्रष्टव्य हैं—वेलकर ऋक्सूक्तशती, पृ० २९१ नोट ८ 'ग्रिफिथ द हिम्स आप दि ऋग्वद', पृ० ६२६ नोट ८, विल्सन, ऋग्वेद-सहिता, विण्टरनित्ज प्राचीन भारतीय साहित्यका इतिहास पृ० ८६ म्यार, ओ० स० टे०, भाग ५ आदि।

अत स्वयको ही धनवान् नहीं मानना चाहिये, अपितु अतिथि याचकको अपना कल्याणकारी मान करके उसे श्रद्धासे धन-दान करना चाहिये। एक धनीकी महत्ता इसीमे है कि वह याचकको धन दे।

सूक्तकी अन्तिम ऋचाम मानव एव मानव-स्वभावकी असमानताकी ओर सकेत है। वहाँ कहा गया है—'हमारे दोना हाथ समान ह, किंतु उनका कार्य भिन्न है। एक ही मातासे उत्पन्न दो गाय समान दुग्ध नहीं देतीं। दो यमज भ्राता होनेपर भी उनका पराक्रम समान नहीं होता। एक ही कुलम उत्पन्न होकर भी दो व्यक्ति समान दाता नहीं हाते[१]।'

अन्तत सम्पूर्ण सूक्तके पर्यालोचनसे यही तथ्य प्राप्त होता है कि वैदिक आर्योंकी दृष्टिमे दान एव दानीकी अपार महत्ता थी। धनीके धनकी सार्थकता उसकी कृपणतामें नहीं, वरन् दानशीलताम मानी गयी है। सम्पूर्ण सूक्तमे दानशीलताकी स्तुति है और इसके प्रत्येक मन्त्र उपदेशपरक हैं।

वैदिक सूक्ति-सुधा-सिन्धु

[१-वेद-वाणी]

१—ऋग्वेदके उपदेश—

१- न स सखा यो न ददाति सख्ये। (१०। ११७। ४)
'वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रको सहायता नहीं देता।'

२- सत्यस्य नाव सुकृतमपीपरन्॥ (९। ७३। १)
'धर्मात्माका सत्यकी नाव पार लगाती है।'

३- स्वस्ति पन्थामनु चरेम। (५। ५१। १५)
'हे प्रभो! हम कल्याण-मार्गके पथिक बन।'

४- अग्ने सख्ये मा रिषामा वय तव। (१। ९४। ४)
'परमेश्वर! हम तरे मित्रभावम दु खी और विनष्ट न हो।'

५- शुद्धा पूता भवत यज्ञियास। (१०। १८। २)
'शुद्ध ओर पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो।'

६- सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रु। (४। ३३। ६)
'पुरुषाने सत्यका ही प्रतिपादन किया है और वैसा ही आचरण किया है।'

७- सुगा ऋतस्य पन्था। (८। ३१। १३)
'सत्यका मार्ग सुखसे गमन करने योग्य है, सरल है।'

८- ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृत। (९। ७३। ६)
'सत्यके मार्गको दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।'

९- दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते। (१। १२५। ६)
'दानी अमर-पद प्राप्त करते हैं।'

१०- समाना हृदयानि व। (१०। १९१। ४)
'तुम्हारे हृदय (मन) एक-से हो।'

११- सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते। (१०। १७। ७)
'देवपदके अभिलाषी सरस्वतीका आह्वान करते हैं।'

१२- उद्बुध्यध्व समनस। (१०। १०१। १)
'एक विचार और एक प्रकारके ज्ञानसे युक्त मित्रजनो, उठो। जागो!!'

१३- इच्छन्ति देवा सुन्वन्त न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। (८। २। १८)
'देवता यज्ञकर्ता, पुरुषार्थी तथा भक्तको चाहते हैं,

१- समौ चिद्धस्तौ न सम विविष्ट सम्मातरा चित्र सम दुहाते। यमयोश्चित्र समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न सम पृणीत ॥ (ऋक्० १०। ११७। ९)

यहाँ प्रथम तीन पङ्क्तियाँ तीन दृष्टान्त-चित्र प्रस्तुत करती हैं और अन्तिम पङ्क्तिमें प्रस्तुत नैतिक वस्तुका निर्देश हुआ है। इस ऋचाके सदर्भम ग्रिफियने उचित हो लिखा है—

All Men should be liberal but we must not expect all to be equally generous
(The Hymns of the Vavda P 626 note 9)

तथा—

Yet mere greatness is no indication of correseponding charity and so a needy person must be discriminating in his approach to rich men for begging (R Ksu Ktasati P 291 note 9)

आलसीसे प्रेम नहीं करते।'

१४- यच्छा न शर्म सप्रथ । (१।२२।१५)
'भगवन्! तुम हम अनन्त अखण्डैकरसपरिपूर्ण सुखाको प्रदान करो।'

१५-सुम्नमस्मे ते अस्तु। (१।११४।१०)
'हे परमात्मन्! हमारे अदर तुम्हारा महान् (कल्याणकारी) सुख प्रकट हो।'

१६-अस्य प्रियास सख्ये स्याम। (४।१७।९)
'हम देवताआसे प्रीतियुक्त मैत्री कर।'

१७-पुनर्ददताघ्नता जानता स गमेमहि। (५।५१।१५)
'हम दानशील पुरुषसे, विश्वासघातादि न करनेवालेसे और विवेक-विचार-ज्ञानवान्से सत्सग करते रह।'

१८-जीवा ज्योतिरशीमहि। (७।३२।२६)
'हम जीवगण प्रभुकी कल्याणमयी ज्योतिको प्रतिदिन प्राप्त करे।'

१९-भद्र नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। (१०।२५।१)
'हे परमेश्वर! हम सबको कल्याणकारक मन, कल्याणकारक बल ओर कल्याणकारक कर्म प्रदान करो।'

२—यजुर्वेदके उपदेश—

१- तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। (३१।१९)
'उस परमात्माम ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं।'

२- अस्माकः सन्त्वाशिष सत्या । (२।१०)
'हमारी कामनाएँ सच्ची हो।'

३- भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनम्। (३०।१७)
'जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है। साना (आलस्य) दरिद्रताका मूल है।'

४- स ज्योतिषाभूम। (२।२५)
'हम ब्रह्मज्ञानसे सयुक्त हो।'

५- अगन्म ज्योतिरमृता अभूम। (८।५२)
'हम तुम्हारी ज्योतिको प्राप्तकर मृत्युके भयसे मुक्त हा।'

६- वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। (२०। २३)
'मैं परमात्माकी महिमामयी ज्योतिका प्राप्त करूँ।'

७- सुमृडीको भवतु विश्ववेदा । (२०।५१)
'सर्वज्ञ प्रभु हमारे लिये सुखकारी हा।'

८- वय देवाना सुमतौ स्याम।
'हम देवताआकी कल्याणकारिणी बुद्धिको प्राप्त करे।'

९- अप न शोशुचदघम्। (३५।६)
'देवगण हमारे पापोको भलीभाँति नष्ट कर दे।'

१०- स्याना पृथिवि न । (३५।२१)
'हे पृथिवी! तुम हमारे लिये सुख देनेवाली हो।'

११- इहैव रातय सन्तु। (३८।१३)
'हमे अपने ही स्थानम सब प्रकारक ऐश्वर्य प्राप्त हो।'

१२- ब्रह्मणस्तन्व पाहि। (३८।१९)
'हे भगवन्! तुम ब्राह्मणके शरीरका पालन (रक्षण) करो।'

३—सामवेदके उपदेश—

१- भद्रा उत प्रशस्तय । (१११)
'हम कल्याणकारिणी स्तुतियाँ प्राप्त हा।'

२- वि रक्षो वि मृधो जहि। (१८६७)
'राक्षसो ओर हिसक शत्रुआका नाश करो।'

३- जीवा ज्योतिरशीमहि। (२५९)
'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्यातिको प्राप्त करे।'

४- न सन्तु सनिषन्तु नो धिय ॥ (५५५)
'हमारी देवविषयक स्तुतियाँ देवताआको प्राप्त हा।'

५- विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञम्। (६११)
'सम्पूर्ण देवगण मेरे मान करने योग्य पूजनको स्वीकार कर।'

६- अह प्रवदिता स्याम्॥ (६११)
'मैं सर्वत्र प्रगल्भतासे बोलनेवाला बनूँ।'

७- य सपर्यति तस्य प्राविता भव। (८४५)
'जा तेरी पूजा करता है, उसका तू रक्षक हो।'

८- मनौ अधि पवमान राजा मेधाभि अन्तरिक्षेण यातवे ईयते। (८३३)
'मनुष्याम शुद्ध होनेवाला अपनी बुद्धिसे उच्च मार्गसे जानकी कोशिश करता है।'

९- जनाय उर्जं वरिव कृधि। (८४२)
'लोगाम श्रेष्ठ बल पैदा करो।'

१०- पुरन्धि जनय। (८६१)
'बहुतसे उत्तम कर्म करनेम समर्थ बुद्धिको उत्पन्न करा।'

११- विचर्षणि , अभिष्टिकृत्, इन्द्रिय हिन्वान , न्याय महित्व आनशे। (८३९)
'विशेष ज्ञानी और इष्टकी सिद्धि करनेवाला अपनी शक्तिको प्रयोगमे लाकर श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है।'
१२- ऋतावृधौ ऋतस्पृशौ बृहन्त क्रतु ऋतन आशाथे। (८४८)
'सत्य बढानेवाले, सत्यको स्पर्श करनेवाल सत्यसे ही महान् कार्य करते है।'
१३- य सखा सुशव अद्रुयु। (६४९)
'जो उत्तम मित्र, उत्तम प्रकारसे सबाके याग्य तथा अच्छा व्यवहार करनवाला है, वह उत्तम हाता है।'
१४- ईडेन्य नमस्य तमासि तिर दर्शत वृषा अग्नि स इध्यते। (१५३८)
'जो प्रशसनीय नमस्कार करने योग्य, अन्धकारको दूर करनेवाला दर्शनीय ओर बलवान् है, उसका तेज बढता है।'

४—अथर्ववेदके उपदेश—

१- स एष एक एकवृदेक एव। (१३। ५। ७)
'वह ईश्वर एक और सचमुच एक ही है।'
२- एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्य। (२। २। १)
'एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाआमे स्तुत्य है।'
३- तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो। (१०। ८। ४४)
'उस आत्माको ही जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता।'
४- रमन्ता पुण्या लक्ष्मीर्या पापीस्ता अनीनशम्। (७। ११५। ४)
'पुण्यकी कमाई मेरे घरकी शोभा बढाये, पापकी कमाईको मने नष्ट कर दिया है।'
५- मा जीवेभ्य प्रमद। (८। १। ७)
'प्राणियोकी ओरसे बेपरवाह मत हो।'
६- वय सर्वेषु यशस स्याम। (६। ५८। २)
'हम समस्त जीवाम यशस्वी होव।'
७- उद्यान ते पुरुष नावयानम्। (८। १। ६)
'पुरुष तुम्ह तेरे लिये ऊपर उठना चाहिय न कि नीचे गिरना।'
८- मा नो द्विक्षत कश्चन। (१२। १। २४)
'हमसे काई भी द्वेष करनेवाला न हो।'
९- सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया। (३। ३०। ३)
'समान गति, समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणयुक्त वाणीसे बोलो।'
१०- मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्यु। (१७। १। २९)
'मुझे पाप और मौत न व्यापे।'
११- अभि वर्धता पयसामि राष्ट्रेण वर्धताम्। (६। ७८। २)
'मनुष्य दुग्धादि पदार्थोसे बढ और राज्यसे बढे।'
१२- अरिष्टा स्याम तन्वा सुवीरा। (५। ३। ५)
'हम शरीरसे नीराग हा और उत्तम वीर बने।'
१३- सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम। (६। ११७। ३)
'हम लाग ऋणरहित होकर परलोकके सभी मार्गोपर चल।'
१४- वाचा वदामि मधुमद्। (१। ३४। ३)
'वाणीसे माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ।'
१५- ज्यागेव दृशेम सूर्यम्। (१। ३१। ४)
'हम सूर्यको बहुत कालतक देखते रह।'
१६- मा पुरा जरसो मृथा। (५। ३०। १७)
'हे मनुष्य! तू बुढापेसे पहले मत मर।'
१७- शतहस्त समाहर सहस्रहस्त स किर। (३। २४। ५)
'सैकडा हाथासे इकट्ठा करो और हजारा हाथासे बाँटो।'
१८- शिव मह्य मधुमदस्त्वन्नम्। (६। ७१। ३)
'मेर लिये अन्न कल्याणकारी ओर स्वादिष्ट हो।'
१९- शिवा न सन्तु वार्षिकी। (१। ६। ४)
'हम वर्षाद्वारा प्राप्त जल सुख दे।'
२०- पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्। (२। १३। १)
'हे भगवन्! जिस प्रकार पिता अपने अपराधी पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप भी इस (हमारे) बालककी रक्षा कर।'
२१- विश्वकर्मन्! नमस्ते पाह्यस्मान्। (२। ३५। ४)
'हे विश्वकर्मन्! तुमको नमस्कार है, तुम हमारी रक्षा करो।'
२२- शत जीवेम शरद सर्ववीरा। (३। १२। ६)
'हम स्वभिलषित पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण होकर सौ वर्षतक जावित रह।'
२३- निर्दुर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्। (१६। २। १)
'हमारी शक्तिशालिनी मीठी वाणी कभी भी दुष्ट स्वभाववाली न हो।'

[२-वेदामृत-मन्थन]

—ऋग्वेदीय सदेश—

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि तेष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थ श्रुत मे मा हासी। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सदधाम्यृत वदिष्यामि। सत्य दिष्यामि तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु मामवतु कारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

(ऋग्वेद, शान्तिपाठ)

मेरी वाणी मनम और मन वाणीम प्रतिष्ठित हो। ईश्वर! आप मरे समक्ष प्रकट हा। हे मन और वाणी! झे वेदविषयक ज्ञान दो। मेरा ज्ञान क्षीण नहीं हो। में नवरत अध्ययनम लगा रहूँ। मैं श्रेष्ठ शब्द बालूँगा, सदा त्य बोलूँगा, ईश्वर मेरी रक्षा करे। वक्ताकी रक्षा करे। मरे ाध्यात्मिक, आधिदेविक ओर आधिभौतिक, त्रिविध ताप ान्त हो।

ानन्ति वृष्णो अरुपस्य शेवमुत व्रध्नस्य शासने रणन्ति। दवोरुच सुरुचो रोचमाना इळा येषा गण्या माहिना गी।

(ऋग्वद ३। ७। ५)

जिनकी वाणी महिमाके कारण मान्य और प्रशसनीय , वे ही सुखकी वृष्टि करनेवाले अहिसाक धनको जानत तथा महत्के शासनम आनन्द प्राप्त करते हैं ओर दिव्यकान्तिसे देदीप्यमान होते हैं।

ातो जायते सुदिनत्वे अह्ना समर्य अ विदथे वर्धमान। ुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥

(ऋग्वद ३। ८। ५)

जिस व्यक्तिने जन्म लिया है, वह जीवनको सुन्दर बनानेके लिये उत्पन्न हुआ है। वह जीवन-सग्रामम लक्ष्य-साधनके हेतु अध्यवसाय करता है। धीर व्यक्ति अपनी मननशक्तिसे कर्मोंको पवित्र करते हैं और विप्रजन दिव्यभावनास वाणीका उच्चारण करते हैं।

स हि सत्यो य पूर्वे चिद् दवासश्चियमीधिरे।
होतार मन्द्रजिह्वमित् सुदीतिभिर्विभावसुम्॥

(ऋग्वद ५। २५। २)

सत्य वही है जो उज्ज्वल है, वाणीको प्रसन्न करता हे ओर जिस पूर्वकालम हुए विद्वान् उज्ज्वल प्रकाशसे प्रकाशित करत हैं।

सुविज्ञान चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्य यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

(ऋग्वेद ७। १०४। १२)

उत्तम ज्ञानके अनुसन्धानकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिके सामने सत्य और असत्य दोना प्रकारक वचन परस्पर स्पर्धा करते हुए उपस्थित होते हे। उनमसे जा सत्य है, वह अधिक सरल हैं। शान्तिकी कामना करनेवाला व्यक्ति उसे चुन लेता हे और असत्यका परित्याग करता है।

सा मा सत्योक्ति परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्य॥

(ऋग्वेद १०। ३७। २)

वह सत्य-कथन सब आरसे मेरी रक्षा करे, जिसके द्वारा दिन और रात्रिका सभी दिशामे विस्तार होता है तथा यह विश्व अन्यम निविष्ट हाता है, जिसकी प्ररणासे सूर्य उदित हाता है एव निरन्तर जल बहता है।

मन्त्रमखर्वं सुधित सुपेशस दधात यज्ञियेष्वा।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति त य इन्द्रे कर्मणा भुवत्॥

(ऋग्वद ७। ३२। १३)

यज्ञ-भावनासे भावित सदाचारीको भली प्रकारसे विवेचित, सुन्दर आकृतिसे युक्त, उच्च विचार (मन्त्र) दो। जा इन्द्रके निमित्त कर्म करता है, उसे पूर्वजन्मके बन्धन छाड देते हैं।

त्रिभि पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मति ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठ रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥

(ऋग्वेद ३। २६। ८)

मनुष्य या साधक हृदयसे ज्ञान और ज्योतिको भली प्रकार जानते हुए तीन पवित्र उपाया (यज्ञ, दान और तप अथवा श्रवण मनन और निदिध्यासन)-से आत्माका पवित्र करता है। अपने सामर्थ्यसे सर्वश्रेष्ठ रत्न 'ब्रह्मज्ञान' को प्राप्त कर लेता है और तब वह इस ससारको तुच्छ दृष्टिसे दखता है।

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्य चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि स रभामहे॥

(ऋग्वेद १०। १३४। ७)

हे देवो! न तो हम हिंसा करते हैं, न विद्वेष उत्पन्न करते हैं, अपितु वेदके अनुसार आचरण करते हैं। तिनके-जैसे तुच्छ प्राणियोंके साथ भी मिलकर कार्य करते हैं।

यस्तित्याज सचिविद सखाय न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलक शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

(ऋग्वेद १०। ७१। ६)

जो मनुष्य सत्य-ज्ञानके उपदेश देनेवाले मित्रका परित्याग कर देता है उसके वचनोंको कोई नहीं सुनता। वह जो कुछ सुनता है, मिथ्या ही सुनता है। वह सत्कार्यके मार्गको नहीं जानता।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यमाहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

(ऋग्वेद १०। ११७। ३)

अन्नकी कामना करनेवाले निर्धन याचकको जो अन्न देता है, वही वास्तवमें भोजन करता है। ऐसे व्यक्तिके पास पर्याप्त अन्न रहता है और समय पडनेपर बुलानेसे, उसकी सहायताके लिये तत्पर अनेक मित्र उपस्थित हो जाते हैं।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयासमनु पश्येत पन्थाम्।

(ऋग्वेद १०। ११७। ५)

मनुष्य अपने सम्मुख जीवनका दीर्घ पथ देखे और याचना करनेवालेको दान देकर सुखी करे।

ये अग्ने नरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवस ।
अप द्वेषो अप ह्वरो ऽन्यव्रतस्य सश्चिरे॥

(ऋग्वेद ५। २०। २)

वास्तवमें 'वृद्ध' तो वे हैं, जो विचलित नहीं होते और अति प्रबल नास्तिककी द्वेषभावनाको एव उसकी कुटिलताको दूर करते हैं।

श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हवि ।
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥

(ऋग्वेद १०। १५१। १)

श्रद्धासे अग्निको प्रज्वलित किया जाता है श्रद्धासे ही हवनमें आहुति दी जाती है हम सब प्रशसापूर्ण वचनासे श्रद्धाको श्रेष्ठ ऐश्वर्य मानते हैं।

स न पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा न स्वस्तये॥

(ऋग्वेद १। १। ९)

जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके कल्याणकी कामनासे उस सरलतासे प्राप्त होता है, उसी प्रकार हे अग्नि! तुम हम सुखदायक उपायोंसे प्राप्त हो। हमारा कल्याण करनेके लिये हमारा साथ दो।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप न शोशुचदघम्॥

(ऋग्वेद १। ९७। २)

सुशोभन क्षेत्रके लिये, सन्मार्गके लिये और ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके लिये हम आपका यजन करते हैं। हमारा पाप विनष्ट हो।

स न सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप न शोशुचदघम्॥

(ऋग्वेद १। ९७। ८)

जैसे सागरको नौकाके द्वारा पार किया जाता है, वैसे ही वह परमेश्वर हमारा कल्याण करनेके लिये हमें ससार-सागरसे पार ले जायँ। हमारा पाप विनष्ट हो।

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोम स्वस्ति भुवनस्य यस्पति ।
बृहस्पति सर्वगण स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु न ॥

(ऋग्वेद ५। ५१। १२)

हम अपना कल्याण करनेके लिये वायुकी उपासना करते हैं, जगत्के स्वामी सोमकी स्तुति करते हैं और अपने कल्याणके लिये हम सभी गणोंसहित बृहस्पतिकी स्तुति करते हैं। आदित्य भी हमारा कल्याण करनेवाले हों।

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वा परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥

(ऋग्वेद ६। ५१। १६)

हम उस कल्याणकारी और निष्पाप मार्गका अनुसरण करें। जिससे मनुष्य सभी द्वेष-भावनाओंका परित्याग कर देता है और सम्पत्तिको प्राप्त करता है।

श नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु श नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
श न सुकृता सुकृतानि सन्तु श न इषिरो अभि वातु वात ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ४)

ज्योति ही जिसका मुख है, वह अग्नि हमारे लिये कल्याणकारक हो, मित्र, वरुण ओर अश्विनीकुमार हमारे लिये कल्याणप्रद हो, पुण्यशाली व्यक्तियोके कर्म हमारे लिये सुख प्रदान करनेवाले हा तथा वायु भी हमे शान्ति प्रदान करनेके लिये बहे।

श नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्ष दृशये नो अस्तु।
श न ओषधीर्वनिनो भवन्तु श नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णु ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ५)

द्युलोक और पृथ्वी हमारे लिये सुखकारक हा, अन्तरिक्ष हमारी दृष्टिके लिये कल्याणप्रद हा, ओषधियाँ एव वृक्ष हमारे लिये कल्याणकारक हा तथा लोकपति इन्द्र भी हम शान्ति प्रदान करे।

श न सूर्य उरुचक्षा उदेतु श नश्चतस्र प्रदिशो भवन्तु।
श न पर्वता ध्रुवयो भवन्तु श न सिन्धव शमु सन्त्वाप ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ८)

विस्तृत तेजसे युक्त सूर्य हम सबका कल्याण करता हुआ उदित हो। चारो दिशाएँ हमारा कल्याण करनेवाली हा। अटल पर्वत हम सबके लिये कल्याणकारक हो। नदियाँ हमारा हित करनेवाली हा और उनका जल भी हमारे लिये कल्याणप्रद हो।

श नो अदितिर्भवतु व्रतेभि श नो भवन्तु मरुत स्वर्का ।
श नो विष्णु शमु पूषा नो अस्तु श नो भवित्र शम्वस्तु वायु ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ९)

अदिति हमारे लिये कल्याणप्रद हों, मरुद्गण हमारा कल्याण करनेवाले हा। विष्णु और पुष्टिदायक देव हमारा कल्याण करे तथा जल एव वायु भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हो।

श नो देव सविता त्रायमाण श नो भवन्तूषसो विभाती ।
श नो पर्जन्यो भवन्तु प्रजाभ्य श न क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भु ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। १०)

रक्षा करनेवाले सविता हमारा कल्याण करे, सुशोभित होती हुई उषादेवी हमे सुख प्रदान करे, वृष्टि करनेवाले पर्जन्य देव हमारी प्रजाओके लिये कल्याणकारक हों और क्षेत्रपति शम्भु भी हम सबको शान्ति प्रदान कर।

श नो देवा विश्वेदेवा भवन्तु श सरस्वती सह धीभिरस्तु।

(ऋग्वेद ७। ३५। ११)

सभी दवता हमारा कल्याण करनवाले हा, बुद्धि प्रदान करनेवाली देवी सरस्वती भी हम सबका कल्याण कर।

त्व हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(ऋग्वेद ८। ९८। ११)

हे आश्रयदाता! तुम ही हमारे पिता हो। हे शतक्रतु! तुम हमारी माता हो। हम तुमसे कल्याणकी कामना करते हैं।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयु प्रतर दधाना ॥

(ऋग्वेद १०। १८। ३)

ये जीव मृत व्यक्तियासे घिरे हुए नहीं है, इसीलिये आज हमारा कल्याण करनेवाला देवयज्ञ सम्पूर्ण हुआ। नृत्य करनेके लिये, आनन्द मनानेके लिये दीर्घ आयुको ओर अधिक दीर्घ करते हुए हम उन्नति-पथपर अग्रसर हो।

भद्र नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।

(ऋग्वेद १०। २५। १)

हे परमश्वर! हमे कल्याणकारक मन, कल्याण करनेका सामर्थ्य और कल्याणकारक कार्य करनेकी प्रेरणा दे।

२—यजुर्वेदीय सदेश—

अग्ने व्रतपते व्रत चरिष्यामि तच्छकेय तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

(यजुर्वेद १। ५)

हे व्रतरक्षक अग्नि! मैं सत्यव्रती होना चाहता हूँ। मैं इस व्रतको कर सकूँ। मेरा व्रत सिद्ध हो। में असत्यको त्याग करके सत्यको स्वीकार करता हूँ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजुर्वेद १९। ३०)

व्रतसे दीक्षाकी प्राप्ति होती है ओर दीक्षासे दाक्षिण्य की, दाक्षिण्यसे श्रद्धा उपलब्ध होती है और श्रद्धासे सत्यकी उपलब्धि होती है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥
(यजुर्वेद ५। ३६)

हे अग्नि! हम आत्मोत्कर्षके लिये सन्मार्गमें प्रवृत्त कीजिये। आप हमारे सभी कर्मोंको जानते हैं। कुटिलतापूर्ण पापाचरणसे हमारी रक्षा कीजिये। हम आपको बार-बार प्रणाम करते हैं।

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥
(यजुर्वेद ३६। १८)

मेरी दृष्टिको दृढ कीजिये, सभी प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें, मैं भी सभी प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ, हम परस्पर एक-दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखें।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
(कृष्णयजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

हम दोनों साथ-साथ रक्षा करें, एक साथ मिलकर पालन-पोषण करें, साथ-ही-साथ शक्ति प्राप्त करें। हमारा अध्ययन तेजसे परिपूर्ण हो। हम कभी परस्पर विद्वेष न करें। हे ईश्वर! हमारे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो।

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः। अप नः शोशुचदघम्॥
(यजुर्वेद ३५। २१)

हे पृथ्वी! सुखपूर्वक बैठने योग्य होकर तुम हमारे लिये शुभ हो, हमें कल्याण प्रदान करो। हमारा पाप विनष्ट हो जाय।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥
(यजुर्वेद ३६। २)

जो मेरे चक्षु और हृदयका दोष हो अथवा जो मेरे मनकी बड़ी त्रुटि हो, बृहस्पति उसको दूर करें। जो इस विश्वका स्वामी है वह हमारे लिये कल्याण-कारक हो।

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥
(यजुर्वेद ३६। ३)

सत्, चित्, आनन्दस्वरूप और जगत्के स्रष्टा ईश्वरके सर्वोत्कृष्ट तेजका हम ध्यान करते हैं। वे हमारी बुद्धिको शुभ प्रेरणा दें।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥
(यजुर्वेद ३६। १७)

द्युलोक शान्त हो, अन्तरिक्ष शान्त हो, पृथ्वी शान्त हो, जल शान्त हो, ओषधियाँ शान्त हों, वनस्पतियाँ शान्त हों, समस्त देवता शान्त हों, ब्रह्म शान्त हो, सब कुछ शान्त हो, शान्त-ही-शान्त हो और मेरी वह शान्ति निरन्तर बनी रहे।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥
(यजुर्वेद ३६। २२)

जहाँ-जहाँसे आवश्यक हो, वहाँ-वहाँसे ही हम अभय प्रदान करो। हमारी प्रजाके लिये कल्याणकारक हो और हमारे पशुओंको भी अभय प्रदान करो।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
(यजुर्वेद ३६। २४)

ज्ञानी पुरुषोंका कल्याण करनेवाला, तेजस्वी ज्ञान-चक्षु-रूपी सूर्य सामने उदित हो रहा है, उसकी शक्तिसे हम सौ वर्षतक देखें, सौ वर्षका जीवन जियें, सौ वर्षतक सुनते रहें, सौ वर्षतक बोलें, सौ वर्षतक दैन्यरहित होकर रहें और सौ वर्षसे भी अधिक जियें।

३—सामवेदीय संदेश—

शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः॥
(सामवेद १। ३। १३)

दिव्य-गुण-युक्त जल अभीष्टकी प्राप्ति और पीनेके लिये कल्याण करनेवाला हो तथा सभी ओरसे हमारा मङ्गल करनेवाला हो।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
(सामवेद २१। ३। ९)

विस्तृत यशवाले इन्द्र हमारा कल्याण करें, सर्वज्ञ पूषा हम सबके लिये कल्याणकारक हों, अनिष्टका निवारण करनेवाले गरुड हम सबका कल्याण करें और बृहस्पति भी हम सबके लिये कल्याणप्रद हों।

८—अथर्ववेदीय संदेश—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
(अथर्ववेद १। ३४। २)

मेरी जिह्वाके अग्रभागमें माधुर्य हो। मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता हो। मेरे कर्ममें माधुर्यका निवास हो और हे माधुर्य! मेरे हृदयतक पहुँचो।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसदृशः॥
(अथर्ववेद १। ३४। ३)

मेरा जाना मधुरतासे युक्त हो। मेरा आना माधुर्यमय हो। मैं मधुर वाणी बोलूँ और मैं मधुर आकृतिवाला हो जाऊँ।

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्।
(अथर्ववेद ११। ४। ११)

प्राण सत्य बोलनेवालेको श्रेष्ठ लोकमें प्रतिष्ठित करता है।

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।
(अथर्ववेद १६। २। ४)

शुभ और शिव-वचन सुननेवाले कानोंसे युक्त मैं केवल कल्याणकारी वचनोंको ही सुनूँ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥
(अथर्ववेद ३। ३०। ५)

वृद्धोंका सम्मान करनेवाले, विचारशील, एकमतसे कार्यसिद्धिमें संलग्न, समान धुरवाले होकर विचरण करते हुए तुम विलग मत होओ। परस्पर मधुर सम्भाषण करते हुए आओ। मैं तुम्हें एकगति और एकमतिवाला करता हूँ।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥
(अथर्ववेद ३। ३०। ७)

समानगति और उत्तम मनसे युक्त आप सबको मैं उत्तम भावसे समान खान-पानवाला करता हूँ। अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान आपका प्रातः और सायं कल्याण हो।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥
(अथर्ववेद ३। २८। ३)

(हे नववधू!) पुरुषोंके लिये, गायोंके लिये और अश्वोंके लिये कल्याणकारी हो। सब स्थानोंके लिये कल्याण करनेवाली हो तथा हमारे लिये भी कल्याणमय होती हुई यहाँ आओ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
(अथर्ववेद ३। ३०। २)

पुत्र पिताके अनुकूल उद्देश्यवाला हो। पत्नी पतिके प्रति मधुर और शान्ति प्रदान करनेवाली वाणी बोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
(अथर्ववेद ३। ३०। ३)

भाई-भाईके साथ द्वेष न करें। बहिन-बहिनसे विद्वेष न करे। समान गति और समान नियमवाले होकर कल्याणमयी वाणी बोलो।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥
(अथर्ववेद १४। १। ४३)

जिस प्रकार समर्थ सागरने नदियोंका साम्राज्य उत्पन्न किया है, उसी प्रकार पतिके घर जाकर तुम भी सम्राज्ञी बनो।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥
(अथर्ववेद १४। १। ४४)

ससुरकी सम्राज्ञी बनो, देवरोंके मध्य भी सम्राज्ञी बनकर रहो, ननद और सासकी भी सम्राज्ञी बनो।

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति।
(अथर्ववेद ९। २। ९)

जिसके अन्नम अन्य व्यक्ति भाग नहीं लेते, वह सब पापासे मुक्त नहीं होता।

हिरण्यस्रगय मणि श्रद्धा यज्ञ महो दधत्।
गृहे वसतु नोऽतिथि ॥

(अथर्ववेद १०। ६। ४)

स्वर्णकी माला पहननेवाला, मणिस्वरूप यह अतिथि श्रद्धा, यज्ञ और महनीयताको धारण करता हुआ हमारे घरमे निवास करे।

तद् यस्यैव विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।
श्रेयासमेनमात्मनो मानयेत्——— ॥

(अथर्ववेद १५। १०। १-२)

ज्ञानी और व्रतशील अतिथि जिस राजाके घर आ जाय, उसे इसको अपना कल्याण समझना चाहिये।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवाश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभि सचते गोपति सह॥

(अथर्ववेद ४। २१। ३)

मनुष्य जिन वस्तुओसे दवताओके हेतु यज्ञ करता है अथवा जिन पदार्थोको दान करता है, वह उनसे सयुक्त ही हो जाता है, क्योकि न तो वे पदार्थ नष्ट होते हैं, न ही उन्हे चोर चुरा सकता है और न ही कोई शत्रु उन्हे बलपूर्वक छीन सकता है।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गाभ्यो जगते पुरुषेभ्य ।
विश्व सुभूत सुविदत्र नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

(अथर्ववेद १। ३१। ४)

हमारे माता-पिताका कल्याण हो। गायो, सम्पूर्ण ससार और सभी मनुष्योका कल्याण हो। सभी कुछ सुदृढ सत्ता शुभ ज्ञानसे युक्त हो तथा हम चिरन्तन कालतक सूर्यको देखे।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षा वनानि स चर गृहेषु गोषु मे मन ।

(अथर्ववेद ६। ४५। १)

हे मेरे मनके पाप-समूह! दूर हो जाओ। अप्रशस्तकी कामना क्या करते हो? दूर हटो, मैं तुम्हारी कामना नहीं करता। वृक्षा तथा वनोके साथ रहो, मेरा मन घर और गायोम लगे।

इय या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसशिता।
ययैव ससृजे घोर तयैव शान्तिरस्तु न ॥

(अथर्ववेद १९। ९। ३)

ब्रह्माद्वारा परिष्कृत यह परमेष्ठीकी वाणी-रूपी सरस्वती-देवी, जिसके द्वारा भयकर कार्य किये जाते हैं, वही हम शान्ति प्रदान करनेवाली हो।

इद यत् परमेष्ठिन मनो वा ब्रह्मसशितम्।
येनैव ससृजे घोर तेनैव शान्तिरस्तु न ॥

(अथर्ववेद १९। ९। ४)

परमेष्ठी ब्रह्माद्वारा तीक्ष्ण किया गया यह आपका मन, जिसके द्वारा घोर पाप किये जाते है, वही हम शान्ति प्रदान करे।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मन षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा सशितानि।
यैरेव ससृजे घोर तैरेव शान्तिरस्तु न ॥

(अथर्ववेद १९। ९। ५)

ब्रह्माके द्वारा सुसस्कृत ये जो पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन, जिनके द्वारा घोर कर्म किये जाते हैं, उन्हींके द्वारा हमे शान्ति मिले।

श नो मित्र श वरुण श विवस्वाछमन्तक ।
उत्पाता पार्थिवान्तरिक्षा श नो दिविचरा ग्रहा ॥

(अथर्ववद १९। ९। ७)

मित्र हमारा कल्याण करे, वरुण, सूर्य और यम हमारा कल्याण करे, पृथ्वी एव आकाशमे होनेवाले अनिष्ट हम सुख देनेवाले हो तथा स्वर्गम विचरण करनेवाले ग्रह भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हो।

पश्येम शरद शतम् । जीवेम शरद शतम्।
बुध्येम शरद शतम् । रोहेम शरद शतम्।
पूषेम शरद शतम् । भवेम शरद शतम्।
भूयेम शरद शतम् । भूयसी शरद शतात्॥

(अथर्ववद १९। ६७। १-८)

हम सौ वर्षतक देखते रहे। सौ वर्षतक जिये, सौ वर्षतक ज्ञान प्राप्त करते रहे, सौ वर्ष तक उन्नति करते रहे, सौ वर्षतक हृष्ट-पुष्ट रहे सौ वर्षतक शोभा प्राप्त करते रहे और सौ वर्षसे भी अधिक आयुका जीवन जियें।

वैदिक जीवन-दर्शन

[मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है स्वयका कल्याण करना। जीवका यथार्थ कल्याण है जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना अथवा भगवत्प्राप्ति। इसके लिये जीवनका प्रत्येक क्षण परमात्मप्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये इनके आराधनमे परिणत होना चाहिये। यह वेद-निर्दिष्ट मार्गके द्वारा जीवनयापन करनेसे ही सम्भव है। जन्मसे मृत्युपर्यन्त तथा प्रात जागरणसे रात्रि-शयनपर्यन्तके सम्पूर्ण कर्तव्योका निर्देश वेदोमें उपलब्ध है। अत यहाँ अनुकरणीय वैदिक जीवन-चर्याके कुछ प्रेरक अश प्रस्तुत हैं। जिनका अनुपालन परम अभ्युदय-प्राप्तिमें सहायक हो सकेगा।—स०]

वैदिक संहिताओंमे मानव-जीवनका प्रशस्त आदर्श

मानवोका कौटुम्बिक आदर्श

माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी आदिके समुदायका नाम कुटुम्ब है। उसके साथ सर्वत प्रथम हम सब मानवोका कैसा धर्ममय प्रशस्त आदर्श होना चाहिये, इसके लिये वेदभगवान् उपदेश देते हैं—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु।

(अथर्व० १। ३१। ४)

—इसका तात्पर्य यह है कि अपने-अपने माता-पिताके प्रति हम सब मानवोका स्वस्तिमय सद्भाव एव प्रशस्त आचरण होना चाहिये, जिससे वे स्वगृहावस्थित प्रत्यक्ष देवरूप माता-पिता सदैव सतुष्ट तथा प्रसन्न बने रह और हम शुभाशीर्वाद देते रहे। अर्थात् वृद्ध माता-पिताकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत उनकी अभीष्ट देववत् परिचर्या करते रहना चाहिये। श्रीरामवत् उनकी प्रशस्त आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है। कदापि कहीं भी प्रमादवश या उच्छृखलतावश उनके साथ कष्टजनक अनिष्ट एव अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिय। वेदभगवान्के इन सदुपदेशमय शब्दोंके द्वारा ऐसी शुभ भावना सदव स्मृतिमे रखनी चाहिये—

यदापिपेष मातर पुत्र प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥

(शु० य० १९। ११)

'जब मैं छोटा-सा सर्वथा असमर्थ शिशु था, उस समय जिस विपुल स्नेहमयी माताकी मधुरतामयी गोदमे लेटकर प्रमुदित होकर जिसके अमृतमय स्तन्यका पान करता हुआ पैरोके आघातद्वारा उसे पीडित करता रहा, अब मैं उसके लालन-पालनादिके द्वारा बडा हो गया हूँ, और वे मरे पूजनीय जनक एव जननी वृद्ध तथा अशक्त हो गये हैं। अत मेरे द्वारा मेरे वे वन्दनीय माता-पिता कदापि किसी भी प्रकारसे पीडित (व्यथित) न हो, प्रत्युत मेरी प्रशस्त सेवा-सत्कार आदिके द्वारा वे सदा सतुष्ट ही बने रहे, इस प्रकार हे परमात्मन्! मैं उनकी सवा एव प्रसन्नताद्वारा आनृण्य (ऋण-भार-निवारण) सम्पादन कर रहा हूँ।'

अतएव अतिधन्य वेदभगवान् परिवारके सभी सदस्योके प्रति ऐसा उपदश देते ह कि—

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना।
जाया पत्य मधुमतीं वाच वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया॥

(अथर्व० ३। ३०। २-३)

'पुत्र पिताके अनुकूल ही कार्य करे, प्रतिकूल कार्य कदापि न करे। माताक साथ भी अच्छे मनवाला बना रहे, खराब मनवाला नहीं, अर्थात् पिता-माता दोनाके प्रति सदा प्रेम—सद्भाव बनाये रहे। इस प्रकार उपलक्षण-न्यायसे पुत्री भी माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करे और भार्या—पत्नी भी अपन स्वामी—पतिक प्रति मधुर—आह्लादक, सुखमयी वाणी ही बोले, अर्थात् द्वेष एव कुभावपूर्वक क्षोभप्रद कटु वाणी कदापि न बोले। इस प्रकार पति भी अपनी धर्मपत्नी—भार्याके प्रति भी वेसी ही अच्छी वाणी बोले, खराब नहीं। भाई भाईके प्रति भी दायभागादि-निमित्तसे विद्वेष न करे, अपितु श्रीराम एव भरतकी भाँति परस्पर प्रमसे अपना स्वार्थत्याग करनेक लिये उद्यत रहे तथा बहिनके प्रति बहिन भी द्वेष न करे बल्कि सदैव प्रेम—सद्भाव बनाय रहे। उपलक्षण-न्यायसे भाई एव बहिन भी परस्पर द्वेष न करे। इस प्रकार परिवारके सभी सदस्य सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि भी अच्छे मनवाले बनकर परस्पर शुभाचरण रखत हुए सुख-सम्पादक भद्रवाणी ही बोलत रह।'

इसलिये वेदभगवान् पुन विशेषरूपसे दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक

यही उपदश देते हैं कि—

सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या॥
(अथर्व० ३। ३०। १)

'मैं (वेदभगवान्) सदुपदेशके द्वारा कुटुम्बके छोटे-बडे—तुम सब सदस्याका हृदय सहृदय यानी परस्पर प्रेम-सद्भावयुक्त बनाता हूँ। समान भाववाला हृदय ही सहृदय कहा जाता है। जैसे अपना यह हृदय अपना अनिष्ट न कभी चाहता है न कभी करता है, प्रत्युत सर्वदा अपना इष्ट ही चाहता एव करता रहता है, वैसे ही जो हृदय अन्याका भी अनिष्ट न कभी चाहता है, न कभी करता है, प्रत्युत इष्ट ही चाहता एव करता रहता है, वह प्रशस्त समभाववाला हृदय ही सहृदय हो जाता है। इस प्रकार मैं तुम्हे सामनस्यका उपदेश देता हूँ, अर्थात् तुम सब अपने मनको अच्छे सस्कारोसे, अच्छे विचारोसे, अच्छे सकल्पोसे एव पवित्र भावनाओसे सदा भरपूर रखो, वैमनस्यका निवारण करते हुए ऐसा सामनस्य सदा धारण करते रहो। मै सहृदय एव सामनस्यके द्वारा विद्वेषाभावसे उपलक्षित प्रेम, सद्भाव, सरलता, सुशीलता, विनय, विवेक आदि गुणासे युक्त शरीरादिके सभी व्यवहाराका तुम्हे कर्तव्यरूपसे बोधन कर रहा हूँ। जैसे गाय अपने सद्योजात अभिनव वत्सके प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है, वैसे ही तुम सब परस्पर विशुद्ध स्नेह रखो और निष्कपट विनम्र—सरल स्वभाव बनाये रहो।'

इस प्रकार वेदभगवान् हम मानवाके गृहामे पूर्वोक्त सद्गुणाके विकासद्वारा स्वर्गीय आनन्दका उपभोग करनेके लिये ऐसा उपदश देकर हमारे लिये कौटुम्बिक आदर्श प्रदर्शित कर रहे हैं।

सुमति-लाभकी प्रार्थना

मानवामे रहा हुआ स्व-पर-हितकर सद्भावनारूप धर्म ही मानवता कहा जाता है, इसीका दूसरा नाम सुमति है। यह सुमति ही मानवको सच्चा मानव बनाकर सद्गुणमयी सुख-सम्पत्तियाके सदा प्रफुल्लित-सुगन्धित-रमणीय-स्वादु-फलाढ्य आनन्दरूपी भवनमे स्थापित कर धन्य बना देती है और जिसमे कुमति बनी रहती है, वह मानव मानव ही नहीं रहता अपितु पूरा दानव बन जाता है तथा विविध विपत्तियाके कुत्सित गर्तमे पडकर दुखी ही बना रहता है।

यह सुमतिकी प्रार्थना प्राचीनतम वेदिक कालसे ही आ रही है। अतएव हमारे अतिधन्य वेदामे भी सुमति-लाभकी प्रार्थनाएँ इस प्रकार की गयी हैं—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।
(ऋक्० १। १५६। ३)

उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
(ऋक्० १। २४। ९)

देवाना भद्रा सुमतिर्ऋजूयता
देवाना रातिरभि नो नि वर्तताम्।
(ऋक्० १। ८९। २ शु० य० २५। १५)

'हे विष्णो! तुझ महान् परमात्माकी सर्वजन-सुखकर-हितकर सुमतिका हम सेवन करते हैं।' सद्गुरु महर्षि आशीर्वाद देता है कि—'हे शिष्य! तुझे उर्वी यानी उदार—विशाल सद्भाववाली एव गम्भीर सुमति प्राप्त हो।' 'हम सब मानव कुटिलतारहित सौम्य—स्व-परहितकर सरल स्वभावका सम्पादन करना चाहते हैं, अत हमे इन महान् देवाकी कल्याणकारिणी भद्रा-सुमतिका लाभ हो, वे महान् कृपालु देव हम सुमतिका दान दे।'

भद्रा-सुमतिके द्वारा अभिनव-सर्जित मानव-जीवन अतीव प्रशस्त—भद्रमय हो जाता है, इसलिये ऋग्वेदसहिताके 'देवाना भद्रा सुमति ' इस मन्त्रपर अध्यात्म-ज्योत्स्नाविवृतिका सस्कृत-व्याख्यान किया गया है जिसका भाव इस प्रकार है—

'देवाके अनुग्रहसे प्राप्त भद्रा-सुमतिके प्रभावसे हम सब मानव सदा सत्यका ही परिशीलन (सेवन) करे, सर्वदा सम-शान्त-प्रसन्न प्रेम एव कृपारूपी अमृतमयी दृष्टिकी पावन वृष्टिसे हम समस्त विश्वका परिसिञ्चन करते रहे, प्राणप्रिया सुन्दरीके समान विश्वहितेच्छुता हृदयमे सदा धारण करे, मन, वाणी एव क्रियामे समभाव रखनेकी प्रीतिका हम वरण करे, सर्वजनके हितकर सत्कार्योंमे अपने मन, वाणी एव शरीरके कर्मोंकी प्रवृत्तियाको लगाते रहे। हम विपत्तियोंमें व्याकुलताका एव सम्पत्तियामे उच्छृखलताका अवलम्बन न करे। अन्याके सुख-दु ख भी अपने सुख-दु खके समान ही इष्टानिष्ट हैं—अर्थात् जैसे हम अपने लिये सुख ही चाहते हैं दु ख नहीं चाहते, वैसे ही हमे दूसरोके लिये भी सुखकी कामना रखनी चाहिये, दु खकी नहीं। इस प्रकारके समभावका सम्पादन करनेका आग्रहशाली स्वभाव हम अङ्गीकार करे, कभी भी उद्वेग करनेवाले वचनका उच्चारण न करे अन्यायसे परधनका हरण न करे, कुत्सित दृष्टिसे परायी स्त्रियाको न देखे। पुरुष-मानव एकपत्नीव्रतका एव पत्नी-मानव पातिव्रत्यका पालन करे। ब्राह्ममुहूर्तमे उठना,

ादि नित्यकर्म, पथ्यभोजन, व्यायाम, सध्यापासना-मन्त्रज व दानादिका प्रतिदिन अनुष्ठान करते स्वाध्याय, सत्सग तासे प्रादुर्भूत यशका उपार्जन कर। रह। अपनी सज्ज ी सर्वथा सुन्दरतम कल्पवृक्षकी शान्त-परमेश्वरकी भक्तिरू न एक क्षणके लिये भी परित्याग न कर। सुखप्रद छायाका ह राक्रम, अहिसा आदि दवगुणाको धारण ब्रह्मचर्य अभय, प -मुक्त-पूर्ण-अद्वय-अनन्त-आनन्दनिधिरूप करें। नित्य-शुद्ध-बु हम अनुसधान बनाये रह।'

आत्माका निरन्तर वृद्धकुमारीके प्रति इन्द्र देवताने कहा कि जैसे तपस्विनी माँग।' इसपर उसने ऐसा वर माँगा कि 'तू मुझसे वरदान पात्रमे बहुक्षीर एव वहुघृतसे युक्त भात 'मर पुत्र काँसीक कार एक ही वाक्यसे उसने पति, पुत्र, खाय' और इस सबका सग्रह कर लिया। वैसे ही यहाँ गाय, चावल आ िसे सभी सद्भाव-सदाचारादि शुभ गुण भी सुमतिक ग्रह हैं। इसलिय गोस्वामी तुलसीदासजी सगृहीत हो जा कहते हैं—

रामचरितमानसम पति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥
जहाँ सुमति तहँ ति ही विविध सद्गुणरूपी सम्पत्तियाकी

अर्थात् सुम कुमति विविध दुर्गुणरूपी विपत्तियाकी। जननी ह, और

र-मित्रता-लाभकी प्रार्थना

स्व-प सहिताम सर्वभूतसुहद् भगवान्‌से मानव शुक्लयजुर्वे र-मित्रता-लाभके लिये प्रार्थना करते हे—

इस प्रकार स्व- स्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
दृते दृ॰ह मा मि र्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥
मित्रस्याह चक्षुषा स (शु० य० ३६। १८)

अर्थात् सर्वजनाके द्वारा आदरणीय-प्रार्थनीय

'हे दृते। भगवन्! या निखिलशाक-सताप-विदारक अनन्तानन्दनिधे मेरे दुर्गुणादिका निवारण करक मुझ मैत्र्यादि परमात्मन्! तू क बना। मनुष्यादि विविध समस्त प्राणिवर्ग सद्भावनासे यु दृष्टिसे दखे, शत्रुकी दृष्टिस नहीं—ऐसी मैं मुझे मित्रकी ँ। मैं सबको मित्रकी सुखकर-हितकर प्रिय प्रार्थना करता हूँ, यह मेरी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा है और हम सब दृष्टिसे दखता दृष्टिसे ही एक-दूसरेका देखते हैं, यह हम मानव मित्रक -प्रतिज्ञा है। अथात् मे समस्त मानवादि सबकी सर्मा आत्मवत् प्रिय मानूँ—कवल प्रिय ही नहीं, प्राणिवर्गको हतकर-सुखकर भी बना रहूँ आर वे भी मुझे किंतु उनका र प्रति हितकर-सुखकर ही बने रह।'

प्रिय मान म हताम भी ऐसी ही प्रार्थनाएँ की गयी हे—
अथर्वसा।

सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु।
(अथर्व० १९। १५। ६)

असपत्ना प्रदिशा म भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मा अभय नो अस्तु।
(अथर्व० १९। १४। १)

मा नो द्विक्षत कश्चन।
(अथर्व० १२। १। १८)

अर्थात् समस्त दिशाओमे अवस्थित निखिल मानवादि प्राणी मेर मित्र—हितकारी ही बने रह और में भी उन सबका हितकर मित्र ही बना रहूँ। समस्त प्रदेशाम अवस्थित जन मेरे प्रति सताप एव उपद्रवके बीजभूत शत्रुभावसे रहित हा। तुम्हारे या अन्य किसीके प्रति भी हम द्वेषभाव नहीं रखते, प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखते ह, इसलिये हमे परस्पर अभय ही बने रहना चाहिये। कोई भी मानव हमारे प्रति द्वेषभाव न रखे, प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखे। इस प्रकार परस्पर मित्रभाव रखनेसे ही मानव सच्चा मानव वनकर सर्वत्र सुखपूर्ण स्वर्गीय दृश्यका निर्माण कर सकता है।

मधुरतापूर्ण समग्र जीवनकी प्रार्थना

कैसे जीना और केसे मरना? ये दो प्रश्न समस्त मानवाके प्रति प्रतिक्षण उपस्थित रहते हं। जेसा जीवन वैसा मरण—यह सामान्य नियम हे। जिसका जीवन मधुर है, उसका मरण भी मधुर ही रहता हे। जिसका जीवन कटु है, उसका मरण भी कटु ही बन जाता है। जो अपने जीवनको सुधारता है, उसका मरण भी स्वत सुधर जाता है, जिसका वर्तमान अच्छा है, उसका भविष्य भी अच्छा ही रहता है। अत स्वत प्रमाण वदभगवान् प्रथम हम अपने इस वर्तमान जीवनको मधुरतापूर्ण ही वनानेके लिये हमारी प्रार्थनाद्वारा इस प्रकार आदश देते हैं—

ॐ मधुमन्मे निक्रमण मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयास मधुसदृश ॥
(अथर्व० १। ३४। ३)

'निक्रमण यानी मरी समस्त प्रवृत्तियाँ मधुरतापूर्ण—सर्वत्र सदा प्रसन्नता-सम्पादक ही बनी रह और परायण यानी मेरी निखिल निवृत्तियाँ भी मधुरतासे युक्त ही होनी चाहिये (जैसे अनीतिपूर्वक परद्रव्य-ग्रहणस निवृत्ति—जो सतोषरूपा है तथा उच्छृखल विषय-लालसाकी निवृत्ति—जो सयमरूपा है—इत्यादि निवृत्तियाँ यहाँ समझनी चाहिय)। जिह्वाक द्वारा में मधुर ही बालता हूँ और मे बाहर-भीतर सवम पूर्ण

सन्मात्र-चिन्मात्र-परमानन्दरूप मधुब्रह्मका ही सतत दर्शन करता रहता हूँ (इस प्रकार मेरा समग्र जीवन मधुमय बन जाय तो मेरी मृत्यु न रहकर मधुमय—अमृतमय ही बन जायगी और मैं मानवताके उच्चतम आदर्शके दिव्यतम शिखरपर आरूढ होकर धन्य एव कृतार्थ बन जाऊँगा)।'

पापिनी लक्ष्मीके निवारणकी एव भद्रा—पुण्यमयी लक्ष्मीके लाभकी प्रार्थना

अन्यायोपार्जिता एव अनातिपूर्वक सगृहीता लक्ष्मी पापिनी लक्ष्मी मानी जाती है। ऐसी दोषपूर्ण लक्ष्मी मानवसमाजमे सघर्ष पैदा कर देती है, जा मानवके लिये दुर्गतिकारिणी होती है और जो लक्ष्मी नीति, धर्म एव परिश्रमसे उपार्जित है, जिसके लिये किसीके प्रति अत्याचार नहीं किया गया वह लक्ष्मी पुण्यमयी भद्रा लक्ष्मी है। वह शिष्ट प्रशसा, यश, पुण्य एव ईश्वर-कृपालाभद्वारा मनुष्यको सद्गति प्रदान करती है। इसलिये अथर्वसहितामे ऐसी प्रार्थना की गयी है—

या मा लक्ष्मी पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराण ॥

(अथर्व० ७। ११५। २)

'जो लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी है—जिसका लोभ मानवको धर्म एव नीतिसे भ्रष्ट कर देता है, शिष्ट मानव जिसका सेवन नहीं करते एव जिसमे प्रीति नही रखते, वस्तुत ऐसी लक्ष्मी लक्ष्मी ही नहीं है, अपितु अलक्ष्मी है। जिस प्रकार वन्दना नामकी लता हरे-भरे वृक्षका शोषण करती है, उसी प्रकार वह मेरा भी शोषण करती है। इसलिये हे सविता देव! उस दोषपूर्ण लक्ष्मीको मेरे समीप मत रहने द, मत आने दे उसे अन्यत्र ही रहने दे। सुवर्णके समान ज्योतिर्मय हस्तवाले सवितादव मुझे धर्म, नीति एव श्रमद्वारा प्राप्त होनेवाला प्रशस्त धन दकर मुझपर अनुग्रह कर।'

इस प्रकार अथर्ववेदके अन्य मन्त्र भी पापमयी लक्ष्मीके निवारणका एव पुण्यमयी लक्ष्मीके लाभका उपदेश द रहे हैं। जैसे—

शिवा अस्मभ्य जातवेदो नि यच्छ।

(अथर्व० ७। ११५। ३)

रमन्ता पुण्या लक्ष्मीर्या पापीस्ता अनीनशम्।

(अथर्व० ७। ११५। ४)

प्र पतेत पाप लक्ष्मि नश्येत प्रामुत मत।

(अथर्व० ७। ११५। १)

अर्थात् हे सर्वज्ञ परमेश्वर! हम कल्याणकारिणी—पुण्यमयी ही लक्ष्मी देना। पवित्र लक्ष्मी ही हमारे गृहोमे रहकर हमे सुखी बनाये और जो पापिनी लक्ष्मी है, उसका नाश हो जाय। हे पापमयी धनरूपी लक्ष्मी! इस गृहसे तू चली जा—अदृष्ट हो जा एव अति दूरस्थलसे भी तू भाग जा।

दुश्चरित-दुर्भावनादिरूप कल्मषोंके निवारणद्वारा ही मानवताका विकास

मानव जबतक दुश्चरित-दुर्भावनादिरूप कल्मषोका निवारण नहीं करता, तबतक उसमे अवस्थित सुप्त मानवताका विकास नहीं होता, इसलिये हमारे अतिधन्य वेदोमे इन कल्मषोंके निवारणके लिये एव अपनी रक्षाके लिये सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे पुन -पुन प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसा वज्रबाहो।
पर्षि ण पारमहस स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥

(ऋक्० २। ३३। ३)

अर्थात् हे रुद्र—दु खद्रावक भगवन्! उत्पन्न हुए समग्र विश्वके मध्यमे अपरिमित ऐश्वर्यसे तू ही एकमात्र श्रेष्ठ है। हे वज्रबाहो! विविध शक्तियोके द्वारा बढे हुए देवोके मध्यमे एकमात्र तू ही अतिशय बढा हुआ महादेव है। वे—आप भगवान् हम सभी मानवोको दुश्चरितरूप पापसे, जो पशुता एव दानवताका विकासक है—अनायास ही पार कर दे, उस पापके दु सङ्ग-दुर्भावना आदि सभी कारणोसे भी हमे पृथक् कर दे।

यदाशसा नि शसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्त ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥

(ऋक्० १०। १६४। ३)

'जागते हुए या सोते हुए अथात् जानते हुए या नहीं जानते हुए हमने झूठी आशासे या कामादि-दोषासे या बुरे सस्कारोसे एव दुष्ट सगतिसे जो-जो दुश्चरितरूप पाप किये है या करते है, अग्नि भगवान् शिष्ट (श्रेष्ठ) पुरुषोंके द्वारा असेवित उन सभी पापमय दुष्कृतोको हम सब मानवोसे अलग करके दूर भगा द।'

उत देवा अवहित देवा उन्नयथा पुन ।
उतागश्चक्रुष देवा देवा जीवयथा पुन ॥

(ऋक्० १०। १३७। १ अथर्व० ४। १३। १)

'हे देवो! आप सब मुझ मानवको अच्छे पुण्यमय सच्चरितरूप मार्गमे जानेके लिये ही सावधान करें, प्रेरित करे तथा हे देवो! विषयासक्तिरूप प्रमादसे मुझ मानवको अलग करके समुन्नत बनाय पुन हे देवो! पाप—अपराध किये हुए या करते हुए मुझ मानवको आप सब पुन उससे

बचाय—रक्षा करे तथा हे देवो! मुझे शोभन, पवित्र, शान्तिमय आनन्दमय, जीवनसे युक्त करे।' यहाँ यह समझना चाहिये कि एक ही भगवान्‌की अनेकविध शक्तिया एव दिव्य विभूतियाका नाम ही देवगण है। इसलिये यह देवोकी प्रार्थना भी वस्तुत भगवत्प्रार्थना ही है।

श्रमोकी पराकाष्ठारूप कृषिके लिये उपदेश

मानव जब श्रमसे मुख मोडता है और नितान्त सुविधाप्रिय, विलासी एव आलसी बन जाता है तथा परिश्रमके बिना मुफ्तम ही धन-धान्यादि-प्राप्तिकी अभिलाषा रखता है, तब उसम मानवता-विरोधी दानवताके पोषक दुर्गुणोकी भरमार हो जाती है। श्रमद्वारा पसीना बहाकर कुटुम्ब-निर्वाहके लिये जिससे धन-धान्यादि प्राप्त किया जाता है, वही कृष्यादि उत्कृष्ट साधन हृदयका शोधक एव मानवताका विकासक बन जाता है। प्रसिद्ध अनेकविध श्रमोमेसे एकमात्र कृषि ही श्रमोकी पराकाष्ठारूप मानी गयी है, अतएव उत्तमताका विरुद (टाइटल) उसे ही दिया गया है। इस समय भारतमे—जहाँ बेकारी एव दरिद्रता नग्नरूपसे नाच रही है और जनसख्या भी अनियन्त्रितरूपसे बढ रही है, वहाँ विशेषरूपसे उत्पादक कृषकवर्गकी समुन्नतिकी खास आवश्यकता है। इसलिये हमारे अतिधन्य वेदभगवान् भी मानवाके प्रति कृषिके लिये इस प्रकार उपदेश देते हैं—

अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमान ।
तत्र गाव कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्य ॥

(ऋक्० १०। ३४। १३)

'हे कितव! तू पाशोसे जुआ मत खेल। जीवन-निर्वाहके लिये तू कृषि कर अर्थात् परिश्रमी बन। नीतिके मार्गसे कमाये हुए धनको बहुत मानता हुआ तू उसमे ही रमण कर अर्थात् सतोष रखकर प्रसन्न रह। उस उत्तम व्यवसायरूप कृषिमे ही गौ आदि पशु भी सुरक्षित रहते हैं एव उसमे ही स्त्री आदि कुटुम्बीजन भी प्रसन्न रहते हैं। ऐसा मुझ मन्त्रद्रष्टा ऋषिके प्रति इन विश्वस्वामी सवितादेवने मानवोको उपदेश देनेके लिये कहा है।'

इस प्रकार अन्य अनेक वेदमन्त्र भी कृषिके लिये ऐसा उपदेश देते हैं—

सुसस्या कृषीस्कृधि।

(शुक्लयजु० ४। १०)

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।

(शुक्लयजु० ९। २२)

नो राजा नि कृषि तनोतु।

(अथर्व० ३। १२। ४)

ते मनुष्या कृषि च सस्य च उपजीवन्ति।

(अथर्व० ८। १०। १२)

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना।

(अथर्व० १२। १। १३)

'हे मानव! तू चावल, गेहूँ आदि अच्छे धान्यवाली कृषि कर। कृषिके लिये, तल्लभ्य निर्वाहके लिये, धनके लिये एव परिवारादिके पोषणके लिये मैं परमेश्वर तुझ मानवको नियुक्त करता हूँ। हमारे राजा या नेता कृषिका अच्छी प्रकारसे विकास एव विस्तार करते रहे। वे सब मानव कृषि एव धान्यका ही उपजीवन करते हैं। शोभन कृषिके द्वारा अभिवर्धित एव सुशोभित हुई भूमि माता हम सभी प्रकारसे समुन्नत एव सुखी बनाये।'

अभ्युदय-प्रयोजक सघट्टनादिका उपदेश

समस्त अभ्युदयाका प्रयोजक है समाजमे एव राष्ट्रम परस्पर सघट्टन, सवदन, सद्भाव तथा अपने ही न्यायोचित भाग (हिस्से)-म एकमात्र सतोष रखना, दूसराके भागाको लेनेकी इच्छा तक भी नहीं करना—यही मानवताका विकास—आदर्श चरित्र है। इसका निखिल वसुधानिवासी मानवोके हितके लिये जगद्गुरु वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते ह—

स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥

(ऋक्० १०।१९१।२)

आप सब मानव धर्म एव नीतिसे सयुक्त हुए परस्पर प्रेमसे सम्मिलित—सघटित बने। सब मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य—हित-प्रिय वाक्याको ही बोले तथा आप सबक मन, सुख-दु खादिरूप अर्थको सबके लिये समानरूपसे जाने। जिस प्रकार पुरातन इन्द्र-वरुणादिदेव धर्म एव नीतिकी मर्यादाको जानते हुए अपने ही हविर्भागको अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार आप सब मानव भी अपन ही न्यायोचित भागको अङ्गीकार करे, अन्यके भागको अन्यायसे ग्रहण मत कर।

अथर्ववेद भी हम इस प्रकारके सघटनका उपदेश देता है—

मा वि यौष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत।

(अथर्व० ३। ३०। ५)

एक दूसरेसे प्रेमपूर्वक सत्य, प्रिय एव हितकर भाषण

वैदिक जीवन-दर्शन

[पृष्ठ ४७२ से आगे]

वैदिक गृह्यसूत्रोमे सस्कारीय सदाचार

(डॉ० श्रीसीतारामजी सहगल 'शास्त्री', एम्० ए० ओ० एल्०, पी-एच्०डी०)

प्राचीन भारतमे अन्तर्हदयकी ग्रन्थियाको सुलझाने तथा भगवत्प्राप्तिके लिये व्यक्तिका जन्मसे लकर मृत्युतकका जीवन सस्कारासे सस्कृत हाता रहता था। इसकी ध्वनि वेदसे ही सुनायी देती है। वेदाका गृह्यसूत्र-साहित्य अपने-आपम वडा व्यापक है, जिसका कारण हमार देशक विस्तृत भूभाग, विविध भाषाएँ, विविध धर्म तथा विविध जातियाकी आचार-धाराएँ रही हैं। आचार-विविधताआके कारण अनेक गृह्यसूत्राकी रचना युक्तिसगत ही प्रतीत होती है।

ऋग्वदके तीन गृह्यसूत्र है—आश्वलायन, शाखायन तथा कौषीतकि। शुक्लयजुर्वेदके दो गृह्यसूत्र हे—पारस्कर और वैजवाप। कृष्णयजुर्वेदके बोधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय, वैखानस, अग्निवश्य मानव, काठक तथा वाराह—ये नौ गृह्यसूत्र हैं। सामवेदके—गोभिल, खादिर तथा जैमिनि—ये तीन गृह्यसूत्र है। अथर्ववदका कोई गृह्यसूत्र नहीं है, उसका केवल वेतानकल्पसूत्र या कौशिकसूत्र प्रसिद्ध है, जिसम गृह्यसूत्रादिके सभी कर्म निर्दिष्ट हैं।

हम यहाँ ऋग्वदीय शाखायन गृह्यसूत्रके प्रधान कर्मोंकी सूची उद्धृत करते हैं, जिससे सब सस्काराका परिचय सम्भव हो सकेगा। उदाहरणार्थ—स्वाध्यायविधि (१। ६), इन्द्राणीकर्म (१। ११), विवाहकर्म (१। १२), पाणिग्रहण (१। १३), सप्तपदक्रमण (१। १४), गर्भाधान (१। १९), पुसवन (१। २०), सीमन्तोन्नयन (१। २२), जातकर्म (१। २४) नामकरण (१। २५), चूडाकरण (१। २८) उपनयन (२। १), वैश्वदेवकर्म (२। १४) समावर्तन (३। १), गृह्यकर्म, प्रवेशकर्म (२, ३ ४), श्राद्धकर्म (४। १), उपाकरण (४। ५), उपाकर्म (४। ७), सपिण्डीकरण-कर्म (४। ३), आभ्युदयिक श्राद्ध-कर्म (४। ४), उत्सर्गकर्म (४। ६), उपरमकर्म (४। ७) तर्पण (४। ९) और स्नातक-धर्म (४। ११)—ये सस्कार सत्ययुगसे लेकर भगवान् राम कृष्ण एव हर्षवर्धनक समयतक जीवन्तरूपम रह। महाकवि कालिदासने इनमसे कुछ सस्काराकी चर्चा अपने ग्रन्थाम की है जैसे—पुसवन (कुमारसम्भव ३। १०), जातकर्म (रघुवश ३। १८), नामकरण (रघु० ३। २१), चूडाकरण (रघु० ३। २८), उपनयन (कुमार० ३। २९), गोदान (रघु० ३। ३), विवाह (कुमार० ६। ४९), पाणिग्रहण (रघु० ७। २१), दशाह (रघु० ७। ७३)। सस्काराके इस वर्णनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हा जाता है कि राजासे रकतक—सबकी परम्परागत इन कर्मोंम श्रद्धा होती थी। यही कारण है कि भारतम समय-समयपर हानवाले आक्रमणकारियोक बर्वरतापूर्ण आक्रमण निष्फल रहे। ये थीं हमार पूर्वजाकी अमर योजनाएँ, जिन्हाने देशको अखण्डित तथा हम स्वाधीन बनाये रखा और जिनके द्वारा सस्कृत होनेके कारण हम सब एकताम आबद्ध रहे।

गृह्यसूत्राम आश्रमाकी व्यवस्थाका व्यापकरूपसे वर्णन मिलता है। ब्रह्मचर्य, विवाह और वानप्रस्थ—ये तीन आश्रम व्यापकरूपसे समाजम प्रचलित रहे। 'तैत्तिरीयसहिता' के एक मन्त्रम प्रकारान्तरसे इनसे सम्बद्ध तीन ऋण कहे गये हैं—'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो य पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी' (६, ३, १०, १३) अर्थात् 'जब ब्राह्मण पैदा होता है ता उसपर तीन ऋण लदे रहते हैं। ऋषि-ऋणके अपाकरणक लिये ब्रह्मचर्यव्रत (शिक्षा), दव-ऋण देनेके लिये यज्ञ (समाज) तथा पितृ-ऋणसे मुक्तिक लिये वह श्रेष्ठ परिवारम विवाह करता है।' 'शाखायनगृह्यसूत्र' के उपनयन-सस्कारम तीना वर्णोंकी अवधिका उल्लख है, जा इस प्रकार है—'गर्भाष्टमषु ब्राह्मणमुपनयेत' (२। १), 'गर्भैकादशषु क्षत्रियम्' (२। ४)। 'गर्भद्वादशेषु वैश्यम्' (२। ५) 'आषाडशाद् वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतकाल ' (२। ७), 'आ द्वाविशात् क्षत्रियस्य' (२। ७), 'आ चतुर्विशाद् वैश्यस्य' (२। ८)। अथात् 'गर्भाधान-सस्कारक बाद आठवें

वर्षमे ब्राह्मणका, ग्यारहवे वर्षम क्षत्रियका तथा बारहवे वर्षम वेश्यका उपनयन-सस्कार करे। विशेष कारणवश इस अवधिम न हानेपर ब्राह्मणके सस्कार सोलह वर्षतक, क्षत्रियके बाईस वर्षतक और वैश्यके चौबीस वर्षतक करनेकी बात कही गयी है। यदि तीनो वर्ण इस अवधिके बीच अपना सस्कार सम्पन्न नहीं कर लेते थे, तो वे उपनयन, शिक्षा तथा यज्ञके अधिकारोसे वञ्चित समझे जाते थे।

आजक युगमे भी शिक्षाको राज्यकी ओरसे अनिवार्य बनानेकी योजना उसी प्राचीन महनीय परम्पराकी ओर सकेत करती है। उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अर्थात् पचहत्तर प्रतिशत लोग उस युगमे शिक्षित ही नहीं होते थे, अपितु वे राष्ट्रम सस्कृत या सस्कारवान् कहलानेक अधिकारी भी होते थ। वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय जीवनका मेरुदण्ड था। यह हमारे जीवनके उत्कर्षकी ध्वजा समझी जाती थी। कुछ आधुनिक शिक्षाके आलोकमे अपनेको प्रबुद्ध माननेवाले भ्रान्तलोग इस व्यवस्थाको हमारी सात सौ वर्षोंकी गुलामीका कारण बतलानेका साहस करते हैं। किंतु प्राचीन कालम जितने भी शक, हूण आदि विदशी जातियाके आक्रमण हुए, उनसे सुरक्षित रखनेकी क्षमता इसी वर्णव्यवस्थाम थी। इस वर्णाश्रमधर्मको माननेवालोम स्वधर्मके प्रति गर्व आर गौरवकी भावना इतनी अधिक थी कि वे दूसरोकी अपेक्षा अपनेको श्रेष्ठ समझते थे।

पाश्चात्त्य चिन्तकोने अपने ग्रन्थाम हृदय खालकर इस उत्कर्षके लिय भारतीयाकी प्रशसा की हे। सिडनीने अपने ग्रन्थ 'भारतीय अन्तर्दृष्टि' मे कहा है कि 'हिदुआने विदेशी आक्रमणो तथा प्राकृतिक प्रकोपाका सामना करनेमे जो शक्ति दिखलायी हे, उसका कारण उनकी अजस्र, अमर आर अजर वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था हे।' इसी तरह सर लारेन्सने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन'म लिखा है— 'हिदुआकी जातीय प्रथाने सघका काम किया है, जिससे उसे शक्ति मिली है और उसने विभिन्न वर्णोको सुसगत रखा है।' गार्डीनरने भी अपनी पुस्तक 'समाजक स्तम्भ' मे लिखा हे—'वर्णाश्रमधर्मने भारतीय विश्वास तथा परम्पराआको जीवन्त रखा है।' पश्चिममे आदर्शोके स्थानपर धन-दौलतको आधार माना गया है, जा बालूकी दीवारकी तरह अस्थिर है।

पर हमारे यहाँ आचार्योका समाजमे ही नहीं, अपितु राष्ट्रभरम आचारसे ही आदर होता था। वे आचरणके क्षेत्रम उदाहरणीय-अनुकरणीय व्यक्ति समझे जाते थे। ईसासे आठ सौ वर्ष पूर्व भगवान् यास्कने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त'म आचार्यका निर्वचन करते हुए लिखा था—'**आचार्य कस्माद्? आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।**' (१।४)—अर्थात् 'आचार्य किसे कहते हं?—जो शिष्यको सदाचरण सिखलाता है अथवा शिष्यको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोको समझा देता हे।' गृह्यसूत्राका तात्पर्य सस्कारके सनिदेशसे है। इन्हीं सस्काराक कारण सम्राट् तपस्वियाक चरण छूकर अपने जीवनको धन्य मानते थ और क्षत्रसे ब्रह्म पूज्यतर समझा जाता था।

परमात्माकी आज्ञामे रहकर कर्म करना चाहिये

देवस्य सवितु सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषा । श नो भवन्तप ओपधी शिवा ॥

(अथर्व० ६। २३। ३)

मन्त्रमें परमात्माकी ओरसे दो आज्ञाएँ हैं—(१) मनुष्य कर्मशील हा, निरुद्यमी न हो तथा (२) परमात्माकी आज्ञाके अनुकूल कर्म कर, उसके प्रतिकूल नहीं। जिससे मनुष्य सत्कर्मी हो सक और असत्कर्मोका त्याग कर सक। इसीका नाम कर्मयोग हे।

इस प्रकार शुभ कर्मोके करनेसे, जल आदि ससारके सभी पदार्थ, हमारे लिये कल्याणकारी हो जायँगे। क्याकि ससारकी रचना कर्मफल भोगवानेके लिये है, अत उत्तम कर्मियाके लिये ससार अवश्य कल्याणकारी होगा।

कर्तव्य-शास्त्रके दा पहलू ह—असत्-कर्मोका त्याग और सत्कर्मोका अनुष्ठान। असत्-कर्मोके त्यागमात्रसे ही मनुष्य धर्मात्मा नहीं बनता, अपितु इसके लिये शास्त्राने सत्कम करनेकी आज्ञा दी है।

वेदोमे गार्हस्थ्य-सूत्र

[गार्हस्थ्य-सम्बन्धी कतिपय प्रमुख महत्त्वपूर्ण एव अत्यन्त उपादेय वैदिक सूत्राको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।]

ऊर्ध्वा धीति प्रत्यस्य प्रयामन्यधायि शस्मन्त्समयन्त आ दिश ।
स्वदामि धर्मं प्रति यन्त्यूतय आ वामूर्जानी रथमश्विनारुहत्॥

(ऋक्० १। ११९। २)

हे विद्वान् स्त्री-पुरुषो! जिस प्रकार रथके उत्तम मार्गको सुविधापूर्वक चलने योग्य बनाया जाता है, जिसस रथपर ~ आर होकर सुविधापूर्वक दूर दशका पहुँचा जा सके उसी प्रकार तुम दोनाकी प्रशसायुक्त जीवन-यात्राम—उत्तम मोक्ष-मार्गम जानेके लिये इस शरीर और आत्माके धारण-पोषणका कार्य प्रतिक्षण चले। हमारी इन क्रियाआपर नियन्त्रण रखने-हतु उपदश करनेवाल गुरुजन हम भलीभाँति प्राप्त हा। मै जिज्ञासु पुरुष, गुरुसे प्राप्त अति प्रदीप्त उज्ज्वल ज्ञानरसका मेघसे गिरत जलके समान उत्तम रीतिसे उपयाग करूँ, रमण करने याग्य रथक समान गृहस्थ-आश्रमको सव ओरसे अन्न, सम्पत्ति और पराक्रम-शक्ति प्राप्त हो।

कथा ते अग्ने शुचयन्त आयार्ददाशुर्वाजभिराशुषाणा ।
उभे यत् तोके तनये दधाना ऋतस्य सामन् रणयन्त देवा ॥

(ऋक्० १। १४७। १)

ह ज्ञानी विद्वान्! पुत्रा तथा पात्रा आदिके विभाजनम दा प्रकारका चरित्र रखनेवाल (अलग-अलग प्रकारका असमान व्यवहार करनवाले) जो मनुष्य अपने लिये पुत्र-पोत्रादिसे पवित्र व्यवहारकी आशा रखते ह, सामवेदम सत्य-व्यवहार क्या कहा हे? वे इसपर केसे वाद-विवाद कर (तात्पर्य यह कि, जो इतने मूर्ख हैं कि सतानाके प्रति असमानताका व्यवहार करक उनस अपने लिये पवित्र व्यवहारकी आशा करते हैं, उनका वेदम सत्य-व्यवहार क्या है, क्या नहीं—इसपर वाद-विवाद करना व्यर्थकी बकवास ही है)।

अनर्वाण वृषभ मन्द्रजिह्व बृहस्पति वर्धया नव्यमर्कै ।
गाथान्य सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ता ॥

(ऋक्० १। १९०। १)

हे विद्वान् गृहस्थ! धर्मयुक्त कामाम रुचि रखनेवाले धर्मोपदश करनवाल शास्त्रवत्ता, शास्त्रानुकूल आचरण करनवाल पेदल धर्म-प्रचार-हतु घूमनवाले अतिथिकी भलीभाँति भाजनादिकी व्यवस्था करा, उनकी सेवा-सत्कार करो।

साध्वपासि सनता न उक्षिते उपासानक्ता वय्यव रण्वित।
तन्तु तत सवयन्ती समीची यज्ञस्य पेश सुदुघ पयस्वता॥

(ऋक्० २। ३। ६)

दिन-रात्रि जिस प्रकार मानवका उत्तम कर्म करनका प्ररणा दते हैं, वस्त्र बुननवाल करघेपर सूत ताने-बानके रूपम निरन्तर शब्द करता हुआ चलता है, उसी प्रकार घरम स्त्री-पुरुष दाना ही उपाकालक समान कान्तियुक्त तथा रात्रिकी सुखनिद्राके समय विश्रामदायक हा। व दाना विनययुक्त कर्म करनेवाल, सुखदाता, परस्पर प्रेमसे परिपूर्ण, हृष्ट-पुष्ट तथा किसी भी कामको करनेम अथवा उसका निषेध करनेम समर्थ हा। वे दाना परस्पर रमणाय मनाहर शब्द बालते हुए एक-दूसरक प्रति आत्मदाना एव सुसगतिजनक गृहस्थ यज्ञक स्वरूपका परस्पर मिलकर भलीभाँति सुन्दर बनाते ह। व परस्परका कामनाआका भलीभाँति पूर्ण करते हुए अन्न-दुग्धादिस भरपूर होकर रह।

प्रातर्यावाणा रथ्यव वीरा ऽजेव यमा वरमा सचेथे।
मने इव तन्वा शुम्भमाने दपतीव क्रतुविदा जनेषु॥

(ऋक्० २। ३९। २)

ह वर और वधू! तुम दाना रथम जुत दो अश्वाक समान या रथम लग दा पहियाके समान एक साथ मिलकर प्रात से ही कार्योम व्याप्त होकर वीर्यवान् वीर होकर, अनुत्पन्न-अनादि दा आत्माआके समान परस्पर एक दूसरक ऊपर प्रमयुक्त हाकर, यम-नियमक पालक एव जितेन्द्रिय हाकर श्रेष्ठ कार्य करो ओर धन प्राप्त करो। तुम दाना परस्पर सम्मान करनेवाल दा स्त्री-पुरुषाके समान या दानो नर-मादा मना पक्षीक समान शरीरसे शाभायमान ओर आदर्श पति-पत्नीके समान दाम्पत्य-सम्बन्धका पालन करते हुए सब मनुष्याक बीच यज्ञ आदि उत्तम कर्म तथा श्रेष्ठ ज्ञानको प्राप्त करक परस्पर मिलकर रहो।

अत्य हवि सचते सच्च धातु चारिष्टगातु स हाता सहोभरि।
प्रसर्स्राणो अनु बर्हिर्वृषा शिशुर्मध्ये युवाजरा विस्रुहा हित ॥

(ऋक्० ५। ४४। ३)

हे मनुष्या! जो दानवीर (हिसित वाणीवाल—कटुभाषी

नहीं हैं अर्थात् सबको सुख देनेवाले) एव मधुरभाषी हैं, व चिरकालतक जरारहित यौवनावस्थाको प्राप्त शक्तिमान् होते हैं, जिस भाँति यज्ञमे आहूत सामग्री रोगोंको नष्ट करके वायुमण्डलको सुगन्धित करती हे, उसी भाँति वे मानव अपनी मधुर, सर्वहितकारी वाणीसे सर्वत्र प्रेमका सचार करते हुए, जैसे मातासे पुत्रको प्रेम प्राप्त होता है, सबसे प्रेम प्राप्त करते हैं।

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रिय सखाय परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इय समने पारयन्ती॥

(ऋक्० ६। ७५। ३)

हे शूरवीर! जैसे धनुषपर प्रत्यञ्चा (अर्थात् धनुषमे लगी ताँत-'डोरी'पर) चढाकर ही शर-सधान किया जाता है, उसी भाँति वीर विदुषी पत्नी अपने प्यारे पतिके साथ हर समय हर प्रकारसे सहयोग करनेके लिये सलग्न रहती है। जैसे धनुषकी प्रत्यञ्चापर शर-सधान करके ही सग्राममे विजय प्राप्त होती है, उसी भाँति (समान-कर्मा) पति-पत्नी समान-कर्म तथा समान-विचारवाले होकर परस्पर सहयोगपूर्वक जीवन-सग्राममे विजयको प्राप्त करते हैं।

य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिर मन कृणुते सेवत पुरोतो चित् स मर्डितार न विन्दते॥

(ऋक्० १०। ११७। २)

जो पालन करने योग्यको, भूखेको, दु खी जनको, भोजनके लिये समीप आये हुएको देखकर अन्न-धनवाला होते हुए भी मनको कठोर कर लेता है (अर्थात् भोजनादि या जो सहायता उसे अपेक्षित हे, नहीं देता) तथा उसको देनेके पूर्व ही खा लेता है, वह दयालु परमात्माको नहीं पाता।

मोघमन्न विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

अनुदार चित्तवाला व्यक्ति अन्न-धनको व्यर्थ ही पाता है। मै सत्य कहता हूँ, उसकी यह मृत्यु ही हे (सचित धनैश्वर्यके अपहरणका भय ही इस सुख-स्वरूप जीवकी अभयतामे सर्वप्रमुख बाधक है, कभी-कभी तो धनके कारण शरीर भी छोडना पडता है), क्योकि वह न तो सत्कर्म, दान तथा उपासनादिद्वारा परमप्रभुको तृप्त करता है, न सहयोग-सहायताद्वारा मित्रोको ही पुष्ट करता है, केवल अपने भोगोकी ही पूर्ति करनेवाला मानव पाप खाता है, साक्षात् पापरूप ही होता है।

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्य ।
यद्दित्ससि स्तुता मघम्॥

(अथर्ववेद २०। २७। ४)

तेरी प्रवृत्ति यदि जगत्के हितार्थ दान देनेकी हो तो तेरे ऐश्वर्यको वढानेसे रोकनेका सामर्थ्य देव भी नहीं रखते, फिर तो सामान्य मनुष्य तेरे ऐश्वर्यवान् होनेमे क्या बाधा बनेगा? [प्रस्तुति—श्रीनाथूरामजी गुप्त]

मित्र और शत्रुके साथ ऐकमत्य

सज्ञान न स्वेभि सज्ञानमरणेभि। सज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥

(अथर्व० ७। ५२। १)

—इस मन्त्रमे एक राष्ट्रके लोगोमे तथा दूसरे राष्ट्रके लोगोमे पारस्परिक एकमत्यकी प्रार्थना है। एकता बिना ऐकमत्यके असम्भव है। यदि प्रत्येकके विचार, उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं तो उस समाजमे एकताका होना कठिन है। अत एकताके लिये ऐकमत्य होना आवश्यक है। राष्ट्रोमे पारस्परिक मैत्रीके प्रस्तावोके पास हो जानेपर भी एकता नहीं हो सकती, यदि उनमे ऐकमत्य नहीं। अतएव इस मन्त्रमे एकमत्यपर बल दिया गया है। निरुक्तकारने 'अश्वि' पदकी व्याख्यामे 'पुण्यकृतौ राजानौ' ऐसा भी कहा है (निरुक्त० १२। १)। अत सम्भव है कि राष्ट्रके दो राजा यहाँ 'अश्विना' पदसे अभिप्रेत हो। राष्ट्रमे दो राष्ट्रिय सघटन होते हैं—सभा और समिति। अत सभापति तथा समितिपति सम्भवत यहाँ अश्विना पदसे ग्रहण किये गये हो।

इसमे श्रुतिका स्पष्ट मन्तव्य यही है कि विश्वके सर्वविध अभ्युदयके लिये—विकासके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि विश्वके विविध पक्षोपर परस्पर दो या उससे अधिक शत्रु अथवा मित्र राष्ट्र एक सर्वमान्य सिद्धान्त एव विचारका पोषण करे। जिससे विश्वके विकासको अपेक्षित गति मिल सके।

वैदिक कालमें सात्त्विक आहार

(श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

मनुष्यके जीवनमे भोजनका अत्यन्त विशिष्ट महत्त्व है। वह जिस प्रकारका भोजन करता है, उससे उसकी प्रकृति एव आचार-विचारका ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीवनका स्वरूप आँका जा सकता है। मनुष्यद्वारा ग्रहण किया हुआ भोजन सूक्ष्म रूपसे मानव-शरीर एव मस्तिष्कको प्रभावित करता है, जबकि इस ग्रहण किये हुए भोजनका स्थूल भाग मल आदिमे बदलकर शरीरके बाहर प्रेषित हो जाता है।

भोजनमे सात्त्विक आकारके विषयमे वैदिक कालसे ही निर्देश दिया गया है, अर्थात् वैदिक कालमे भोजनसे उसकी मानसिकता (मानसिक प्रभाव)-को प्रभावित बताया गया है। सात्त्विक, शुद्ध एव पवित्र आहारसे व्यक्ति शारीरिक-मानसिक एव बौद्धिक रूपोमे अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र उन्नत-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। अत अनेक विद्वानोने भोजनमे प्राय सात्त्विक आहार लेनेपर ही अधिक जोर दिया है।

वेदोमे भोजनकी स्तुति की गयी है[१] तथा बैठकर भोजन करनेका निर्देश दिया गया है[२]। वेदोके साथ ब्राह्मणग्रन्थोमे उल्लेख है कि भोजन दो बार दिनमे करना चाहिये[३]। वृक्षका लाल द्रवरस या वृक्ष काटनेपर जो स्राव निकलता है, उसे नहीं खाना चाहिये[४]। बच्चा देनेपर गायका दूध १० दिनतक नहीं पीना चाहिये[५]। वैदिक यज्ञके लिये दीक्षित व्यक्तिको होमके समाप्त होनेपर ही भोजन करना चाहिये उसके पूर्व नहीं[६]। इसी प्रकार आरण्यक-ग्रन्थोमे भी भोजन-सम्बन्धी कतिपय प्रतिबन्धोका स्पष्ट उल्लेख है[७]।

छान्दोग्योपनिषद्मे वर्णित उषस्ति चाक्रायणकी कथासे ज्ञात होता है कि भोजन न मिलनेपर (आपद्धर्ममे) उच्छिष्ट आदि भी खाया जा सकता है—चाहे वह निम्नजातिके व्यक्तिका जूठा भोजन ही क्यो न हो, ऐसे आपत्तिकालमे प्राणका बचाना कर्तव्य एव धर्म हो जाता है, क्योकि वह अमूल्य होता है[८]। आहार शुद्ध होना चाहिये[९] तथा भोजन करनेके पूर्व और पश्चात् दो बार आचमन करना चाहिये[१०]। भोजन सात्त्विक होना आवश्यक है[११]। भोजनमे अन्नको देवता मानकर उसके सवर्धनकी कामना की गयी है[१२] तथा कहा गया है कि जिसका अन्न दूसरे व्यक्ति खाय वह पुण्यवान् होता है[१३]। अन्न सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योकि १० दिनतक उपवास करनेपर जीवित रहते हुए भी व्यक्ति दर्शन-मनन-श्रवण-बोध-अनुष्ठान आदि अनुभव करनेमे असमर्थ रहता है[१४]। अत अन्नकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनी चाहिये[१५]। अन्नको देवता बताते हुए कहा गया है कि समस्त प्राणी अन्नको ग्रहण करके ही जीवित रहते हैं[१६]। उपनिषद्वर्णित राजा जनश्रुत पौत्रायणके गृहपर अतिथियोके लिये बहुत-सा अन्न पकता था[१७]। मनुष्यद्वारा खाये हुए अन्नका परिणाम तीन प्रकारका होता है—स्थूलभाग मल मध्यभाग मास तथा सूक्ष्मभाग मन बनता है। इसमे शरीर प्राणके आश्रित है तथा प्राण शरीरके। जो मनुष्य यह जान लेता है कि वह अन्नमे ही प्रतिष्ठित है, वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है। अन्नवान्, प्रजावान् एव पशुवान् हो जाता है[१८]। वह ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर महान् बनता है तथा कीर्तिसे सम्पन्न होकर भी महान् ही बनता है। (विहित उपवासको छोडकर) अन्नका कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिये[१९]। अन्नमे अन्न निहित है, अन्नवान् अन्नभक्षक होता है। अन्नकी वृद्धि करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य एव व्रत होना चाहिये[२०]। अन्नसे ही इस पृथ्वीपर रहनेवाले समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं तथा अन्तमे अन्नमे ही विलीन हो जाते हैं और नष्ट होनेके पश्चात् अन्ततोगत्वा एकरूप हो

१-ऋग्वेद १। १८७। १—७ २-वही ६। ३०। ३ ३। ५२। ३—६ ३-वही ३। ५२। ३—६ तैत्तिरीयब्राह्मण १। ४। ९ शतपथब्रा० २। २। २। ६ ४-तैत्तिरीयब्रा० २। ५। १। १ ५-वही २। १। १ ३। १। २ ६-एतरयब्राह्मण ६। ९ कौषीतकिब्रा० १२। ३ ७-ऐतरेय आरण्यक ५। ३। ३ ८-छान्दोग्योपनिषद् १। १०। १—५ ९-वही ७। २६। २ १०-वही ५। २। २ बृहदारण्यकोपनिषद् ६। १। १४ ११-बृहदारण्यकोपनिषद् ६। ४। १ १२-अथर्ववेद ६। १४२ १३-वही ९। ६। २५ १४-छान्दोग्योपनिषद् ७। ९। २ २। ८। ३ १५-वही १। ११। ९ १६-वही ४। १। ४ १७-वही ६। ६। २ १८-तैत्तिरीयोपनिषद् ३। ७ १९-वही ३। ८ २०-तैत्तिरीयोपनिषद् ३। ९

जाते हैं[१]।

सात्त्विक खाद्य पदार्थके रूपम व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उडद), अणु (सावाँ), प्रियगु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खाल्व (वाल) और खाल्कुल (कुल्थी)—ये दस ग्रामीण अन्नका स्पष्ट उल्लेख मिलता है[२]। इसके अतिरिक्त दूधके साथ घीमिश्रित चावल (खीर), दहीमे पकाये चावल, जलमे चावल बनाया भोज्य, तिल-चावलकी खिचडी, उडद-चावलकी खिचडी आदि भोजन करनेका वर्णन है[३]। इसके अतिरिक्त आँवला, बेर (कोल) तथा बहेडेका भी वर्णन है[४] तथा आम्र (आम), गूलर एव पिप्पलफल खानेका विधान भी है[५]।

इस प्रकारसे स्पष्ट है कि सात्त्विक आहार वैदिक कालसे ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है तथा भोजनकी अतिशय शुद्धतापर स्पष्टरूपसे बल दिया गया है। कौन-सा भोजन लाभदायक है तथा कौन-सा हानिकारक है—यह स्पष्ट किया गया है। अत सात्त्विक आहार एव उसको किस प्रकार खाया जाय अथवा न खाया जाय, इस विषयपर अच्छा ज्ञान वैदिक साहित्यासे जानना चाहिये।

[वेदानुगामी शास्त्रोमे भी सात्त्विक आहारपर बहुत बल दिया गया है। आज आहारकी अशुद्धिसे ससार तमोगुणी और अपावन भावनावाला हो गया है। भक्ष्याभक्ष्यका विचार शिथिल हो गया है। अतएव मानव दानवताकी दिशाम बढ चला है। आवश्यकता है कि विश्वमङ्गलके लिये सात्त्विक आहारका अधिकाधिक प्रचार किया जाय। गीता (१७।८)-म बतलाया गया है कि आयु, ओज, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढानेवाला रसीला, चिकना, स्थिर एव हृदयके लिये हितकारी भोजन सात्त्विक जनोको प्रिय होता है। अत हमे सात्त्विक भोजन कर सात्त्विक बनना चाहिये। तभी हम अपना तथा विश्वका कल्याण कर सकेगे।]

नारी और वेद

(प० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, वेदाचार्य धर्मशास्त्राचार्य, मीमासादर्शन-शास्त्री)

विवाहकालमे कन्यादान—पाणिग्रहणके बाद लाजाहोममे कन्या अपने लिये अपने मुखसे 'नारी' शब्दका सबसे पहले प्रयोग करती है (पा० गृ० १।६।२, अ० १४।२।६३), क्योकि इससे पहले उसका नर-सम्बन्ध नहीं रहा है। 'नारीत्व' को प्राप्त करते ही वह दो प्रधान आदर्श अपने सामने अपने ही वचनम जीवनके लिये रखती है—१-'आयुष्मानस्तु मे पति ।', २-'एधन्ता ज्ञातयो मम।' मेरा पति पूर्ण आयुसम्पन्न हो और मेरी जाति (समाज)-की अभिवृद्धि हो। नारी होनेके बाद ही इसे 'सौभाग्य' की प्राप्ति होती है (अ० १४।१।३८, पा० गृ० १।८।९)। सौभाग्यका प्रधान अर्थ पतिकी नीरोग स्थिति है (ऋक्० १०।८६।११)। पतिमती स्त्रियाँ अविधवा (सधवा) कहलाती हैं। घरम सधवा स्त्रियाका प्रथम स्थान है (ऋक्० १०।१८।७)। इनका सर्वदा नीराग, अञ्जन एव घृतादि स्निग्ध पदार्थोंसे विभूषित, मूल्यवान् धातुआसे समलकृत, अश्रुविहीन (ऋक्० १०।१८।७), सुरूपिणी, हँसमुखी (३।५८।८), शुद्ध कर्तव्यनिष्ठ, पतिप्रिया (१।७६।३), सुवस्त्रा (१०।७१।४), विचारशीला (१।२८।३), पतिपरायणा (१०।८५।४७) एव पातिव्रत-धर्मनिष्ठ (पा० गृ० १।८।८) होना चाहिये। इन्हे अपने सत्-कर्तव्यासे सास, ससुर, देवर तथा ननदके ऊपर साम्राज्य प्राप्त करना चाहिये। नारी हानेके साथ ही इनको 'पत्नी' पद भी प्राप्त हो जाता है, जिसके कारण ये अपने पतिके लिये कर्तव्यका फल प्राप्त कर लेती हैं (पाणिनि० ४।१।३३)। शास्त्रीय विधानसे पुरुष-सम्बन्ध होनपर ही स्त्री व्यक्ति-पत्नी कहलाती है। पत्नी पुरुषका आधा स्वरूप है (तै० ब्रा० ३।३।५)। इस पत्नीके विना पुरुष अधूरा रहने (श० ५।२।१।१०)-के कारण सब यज्ञाका अधिकारी नहीं बनता (तै० २।२।२।६)। पत्नी लक्ष्माका स्वरूप ह (श० १३।२।६।७)। इसका पूजन

१-तैत्तिरीयोपनिषद् २।३ २-बृहदारण्यकोपनिषद् ६।३।१३, ३-बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।१६-१७ ४-छान्दोग्यापनिषद् ७।३।१ ५-बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।३६।

(सत्कार) करना चाहिये (मनु० ३। ५६)। पुरुषाद्वारा स्त्रियाकी पूजा उनके कर्तव्यास की जाती है। पुरुषका ससारमे फँसा देनेमात्रस पूजा प्राप्त करनकी योग्यता नहीं हो सकती (१। ९२। ३)। पुरुषाद्वारा सम्मानित हानक कारण स्त्रियाका वैदिक नाम 'मेना' (निरु० ३। ४। २१) ह। पति इसम गर्भरूपमे उत्पन्न हाता है, इसलिय इस 'जाया' कहत हैं (ऐ० ब्रा० ७। १३)। पुत्र-सततिस स्त्रीकी प्रशसा ह (ऋक्० १०। ८६। ९)। बीस सतति हानपर भी जिसक शरीरम विकृति न आव, वह स्त्री महत्त्वशालिनी है (ऋक्० १०। ८६। २३), साधारण स्त्रीम दस सततिका आधान होना चाहिये (१०। ८५। ४५)। अधिक सतति हानेसे जीवन कष्टमय हा जाता ह (२। ३। २०)। स्त्रीक अङ्गाम बाहु, अँगुली (२। ३२। ७), भग (१०। ८६। ६)-की शाभनता, कशाकी पृथुता (१०। ८६। ८), कटिभाग (श० ३। ५। १। ११), जघनकी विशालता (१०।८६।८), मध्यभागका कृशता (श० १।२।५।१६)-की प्रशसा वेदाम मिलती है। स्त्राको इस तरह (लज्जापूर्ण) रहना चाहिये कि दूसरा मनुष्य उसका रूप दखता हुआ भी न देख सके, वाणी सुनता हुआ भी पूरी न सुन सके (अर्थात् मन्दवाणी बालनी चाहिय)(१०। ७१। ४)। स्त्रियाको पुरुषाक सामने भोजन नहीं करना चाहिय (श०१।९।२। १२), स्त्रियाका पुरुषाकी सभाम बैठना उचित नहीं (श०१।३।१।२१), स्त्री-समाजका मुखिया पुरुष हाता है (श० १। ३। १। ९)। सूतका कातना बुनना, फैलाना स्त्रियाका कतव्य है (अथर्व० १४। १। ४५)। स्त्रियाको अपन मस्तकक बालाका साफ रखना चाहिय। मस्तकपर आभूषण भी पहनना चाहिय तथा 'शयन-विदग्धा'—सानम चतुर भी अवश्य हाना चाहिये (यजु० ११। ५६)। स्त्रीके पहन हुए वस्त्र पुरुषका नहीं पहनने चाहिय। इससे अलक्ष्मीका वास होता है (१०। ८५। ३०, ३४)। नारियाको अपन नत्रम शान्ति रखनी चाहिय, पशुआ, मनुष्या अथात् प्राणिमात्रके लिय हितकारिणी एव वर्चस्विनी हाना चाहिये (१०। ८५। ४४)। किसीकी हिसाका भाव नहीं रखना चाहिय (श० ६। ३। १। ३९)। स्त्रीक हाव-भाव-विलासाका प्राकृतिक उदाहरण दकर शिक्षाशास्त्रियाने उच्चारणका प्रकार भी बतलाया ह (या० शि० १। ६९, २। ६३, ६७, ७०)। स्त्रीका पति श्वशुर, घर एव समाजकी पुष्टिका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिय (अ० १४। २। २७)। पति-पत्नीका सम्बन्ध सुगम एव कल्याणप्रद है। इस मार्गके आश्रयस हानि नहीं हाती, अपितु प्रशसा एव धनका लाभ प्राप्त होता है (अ० १४। २। ८)। वैदिक मार्गक अनुकरणसे दम्पति अपन ससारक दुर्गम मार्गको सुगमतासे पार कर सकत हैं (अ० १४। २। ११)।

इस सक्षिप्त लेखम ऋ०—ऋग्वेद, य०—यजुर्वेद (शुक्ल), सा०—सामवद, अ०—अथर्ववेद, श०—शतपथब्राह्मण, नि०—निरुक्त, या० शि०—याज्ञवल्क्य शिक्षा पा० गृ०—पारस्कर गृह्यसूत्रका सकेत है।

वैदिकयुगीन कृषि-व्यवस्था

(प्रो० श्रीमाँगीलालजी मिश्र)

वेदोम प्राचीन वैदिक आर्योक आर्थिक जीवनका विशिष्ट वर्णन उपलब्ध हाता हे। उनको देखनेसे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्योम कृषि-कर्मका प्रचार तथा प्रसार विशेष रूपसे था। उनकी जीविकाका प्रधान साधन खेती तथा पशु-पालन था। कृषि एव कृषकाके सम्बन्धम ऋग्वेदम उल्लेखनीय चित्रण किया गया है। आर्य कृषिको बडा महत्त्व दते थ। वदिक उपदश है—'जुआ खेलना छाड दो और खती करनेका अभ्यास करो'—

अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व०।

(ऋक्० १०। ३४। १३)

क्षेत्र (खेत)

ऋग्वदम क्षेत्र (खेत) शब्दका प्रयाग इस बातका स्पष्ट सकेत करता है कि अलग-अलग खेताका अस्तित्व था (ऋक्० १०। ३३। ६)। कुछ स्थलापर यह शब्द कृषि-भूमिका द्योतक है (ऋक्० १। १००। १८)। अथर्ववेदमे और बादक ग्रन्थाम भी इस शब्दसे पृथक् एक अन्य प्रकारके खतका आशय स्पष्ट है।

खेत दो प्रकारक होते थे—उपजाऊ (अप्नस्वती) तथा बजर (आर्तना) (ऋक्० १। १२७। ६)। ऋग्वेदके अनुसार खेत सतर्कतापूर्वक नपे होते थे। यह तथ्य कृषिके

लिये भूमिपर वैयक्तिक प्रभुत्वका स्पष्ट सकेत करता है। इस निष्कर्षकी पुष्टि ऋग्वेदके एक सूक्त (८।९१।५)-द्वारा भी होती है, जिसम अपालाका अपने पिताकी उर्वरा भूमिपर प्रभुत्व उसी समान माना गया है, जसे उसके सिरके बाल उसके व्यक्तिगत अधिकारम थे। भूमि विजित करना (उर्वराजित्) आदि विशेषण भी इसी मतके अनुकूल है, जबकि एक देवताके लिये प्रयुक्त (ऋक्० ८। २१। ३) 'भूमिका स्वामी' सम्भवत मानवीय विशेषण (उर्वरापति)-का स्थानान्तरण मात्र है। तैत्तिरीय (३। २), काठक (५। २) और मैत्रायणी (४। १२। ३) सहिताआम खेताकी विजयका भी उल्लेख है। पिशल (वैदिश स्टूडियन)-का विचार है कि यह अधिक सम्भव है कि कृषि भूमिके चारा ओर घासयुक्त भूमि-सम्पत्ति रही होगी। वैदिक साहित्यम किसी प्रकारके सम्पूर्ण जातिके प्रभुत्वके आशयम किसी जातिगत (सामूहिक) सम्पत्तिका कोई सकेत नहीं है और न जातीय कृषिका ही (बेडेन पावेल—इडियन विलेज कम्युनिटी, १८९९)। छान्दोग्य-उपनिषद् (७। २४। २)-की सम्पत्तिक उदाहरण-स्वरूप दी गयी वस्तुआके अन्तर्गत खेत आर घर (आयतनादि) भी आते हैं। अधिकाश अवस्थाआम एक परिवार भूमिके हिस्साको बिना बाँटे ही सम्मिलित रूपस रखता था। भूमि-सम्पत्तिक उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम सूत्रा (गौतमधर्मसूत्र १८।५, बाधा० धर्म० २।२।३, आप० धर्म० ३।६।१४)-के पहले नहीं मिलते।

गाँवकी सामाजिक अर्थव्यवस्थाके सम्बन्धम वेदिक साहित्य बहुत कम विवरण प्रस्तुत करता है। इस बातको सिद्ध करनेके लिये कोई सामग्री नहीं है कि लोग भूमिपर सामुदायिक अधिकार रखत थे, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है। भूमिपर व्यक्तिगत अधिकार ही प्रचलित था, किंतु व्यवहारत इसका आशय भूमिपर एक व्यक्तिकी अपेक्षा एक परिवारके अधिकारसे है। फिर भी 'गाँवकी इच्छा रखनेवाला' (ग्राम-काम)—इससे सम्बन्धित व्याहृति, जा बादकी सहिताओ (तैत्ति० २।१।१।२, मैत्रा० २।१। ९ आदि)-म प्राय मिलती है, वह इस प्रचलनका सकेत करती है कि जहाँतक फसली विषयाका सम्बन्ध था राजा गाँवापरके अपने राजकीय विशेषाधिकार अपने प्रिय पात्राका प्रदान कर देता था। बेडन पावेल (इडियन विलज कम्युनिटी)-के अनुसार बादम यह विचार विकसित हो गया कि राजा भूमिका स्वामी है और इसी विचारके समानान्तर यह दृष्टिकोण भी विकसित हुआ कि उक्त प्रकारसे भूमि प्राप्त करनेवाले लोग जमींदार होते हैं, किंतु इन दानामस किसी भी विचारको पुष्ट करनेके लिये वैदिक साहित्यम 'ग्राम-काम' शब्दके अतिरिक्त अन्य कोई सकेत नहीं है।

कृषि-कर्म

वेदिक कालम कृषि-कर्मके प्रकारापर दृष्टिपात करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय खेती आजकी भाँति ही होती था। इसम सदह नहीं कि ईरानियासे पृथक् होनेसे पूर्व ही भारतीय कृषिसे परिचित थे। यह ऋग्वेदके **'यवकृष्'** और **'सस्य'** तथा अवस्ताकी **'यओ करेश'** और **'हड्य'** व्याहृतियाकी समानतास स्पष्ट होता है, जिनस जोतकर बोये हुए बीज आर उनस उपजे हुए अन्नका आशय हैं। किंतु यह बात भी महत्त्वहान नहीं कि जोतनेसे सम्बद्ध व्याहृतियाँ प्रमुखत ऋग्वेदके केवल प्रथम तथा दशम मण्डलाम ही प्राप्त होती है आर तथाकथित पारिवारिक मण्डला (२।७)-म अत्यन्त दुर्लभ हैं। अथर्ववेद (८। १०। २४)-म कृषि आरम्भ करनेका श्रेय पृथुको दिया गया है। ऋग्वेद (८। २२। ६)-के अनुसार अश्विनीकुमाराने सर्वप्रथम आर्य लोगाको हल (वृक)-क द्वारा बीज बोनेकी कला सिखलायी ('दशस्यन्ता मनवे पूर्व्य दिवि यव वृकेण कर्षथ ')। बादकी सहिताआ आर ब्राह्मणामे भी कृषिका बार-बार उल्लेख है।

वेदिक युगमे खेत (उर्वर-क्षेत्र)-को हलासे जोतकर बीज बोनेके योग्य बनाया जाता था। हलका साधारण नाम 'लागल' या 'सिर' था, जिसके अगले नुकीले भागको 'फाल' कहते थे। इसकी मूठ बडी कठोर और चिकनी होती थी (सोमसत्सरु, अथर्व० ३। १७। ३)। हलम एक लबा मोटा बाँस बाँधा जाता था। (ईषा) जिसके ऊपर जुआ (युग) रखा जाता था, जिसम रस्सियासे बैलाका गला बाँधा जाता था। हल खींचनेवाले बैलाकी सख्या छ , आठ और बारहतक होती था, जिससे हलके, भारी तथा बृहदाकार होनेका अनुमान किया जा सकता है। हलवाहा (कीनाश) अपने पैना (चाबुक या तोत्र)-स इन बैलाको हाँकता था।

वेदिक कालम वैश्य हा प्राय खेती किया करत थे। खेत उपजाऊ होते थे। उनके उपजाऊ न होने

डालनेकी व्यवस्था थी। खादके लिये गायका गोबर (करीप) काममे लाया जाता था। यह अथर्ववेद (४। २। ७)-द्वारा प्रकट होता हे कि खेताके लिये पशुआकी प्राकृतिक खादका महत्त्व स्वीकार किया जाता था।

कृषि-सम्बन्धी विभिन्न क्रियाएँ शतपथब्राह्मण (१। ६। १। ३)-म स्पष्टरूपसे इस प्रकार वर्णित हैं—'जोतना, बोना, काटना ओर माडना (कृषन्त वपन्त लुनन्त मृणन्त)। पकी फसलको हँसिया (दात्र, सृणि)-से काटा जाता था, उन्ह गट्ठराम बाँधा जाता था (दर्ण) और अन्नागार (खन)-की भूमिपर पटका जाता था। इसके बाद या तो चलनी (तितउ)-से चालकर अथवा शूर्पसे ओसाकर तृण-भरे भूसेसे अनाजको अलग कर लिया जाता था (ऋक्० १०। ७१। २)। ओसानेवालेको 'धान्याकृत्' (ऋक्० १०। ६४। १३) कहा जाता था। एक पात्रमे जिसे 'उर्दर' कहते थे, उसीमे अन्नको भरकर नापा जाता था।

उपार्जित अन्नके प्रकारोके सम्बन्धम ऋग्वेद हम अनिश्चित रखता है, क्याकि 'यव' एक सदिग्ध आशयका शब्द है ओर 'धाना' भी अस्पष्ट है। बादकी सहिताआ (बाज० सहिता)-म वस्तुस्थिति भिन्न हे। यहाँ चावल (व्रीहि) आता है और 'यव' का अर्थ 'जौ' तथा उसकी एक जातिका नाम उपवाक है। मुद्ग, माष, तिल तथा अन्य प्रकारके अन्न जैसे अणुखल्व, गोधन, नीवार, प्रियङ्गु मसूर, श्यामाक तथा उर्वारु और उर्वारुकका भी उल्लेख है। यह निश्चित नहीं है कि फलाके वृक्ष लगाये जाते थे अथवा वह वनोम स्वत उगते थे। ऋक्० ३। ४५। ४ मे पके फल तोडनेका उल्लेख है, किंतु कर्कन्धु, कुवल, बदरका प्रचुरतासे उल्लेख है।

ऋतु

कृषिकी ऋतुआका तैत्तिरीय सहिता (७। २। १०। २)-मे सक्षिप्त उल्लेख है—'जौ' ग्रीष्म ऋतुम पकता था और इसमे सदह नहीं हे कि जैसा इस समय भारतमे होता है, इसे जाडेम बोया जाता था। चावल (धान) शरद् ऋतुम पकता था तथा वर्षाके आरम्भमे बोया जाता था, परतु माष ओर तिल ग्रीष्म ऋतुकी वर्षाके समय बोया जाता था और जाडेमे पकता था। तैत्तिरीय सहिता (५। १। ७। ३)-के अनुसार वर्षमे दो बार फसल (सस्य) काटी जाती थी। कौषीतकिब्राह्मण (१९। २)-क अनुसार जाडेकी फसल चैत्र महीनेतक पक जाती थी।

कृषकाको अनेक कठिनाइयाँ होती थीं। बिलम रहनेवाले जीव (जैसे—चूहे-छछुदर आदि) बीजाको नष्ट कर देते थे, पक्षी और विभिन्न प्रकारके सर्पश्रेणीके अन्य जीव (उपक्वस, जम्य, तर्द, पतग) नये अकुराको हानि पहुँचाते थे, अतिवृष्टि तथा अनावृष्टिसे भी फसलको क्षति पहुँचती थी। अथर्ववेदम इन विपत्तियासे बचावके लिये अभिचारीय मन्त्र दिये गये हैं। छान्दोग्य-प्रामाण्यके अनुसार टिड्डिया (मटची)-से भी बडी हानि होती थीं। कभी-कभी ये पूरा देश-का-देश साफ कर डालती थी। एक बार टिड्डियाके कारण समग्र कुरु जनपदके नष्ट होनेकी घटनाका उल्लेख किया गया है—'मटचीहतेषु कुरुषु' (छान्दोग्य० १। १०। १)।

वृष्टि

वैदिक आर्य लोग अपने कृषि-कर्मके लिये वृष्टिपर ही अवलम्बित रहते थे। इसी कारण वेदम वृष्टिके देवताका प्राधान्य माना गया है। वृष्टिको रोकनेवाले दैत्यका नाम था वृत्र (आवरणकर्ता), जो अपनी प्रबल शक्तिसे मेघाके गर्भमे होनेवाले जलको रोक देता था। इन्द्र अपने वज्रसे वृत्रको मारकर छिपे हुए जलको बरसा देता था तथा नदियाको गतिशील बनाता था। वैदिक देवता-मण्डलमें इन्द्रकी प्रमुखताका रहस्य आर्योके कृषिजीवी होनेकी घटनाम छिपा है।

सिंचाई

उस समय खेताकी सिंचाईका भी प्रबन्ध था। एक मन्त्रम जल दो प्रकारका बतलाया गया है—'खनित्रिमा' (खोदनेसे उत्पन्न होनेवाला) तथा 'स्वयजा' (अपने-आप होनेवाला, नदी-जल आदि) (ऋक्० ७। ४९। २)। कूप (कुआँ) कवट (खोदकर बनाये गये गड्ढे)-का उल्लेख ऋग्वेदके अनेक स्थलामे मिलता है। ऐसे कुआका जल कभी कम नहीं होता था। कुओसे पानी पत्थरके बने चक्के (अश्मचक्र)-से निकाला जाता था, जिनम रस्सिया (वरत्रा)-के सहारे जल भरनेवाले कोश बँधे रहते थे (ऋक्० ११। २५। ४)। कुएँसे निकालनेके बाद जलको लकडीके बने पात्र (आहाव)-म उडेला जाता था। कूपोंका उपयोग मनुष्या तथा पशुआके निमित्त जल निकालनेके लिये ही नही किया जाता था, बल्कि कभी-कभी इनसे सिंचाई भी होती थी। कुआका जल बडी-बडी नालियासे बहता हुआ खताम पहुँचता (ऋक्० ८। ६९। १२) आर उनको उपजाऊ बनाता था। कुआसे जल निकालनेका यह ढग अब भी पजाब तथा दिल्लीके आस-पासके क्षेत्राम देखनेको मिलता है। ऋग्वेदम 'कुल्या'

या है। मुईरके अनुसार सम्भवत यह जलाशयम कृत्रिम जल-धाराओका द्योतक है। आज भी नको खेतोमे पहुँचानेवाली छोटी नहरको कूल्ह ही कहते हैं।

क्षेत्रपति

आर्योके जीवन-निर्वाहके लिये कृषिका इतना त्त्व एव उपयोग था कि उन्हाने 'क्षेत्रपति' नामक की स्वतन्त्र सत्ता मानी हे तथा उनसे क्षेत्राके न्न होनेकी प्रार्थना की है। क्षेत्रपतिका वर्णन ऋग्वेद (४। ५७। ८)-मे इस प्रकार उपलब्ध होता है—

शुन न फाला वि कृषन्तु भूमि
शुन कीनाशा अभि यन्तु वाहै।
शुन पर्जन्यो मधुना पयोभि
शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥

अर्थात् 'हमारे फाल (हलका अग्रभाग) सुखपूर्वक पृथ्वीका कर्षण कर। हलवाहे (कीनाश) सुखपूर्वक बैलासे खेत जोते। मेघ मधु तथा जलसे हमारे लिये सुख बरसाये तथा शुनासीर हम लोगामे सुख उत्पन्न करे।'

वैदिक युगमे राष्ट्रध्वज

(श्रीयोगेशचन्द्रजी शर्मा)

की परम्परा सभ्यताके आदिकालसे ही रही है। ध्वजका उद्देश्य किसी स्थान-विशेषकी पहचान मात्र रहा होगा। कालान्तरमे ध्वज स्थान-विशेषके वर्ण, वर्ग या विचारधारा-विशेषके भी प्रतीक हो दनुसार ध्वजके आकार, प्रकार और रगाम भी एँ आ गयीं। ये ही ध्वज आगे चलकर राष्ट्रिय रूपम परिवर्तित हो गये।

रे यहाँ राष्ट्रिय ध्वजकी चर्चा वैदिक कालम भी हुई है। दके कुछ मन्त्रा (जैसे—५। २१। १२, ११। १२। २ १। १०। ७)-मे राष्ट्रिय ध्वजके आकार-प्रकारका ल्लेख है। इन मन्त्रोके अनुसार उन दिनाे राष्ट्रिय रग लाल होता था तथा उसपर श्वेत रगम सूर्यका अकित होता था। राष्ट्रिय ध्वजका यह स्वरूप हमारी त और प्रवृत्तिका प्रतीक था।

लाल रग रक्त या हिसाके प्रतीकके रूपमे नहीं, अपितु प्रतीक-रूपमे था। प्रेम और स्नेहका रग भी यहाँ लाल माना गया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारासे युक्त हमारे देशकी सस्कृतिने सदैव राष्ट्रिय सद्भावनाका परिचय दिया है तथा प्राणिमात्रक णकी कामना करते हुए 'सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे निरामया' की भावना व्यक्त की हे। उसी आपसी प्रेम, ारा और सम्पूर्ण विश्वके हितकी कामना राष्ट्रिय ध्वजके रगमे समायी हुई थी।

सूर्यका तेज हमारे लिये सदैव प्रेरणाका स्रोत रहा है और इसलिये ऋग्वेदकी प्रारम्भिक ऋचाओमे भी हमे सूर्य-उपासनाकी बात पढनेको मिलती है। सूर्य प्रकाश एव शक्तिका भण्डार है। इस रूपमे वह हमारे लिये प्रेरक भी है और राष्ट्रिय क्षमताआका प्रतीक भी। प्रकाशसे अभिप्राय केवल उजालेस ही नहीं, अपितु सत्य तथा ज्ञानकी प्राप्तिसे भी है। असत्य और अज्ञानके अन्धकारको मिटाकर हम सदेव सत्य और ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील रहते है। परब्रह्म प्रभुसे भी हमारी कामना यही रही है—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृत गमय॥

प्रकाश-पुञ्ज सूर्यको अपने राष्ट्रिय ध्वजमे स्थान दनेके पीछे भी हमारी भावना उसी सत्य और ज्ञानके प्रकाशको प्राप्त करनेकी रही है। इसी प्रकार सूर्यकी शक्तिको अपनानेका अर्थ किसी भौतिक शक्ति या अत्याचार करनेकी शक्तिको अपनानेमे नहीं है। ऐसा करना तो किसी भी रूपम हमारी सस्कृतिका अग रहा ही नहीं। शक्तिसे अभिप्राय बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिसे रहा है। हम अपन वैदिक ऋषिया तथा अन्य मनीषियाके समान ही अपनी बोद्धिक क्षमताआको विकास करके प्रतिभासम्पन्न बने। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न सूर्यको अपने ध्वजमे स्थान देकर वैदिक कालसे विद्वानाने नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियासे सम्पन्न होनेकी कामना व्यक्त की है। हमारी सस्कृति नैतिक एव आध्यात्मिक विजयकी सस्कृति रही

है। भौतिक शक्ति तथा भौतिक विजयको तो हमारे यहाँ सदैव हेय-दृष्टिसे देखा गया।

सूर्यके चिह्नको श्वेत-वर्णमें अंकित करना भी महत्त्वपूर्ण है। श्वेत-वर्ण शान्तिका प्रतीक है। शक्ति-पुञ्ज सूर्यको श्वेत-वर्णमें अंकित करनेका अभिप्राय यह है कि हम शक्ति और शान्ति दोनोंकी उपासना करते हैं। जन-विरोधी कार्योंका दमन करनेके लिये हम शक्तिको अपनाते हैं, परंतु जन-हितकारी कार्योंके लिये हम शान्तिके अग्रदूत हैं। वैदिक साहित्यमें केवल आक्रमणकारियों और अत्याचारियोंके विरुद्ध ही युद्ध करनेकी बात कही गयी है, अन्यत्र नहीं। साम्राज्य-प्रसारके लिये तो युद्धकी बातका कहीं उल्लेख है ही नहीं। युद्धके बादकी व्यवस्था देते हुए भी कहा गया है कि हम अपने शत्रु-राष्ट्रको पराजित करनेके उपरान्त उससे मित्रवत् व्यवहार करना चाहिये। युद्धका उद्देश्य केवल आत्मरक्षा है और आत्मरक्षाके उपरान्त युद्ध या अशान्तिका कोई प्रश्न ही नहीं है। अथर्ववेद (१९। १५। ६)-में कहा गया है—

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

अर्थात् हमें मित्र और अमित्रसे अभय प्राप्त हो, परिचितसे तथा अपरिचितसे अभय प्राप्त हो, रात्रि एवं दिनमें अभय प्राप्त हो, सारी दिशाएँ हमारी मित्र हो जायँ।

युद्धमें विजय प्राप्त करनेके उपरान्त हमें पराजित राष्ट्रको अपने अधीन करनेकी बात सोचनी भी नहीं चाहिये। अथर्ववेद (११। ९। २६)-में ऋषि सैनिकोंको आदेश देते हुए कहते हैं—'इस संग्रामको जीतकर अपने-अपने स्थानमें जाकर बैठ जाओ'—

इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्॥

इस प्रकार वैदिक युगका राष्ट्रिय ध्वज आपसी प्रेम, भाईचारा, शान्ति और मित्रताका प्रतीक है। इसी आधारपर वैदिक साहित्यमें विश्वराज्यकी भी कल्पना की गयी है और उसके लिये ध्वजका समर्थन किया गया है।

विवाह-संस्कार अनादि-कालसे प्रचलित है

(महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड)

'वि' उपसर्गपूर्वक 'वह' धातुसे भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे 'विवाह' शब्दकी निष्पत्ति हुई है। 'विवाह' का अर्थ है विशिष्ट वहन। अन्यकी कन्याको आत्मीय बनाते हुए उसमें संस्कारका आधान है विशिष्ट वहन। अन्यकी वस्तुको आत्मीय बनाना प्रतिग्रहके बिना सम्भव नहीं और प्रतिग्रह दानके बिना नहीं बन सकता। अतः सिद्ध हुआ कि कन्याके पिताद्वारा दान करनेपर उसको प्रतिग्रहपूर्वक आत्मीय बनाकर पाणिग्रहण होम आदि संस्कारोंसे संस्कृत (संस्कार-सम्पन्न) करना ही 'विवाह' है। इस प्रकार विवाहमें दान, प्रतिग्रह (दान-स्वीकार), पाणिग्रहण तथा होम—ये चार कर्म प्रधान हैं, शेष सब वरके कृत्य है।

विवाह-कृत्य जैसे स्त्रीमें भार्यात्वका सम्पादन करता है वैसे ही पुरुषमें पतित्वका भी वह सम्पादक है। अतः यह स्त्री और पुरुष दोनोंका संस्कार है केवल स्त्रीका ही या केवल पुरुषका ही संस्कार नहीं है। जैसे उपनयन-संस्कार बालकमें अध्ययनकी योग्यताका सम्पादक है वैसे ही विवाह स्त्री-पुरुष दोनोंमें अग्न्याधान, अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि श्रौत और स्मार्त-कर्मानुष्ठानकी योग्यताका सम्पादक है। अविवाहित स्त्री अथवा अविवाहित पुरुषका किसी भी श्रौत या स्मार्त-कर्मके अनुष्ठानमें अधिकार नहीं है। इसलिये विवाह स्त्रीके लिये ही नित्य संस्कार है, किंतु पुरुषका वह काम्य यानी ऐच्छिक है—ऐसा मानना निर्मूल है। क्योंकि विवाहके स्त्री-संस्कार होनेमें जो युक्तियाँ हैं, वे पुरुष-संस्कार होनेमें भी समान हैं। अतएव गोतम आदिने 'अष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः' (४८ संस्कारोंसे संस्कृत) इस प्रकार आरम्भ करके उन (संस्कारों)-में विवाहकी भी 'सहधर्मचारिणीसंयोग' (धर्मपत्नीका संयोग)—यों पुरुष-संस्कारोंमें गणना की है। इसलिये जैसे अग्न्याधान, अग्निहोत्र आदि नित्य (अवश्य अनुष्ठेय) हैं तथा स्त्री एवं पुरुष दोनोंके संस्कार हैं, वैसे ही विवाह भी नित्य एवं स्त्री-पुरुष दोनोंका संस्कार है। किंतु द्वितीय आदि विवाह पुरुषका ऐच्छिक है, स्त्रीका तो वह होता ही नहीं।

यद्यपि 'रतिपुत्रफला दारा' इत्यादि वचनोंके अनुसार विवाह रतिसुख तथा पुत्रोत्पत्तिका साधन है तथापि अन्यान्य

देशोंकी भाँति हम भारतीयोंको उसके केवल वे ही प्रयोजन अभीष्ट नहीं हैं, किंतु हमारे मतमें उसका मुख्य प्रयोजन धर्म ही है। हमारे मतमें पुत्रोत्पत्ति भी नित्य ही है। जैसे जिस व्यक्तिने यज्ञद्वारा भगवान्‌का अर्चन-पूजन नहीं किया और वह यदि मोक्षकी कामना करे तो श्रुतियोंमें उसके लिये दोष कहा गया है, वैसे ही जिसने पुत्र उत्पन्न नहीं किया, वह यदि मोक्षेच्छा करे तो श्रुति और स्मृति दोनोंने इसे दोष बतलाया है। इसीलिये निम्ननिर्दिष्ट श्रुति अध्ययन, यज्ञ एवं पुत्रोत्पादन नित्य हैं, ऐसा बतलाती है—

'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी' (तै० सं० ६।३।१०)।

अर्थात् उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन ऋणोंसे ऋणवान् होता है, वह ब्रह्मचर्यद्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञद्वारा देव-ऋणसे और पुत्रोत्पादनद्वारा पितृ-ऋणसे उऋण होता है—जो कि पुत्रवान् हो, यज्ञ कर चुका हो तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुलमें वेदाध्ययन कर चुका हो। यहाँपर पूर्वोक्त श्रुति ही अध्ययन, यज्ञ और पुत्रोत्पादनकी ऋणरूपता तथा अवश्य अपाकरणीयताका संकेत करती है।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥
(अथर्व० ६।११७।३)

अर्थात् हे अग्निदेव! आपके अनुग्रहसे हम इस लोकमें लौकिक और वैदिक दोनों प्रकारके ऋणोंसे उऋण हों। देह छूटनेपर स्वर्ग आदि परलोकमें भी हम उऋण हों तथा स्वर्गसे भी उत्कृष्ट तृतीय लोकमें हम उऋण हों। इनसे अतिरिक्त जो देवलोक (जिनमें देवता ही जाते हैं) और पितृलोक (पितरोंकी असाधारण भोग-भूमियाँ) हैं, उन लोकोंको तथा उनकी प्राप्तिके उपायभूत पथों एवं भोगोंको हम उऋण होकर प्राप्त हों। ऋण न चुकानेके कारण उन लोकोंके उत्तम भोगोंको भोगनेमें हमारे सामने विघ्न-बाधा उपस्थित न हो।

यह अथर्ववेदकी श्रुति भी पूर्वोक्त तैत्तिरीय प्रतिपादित अर्थका प्रतिपादन (समर्थन) करती है।

इन श्रुतियोंके सहारे ही महर्षि जैमिनिने भी अध्ययन आदिकी नित्यता अपने सूत्रमें दिखलायी है—

ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात्।
(जै० सू० ६।२।३१)

यज्ञ, अध्ययन और पुत्रोत्पादन—ये नित्य हैं या अनित्य, यह संशय कर ऋण-वाक्यसे संयोग होनेसे ये नित्य हैं, यह निश्चय किया है। अवश्यकर्तव्य ही-ऋण कहे जाते हैं। इसलिये देव-ऋण और पितृ-ऋणसे यदि उऋण होना हो तो विवाह अवश्य करना चाहिये। विवाह करनेपर आनुषङ्गिकरूपसे रतिसुख-लाभ होता है, इसलिये हमारे आचार्योंने उसे मुख्य फल नहीं माना है।

विवाहकी प्रथा कबसे हमारे देशमें प्रचलित हुई? किन्हीं विचारशीलोंके इस प्रश्नका 'यह (विवाह) नित्य ही है' यही उत्तर समुचित है। मीमांसकोंकी तरह हम वैदिकोंके मतमें—

वाचा विरूपनित्यया। (तै० सं० १०)
अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्।
(तै० आ० २।९।१)

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'।

—इत्यादि श्रुति, स्मृति और पुराण आदिसे वेदकी अनादिता ही सिद्ध है, पुरुषकृतत्वरूप पौरुषेयत्वका उसमें गन्ध भी नहीं है। अतएव ऋग्वेद आदि सब वेद बिना किसी क्रमके सनातन ही हैं, यह सिद्ध होता है।

ऋग्वेदके दशम मण्डलमें विवाहका विशद विवेचन हुआ है—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
(ऋक्० १०।८५।३६)

हे वधू, मैं तुम्हारा हाथ सौभाग्यके लिये ग्रहण करता हूँ, तुम मुझ पतिके साथ पूर्ण वार्धक्यको प्राप्त होओ।

तुभ्यमग्रे पर्यवहन् त्सूर्यां वहतुना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥
(ऋक्० १०।८५।३८)

हे अग्निदेव, पहले गन्धर्वोंने सूर्या (सूर्यसुता) दहेजके साथ तुम्हें दी और तुमने उसे दहेजके साथ सोमको दिया। उसी प्रकार इस समय भी हे अग्निदेव! फिर हमारे (पतियोंके) लिये पत्नीको संततिके साथ दो।

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥
(ऋक्० १०।८५।३९)

फिर स्वगृहीत पत्नीको अग्निने आयु और तेजके साथ दिया। इस अग्निद्वारा दी गयी स्त्रीका जो पति (पुरुष) है,

वह दार्घायु होकर सो वषतक जीये।

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापा हृदयानि नौ।

(ऋक्० १०।८५।४७)

सब देवता हम दोनाक हृदया (मना)-को दु ख आदि क्लेशसे विहीन कर लौकिक और वैदिक व्यवहाराम प्रकाशमान करें, जल भी हम दोनोंके हृदयाको क्लेश—विरहित कर प्रकाशयुक्त कर वायु हमारी बुद्धिको परस्पर अनुकूल कर प्रजापति भी हमारी बुद्धिको परस्पर अनुकूल करे तथा फल दनवाली सरस्वतीदेवी भी हमारे मन और बुद्धिका परस्पर मल करें।

एस ही वहुतसे मन्त्र पाणिग्रहणरूप विवाहके लिये प्रवृत्त हुए हे और उसीका प्रतिपादन करते हैं।

इहैव स्त मा वि योष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्व गृहे॥

(ऋक्० १०।८५।४२)

इस लाकम तुम दाना कभी वियुक्त न होओ, पूर्ण आयु पाआ एव पुत्र और पौत्राके साथ अपने घरम खूब आनन्द लूटो।

आ न प्रजा जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विश श नो भव द्विपद श चतुष्पदे॥

(ऋक्० १०।८५।४३)

प्रजापति देव हमारी सतति उत्पन्न कर, सूर्य वृद्धावस्थापर्यन्त हमे जीवनयुक्त कर (जीवन द), तुम दुर्मङ्गलरहित यानी सुमङ्गली होकर पतिके निकट आओ तथा हमारे घरके सब मनुष्योके लिये मङ्गलप्रद होओ एव हमारे चोपायाके लिये मङ्गलप्रद होओ।

—ये मन्त्र वधू और वर दोनाके लिये आशीवादरूप फलका प्रतिपादन करते हैं।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वा भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि दवृषु॥

(ऋक्० १०।८५।४६)

हे वधू, तुम ऐसी धीर गम्भीर मञ्जुभाषिणी सर्वहितेषिणी बनो कि श्वशुर तुम्हारी सलाह मानें, सास तुम्हारा वचन न टालें, ननद तुम्हारा गोरव कर और देवरापर तुम्हारा स्निग्ध आधिपत्य रह।

इस मन्त्रम कवल वधूके लिये आशीर्वादरूप फलका प्रतिपादन किया गया हे।

इसी तरह सभी वदामे विवाह-मन्त्र प्रसिद्ध हैं। य मन्त्र कहीं यज्ञ आदिम यज्ञ-क्रियाआक अङ्गरूपमे प्रवृत्त (विनियुक्त) होगे, सूत्रकारने मङ्गल आदिके मन्त्राकी तरह इनका विवाहम भी विनियाग कर दिया होगा। इसलिये ये केवल विवाहके लिये ही प्रवृत्त हे, ऐसा नहीं कहा जा सकता, ऐसी शका करना उचित नहीं, क्याकि इनका विवाहक अतिरिक्त अन्यत्र यज्ञ-यागादिम कहीं विनियाग दिखायी नहीं देता। माधवाचार्यने समस्त वैदिक मन्त्रामेसे उन-उन विविध यज्ञाक अङ्गभूत शस्त्र आदिके अङ्गरूपसे विनियाग करते हुए इन मन्त्राका केवल विवाहम ही विनियाग किया ह।

उन्हाने भाष्यम लिखा हे—'विवाहे कन्याहस्तग्रहणे गृभ्णामीत्येषा।' अर्थात् विवाह-कृत्यम कन्याके हस्तग्रहणम 'गृभ्णामि' (ऋक्० १०।८५।३६) यह ऋचा विनियुक्त है। सूत्रकारने इसीके अनुसार सूत्र रचा है—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तमित्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयात्' (आ० गृ० सू० १।७।३)।

'उदीर्ष्वात पतिवती ह्येषा विश्वावसु मनसा गीर्भिरीडे' —इस मन्त्रका विवाहके स्तावकरूपसे माधवाचायन व्याख्यान किया है। इसपर यह भाष्य ह—'आभिर्नृणा विवाह स्तूयत' इत्यादि।

इस प्रकार यह प्रकरण साक्षात् अथवा परम्परासे विवाहको अङ्गभूत मन्त्रराशिसे सगठित ह। इन सब मन्त्राका विवाहम ही विनियाग हे, अन्यत्र कहींपर भी नहीं।

इसी तरह वेदाम हजारा बार पति-पत्नी-सम्बन्ध प्रतिपादित ह। वह सारा-का-सारा विवाहमूलक हा सिद्ध हाता है, यह भलीभाँति सर्वविदित है। चारा वेदाम उपासना ओर ज्ञानकाण्डको छाडकर अन्य समग्र भाग यज्ञके लिये ही प्रवृत्त हैं, यह तो निश्चित ही है। यज्ञानुष्ठान प्राय पति-पत्नी (दम्पति)-द्वारा ही अनुष्ठित हाता हे आर दाम्पत्य एकमात्र विवाहसे ही सिद्ध होता है। इसलिये यज्ञ-यागाका विधान कर रह वदभागाद्वारा अपनी सार्थकताके लिये विवाहका भी आक्षेप किया जाता है। अत यह सिद्ध हुआ कि वैदिकी प्रथा (विवाह) अनादि-कालसे हमारे देशम चली आ रही है।

इस प्रकार विवाहकी अनादिता धर्ममूलता तथा नित्यता (अवश्यकर्तव्यता) वदसे ही सिद्ध हानेपर जो कोई सज्जन महाभारतके श्वेतकेतुके उपाख्यान आदिसे विवाहकी सादिता, स्त्रियाकी स्वेच्छाचारिता तथा सर्वोपभोग्यता सिद्ध करना

चाहते हैं, वे भ्रान्त हैं। उनसे पूछना चाहिये कि महाभारत आदिकी प्रामाणिकता वेद-सापेक्ष है या स्वतन्त्ररूपसे? यदि वे कहे कि महाभारत आदिकी प्रामाणिकता स्वतन्त्ररूपसे है, तब तो वे नमस्करणीय हैं, उनसे कुछ कहना निरर्थक है। क्योंकि हम सब लोग स्मृति, पुराण, इतिहास आदिकी प्रामाणिकता वेदमूलक ही मानते हैं। इससे बहिर्भूत उनसे हमारा कोई व्यवहार उचित नहीं। यदि वे कहें कि महाभारतकी प्रामाणिकता वेदमूलक ही है, तो वेदसे ही सिद्ध हो रही विवाहकी अनादिताका वेद-सापेक्ष महाभारत कैसे निषिद्ध करेगा? यदि वह प्रतिषेध कर भी तो प्रमाण कैसे हो सकता है? इसलिये यह मानना होगा कि यह उपाख्यान विवाहकी सादिता आदिका प्रतिपादक नहीं है, किंतु यह अन्यपरक ही है। यही उचित भी है। वहाँ लिखा है कि महर्षिके शापसे पाण्डु स्त्री-सम्भोग-निवृत्त हो गया था। पाण्डुने पुत्रोत्पत्तिकी अभिलाषासे कुन्तीका अन्यत्र नियोजन किया था। वह राजी नहीं हुई। वहाँ-का प्रसंग यों है—

न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने॥
त्वमेव च महाबाहो मय्यपत्यानि भारत।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि॥
स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन॥
न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः॥

(महाभारत आदिपर्व १२० । २—५)

[कुन्ती अपने पति कुरुश्रेष्ठ पाण्डुसे कहती हैं—] 'हे धर्मज्ञ! मैं आपकी धर्मपत्नी आप कमललोचनमें अनुरक्त हूँ, इसलिये आपको मुझसे ऐसा कथमपि नहीं कहना चाहिये। हे वीर! आप ही मुझमें वीर्यवान् पुत्रोंको धर्मतः उत्पन्न करेंगे। हे मनुष्यश्रेष्ठ! इस तरह मैं आपके साथ स्वर्गमें जाऊँगी, इसलिये हे कुरुनन्दन! संतानार्थ आप ही मेरे प्रति गमन करें। मैं आपके सिवा किसी अन्य मानवके प्रति गमनकी बात सोच भी नहीं सकती। आपसे अधिक श्रेष्ठ भूलोकमें कौन मनुष्य है?'

इस प्रकार अनाचरणीय दोषसे अत्यन्त भयभीत हो रही कुन्तीसे पुत्राभिलाषी पाण्डुने उसके भयको दूर करने तथा नियोगमें प्रवृत्तिसिद्धिके लिये श्वेतकेतुका उपाख्यानादि कहा। इसलिये पाण्डु-वचनका उपाख्यानमें तात्पर्य नहीं है, अपितु उसको नियोगमें प्रवृत्त करनेमें तात्पर्य है।

कुमारिलभट्टने तन्त्रवार्तिकमें कहा है—

'एवं भारतादिवाक्यानि व्याख्येयानि। तेषामपि हि श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।' अर्थात् इस प्रकार भारतादि वाक्योंकी व्याख्या करनी चाहिये। उनको भी ब्राह्मणको आगे करके चारों वर्णोंको सुनाना चाहिये। इस विधिके अनुसार पुरुषार्थत्व अन्वेषण होनेके कारण अक्षर आदिके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-फल हैं। उनमें भी दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म आदिमें कोई परकृति[1] और कोई पुराकल्प[2] रूपसे अर्थवाद है। सब उपाख्यानोंमें तात्पर्य होनेपर 'श्रावयेत्' इस विधिके निरर्थक होनेके कारण कथञ्चित् प्रतीत हो रही निन्दा या स्तुतिमें उनका तात्पर्य स्वीकार करना पड़ेगा। स्तुति और निन्दामें तात्पर्य होनेसे उपाख्यानोंमें अत्यन्त प्रामाण्याभिनिवेश (प्रमाणका आग्रह) नहीं करना चाहिये।

इससे और भी जो लोग अन्य अर्थकी स्तुतिके लिये प्रवृत्त उपाख्यानरूप अर्थवादोंके सहारे अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं, उनका भी खण्डन हुआ। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि महाभारत आदिके सब उपाख्यानोंको हम असत्य ही मानते हैं। यदि प्रबल प्रमाणका विरोध न आवे तो हम उन्हें भी प्रमाण मानते ही हैं। किंतु अनन्यपरक अत्यन्त बलवान् वेद-भागसे सिद्ध हो रहे अर्थको वेदकी अपेक्षा दुर्बल—इस तरहके उपाख्यान कथमपि डिगा नहीं सकते। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम भारतवासियोंकी यह वैवाहिक प्रथा अनादि-कालसे सिद्ध है।

१-प्रशंसा या निन्दारूप अर्थवादका जहाँ परकृतरूपसे वर्णन होता है, वह अर्थवाद 'परकृति' कहलाता है।

२-जहाँ इतिहासके रूपमें स्तुति अथवा निन्दारूप अर्थवादका वर्णन किया जाता है, वह अर्थवाद 'पुराकल्प' कहलाता है।

वैदिक जीवन-दर्शनके विविध आयाम

[वेदोमे जहाँ आध्यात्मिक चर्या एव साधनाके मोलिक सूत्र प्राप्त होते हैं, वही लाकिक जीवन-चर्याका किस प्रकार सयमित करके शास्त्र-मयादानुरूप चनाकर भगवत्प्राप्ति-याग्य वनाया जा सकता है, इसका भी सुस्पष्ट निर्देश हमे प्राप्त होता है। वर्ण एव आश्रमधर्मी जनाका क्या कर्तव्य है, गृहस्थधर्मम किस प्रकार रहा जाय, पारिवारिक सदस्योका परस्पर कैसा भाव होना चाहिये, उनकी जावन-चर्या किस प्रकार होनी चाहिये, प्रातर्जागरणसे रात्रिशयन-पर्यन्त उसके लिये कान-से कर्तव्य निर्दिष्ट है, इत्यादि अनेक वाताका ज्ञान हम वदमन्त्राम प्राप्त होता है। वेदाके कुछ ऐसे ही जीवन-चर्या-सम्बन्धी मन्त्रोका भावार्थ-सहित सकलन यहाँ दिया जा रहा ह, तदनुसार अपनी जीवन-शैली बनाने ओर वैसा ही आचरण करनेसे महान् अभ्युदयकी प्राप्तिमे सहायता मिलगा। अस्तु, इस प्रशस्त मार्गका अनुसरण करना चाहिये। —स०]

ब्राह्मणवर्चसकी प्राप्तिके उपाय

सूयस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविण यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम्॥

(अथर्व० १०।५।३७)

सूर्यकी रीति है नियमवद्ध सचरण करना। सूर्य नियमसे उदित आर अस्त हाता हे तथा नियमस ही ऋतुआम परिवतन करता ह। नियमका यदि हम अपने जीवनम अपना ल ता हम वृद्धिके मार्गपर पदार्पण कर सकग। इसस हम आत्मिक बल प्राप्त हो सकेगा तथा हम भी सूयक समान तजस्वी बन सकेगे। आदित्य-ब्रह्मचाराका तेज जा सूर्यके समान हाता है उसका कारण है उसके जीवनका नियमवद्ध हाना। इसीलिये उसे आदित्य-ब्रह्मचारीकी सज्ञा मिला है।

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते। त म द्रविण यच्छन्तु त म ब्राह्मणवचसम्॥

(अथर्व० १०।५।४१)

यजुर्वेद (३०।५)-म ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति-हतु ब्राह्मणको प्राप्त करनकी आज्ञा दी गयी ह—'ब्रह्मण ब्राह्मणम्'। ब्रह्म कहत हे वद आर परमात्माका। अत ब्राह्मण व ह—जो वदाको जानत ह, वद पढा मकते ह, वदानुकूल आचरण करते ह तथा ब्रह्मवेत्ता ह। ऐस ब्राह्मणाका सत्सग करना चाहिये। एसे ब्राह्मणाक सत्सगस हमम भी वैदिक तज, परमात्मतज आर ब्राह्मणका तेज आ जायगा।

जीवनकी पवित्रता

पुनन्तु मा दवजना पुनन्तु मनवा धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमान पुनातु मा॥

(अथर्व० ६।१९।१)

देवजना —दिव्य गुणावाल व जन दिव्य गुणाका मुझ दकर पवित्र कर। सत्यभाषण, परापकार दया आदि दिव्य गुण ह। इन गुणाको धारण करनेसे मनुष्य-जावन पवित्र हा जाता ह। जिन जनाम य दिव्य गुण रहत हे, उन्ह दवजन कहत ह।

मनव —मननशाल मनुष्य मरी वुद्धिका पवित्र कर मुझ पवित्र कर। पवित्र और अपवित्र कर्माका मूल बुद्धि ह। इसलिय श्रष्ठ गायत्री-मन्त्रम भी वुद्धिक लिय प्रार्थना है। वुद्धिके पवित्र हा जानेपर कर्म स्वय पवित्र हा जात हैं। मन्त्रम वुद्धि ओर उसक द्वारा जावका पवित्र करनका सामर्थ्य मनुष्य (मनव)-का दिया गया है। 'मनव' का अर्थ है—मननशील मनुष्य। अत इस वणनस स्पष्ट प्रतीत हा रहा है कि बुद्धिका पवित्र करनेका मुख्य साधन मनन है। जैस-जेसे हम सत्कर्मो और सद्विचाराका मनन करगे, वैसे-वैसे हमम मानसिक स्थिरताक साथ-साथ सत्कर्मों तथा सद्विचाराम अनुराग वढता जायगा। जिसका कर्मोपर भी अवश्य प्रभाव पडेगा।

विश्वा भूतानि—विश्वभूत मुझ पवित्र कर, यह तीसरा प्रक्रम है। जब हमारे जीवनम विश्व-भूत-हितका भाव जाग्रत् होता है तो यह भाव हम पवित्र बना दता है। जैस-जैस स्वार्थक भावाक स्थानम परार्थक भाव आत-जात हैं, वेस ही शनै -शनै जीवन भी पवित्र हाता जाता ह।

पवमान —चाथा प्रक्रम है परमात्मास पवित्रताकी

याचना। परमात्मा पवित्रसे भी पवित्र हैं, इनसे बढकर कोई पवित्र नहीं। अत परमात्माका स्तुति-प्रार्थना और उपासनाद्वारा अपने जावनका पवित्र बनाना, यह अन्तिम साधन है। इस प्रकार इस मन्त्रम पवित्रताके चार साधन-फल माने गये हैं—(१) देवजनाकी सत्सगतिद्वारा दिव्य गुणाका लाभ, (२) मननशीलाकी सत्सगतिद्वारा मननका लाभ, (३) विश्वभूतहित-चिन्तनका पुण्य-लाभ तथा (४) परमात्माकी स्तुति-प्राथना आर उपासना-लाभ—इन चारा साधनासे एव उनके दिव्य फलासे हमारा जीवन पवित्र हा सकता है।

पवित्रताके बिना उत्तम बुद्धि, उत्तम कर्म और उन्नत जीवन तथा अहिसा असम्भव है

पवमान पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥

(अथर्व० ६।१९।२)

—इस मन्त्रम पवित्र परमात्मासे पवित्रता माँगी गयी है। बिना पवित्रताके बुद्धि-शक्ति एव कर्मयाग, चतुर्मुख-वृद्धि तथा शारारिक-मानसिक ओर आत्मिक बल एव उत्तम जीवन—य नहीं हा सकते। इनकी प्राप्तिके बिना अहिसाभावका विस्तार हम नहीं कर सकते। पवित्रता साधन है क्रतु, दक्ष आर पवित्र जीवनम। क्रतु, दक्ष तथा उत्तम जीवन साधन हैं अरिष्टताति अर्थात् अहिसाभावके विस्तारमे। अत प्रत्यक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह पवित्रताको प्राप्त करक क्रतु, दक्ष तथा उत्तम जीवनका प्राप्त करे और इनको प्राप्त कर ससारम अहिसाका प्रचार करे। अहिसा-वृत्तिक मूलम पवित्रताका निवास है। जावनम पवित्रताक बिना अहिसाका भाव जाग्रत् नहीं हा सकता। एक बात ओर स्मरण रखनी चाहिय। हिसकाके प्रति हिसाका व्यवहार न करनेम दो भाव ह—(क) कायरता और (ख) अहिसा-वृत्ति। यदि मनुष्य कायर है, तब तो वह हिसकाके प्रति हिसाका व्यवहार कर ही नहीं सकता। यदि वह प्रत्यपकारके लिये बल रखता हुआ भी हिसा नहीं करता तो वह इसलिय नहीं कि वह कायर है अपितु इसलिये कि वह इस मार्गका अवलम्बन करना ही नहीं चाहता। यही वृत्ति अहिसा-भावकी है। बल न हानपर क्षमा कर दना क्षमा नहीं, अपितु कायरता है ओर बलक रहते हुए क्षमा कर देना वास्तवम क्षमा है। यही अहिसा है। इसीलिय मन्त्रम दक्ष अर्थात् बलकी प्राप्तिके बाद अरिष्टताति अथात् अहिसाका वणन है। अत बिना पवित्रताक क्रतु, दक्ष और उत्तम जीवनका पूर्ण विकास नहीं हा सकता तथा बिना इनक पूर्ण विकासक अहिसा-धर्मका विस्तार नहा हा सकता।

पाप-निराकरणके उपाय

१—यज्ञ और सत्य सकल्प

मह्य यजन्ता मम यानीष्टाकूति सत्या मनसा म अस्तु।
एना मा नि गा कतमच्चनाह विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मह॥

(अथर्व० ५।३।८)

—इस मन्त्रद्वारा तीन इच्छाएँ प्रकट की गयी हैं—

(१) मैने भूतकालमें जो दवपूजन, सत्सग तथा दान किया है, उसे मैं अब भी करता रहूँ, वे कर्म मुझ सर्वदा प्राप्त रह, मे उन्ह कभी न छाड़ूँ।

(२) मेरा मानसिक सकल्प सत्यस्वरूप हो। मैं कभी असत्य सकल्प न करूँ। जा इच्छाएँ करूँ, व सर्वदा सत्यरूप ही हों।

(३) म किसा भी पापकमका न करूँ।

—एसी मदिच्छाओस प्रवृत्तियाँ भी सत् हाती ह, क्याकि इच्छा ही प्रवृत्तिका कारण हे। दवपूजन सत्सग आर दानस प्रवृत्त्यात्मक विधिरूप धर्मका निर्देश किया गया है। इनम प्रवृत्त रहनसे मनुष्यका चित्त एक आर लगा रहता है, अत वह पापकर्मोकी आर नहां झुकता। दवपूजनस अभिमान ओर दानसे स्वार्थका भाव भा शिथिल हा जाता ह। अभिमान तथा स्वार्थभाव स्वय भी पापाकी आर ल जानवाले हे। इनक हट जानेसे मन पापासे भी हट जाता ह। सत्सगद्वारा सद्गुणोका सक्रम सत्सग करनवालेक चित्तम हाता है। इस प्रकार दवपूजन, दान आर सत्सग—ये तीना ही पापमार्गस हटानवाल हैं। दवपूजन,

दान ओर सत्सग—य चष्टारूप अर्थात् क्रियारूप धर्म ह।

इस चेष्टारूप धर्मक साथ-साथ इच्छारूप धर्म भी होना चाहिये। सत्य ओर शुभ इच्छाआके बारम्बार करनसे भी मन पापाकी ओर नही जाता। अत चेष्टारूप सत्कर्म एव सदिच्छारूप सत्कर्म (सत्य सकल्प) जब मिल जाते ह ता वे अवश्य ही मनुष्यको पापकर्मोसे हटा दते है। म किसी पापकर्मको न करूँ, इस प्रकारकी तीसरी इच्छा भी मनुष्यकी पापकर्मासे रक्षा करती ह तथा यह पापकर्मकी साक्षात् विरोधिनी है।

अत उपर्युक्त तीनो इच्छाआक प्रबल हो जानेपर मनुष्यकी पुन पापकर्मोम प्रवृत्ति नहीं हाती। 'इन इच्छाआके हाते हुए एक ओर वस्तु भा अपक्षणीय ह, जो सदाचारक लिय अत्यावश्यक है। वह ह 'दवसरक्षण'। दिव्य गुणावाले सज्जनाकी सरक्षाम रहना, उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चलना, सदाचारी होनेका अतिसुगम आर निश्चित उपाय है। इमालिय वैदिक सिद्धान्तम सदाचार आदिकी शिक्षाके लिये ब्रह्मचारीका आचार्यदवक सरक्षणम छाडनका विधान पाया जाता ह।

२—पापोमे दोपदर्शन और पापोकी कामनाका त्याग

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शससि।
पराहि न त्वा कामये वृक्षा वनानि स चर गृहेपु गापु मे मन ॥

(अथर्व० ६।४५।१)

पाप तीन प्रकारक हाते हैं। मानसिक, वाचिक आर शारीरिक। मानसिक पाप वाणी और शरारद्वारा किये जानेवाले पापाके कारण ह। मनम यदि काई पाप नहीं ता वचन आर शरीर भी पापरहित रहग। अतएव इस मन्त्रम मानसिक पापाके हटानका वर्णन है।

पापरूपी जालम फँसा हुआ मन सर्वदा अकतव्य-कर्मोकी प्रशसा किया करता ह। यथा—'इस कामका कर लना चाहिय' 'यह काम अच्छा है', 'दखा उसने भी किया था', 'ससारम एसा ही हाता चला आया है', 'देखा ससारम ऐसे काम करनवाल कितने समृद्ध बन हुए हैं'—एसे अनेक वाक्याम मन पापकी प्रशसा किया करता है।

इस मन्त्रम मानसिक पापका सम्बाधित किया गया है। उसको हटानेक लिय उसे कल्पनाद्वारा मनक सम्मुख खडा किया ह आर उसक लिय कहा ह कि 'तू दूर हट जा, बुर कार्योकी प्रशसा मत कर, चला जा, मैं तुझे नहा चाहता'—इस प्रकारके अन्य वाक्याके वारभापण अथवा मनाभापणक प्रवक्ताके चित्तम पापक विरुद्ध दृढ भावना पदा हा जाती है। इस प्रकारस पापाक विरुद्ध यदि मनुष्य लगातार अभ्यास करगा तो वह उनपर विजय पा लगा। अभ्यास करत-करते अभ्यासीके मनम पापाक लिय घृणा पदा हा जाती है। अत हर प्रकारस सदिच्छाआ एव सत्य सकल्पाका प्रत्येक मनुष्यको अभ्यास करना चाहिये, जिससे सदव शुभ कार्योम ही प्रवृत्ति हो।

यह मन्त्र गृहस्थके सम्बन्धम प्रतीत हाता है, क्योकि मन्त्रम 'गृहेपु गोपु मे मन '—य पद आय हैं। इन पदाम एक ओर सिद्धान्त भी सूचित होता है। वह यह कि 'पापवृत्तियाका जीतनके लिय यह आवश्यक है कि मनुष्य सुस्त न बेठे, किसी-न-किसी उत्तम कामम अवश्य लगा रहे।' इसीलिये मन्त्रम उल्लेख है कि मेरा मन गृहकृत्या ओर गासवाम लगा रह, क्योकि मानसशास्त्रका यह नियम ह कि मन निकम्मा नही रह सकता उसमे दो भाव इकट्ठ नहीं रह सकत। अत जिस भावपर विजय पाना हो, उससे विराधी भावका मानस-स्थलाम उपस्थित रखना चाहिय। मन्त्रम 'पराहि न त्वा कामये' आदि सद्भाव पापभावाक विराधी ह। अत पापवृत्तियाका हटानक लिये एसे भावाको चित्तम स्थान दना चाहिय।

वैदिक मेधासे दिव्य गुणोकी रक्षा

मेधामह प्रथमा ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृपिष्टुताम्।
प्रपीता ब्रह्मचारिभिर्देवानामवस हुव॥

(अथर्व० ६।१०८।२)

इस मन्त्रम उस मधाका वर्णन ह जिसका—सभी वदाम प्रतिपादन ह। वह अनादिकालस वर्तमान ह क्योकि वद अनादि हैं। ब्रह्मज्ञानी लाग एसी मधाका ही सवन करते ह। ऋपिजन एसी मधाकी हा स्तुति करत ह। ब्रह्मचारी इसी वदिक मेधाकी प्राप्तिक लिय तप तथा ब्रह्मचर्यव्रतम निष्ठावान् हात है। इसी मधाकी प्राप्तिस हमम दिव्य गुण आ सकते ह। मनुष्यगत दिव्य गुणाकी रक्षा इस मधाकी प्राप्तिक विना असम्भव ह। इस वदिक मधाका प्राप्तिक लिय वदाका स्वाध्याय नित्य करना चाहिय।

कामना दो प्रकारकी है—भद्र और अभद्र

यास्ते शिवास्तन्व काम भद्रा याभि सत्य भवति यद् वृणीष।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसविशस्वान्यत्र पापीरप वशया धिय ॥
(अथर्व० ९।२।२५)

—इस मन्त्रम इच्छाका ही वर्णन है। इच्छाकी तनु अर्थात् देह दा प्रकारकी है। यहाँ तनुका अर्थ है स्वरूप अथवा प्रकार। अत अभिप्राय यह हुआ कि इच्छाक दा स्वरूप हैं या इच्छा दो प्रकारकी है। एक शुभ आर दूसरी अशुभ। एक शिव आर दूसरी अशिव। एक भद्र और दूसरी अभद्र। इच्छाके इन दा प्रकाराका वणन महर्षि व्यासने योगभाष्यम किया है—'चित्त्नदीनामोभयता वाहिनी, वहति कल्याणाय च वहति पापाय च' (यागदर्शन १।१२)। इसका अभिप्राय यह है कि चित्त एक नदी ह, जा दा आर वहता ह—कल्याणका आर तथा पापकी आर। मन्त्रम भी काम अर्थात् इच्छाक दा रूप दर्शाय गये हैं। एक 'शिवास्तन्व' दूसरा 'पापीर्धिय' इन शब्दास शिवका अथ हाता ह कल्याण। 'पाप' पद मन्त्र तथा यागभाष्य—इन दानाम समान ह।

मन्त्रम यह भी कहा गया ह कि शुभ इच्छाआम वहुत वल हाता है। शुभ इच्छाआवाला मनुष्य जा चाहता ह वह पूरा हा जाता है। इसालिय मन्त्रम 'सत्य भवति यद् वृणीषे' कहा गया है। पापाजनकी इच्छाआम वह वल नहीं होता। यागकी आश्चर्यकारी सिद्धियाँ भी इसी शुभ इच्छाके परिणाम हैं। अत शुभ इच्छाआका प्राप्ति आर अशुभ इच्छाआका त्याग नित्य करना चाहिय। इसीम परम कल्याण सनिहित ह।

ससार-ग्राहसे बचनेका उपाय—संसारमे लिप्त न होना

इदमह रुशन्त ग्राभ तनूदूषिमपोहामि।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि॥
(अथर्व० १४।१।३८)

'ग्राभ' पदम 'ग्रह' धातु ह। वस्तुत यह ग्राह शब्द ह। 'ह' को 'भ' हा गया है। ग्राहका अर्थ नाक (मगरमच्छ) होता है। इस मन्त्रम ससारका ग्राहरूपसे वर्णन ह।

यह ससार-ग्राह वडा चमकीला-भडकाला है। वह अपनी चमकसे जनताका अपनी आर खींच लता है। जा मनुष्य इस ससार-ग्राहकी आर खाच जात हैं, उनकी दह दूषित हो जाती है। भागका यह परिणाम स्वाभाविक ह और अन्तम व भागी इस ससार-ग्राहके ग्रास वनकर नष्ट हो जाते हैं। 'रुश' का अर्थ हिसा भी है। जिसस यह भाव सूचित हाता ह कि चमकाला ससार-ग्राह हिसक ह। यह हुआ प्रयमार्गका वर्णन।

श्रयमार्गका वर्णन इसी मन्त्रक उत्तरार्ध भागम है। प्रकृतिम न फँसकर परमात्माकी आर झुकना यह श्रयमार्ग है। परमात्मा भद्र है रुचिर है। उसको प्राप्त करनेक लिये प्रथम ससार-ग्राहका त्याग करना चाहिय। इस प्रकार मनुष्य अपन-आपका उत्तम वनाकर उस परमात्माकी प्राप्ति कर सकता ह।

परतु प्रश्न पदा हाता है कि ससारका त्याग क्या वेदिक सिद्धान्तानुकूल ह? उत्तर है—नहीं, क्याकि ससार साधन ह परमात्माका प्राप्तिका। ससार आर परमात्मा—य दा विराधी मार्ग नहीं।

मन, वाणी और कर्ममे मधुरता

जिव्हाया अग्र मधु म जिव्हामूल मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
(अथर्व० १।३४।२)

—इस मन्त्रमे यह दशाया गया है कि माधुयकी प्राप्तिक लिये दृढ इच्छा-शक्ति या दृढ सकल्पका प्रयाग करना चाहिये। यदि मनुष्य दृढ सकल्प कर ले कि मुझ कभी भी कटु वचन नहीं वालना है सर्वदा मधुर वचन ही वालना ह ता वह मनुष्य कटु वचनापर या अपनी वाणीपर अवश्य विजय पा लगा।

मन्त्रम जिव्हा (जिह्वा), क्रतु और चित्त—इन तीनका वर्णन है। परतु इनका अर्थ-सम्बन्ध-क्रम इस प्रकारसे हाना चाहिये—चित्त, जिव्हा आर क्रतु। जसा कि कहा गया है—'यन्मनसा मनुत तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा

करोति।' अर्थात् मनुष्य मनस जिसका मनन करता ह, उसे वह वाणीद्वारा बालता हे आर जो वाणीसे बालता हे, उस कर्मद्वारा करता हे। मन्त्रम 'चित्त' शब्दसे मनका 'जिव्हा' (जिह्वा)-से वाणीका और 'क्रतु'स कर्मका ग्रहण करना चाहिये। अत इस मन्त्रम मन, वाणी तथा कर्म—इन तीनाकी मधुरताका वर्णन हे। इस मधुरताक लिय किसी वाह्य ओपधकी आवश्यकता नहीं और न कोई ऐसी वाह्य आपध भी हे कि जिसके खान-पानस मनुष्य दूसराक लिये भला साचन, बालन और करन लग जाय। इसक लिये तो आन्तरिक आपध ही चाहिय। उसीके निरन्तर श्रद्धापूर्वक सवनस हम मधुरता मिल सकती ह। वह आन्तरिक ओपध दृढ शक्ति या दृढ सकल्पमात्र ही हे।

चेष्टा, स्वाध्याय और वाणीमे माधुर्य

मधुमन्म निक्रमण मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयास मधुसदृश ॥
(अथर्व० १।३४।३)

—इस मन्त्रम भी भावनाका वर्णन करत हुए कहा गया हे कि मधुर बननेकी भावनाको प्रवल बनाना चाहिय तथा चलने-फिरने उठन-वैठनम मधुरता हानी चाहिय।

स्वाध्यायम मधुरताका अभिप्राय ह ककश आवाजस न पढना। पढनम अतिशीघ्रता, अस्पष्टाच्चारण, शब्दाक मध्य-मध्यम अनुच्चारण आदि दोष भी स्वाध्यायम माधुर्य-गुणक विराधी हैं। वाणीस भी मधुर बालना चाहिय।
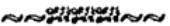
क्रूरदृष्टि-मनुष्य मधुर-दृष्टि नहीं हो सकते। मधुर-दृष्टि व मनुष्य हात हैं, जिनकी आँखासे प्रेमधारा निकले। मनुष्यके प्रत्यक अङ्गम मधुरता होनी चाहिये। इस अपन-आपको मधुरूप बनाना चाहिय। मधु जिस प्रकार मीठा हाता ह, उसी प्रकार व्यवहारम जिसके सार अङ्ग दूसराक लिय मधुर हैं, वह मधुरूप कहलाता है।

जगत्भरके लिये कल्याणेच्छा

स्वस्ति मात्र उत पित्रे ना अस्तु स्वस्ति गोभ्या जगत पुरुयेभ्य ।
विश्व सुभूत सुविदत्र ना अस्तु ज्योगव दृशेम सूर्यम्॥
(अथर्व० १।३१।४)

—इस मन्त्रम स्वार्थ-भावकी जडपर कुठाराघात किया गया हे। मन्त्रमे चित्त-वृत्तियाका शुद्ध तथा हृदयका विशाल करनेका साधन बताया गया है। वास्तवम परार्थ-जीवन ही चित्तक मलाको दूर करता आर हृदयको महान् बनाता ह। प्रत्येक बुरे कर्मकी जड मनुष्यकी इच्छाओम रहती है इसलिय यदि अपनी इच्छाआका शुद्ध कर लिया जाय ता बुरे कर्म कभी भी नहीं हा सकत। इस मन्त्रद्वारा वद शिक्षा दता है कि तुम अपने चित्तम 'दूसराक लिये भला हो'—ऐसी इच्छाएँ पैदा करा। यदि तुम दूसराका भला साचागे उनका हित चाहाग, ता उनक लिय भला करनेवाल कामोम भी तुम अनायास प्रवृत्त हा सकाग। मन जसा साचता ह वैसी ही इच्छा करता ह आर जसी इच्छा करता ह काम भी उससे वैसे ही हाते हे। इसलिये यदि अपनी इच्छाएँ शुद्ध एव पवित्र कर ली जायें ता हमारे कार्य भी उसी प्रकारक शुद्ध तथा पवित्र हा सकत ह।

मन्त्रम माताके लिये, पिताके लिये, अपन लिये, गौओ अर्थात् पशुआक लिय, पुरुषा तथा सम्पूर्ण जगत्के लिये 'स्वास्थ्य ओर कल्याण हो'—ऐसी इच्छा करनेका उपदेश पाठकाका दिया गया है।

साथ ही पाठक चित्तम यह भावना भी कर कि सारा ससार ऐश्वयशाली तथा उत्तम ज्ञानवाला हो जाय। जगत्में पाठक आत्मबुद्धि भी कर। जगत्का जब हम अपना कुटुम्व जान ल तो जगत्की वृद्धि दखकर हम प्रसन्नता होगी और हम ईर्ष्या-द्वेषकी भट्टीमे नहीं जलग अपितु जगत्की वृद्धि दखकर हमारा आनन्द और बढेगा। चूँकि जगत् हमारा एक परिवार बन गया हे। इसलिये वसुधाको ही हमने कुटुम्ब मान लिया है।

मन्त्रक चौथे चरणमे दीघायुष्य ओर इन्द्रिय-शक्तियाकी चिर-स्थिरताके लिये प्रार्थना है।

इस श्रुति-उपदेशका सार-सिद्धान्त यही है कि हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनासे ओतप्रोत हाकर दृढ इच्छास जगत्के कल्याणार्थ सत्सकल्प ही करे—वैसी ही भावना रख क्याकि सकल्प ही समस्त कर्मोका मूल है—

सकल्पो वे जायते कर्ममूलम्।'

वेदोंमें आध्यात्मिक संदेश

वेदमे आध्यात्मिक सदेश

(मानस-रत्न सत श्रीसीतारामदासजी)

वेद ज्ञान-विज्ञानके सागर ह। उनका अक्षर-अक्षर सत्य है। वेद ही मानव और पशुके अन्तरको स्पष्ट करत हैं। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—यह वेदासे ही हमे पता चलता है। वेदाके प्रति पूर्ण निष्ठा रखकर उनक बताये गये मार्गपर चलकर ही मानव-जीवनका सार्थक बनाया जा सकता है।

देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरका प्रयाजन सकल दु ख-निवृत्ति एव परमानन्दकी प्राप्ति है। केनोपनिषद् (२। ५)-में कहा गया है—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चदिहावदीन्महती विनष्टि ।' अर्थात् इस मानव-शरीरम यदि परम तत्त्वका बोध हा गया तो मानव-शरीर सार्थक हा गया, अन्यथा मानो महान् विनाश या सर्वनाश हा गया। अत हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदव परमश्वरकी आराधनारूप यज्ञम लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिक लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न कर—

युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितु सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥

(यजु० ११। २)

अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनाम लगा रहे और हम भगवत्प्राप्ति-जनित अनुभूतिके लिय पूण शक्तिसे प्रयत्नशील रह।

हम भगवान्‌का ही एकमात्र आश्रय लेकर उनम ही तन्मय बने—यही वेदाका आध्यात्मिक सदश हे—

मा चिदन्यद् वि शसत सखाया मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषण सचा सुते मुहुरुक्था च शसत॥

(ऋक्० ८। १। १)

'हितकारी उपासको! सब एकाग्र होकर प्रसन्न होनेपर अभीष्टका पूर्ण करनेवाले परमश्वरकी ही स्तुति करा एव उनके ही गुणो तथा महिमाका बारम्बार चिन्तन करा—कार्तन करो। परमात्माक अतिरिक्त अन्य किसीकी भी उपासना न करो आत्मश्रेयका नाश न करो।'

वेदिक सस्कृतिकी मूलभित्ति त्याग आर तपस्यापर आधृत है। वह नरका नारायण बनाती है—

अयुतोऽहमयुता म आत्मायुत म चक्षुरयुत मे श्रोत्रमयुता मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽह सर्व ॥

(अथर्व० १९। ५१। १)

'मे परिपूर्ण हूँ, म अखण्ड हूँ। मेरी आत्मा अखण्ड हे चक्षु-शक्ति अखण्ड ह श्रोत्रशक्ति अखण्ड है। मेर प्राण विश्वात्माक प्राणसे सयुक्त हैं, मरे श्वासाच्छ्वास भी विश्वपुरुषके श्वास-प्रश्वासस सम्बद्ध ह। मेरी आत्मा विश्वात्मासे विभक्त नही है। मेरी सम्पूर्ण सत्ता उससे अविभिन्न एव अखण्ड है।'

आत्म-विकासक लिये भगवान्‌की कृपाका साध्य एव साधन मानकर उस ही पथ-प्रदशक, आत्मबलदायक एव प्रेरणादायी स्रात मानते हुए वद प्रार्थना करते ह—

न ह्यन्य वळाकर मर्डितार शतक्रतो। त्व न इन्द्र मृळय॥

(ऋक्० ८। ८०। १)

'विश्वरूप प्रभो! आपस भिन्न अन्य काई सुखदाता नही है, फिर हम अन्यत्र क्या भटक। ह सुखस्वरूप! सत्यत आप ही सब सुखाक मूल स्रात है। हम वही सुख चाहिय जो साक्षात् आपसे प्राप्त हुआ हा। उसी सुखसे हमारा चित्त तुष्ट हा।'

वद चाहत हैं कि व्यक्तिक चित्तवृत्तिरूप राज्यम प्रतिपल पवित्र वरेण्य एव उर्वर विचार-सरिता वहती रह, जिसस अन्त करण देवी सम्पदाआका कन्द्र बने—

तत् सवितुर्वरण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचादयात्॥ (ऋक्० ३। ६२। १०)

'सच्चिदानन्दरूप परमात्मन्! आपक प्ररणादायी विशुद्ध तज स्वरूपभूत दिव्य रूपका हम अपन हृदयम नित्य ध्यान करत ह। उसस हमारी बुद्धि निरन्तर प्ररित हाती रह। आप हमारी बुद्धिका अपमार्गसे राककर तजामय शुभमार्गकी आर प्रेरित कर। उस प्रकाशमय पथका अनुसरण कर हम आपकी ही उपासना कर एव आपका ही प्राप्त हा। हमारी

इस प्रार्थनाका आप पूर्ण कर, क्याकि आप ही पूर्णकाम ह सर्वज्ञ ह एव परम शरण्य आर वरण्य ह।'

वदाकी भावना हे कि हम अनन्य एकाग्रतास, उपासनास ईश्वरको प्रसन्न कर आर वह हमार याग-क्षमादिका सवदा सम्पन्न करे—

नू अन्यत्रा चिदद्रिवस्त्वन्नो जग्मुराशस । मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभि ॥ (ऋक्० ८। २४। ११)

'ससारको धारण करनवाल ह भगवन्! हमारी अभिलाषाएँ आपका छाडकर अन्यत्र कहा कदापि न गया ह, न जाती ह, अत आप अपनी कृपाद्वारा हम सब प्रकार सामर्थ्यस सम्पन्न कर।'

ज्ञानकी पराकाष्ठापर भक्तिका उदय हाकर भक्तिक सदा परिपूर्ण हानस वृत्तिम मुक्तिकी वासना भी नहा उठता। एसा जीवन ही वदिक सस्कृतिका आदर्श ह—

यो व शिवतमो रसस्तस्य भाजयतह न । उशतीरिव मातर ॥ (अथर्व० १। ५। २ ऋक्० १०। ९। २)

'प्रभा! जा आपका आनन्दमय भक्तिरस ह हम वही प्रदान कर। जस शुभकामनामयी माता अपनी सतानका सतुष्ट एव पुष्ट करती ह, वस ही आप (मुझपर) कृपा कर।'

ज्ञान एव कमका अन्तिम परिणामरूप भक्ति ओर उस भक्तिक अन्तिम परिणामरूप उन विराट् विश्वरूप पुरुषात्तमकी शरणागतिका हा वद श्रयमागम महत्त्वपूण मानते ह—

क्रत्व समह दीनता प्रतीप जगमा शुच। मृळा सुक्षत्र मृळय॥ (ऋक्० ७। ८९। ३)

'ह परम तजामय! परम पवित्र परमश्वर! दानता-दुर्बलताक कारण म अपन सकल्पम प्रनास कतव्यस उलटा चला जाता हूँ। शुभशक्तिशालिन्! मुझपर कृपा करक मुझ सुखा कर।'

वद इश्वरस प्राथना करत हे कि इश्वर हम सन्मागपर लाय वह हमार अन्त करणका उज्ज्वल कर आत्मश्रयक सर्वाच्च शिखरका प्राप्त करा द—

भद्र मन कृणुष्व॥ (साम० १५६०)

'ह प्रभु! हमार मनका कल्याण-मागम प्ररित कर।'

विश्वानि दव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्र तन्न आ सुव॥ (ऋक्० ५। ८२। ५)

'ह सार जगत्क उत्पादक—प्ररक देव! तू हमार सारे दुराचरणाका दूर कर द आर सभी कल्याणकारी गुण हमम भर द।'

मानव-मनका माह, क्राध, मत्सर, काम, मद ओर लाभका दुर्वृत्तियाँ सदव घर रहता हैं। इन छ मानसिक शत्रुआक निवारणक लिय वदिक मन्त्राम पशु-पक्षियाकी उपमासे दमन करनकी सम्मति दी गया हे, जेसे—

उलूकयातु शुशुलूकयातु जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातु दृषदव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(अथर्व० ८। ४। २२ ऋक्० ७। १०४। २२)

'उलूकयातुम्' (उलूकयातु)—यह अन्धकारप्रिय, प्रकाशके शत्रु उल्लूका वृत्ति है—'सशयावृत्ति'।

'शुशुलूकयातुम्' (शुशुलूकयातु)—यह क्राधी आर क्रूर भडियका वृत्ति ह—'आक्रामकवृत्ति'।

'श्वयातुम्' (श्वयातु)—यह दूसरा आर अपनापर भा गुर्राकर दाडनवाल कुत्तका वृत्ति ह—'चाटुकारवृत्ति'।

'कोकयातुम्' (कोकयातु)—यह चकवा-चकवाकी वृत्ति ह—'असामाजिकवृत्ति'।

'सुपर्णयातुम्' (सुपर्णयातु)—यह ऊँची उडान भरनवाल गरुडकी वृत्ति ह—'अभिमानावृत्ति'।

'गृध्रयातुम्' (गृध्रयातु)—यह दूसराकी सम्पत्ति छीन लनवाल गिद्धका वृत्ति ह—'लालुपवृत्ति'।

अत आ मनुष्य! तू साहमा बनकर उलूकक समान 'माह' भडियक समान 'क्राध' श्वानक समान 'मत्सर', काकक समान 'काम' गरुडक समान 'मद' आर 'लाभ'-का गिद्धक समान समझकर मार भगा। अर्थात् तू प्रभुसे बल माँगकर इन छ प्रकारका राक्षसाय भावनाआका पत्थरक सदृश कठार साधनास मसल द।

वदाका मान्यता हे कि तप पूत जीवनस ही माक्षकी उपलब्धि हाता ह—

यस्मात्पक्वादमृत सवभूव या गायत्र्या अधिपतिवभूव।
यस्मिन्वदा निहिता विश्वरूपास्तनोदननाति तराणि मृत्युम्॥

(अथर्व० ४। ३५। ६)

'जा प्रभुगुण गानवाली गायत्राद्वारा अपन जावनकी

आत्मशुद्धि कर स्वामी वन गया है, जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान वदका जीवनम पूर्णत धारण कर लिया हे, वही मानव वेदज्ञानरूपा पके हुए ओदनके ग्रहण-सदृश मृत्युको पारकर मोक्षपद प्राप्त करता हे, जो मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।'

वेद भगवान्‌के सविधान ह। इनम ऐसे अनक मन्त्र है, जिनसे शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य अध्यात्मके सर्वोच्च शिखरपर पहुँच सकता है। जैम—

ऋतस्य पथा प्रेत॥ (यजु० ७। ४५)

'सत्यके मार्गपर चला।'

आ३म् क्रता स्मर। क्लिबे स्मर। कृत*स्मर॥

(यजु० ४०। १५)

'यज्ञादि कर्मोको म्मरण रखो। अपनी सामर्थ्य एव दूसरेके उपकारका स्मरण रखा।'

वेदाम इस लाकको सुखमय तथा परलाकका कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिय आचार-विचाराक पालनका विधान ता किया ही गया है, साथ ही आध्यात्मिक साधनाम बाधक अनेक निन्दित कर्मोंस दूर रहनेका निर्देश भी दिया गया हे। जैसे—

अक्षैर्मा दीव्य। (ऋक्० १०। ३४। १३)

'जूआ मत खेलो।'

मा गृध कस्य स्विद्धनम्। (यजु० ४०। १)

'पराये धनका लालच न करो।'

मा हिंसी पुरुषान् पशूंश्च।

'मनुष्य आर पशुआका (मन कर्म एव वाणीसे) कष्ट न दा।'

वैदिक सत्य सुख

जीवनके उदात्त सुखके लिय बल (ब्रह्मचर्य)-की आवश्यकता होती है। उस बलके साधनका एक मात्र उपाय है 'वीर्यरक्षा'। इसी वीयरक्षाका नाम हे—'ब्रह्मचर्य'।

वेदाम ब्रह्मचर्य एव ब्रह्मचारीकी बहुत प्रशमा मिलती है। अथर्ववेदमे एक ही स्थलपर पचीसा मन्त्र ब्रह्मचर्यक महत्त्वको बतलाते हे। उनमे बतलाया गया है कि—

राजा अपन राष्ट्रकी रक्षा, आचार्य अपने ब्रह्मकी रक्षा कन्या अपने लिये तरुण पतिकी प्राप्ति, गा-अश्व आदि पशु घास (तृण) खानेकी सामर्थ्य, देवता अपना अमरत्व और इन्द्र अपना स्वर्गाधिपत्य ब्रह्मचयद्वारा ही प्राप्त कर सकता हे (अथर्व० ११। ५)।

वेदम मनुष्यमात्रको ही ब्रह्मचर्यका उपदश नहीं दिया गया है अपितु स्थावर-जगम जड-चतन-रूप सार ससारको उसका उपदश दिया गया है। यथा—

आषधयो भूतभव्यमहारात्रे वनस्पति।
सवत्सर सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिण॥
पार्थिवा दिव्या पशव आरण्या ग्राम्याश्च य।
अपक्षा पक्षिणश्च य त जाता ब्रह्मचारिण॥

(अथर्व० ११। ५। २०-२१)

—इन मन्त्राम कह हुए पशु-पक्षी आदि सभी अबतक वेदाज्ञाक नियमानुसार चलत ह, परतु मनुष्य उनस बुद्धिम वैशिष्ट्य प्राप्त करक भी इस वेदाल्लिखित आवश्यक कर्तव्यकी अवहेलना करता है। इसी अवहेलनाके फलस्वरूप आज समस्त दशम दु ख-दारिद्र्यकी पताका फहरा रही है आर इस पताकाका ध्वस करनके लिय देश-विदेशके विज्ञान एव सततिशास्त्रके विशषज्ञ सतति-निग्रहकी आवाज उठा रहे ह तथा उसके लिये अवैध उपायाका भी निर्देश करते ह। यदि अब भी मनुष्य-समाज अपन नियम (ब्रह्मचर्य)-पर अटल हा जाय ता उसका परम कल्याण हो सकता है। शतपथ-गापथ आदि ब्राह्मणाम तो यह बतलाया गया हे कि ब्रह्मचारीके ऊपर मृत्यु भी अपना असर नहीं कर सकती। यथा—

ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजा प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्।

परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मने सम्पूर्ण ससारका मृत्युके अधिकारम कर दिया, परतु ब्रह्मचारीका उसके अधिकारम नहीं किया। ऋग्वेदन ब्रह्मचारीका दवताआका एक अङ्ग बतलाया ह आर प्रशसाम वदिक साहित्यकी प्रसिद्ध गुरु साम-कलहकी घटनाम ब्रह्मचारीका प्रधान सहायक बतलाया हे—

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विष स दवाना भवत्यकमङ्गम्।

तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पति । सोमेन नीता जुह्व न देवा ॥

(ऋक्० १०। १०९। ५)

समाजमे रहनेवाला ब्रह्मचारी देवताओंका एक अङ्ग होता है। इस ब्रह्मचारीके द्वारा ही बृहस्पतिने सोमसे हरणकी हुई अपनी स्त्रीको प्राप्त किया।

कठोपनिषद्मे वाजश्रवाके पुत्र नचिकेताको यमदेवने ब्रह्मविद्याके परिज्ञानमे कठिनता बतलाते हुए अनेक प्रलोभन दिया। यहाँतक कि—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाꣳश्छन्दत प्रार्थयस्व।
इमा रामा सरथा सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यै ॥
आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व
नचिकेतो मरण मानुप्राक्षी ।

(क० उ० १। १। २५)

हे नचिकेता! जो पदार्थ पृथ्वीमे नहीं मिल सकते हैं उन सब पदार्थोंको तुम नि सकोच इच्छानुसार माँगो। मेरे द्वारा प्रदत्त सुन्दर रथ और गाजे-बाजोसे युक्त मनुष्योके लिये दुष्प्राप्य इन कमनीय दिव्य अप्सराओसे अपनी सेवा कराओ।

सर्वलोकाधिपति यमराजके इतने प्रलोभन देनेपर भी अपने विचारोमे अटल, वीर-धीर नचिकेताका मन जरा भी विचलित नहीं हुआ। उसने झटसे उत्तर दिया कि—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणा जरयन्ति तेज ।
अपि सर्व जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।

(क० उ० १। १। २६-२७)

हे यमदेव! सासारिक पदार्थ नश्वर हैं और भोगके साधन सम्पूर्ण इन्द्रियोके वास्तविक बलको हर लेते है। प्राणिमात्रका जीवन भी परिमित है। भोगके साधनोसे भोगतृष्णा शान्त नहीं होती है—

न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।

(मनु० २। ९४)

इसलिये थोडेसे जीवनके लिये इन नश्वर, अशान्तिप्रद नृत्य-गीतरत अप्सरादिकोको रहने दें। आपके दर्शनसे हम सब कुछ मिल गया। इस तरह यमराजद्वारा दिये गये प्रलोभनोको नचिकेताने दूषित बतलाकर ठुकरा दिया। इस नचिकेताके आदर्श उपदेशसे सच्चे सुख और सच्ची शान्तिके पुजारियोको ब्रह्मचर्यका आश्रय लेना अत्यावश्यक है।

ब्रह्मचर्यके लिये आहार (कर्म)—खान-पानका भी विचार रखना परमावश्यक है। प्राणिमात्रके लिये जिस प्रकार सात्त्विक जीवन उपयोगी है, उसी प्रकार सात्त्विक भोजन भी लाभकर है। जिसका स्वरूप सूत्ररूपसे भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१७। ८)-मे कहा है—

आयु सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना ।
रस्या स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विकप्रिया ॥

प्रधानतया घी-दूध ही सात्त्विक पदार्थ हैं। यज्ञोमे भी भगवती श्रुतिने घृतप्रधान द्रव्यको सात्त्विक आहार मानकर उसे खानेका उपदेश दिया है—

अमृताहुतिराज्याहुति ।अमृत वा आज्यम्।
आज्य वै देवाना सुरभि घृत मनुष्याणाम्॥

घृत अमृत है। घृत खाना यानी अमृतको पीना है। आज्य (वैदिक विधिसे सस्कृत घृत) देवताओंको प्रिय है। घृत मनुष्योको प्रिय है।

घृतेन त्व तन्व वर्धयस्व॥ (शुक्लयजु० १२। ४४)

तुम अपने शरीरको घृतसे बढाओ।

पयसो रेत आभृत तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराꣳसमाम्।

(यजुर्वेद ३८। २८)

दूधमे वीर्य (चरम धातु) सचित है। इसलिये हम लोग सदा-सर्वदा दूधको प्राप्त करते रहे।

पयसा शुक्रममृत जनित्रꣳ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेत ।अपामति दुर्मति बाधमाना०॥

(यजुर्वेद १९। ८४)

अश्विनी देवता दूधसे दुर्बुद्धिका नाश करके अमृतस्वरूप शुद्ध जीवन (वीर्य)-को उत्पन्न करते हैं।

वाक्-साधन—सात्त्विक जीवनके लिये वाक्-साधन भी परमावश्यक है। यह दो प्रकारका है—

१- स्ववाक्-साधन—अपनी वाणीको सदा शुद्ध (लोकप्रिय) रखना।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रषा लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

(ऋक्० १०। ७१। २)

विद्वान् मनुष्य चलनीसे छान गय सत्तूकी तरह मनस विचार कर वाणीका प्रयाग करते ह। जिस वाणीक यलस अमित्र भी मित्र होत हैं आर उनकी वाणीम भद्रा (कल्याण करनवाली) लक्ष्मी सदा सनिहित रहती है।

२-परवाक्-साधन—दूसरकी वाणीका अपन अनुकूल करना।

चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधाता। न दुरुक्ताय स्पृहयत्॥' (ऋक्० १। ४१। ९)

चार पासाका हाथम रखनवाले जुआरीसे लाग जेसे डरत ह, उसी प्रकार अपनी निन्दास सर्वदा डरता रहे। कभी भी निन्दाकी चाह न कर।

'निन्दन्तस्तव सामर्थ्य ततो दुःखतर नु किम्॥'

(गीता २। ३६)

ऊपर सात्त्विक जीवनक लिय मनद्वारा (ब्रह्मचर्य, कर्म, आहार आर वचन आदि) अनक साधनाक उपायाका दिग्दर्शनमात्र कराया गया ह। आशा है पाठक इससे लाभ उठायग।

वेदमे परलोक

प्राणिमात्रको एक दिन वर्तमान दह छाडकर अपन-अपने शुभाशुभ कर्मोक अनुसार किसा-न-किसी लोकम अवश्य जाना है, क्याकि बिना भाग कर्म नष्ट नहा हात ह। लिखा भी ह—

नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतरपि।

अनक कल्पकाटिम भी बिना भागा हुआ कर्म क्षाण नहीं हाता। इस कर्मफलका भागनक लिये मानव इस जीवलाकम या परलाकम शरीर धारण करता ह। जा प्राणी अच्छा कर्म करता हं वह 'पुण्यलाक' म जाता ह आर जो बुरा कर्म करता है वह 'पापलाक' म जाता ह।

यास्त शिवास्तन्वो जातवदस्ताभिर्वहेन सुकृतामु लाकम्॥

(अ० १८। २। ८)

—इस मन्त्रम अग्निकी प्रार्थना ह कि ह अग्न! जा आपक सुखप्रद स्वरूप ह, उनस इस प्रतका अच्छे कर्म करनेवाले प्राणी जिस लाकम जात ह उस लाकम ल जाइय।

इस मन्त्रसे यह सिद्ध हाता हे कि अच्छ कर्म करनेवालाका लाक अलग ह।

यजुर्वेदम भी अच्छ कर्म करनवालाका लाक अलग बतलाया गया हे। यथा—

नाक गृभ्णाना सुकृतस्य लाक। (शु० य० १५। ५०)

अथर्ववेदम भी परलाकका इस प्रकार निर्देश किया गया है—

यद्र यमसादनात्पापलाकान् (अथर्व० १८। ५। ६४)

स्वर्ग या नरकम जानके लिये यम दवताकी सम्मति ली जाती है। पापका फल भागनके लिय ही प्राणी यमके पास जाते ह। इसम उपर्युक्त 'यमसादनात्पापलोकान्' प्रमाण है। स्वर्गम भी यमकी सम्मति ली जाती है क्याकि 'यमेन त्व यम्या सविदानोत्तमे नाके अधिरोहयैनम्'—इस यजुर्वेदीय मन्त्रम यम आर यमीका एकत्व प्राप्त कर इसको उत्कृष्ट स्वर्गम पहुँचाओ—यह कहा गया ह।

इन प्रमाणास सिद्ध हाता हे कि इस लाकस अन्य कोई परलाक अवश्य है, जिसकी ऋचाआन अनेकविध महत्ता प्रतिपादित की हैं।

वदम प्रसिद्ध तीन लाक हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलाक। इन लाकाक एक-एक दवता हे। पृथ्वालाकके देवता अग्नि, अन्तरिक्षलाकके देवता इन्द्र या वायु आर द्युलाकक देवता सूर्य ह। इन अग्नि, इन्द्र तथा सूर्य आदि दवताआक भागम अलग-अलग काय एव वस्तुएँ हैं। उनम प्रात सवन (प्रात कालीन यज्ञ), वमन्त (चत्र ओर वशाख मास) तथा शरत् (आश्विन तथा कार्तिक मास) ऋतु, गायत्री आर अनुष्टप् छन्द, त्रिवृत् आर एकविंशस्ताम, रथन्तर तथा वैराज सामक भागी स्थानीय अग्निदवता ह आर हविका ल जाना, दवताआका आवाहन एव दृष्टि-विषयक प्रकाश प्रदीप आदि कर्म हैं

एव जातवेदा आदि दवता एव आग्नायी पृथिवी और इला—इन तीन स्त्रियाक भागी भा अग्निदव हैं।

अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्रक माध्यन्दिन सवन, ग्राष्म (ज्यष्ठ तथा आपाढ मास) आर हमन्त (मागशाप आर पाप मास) ऋतु, त्रिष्टप् आर पक्ति छन्द पञ्चदश तथा त्रिणवस्ताम बृहत् आर शाक्कर मास भागी ह। वायु आदि दवता तथा राका, अनुमति, इन्द्राणी आदि स्त्रियाक भागा भा इन्द्र ह। इन्द्रका कर्म ह—वृष्टि-रस प्रदान करना मघाका हटाना आर वलकर्म-सम्पादन।

द्युस्थानीय सूर्यदवताक भागम तृताय सवन वर्षा (श्रावण तथा भाद्रपद मास) आर शिशिर (माघ तथा फाल्गुन मास) ऋतु, अतिच्छन्द तथा जगता छन्द सप्तदश आर त्रयस्त्रिंशस्ताम वरूप आर रैवत साम अश्विना आदि दवता तथा सूर्या आदि स्त्रियाँ ह।

इनका कर्म रसका आकपण करना किरणाद्वारा रसका धारण करना आर वनस्पत्यादि आपधियाका वृद्धि तथा पुष्टि करना ह। द्युलाकका अथववदमें तान भाग वतलाया गया ह। जस—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्या पितर आसते॥
(१८। २। ४८)

नाचका आर स्थित द्युलाक 'उदन्वती' है। मध्यम द्युलाकका नाम 'पालुमती' ह। इसम पालन करनवाले ग्रह-नक्षत्र आदि रहत ह। तीसरा द्युका भाग 'प्रद्यौ' नामक है। वह प्रकृष्ट फल दनक कारण 'प्रद्यौ' अच्छ कम करनवालाका प्राप्त हाता ह—

य अग्रव शशमाना परयुर्हित्वा द्वषास्यनपत्यवन्त।
त द्यामुदित्याविदन्त लाक नाकस्य पृष्ठ अधि दाध्याना॥
(अथर्व० १८। २। ४७)

जा ऊर्ध्वगमन करनवाल अग्रगामी पितर पुत्ररहित हानपर भा द्वष करन याग्य (पापा)-का त्यागते हुए परलाकका प्राप्त हुए ह व अन्तरिक्षका अतिक्रमण कर ऊपर जाकर दु ख-सस्पर्शनस रहित स्वगक ऊपरक भागम ददाप्यमान हात हुए पुण्यफलक भागक स्थानका प्राप्त करत हैं।

यजुर्वेदम भी—'नाकस्य पृष्ठ अधिराचन दिव' इस मन्त्रस 'द्यु' क तान भागका सकत मिलता ह। उपयुक्त वदिक प्रमाणास सिद्ध हाता ह कि इस लाक (पृथ्वी)-स अतिरिक्त काई अन्य लाक अवश्य है और द्युलाकक तृताय भाग 'प्रद्यौ' म अच्छ कर्म करनवालाका वास हाता ह।

~~~~

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'

(श्रीरामनाथजी सुमन)

ससारको दा प्रकारस दखा जाता ह—मित्र-दृष्टिस और द्वष-दृष्टिसे। ऋषि कहत ह—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामह।
(शुक्लयजुर्वेद)

अर्थात् 'हम लाग मित्रका दृष्टिस ससारका दख।' यह उपदशका वाणी नहीं है यह युगाक अनुभवकी वाणी है। जितना ही तुम दूसरास प्रेम करोगे, दूसरासे जुडते जाआग उतने ही सुखी हागे और जितना ही दूसराको द्वेप-दृष्टिसे दखाग, उनसे कटत जाआग उतन ही दुखी हाआग। यह जुडना ही प्रम ह, यह जुडना ही आनन्द है। यहाँ पराया कोई नहीं जो हैं अपन हैं। मित्रताभरी ऑखास देखकर तुम मित्राकी सख्या बढाओगे—उनकी ओर हाथ वढाआग ता वे अपन हा जायँगे और न भी हुए ता उनक परायपनकी धार कुद पड जायगी।

इसाइयाम एक सम्प्रदाय हे—वज्लियन मेथडिस्ट (Wesleyan Methodist) सम्प्रदाय। इसके सस्थापक जॉन वस्ली (John Wesley)-ने लिखा है—'छटाँकभर प्रेम सरभर ज्ञानसे कहीं अच्छा है।' प्रेम ज्ञानसे अच्छा तो है ही एक अर्थम वह स्वय ज्ञान हे तथा सच्चे ज्ञानका उद्गमस्थल है। सत ग्रगारी (St Gregory)-न कहा है—'समस्त ज्ञानकी उत्पत्ति प्रमसे हाती हे।' गेट (Goethe)-ने भी कहा है—'परिश्रमसे जो काम सारी उम्रम कठिनाईसे होता है, वह प्रमक द्वारा एक क्षणम हो जाता है।'

मित्रताकी आँख—अर्थात् प्रमकी आँख और अमित्रताकी आँख अर्थात् द्वेपकी आँख—इन दोनाम पहलेसे धरती स्वर्ग वनती है आर दूसरेसे दुर्व्यवहार दुर्वचन, अहकार वनता है, जिससे नरकका जन्म हाता ह।
~~~~

महाभारतके आदिपर्वमें एक छोटी-सी कथा है। पञ्चाल देशके राजा यज्ञसेनका पुत्र द्रुपद पढ़नेके लिये भरद्वाजके आश्रममें गया। वहाँ वह बहुत दिनोंतक रहा और उसने अनेक प्रकारकी विद्याएँ सीखीं। आश्रममें रहते हुए मुनिपुत्र द्रोणसे उसकी खूब मित्रता और घनिष्ठता हो गयी। आश्रमसे विदा होते समय द्रुपदने द्रोणसे कहा—'यदि तुम कभी हमारे देशमें आओगे तो हम तुम्हारा हर तरहसे सम्मान करेंगे और तुम्हें अपना कुलगुरु बनायेंगे।' कुछ समय बाद यज्ञसेनकी मृत्यु हो गयी तथा द्रुपद राजा हुआ।

उधर उसके सहपाठी द्रोणका भी समयपर गौतम-पुत्री कृपीके साथ विवाह हो गया। इस विवाहसे अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इन दिनों द्रोण बड़ी तंग स्थितिमें थे, उनकी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी—यहाँतक कि वे अपने पुत्रको दूध भी नहीं दे सकते थे। बालक अश्वत्थामा अपने साथियोंको दूध पीता देखकर स्वयं भी दूधके लिये हठ करता था, किंतु द्रोण अपनी निर्धनताके कारण अपने प्यारे पुत्रकी इच्छा-पूर्ति करनेमें असमर्थ थे। बालकको बहलानेके लिये उसकी माँ कृपी पानीमें घोले हुए आटेको दूध कहकर उसे पिला देती थी। वह अपने साथियोंसे जाकर कहता—'मैं भी दूध पीकर आता हूँ, किंतु साथी बालक उसका उपहास करते हुए कहते—'तुमको दूध कहाँ मिलेगा? पानीमें घुले आटेको तुम दूध कहते हो?' इस अपमानसे क्षुब्ध होकर अश्वत्थामा एक दिन अपने पिताके पास गया और रोते हुए ये सब बातें उसने उन्हें सुनायीं। सुनकर पिताका हृदय उमड़ आया, उनकी आँखें भींग गयीं और उन्होंने सहधर्मिणीसे कहा—'अब मुझसे नहीं सहा जाता, अब तो मुझे कोई उपाय करना ही होगा।'

सोचते-सोचते द्रोणको अपने बाल-सखा द्रुपदद्वारा दिये हुए आश्वासनकी याद आयी। वे पञ्चाल देशकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचनेपर जब वे राजा द्रुपदके सामने लाये गये, तब उन्होंने अनजान बनकर इनका परिचय पूछा। जब इन्होंने पुरानी बातोंकी याद दिलाकर कहा कि 'आश्रममें तुम हमारे घनिष्ठ मित्र थे और तुमने मुझसे कुछ प्रतिज्ञा भी की थी', तब द्रुपदने कहा—'राजा और याचककी कैसी मित्रता? मैंने तुमसे कोई प्रतिज्ञा नहीं की।' सुनते ही द्रोण उलटे पाँव वहाँसे लौट आये तथा उनसे इस अपमानका बदला लेनेके लिये ही उन्होंने कौरव-पाण्डवोंको धनुर्वेदकी शिक्षा देना आरम्भ किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुनने मुश्क बाँधकर द्रुपदको द्रोणके सामने उपस्थित किया।

प्रतिहिंसाकी जो लहर उठी, वह शान्त नहीं हुई, द्रुपदके इस अपमानका बदला उनके बेटे धृष्टद्युम्नने द्रोणका सिर काटकर लिया और फिर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने धृष्टद्युम्नको मारकर पितृ-ऋण चुकाया। सम्पूर्ण महाभारत इसी दुष्ट दृष्टिका परिणाम था।

ठीक इसके विपरीत उदाहरण कृष्ण-सुदामाका है। दोनोंके बीच ठीक वही सम्बन्ध था, जो द्रुपद और द्रोणके बीच था, किंतु जब सुदामा निर्धनताकी मारसे विकल हो श्रीकृष्णके पास पहुँचे, तब श्रीकृष्णने देखते ही दौड़कर उन्हें छातीसे लगा लिया। कवि तो कहता है कि अपनी अश्रुधारासे ही उन्होंने अपने बाल-सखाके पाँव धोये, अपने और मित्रके बीच कहीं वैभवको नहीं आने दिया। वे बराबर नम्रता एवं स्नेह ही उड़ेलते रहे तथा जो कुछ भी कर सकते थे, बिना मित्रके कहे ही उन्होंने कर दिया।

इन दोनों दृष्टान्तोंमें प्रकारान्तरसे उसी मित्र-दृष्टि और द्वेष-दृष्टिके परिणामोंका निदर्शन है। मानव मानव होता ही तब है, जब वह प्रेमको—मैत्रीकी दृष्टिको ग्रहण करता है। प्रेम ही जीवनका उत्स है, प्रेम ही उसका पथ है, प्रेम ही उसका गन्तव्य है।

जब ईसाने कहा था—'अपने शत्रुओंसे प्रेम करो', तब संसार उनकी बातपर हँस पड़ा था। जब बुद्धने कहा—'**अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्**', तब आस्थाहीन लोगोंने उनका उपहास किया। जब गाँधीजीने कहा—'विरोधीके प्रति भी अहिंसक व्यवहार करो', तब लोगोंने सूखी हँसी हँस दी। आज भी प्रेमकी, क्षमाकी, अहिंसाकी, जीव-मैत्रीकी बात करनेपर लोग सिर हिला देते हैं, कहते हैं—ये सब हवाई बातें हैं। परंतु प्रेम क्या सचमुच हवाई है? यह ठीक है कि मनुष्यमें पशुताका अंश भी दिखायी पड़ता है परंतु वह आरोपमात्र है। मनुष्यमें प्रेमका अंश उससे कहीं अधिक है और यह बात इससे कहीं अधिक सत्य है कि प्रेम किये बिना मनुष्य

जी ही नही सकता। जबतक वह प्रम न करगा स्वरूपक दर्शन न कर सकेगा। आनन्द और रससे दूर जीवनक नरकमे भटकता ही रहेगा।

तुम किसाको शत्रु-दृष्टिस दख सकत् हो, तुम उसस बदला ले सकत हा तुम उस हानि पहुँचा सकत हा। परतु ऐसा करक तुम आनन्द नहा प्राप्त कर सकते सुखा नहीं हा सकते, क्याकि उसको हानि पहुँचानक पहल तुम अपनका हानि पहुँचा चुकत हो आत्मद्राह कर चुकत हा। इसीलिये जब तुम ऊपरस क्षणभरक लिए उल्लसित हा उठत हो तब भी अदरस अत्यन्त सतप्त व्याकुल अतृप्त आर प्यासे रह जाते हा। सुख तथा आनन्दक लिय प्यारक सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं है। इसलिय जगत्‌म जितन महापुरुष हुए ह सब इसा प्रम-मार्गकी ओर सकत करत ह। जिस नीचस ऊपर उठना ह जिसे जावनका उच्च भूमिकापर पहुँचना ह जिस सच्चे आनन्द आर सुखकी खाज ह, उसक लिय दूसरा रास्ता नहा ह।

सुकरातसे उसक किसी विराधीन एक बार कहा था—'यदि मे तुमस बदला न ल सकूँ तो मर जाऊँ।' सुकरातने उत्तर दिया—'यदि म तुम्ह अपना मित्र न बना सकूँ ता मर जाऊँ।'

आज ससार नरक हा गया है। सारी विद्या-बुद्धि प्रगति ओर वैज्ञानिक उपलब्धियाके होते हुए भी जीवन भाररूप हा गया ह। ईर्ष्या-द्वेष तथा घृणाका अन्धकार फैलता ही जा रहा ह। हमारा बहुत-सा दु ख दूसराके प्रति हमार सशय आर अविश्वाससे पैदा हुआ है। जिसे हम आँखाकी कोरम जरा-सा मुस्कानकी किरण फेलाकर अपना बना सकते ह जिसे हम अधरपर फूट दा प्रेम-वचनोंसे जीत सकत है उस हम अपनी शकालु दृष्टि चढी हुई भाहा ओर व्यग्यक कटु शब्दास दूर हटात जा रह ह। सहानुभूतिक स्पर्शस पत्थर द्रवित हो जाता हे प्रमकी एक चितवन दुर्भावनाआकी काइका काटकर सदाक लिय वहा दती ह, वह हृदयम सीधे प्रवश कर वहाँ अपना घर बना लती है। जब मन रसस भरा हाता ह तभी हम आनन्दका भूमिम प्रवश करते ह जब मानव स्नेहका दान करता हे तभी उसका जीवन सार्थक हाता ह। इसलिय जा आनन्द चाहता ह, उस अपन हृदय-कपाट खाल दने हाग। क्या यह कठिन है? क्या यह असम्भव हे? जरा भी नहीं, किंतु इसके लिये हम दृष्टि बदलनी हागा। निश्चय कर लना हागा कि आजसे प्रतिदिन हम एक नया मित्र बनायग प्रतिदिन हृदयकी कोई-न-काई गाँठ खुलगा आर हृदयम पत्थर बना वासना एव कटुताकी अहल्याएँ मानवी बनती जायँगी। कठिनाई यह नहीं कि प्रम दुलभ ह अपितु वह ता ससारम सबसे अधिक सुलभ है प्रत्यक प्राणाम उस प्राप्त किया जा सकता है। किंतु कठिनाई यह ह कि हम दिलका दरवाजा बद किय बैठे रहते हैं आर पाहुन कुडी खटखटाकर लाटते जाते हैं।

जरा हृदयक कपाट खाल दाजिय आर प्रतिदिन सुबह उठकर निश्चय कीजिय कि आज आप एक नया मित्र बनायगे। इसका खाजम कहीं दूर जाना नहीं है। राह चलते हुए, अपने प्रतिदिनक सामान्य कामाका करते हुए आप उसे पा लग। आप चाह जितन व्यस्त हा, आगन्तुकके लिये स्नेहभरा मुस्कान ता आप बिछा ही सकते हैं। चीज खरादनक लिय आनवाल ग्राहक, यात्राक लिये टिकट पानका व्याकुल मुसाफिर अकली यात्रा करती अरक्षित बहिन, रास्ता भूले यात्रा आफिसम आपक पास कामसे आनवाल आदमी अध्ययनका गुत्थियाम उलझे हुए छात्र, दिनभरका हारा-थका गृहिणियाँ आर द्वारकी आर उत्सुकताकी दृष्टि बिछाय बच्चे कष्टसे तडपत रोगी, भूख-प्याससे शिथिल मानव—न जाने कितन रूपाम तुम्हारे स्नेह तथा सहानुभूतिक प्यास भक्त बिखर हुए हे। कवल देखनेका साहस करो ओर बद दरवाज खाल दो। प्राणवायुको अदर आने दा—प्रेमकी प्राणवायु, स्नेह आर मित्रताकी जादूभरी वायु बस, तुम्हारा काया-कल्प हा जायगा।

पग-पगपर प्रेम तुम्ह पुकार रहा है ओर तुम हो कि अपनी आँख बद किये अपने कान बद किये पथपर चले जा रह हो—निरानन्द थकावटस भरे प्रभुको उलाहना देते, भाग्यका कासते। जरा आँख खाला, पाहुन तुम्हारे द्वारपर खडा ह जरा कान खालो भगवद्विभूति तुम्ह पुकार रही है। अगणित मित्र तुम्हारा आवाहन कर रह हैं। कवल दखने-दखनकी बात हे आनन्द तुम्हारा है, प्रेम तुम्हारा है स्वर्ग तुम्हारा ह प्रभु तुम्हारे हैं।

वेदोमे विद्या-उपासना

(महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा)

ईश्वरप्राप्तिके वेदिक साधन

ईश्वरकी प्राप्ति महान् धर्म ह क्याकि उससे सुख-शान्तिका लाभ अवश्य ही हाता है और वह सर्वदा एकरस एव नित्य हाता है। धर्मकी तीन शाखाएँ हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। छान्दाग्यापनिषद् (२। २३। १)-म कहा गया है—'त्रया धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानम्।' भक्ति और तपस्या यज्ञ हैं, दान कर्म है और अध्ययन ज्ञान ह। ज्ञानके विना कोई काम नहीं हाता। जो ज्ञान भक्ति आर कमका सहायक है, वह कारण है। जो इन दानाक बलस उत्पन्न होता है, वह कार्य है। दोना प्रकारक ज्ञान धर्म हैं। ज्ञानका पर्यायवाची शब्द वेद है। वेदका मुख्य तत्त्व 'ॐ' है। शास्त्राम ज्ञानके अर्थम 'विवक' और 'विद्या' शब्दका भी व्यवहार हुआ है। ज्ञानस मुक्ति निश्चितरूपसे सम्पन्न होती है। इसीलिये विद्यासे अमरताकी प्राप्ति मानी गयी है—'विद्ययामृतमश्नुते।'

उद्गीथविद्या

ज्ञान तो उपासनास हाता है, वह कसे की जाय? 'ॐ'के द्वारा परमात्माका ध्यान करना—यह भी एक उपासना है। हे ॐस्वरूप परमात्मन्! मुझ स्मरण रखा, कहीं मुझ भूल न जाना—'ॐ क्रतो स्मर।' प्रणव अर्थात् 'ॐ' परमात्माका सर्वश्रेष्ठ नाम है, क्याकि इसक द्वारा उन्नत भावपूर्वक परमात्माका गायन होता है। इसीसे प्रणवको उद्गीथ कहत ह। उपनिषदाम आर योगदर्शनम कहा गया है कि प्रणवका जप करनेसे आत्मज्ञानकी उपलब्धि एव विघ्नाका नाश हो जाता है। आचार्य लाग इस अक्षर—अविनाशी मानते हैं। पृथ्वी सब प्राणियाको धारण करती है, वही प्राणियाका आश्रय है उसका सार है जल। जलन ही ओषधियाम सार-तत्त्वका दान किया है। उसीस पुरुष परिपुष्ट होते ह। पुरुषम सार वस्तु है वाक् (वाणी)। उसम ऋक् आर साम यथार्थ तत्त्व है। उनका सार 'ॐ' है। शक्ति अथवा अर्थके ध्यानसे 'ॐ'से बढकर ईश्वरका दूसरा नाम नहीं है—'स एष रसाना॰ रसतम' (छान्दाग्य० १। १। ३)। इसके उच्चारणके समय वाक् आर प्राणम एकता सम्पन्न हाती ह। इससे जप करनवालाक सब मनारथ पूर्ण हाते है—'आपयिता ह वै कामाना भवति' (छान्दाग्य० १। १। ७)। प्रणव शब्दका एक अर्थ स्वीकार अर्थात् 'हाँ' भी होता ह। जो इस धारण करनम तत्पर है,उसके सब कार्य ओर सभी इच्छाएँ स्वीकृत हा जाती हैं।

सवर्गविद्या

'सवर्ग' शब्दका अर्थ ह ग्रहण कर लना अथवा ग्रास कर लना। अग्नि बुझनपर कहाँ जाती है? सूर्य तथा चन्द्रमा अस्त होनपर कहाँ रहत ह? इसका उत्तर ह कि ये ताना वायुस ग्रस्त हा जाते ह। इनपर वायुका आवरण पड जाता ह क्याकि इनकी उत्पत्ति वायुसे हे ओर ये तीना ही अग्निरूप हे। प्रकाशमय हानक कारण सूर्य आर चन्द्रके अग्नित्वम भी सदह नहीं हो सकता। वदने इनका आविर्भाव अग्निसे माना ह। जल भी वायुम लीन हा जाता है। सुषुप्तिके समय वाणी, आँख, कान तथा मन प्राणम व्याप्त रहते हैं। उस समय केवल श्वास—प्राणवायु चलता रहता है। दूसरी इन्द्रियाको क्रियाएँ भी लुप्त हा जाती ह। यह प्राणम इन्द्रियाका सवर्ग हुआ। प्राण एव वायुका सवर्ग कहाँ हाता ह? इनका सवर्ग परमात्मा है। यह ज्ञान जिसे हो जाता है, वह परमात्माका भक्त बन जाता ह।'

एक समय शानक आर काक्षसनि भाजन कर रह थे। उसी समय एक ब्रह्मचारीन आकर उनस भोजनकी भिक्षा माँगी। उन लागाके अस्वाकार करनेपर ब्रह्मचारीने कहा—'जा सबका पालन करनवाला है, जिसम सबका सवर्ग होता हे उसे तुम लाग नहा देखत, इसीस अन्न नही द रहे हो।' इसपर दाना महर्षियान उसे अन्न देकर कहा—'हम जानते हे कि तुम्हार वचनका तात्पर्य ब्रह्म है। जो सबको खाता हे जिस काई नही खा सकता जिसम सब लीन हो जाते हें और जा किसाम लीन नहा हाता वह महामहिमशाली मेधावा ब्रह्म है, जो सबका उत्पन्न करता है'—

आत्मा दवाना जनिता प्रजाना॰हिरण्यदश्ष्ट्रो बभसोऽन-सूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमान ।

(छान्दाग्य० ४। ३। ७)

मधुविद्या

ब्रह्माण्डम कौन एसा मनुष्य है,जा माधुर्य पसद नहीं करता। मधुविद्याम जा 'मधु' शब्द ह वह मीठे पदार्थका बाधक ह। मनुष्यजातिका स्वाभाविक खाद्य मीठा दूध है।

परमात्मा उससे भी माधुर्यशाली है। उस माधुर्यकी प्राप्ति सूर्यके द्वारा हो सकती है, क्योंकि सूर्य खट्टे फलोंको पकाकर मीठा बना देता है। इसीसे उपनिषद् कहती है कि सूर्य देवताओंके मधु हैं। मधुका छाता किसी लकड़ी आदिमें लगता है। सबसे ऊपरका द्युलोक इसके लिये आश्रय है। अन्तरिक्ष छाता है और सूर्यरश्मियाँ भ्रमरोंकी पंक्तियाँ हैं। चारों वेदोंके अनुसार किये हुए कर्म पुष्प-पराग हैं। उनसे अमृतस्वरूप मोक्ष जो कि मधु है, उत्पन्न होता है। कर्म-प्रवर्तक सूर्य ही मुख्य रूपसे मधु है—यदि उसकी उपासना करें तो परम मधु ब्रह्मकी प्राप्ति सहज हो जाती है।

असौ वा आदित्यो देवमधु····वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि॥ (छान्दोग्य० ३।१।१, ३।५।४)

पञ्चाग्निविद्या

जो लोग सूर्यके उत्तरायण होनेपर शरीर-त्याग करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं उन्हें फिर लौटना नहीं पड़ता। जो दक्षिणायनमें प्राण-त्याग करते हैं, वे संसारमें फिर जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तरायणका अर्थ ज्ञानमार्ग है और दक्षिणायनका कर्ममार्ग। ज्ञानमार्गके पथिकको पञ्चाग्निविद्याका पूर्ण परिचय होना चाहिये। श्वेतकेतु पाञ्चालोंकी राजसभामें गया, वहाँ उससे पाँच प्रश्न पूछे गये परंतु श्वेतकेतु किसीका उत्तर न दे सका। उसने वहाँसे लौटकर अपने पिता गौतम आरुणिसे कहा—'पिताजी आपने मुझे सब विद्याएँ नहीं सिखायीं। मैं पाञ्चाल-नरपति प्रवाहणके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सका। आप मुझे उन विद्याओंका उपदेश कीजिये।' इसपर आरुणिने उन विद्याओंके सम्बन्धमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। श्वेतकेतुने पुनः राजा प्रवाहणके पास जाकर उन विद्याओंका उपदेश प्राप्त किया। राजाने पञ्चाग्निविद्याका उपदेश किया—

'यह लोक अग्नि है, इसको प्रज्वलित करनेके लिये सूर्य लकड़ी है। उसकी किरणें धूम हैं दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं तथा अवान्तर-दिशाएँ स्फुलिङ्ग हैं। इस अग्निमें देवता लोग श्रद्धारूपी हविका हवन करते हैं। इस हवनसे सोमकी उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि यहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। अतएव देवता जलसमूह मेघरूप अग्निमें सोम (चन्द्रमा)-को लोकरूप अग्निमें वृष्टिको और वृष्टिसे उत्पन्न अन्नको पुरुषरूप अग्निमें जलाते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न होता है उसका हवन स्त्रीरूप अग्निमें होता है। मनुष्योंकी उत्पत्तिमें लोक मेघ पुरुष और स्त्री कारण हैं। पुरुष और स्त्रीको चिताकी आग भस्म करती है। यही पाँच अग्नियाँ हैं। इन पाँचोंमें परमात्मा व्याप्त हैं। इनके द्वारा जो परमात्माको जानता है, वह नित्यमुक्त हो जाता है। वेदान्तमें इस पञ्चाग्निविद्याका बड़ा विस्तार है, संक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख किया गया है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्तिहीन मुक्तिको प्राप्त होता है'—

पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥

(बृहदारण्यक० ६।२।१५)

उपकोसलकी आत्मविद्या

उपकोसल जाबाल सत्यकामके पास बहुत दिनोंतक शिष्यभावसे रहा, परंतु महर्षिने उसे ब्रह्मतत्त्वका उपदेश नहीं किया। उनके बाहर चले जानेपर मानसिक व्याधिसे पीड़ित होकर उपकोसलने भोजन और भाषणका परित्याग कर दिया। यह देख सत्यकामकी अग्नियोंने करुणावश होकर उपदेश किया कि 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।' इसपर यह संदेह होता है कि प्राणवायु जो कि अचेतन है, 'कं' अर्थात् सुख जो कि परिमित है और 'खं' अर्थात् आकाश जो कि शून्य है—ये भला, ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? उस वचनका यह अभिप्राय नहीं है। जिस परमात्माके बलसे प्राण अपना कर्म करते हैं, वही प्राण है। वह आकाशके समान व्यापक और असीम आनन्दस्वरूप है। इस विद्यामें लौकिक प्राण, सुख और आकाशका वर्णन नहीं है। इसके पश्चात् अग्नियोंने पृथक्-पृथक् उपदेश किया तथा जाबाल सत्यकामने लौटकर और भी उपदेश किया। इन्हीं सब विद्याओंका नाम 'उपकोसल-विद्या' है। जो ईश्वरको विद्योक्तरूपमें समझता है, वह उसकी उपासना करता है। यह उपासना मननसे दृढ़ होती है—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।'

शाण्डिल्यविद्या

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिशास्त्रके आचार्य थे। उनका बनाया हुआ शाण्डिल्यसूत्र संस्कृत-साहित्यका आदरणीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें भक्तिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि परमात्माका मुख्य गुण करुणा है—'मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्' (शाण्डिल्यसूत्र)। महर्षिका कथन है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है उपासनामें यह भावना रखनी चाहिये। इसका कारण यह है कि परमात्मा 'तज्जलानिति' है। अर्थात् यह संसार उसीसे उत्पन्न होता है उसीमें लीन होता और उसीसे प्रतिपालित होता है। पुरुष अध्यवसायमय अर्थात् भावनामय है। उसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसे गति मिलेगी। परमात्मा इच्छामय प्रज्ञाचैतन्यस्वरूप सत्यसंकल्प

सर्वगत, सर्वकर्ता तथा रस-गन्धाका आदि स्थान है। जितनी अच्छी अभिलाषाएँ हैं, सब उसीकी प्ररणासे होती ह। इन्द्रियाके बिना जो सब कुछ करता है, जो सबसे महान् तथा सबसे सूक्ष्म हे, वह दयालु हम लागाके हृदयम ही विराजमान हे। यदि हम लोग उसका आश्रय ल तो उसे अवश्य प्राप्त कर सकते ह, इसम सदह नहा—

'सर्व खल्विद ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'

'एतद् ब्रह्मैतमित प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति।'

(छान्दोग्य० ३। १४। १ ४)

दहरविद्या

जेसे इस लोकम पुरुषार्थसे पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही पुण्यबलसे उत्पन्न उत्तमात्तम पारलौकिक सुख भी नष्ट हो जाता ह। जिसे परमात्माका ज्ञान हा गया है, उसके सुख नित्य होत हैं। य कभी नष्ट नहीं होते। परमात्माका ज्ञान उपासनाके बिना नहीं हाता। उपासनाका अर्थ है समीप रहना। जिसका काई पता-ठिकाना ही नहीं, उसक समीप कोई कैसे रहे? श्रुति कहती है कि 'मनुष्यका शरीर ही ब्रह्मपुर है, उसका दहर—हृदयकमल भगवान्का निवासस्थान है, उसीम परमात्माको खोजा। वहीं उसका साक्षात्कार करो। यह मत सोचो कि सत्रस वडे भगवान् इतन छाट-से स्थानम कैसे रहगे।' जितना बडा यह बाहरका आकाश है, उतना ही बडा—बल्कि उसस भा बडा हृदयाकाश ह। उसमे अग्नि, सूर्य चन्द्रमा, वायु आदि सभी ह। उसम रहनेवाले परमेश्वर शरीरके धर्मोका स्पर्श नहीं करते। जरा-मृत्यु, क्षुधा-पिपासा उनका स्पर्श नहीं कर सकतीं। बाहरकी अभिलाषाएँ वहाँ पूर्ण रहती हैं। कोई दु ख-शोक वहाँ नहीं सताता—

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्। (छान्दोग्य० ८। १। १)

भूमाविद्या

जगत्के प्राणी जो कुछ करते ह, उसका उद्देश्य सुख है। सुखकी जानकारीके बिना सुख नहीं हो सकता। यह सभी जानते हैं कि क्षणस्थायी अल्प वस्तुम सुख नही हाता। जगत्म जितने पदार्थ हे—वे नाशवान् हैं अल्प है और किसी-न-किसी रूपम दु खमय हैं। सबसे महान्—सबसे बडी वस्तु ईश्वर हे, वही सुख है। उसका स्वरूप आनन्दमय है—'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्'। यहाँ एक बात विचार करने योग्य है कि हम जगत्म बहुत कुछ खाते-पीत दखते-सुनत हैं परतु तृप्ति नहीं होती। इसका कारण क्या हे? जगत्की वस्तुएँ परिमित हे, अल्प हैं। परमात्मा सबसे बडे—असीम हैं, उनके मिल जानेपर दूसरे किसी पदार्थकी इच्छा नहीं होती और पूर्णता आ जाती है, क्याकि सब वस्तुआकी स्थिति परमात्माके आश्रयसे ही हे। सब वस्तुएँ विनाशशील हे तथा परमात्मा अमृतस्वरूप भूमा (अनन्त) हैं—

यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुख भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य । (छान्दोग्य० ७। २३। १)

दीर्घायुष्यविद्या

जो मनुष्य चोबीस, चौवालीस अथवा अडतालीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करके यज्ञादि करत हैं, वे नाराग रहते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते ह। जा ब्रह्मज्ञानी उपासक हैं, उनकी मृत्यु उनकी इच्छाक अधीन हाती है। महिदास नामके एक उपासक ज्ञानी सालह सौ वर्षोतक जीवित रह—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेय " स ह षोडश वर्षशतमजीवत्। (छान्दोग्य० ३। १६। ७)

जो बहुत दिनातक जीवित रहना चाहते हैं, उन्हे ब्रह्मज्ञानरूपकी उपासना करनी चाहिये।

मन्थविद्या

सिद्ध अथवा शरण-प्रपन्न हा जानेपर धनकी आवश्यकता नहीं हाती, परतु साधनावस्थाम उसकी आवश्यकता होती है। तदर्थ मन्थाख्य कर्म किया जाता है। इससे धन प्राप्त होता है। उस कर्ममे ईश्वरसे प्रार्थना की जाती ह कि—'हे अग्निस्वरूप दव भगवन्। सब देवता विपरीत होकर मेरे अभिजया (सफलताआ)-को नष्ट कर देत हैं। मैं उनकी तृप्तिके लिय आहुति देता हूँ।' किसी अच्छ मुहूर्तम दुग्धपायी रहकर कुशकण्डिका करे ओर ओषधिया तथा फलासे हवन करे। बृहदारण्यकापनिषद् (६। ३। २)-क **'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा०'** इत्यादि मन्त्रासे आहुति देनी चाहिये।

जिसको मोक्षप्राप्तिकी इच्छा हे, उसका किमी कामनास ईश्वरकी उपासना नहीं करनी चाहिय। सकाम उपासना ता माक्षम विघ्नकारक हे। भगवान् निष्काम कर्मस प्रसन्न होते हैं। जबतक हृदयम कामनाएँ भरी हुई हैं, तबतक परमात्माक लिय स्थान कहाँ हे? कामना-दूपित हृदयक सिहासनपर परम पवित्र परमात्मा केस विराजमान हाग? इसीसे बृहदारण्यकापनिषद् (४। ४। ६)-म कहा गया हे—

'योऽकामो निष्काम आप्तकाम ।'

अर्थात् जो अकाम हे, निष्काम है आप्तकाम हे, वही भगवत्प्राप्तिका अधिकारा हे।

जीवेम शरद शतम्

(पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र का० व्या० सां० स्मृ० तीर्थ)

अधिक दिनोतक जीवित रहनेकी इच्छा प्राणिमात्रकी होती है। धर्म-प्रधान भारतवर्षमे इसी उद्देश्यसे सध्योपासनका विधान वेदोमे किया गया है। सध्योपासनमे बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिके लिये अनेक मन्त्रोसे जलको पवित्र करके आचमन करनेका विधान है और बाह्य शुद्धिके लिये मन्त्रोसे अभिमन्त्रित जलसे शरीरका अभिषेक करनेको लिखा है। साथ-ही-साथ आयुवृद्धिके लिये प्राणायामका विधान है।

इसके पश्चात् भुवनभास्कर भगवान् सूर्यकी उपासनाका क्रम लिखा है। चन्दन पुष्प आदि अर्घ्यकी वस्तु जलके साथ लेकर सूर्यके लिये अर्घ्य प्रदान करनेकी विधि है। इसके पश्चात् सूर्योपस्थानके चार मन्त्र हैं। उनमे सूर्यकी स्तुतिके साथ उनसे अपने जीवनकी वस्तुओके लिये प्रार्थना है। चौथा मन्त्र इस प्रकार है यथा—

ॐ तच्चक्षुर्देवहित पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरद शत जीवेम शरद शत॰ शृणुयाम शरद शत प्र ब्रवाम शरद शतमदीना स्याम शरद शत भूयश्च शरद शतात्। (शु० यजु० ३६। २४)

इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्यकी परमायु एक सौ वर्षकी है और वह कर्म करते हुए एक सौ वर्षतक जीवित रहना चाहता है। ईशोपनिषद्के दूसरे मन्त्रमे भी यही बात लिखी है। यथा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत॰समा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् मनुष्यको कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये। इस तरह विहित कर्म—अग्निहोत्रादि करते रहनेसे मनुष्य कर्मफलसे लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि कर्मफलको प्राप्त करनेकी इच्छासे काम्यकर्म भव-बन्धनका कारण होता है अन्यथा निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर कर्म करनेसे प्रारब्धका भोग हो जाता है और सचित कर्मकी उत्पत्ति होती ही नहीं इससे परम शान्ति मिल जाती है।

प्राचीन ऋषिगण अपने इन्ही कर्तव्योका पालन करते थे जिससे उनकी इन्द्रियाँ जीवनभर शिथिल नहीं होती थीं सौ वर्षतक कर्तव्य-पालन करते हुए जीवित रहते थे।

हम लोगोके नेत्रोमे जो ज्योति है वह सूर्यकी ज्योति है। सूर्य ही प्रकाशके अधिष्ठाता हैं अत आजीवन हमारे नेत्रोकी ज्योति बनी रहे ऐसी प्रार्थना हम सूर्यसे करते हैं। इसी तरह अन्य इन्द्रियोमे जो शक्ति प्राप्त है वह सूर्यसे ही प्राप्त है। अत हम प्रतिदिन सूर्यकी उपासना करनी चाहिये—'पश्येम शरद शतम्'—हम सौ वर्षतक देखे हमारे नेत्रोकी ज्योति कम न हो। 'जीवेम शरद शतम्'—हम सौ वर्षतक जीवित रहे हम अपनी पूर्ण आयुको भोगकर कर्तव्य-पालन करके भगवान्को प्राप्त करे। 'प्र ब्रवाम शरद शतम्'—हम सौ वर्षतक बोले अर्थात् शास्त्रोका अध्ययन और अध्यापन करे तथा भगवान्का भजन करके अन्तमे उन्हींमे लीन हो जायँ। 'शृणुयाम शरद शतम्'—तात्पर्य यह है कि हम सौ वर्षतक सुने—अर्थात् सौ वर्षतक सत्सग करे, श्रीभगवान्के गुणोको सुने और अन्त करणको पवित्र करे। 'अदीना स्याम शरद शतम्'—अर्थात् जबतक हम जीवित रहे दीन न हो जिससे आश्रममे आये हुए अतिथियोका सत्कार कर सके। अत हमारे पास इतना धन रहे जिसमे स्वय भोजन करे तथा समागत अतिथिको भी भोजन कराये।

इस तरह अपनी आयु और इन्द्रियोमे शक्तिके लिये सर्वत्र उपनिषदोमे प्रार्थनाके मन्त्र पाये जाते हैं। प्रश्नोपनिषद्के शान्तिपाठके मन्त्रमे भी ऐसी ही प्रार्थना प्राप्त होती है। यथा—

ॐ भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा॰सस्तनूभिर्व्यशेम देवहित यदायु ॥

'हे देवगण। हम कानोसे शुभ वचन सुने। यज्ञादि अनुष्ठान करते हुए नेत्रोसे माङ्गलिक वस्तुओको देखे। हम लोगोके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृढ रहे, जिससे हम लोग देवताओका हित करते हुए अपनी पूर्ण आयुका उपभोग करे।'

ऋषिगण इसी तरह यज्ञादि-अनुष्ठान तथा अपने नित्यकर्म नियत समयपर करते हुए पूर्ण आयुका उपभोग करते थे और उनकी इन्द्रियाँ सबल रहती थीं। उनके शरीरके सभी अवयव दृढ एव मजबूत रहते थे। इससे उनका जीवन भारभूत नहीं होता था।

आजकल हम नित्यकर्म भूल गये हैं जिससे न तो हमारा शरीर सबल होता है न मन दृढ रहता है, बुद्धिकी शक्ति दिनोदिन क्षीण होती जा रही है। पचास वर्षके बाद

ही हमारा जीवन हम भार मालूम पडने लगता है। इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, नेत्रमे ज्योति नहीं रहती। साठ वर्षकी उम्र होनेपर हम किसी कामको करने योग्य नहीं समझे जाते। हमारी परमायु ६० से ७० के अदर हो गयी है।

जबकि वैदिक शास्त्रके अनुसार मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी कही गयी है। वहाँ ज्योतिष शास्त्रके अनुसार तो मनुष्यकी आयु १०८ और १२० वर्ष कही गया है, क्योंकि मनुष्यके जीवनभरमे नव ग्रहोकी दशा एक बार बारी-बारीसे आती है तथा एक राशिपर उनकी स्थिति जितने दिनकी होती है, उनको जोडनेसे १२० वर्ष होती है। कुछ ज्योतिर्विदोके मतके अनुसार १०८ ही वर्षकी परमायु होती है।

इस समय मृत्यु-सख्याको देखनेसे और अल्प अवस्थामे मृत्युकी सख्यासे पता चलता है कि जितना ही हम लोग अपने कर्तव्यसे दूर हट रहे है, उतनी ही हमारी इन्द्रियाँ अल्पकालमे ही कार्य करनेके योग्य नहीं रह जातीं। बाह्य कृत्रिम उपकरणोको काममे लाते हैं, जिससे लाभके स्थानमे हानि ही प्रतीत होती है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकोने भी इस बातको स्वीकार किया है कि आध्यात्मिक विज्ञानके समक्ष यह भौतिक विज्ञान अत्यन्त क्षुद्र है, क्योंकि आध्यात्मिक विज्ञानमे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है, वह अक्षय होती है और भौतिक विज्ञानसे प्राप्त होनेवाली वस्तु नश्वर होती है।

आध्यात्मिक विज्ञानकी सफलताके लिये अन्त करणकी शुद्धि अपेक्षित है, जो प्रतिदिन सध्या-वन्दन करनेसे शुद्धताको प्राप्त करती है। अत यदि हम इस ससारमे अपने जन्मको सफल बनाना चाहते हैं और अपनी इन्द्रियोद्वारा भगवान्‌का भजन करते हुए पूर्णायुको भोगना चाहते हैं तो हमे अपने वर्णोचित सध्या-तर्पण आदिसे चित्तको शुद्ध करके ईश्वरका भजन करते हुए १०० वर्षतक जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये। 'शतायुर्वै पुरुष '—इस शास्त्रीय वचनको सत्य बनाना चाहिये।

वैदिक निष्ठा और भूमा

(चक्रवर्ती श्रीरामाधानजी चतुर्वेदी)

छान्दोग्योपनिषद्‌के सातवे अध्यायमे देवर्षि नारद तथा आचार्य सनत्कुमारका सवाद है, जिसमे परमसुख-स्वरूप—मूलतत्त्व भूमाका निरूपण आधाराधेयभावके क्रमसे हुआ है। उसका प्रसग यह है कि एक समय नारदने सनत्कुमारके समीप जाकर कहा—'भगवन्! मुझे पढाइये' (अधीहि भगव इति)। सनत्कुमारने कहा—'पहले आप यह तो बताइये कि अबतक क्या पढे है?' नारदने कहा—'भगवन्! ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद तथा इतिहासपुराणरूप पाँचवे वेदको भी मै जानता हूँ। इसके अतिरिक्त मै वेद-व्याकरण श्राद्ध-कल्प, गणित, उत्पात-ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र नीति, निरुक्त शिक्षा कल्प छन्द ब्रह्मविद्या, नृत्य-गान और विज्ञान आदि भी जानता हूँ, किंतु मैं केवल मन्त्रोको जानता हूँ, आत्मतत्त्वको अनुभव मुझे नहीं है क्योंकि आप-जैसे महानुभावोसे मैने सुन रखा है कि जो आत्माको जान लेता है, वह शोकको पार कर जाता है—(तरति शोकमात्मवित्)।' मै अभी शोक करता हूँ, अत आत्मज्ञ नहीं हूँ। आप मुझे आत्मोपदेश प्रदान कर शोकरूपी सागरसे पार कर दीजिये (शोकस्य पार तारयतु)। सनत्कुमारने कहा कि अबतक जो कुछ आप पढे हैं, वह सब नाम ही है विकारमात्र है, केवल वाणीका विषय है। वास्तविक तत्त्व जो सत्य है, वहाँ तो वाणी मौन हो जाती है, क्योंकि उस एकको जान लेनेके बाद पुन जिज्ञासा नहीं होती।

इसके बाद नारदकी जिज्ञासाके अनुसार सनत्कुमारने नाम, वाक्, मन एव सकल्प आदिके क्रमसे एक दूसरेको पहलेका आधार बताते हुए उस तत्त्वका निर्देश किया। जिसमे उन्होने बताया कि तत्त्व-जिज्ञासुको निष्ठावान् होना चाहिये, क्योंकि निष्ठाशील मनुष्य ही श्रद्धालु होता है। इसीलिये उन्होने कहा—'*यदा वै निस्तिष्ठति अथ श्रद्दधाति*' अर्थात् जब मनुष्यकी निष्ठा होती है तभी वह श्रद्धा करता है। अत हे नारद! निष्ठाको जानना चाहिये। निष्ठा शब्दका अक्षरार्थ है—दृढ स्थिति। साधककी दृढ स्थिति ही निष्ठा है। श्रीशकराचार्यजीने इसके भाष्यमे लिखा है—'**निष्ठा गुरुशुश्रूषादिस्तत्परत्व ब्रह्मविज्ञानाय**' अर्थात् गुरुसेवा आदि तथा ब्रह्म-विज्ञानके लिये तत्परता निष्ठा है। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम साधककी दृढ स्थिति गुरुभक्तिमे होती है। उससे ही वह अपने लक्ष्यकी ओर तत्पर होता है। अस्तु,

परतत्त्वम निष्ठा दो प्रकारसे होती है—ज्ञानयागस तथा कर्मयोगसे। कर्मसन्यास करनेवाल ज्ञानीजन नित्य और अनित्य वस्तुआका विचार कर व्यापक तत्त्वक साथ अभिन्न-भावसे अपनी दृढ स्थिति रखते है। इसलिय उनके लाकिक कर्म छूट जाते ह। इस मार्गके अनुयायी वामदेव, जडभरत, शुक आदि ज्ञानी प्रसिद्ध ह। दूसरे निष्कामकर्म करनेवाले यागी फलकी इच्छाआका त्याग कर अपने कर्तव्यकर्मसे उसी तत्त्वम निरत रहते हैं। इस पथके प्रमुख प्रदर्शक राजा जनक है। इन दा निष्ठाआका विस्तृत निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता (३। ३)-म हुआ है—

लाकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्राक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्याना कर्मयोगन योगिनाम्॥

यद्यपि लोकम निष्ठाक य दा पक्ष विख्यात है, फिर भी दोनाका लक्ष्य एक ही है, क्याकि परतत्त्वकी अनुभूतिम ही दोनाका पर्यवसान है। अत ज्ञाननिष्ठा आर कर्मनिष्ठामे कोई मौलिक भेद नहा है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा ह—

यत्साङ्ख्यै प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते।
एक साङ्ख्य च याग च य पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ५)

इस प्रकार सिद्धान्तरूपसे एक ही निष्ठाके ये दा पक्ष ह। पुन वहाँ नारदने जिज्ञासा प्रकट की कि निष्ठाका कारण क्या ह? सनत्कुमारने कहा कि कृति है। कृतिका अर्थ भाष्यकारने इन्द्रिय-सयम ओर चित्तकी एकाग्रता किया है—'कृतिरिन्द्रियसयमश्चित्तैकाग्रताकरण च'। इससे ही पूर्वोक्त निष्ठा लक्षित हाती है। पुन कृतिके कारणकी जिज्ञासाक समाधानम सनत्कुमारन कहा कि कृतिका कारण परम सुखका उपलब्धि है जा भूमा-भावरूप ह—'यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति'। अर्थात् जा भूमा ह वही सुख है, अल्पताम सुख नही है। अत उसाको जानना चाहिय। इसके वाद भूमाकी परिभाषा करत हुए उन्हाने कहा—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणाति नान्यद्विजानाति स भूमा' अथात् जिस समय मनुष्य न दूसरी वस्तुका दखता हे न सुनता ह न जानता ह वहा भूमा हैं। तात्पर्य यह ह कि भूमा वह व्यापक भाव ह, जिस प्राप्त कर लनपर मनुष्यक समक्ष किसा अन्य पदार्थका सत्ता हा नहीं रहता प्रकृतिका सारा प्रपञ्च उस समय बिलकुल नष्ट हा जाता ह। द्रष्टा-दृश्य श्राता-श्रव्य, ज्ञाता-ज्ञेयका भी भेद मिट जाता है। केवल चित्-प्रकाश ही शेष रह जाता हे, जिसक लिये श्रुतिका उद्धोष है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिद विभाति॥

(कठोपनिषद् २। २। १५)

अर्थात् जहाँ सूर्य, तारागण तथा विद्युत्का प्रकाश काम नहीं करता वहाँ अग्निके प्रकाशकी बात ही क्या है, बल्कि वस्तुस्थिति तो यह है कि उसके प्रकाशसे य सब भासित हो रहे ह। भाव यह है कि जैसे सूर्योदय होनेपर आकाश-मण्डलम रहते हुए भी तारागण दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार चित्प्रकाशरूप भूमाकी अनुभूतिम ये छाट-बडे सभी प्रकाश तिरोहित हो जाते हैं और यह सारा ससार स्वप्नके समान मिथ्या हा जाता है। तभी—'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'-का वास्तविक बाध होता है।

यह भूमा-भाव ही परमपद हे जिसकी उपलब्धि गुरुकृपा, ईश्वरानुग्रह तथा सत्सगसे होती हैं। जो मानव अपन जीवनमे इस पदकी अनुभूतिसे वचित रह जाते ह, वे ही शोक, मोह तथा भयसे ग्रस्त हाकर विषयानन्दक पीछे मृगतृष्णाके समान चक्कर काटत फिरते है। सासारिक विषयाकी तृष्णा तभी छूटती ह, जब कल्याणरूप भूमा-भाव प्राप्त हाता है। जेसा कि कहा भी है—

नि स्वा वष्टि शत शती दशशत लक्ष सहस्राधिपा
लक्षेश क्षितिपालता क्षितिपतिश्चक्रेशता वाञ्छति।
चक्रश सुरराजता सुरपतिर्ब्रह्मास्पद वाञ्छति
ब्रह्मा विष्णुपद हरि शिवपद तृष्णावधि को गत॥

अथात् जिसक पास कुछ भी नहीं है अथवा बहुत गरीब हे वह पहले सो रुपयकी इच्छा करता हे। किसी प्रकार जब उसक पास सो रुपय हो जाते हैं ता उससे सतुष्ट न हाकर हजारक लिय उत्सुक हाता ह। हजारका सिद्धि हानपर लाखकी इच्छा उस व्यग्र करती ह। इस प्रकार जब वह लखपति बन जाता ह ता पुन उसम सम्पूर्ण पृथ्वामण्डलका मालिक बननकी अभिलाषा जाग उठती हैं या तृष्णा आगे बढता हा जाता ह क्याकि सार्वभाम राजाक मनम भा यह इच्छा हाता ह कि इन्द्रपदक सामन यह पद तुच्छ ह अत

मुझे स्वर्गका इन्द्रपद प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार इन्द्रको ब्रह्माके पदकी और ब्रह्माको विष्णुपदकी तथा विष्णुको भी शिवपदकी अभिलाषा रहती ही है। इसलिये तृष्णाकी अवधि पार करना बड़ा ही कठिन है। इस तृष्णा-समुद्रकी अवधि तो तब मिलती है, जब मनुष्य नित्य-प्रकाश भूमारूप शिवपदकी अनुभूतिमें अपने-आपको समर्पित कर देता है।

निष्कर्ष यह है कि नित्य-सुखकी लालसासे मनुष्यको पहले कर्मयोगमें निष्ठा होती है। निष्ठासे श्रद्धाका भाव उदित होता है, जिससे अज्ञानरूप आवरणके भंग होते ही वह शोक-सागरको पार कर नित्यानन्दरूप भूमा-भावमें मग्न हो जाता है।

वेद और आत्मज्ञानकी कुंजी

(श्रीअभयदेवजी शर्मा एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शुक्लयजुर्वेदसंहिताके अन्तिम चालीसवें अध्यायके निम्नलिखित पंद्रहवें मन्त्रमें एक ओर जहाँ आत्मबोधक उपायका प्रतिपादन है, वहीं वेदोंके अभिप्रायको ठीक-ठीक समझनेकी कुंजी भी विद्यमान है। 'जीव' और 'परम'—इन दोनों दृष्टियोंसे वेदका परम प्रतिपाद्य विषय आत्मा है। वेदमें जीवात्मा और परमात्माका प्रतिपादन होनेके कारण प्रकारान्तरसे स्वयं वेदको समझनेके लिये समीचीन दृष्टिका भी इस मन्त्रमें अनायास प्रतिपादन हो जाना स्वाभाविक है। प्रसंगोपात्त मन्त्र इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

'हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर! सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका श्रीमुख ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप पात्रसे ढका हुआ है, आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको अपने दर्शन करानेके लिये उस आवरणको आप हटा लीजिये।'

—इस मन्त्रमें साधक स्वयंको 'सत्यधर्मा' कह रहा है। जिसका धर्म सत्य है, उसे 'सत्यधर्मा' कहते हैं। धर्म वह होता है, जो धारण करनेवाला है अर्थात् जीवनका जो भी आधार है, उसका नाम 'धर्म' है। जीवन निराधार नहीं है, उसका कोई-न-कोई आधार अवश्य है। चालीसवें अध्यायके आदिम मन्त्र (ईशा वास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्)-में इस आधारको 'जगती' कहा गया प्रतीत होता है। वैदिक कोश 'निघण्टु'के अनुसार 'जगती'का अर्थ है—'गौ'। 'गौ' शब्द पशु-विशेषकी संज्ञाके साथ-साथ इन्द्रियवाचक भी है। मनुष्यके जगत्‌की सीमा उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानकर्म—उभयात्मक इन्द्रिय—मनद्वारा निर्धारित होती है। जिस मनुष्यका जो और जितना इन्द्रियानुभूत है, वह और उतना उसका संसार है।

साधक सत्यको अपने जगत्‌का आधार या धर्म बनाना चाहता है। सत्यसे बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं। वस्तुतः सत्य ही वह धर्म या धारक तत्त्व है, जिसे ईश्वर कहते हैं। मात्र लोकव्यवहारके लिये ही सत्य आवश्यक नहीं है, बल्कि वह स्वतः एक नित्य-सनातन, शाश्वत-स्वतन्त्र आधार या धर्म भी है। वह चरम और पूर्ण तत्त्व है। आत्मा इसी 'शाश्वतधर्म' का गोप्ता कहा गया है। आत्मा स्वरूपसे सत्यधर्मा है।

सत्यधर्मा आत्माको अपना नाम सार्थक करनेके लिये अर्थात् सत्यको अपना धर्म बना पानेके लिये उसे सत्यका दर्शन हो, यह अपेक्षित है। दर्शनके लिये 'दृष्टि' चाहिये। देखनेके लिये आँखें सब प्राणियोंको प्राप्त हैं, परंतु आँखोंसे वे केवल अपना भोग देखते हैं। भोगसे राग-द्वेष पैदा होते हैं। अतः सत्यके दर्शनके लिये एक अलग ही दृष्टि अपेक्षित है। जीवनके प्रति भोगपरक दृष्टिकी अपेक्षा आत्मोन्मुख दृष्टिकोणद्वारा ही आत्म-सत्य अनुभवमें आ सकता है। अतः मन्त्रमें सत्यधर्मा साधकद्वारा दर्शनके लिये 'सत्यधर्माय दृष्टये'—ऐसा कहा गया है। जिस किसीको भी सत्यात्माका साक्षात्कार करना हो, उसे योगोन्मुख जीवन-पद्धति ग्रहण करनी होगी, ऊपर-ऊपरसे भोगमयी जीवन-पद्धतिद्वारा आत्म-सत्य प्रत्यक्ष नहीं होता।

आत्मा स्वरूपसे सत्य है ही, पर सबको ऐसा अनुभव नहीं होता। अपने अजर-अमर-सनातन स्वरूपकी प्रायः विस्मृति ही रहती है। ऐसा क्यों होता है? उत्तर मन्त्रमें विद्यमान है कि सत्यपर एक आवरण पड़ा हुआ है। इस आवरणको चालीसवें अध्यायके तृतीय, नवम और द्वादश मन्त्रोंमें पुनः-पुनः 'अन्धेन तमसावृता', 'अन्धं तमः',

'अन्ध तम ' कहा गया है। इन 'अन्धतम' का स्वरूप भी इसी अध्यायम यत्र-तत्र सकतित है। भोगवृत्ति (मन्त्र १), वित्तलोभ (मन्त्र १), कर्मलप (मन्त्र २), आत्म-हनन (मन्त्र ३), विजुगुप्सा अथवा विचिकित्सा (मन्त्र ६) माह और शोक (मन्त्र ७), विद्या-अविद्यासे आर सम्भूति-असम्भूतिसे पृथक् आत्माकी सत्ताको न समझ पाना (मन्त्र १० १३)—य आत्मापर पड हुए 'अनृत' या असत्यक आवरण हैं।

चूँकि आत्मा स्वरूपस सत्य है, अत असत्य उस अच्छा नहीं लगता। कोई हमसे झूठ वाल या हम धाखा दे तो हम विषाद इसी कारण हाता है। प्राय हम असत्यका जानते-पहचानत ह, फिर भी उससे चिपक रहत ह। कान नहीं जानता कि ससार अनित्य है। *'जो आया ह सो जायगा, क्या राजा क्या रक।'* तथापि 'सुत दारा अरु लक्ष्मी' से आसक्ति हाती हा ह पुत्र-वित्त-लाककी एपणाएँ सताती ही ह। इतना ही नहीं, य वडी आकर्पक, सुन्दर आर प्रिय लगती ह। इनक विना जावन-यात्रा दुप्कर ह एसा अनिवायता हम इनका मानत हैं। इसी स्थितिका मन्त्रम 'हिरण्मय पात्र'—हित-रमणीय या सुन्दर—सुनहरा ढक्कन कहा गया है। ढक्कनसे प्यार है, ढक्कनसे ढक हुए सत्यस मात्र वाचिक आपचारिकता ह। मन्त्रक पूर्वार्धका हम अपने जीवनका, जीवनके प्रति अपने दृष्टिकोणका अपनी वतमान जीवन-पद्धतिका यथार्थ वर्णन मान सकते ह।

सत्यके चारा ओर चमकाला आवरण ह। अत आवरणकी चकाचाधसे मनुष्यकी दृष्टि चाधियाई हुई ह। आत्मवोधके लिये इस आवरणका हटना वहुत जरूरी है। इसके हटे बिना सव परिश्रम व्यर्थ है। जप-तप, पूजा-पाठ सत्सग व्रत-उपवास, सव कुछ तभी सार्थक हे, यदि इनस अनृतका अपिधान या ढक्कन हटे। अन्यथा य सव मनका बहलाना, फुसलाना मात्र ह। मनुष्य पत्ताको साचनम लगा हुआ है जबकि मूल सूख जा रहे ह। यह सव हिरण्मय पात्रद्वारा सत्यका ओझल हो जाना ही ता है। मनुष्य ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रम वहुत आग निकलता जा रहा ह। उसम कर्मठता और परिश्रम भी खूब है, पर अपनी प्रभूत सामथ्यक हाते हुए भी वह अनात्मके पकम धँसा हुआ ह। आत्माके खाजका उसे स्पर्श भी नही हुआ हे।

लगता है मनुष्यका निस्तार अपनस विराट् विश्वात्म-शक्तिकी कृपाक विना सम्भव नहीं ह। अत मन्त्रम प्रार्थना ह उस पापकसे, जा साधकका वास्तविक पापण प्रदान कर सकता है। वित्तलाभ (मन्त्र १) मनुष्यका इस कारण हो ता हाता ह कि वित्तस पापणकी आशा हाता है, पर पापकतत्त्व धन नहीं ह बल्कि कुछ दूसरा ही ह। उस सुझानेक लिये ईश्वरका पूपा या पापक कहा गया है। अनृतसे ता समूल परिशापण हा हाना ह। जव पूषा अपना दाहिना हाथ हमार ऊपर पराक्षस रखग तभी हमारा सतत विनाश रुक पायगा। तभी ता एक वदमन्त्रम साधक ऋषि प्रार्थना करता है—

परि पूषा परस्ताद्धस्त दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥

(ऋक्० ६। ५४। १०)

अथात् पूपा पराक्षस दाहिन हाथका धारण कर, जिसस हमारा नष्ट-वभव पुन आ जाय। सत्यात्माका 'पूपा' कहना, यह प्रम या भक्तिका शब्द ह। ज्ञान आर कमका पूणता भक्तिम ह। भक्तिका अभिप्राय ह आत्माक गुणाका जावनम सँजाना। सर्वत्र आत्मदशन हाना हा घृणा-माह तथा शाकसे उवरनका उपाय ह। यह जगत् आत्माम विद्यमान दिखायी पड आर जगत्म सवत्र आत्माका अनुभूति हा, आत्मा ही 'जगत्' हा गया है—यह विज्ञान यह एकत्वानुदर्शन (मन्त्र ६ ७) जावनम भक्तिक फलित हा जानपर ही उभरता ह यही आत्मज्ञान ह। इसक हा जानपर काई पराया नहा रहता और साधककी प्रत्यक चप्टा प्रेममय भगवत्सेवा हो जाती ह।

वेदकी कुजी

जिस प्रकार मन्त्रम आत्मज्ञानकी कुजी ह—राग-द्वपके हिरण्मय पात्रका देवी कृपास दूर हाना उसी प्रकार उसम वदक तत्त्वको समझनका कुजा भी हे।

वेदाकी शली देव-स्तवनकी है। अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, वरुण मित्र मरुत्, पर्जन्य, विष्णु, वसु, रुद्र, ऋभु, विश्वदेव आदि बहुतसे देवाकी स्तुतियाँ वेदामे हैं। ये सव दव 'हिरण्मय पात्र' हैं ओर आत्मा वह सत्य है जा इन दवाकी आटम विद्यमान है। ज्ञान आर कर्मको भक्तिमय कर देनपर जगत् और जीवनम सर्वत्र आत्माके गुणाका सागर लहराता हुआ अनुभवम आयगा। वदाका स्थूल अभिप्राय यज्ञपरक कर्मकाण्डपरक है। उनका सूक्ष्म आशय दवतापरक है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तात्पर्य आत्मापरक है। स्वय वदन इस तथ्यका स्पष्टरूपस वर्णन किया है—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥
(ऋक्० १। १६४। ४६)

अर्थात् 'अग्निको इन्द्र, मित्र तथा वरुण भी कहत ह और वह दिव्य गरुत्मान् सुपर्ण है। 'एक सत्' को ज्ञानीजन अनेक प्रकारस बोलते हैं और अग्निको यम एव मातरिश्वा कहते हैं।'

इस मन्त्रम अग्निदेवताको 'हिरण्मय पात्र' समझ। अग्नि-प्रतीकम आत्मतत्त्वका दर्शन या ध्यान करना चाहिय। आत्माग्नि वही 'एक सत्' (ॐ तत् सत्) है—जा अन्यत्र इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा-जेसे प्रतीकाक रूपम विद्यमान है। ज्ञानी इस तथ्यका जानते हैं कि सत्य सर्वत्र वही है और एक है, हिरण्मय आवरण भल ही विभिन्न प्रकारके हा। उस 'एक सत्' को इस चालासव अध्यायम 'ॐ' नाम दिया गया हे। 'ॐ' वेदका वह ढाई अक्षर है, जिसे पढ लेनपर वदिक एकेश्वरवादक विषयमे कोई शका नहीं रहती, क्याकि यही 'ॐकार' वेदज्ञान एव आत्मज्ञानका मूल है।

आचार्यका दीक्षान्त-उपदेश

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।

वेद-विद्या पढा देनेक पश्चात् आचार्य शिष्यको उपदश करता है, दीक्षान्त-भाषण देता हुआ कहता है—

सत्य वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद । आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी । सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम्॥ १ ॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥ २॥

ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणा । तेषा त्वयाऽऽसनन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया दयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। सविदा देयम्॥ ३ ॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। य तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्यु । यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथा ॥ ४॥

एष आदेश । एष उपदेश । एषा वेदोपनिषत्॥ ५॥

एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ६॥
(तैत्तिरीय उपनिषद्)

तुम सत्य बालना। धर्माचरण करना। स्वाध्यायसे प्रमाद न करना। आचार्यका जा प्रिय हा, उसे दक्षिणा-रूपम देकर गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना और सततिक सूत्रको न तोडना। सत्य बोलनस प्रमाद न करना। धमपालनम प्रमाद न करना। जिससे तुम्हारा कल्याण होता हा उसम प्रमाद न करना। अपना वेभव बढानेम प्रमाद न करना। स्वाध्याय और प्रवचनद्वारा अपने ज्ञानको वढात रहना, दवा और पितराके प्रति तुम्हारा जा कर्तव्य है, उसे सदा ध्यानम रखना॥ १॥

माताको, पिताको, आचार्यको और अतिथिका देवस्वरूप मानना, उनके प्रति पूज्य-बुद्धि रखना। हमार जो कर्म अनिन्दित हैं, उन्हींका स्मरण रखना, दूसराका नहीं। जो हमारे सदाचार हैं, उन्हींकी उपासना करना, दूसराकी नहीं॥ २॥

हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहाँ बठे हा, उनके प्रवचनको ध्यानसे सुनना उनका यथेष्ट आदर करना। दूसराकी जो भी सहायता करना, वह श्रद्धापूर्वक करना, किसीको वस्तु अश्रद्धासे न देना। प्रसन्नताके साथ देना, नम्रतापूर्वक देना, भयसे भी दना और प्रेमपूर्वक दना॥ ३॥

ऐसा करते हुए भी यदि तुम्ह कर्तव्य और अकर्तव्यमे सशय पदा हो जाय, यह समझम न आये कि धर्माचार क्या है ता जो विचारवान् तपस्वी, कर्तव्यपरायण, शान्त और सरस स्वभाववाले विद्वान् हा, उनक पास जाकर अपना समाधान कर लेना और जसा वे बर्ताव करत हा, वेसा बर्ताव करना॥ ४॥

यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद और उपनिषद्का सार है॥ ५॥

यही हमारी शिक्षा है। इसके अनुसार ही अपन जावनम आचरण करना॥ ६॥

[प्रेषक—श्रीरघुवीरजी पाठक]

नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

ॐ नम शम्भवाय च मयोभवाय च नम शङ्कराय च मयस्कराय च नम शिवाय च शिवतराय च॥

(शु० यजु० १६। ४१)

'जिन प्रभुसे मोक्ष-सुख प्राप्त होता है एवं जिनसे इस लोक तथा परलोकके विविध सुख प्राप्त होते हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है। जो पारमार्थिक अनन्त सुखको प्राप्त कराते हैं तथा जो सर्वप्रकारके सुखोंके दाता हैं उन परमात्माको नमस्कार है। जो परमेश्वर कल्याणस्वरूप हैं और स्व-भक्तोंका भी कल्याणकर होनेसे परम कल्याणरूप हैं, उन परम शिव परमात्म-प्रभुको नमस्कार है।'

भगवत्कृपासे इस वर्ष 'कल्याण' का विशेषाङ्क 'वेद-कथाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। पिछले कई वर्षोंसे सुविज्ञजनोंका यह आग्रह था कि वेदसे सम्बन्धित सामग्री 'कल्याण'के विशेषाङ्करूपमें प्रकाशित की जाय। यद्यपि यह कार्य उतना सरल नहीं था क्योंकि 'अनन्ता वै वेदा '—अनन्त वेदको सीमित पृष्ठोंमें समायोजित करना कदापि सम्भव नहीं, फिर भी भगवत्प्रेरणासे यह विचार आया कि 'वेद-कथाङ्क'के द्वारा सुधी पाठकजनोंकी जिज्ञासाको यथासाध्य पूर्ण करनेका प्रयत्न किया जाय। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परमात्म-प्रभुकी असीम अनुकम्पासे इस वर्ष यह सुअवसर प्राप्त हुआ।

वास्तवमें वेद विश्व-वाङ्मयकी अमूल्य निधि हैं। भारतीय संस्कृतिकी गौरव-गाथा वेदोंसे ही प्रारम्भ होती है। अपने जिन उदात्त सिद्धान्तोंके कारण भारतीय संस्कृतिने विश्व-मानवको आकृष्ट किया है, उनके मूल स्रोत वेद ही हैं। वस्तुत वेदोंके ज्ञाता सब कुछ जानते हैं, क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो ज्ञातव्य अर्थ अन्यत्र है या नहीं है, उस साध्य-साधनादि समस्त वर्णनीय अर्थोंकी निष्ठा वेदमें है। अत वेदवाणी दिव्य है नित्य है एवं आदि-अन्तरहित है—

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च॥

(महा० शान्ति० २७०। ४३)

सृष्टिके आदिमें स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा वेदका प्रादुर्भाव हुआ है तथा उसके द्वारा धर्म-भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही हैं। इसलिये 'वेदा नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम' कहकर हमारे पूज्य महर्षियोंने वेदोंकी अपार महिमा अभिव्यक्त की है। वेद मानवके ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणके साधनरूप धर्मका साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण करते हैं। धर्मके साथ-साथ अध्यात्म-मर्यादा, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, शिल्प-उद्योग आदि ऐसा कौन-सा विषय है,जिसका प्रतिपादन वेदोंमें न किया गया हो। आश्चर्य तो तब होता है जब हम नवीनातिनवीन, अत्याधुनिक कहे जानेवाले वैज्ञानिक आविष्कारोंके संदर्भ-सूत्र भी वेदोंमें दृष्टिगत होते हैं। इसलिये वेद सनातन हैं, पूर्ण हैं और सर्वविद् ज्ञान-विज्ञानके आधार हैं।

आज संसारमें स्वार्थपरायणता और अनैतिक आचार-व्यवहारकी पराकाष्ठा होती जा रही है। सामान्यत लोगोंकी धर्मसे रुचि तो हट ही रही है, धार्मिक संस्कार भी लुप्त-प्राय हो रहे हैं। इसीका परिणाम है—विश्वकी वर्तमान दुर्गति जिसमें सर्वत्र ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, गर्व-अभिमान द्वेष-ईर्ष्या हिंसा, परोत्कर्ष—पीड़ा दलबंदी, धर्मयुद्ध आदि सभी अधर्मके विभिन्न स्वरूपोंका ताण्डव नृत्य हो रहा है। यदि इसी प्रकार चलता रहा तो पता नहीं पतन कितना गहरा होगा? इस प्रकारकी धर्म-ग्लानिसे बचनेके लिये, साथ ही अभ्युदय एवं नि श्रेयसकी प्राप्तिके निमित्त वेदनिर्दिष्ट धर्माचरणकी जानकारी सर्वसाधारणको हो सके, इसी उद्देश्यसे इस बार 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें 'वेद-कथाङ्क' जनता-जनार्दनकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है।

मनुष्य धर्मका मर्म समझ सके, शुद्धाचरणका महत्त्व जान सके पाप-पुण्य नीति-अनीतिको पहचाननेकी सामर्थ्य प्राप्त कर सके तथा देव, पितर अतिथि, गुरु आदिके प्रति अपना कर्तव्य समझ सके एवं अपने कर्तव्य-पथपर बढ़ता रहे—यही वेदोंका प्रधान उद्देश्य है।

प्रस्तुत अङ्कमें सम्पूर्ण वेद-वाङ्मयका परिचय, वेदोंके प्रमुख प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन, वैदिक मन्त्रों सूक्तों एवं सूक्तियोंका निरूपण मन्त्रद्रष्टा ऋषि-महर्षियोंका परिचय,

ऋचाओमे भगवत्तत्त्वदर्शन एव इसके साथ ही वेदोमे वर्णित कथाओका रोचक भाषामे प्रतिपादन तथा वैदिक सस्कृति-सभ्यता और जीवन-चर्याका दिग्दर्शन करानेका प्रयास किया गया है, जिससे सर्वसाधारणको भारतीय सस्कृति एव सभ्यताका वास्तविक परिज्ञान प्राप्त हो सके तथा वेदोमे प्रतिपादित आध्यात्मिक सदेश एव सत्प्रेरणाओसे वे लाभान्वित हो सके।

इस वर्ष 'वेद-कथाङ्क'के लिये लेखक महानुभावोने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यधिक प्रशसनीय है। यद्यपि हमने लेखक महानुभावोसे सामान्य लेख न भेजकर विशिष्ट लेख भेजनेका अनुरोध किया था, हमे इस बातकी प्रसन्नता है कि इस बार कुछ विशिष्ट सामग्री भी प्राप्त हुई। फिर भी हम विशेषाङ्कको जिस रूपमे सँजोना चाहते थे, उस प्रकारकी सामग्री अत्यल्प मात्रामे ही प्राप्त हो सकी, जिस कारण यथासाध्य अधिकाश सामग्री प्राय विभागमे तैयार करनी पडी। 'वेद-कथाङ्क'की सम्पूर्ण सामग्री विशेषाङ्कमे समाहित कर पाना सम्भव नहीं हो सका। यद्यपि सामग्रीकी अधिकताके कारण इस अङ्कके साथ दो मासके परिशिष्टाङ्क भी निकाले जा रहे हैं, जिसमे फरवरी मासका एक परिशिष्टाङ्क तो साथ ही समायोजित है तथा मार्च मासका दूसरा परिशिष्टाङ्क भी साथ ही प्रेषित किया जा रहा है।

सामग्रीकी अधिकता तथा स्थानाभावके कारण माननीय विद्वान् लेखकोके विशेषाङ्कके लिये कुछ महत्त्वपूर्ण स्वीकृत लेख नहीं दिये जा सके, जिसके लिये हम अत्यधिक खेदका अनुभव हो रहा है। यद्यपि इसमसे कुछ सामग्री आगेके साधारण अङ्कोमे देनेका प्रयत्न अवश्य करेगे, परतु विशेष कारणोसे यदि कुछ लेख प्रकाशित न हो सके तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानमे रखकर हमे अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करेगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्र-हृदय सत-महात्माओके श्रीचरणोमे प्रणाम करते है, जिन्होने विशेषाङ्ककी पूर्णतामे किञ्चित् भी योगदान किया है। सद्विचारोके प्रचार-प्रसारमे वे ही निमित्त हैं, क्योकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त भावनाओसे कल्याणको सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। हम त्रुटियो एव व्यवहार-दोषके लिये उन सबसे क्षमा-प्रार्थी हैं।

'वेद-कथाङ्क'के सम्पादनमे जिन सतो एव विद्वान् लेखकोसे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हे हम अपने मानसपटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम मै वाराणसीके समादरणीय प० श्रीलालबिहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होने प्रेरणाप्रद एव रोचक विभिन्न वैदिक कहानियोको तैयार कर निष्कामभावसे अपनी सेवाएँ परमात्म-प्रभुके श्रीचरणोमे समर्पित की हैं। तदनन्तर मै काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके प्राध्यापक सर्वश्री डॉ० श्रीकिशोरजी मिश्र, श्रीकैलाशनाथजी दवे तथा डॉ० श्रीहृदयरञ्जनजी शर्माके प्रति विशेष अनुगृहीत हूँ, जिन्होने समय-समयपर मार्गदर्शन करते हुए वेद-सम्बन्धी विशिष्ट सामग्री तैयार करनेमे अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया। गोधनके सम्पादक श्रीशिवकुमारजी गोयलके प्रति भी हम आभार व्यक्त करते है, जो निरन्तर अपने पूज्य पिता श्रीरामशरणदासजी पिलखुवाके सग्रहालयसे अनेक दुर्लभ सामग्रियाँ हमे उपलब्ध कराते हैं, साथ ही कई विशिष्ट महानुभावोसे भी सामग्री एकत्र करके भेजनेका कष्ट करते हैं।

इस अङ्कके सम्पादनमे अपने सम्पादकीय विभागके वयोवृद्ध विद्वान् प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एव अन्य महानुभावोने अत्यधिक हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। इसके सम्पादन, सशोधन एव चित्र-निर्माण आदिमे जिन-जिन लोगोसे हमे सहयोग मिला है, वे सभी हमारे अपने है, उन्हे धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमे 'कल्याण'का कार्य भगवान्का कार्य है, अपना कार्य भगवान् स्वय करते है। हम तो केवल निमित्त मात्र हैं। इस बार 'वेद-कथाङ्क'के सम्पादन-कार्यके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परमात्म-प्रभुके चिन्तन-मनन एव स्मरणका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा। हमे आशा है, इस विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे हमारे सहृदय पाठकोको भी भगवत्कृपासे वेदसे अनुप्राणित-समन्वित भारतीय सस्कृतिको

विशेष रूपमे समझनेका सुअवसर प्राप्त होगा तथा वे भक्ति-भाव-समन्वित आनन्दका अनुभव करेंगे। अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

वेदादि-शास्त्र मनुष्योंके अभ्युदय एवं कल्याणके लिये ही उपदेश दे रहे हैं, इसलिये शास्त्रोंमें मनुष्योंका ही अधिकार माना जाता है। अतः जिसके अनन्त महत्त्वका पावन यश दिव्य सुगन्धकी भाँति समस्त विश्वमें अभिव्याप्त है तथा जिसकी अहैतुकी कृपासे ऐहिक, पारलौकिक एवं पारमार्थिक सभी प्रकारकी हितकर पुष्टियोंकी अभिवृद्धि होती रहती है, उन तीन नेत्रवाले—त्र्यम्बक भगवान्‌की हम सब मानव श्रद्धा एवं एकाग्रताके साथ आराधना करते हैं तथा उन महान् परमेश्वरसे हम सब मानव यह विनम्र प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन्! जिस प्रकार अत्यन्त पका हुआ बेर या ककड़ीका फल अपने वृन्तसे सहज ही पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार आप हमें कृपापूर्वक बन्धनभूत अविद्या—मिथ्या ज्ञानादिरूप मृत्युसे विमुक्त कर दें और अभ्युदय एवं निःश्रेयसरूप अमृत-फलसे कदापि विमुक्त न करें।' श्रीत्र्यम्बक प्रभु अपने ज्ञानरूप प्रदीप्त सूर्यनेत्रसे मानवोंके निविड अज्ञानान्धकारको, शान्तिरूप आह्लादक चन्द्रनेत्रसे संसारके त्रिविध संतापोंको एवं निष्काम कर्मयोगरूप वह्निनेत्रसे कामकर्मादिरूप कल्मषोंका विध्वंस करते रहते हैं। ऐसे सुखकर, हितकर, परमप्रिय, सर्वात्मा भगवान्‌की जप-ध्यानादिके द्वारा आराधना करना हम सब मानवोंका प्रथम एवं प्रधान वेद-निर्दिष्ट प्रशस्त कर्तव्य है। हम बद्धाञ्जलिपूर्वक उन परमात्म-प्रभुके श्रीचरणोंमें कोटिशः प्रणिपात समर्पित करते हैं—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

॥ श्रीहरि ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकोंका सूचीपत्र

(दिसम्बर १९९८)

कोड		मूल्य		डाकखर्च
श्रीमद्भगवद्गीता				
	गीता तत्त्व विवेचनी—(टीकाकार श्रीजयदयालजी गोयन्दका)			
1	बृहदाकार	८	■	१९ ०
2	ग्रन्थाकार	४	■	९
3	साधारण संस्करण	३ ००	■	८०
457	अंग्रेजी अनुवाद	३५ ०	■	८ ०
800	तमिल	५ ०		१३
	गीता साधक संजीवनी— (टीकाकार स्वामी श्रीरामसुखदासजी)			
5	बृहदाकार	१०	■	२२ ०
6	ग्रन्थाकार	६	■	१५
7	मराठी अनुवाद	७	■	१० ०
467	गुजराती अनुवाद	७५ ०	■	१५ ००
458	अंग्रेजी अनुवाद	४५	■	८ ००
763	बंगला अनुवाद	७		१६
788	परिशिष्ट (७ से १२ अध्याय)	८ ०		२ ०
896	(१३ से १८ अध्याय)	७	■	२ ०
8	गीता दर्पण—(स्वामी रामसुखदासजी)	२५ ००		५ ०
504	(मराठी अनुवाद) सजिल्द	२५	■	५
556	(बंगला अनुवाद) सजिल्द	३		५
468	(गुजराती अनुवाद) सजिल्द	३		५
784	ज्ञानेश्वरी गुढार्थ दीपिका (मराठी)	१ ०		१५
748	ज्ञानेश्वरी मूल गुटका (मराठी)	२ ०		४ ०
859	ज्ञानेश्वरी मूल मझला (मराठी)	३ ०		४ ००
10	गीता शांकर भाष्य—	४ ०		६ ०
581	गीता रामानुज भाष्य—	३५ ०	■	५
11	गीता चिन्तन—(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	२०	■	३
	गीता—मूल पदच्छेद, अन्वय भाषा टीका			
17	सचित्र सजिल्द	१२ ०		४
12	(गुजराती) २ ० 13 (बंगला) १५ ०० 14 (मराठी) २			
	726 (कन्नड) १८ 772 (तेलगू) १५ 823 (तमिल) २			
	गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित			
16	सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें	१५		३ ०
15	(मराठी अनुवाद)	२		४
18	भाषा टीका टिप्पणीप्रधान विषय मोटा टाइप	९ ००		२
502	मोटे अक्षर, सजिल्द	१३		३
771	(तेलगू)	९		३
718	तात्पर्यके साथ (कन्नड)	१ ०		२ ००
743	(तमिल)	१३ ०		३
815	श्लोकार्थसहित (उड़िया)	१३ ०		२
19	गीता—केवल भाषा	५ ०		१
750	पाकेट साइज	३		१ ०
663	केवल भाषा (तेलगू)	५		१
795	(तमिल)	५		१
700	गीता छोटी साइज मूल	१		१
20	भाषा टीका पाकेट साइज	४		१
633	सजिल्द	७		२
455	(अंग्रेजी)	४		१
534	(सजिल्द)	७		२
496	— भाषा टीका पाकेट साइज (बंगला)	४		१ ०
714	गीता (असमिया)	५		२
813	(उड़िया)	६ ०		२ ०
21	श्रीपञ्चरत्नगीता—गीता विष्णुसहस्रनाम भीष्मस्तवराज अनुस्मृति गजेन्द्रमोक्ष	१		३

कोड		मूल्य		डाकखर्च
22	गीता—मूल मोटे अक्षरोंवाली	५ ००		२ ००
538	सजिल्द	६ ०	■	४ ०
23	गीता—मूल विष्णुसहस्रनाम सहित	२ ०	■	१
661	पाकेट साइज (कन्नड) ४ 662 (तेलगू) ३			
	793 (तमिल) ४ ०० 739 (मलयालम) ३ 541 (उड़िया) २ ००			
488	नित्यस्तुति—गीता मूल विष्णुसहस्रनाम सहित	४ ०	■	१ ०
24	गीता—मूल (माचिस आकार)	२	■	१ ००
566	गीता—ताबीजी एक पन्नेमें सम्पूर्ण गीता	० १५	■	१ ०
	(कम से कम ५० प्रति एक साथ भेजी जा सकती हैं।)			
288	गीताके कुछ श्लोकोंपर विवेचन—	२	▲	१ ०
289	गीता निबन्धावली—	२ ५	▲	१ ०
297	गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोगका स्वरूप—	७५	▲	१ ००
	गीता माधुर्य—स्वामी रामसुखदासजीद्वारा			
388	(हिन्दी)	५ ०	▲	२ ०
389	(तमिल) ८ ०० 390 (कन्नड) ४ ५ 391 (मराठी) ८			
	392 (गुजराती) ५ ० 393 (उर्दू) ८ ० 394 (नेपाली) ५ ०			
	395 (बंगला) ४ 624 (असमिया) ४ ० 754 (उड़िया) ४ ०			
	487 (अंग्रेजी) ८ ० 679 (संस्कृत) ६ ०			
470	गीता रोमन गीता मूल, श्लोक एवं अंग्रेजी अनुवाद	१ ००	■	२
503	गीता दैनन्दिनी (1999)—पुस्तकाकार प्लास्टिक कवर	२५	■	४ ०
874	विशिष्ट	३५		४ ००
615	पाकेट साइज	१२ ०	■	३ ०
506	पाकेट साइज (साधारण)	१	■	३
464	गीता ज्ञान प्रवेशिका	१		२ ०
508	गीता सुधा तरंगिनी गीताका पद्यानुवाद	४	■	१ ०
रामायण				
	श्रीरामचरितमानस बृहदाकार, मोटा टाइप सजिल्द			
80	आकर्षक आवरण राजसंस्करण	१८० ०	■	१९ ०
81	सटीक मोटा टाइप आकर्षक आवरण	९५ ००	■	१० ०
697	साधारण	७५ ०	■	१०
8	मझला साइज सजिल्द	४५ ०	■	५
456	अंग्रेजी अनुवाद सहित	७	■	९.००
786	अंग्रेजी (मझला साइज)	५	■	६ ०
83	मूलपाठ मोटे अक्षरोंमें सजिल्द	५० ०		६ ००
84	मूल मझला साइज	२५	■	४ ०
85	मूल गुटका	१७ ०		४
790	केवल भाषा	५५		८
799	गुजराती ग्रन्थाकार	८५		९ ०
785	गुजराती (मझला) सटीक	४५ ००	■	५.
878	मूल मझला (गुजराती)	२५		४
879	मूल गुटका ( )	१५		४ ०
श्रीरामचरितमानस अलग अलग काण्ड				
94	बालकाण्ड सटीक	१२		३ ०
95	अयोध्याकाण्ड	११ ०	■	३ ००
98	सुन्दरकाण्ड	३ ००	■	१
832	सुन्दरकाण्ड कन्नड	४ ०	■	२
753	तेलगू	३ ०	■	२
101	लंकाकाण्ड सटीक	६ ००		२ ०
102	उत्तरकाण्ड सटीक	६ ००		२ ०
141	अरण्य किष्किन्धा एवं सुन्दरकाण्ड सटीक	६	■	२
99	सुन्दरकाण्ड मूल गुटका	२	■	१ ००
858	लघु आकार	२	■	१ ००
100	सुन्दरकाण्ड मूल मोटा टाइप	३		१ ००

- जिन पुस्तकोंका मूल्य अंकित नहीं है वे अभी उपलब्ध नहीं हैं। बादमें मिल सकता हैं।
- पुस्तकोंके मूल्योंमें परिवर्तन होनेपर पुस्तकपर छपा मूल्य ही देय होगा।
- पुस्तकें डाकसे मँगवानेपर कमसे कम ५% पैकिंग खर्च डाकखर्च तथा १२ रु प्रति पैकेट रजिस्ट्री खर्च अतिरिक्त देय है। डाकसे पुस्तकें मंगवानेके पूर्व गीताप्रेसकी निकटतम दुकान स्टेशन स्टाल अथवा स्थानीय पुस्तक विक्रेतासे सम्पर्क करें। इससे आप भारी डाकखर्चकी बचत कर सकते हैं।
- पूरी जानकारी हेतु सूचीपत्र मुफ्त मँगायें। विदेशोंमें निर्यातके लिए मूल्यका अलग सूचीपत्र उपलब्ध है।
- जो पुस्तकें अन्य भाषाओंमें छपी हैं उनका विवरण भाषाक्रममें भी दिया गया है।

कोड		मूल्य	डाकखर्च
	मानसपीयूष		
86	टीकाकार—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड)	७०	६५०
75	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—सटीक		
76	दो खण्डोंमें सेट	१५००	१६००
77	केवल भाषा	१०	१४०
583	(मूलमात्रम्)	६५०	११०
78	सुन्दरकाण्ड मूलमात्रम्	१००	३०
452, 453	(अंग्रेजी अनुवादसहित सेट दो खण्डोंमें)	२२०	२५०
74	अध्यात्मरामायण—सटीक सजिल्द	४०	५०
645	(तेलगू)	५	५.०
223	मूल रामायण	१	१
	अन्य तुलसीकृत साहित्य		
105	विनयपत्रिका—सरल भावार्थसहित	१७०	३०
106	गीतावली—	१३०	३००
107	दोहावली—	८	२०
108	कवितावली—	८०	२००
109	रामाज्ञाप्रश्न—	४०	१०
110	श्रीकृष्णगीतावली—	३०	१०
111	जानकीमंगल—	२००	१०
112	हनुमानबाहुक—	२	१
113	पार्वतीमंगल—	२०	१०
114	वैराग्यसंदीपनी—	१	१
115	बरवै रामायण—	१	१००
	सूर-साहित्य		
555	श्रीकृष्ण माधुरी	१२	३
61	सूर विनय पत्रिका	१२०	३
62	श्रीकृष्ण बाल माधुरी	१३००	३
735	सूररामचरितावली	११००	३
547	विरहपदावली	१०	३
864	अनुरागपदावली	१२	३०
	पुराण उपनिषद् आदि		
	श्रीमद्भागवत सुधासागर—सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका		
28	भाषानुवाद, सचित्र सजिल्द	९	९
25	शुकसुधासागर बृहदाकार, बड़े टाइपोंमें	१९०	२५
26	श्रीमद्भागवत महापुराण—सटीक—		
27	दो खण्डोंमें सेट	१६०	२०
564-65	अंग्रेजी सेट	१५००	२०
29	मूल मोटा टाइप	५५०	७
124	मूल मझला	३५००	६००
	श्रीप्रेम सुधासागर—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धका		
30	भाषानुवाद, सचित्र सजिल्द	०	५
31	भागवत एकादश स्कन्ध—सचित्र सजिल्द	१६०	३०
	महाभारत—हिन्दी टीका सहित सजिल्द, सचित्र		
728	[छ खण्डोंमें] सेट	७२	६५०
38	महाभारत खिलभाग हरिवंशपुराण—हिन्दी टीका	१	११
637	जैमिनीय अश्वमेध पर्व	५०	७
	संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा सचित्र		
39 511	सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें)	१५	१७
44	पद्मपुराण सचित्र सजिल्द	८५०	८०
789	संक्षिप्त महाभारत—शिवपुराण मोटा टाइप	८	१०
539	मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणाङ्क	७५	१००
46	श्रीमद्देवीभागवत केवल भाषा	७०	७००
48	श्रीविष्णुपुराण सानुवाद, सचित्र सजिल्द	५०	६०
640	नारद विष्णु पुराणाङ्क	८००	६
79	संक्षिप्त स्कन्दपुराण सचित्र सजिल्द	१०	११
631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	७५०	८०
517	गर्गसंहिता सचित्र सजिल्द	५५०	७०
47	पातञ्जलयोग प्रदीप पातञ्जलयोग सूत्रोंका वर्णन	६	७
135	पातञ्जलयोगदर्शन	७	
582	छान्दोग्योपनिषद् सानुवाद शाङ्करभाष्य	५	७
577	बृहदारण्यकोपनिषद्	७००	१
66	ईशादि नौ उपनिषद् अन्वय हिन्दी व्याख्या	३	५
67	ईशावास्योपनिषद् सानुवाद, शाङ्करभाष्य	२५	१०
846	तेलगू	२	१

कोड		मूल्य	डाकखर्च
68	केनोपनिषद् सानुवाद, शाङ्करभाष्य	७	२०
578	कठोपनिषद्	८०	२०
69	माण्डूक्योपनिषद्	१५.०	३०
513	मुण्डकोपनिषद्	६०	२०
70	प्रश्नोपनिषद्	६००	२
71	तैत्तिरीयोपनिषद्	१५	३००
72	ऐतरेयोपनिषद्	५.	२०
73	श्वेताश्वतरोपनिषद्	१३	३००
65	वेदान्त दर्शन हिन्दी व्याख्या सहित सजिल्द	२५०	४००
698	मार्क्सवाद और रामराज्य स्वामी करपात्रीजी	५००	८
639	श्रीनारायणीयम् सानुवाद	२५	४०
908	मूलम (तेलगू)	१०	३०
201	मनुस्मृति दूसरा अध्याय सानुवाद		
	भक्तचरित्र		
40	भक्तचरिताङ्क सचित्र सजिल्द	८	१
51	श्रीतुकाराम चरित जीवनी और उपदेश	३२	४०
53	भागवतरत्न प्रह्लाद	११०	३०
123	चैतन्य चरितावली सम्पूर्ण एक साथ	७	१०
751	देवर्षि नारद	८	३
167	भक्त भारती		
168	भक्त नरसिंह मेहता	७	२०
613	(गुजराती)	७	२०
169	भक्त बालक गोविन्द मोहन आदिकी गाथा	३	१
685	(तेलगू)	४०	१०
721	(कन्नड)	४०	१
170	भक्त नारी मीरा शबरी आदिकी गाथा	३०	१
171	भक्त पञ्चरत्न रघुनाथ दामोदर आदिकी	५	२
682	(तेलगू)	५	२
172	आदर्श भक्त शिबि रन्तिदेव आदिकी गाथा	५.	२
687	(तेलगू)	५	२०
849	(कन्नड)	५.०	२
173	भक्त सप्तरत्न दामा रघु आदिकी भक्तगाथा	४	१०
174	भक्त चन्द्रिका सखू, विट्ठल आदि छ भक्तगाथा	४००	१०
892	(गुजराती)	४०	१
175	भक्त कुसुम जगन्नाथ आदि छ भक्तगाथा	४०	१
176	प्रेमी भक्त बिल्वमंगल जयदेव आदि पांच	४०	१
177	प्राचीन भक्त मार्कण्डेय उत्तङ्क आदि	७	२
178	भक्त सरोज गङ्गाधरदास श्रीधर आदि	५	२००
179	भक्त सुमन नामदेव राका बाँका आदि भक्तगाथा	५.	२
180	भक्त सौरभ व्यासदास प्रयागदास आदि	५	२
181	भक्त सुधाकर रामचन्द्र, लाखा आदि भक्तगाथा	५	२
875	भक्त सुधाकर (गुजराती)	५०	२०
182	भक्त महिलारत्न रानी रत्नावती हरदेवी आदि	५	२०
183	भक्त दिवाकर सुव्रत वैश्वानर आदि आठ भक्तगाथा	३५०	१
184	भक्त रत्नाकर माधवदास विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा	३५०	१०
185	भक्तराज हनुमान् हनुमान्जीका जीवनचरित्र	३	१०
6 8	(तमिल) ५० 767 (तेलगू) ३		
	835 (कन्नड) ४० 806 (गुजराती) ३		
186	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	२५	१०
187	प्रेमी भक्त उद्धव	३०	२
642	(तमिल) ४५० 686 (तेलगू)	३०	
188	महात्मा विदुर	२५	१
741	(तमिल)	३०	१
189	भक्तराज ध्रुव	३	१
688	(तेलगू)	२	१०
92	नवधा भक्ति भरतजामें नवधा भक्ति सहित	३	१
385	नारदभक्तिसूत्र सानुवाद	१०	१
330	(बंगला) २ 499 (तमिल) १		
904	नारद भक्तिसूत्रम् (तेलगू)	९.	३०
? ?	एकनाथ चरित्र	१	२०
	परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन		
683	तत्त्वचिन्तामणि (सभी खण्ड एक ग्रन्थ)	६	१
814	साधन कल्पतरु	५	१
527	प्रेमयोगका तत्त्व (हिन्दी)	९.	३००
242	महत्त्वपूर्ण शिक्षा	९	३०

* जय श्रीरामके चित्र कम-से-कम २५०/१०० प्रति ही भेजे जा सकते हैं। फुटकर भजनेमें चित्रोंके खराब होनेकी सम्भावना है।

कोड		मूल्य		डाकखर्च
521	प्रेमयोगका तत्त्व (अंग्रेजी अनुवाद)	६ ०	▲	२ ००
528	ज्ञानयोगका तत्त्व (हिन्दी)	८ ००		२ ०
520	(अंग्रेजी अनुवाद)	८ ०		२ ०
266	कर्मयोगका तत्त्व (भाग १)	६ ०		२ ०
267	(भाग २)	६		२ ०
303	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय (भ०प्रा० त भाग १)	६ ०		२ ००
298	भगवान्के स्वभावका रहस्य (भ प्रा त०भाग २)	५ ०		१ ०
243	परम साधन भाग १	६		२
244	भाग २	५	▲	२ ०
245	आत्मोद्धारके साधन भाग १	७	▲	२ ०
335	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति (आ सा० भाग २)	६	▲	२
877	(गुजराती)	६.	▲	२
579	अमूल्य समयका सदुपयोग	४ ०		१ ०
666	अमूल्य समयका सदुपयोग (तेलगू)	५ ०	▲	१
246	मनुष्यका परम कर्तव्य भाग १	६ ०		२ ०
247	भाग २	६ ०		२ ०
611	इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति	५.००	▲	२
588	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	६ ०		२ ०
248	कल्याणप्राप्तिके उपाय तत्त्वचिन्तामणि भाग १	८		२
75	(बंगला)	८ ०	▲	२
249	शीघ्र कल्याणके सोपान त चि २/१	७		२ ०
250	ईश्वर और संसार २/२	७	▲	२
253	धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि ३/१	५	▲	२
519	अमूल्य शिक्षा ३/२	५ ००	▲	१ ०
251	अमूल्य वचन ४/१	६	▲	२
252	भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा ४/२	६.		२
254	व्यवहारमें परमार्थकी कला ५/१	६		२
255	श्रद्धा विश्वास और प्रेम ५/२	७		२
258	तत्त्वचिन्तामणि ६/१	५ ०		२
257	परमानन्दकी खेती ६/२	५		२ ०
260	समता अमृत और विषमता विष ७/१	६	▲	२ ०
259	भक्ति-भक्त भगवान् ७/२	६	▲	२ ०
256	आत्मोद्धारके सरल उपाय	६ ०		२ ०
261	भगवान्के रहनेके पाच स्थान	२		१
839	(कन्नड) २ 689 (तेलगू) ३ 643 (तमिल) ३ ०			
262	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	५	▲	२ ०
833	(कन्नड) ६ 68 (तेलगू) ५ ०			
263	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	४		१
720	(कन्नड) ५ ० 766 (तेलगू) ४ ० 894 (गुजराती) ४ ०			
264	मनुष्य जीवनकी सफलता भाग १	५	▲	२
265	भाग २	५		२
268	परमशान्तिका मार्ग भाग १	६	▲	२
269	भाग २	६	▲	२
543	परमार्थ सूत्रसंग्रह	५		२
769	साधन नवनीत	५		२
599	हमारा आश्चर्य	५		२ ००
891	प्रेममें विलक्षण एकता	५		२ ०
272	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा	५		२ ०
834	(कन्नड)	५		२
273	नल दमयन्ती	२		१
645	(तमिल) ५ 836 (कन्नड) १			
274	महत्त्वपूर्ण चेतावनी	३	▲	१
276	परमार्थ पत्रावली बंगला प्रथम भाग	५		१
277	उद्धार कैसे हो?-५१ पत्रोंका संग्रह	४ ०		१
278	सच्ची सलाह ८ पत्रोंका संग्रह	५ ०		२
280	साधनोपयोगी पत्र ७२ पत्रोंका संग्रह	४		१
281	शिक्षाप्रद पत्र ७ पत्रोंका संग्रह	६ ०		२ ०
681	रहस्यमय प्रवचन	५		२
282	पारमार्थिक पत्र ९१ पत्रोंका संग्रह	६		२
284	अध्यात्म विषयक पत्र	४		१ ००
283	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	४		१
480	(अंग्रेजी) ४ ० 717 (कन्नड) ४			
680	उपदेशप्रद कहानियाँ	५.		२
818	(गुजराती)	५		२
320	वास्तविक त्याग	४		१
285	आदर्श भ्रातृप्रेम	३ ०		१
286	बालशिक्षा	२ ०		१

कोड		मूल्य		डाकखर्च
690	बालशिक्षा (तेलगू) ३ 719 (कन्नड) २ ०			
287	बालकोंके कर्तव्य	३		१ ०
290	आदर्श नारी सुशीला	२ ०	▲	१ ०
312	(बंगला) २ ० 665 (तेलगू) ३ ० 644 (तमिल) २ ००			
291	आदर्श देवियाँ	२ ००		१
293	सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय	१		१
294	संत महिमा	१ ०	▲	१ ०
295	सत्संगकी कुछ सार बातें (हिन्दी)	१ ०		१
296	(बंगला) ० ५ 466 (तमिल) १ 678 (तेलगू) १ 844 (गुजराती) १ ०			
300	नारीधर्म	२ ००		१
301	भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म	१ ००		१
310	सावित्री और सत्यवान (हिन्दी)	२ ०	▲	१ ००
609	(तमिल) १ 664 (तेलगू) १ ५०			
717	सावित्री सत्यवान और आदर्श नारी सुशीला (कन्नड)	३		१ ०
299	श्रीप्रेमभक्ति प्रकाश ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	२		१ ०
304	गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति	१ ०		१
703	(असमिया)(गजलगीता)	५०		१
536	गीता पढ़नेके लाभ और सत्यकी शरणसे मुक्ति (तमिल)	२ ५		१
305	गीताका तात्त्विक विवेचन एवं प्रभाव	२ ००		१ ०
309	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय (कल्याण प्राप्तिकी कई युक्तियां)	२	▲	१
311	वैराग्य परलोक और पुनर्जन्म	१		१
306	भगवान् क्या है?	१		१
307	भगवान्की दया	१		१ ०
313	सत्यकी शरणसे मुक्ति	५	▲	१
672	(तेलगू)	१ ०	▲	१ ००
722	सत्यकी शरणसे मुक्ति और गीता पढ़नेसे लाभ (कन्नड)	२	▲	१
314	व्यापार सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य	१	▲	१
623	धर्मके नामपर पाप	२५		१ ०
315	चेतावनी और सामयिक चेतावनी	१ ०		१
316	ईश्वर साक्षात्कार नाम जप सर्वोपरि साधन है और सत्यके शरणसे मुक्ति	१		१
318	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है अवतारका सिद्धान्त	१	▲	१ ००
270	भगवान्का हेतुरहित सौहार्द (तेलगू)	० ५	▲	१
673	भगवान्का हेतुरहित सौहार्द	१		१
271	भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?	५		१
302	ध्यान और मानसिक पूजा	५	▲	१
321	त्यागसे भगवत्प्राप्ति (गजलगीतासहित)	५		१ ०
326	प्रेमका सच्चा स्वरूप और शोक नाशके उपाय	१		१ ०
322	महात्मा किसे कहते हैं ?			
324	श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव			
328	चतु श्लोकी भागवत	५		१
	परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी) के अनमोल प्रकाशन			
820	भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार) (सभी भाग एक साथ)	५		८
050	पदरत्नाकर	३५	■	५
049	श्रीराधा माधव चिन्तन	४	■	६
058	अमृत कण	१४ ०		३
332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	१५		३
333	सुख शान्तिका मार्ग	११		३
343	मधुर	११		३ ०
056	मानव जीवनका लक्ष्य	९	■	२ ००
331	सुखी बननेके उपाय	९		२ ०
334	व्यवहार और परमार्थ	१	■	३ ०
514	दु खमें भगवत्कृपा	९	■	२
386	सत्संग सुधा	९		२
342	संतवाणी ढाई हजार अनमोल बोल	१		३
850	(तमिल)	६		२ ०
347	तुलसीदल	१ ००		२ ०
339	सत्संगके बिखरे मोती	९	■	२
349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू संस्कृति	९२ ०		३ ०
350	साधकोंका सहारा	११		०
351	भगवच्चर्चा भाग ५	१५ ०		३ ०
352	पूर्ण समर्पण	१५	■	
354	आनन्दका स्वरूप	८५		१
355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर	१		३
356	शान्ति कैसे मिले? (लो प सुधार भाग ४)	१		०
357	दु ख क्यों होते हैं?	१		३ ००

कोड	मूल्य	डाकखर्च
387 प्रेम सत्सग सुधा माला	९ ००	२
348 नैवेद्य	९ ▲	२ ०
337 दाम्पत्य जीवनका आदर्श	६	२
336 नारीशिक्षा	७	२
340 श्रीरामचिन्तन	८ ० ▲	२
338 श्रीभगवन्नाम चिन्तन	८	२ ०
345 भवरोगकी रामबाण दवा	७ ०	२ ०
346 सुखी बनो	६	२
341 प्रेमदर्शन	८	२
353 लोक परलोकका सुधार (कामके पत्र भाग १)	८ ० ▲	२
358 कल्याण कुज (क कु० भाग १)	४५ ▲	१
359 भगवान्‌की पूजाके पुष्प (भाग २)	६	२
360 भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (भाग ३)	७ ०	२
361 मानव कल्याणके साधन (भाग ४)	१	२
362 दिव्य सुखकी सरिता (भाग ५)	५ ▲	२
363 सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ (भाग ६)	५ ० ▲	२
364 परमार्थकी मन्दाकिनी (भाग ७)	४	१ ००
365 गोसेवाके चमत्कार (तमिल)	३५	१
366 मानव धर्म	५	२ ०
367 दैनिक कल्याण सूत्र	४	२ ०
368 प्रार्थना इक्कीस प्रार्थनाओका सग्रह	२५ ▲	१
865 प्रार्थना (उडिया)	३ ▲	१
777 प्रार्थना पीयूष	२	१
369 गोपीप्रेम	२	१
370 श्रीभगवन्नाम	१	१
373 कल्याणकारी आचरण	१ ▲	१ ०
374 साधन पथ सचित्र	३ ▲	१ ०
375 वर्तमान शिक्षा	२	१
376 स्त्री धर्म प्रश्नोत्तरी	२५	१
377 मनको वश करनेके कुछ उपाय	१	१
378 आनन्दकी लहरें	१५ ▲	१
848 (बगला)	१५ ▲	१
379 गोवध भारतका कलक एव गायका माहात्म्य	२	१
380 ब्रह्मचर्य	२	१ ०
381 दीनदुखियोके प्रति कर्तव्य	१	१
382 सिनेमा मनोरजन या विनाशका साधन	२ ▲	१
344 उपनिषदोंके चौदह रत्न	४	१
371 राधा माधव रससुधा (षोडशगीत) सटीक	१५	१
383 भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा	१	१
384 विवाहमे दहेज	१	१
809 दिव्य सन्देश एव मनुष्य सर्वप्रिय और जीवन कैसे बने	१ ▲	१
परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी प्रवचन		
465 साधन सुधासिन्धु	७	९
400 कल्याण पथ	७	२
605 जित देखूँ तित तू—	५	२
406 भगवत्प्राप्ति सहज है	५ ▲	२
535 सुन्दर समाजका निर्माण	५	२
401 मानसमें नाम वन्दना	५ ▲	२
403 जीवनका कर्तव्य	५	२
436 कल्याणकारी प्रवचन (हिन्दी)	४	१
404 (गुजराती) ७ 816 (बगला) ३		
405 नित्ययोगकी प्राप्ति	४	१
407 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	४	१
593 (कन्नड़)	५	२
408 भगवान्‌से अपनापन	३	१
861 सत्सग मुक्ताहार	३	१
860 मुक्तिमें सबका अधिकार	५	२
409 वास्तविक सुख	४ ▲	१
411 साधन और साध्य	३ ▲	१
412 तात्त्विक प्रवचन (हिन्दी)	३	१
413 (गुजराती)	४	१
414 तत्त्वज्ञान कैसे हो ?	४	१
410 जीवनोपयोगी प्रवचन	४	१
822 अमृत बिन्दु	४	१
415 किसानोके लिये शिक्षा	१	१
416 जीवनका सत्य	३	१
417 भगवन्नाम	२	१

कोड	मूल्य	डाकखर्च
418 साधकोके प्रति	३ ०	१ ००
419 सत्सगकी विलक्षणता	२ ▲	१
545 जीवनोपयोगी कल्याणमार्ग	२ ▲	१ ०
4 0 मातृशक्तिका घोर अपमान	२ ०० ▲	१ ००
805 (तमिल) २ ०० 939 (गुजराती) २ 849 (बगला) १ ०		
421 जिन खोजा तिन पाइयाँ-	३	१
422 कर्मरहस्य (हिन्दी)	३ ▲	१
423 (तमिल) २ ० 325 (कन्नड) २५ 817 (उडिया) २ ००		
424 वासुदेव सर्वम्	२ ०	१
425 अच्छे बनो	३	१ ००
426 सत्सगका प्रसाद	३	१ ००
431 स्वाधीन कैसे बनें	१	१ ०
702 यह विकास है या विनाश जरा सोचिये	१	१
652 हम कहाँ जा रहे हैं ? विचार करें	५	१ ००
589 भगवान् और उनकी भक्ति	४ ▲	१
603 गृहस्थोके लिये	१	१ ०
617 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	२	१ ०
625 (बँगला) ३ 831 (कन्नड) २ 758 (तेलगू) ३		
941 (गुजराती) २ 796 (उडिया) २		
427 गृहस्थमें कैसे रहें ? (हिन्दी)	४ ०	१ ०
428 (बगला) ३ 429 (मराठी) ५		
128 (कन्नड) २ ७५, 430 (उडिया) ३ 472 (अग्रेजी) ३		
553 (तमिल) ६ ० 733 (तेलगू) ४		
432 एकै साधे सब सधै	३	१
655 (तमिल) ५ 761 (तेलगू)	५	२
607 सबका कल्याण कैसे हो ? (तमिल)	२	१
433 सहज साधना	२ ०	१
903 (बगला)	२	२
434 शरणागति (हिन्दी)	२ ० ▲	१ ०
568 (तमिल) ४ ० 757 (उडिया) २ 759 (तेलगू) ३ ०		
435 आवश्यक शिक्षा	२ ००	१
730 सकल्पपत्र	२	१
515 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन	५० ▲	१
606 (तमिल)	२	१
770 अमरताकी ओर	४	२ ०
773 भक्तके उद्गार	५	१
745 भगवत्तत्त्व	१	१
580 गायकी महत्ता और उसकी आवश्यकता	५	१
438 दुर्गतिसे बचो (हिन्दी)	१ ▲	१
449 (बगला) (गुरुतत्त्व सहित)	२	१
439 महापापसे बचो (हिन्दी)	१ ▲	१
451 (बँगला) १ 549 (उर्दू) १ २५		
731 (तेलगू) १ 597 (कन्नड) १		
591 सतानका कर्तव्य (तमिल)	३ ▲	१
440 सच्चा गुरु कौन ?	१ ▲	१
732 नित्यस्तुति आदित्य हृदयस्तोत्र (तेलगू)	१ ▲	१
736 (कन्नड)	१	१
781 अलौकिक प्रेम	१ ०० ▲	१
442 संतानका कर्तव्य (हिन्दी)	५ ▲	१ ०
443 (बँगला) १ 797 (उडिया) १ 591 (तमिल) ३		
444 नित्य स्तुति और प्रार्थना	१	१
729 सारसग्रह एव सत्सगके अमृत कण	१	१
445 हम ईश्वरको क्यो मानें ? (हिन्दी)	१	१
450 (बँगला) १ 554 (नेपाली) २५		
446 आहार शुद्धि (हिन्दी)	५	१
632 सब जग ईश्वररूप है	३ ० ▲	१
551 आहार शुद्धि (तमिल)	१५	१ ०
447 मूर्तिपूजा नाम जपमहिमा (हिन्दी)	१ ▲	१
469 (बँगला) ५ 569 (तमिल) १५		
734 मूर्तिपूजा आहार शुद्धि (तेलगू)	२ ▲	१
671 (तेलगू) १ ० 550 (तमिल) १५		
723 नाम जपकी महिमा आहार शुद्धि (कन्नड)	३	१
नित्यपाठ साधन भजन हेतु		
592 नित्यकर्म पूजाप्रकाश	२४	४
610 व्रत परिचय	१८	३
045 एकादशी व्रतका माहात्म्य	४	२
052 स्तोत्ररत्नावली सानुवाद	१५	२

कोड	मूल्य		डाकखर्च
117 दुर्गासप्तशती मूल मोटा टाइप	१ ०		२ ०
118 सानुवाद	११	■	२ ०
489 सजिल्द	१५		३ ०
909 मूलम (तेलगू)	८		२ ०
866 कवल हिन्दी	८		२ ००
876 मूल गुटका	५ ०		२
819 श्रीविष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य	१२ ०		२
206 विष्णुसहस्रनाम सटीक	२ ०	■	१ ०
226 मूलपाठ	१ ०		१
740 (मलयालम)	१	■	१ ०
794 (तमिल)	१ ५		१
670 (तेलगू)	१ ००		१ ०
737 विष्णुसहस्रनाम (कन्नड)	३ ०	■	१ ०
509 सूक्ति सुधाकर	१ ०	■	३
207 रामस्तवराज और रामरक्षास्तोत्र			
211 आदित्यहृदयस्तोत्रम् हिन्दी अँग्रेजी अनुवाद सहित	१	■	१ ०
224 श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र भक्त बिल्वमगलरचित	२		१ ०
674 (तेलगू)	१ ५	■	१
231 रामरक्षास्तोत्रम्	१ ०		१
675 (तेलगू)	२ ०		१
715 महामन्त्रराजस्तोत्रम्	२ ५०		१ ०
704 श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्	२ ०		१
705 श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्	२ ०		१ ०
706 श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्	२		१
707 श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्	२ ०	■	१ ००
708 श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्	२	■	१
709 श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्	२		१ ०
710 श्रीगङ्गासहस्रनामस्तोत्रम्	२		१
711 श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्	२		१
712 श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्	२ ०		१
713 श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्	२ ०		१ ०
495 दत्तात्रेय वज्रकवच सानुवाद	२		१
229 नारायणकवच सानुवाद	१ ०		१
230 अमोघशिवकवच सानुवाद	१ ०		१ ०
563 शिवमहिम्नस्तोत्र	२		१
524 ब्रह्मचर्य और सध्या गायत्री	२		१
054 भजन संग्रह पाँचों भाग एक साथ	१८		४
063 पद पद्माकर	५		२
140 श्रीरामकृष्णलीला भजनावली ३२८ भजनसग्रह	१ ०		२
142 चेतावनी पद सग्रह (दोनों भाग)	१०		२ ०
144 भजनामृत ६७ भजनोका सग्रह	५		१
153 आरती संग्रह १ २ आरतियोका सग्रह	३		१ ०
807 सचित्र आरतियाँ	६		१ ००
208 सीतारामभजन	२	■	१
221 हरेरामभजन दो माला (गुटका)	२		१ ०
222 १४ माला	७		२
576 विनय पत्रिकाके पैंतीस पद	२		१
225 गजेन्द्रमोक्ष सानुवाद, हिन्दी पद्य भाषानुवाद	१		१
699 गङ्गालहरी	१		१
668 प्रश्नोत्तरी	१		१
232 श्रीरामगीता	२		१
227 हनुमानचालीसा (पाकेट साइज)	१		१
695 (छोटी साइज)	१		१
600 (तमिल) २ 626 (बगला) १ 676 (तेलगू) १			
738 (कन्नड) १ 828 (गुजराती) १ ० 856 (उड़िया) १			
228 शिवचालीसा	१		१ ०
851 दुर्गाचालीसा विन्ध्येश्वरी चालीसा	१	■	१ ०
203 अपरोक्षानुभूति	२		१ ०
774 गीताप्रेस परिचय	४		१ ००
139 नित्यकर्म प्रयोग-	६ ००		२ ०
210 सन्ध्योपासनविधि मन्त्रानुवादसहित तर्पण एवं बलिवैश्वदेवविधि मन्त्रानुवादसहित	३	■	१
236 साधकदैनन्दिनी	२	■	१
09 रामायण मध्यमा परीक्षा पाठ्यपुस्तक-	७५	■	१
614 सन्ध्या	१	■	१
बालकोपयोगी पाठ्यपुस्तक			
573 बालक अङ्क (कल्याण वर्ष २७)	८०	■	९.

कोड	मूल्य		डाकखर्च
461 हिन्दी बालपोथी (भाग १)	२ ०		१ ०
212 (भाग २)	२	■	१
684 (भाग ३)	२ ०		१ ००
764 (भाग ४)	४ ०	■	१ ०
765 (भाग ५)	४ ०		१
125 रगीन (भाग १)	२ ५	■	१ ०
216 बालककी दिनचर्या	२ ०	■	१ ०
214 बालकके गुण	२ ५०		१ ००
217 बालकोकी सीख	२ ०		१
219 बालकके आचरण-	२	■	१ ०
218 बाल अमृत वचन	२ ०		१ ००
696 बाल प्रश्नोत्तरी	२ ००		१ ०
215 आओ बच्चो तुम्हें बतायें	२		१ ०
213 बालकोकी बोलचाल	२ ०		१
145 बालकोकी बातें	५	■	२ ०
146 बड़ोके जीवनसे शिक्षा	५ ०		२ ०
150 पिताकी सीख	६	■	२ ०
197 सस्कृतिमाला (भाग १)	२	■	१ ०
516 आदर्श चरितावली	३ ०		१ ०
396 आदर्श ऋषिमुनि	३ ०	■	१
397 आदर्श देशभक्त	३ ०		१ ००
398 आदर्श सम्राट	३ ०	■	१ ००
399 आदर्श संत	३	■	१
402 आदर्श सुधारक	३ ०		१
136 विदुरनीति	६ ०	■	२ ००
138 भीष्मपितामह	६ ०	■	२ ०
897 लघुसिद्धान्तकौमुदी अजिल्द	८ ०		२
148 वीर बालक-	४ ०	■	१ ०
149 गुरु और माता पिताके भक्त बालक	४ ०		१ ००
152 सच्चे ईमानदार बालक	३ ०	■	१
155 दयालु और परोपकारी बालक बालिकाएँ-	३ ०	■	१ ०
156 वीर बालिकाएँ	३	■	१ ०
727 स्वास्थ्य सम्मान और सुख	२	■	१ ०
स्त्रियोपयोगी एव सर्वोपयोगी प्रकाशन			
202 मनोबोध	४	■	१ ०
746 श्रमण नारद	२	■	१
747 सप्तमहाव्रत	२ ००	■	१ ०
542 ईश्वर	२	■	१
196 मननमाला	१ २५	■	१
57 मानसिक दक्षता	१५		३ ०
59 जीवनमें नया प्रकाश (ले० रामचरण महेन्द्र)	१० ०	■	३ ०
60 आशाकी नयी किरणें	११ ०	■	२
119 अमृतके घूँट	९	■	२
132 स्वर्णपथ	८		२ ००
55 महकते जीवनफूल-	१५ ०	■	३ ०
64 प्रेमयोग	१३ ०		३ ००
103 मानस रहस्य	२४ ०	■	२ ०
104 मानस शंका समाधान	८ ००	■	२ ०
501 उद्धव सन्देश	१ ०	■	२
460 रामाश्वमेध	१ ००	■	२
191 भगवान् कृष्ण	३ ००		१ ००
601 (तमिल) ५ 641 (तेलगू) ४ 895 (गुजराती) ३ ०			
193 भगवान् राम	३	■	१ ०
195 भगवान्पर विश्वास	३ ०	■	१ ००
120 आनन्दमय जीवन	८	■	२ ००
130 तत्त्वविचार	९.		२
133 विवेक चूड़ामणि	८	■	२
910 (तेलगू)	१ ००		२ ००
701 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२		१
742 (तमिल) २ ५० 752 (तेलगू) २			
762 (बगला) २ 804 (गुजराती) २ ० 826 (उड़िया) २ ०			
802 (मराठी) २ ० 83 (अग्रजी) २ ०			
131 सुखी जीवन	७	■	२ ०
1 2 एक लोटा पानी	८ ००		२ ०
134 सती द्रौपदी	६ ००		२ ००
888 परलोक और पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ	८	■	२
137 उपयोगी कहानियाँ-	५.०	■	२ ००

कोड	मूल्य	डाकखर्च
127 उपयोगी कहानियाँ (तमिल) ५ 724 (कन्नड़) ५		
157 सती सुकला	३ ०	१
147 चोखी कहानियाँ	३	१
692 (तेलगू) ३ ० 646 (तमिल) ५		
159 आदर्श उपकार (पढो समझो और करो)	६ ०	२
160 कलेजेके अक्षर	६ ०	२ ०
161 हृदयकी आदर्श विशालता	६	२
162 उपकारका बदला	६ ०	२ ०
163 आदर्श मानव हृदय	६	२
164 भगवान्‌के सामने सच्चा सो सच्चा	६ ००	२ ०
165 मानवताका पुजारी	६	२ ०
166 परोपकार और सच्चाईका फल	६	२
510 असीम नीचता और असीम साधुता	६	२
827 तेइस चुलबुली कहानियाँ	६	२
129 एक महात्माका प्रसाद	१२	३
151 सत्संगमाला एवं ज्ञानमणिमाला	६	२
चित्रकथा		
190 बाल चित्रमय श्रीकृष्णलीला	६	२ ००
192 बालचित्रमय रामायण	५.	२ ००
869 कन्हैया (धारावाहिक)	६	२
647 (तमिल)	७	२
870 गोपाल	६	२
649 (तमिल)	७	२ ०
871 मोहन	६	२ ००
650 (तमिल)	७	२ ००
872 श्रीकृष्ण	६	२
648 (तमिल)	७	२
079 रामलला	६.	२
862 मुझे बचाओ मेरा क्या कसूर?	१२ ००	२
529 श्रीराम (धारावाहिक)	६	२ ०
829 अष्ट विनायक	६	२
857 (मराठी)	६	२
204 ॐ नमः शिवाय (द्वादश ज्योतिर्लिंगोंकी कथा)	१२	२
787 जय हनुमान	१२	२
887 (तेलगू)	१२	२
205 नवदुर्गा	६.	२
825 (असमिया) ५ 863 (उड़िया) ६ 857 (अंग्रजी) ५ ०		
779 दशावतार	७	२
537 बालचित्रमय बुद्धलीला	३ ०	२ ००
194 बालचित्रमय चैतन्यलीला	३	२
693 श्रीकृष्ण रेखा चित्रावली	६	२ ०
656 गीतामाहात्म्यकी कहानियाँ	५	२ ०
651 गो सेवाके चमत्कार	६	२
कल्याण के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क		
635 शिवाङ्क (कल्याणवर्ष ८)	८	११
41 शक्ति अङ्क (९)	८	८
616 योगाङ्क - (१)	६	९
627 संत अङ्क (१२)	९	१
604 साधनाङ्क (१५)	७५	९
028 श्रीभागवत सुधासागर (१६)	९	९
44 संक्षिप्त पद्मपुराण (१९)	८५	८
539 मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणाङ्क (२१)	७५	७
43 नारी अङ्क (२२)	७	८
659 उपनिषद् अङ्क (२३)	९	९
518 हिन्दू संस्कृति अङ्क (२४)	१	९
279 संक्षिप्त स्कन्दपुराण (२५)	१	१
40 भक्त चरिताङ्क (२६)	८	९
573 बालक अङ्क (२७)	८	९
640 सं० नारद विष्णुपुराणाङ्क (२८)	८	११
667 संतवाणी अंक (२९)	८५	९
587 सत्कथा अङ्क (३)	७५	८
636 तीर्थाङ्क (३१)	८५	१२
660 भक्ति अङ्क (३२)	८	११
46 संक्षिप्त श्रीमद्देवीभागवत (३४)	७	८
574 संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क (३५)	७५	९
631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क (३७)	७५	८
789 शिवपुराण (बडा टाइप)(३९)	८	८

कोड	मूल्य	डाकखर्च
572 परलोक पुनर्जन्माङ्क (कल्याणवष ४३)	७ ०	८
517 गर्ग संहिता (४४ एवं ४५)	५५ ०	७
[भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन]		
657 श्रीगणेश अङ्क (४८)	६	१०
42 हनुमान अङ्क (४९)	५ ०	६
791 सूर्याङ्क (५३)	४५	६ ०
586 शिवोपासनाङ्क (६७)	६ ०	७ ०
6 8 रामभक्ति अङ्क (६८)	६५ ००	७ ००
584 सं० भविष्यपुराणाङ्क (६९)	६ ०	७ ०
448 भगवल्लीला अङ्क (७२)	६५	७
कल्याण एवं कल्याण कल्पतरुके पुराने मासिक अंक		
525 कल्याणके विभिन्न मासिक अंक	३	१
602 Kalyana Kalpataru (Monthly Issues)	२५	१ ०
अन्य भारतीय भाषाओंके प्रकाशन		
संस्कृत		
679 गीतामाधुर्य	६ ०	२ ०
बंगला		
540 साधक संजीवनी पूरा सेट	७ ०	१६ ०
556 गीता दर्पण	३	५. ०
013 गीता पदच्छेद	१५	४
6 6 हनुमानचालीसा	१	१
496 गीता भाषाटीका पाकेट साइज	४	१
275 कल्याण प्राप्तिके उपाय (तत्त्व चिन्तामणि भाग १)	८	२
395 गीतामाधुर्य	४	२
428 गृहस्थमें कैसे रहें ?	३ ००	१
816 कल्याणकारी प्रवचन	३	१
276 परमार्थ पत्रावली भाग १	३ ५०	१
449 दुर्गतिसे बचो गुरुतत्त्व	२	१
463 चित्र जय श्रीकृष्ण	१३ ०	
450 हम ईश्वरको क्यों मानें नाम जपकी महिमा	१	१
312 आदर्श नारी सुशीला	२	१
330 नारद एवं शाण्डिल्य भक्ति सूत्र	२	१
848 आनन्दकी लहरें	१ ५	१
903 सहज साधना	२ ०	१
849 मातृशक्तिका घोर अपमान	१	१
625 देशकी वर्तमानदशा तथा उसका परिणाम	३	१
762 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२	१
469 मूर्तिपूजा	५	१
296 सत्संगकी सार बातें	५	१ ०
443 संतानका कर्तव्य	१	१
451 महापापसे बचो	१	१ ०
मराठी		
859 ज्ञानेश्वरी मूल मझला	३	५
748 ज्ञानेश्वरी मूल गुटका	२	३
784 ज्ञानेश्वरी गूढार्थ दीपिका	१	११
7 साधक संजीवनी टीका	७	१
853 एकनाथी भागवत मूल	७५	१
857 अष्टविनायक	६	२
504 गीता दर्पण	२५	५
14 गीता पदच्छेद	२	४
15 गीता माहात्म्यसहित	२	४
391 गीतामाधुर्य	८ ०	२
429 गृहस्थमें कैसे रहें ?	५.	२
855 हरिपाठ	२	१
गुजराती		
467 साधक संजीवनी	७५	१
468 गीता दर्पण	३	५
12 गीता पदच्छेद	२	४
392 गीतामाधुर्य	५	२
799 श्रीरामचरितमानस गुजराती ग्रन्थाकार	८५	९
85 मझला	४५	५
878 मूल मझला	२५	४
879 गुटका	१५.	४
404 कल्याणकारी प्रवचन	७	२
544 चित्र जय श्रीकृष्ण	१३	
413 तात्त्विक प्रवचन	४	२
828 हनुमानचालीसा	१	१

कोड	मूल्य		डाकखर्च
818 उपदेशप्रद कहानियाँ	५.०	▲	२ ०
877 अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति	६	▲	२ ०
875 भक्त सुधाकर	५ ०		२
613 भक्त नरसिंह मेहता	७ ०		२
806 रामभक्त हनुमान	३		१ ०
889 भगवान्के रहनेके पाच स्थान	२ ०		१ ०
942 जीवनका सत्य	३	■	१ ०
940 अमृत बिन्दु	४ ०	■	१
892 भक्त चन्द्रिका	४		२ ०
939 मातृ शक्तिका घोर अपमान	२	▲	२
844 सत्सगकी कुछ सार बातें	१		१
तमिल			
800 गीता तत्त्वविवेचनी	५०		९ ००
823 गीता पदच्छेद	२		६
743 गीता मूल	१३		२ ०
795 गीता भाषा	५		२
793 गीता मूल विष्णुसहस्रनाम	४		१
389 गीतामाधुर्य	८		२
127 उपयोगी कहानियाँ	५ ०		२ ०
646 चोखी कहानियाँ	५ ०		१ ०
600 हनुमानचालीसा	२ ०	■	१ ०
794 विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	१५	■	१
601 भगवान् श्रीकृष्ण	५	■	३
608 भक्तराज हनुमान्	५.	■	२
642 प्रेमी भक्त उद्धव	४५०		१
647 कन्हैया (धारावाहिक चित्रकथा)	७ ०		२
648 श्रीकृष्ण ( )	७		२
649 गोपाल ( )	७ ००	■	२
650 मोहन ( )	७ ०	■	२ ०
741 महात्मा विदुर	३	■	१ ०
742 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२५		१
553 गृहस्थमें कैसे रहें ?	६.		२
536 गीता पढ़नेके लाभ सत्यकी शरणसे मुक्ति	२५	▲	१
591 महापापसे बचो सतानका कर्तव्य	३	▲	१ ०
466 सत्सगकी सार बाते	१	▲	१ ०
365 गोसेवाके चमत्कार	३५०		१ ०
423 कर्मरहस्य	३ ०		१
568 शरणागति	४	▲	१ ०
569 मूर्तिपूजा	१५	▲	१ ०
551 आहारशुद्धि	१ ०		१
645 नल दमयन्ती	५.००		२
644 आदर्श नारी सुशीला	२	▲	१
643 भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३	▲	१ ०
550 नाम जपकी महिमा	१ ०		१ ०
499 नारद भक्ति सूत्र	१	▲	१
606 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	२	▲	१
609 सावित्री और सत्यवान	१ ०		१ ०
607 सबका कल्याण कैसे हो ?	२	▲	१
655 एकै साधे सब सधै	५	▲	२
850 सतवाणी	६		२ ०
कन्नड़			
726 गीता पदच्छेद	१८		३
718 गीता तात्पर्यके साथ	१		२
661 गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	४	■	२
736 नित्यस्तुति आदित्य हृदयस्तोत्रम्	१ ००		१
738 हनुमत्स्तोत्रावली	१		१
737 विष्णुसहस्रनाम	१५		१
721 भक्त बालक	४		१
724 उपयोगी कहानियाँ	५. ०		२
832 श्रीरामचरितमानस सुन्दरकाण्ड	४ ०		१
835 श्रीरामभक्त हनुमान्	४		१
837 विष्णुसहस्रनाम सटीक	३	■	१ ००
840 आदर्श भक्त	५ ०		२
841 भक्त सप्तरत्न	५	■	३
842 ललिता सहस्रनामस्तोत्र	२		१
843 दुर्गासप्तशती मूल	६.	■	२ ०
716 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	४		१ ०

कोड	मूल्य		डाकखर्च
390 गीतामाधुर्य	४५०	▲	१ ०
128 गृहस्थमे कैसे रहें ?	२७५		१ ०
720 महाभारतके आदर्श पात्र	५ ०	▲	१ ०
717 सावित्री सत्यवान और आदर्श नारी सुशीला	३	▲	१ ०
723 नाम जपकी महिमा और आहार शुद्धि	३ ०		१ ०
725 भगवान्की दया एवं भगवानका हेतुरहित सौहार्द	२ ००	▲	१ ००
598 वास्तविक सुख	४	▲	१
722 सत्यकी शरणसे मुक्ति गीता पढ़नेके लाभ	२	▲	१
597 महापापसे बचो	१	▲	१
325 कर्म रहस्य	२५०		१ ००
593 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	५ ०	▲	२
119 बाल शिक्षा	२ ०	▲	१
831 देशकी वर्तमानदशा तथा उसका परिणाम	२ ०	▲	१ ०
833 रामायणके आदर्श पात्र	६ ०	▲	२ ००
834 स्त्रियोक लिये कर्त्तव्य शिक्षा	५ ०	▲	२
836 नल दमयन्ती	१ ०	▲	१ ०
838 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२	▲	१ ०
839 भगवान्के रहनेके पाच स्थान	५ ०	▲	२
असमिया			
714 गीता भाषा टीका पाकेट साइज	५ ०		२ ०
825 नवदुर्गा	५.०	■	२
624 गीतामाधुर्य	४		२ ०
703 गीता पढ़नेके लाभ	५	▲	१
उड़िया			
813 गीता पाकट साइज	४	■	१
815 गीता श्लोकार्थसहित	१३	■	२
541 गीता मूल विष्णुसहस्रनामसहित	२ ०		१
856 हनुमानचालीसा	१ ०	■	१ ००
854 भक्तराज हनुमान्	३		१ ०
863 नवदुर्गा	६ ००	■	२ ०
817 कर्मरहस्य	२	▲	१ ०
798 गुरुतत्त्व	१		१
797 सन्तानका कर्त्तव्य सच्चा आश्रय	१ ०	▲	१
754 गीतामाधुर्य	४	▲	१ ००
757 शरणागति	३		१ ०
430 गृहस्थमें कैसे रहे ?	३	▲	१
796 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	२		१
826 गर्भपात उचित या अनुचित	२ ००		१ ०
852 मूर्तिपूजा नामजपकी महिमा	१ ०		१ ०
865 प्रार्थना	३ ०		१
नेपाली			
394 गीतामाधुर्य	५ ००	▲	२ ०
554 हम ईश्वरको क्यों मानें	२५	▲	१
उर्दू			
393 गीतामाधुर्य	८ ०	▲	२ ०
549 महापापसे बचो	१ २५		१ ००
590 मनकी खटपट कैसे मिटे-	० ८	▲	१ ०
तेलगू			
845 अध्यात्म रामायण	५ ०		८
692 चोखी कहानियाँ	३		१ ००
171 भक्तपञ्चरत्न	५	■	२ ०
187 प्रेमीभक्त उद्धव	३		१
172 आदर्शभक्त	५	■	२
685 भक्तबालक	४		१ ०
688 भक्तराज ध्रुव	२	■	१
753 सुन्दरकाण्ड सटीक	३	■	१
691 श्रीभीष्मपितामह	८.००		२ ००
732 नित्यस्तुति आदित्यहृदयस्तोत्रम्	१	■	१
676 हनुमानचालीसा	१ ९	■	१ ००
641 भगवान् श्रीकृष्ण	४ ०		१
662 गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	३ ००	■	१
663 गीता भाषा	५.	■	२ ०
670 श्रीविष्णुसहस्रनाममूलम्	१ ०		१
908 नारायणीयम् मूलम्	१	■	३
919 विवेक चूड़ा मणि	१०	■	२ ०
909 दुर्गा सप्तशती मूलम्	८		२ ०
674 गोविन्ददामोदरस्तोत्र	१५	■	१

कोड	मूल्य		डाकखर्च
904 नारद भक्ति सूत्रम्	८		२ ००
905 आदर्श दाम्पत्य जीवनमो	८ ००	▲	२
906 भगवन्तुडे आत्मेयणु	२ ०		१
907 प्रेम भक्ति प्रकाशिका	१		१ ००
675 सं० रामायणम् रामरक्षास्तोत्रम्	२ ००		१ ०
677 गजेन्द्रमोक्षम्	१ ०	■	१ ००
771 गीता तात्पर्यसहित	९ ००		१
801 श्रीललितासहस्त्रनाम	२	■	१ ००
772 गीता पदच्छेद अन्वयसहित	१५ ००		४ ०
767 भक्तराज हनुमान्	३ ०	■	१ ००
887 जय हनुमान चित्रकथा	१२ ०		२ ०
846 ईशावास्योपनिषद्	२ ००		१ ००
766 महाभारतके आदर्श पात्र	४ ००	▲	१
760 महत्वपूर्ण शिक्षा	३ ००	▲	१ ००
768 रामायणके आदर्श पात्र	५. ०		२ ००
733 गृहस्थमें कैसे रहें ?	६ ००		२ ००
761 एकै साधे सब सधै	५ ००	▲	२ ००
759 शरणागत एवं मुकुन्दमाला	३		१
752 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२		१
734 आहारशुद्ध मूर्तिपूजा	२		१
664 सावित्रि सत्यवान	१ ५०	▲	१ ०
665 आदर्श नारी सुशीला	३	▲	१ ०
666 अमूल्य समयका सदुपयोग	५ ०		२
672 सत्यकी शरणसे मुक्ति	१ ००	▲	१ ०

कोड	मूल्य		डाकखर्च
671 नामजपकी महिमा	१ ००	▲	१
678 सत्संगकी कुछ सार बातें	१ ०		१ ०
731 महापापसे बचो	१५		१ ०
758 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३ ०	▲	१
689 भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३ ०		१
690 बालशिक्षा	३ ००	▲	१ ०
673 भगवान्का हेतु रहित सौहार्द	१ ०	▲	१ ०
[illegible]			
739 गीता विष्णु मूल	३ ००		१
740 विष्णुसहस्त्रनाम मूल	१		१ ०
चित्रमूर्ती			
237 जयश्रीराम भगवान् रामकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	१३	■	
546 जयश्रीकृष्ण भगवान् कृष्णकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण (बंगला एवं गुजरातीमें भी)	१३		
491 हनुमान्जी (भक्तराज हनुमान्)	५	■	
492 भगवान् विष्णु	५. ०		
560 लड्डू गोपाल (भगवान् श्रीकृष्णका बालस्वरूप)	५. ०	■	
548 मुरलीमनोहर (भगवान् मुरलीमनोहर)	५.००	■	
437 कल्याणचित्रावली (कल्याणमें मुद्रित १५ चित्रोंका संग्रह)			
776 सीताराम	५.	■	
812 नवदुर्गा (दुर्गाजीके नौ रूप)	५.	■	
630 गोसेवा	५.००		
531 बाँकेबिहारी	५ ०	■	

Our English Publications

Code / Title	Price		Postage
457 Shrimad Bhaga adgita—Tatt a Vivechani (*By Jayadayal Goyandka*) Detailed Commentary	35 00	■	6 00
458 Shrimad Bhagavadgita—Sadhak-Sanjivani (*By Swami Ramsukhdas*) (English Commentary)	45 00	■	8 00
455 Bhagavadgita (*With Sanskrit Text and* English Translation) Pocket size	4 00	■	2 00
534 Bound	7 00	■	2 00
470 Bhagavadgita—Roman Gita (With Sanskrit Text and English Translation)	10 00	■	3 00
487 Gita Madhurya—English (*By Swami Ramsukhdas*)	5 00	▲	2 00
452 / 453 Shrimad Valmiki Ramayana (With Sanskrit Text and English Translation) Set of 2 volumes	2.0 00	■	25 00
456 Shri R macharitamanas (With Hindi Text and E gl sh Translation)	70 00	■	8 50
786 (M dum Size)	50 00	■	6 00
564 / 565 Shrimad Bhag at (With Sansk t Text and Engl sh T ansla on) Set	150 00	■	20 00
by Jayadayal Goyandka			
477 Gems of T uth [Vol I]	5 00	▲	2 00
478 [Vol II]	5 00	▲	2 00
479 Su e Steps to God-Realization	8 00	▲	2 00
481 Why to Devine Bliss	4 00	▲	1 00
482 What is Dharma? What is God?	1 00	▲	1 00
480 Instructi e Ele en Stories	4 00	▲	1 00
520 Sec et of Jnana Yoga	8 00	▲	2 00
521 Prem Yoga	6 00	▲	2 00
522 Karma Yoga	7 00	▲	2 00
523 The Secret of Bhakti Yoga	7 50	▲	2 00
656 Secrets of Gita	4 00	▲	1 00

Code / Title	Price		Postage
by Hanuman Prasad Poddar			
484 Look Beyond the Veil	6 00	▲	2 00
622 How to Attain Eternal Happiness ?	6 00	▲	2 00
483 Turn to God	7 00	▲	2.00
485 Path to Divinity	7.00	▲	2.00
by Swami Ramsukhdas			
498 In Sea ch of Supreme Abode	4 00	▲	1 00
619 Ease in God-Realization	4 00	▲	1 00
471 Benedictory Discourses	5 00	▲	2 00
473 Art of Living	3 00	▲	1 00
472 How to Lead A Household Life	3 00	▲	1 00
620 The Di ine Name and its Practice	2 50	▲	1 00
488 Wavelets of Bliss & the Divine Message	1 50	▲	1 00
570 Let us Know the Truth			
638 Sahaj Sadhna	2 50	▲	1 00
634 God is Everything	3 00	▲	1.00
621 In alu ble Ad ice	2 00	▲	1 00
474 Be Good			
669 The Divine Name	2.50	▲	1 00
497 Truthfulness of Life			
476 How to be Self-Reliant	1 00	▲	1 00
552 Way to Attain the Supreme Bliss	1 00	▲	1 00
562 Ancient Idealism for Modernday Living	1 00	▲	1 00
Other Publications			
494 The Immanence of God (*By Madanmohan Malaviya*)	2 00	■	1 00
783 Abortion Right or wrong you Decide	2 00	▲	1 00
808 Nava Durga	5 00	■	2 00
824 Song Bharthary	2.00	■	1 00

विदेशमें पुस्तक-प्रचार

अब आप रुपयामें भुगतान देकर अपने विदेशमें रहनेवाले मित्रोंको 'गीताप्रेस-प्रकाशन' डाकद्वारा उपहारस्वरूप भिजवा सकते हैं।

सम्पर्क करें—व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

'कल्याण' (हिन्दी मासिक) एवं 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी मासिक) के उपलब्ध विशेषाङ्क—भारतीय मुद्रामें भी भुगतानकर विदेशमें 'उपहारस्वरूप' भिजवाये जा सकते हैं।

सम्पर्क करें—व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'का उद्देश्य और इसके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जन-जनको कल्याणके पथपर अग्रसरित करनेका प्रयत्न करना इसका एकमात्र उद्देश्य है।

नियम

१-भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याण-मार्गमे सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोके अतिरिक्त अन्य विषयोके लेख 'कल्याण'मे प्रकाशित नहीं किये जाते। लेखोको घटाने-बढाने और छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना मॉगे लौटाये नहीं जाते। लेखोमे प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

२-'कल्याण'का वार्षिक शुल्क (डाक-व्ययसहित) नेपाल-भूटान तथा भारतवर्षमे ९० रु० (सजिल्द विशेषाङ्कका १०० रु०) और विदेश (Foreign)-के लिये US $ 11 डालर (Sea mail) रु० ४५० भारतीय मुद्रा तथा US $ 22 डालर (Air mail) रु० ९०० भारतीय मुद्रा नियत है।

३-**'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरतक रहता है, अत ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते है।** यद्यपि वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, तथापि जनवरीसे उस समयतकके प्रकाशित (पिछले) उपलब्ध अङ्क उन्हे दिये जाते हैं। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते, छ या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते हैं।

४-**ग्राहकोको वार्षिक शुल्क मनीआर्डर अथवा बैकड्राफ्टद्वारा ही भेजना चाहिये।** वी० पी० पी० से 'कल्याण' मँगानेमे ग्राहकोको वी० पी० पी० डाकशुल्कके रूपमे ५ रु० अधिक देना पडता है एव 'कल्याण' भेजनेमे विलम्ब भी हो जाता है।

५-'कल्याण'के मासिक अङ्क सामान्यतया ग्राहकोंको सम्बन्धित मासके प्रथम पक्षके अन्ततक मिल जाने चाहिये। अङ्क दो-तीन बार जाँच करके भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयसे न मिले तो डाकघरसे पूछताछ करनेके उपरान्त हमें सूचित करे।

६-पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम ३० दिनोके पहले कार्यालयमे पहुँच जानी चाहिये। पत्रोमे 'ग्राहक-सख्या', **पुराना और नया—पूरा पता स्पष्ट एव सुवाच्य अक्षरोमे लिखना चाहिये।** यदि कुछ महीनोके लिये ही पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलनेकी सूचना समयसे न मिलनेपर दूसरी प्रति भेजनेमे कठिनाई हो सकती है। यदि आपके पतेमे कोई महत्त्वपूर्ण भूल हो या आपका 'कल्याण'के प्रेषण-सम्बन्धी कोई अनियमितता/सुझाव हो तो अपनी स्पष्ट 'ग्राहक-सख्या' लिखकर हमे सूचित करे।

७-रग-बिरगे चित्रोवाला बडा अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) ही वर्षका प्रथम अङ्क होता है। पुन प्रतिमास साधारण अङ्क ग्राहकोको उसी शुल्क-राशिमें वर्षपर्यन्त भेजे जाते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण'का प्रकाशन बद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हो उतनेमे ही सतोष करना चाहिये।

आवश्यक सूचनाएँ

१-ग्राहकोको पत्राचारके समय अपना नाम-पता सुस्पष्ट लिखनेके साथ-साथ पिन-कोड-नम्बर एव अपनी ग्राहक-सख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमे अपनी आवश्यकता और उद्देश्यका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

२-एक ही विषयके लिये यदि दोबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रका सदर्भ—दिनाङ्क तथा पत्र-सख्या अवश्य लिखनी चाहिये।

३-**'कल्याण'मे व्यवसायियोके विज्ञापन किसी भी दरमे प्रकाशित नहीं किये जाते।**

४-कोई भी विक्रेता-बन्धु विशेषाङ्ककी कम-से-कम २५ प्रतियाँ इस कार्यालयसे एक साथ मँगाकर इसके प्रचार-प्रसारमे सहयोगी बन सकते हैं। ऐसा करनेपर १० रुपये प्रति विशेषाङ्ककी दरसे उन्हे प्रोत्साहन-राशि (कमीशन) दिया जायगा। जनवरी मासका विशेषाङ्क एव फरवरी मासका साधारण अङ्क ट्रासपोर्ट अथवा रेल-पार्सलसे भेजा जायगा एव आगेके मासिक अङ्क (मार्चसे दिसम्बरतक) डाकद्वारा भेजनेकी व्यवस्था है। रकम भेजते समय अपने निकटस्थ स्टेशनका नाम लिखना चाहिये।

'कल्याण'की दशवर्षीय ग्राहक-योजना

दशवर्षीय सदस्यता-शुल्क ६५० रुपये (सजिल्द विशेषाङ्कके लिये ७५० रुपये) हैं। विदेश (Foreign)-के लिये US $ 90 डालर (Sea mail) तथा US $ 180 डालर (Air mail)-का है। इस योजनाके अन्तर्गत व्यक्तिके अलावा फर्म, प्रतिष्ठान आदि सस्थागत ग्राहक भी बन सकते हैं। यदि 'कल्याण'का प्रकाशन चलता रहा तो दस वर्षोंतक ग्राहकोको अङ्क नियमितरूपसे जाते रहेंगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

पजीकृत-सख्या—जी० आर०—१३
प्र० ति० १-१-९९
LICENCE NO -3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT

भगवान्‌के श्रीमुखसे वेद-महिमाका रहस्योद्घाटन

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे। परोक्षवादा ऋषय परोक्ष मम च प्रियम्॥
शब्दब्रह्म सुदुर्बोध प्राणेन्द्रियमनोमयम्। अनन्तपार गम्भीर दुर्विगाह्य समुद्रवत्॥
मयोपबृहित भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना। भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्। आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥
छन्दोमयोऽमृतमय सहस्रपदवी प्रभु। ओङ्काराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्त स्थभूषिताम्॥
विचित्रभाषावितता छन्दोभिश्चतुरुत्तरै। अनन्तपारा बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम्॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च। त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद् विराट्॥
कि विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्। इत्यस्या हृदय लोके नान्यो मद् वेद कश्चन॥
मा विधत्तेऽभिधत्ते मा विकल्प्यापोह्यते त्वहम्। एतावान् सर्ववेदार्थ शब्द आस्थाय मा भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० ११। २१। ३५—४३)

उद्धवजी। वेदाम तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीना काण्डाके द्वारा प्रतिपादित विषय है ब्रह्म और आत्माकी एकता, सभी मन्त्र और मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस विषयको खोलकर नहीं, गुप्तभावसे बतलाते हैं और मुझे भी इस बातको गुप्तरूपसे कहना ही अभीष्ट है। वेदांका नाम है शब्दब्रह्म। वे मेरी मूर्ति हैं, इसीसे उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है। वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणीके रूपमे प्राण, मन और इन्द्रियमय है। समुद्रके समान सीमारहित और गहरा है। उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन है। (इसीसे जैमिनि आदि बडे-बडे विद्वान् भी उसके तात्पर्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते)। उद्धव। मैं अनन्तशक्तिसम्पन्न एव स्वय अनन्त ब्रह्म हूँ। मैंने ही वेदवाणीका विस्तार किया है। जैसे कमलनालमे पतला-सा सूत होता है, वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियांके अन्त करणमें अनाहतनादके रूपमे प्रकट होती है। भगवान् हिरण्यगर्भ स्वय वेदमूर्ति एव अमृतमय हैं। उनकी उपाधि है प्राण और स्वय अनाहत शब्दके द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई है। जैसे मकडी अपने हृदयसे मुखद्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है, वैसे ही वे स्पर्श आदि वर्णोंका सकल्प करनेवाले मनरूप निमित्तकारणके द्वारा हृदयाकाशसे अनन्त अपार अनेक मार्गोंवाली वैखरीरूप वेदवाणीको स्वय ही प्रकट करते हैं और फिर उसे अपनेमे लीन कर लेते हैं। वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म आकारके द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श ('क' से लेकर 'म' तक-२५), स्वर ('अ' से 'औ' तक-९), ऊष्मा (श, ष, स, ह) और अन्त स्थ (य, र, ल, व)—इन वर्णोंसे विभूषित है। उसमें ऐसे छन्द हैं, जिनमे उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण बढते जाते हैं और उनके द्वारा विचित्र भाषाके रूपमे वह विस्तृत हुई है। (चार-चार अधिक वर्णोंवाले छन्दामसे कुछ ये हैं—) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती पक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट्। वह वेदवाणी कर्मकाण्डमे क्या विधान करती है, उपासनाकाण्डमे किन देवताआका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमे किन प्रतीतियाका अनुवाद करके उनमे अनेक प्रकारके विकल्प करती है—इन बाताको इस सम्बन्धमे श्रुतिके रहस्यको मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। मैं तुम्हे स्पष्ट बतला देता हूँ, सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमे मेरा ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्डमे उपास्य देवताआके रूपमे वे मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमे आकाशादिरूपसे मुझमे ही अन्य वस्तुआका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियाका बस इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमे भेदका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमे सबका निषेध करके मुझमे ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठानरूपसे मैं ही शेष रह जाता हूँ।